॥ श्रीहरिः ॥

卐

श्रीविद्यारण्यमुनिविरचिता

पञ्चदशी

श्रीरामकृष्णविरचित तत्वदीपिका व्याख्यया

तथा च

श्रीमद्परमहंस परिव्राजकाचार्य वर्यस्वामि

श्री करपात्र शिष्य प्रवरेण नव्य व्याकरणाचार्य,-विद्यावारिधि, पी०एच०डी०

डी०लिट्०, लब्धस्वर्णपदक, धर्मशास्त्राचार्य,

त्युपाधिभिः सभाजितेन

श्री श्री १००८ श्री डॉ० लक्ष्मण चैतन्य ब्रह्मचारिणा

विरचितलक्ष्मणचन्द्रिका हिन्दी व्याख्ययासमलङ्कृता।

श्री धर्मसंघ शिक्षा मण्डल

दुर्गाकुण्ड, वाराणसी (उ० प्र०)

॥ श्रीहरिः ॥

उद्‌गार

श्री गुरुचरणारविन्दों का मधुर स्मरण करके "श्री पंचदशी मीमांसा" के इस नूतन प्रकाशित हिन्दी टीका के विषय में अपने प्रिय पाठकों से कुछ कहना चाहता हूँ । श्रीस्वामी शंकराचार्य विरचित इस वेदान्त शास्त्र के अद्‌भु तग्रन्थराज को मेरे श्री गुरुदेव पढ़ाया करते थे। श्री राम कृष्ण शास्त्री की संस्कृत टीका ही प्रमाणित मानी जाती है। इसकी हिन्दी टीका करने की इच्छा मेरी बहुत दिनों से थी। सौभाग्यवश मेरे गुरुदेव महाराज के छोटे गुरुभाई महान् वेदान्ती अनन्त श्री स्वामी प्रकाशानन्द जी सरस्वती महाराज साहब ने हमसे बताया कि इस ग्रन्थ पर मैंने बहुत शोध किया है। और सम्पूर्ण शोधित पाण्डुलिपि हमको दिखाया। हमने सोचा कि प्रभु की इच्छा अनुकूल है—और हिन्दी में "श्री लक्ष्मण चन्द्रिका" टीका प्रारम्भ हो गई। तमाम ग्रन्थों का प्रमाण लेने में थोड़ी परेशानी जरूर पड़ी परन्तु हमारे विद्यागुरु अब स्वर्गीय श्रीमान् पं० रामगोविन्द जी शुक्ल जो कि एक योग्य प्रोफेसर भी थे और मेरे हितैषी भी थे, उन्होंने इसके अन्वय प्रमाण में बहुत सहयोग दिया। शेष कार्य मेरे मित्र डॉ० चन्द्रमौलि द्विवेदी हिन्दूविश्वविद्यालय के प्राध्यापक हैं सुयोग्य हैं, उन्होंने प्रूफ संशोधन तथा इसको पूर्ण व्यवस्थित करने में रुचि पूर्वक सहयोग दिया है। अतः इन दोनों अपने हितैषी विद्वानों को शुभाशीर्वाद के सहित आभारी भी हूँ। फिर इसके प्रकाशन की बात आई तो श्री गंगानगर वर्तमान में दिल्ली के श्रेष्ठिवर्य श्रीमन्त घनश्याम दास जी गुप्ता जी ने अपनी मातु श्रीमती सरस्वती देवी गुप्ता की पावन मधुर स्मृति में "श्रीमती विरमा देवी चैरिटिबेल ट्रस्ट' के सौजन्य से प्रकाशित कराया है।

स्वनाम धन्य बाबू घनश्यामदास गुप्ता जी एक समझदार उदार परोपकारी साधु पुरुष हैं। आपके काशी वृन्दावन केदारनाथ आदि स्थानों में व्यवस्थित अन्नक्षेत्र चलते हैं धार्मिक सामाजिक सभी कार्यों में सेठ जी साहब अति उदारतापूर्वक सहयोग में अग्रणी रहते हैं प्रभु इनका सदा कल्याण करें और ऐसी ही सन्मति सदा प्रदान करेंगे।

अन्त में अपने प्रिय शिष्य आयुष्यमान् शंकरदेव चैतन्य ब्रह्मचारी को बहुत शुभाशीष देते हैं। जिन्होंने अपने उत्तम पुरुषार्थ से श्रीगुरुराज को प्रसन्न किया।

अपने सुहृद् आयुष्मान् सतीश चन्द्र श्रीवास्तव (बाल भाई) को नित्य का शुभाशीष देते हैं जिन्होंने रात-दिन परिश्रम करके तन, मन, धन, से पूर्ण पूर्ति करके इस ग्रन्थ रत्न को आप सब सुधी पाठकों के हाथ में आज प्रदान किया है। हमारी प्रबलेच्छा थी कि किसी भी भाँति यह ग्रन्थ सिंहस्थ १९९२ उज्जैन कुम्भ में ही प्रकाशित हो और श्रीमाता हरसिद्धि और श्री महाकालेश्वर प्रभु ने यह कामना पूर्ण की -इसलिए इस "श्रीपञ्चदशी मीमांसा" हिन्दी टीका "श्री लक्ष्मण चन्द्रिका" की प्रथम पोथी श्रीप्रभु चरणारविन्दो में ही सादर विनय सहित समर्पित है जी।

सिंहस्थ १९९२, उज्जैन
श्री धर्मसंघ पण्डाल
रुद्रसागर महाकुम्भ मेला
उज्जैन (म० प्र०)

शुभेच्छु
डॉ० लक्ष्मणचैतन्य ब्रह्मचारी
(डी-लिट्)

॥ श्रीहरिः ॥

प्रकाशीय वक्तव्य

श्री परमेश्वर प्रभु के चरणारविन्दो में सादर प्रणाम प्रस्तुत करते हुए "श्री पञ्चदशी मीमांसा" प्रकाशन के विषय में अपनी कुछ बात कहना चाहता हूँ।

गत भादों मास में श्री ब्रह्मचारी जी महाराज श्री राममन्दिर शालीमार बाग दिल्ली में प्रवचन करने पधारे थे। मन्दिर के प्रधान श्री भगत जी तथा हमारे सम्बन्धी श्री रामलाल जी अग्रवाल आदि ने अच्छा कार्यक्रम करवाया था। एक दिन प्रधान जी के घर में महाराज श्री ने कुछ दिव्य अद्भुत शिवलिङ्ग दर्शन करवाये थे जो अनुपम थे सौभाग्य से हम भी वहाँ गए थे साथ में मेरे समधी जी भी थे जो श्री राम मन्दिर के पास ही रहते हैं। वहाँ पर ही महाराज जी ने पुस्तक के प्रकाशन की चर्चा की जिसको हमने परम सौभाग्य समझकर सादर स्वीकार कर लिया और अपनी परम पूजनीया माता स्वर्गीय श्रीमती सरस्वती देवी गुप्ता की परम पावन स्मृति में श्रीमती विरमादेवी चैरेटेबुल ट्रस्ट के द्वारा इस महान् ग्रन्थ को प्रकाशित कराया गया है। आज इस वेदान्त के महान ग्रन्थ को प्रकाशित करके मैं अपना भूरि-भूरि भाग्य समझता हूँ। श्री प्रभु ऐसे ही अवसर बारंबार प्रदान करें। इसी दृढ़ आशा के साथ श्री महाराज के पावन चरणारविन्दों में भी सादर नमन समर्पित करते हैं। जिन्होंने सरस्वती के ज्ञान मन्दिर के निर्माण और ज्ञान के इस प्रकाश को प्रसार का सुअवसर प्राप्त कराया और भविष्य में ऐसे ही अवसर प्रदान कराने की कृपा करेंगे।

सेवक

घनश्याम दास गुप्ता
२६-०/१० स्ट्रीट नं० ४
न्यू रोहतक रोड
इण्डस्ट्रियल एरिया
नई दिल्ली-११०००५

प्रकरण सूची

ॐ

श्रीगणेशाय नमः

ॐ श्रीतत्सत्परमात्मने नमः

मंगलाचरणम्

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥१॥

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु मा वि द्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥२॥

ॐ यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोभ्योऽध्यमृतात् सं बभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देवधारणो भूयासम् । शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः । श्रुतं मे गोपाय । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥३॥

ॐ अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि द्रविणं सुवर्चसम् । सुमेधाअमृतोक्षितः । इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥४॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥५॥

(२)

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुःश्रोत्रमथोबलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्याम् । मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्व-निराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि निरतेय उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु । ते मयि सन्तु । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥६॥

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता । मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि वेदस्य म आणीस्थः । श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाऽऽधीतेनाहोरात्रान्स दधामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारं । अवतु वक्तारम् । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥७॥

ॐ भद्रं नो अपि वातय मनः । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥८॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवाः । भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवां सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः । स्वस्ति न इन्द्रो बृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमिः । स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥९॥

ॐ यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । तं ह देवमात्म-बुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।१०॥

ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो वंशऋषिभ्यो महद्भ्यो नमो गुरुभ्यः । सर्वोपप्लवरहितः प्रज्ञानघनः प्रत्यगर्थो ब्रह्मैवाहमस्मि ॥१॥

नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च ।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम् ॥२॥

श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम् ।
तं त्रोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद् गुरुन् सन्ततमानतोऽस्मि ॥३॥

श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणालयम् ।
नमामि भगवत्पादशङ्करं लोकशङ्करम् ॥४॥

शङ्करं शङ्कराचार्यं केशवं बादरायणम् ।
सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः ॥५॥

ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने ।
व्योमवत्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः ॥६॥

अशुभानि निराचष्टे तनोति शुभसन्ततिम् ।
स्मृतिमात्रेण यत्पुंसां ब्रह्मतन्मङ्गलं परम् ॥७॥

अतिकल्याणरूपत्वान्नित्यकल्याणसंश्रयात् ।
स्मर्तॄणां वरदत्वाच्च ब्रह्मतन्मङ्गलं विदुः ॥८॥

ओङ्कारश्चाऽथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणःपुरा ।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥
तस्मान्माङ्गलिकावुभाविति ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

यैरिमे गुरुभिः पूर्वं पदवाक्यप्रमाणतः ।
व्याख्याताः सर्ववेदान्तास्तान्नित्यं प्रणतोऽस्म्यहम् ॥
चैतन्यं शाश्वतं शान्तं व्योमातीतं निरञ्जनम् ।
नादविन्दुकलातीतं तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥१॥

सर्वश्रुतिशिरोरत्नविराजितपदाम्बुजम् ।
वेदान्ताम्बुजमार्तण्डस्तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥२॥

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३॥

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥४॥

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम् ।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा ॥५॥

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥६॥

न गुरोरधिकं तत्त्वं न गुरोरधिकं परम् ।
गुरोः परतरं नास्ति तस्मात् संपूज्यते गुरुः ॥७॥

अज्ञानमूलहरणं जन्मकर्मनिवारणम् ।
ज्ञानवैराग्यसिद्धयर्थं गुरुपादोदकं पिबेत् ॥८॥

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं,
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतम्,
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥९॥

॥ इति गुरुस्तुतिः ॥

श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचिता

पञ्चदशी

श्रीमद्रामकृष्णप्रणीत पददीपिका व्याख्यासहिता

श्रीमत् परमहँसपरिव्राजकाचार्य्य

धर्मसम्राट्स्वामिश्रीहरिहरानन्दसरस्वतीमहाराजानामुत्तराधिकारिशिष्य

अखिल-भारतीय-धर्मसंघ-स्थाय्यध्यक्ष

नव्यव्याकरणधर्मशास्त्राचार्यविद्यावारिधिश्रीलक्ष्मणचैतन्यब्रह्मचारिविरचित-

लक्ष्मणचन्द्रिका हिन्दीव्याख्यासहिता

तत्त्वविवेकप्रकरणम्

नत्वा श्री भारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
प्रत्यक्तत्त्वविवेकस्य क्रियते पददीपिका ।।१।।

मैं श्रीभारतीतीर्थ तथा विद्यारण्यमुनि को नमस्कर करके पञ्चदशी के प्रथम 'तत्त्वविवेकप्रकरण' पर पददीपिका नामक टीका का निर्माण करता हूँ ।

प्रारिप्सितस्य ग्रन्थस्याऽविघ्नेन परिसमाप्तिप्रचयगमनाभ्यां शिष्टाचारपरिप्राप्तमिष्टदेवतागुरु नमस्कारलक्षणं मङ्गलाचरणं स्वेनानुष्ठितं शिष्यशिक्षार्थं श्लोकेनोपनिबध्नाति अर्थाद्विषयप्रयोजने सूचयति—

नमः श्री शङ्करानन्दगुरुपादाम्बुजन्मने ।
सविलासमहामोहग्राहग्रासैककर्मणे ॥१॥

अन्वयः—सविलासमहामोहग्राहग्रासैककर्मणे श्रीशंकरानन्दगुरुपादाम्बुजन्मने नमः ॥

नम इति । शं सुखं करोतीति शंकरः सकलजगदानन्दकरः परमात्मा । एष[1] ह्येवानन्दयाति (तै० २, ६, १) इति श्रुतेः । आनन्दो निरतिशयप्रेमास्पदत्वेन परमानन्दरूपः प्रत्यगात्मा शङ्करश्चासावानन्दश्चे

श्री विद्यारण्य मुनीश्वर (संन्यासियों के आचार्य) अपने महान् ग्रन्थ पञ्चदशी को आरम्भ क से पूर्व ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति तथा मङ्गलाचरण करने से जिज्ञासु लोग हमें नास्तिक न समझ कर इ ग्रन्थ को पढ़ने में प्रीति से प्रवृत्त हो इन दोनों (समाप्ति और प्रचार रूप) प्रयोजनों को दृष्टि में रखक श्रीव्यास आदि शिष्टपुरुषों की भांति इष्ट देवता और श्री गुरुजी को नमस्कार कर स्वयं अ हृदय से अनुष्ठित करके भी शिष्यों (उपदेश के योग्य साधन चतुष्टय सम्पन्न) मुमुक्षुओं की शि के लिए, मङ्गल (विघ्न निवृत्ति के अनुकूल व्यापार) करते हैं —

विलास कार्य सहित मूल अज्ञान रूप ग्राह को ग्रस लेना ही जिनका मुख्य कार्य है, श्रीशङ्करानन्द गुरु के उस दो पाद रूप अम्बुजन्म (कमलों) को मेरा नमस्कार है ॥१॥

शं अर्थात् सुख को करने वाला परमात्मा, यह परमात्मा ही लोक को उसके धर्मानुस आनन्दित सुखी करता है । और सबसे उत्तम प्रेम रूप का आश्रय होने से परमात्मा रूप जो प्रत्यगात (तीन शरीरों से शोधित जीव) ही आनन्द पद का अर्थ है । जो शङ्कर (ब्रह्म) है वही आनन्द (प्रत्यगात्म है । इस प्रकार "शङ्करानन्द का अर्थ प्रत्यक् अभिन्न-परमात्मा" हुआ । वही ब्रह्म अभिन्न-प्रत्यक् गुरु जिन अधिकारी व्यक्तियों के रागादि द्वेष मल पक गये हैं उनके मलों को दूरीकरणार्थं उनको आच

१—तद्धेतुव्यपदेशात् ब्र० सू० १।१।१४ सकलजीवानन्दहेतुत्वस्य ब्रह्मणि कथनात् आनन्दमय परमात्मा एव = इस श्रुति और सूत्र से सब जीवों के आनन्द के प्रति ब्रह्म कारण कहा गया है, इस कारण भी आनन्दमय परमात्मा ही है ।

शङ्करानन्दः प्रत्यगभिन्नः परमात्मा स एव गुरुः। परिपक्वमला ये तानुत्सादनहेतुशक्ति[1]पातेन! योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाचार्यमूर्तिस्थः इत्यागमात्। श्रीमांश्चासौ शङ्करानन्दगुरुश्चेति गन्धद्विप इत्यादिवत्समासः। अनेन श्रीगुरोरणिमाद्यैश्वर्यसंपन्नत्वं सूचितम्।

यद्वा श्रिया भूत्या शंकरोतीति शंकरः। 'रातेर्दातुः परायणम्' (वृ० ३।९।२८) इति श्रुतेः। अनेन श्री गुरोर्भक्तेष्टसंपादने सामर्थ्यं सूचितं भवति। तस्य गुरोः पादावेवाम्बुजन्म कमलं तस्मै नमः प्रह्वभावोऽस्तु। किं विधाय। सविलासमहामोहग्राहग्रासैककर्मणे विलासः कार्यवर्गस्तेन

(गुरु) की मूर्ति में स्थित वह प्रत्यग् अभिन्न-परमात्मा उपदेश द्वारा अज्ञान आदि प्रतिबन्धों को नष्ट करने की शक्ति प्रदान कर (या शक्तिपात कर) प्रत्यग् अभिन्न परमात्मा से जोड़ता है। वे श्री गुरु श्री अर्थात् श्रीमान् आनन्द रूप गुरु (गंधवान् द्विप-गंधद्विपः—की तरह मध्यम पद लोपी समास है।) इससे श्री गुरुदेव अणिमा-महिमा-गरिमा-लघिमा-प्राप्ति प्राकाम्य-ईशित्व और वशित्व इन आठ सिद्धियों से युक्त है। गुरु, धन के दाता का परम आश्रय-परमगति दान ही है। श्रुति के इस वाक्य के अनुसार धन सुख का कारण होता है। श्रीः का अर्थ लक्ष्मीः से (शं) सुख देने वाले श्रीशङ्कर हुआ। इससे श्री गुरु भक्तों का इष्ट सम्पादन करने में समर्थ हैं। पूर्वोक्त उन श्रीशङ्करानन्द गुरु के दोनों चरण रूप कमल के प्रति मेरा नम्र भाव हो। वह पाद रूपी कमल कैसा है। स विलास = समष्टि (वन-जाति-जलाशय आदि) व्यष्टि। वृक्ष, व्यक्ति, जल आदि) स्थूल सूक्ष्म प्रपञ्च रूप कार्य के समूह के सहित जो महामोह रूप ग्राह अर्थात् मूल अविद्या रूप [ब्रह्मात्म स्वरूप का आच्छादक अज्ञान] है। उस महामोह रूप महादुःखदायी ग्राह

१—देहपालस्तथा कम्पः परमानन्दहर्षणे।
स्वेदो रोमाञ्च इत्येतच्छक्तिपातस्य लक्षणम्।
दर्शनात्स्पर्शनाच्छब्दात्कृपया शिष्यदेहके।
जनयेद्यः समावेशं शांभवः स हि देशिकः।
तस्य प्रसादयुक्तस्य विद्यावेदान्तवाक्यजा।
दहत्यविद्यामखिलां तमः सूर्योदये यथा।
शक्तिपातविहीनोऽपि सत्यवाग् गुरुभक्तिमान्।
आचार्याच्छ्रुतवेदान्तः क्रमान् मुच्येत बन्धनात्।

सह वर्तत इति सविलासः एवंविधो यो महामोहो मूलाज्ञानं स एव ग्राहः मकरादिवत्स्ववश प्राप्तस्यातीव दुःखहेतुत्वात् तस्य ग्रासो ग्रसनं स एवैकं मुख्यं कर्म व्यापारो यस्य तत्तथा तस्मै इत्यर्थः । अत्र च शङ्करानन्दपदद्वयसामानाधिकरण्येन[1] जीवब्रह्मणोरेकत्वलक्षणो विषयः, जीवस्य भूमब्रह्मरूपतया-परिच्छिन्नसुखाविर्भावलक्षणं प्रयोजनं च सूचितम् । सविलासेत्यादिना निःशेषानर्थनिवृत्तिलक्षणं प्रयोजनं मुखत एवाभिहितम् ॥१॥

[मूल अज्ञान अपने वशीभूत जीव को अतिशय दुःख देता है] जो स्थूल सूक्ष्म संसार रूप ग्राह का ग्रास (नाश निवृत्ति) करना ही अर्थात् पृथिवी आदि संसार सहित अविद्या रूप ग्राह के नाशक जो जीव से अभिन्न ब्रह्म रूप गुरु के चरण कमलों का मुख्य व्यापार है। उनको हम नमस्कार करते हैं।

शङ्कर और आनन्द ये दोनों पद समानाधिकरण से एक ही विषय के वाचक है। इससे जीव और ब्रह्म की एकता के वर्णन से अद्वैत इस ग्रन्थ का विषय है। जब कि भूमा (देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित सुखरूप) जीव ब्रह्म की एकता रूप अविद्या अनर्थ की निवृत्ति पूर्ण सुख का आविर्भाव (विद्यमान का प्रकट होना) यह प्रयोजन भी सूचित होता है। सम्पूर्ण अनर्थों (कार्य सहित अज्ञान) की निवृत्ति रूप प्रयोजन तो ग्रन्थकार ने सविलास इत्यादि श्लोक के उत्तरार्ध में स्वयं ही कह दिया है ॥१॥

[ये चारों-विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध अधिकारी (जो ग्रन्थ के आदि में होते हैं इस श्लोक से कह दिए हैं)]।

विशेष—पहले छः प्रकरण विद्यारण्य मुनि की रचना है, शेष प्रकरण श्री भारतीतीर्थ की कृति है। ये दोनों ही इस ग्रन्थ के कर्ता हैं। इसलिए टीकाकार श्री रामकृष्ण ने सर्वत्र दोनों का मङ्गल किया और भारतीतीर्थ किसी रीति से श्री विद्यारण्य जी के गुरु हैं अतएव पहले उनका नाम है।

१—भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्। भिन्न-भिन्न है प्रवृत्ति का निमित्त जिनका ऐसे शब्दों की जो एक अर्थ में वृत्ति है यह ही इन पदों का परस्पर सामानाधिकरण्य तात्पर्य सम्बन्ध है। जैसे—सोऽयं देवदत्तः, विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध है। स शब्द का अर्थ विशेष्य है, और अयं शब्द का अर्थ विशेषण है। अयं सः = अयं शब्द का अर्थ विशेष्य है और स शब्द का अर्थ विशेषण है। सोऽयं देवदत्तः इस वाक्य में इन दो शब्दों की भागत्याग लक्षणा है। यहां पर बाधसामानाधिकरण्य कहा है। दूसरा मुख्य सामानाधिकरण्य आगे कहेंगे।

इदानीमवान्तर प्रयोजनकथनपुरःसरं ग्रन्थारम्भं प्रतिजानते—

तत्पादाम्बुरुहद्वन्द्वसेवानिर्मलचेतसाम् ।
सुखबोधाय तत्त्वस्य विवेकोऽयं विधीयते ॥२॥

अन्वय :—तत्पादाम्बुरुहद्वन्द्वसेवानिर्मलचेतसाम् सुखबोधायः तत्त्वविवेक अयं विधीयते ॥
व्युत्पत्ति :—सुखबोधाय = सुखेन अनायासेन बोधः तस्मै तृतीयेति समासः ।

तत्पादेति । तस्य गुरोः पादावेवाम्बुरुहे कमले तयोर्द्वन्द्वं तस्य सेवया परिचर्यया स्तुतिनमस्कारादिलक्षणया निर्मलं रागादि रहितं चेतोऽन्तः करणं येषां ते तथोक्तास्तेषां सुखबोधायाऽनायासेन तत्त्वज्ञानोत्पादनायाऽयं

अब अवान्तर (मध्य के) प्रयोजनों के कथन पूर्वक ग्रन्थ के आरम्भ की प्रतिज्ञा करते हैं--

श्री गुरु के चरणारविन्दों की सेवा से निर्मल बुद्धियों को सुख पूर्वक बोध के लिए यह तत्त्व (ब्रह्म) का विवेक करते हैं ।

श्रद्धेय गुरु के दो पाद रूप कमल की स्तुति नमस्कार आदि द्वारा सेवा[1] करने से जिनके अन्त-:

विशेष १ --पुण्य की उत्पत्ति से अन्तःकरण की शुद्धि होती है । ईश्वर की सेवा का अदृष्ट फल होता है और गुरु की सेवा दृष्टफल और अदृष्ट फल दोनों का हेतु है । ईश्वर की जो सेवा है वह धर्म की उत्पत्ति द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि रूप फल का हेतु अदृष्ट फल का हेतु । गुरु की सेवा धर्म की अपेक्षा बिना गुरु की प्रसन्नता से उपदेश रूप फल का हेतु है इसलिए गुरु की सेवा ही उत्तम है ।

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ (श्वे० ६।६।२३)
गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यात् रु शब्दस्तन्निरोधकः ।
अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ॥ (अद्वयतारक उ०)

वक्ष्यमाणप्रकारस्तत्त्वस्यानारोपितस्वरूपस्य 'अखण्डं सच्चिदानन्दं महावाक्येन लक्ष्यते' इति वक्ष्यमाणस्य विवेक आरोपितात्पञ्चकोशलक्षणाज्जगत विवेचनं विधीयते, क्रियते इत्यर्थः ॥२॥

जीव ब्रह्मणोरेकत्वलक्षणविषयसंभावनाय जीवस्य सत्यज्ञानादिरूपतां दिदर्शयिषुरादौ ज्ञानस्याभेद प्रतिपादनेन नित्यत्वं साधयति—

शब्दस्पर्शादयो वेद्या वैचित्र्याज्जागरे पृथक् ।
ततो विभक्ता तत्संविदैकरूप्यान्न भिद्यते ॥३॥

अन्वयः—वैचित्र्यात् जागरे शब्दस्पर्शादयः पृथक् वेद्याः ततः विभक्ता तत्संवित् ऐक्यरूप्यात् न भिद्यते ॥

व्युत्पत्तिः = जागरे = जागृधातोः भावे घञ् जागरः तस्मिन् जागरे ।

शब्दस्पर्शेति तत्र तावद्विस्पष्टव्यवहारवति जागरे ज्ञानस्याभेदं साधयति—शब्देति । जागरे 'इन्द्रियै-

करण राग आदि दोषों से रहित है, निर्मल[1] हो गये हैं। उन अधिकारी व्यक्तियों को सुख से (परिश्रम के बिना ही) तत्त्व ज्ञान कराने के हेतु यह आगे बताया गया, अर्थात् नहीं है कहीं आरोप (भ्रम) जिसका जैसा रज्जू में सर्प का होता है। ऐसे तत्त्वमसि आदि महावाक्यों से जानने योग्य अखण्ड सच्चिदानन्द का इस रूप में जिसकी चर्चा आगे की जायेगी उस अकल्पित रूप तत्त्व का विवेक अर्थात् कल्पित पंचकोश रूप जगत् से विवेचन यहां करते हैं ॥२॥

जीव ब्रह्म की एकता (इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय) को बताने के लिए जीव की सत्य ज्ञानादि रूपता को प्रदर्शन करने के उद्देश्य से विद्यारण्य स्वामी पहले जाग्रत आदि अवस्थाओं में होने वाले ज्ञान का अभेद प्रतिपादन कर उस ज्ञान की नित्यता सिद्ध करते हैं।

और उसमें भी भली प्रकार स्पष्ट व्यवहार है जिसमें ऐसी जागरण अवस्था में ज्ञान की एकता कहते हैं। देवता के अनुग्रह से युक्त इन्द्रियों से रूप आदि विषयों का जिसमें ज्ञान हो ऐसी जाग्रत अवस्था है। इस लक्षणवाली जाग्रत अवस्था में वेद्य ज्ञान के विषय (जो जाने जायँ) जो शब्द स्पर्श आदि आकाश आदि भूतों के गुण और उन गुणों के आश्रयभूत आकाशादि द्रव्य हैं। वे विचित्रता से गौ, अश्व आदि

१—निर्मल पद निर्मल चित्तरूप कारण के कथन से उसके कार्य विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति, शम-दम, तितिक्षा-उपरति-श्रद्धा-समाधान मुमुक्षुता इन चार साधनों की सूचना दी है। जैसे सुवर्ण रचित अनेक दानों की माला को एक भूषण कहते हैं। वैसे परस्पर सहकारी-विवेक शमदमादिक षट्साधनों की प्राप्ति रूप षट्सम्पत्ति भी एक साधन गिने गये हैं। शमादि षट् साधनों की परस्पर

रर्थोपलब्धिर्जागरितम्' इत्युक्तलक्षणेऽवस्थाविशेषे वेद्याः। संविद्विषयभूताः शब्दस्पर्शादयः आकाशादिगुणत्वेन प्रसिद्धाः तदाधारत्वेन प्रसिद्धा आकाशादयश्च वैचित्र्यात्परस्परं गवाश्वादिवद्वैलक्षण्योपेतत्वात्पृथक् परस्परं भिद्यन्ते। ततस्तेभ्यो विभक्ता बुद्ध्या विवेचिता तत्संवित्तेषां शब्दादीनां संविज्ज्ञानं ऐकरूप्यात्संविदित्ये-काकारेणावभासमानत्वाद् गगनमिव न भिद्यते। अत्रायं प्रयोगः---विवादाध्यासिता संवित्स्वाभाविकभेदशून्य

के समान विलक्षण होने से परस्पर भिन्न हैं। (जो स्वतन्त्र न होकर दूसरे का आश्रय हो उसे धर्म कहते हैं।) और उन विषयों से बुद्धि द्वारा विवेक (विचार) पृथक् की हुई जो उन शब्द आदि की संवित् (ज्ञान) है। एक रूप ज्ञान—ज्ञान इस एक ही आकार में भासित होने के कारण आकाश के समान परस्पर भिन्न नहीं है। जैसे घटाकाश-मठाकाश-जलाकाश-मेघाकाश में उपाधि भिन्न होते हुए भी आकाश-आकाश इस एक आकार में भासमान आकाश एक ही है। यहां अनुमान इस प्रकार का होगा— विवाद का विषय संवित् (ज्ञान) (चिदात्मा के स्वरूपभूत ज्ञान) उपाधि ग्रहणके बिना भेद की प्रतीत न होने के कारण स्वाभाविक = स्वरूप से भेद रहित है। जैसे आकाश ऐसे ही शब्द का ज्ञान—ज्ञान रूप होने के कारण स्पर्श के ज्ञान से भिन्न भेदवाला नहीं है। जैसे ज्ञान स्पर्श के ज्ञान

एवं हि विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषयं विज्ञानं श्रोतुं मन्तुं विज्ञातुं च सा सामर्थ्यमुपपद्यते। भाष्य १-१ केन उ० इस प्रकार से ही विरक्त पुरुष को प्रत्यगात्म विषयक विज्ञान के श्रवण मनन और साक्षात्कार की समता हो सकती है।

सहकारिता इस रीति से है—

(१) मन निरोध रूप शम, इन्द्रियों के निरोध के बिना नहीं होता, दम = को शम की अपेक्षा है।

(२) और मन के निरोध बिना बहिर्मुख पुत्रेषणा, वित्तेषणा-लोकेषणा में आसक्ति वाले मन की वेदान्त शास्त्र और सद्गुरु में पूर्ण श्रद्धा होती नहीं, इसलिए श्रद्धा को भी शम की अपेक्षा है।

(३) मनो निरोध के बिना ब्रह्मात्मकत्व में एकाग्रता होती नहीं। समाधान को भी शम की अपेक्षा है।

(४) जैसे —उत्तम दुग्ध आदि आहार से पालन किए बिना बन्दी बिल्ली-चूहा को देखकर रुकती नहीं चूहे के ऊपर दौड़ती है। वैसे ही विषयों से उपरम को प्राप्त किया मन निरोध रूप रस्सी से मुक्त होने पर ठहरता नहीं किन्तु प्राप्त विषयों के ऊपर दौड़ता है इसलिए उपरम को भी शम की अपेक्षा है।

(५) अन्तर्मुख मन में शीत उष्णादि द्वन्द्वों का सहन होता है। बहिर्मुख से नहीं, इससे तितिक्षा को भी शम की अपेक्षा है। विवेक बिना वैराग्य नहीं वैराग्य के बिना विवेक नहीं। सत्गुरु शास्त्रों के वचनों में विश्वासरूपी श्रद्धा के बिना वेदान्त श्रवण में प्रवृत्ति नहीं। जैसे पति विरहिता स्त्री का श्रृंगार व्यर्थ है वैसे शम दमादि बिना श्रवणादि व्यर्थ है।

उपाधिपरामर्शमन्तेरणाविभाव्यमानभेदत्वाद् गगनवत् । शब्दसंवित्स्पर्शसंविदो न भिद्यते संवित्त्वात्स्पर्श-संविद्वदिति एकस्या एव संविदो गगनस्येवौपाधिकभेदेनापि भिन्नव्यवहारोपपत्तौ वास्तवभेदकल्पनायां गौरवं बाधकमुन्नेयम् ॥३॥

विशेष—गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु र्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः ॥
मन में प्रेम राम सम राखै । ह्वै प्रसन्न गुरु इम अभिलाखै ॥
दोष दृष्टि स्वपने नहि आनै । हरिहर ब्रह्म गंग रवि जानै ॥
गुरु मूरति को हिय में ध्याना । धारै जो चाहै कल्याना ॥

से भिन्न नहीं है। आकाश की तरह उपाधिकृत भेद से भिन्न व्यवहार की सिद्धि होने पर एक ही ज्ञान के व्यवहार में भेद शब्द ज्ञान, स्पर्श ज्ञान आदि रूप से नाना भेदों को वस्तुतः भिन्न मानने में गौरव दोष है। जहां थोड़े से निर्वाह होता हो वहां अधिक अर्थ मानकर निर्वाह करने में गौरवरूपी दोष शास्त्रकार मानते हैं। एक पैसे की वस्तु को अधिक धन खर्च करके लेना दोष ही है।

पूर्व अनुमान में चार वस्तु होते हैं—पक्ष-साध्य-हेतु-दृष्टान्त जिसमें साध्य का संदेह हो उसे पक्ष कहते हैं। जो सिद्ध किया जाय उसे साध्य कहते हैं और जिससे सिद्ध किया जाय उसे हेतु। और जिसमें हेतु से साध्य का निश्चय हुआ हो उसे दृष्टान्त कहते हैं। जैसे पर्वतो वह्निमान् धूमत्वात् महानसवत् यहां पर्वत पक्ष, वह्नि साध्य, धूम हेतु, महानस दृष्टान्त है। इसी प्रकार इस पूर्वोक्त अनुमान में शब्द ज्ञान पक्ष, स्पर्श ज्ञान से अभेदता साध्य, ज्ञानरूपता हेतु और स्पर्शज्ञान दृष्टान्त हैं। संवित् (ज्ञान) की एकता सिद्ध करने के लिए ऐसे ही अनेक अनुमान है।

यहां यह रहस्य है :—गुरु जब शिष्य के ऊपर वत्सलता करे तब गुरु को हरि रूप = विष्णु रूप जानै, जब गुरु क्रोध करे तब गुरु को हर रूप शिव रूप जाने। गुरु जब राजसी व्यवहार करे तब गुरु को ब्रह्मा रूप जाने। जब गुरु शान्ति में स्थित हो तो गङ्गा देवी रूप। जब गुरु शास्त्र में हो तो गणेश रूप, वचन रूप किरणों से भ्रम संदेह सहित अज्ञानान्धकार को दूर करे तो उन्हें सूर्य रूप जानकर गुरु में ईश्वर की भावना धारण करना, स्वप्न में भी दोष दृष्टि न करना, हृदय में गुरु के विषय में सर्वोत्कृष्ट भावना रखते हुए मन-ही-मन नमस्कार करना।

उक्तन्यायं स्वप्नेऽप्यतिदिशति—

तथा स्वप्नेऽत्र वेद्यं तु न स्थिरं जागरे स्थिरम् ।
तद्भेदोऽतस्तयोः संविदेकरूपा न भिद्यते ।।४।।

अन्वयः—(यथा जागरे विषयाणाम् वैचित्र्यात् भेदः ऐक्यरूप्यात् संविदो अभेदः) तथा अत्र स्वप्ने वेद्यं तु न स्थिरं जागरे तु स्थिरं अतस्तयोः भेदः एकरूपा संवित् न भिद्यते ।।

व्युत्पत्ति—एकरूपा = एकं रूपं आकारः यस्याः सा एक रूपा टाप् ।

तथेति । यथा जागरे वैचित्र्याद्विषयाणां भेदः, ऐकरूप्यात्संविदोऽभेदश्च तथा तेनैव प्रकारेण स्वप्ने- 'करणेषूपसंहृतेषु[1] जागरितसंस्कारजः प्रत्ययः सविषयः स्वप्नः' इत्युक्तलक्षणायां स्वप्नावस्थायामपि विषया एव भिन्ना न संविदिति ।

इसी उक्त रीति को स्वप्न में दिखाते हैं—

वैसे ही स्वप्न में भी विलक्षणता से विषयों का भेद है ज्ञान का नहीं, परन्तु स्वप्न का विषय अस्थिर और जाग्रत का स्थिर होता है। यही स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओं का भेद है और दोनों अवस्थाओं के विषयों का जो ज्ञान है वह एक रूप होने से भिन्न-भिन्न नहीं है ।।४।।

जैसे जाग्रत अवस्था में विषयों की विचित्रता से घट-पट आदि का भेद और ज्ञान का अभेद है एक रूप होने से, इसी प्रकार स्वप्न में भी शब्दादि विषय ही परस्पर भिन्न है उनका ज्ञान (संवित्) परस्पर भिन्न नहीं है। इन्द्रिय अपने-अपने विषयों को छोड़कर और जाग्रत अवस्था के संस्कार से जिसमें विषय सहित ज्ञान पैदा होता है उसे स्वप्न कहते हैं । उक्त स्वप्न अवस्था में भी विषयों का ही भेद है ज्ञान (संवित्) का नहीं ।

---

(१) रूपसंस्कारतुल्याधी रागद्वेषोभयं च यत् ।।
गृह्यते धीश्रयं तस्मात् ज्ञाताशुद्धोऽभयः सदा ।। उपदेश सा० १५-१३।।

ये राग द्वेष भय है वे तो नीलादि रूप संस्कार के समान आश्रय वाले हैं। क्योंकि बुद्धि के ही आश्रित देखे जाते हैं। अतः उनका साक्षी आत्मा तो सर्वदा शुद्ध और भय शून्य है। संस्कारो नामः स्वाश्रयस्य प्रागुद्भूतावस्थासमानावस्थान्तरापादकोऽतीन्द्रियो धर्मः। संस्कारवशादेव पुण्यं पापं च रोचते अतः अभिरुचिलिंगात् पुण्यपापसंस्कारौ अनुमेयः स एव-स्वभाव-प्रकृति-वासना इति गीयते। ब्र० सू० भाष्य १-३-३० समान नाम रूपत्वात् च आवृतावप्यविरोधोदर्शनात् स्मृतेश्च ।

ननु यदि स्वप्नजागरयोरेकाकारता विषयतत्संविदोर्भेदाभेदाभ्यां तर्हि स्वप्नो जागर इति भेद व्यवहार: किं निमित्तक इत्याशङ्क्याह—अत्र वेद्यं त्विति । अत्र स्वप्ने वेद्यं परिदृश्यमानं वस्तुजातं न स्थिरं न स्थायि प्रतीतिमात्रशरीरत्वात् । जागरे तु परिदृश्यमानं वस्तु जातं स्थिरं स्थायि, कालान्तरेऽपि द्रष्टुं योग्यत्वात् । अतः स्थिरास्थिरविषयत्वलक्षणवैलक्षण्यात्तद्भेदस्तयोः स्वप्नजागरयोर्भेद इत्यर्थः ।

ननु स्वप्नजागरयोर्भेदश्चेत्तत्संविदोरपि भेदः स्यादित्याशङ्क्याह-तयोरिति । एकरूपेति हेतुगर्भं विशेषणम् ॥४॥

यदि विषय और ज्ञान के भेद और अभेद से स्वप्न और जाग्रत ये दोनों एक ही है तो स्वप्न जाग्रत यह भिन्न-भिन्न व्यवहार किससे होता है । स्वप्न अवस्था में वेद्य अर्थात् परिदृश्यमान (चारों ओर से दीखती हुई) जो वस्तुएँ हैं। वे प्रतीति मात्र शरीर वाली होने से चिरस्थायी नहीं है प्रतिभासिक हैं। परन्तु जाग्रत अवस्था में परिदृश्यमान वस्तु समूह, दूसरे समय में भी (एक दो वर्ष पीछे अथवा दूसरी जाग्रत अवस्था में भी) दीख पड़ता है अतएव स्थायी (व्यावहारिक) है। इसलिए विषयों की स्थिरता और अस्थिरतारूप विलक्षणता के कारण जाग्रत और स्वप्न का भेद है।

जब स्वप्न और जाग्रत दोनों परस्पर भिन्न हैं तो उनके ज्ञान भी भिन्न होंगे। उनकी संवित् एकरूप है भिन्न नहीं है। क्योंकि दोनों का ज्ञान एकरूप है। यहां एक रूप हेतु गर्भ विशेषण है। अर्थात् इस विशेषण में एक रूप होने से यह हेतु भी विद्यमान हैं ॥४॥

विशेष—वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च मलिना तथा ।
मलिना जन्महेतुःस्याच्छुद्धा जन्मविनाशिनी ॥
प्राक्तनं वासनाजालं नियोजयति मां यथा ।
मुने तथैव तिष्ठामि कृपणः किं करोम्यहम् ॥
वासना धर्माऽधर्मरूपजीवगतसंस्काराः ।
अज्ञानसुघनाकाराघनाहंकारशालिनी ।
पुनर्जन्मकरी प्रोक्ता मलिना वासना बुधैः ।
पुनर्जन्मांकुरं त्यक्त्वास्थितिसंभृष्टबीजवत् ।
देहार्थं ध्रियते ज्ञातज्ञेया शुद्धेति चोच्यते ।

(मुक्तिकोपनिषद ६२।६३॥)

एवमवस्थाद्वये ज्ञानस्यैकत्वं प्रसाध्य सुषुप्ति कालीनस्यापि तस्य तेनैक्यप्रसाधनाय तत्र तावज्ज्ञानं साधयति—

सुप्तोत्थितस्य सौषुप्ततमोबोधो भवेत्स्मृतिः ।
सा चावबुद्धविषयाऽवबुद्धं तत्तदा तमः ॥५॥

अन्वयः—सुप्तोत्थितस्य सौषुप्ततमो बोधः स्मृतिरेव भवेत् (नानुभवः) सा च अवबुद्ध विषया तत् (तस्मात् कारणात् सौषुप्तम्) तमः तदा अवबुद्धम् ॥

व्युत्पत्तिः=सौषुप्ततमः=सुषुप्तौ भवः सौषुप्तः अतिशयेन सौषुप्तः सौषुप्ततमः तमप् प्रत्ययः । स्मृतिः=स्मृ धातोः क्तिनि रूपम् ।

सुप्तेति । पूर्वं सुप्तः पश्चादुत्थितः सुप्तोत्थितः, सुप्तं सुषुप्तिः तस्मादुत्थित इति वा । तस्य सौषुप्ततमोबोधः सुषुप्तिकालीनस्य तमसोऽज्ञानस्य यो बोधो ज्ञानमस्ति 'न किंचिदवेदिषं' इति सा स्मृतिरेव

इस प्रकार जाग्रत और स्वप्न इन दोनों अवस्थाओं में ज्ञान की एकता सिद्ध करके सुषुप्ति काल के ज्ञान की जाग्रत स्वप्न के ज्ञान के साथ एकता सिद्ध करने के लिए पहले सुषुप्ति में ज्ञान के अस्तित्व का सिद्ध उल्लेख करते हैं । अर्थात् सुषुप्ति में भी ज्ञान का अस्तित्व है ।

सुषुप्ति से उठे मनुष्य को जो मैं सुख से सोया कुछ ज्ञान न रहा यह अज्ञान का ज्ञान है यह स्मरण है और स्मरण ज्ञात पदार्थ का होता है । इससे सुषुप्ति में अज्ञान का ज्ञान हुआ था यह मानना पड़ेगा अन्यथा प्रातः काल स्मरण न होता ॥५॥

पहले सोकर प्रातःकाल उठा अर्थात् सुषुप्ति से जगे हुए पुरुष को सुषुप्ति में वर्तमान अज्ञान का जो ज्ञान है । अर्थात् मैं ऐसा सुख से सोया कुछ भी ज्ञान न रहा यह अज्ञान का ज्ञान स्मरण है स्मृति ही है अनुभव प्रत्यक्ष नहीं अनुभव में इन्द्रियों का अभाव है । अनुभव के कारण इस प्रकार है । प्रत्यक्ष का कारण=इन्द्रिय का विषय से सम्बन्ध, (व्याप्ति) अविनाभाव सम्बन्ध, जिसके बिना जो नहीं हो उसका उसमें अविना भाव सम्बन्ध होता है । जैसे अग्नि के बिना धूम नहीं होता अतएव अग्नि का धूम में अविनाभाव सम्बन्ध या अग्नि की धूम में व्याप्ति है । लिंग आदि=जिसके ज्ञान से साध्य का अनुमान ज्ञान होता है उसे लिङ्ग कहते हैं । अनुमिति ज्ञान के विषय को साध्य कहते हैं । जैसे अनुमिति का विषय अग्नि हो तो वह साध्य है और धूम के ज्ञान से साध्य अग्नि का ज्ञान होता है । अतएव धूम लिङ्ग है । आदि=उपमिति रूप अनुभव ज्ञान की सामग्री उपमान प्रमाण (सादृश्य का ज्ञान) शाब्दी प्रमा की श्रोतृ सम्बन्धी शब्द और अर्थापत्ति की सामग्री अर्थापत्ति प्रमाण (उपपाद्य का ज्ञान) अभाव प्रमा की सामग्री अनुपलब्धि प्रमाण । इस ज्ञान के स्मृति रूप होने से क्या सिद्ध हुआ । ठीक है स्मृति पूर्व सुषुप्ति काल में अनुभव किये हुए विषय को ही प्रकट करती है । क्योंकि जो भी स्मृति है वह अनुभव पूर्वक है यह

भवेन्नानुभवः । तत्कारणस्येन्द्रियसंनिकर्षव्याप्तिलिङ्गादेरभावादिति भावः । ततः किं तत्राह-सा चेति, सा च स्मृतिरवबुद्धविषया अवबुद्धोऽनुभूतोविषयो यस्याः सा तथोक्ता । या या स्मृतिः सा साऽनुभवपूर्विकेति व्याप्तिर्लोके दृष्टेति भावः । ततोऽपि किं तत्राह-अवबुद्धमिति । तत्तस्मात्कारणात्तत्सौषुप्तं तमस्तदा सुषुप्तौ अवबुद्धं अनुभूतमित्यवगन्तव्यम् । अत्रायं प्रयोगः-विमतं न किंचिदवेदिषमिति ज्ञानमनुभवपूर्वकं भवितुमर्हति स्मृतित्वात्सा मे मातेति स्मृतिवदिति ॥५॥

व्याप्ति (नियम) जगत् में देखी जाती है अर्थात् जिस सुषुप्ति सम्बन्धी अज्ञान की स्मृति होती है उस अज्ञान का पूर्व सुषुप्ति काल में अवश्य अनुभव होना चाहिए यह सिद्ध हुआ । क्योंकि स्मृति अनुभूत विषय की ही होती है । इसलिए सुषुप्ति सम्बन्धी तम अज्ञान को सुषुप्ति में अनुभव अवश्य किया था यह मानना पड़ेगा । यहां अनुमान का प्रयोग इस प्रकार किया जायेगा—सोते समय मैंने कुछ नहीं जाना विवाद का यह विषय है जो जाग्रत अवस्था में ज्ञान (१) है वह अनुभव पूर्वक ही हो सकता है । (२) स्मृति होने से (३) जो-जो स्मृति है वह अनुभव पूर्वक ही हैं (४) परदेश में स्थित पुत्र की यह मेरी माता है इस स्मृति की तरह ॥५॥

विशेष---यह पक्ष है तेज से भिन्न प्रकाश स्वभाव को ज्ञान कहते हैं । सो ज्ञान चेतन रूप और वृत्ति रूप से दो प्रकार का है । इसमें वृत्ति रूप ज्ञान भी आठ प्रकार का प्रमा । शब्द प्रमा १, स्पर्श प्रमा २, रूप प्रमा ३, रस प्रमा ४, गन्ध प्रमा ५, यह वाक्य प्रत्यक्ष प्रमा इनके कारण रूप श्रोत १, त्वक् २, चक्षुः ३, रसन ४, घ्राण ५, यह पांच ज्ञान इन्द्रिय अब दूसरी आन्त-प्रत्यक्ष प्रमा भी (१) आत्म गोचर (२) सुखादि गोचरा इस भेद से दो प्रकार की है आत्म विषयकी दो प्रकार की (१) विशिष्टात्मविषया । (२) शुद्धात्म विषया । इस भेद से दो प्रकार की है अहं जीव कर्ता भोक्ता आदि यह प्रमा विशिष्ट आत्म विषयक है । अहं ब्रह्मास्मि यह प्रमा शुद्ध आत्म विषयक है । अहं सुखी अहं दुःखी इत्यादिक प्रमा सुख दुःखादि विषयक है । अर्थात् = शब्दादि रूप प्रमा ॥५॥ आत्म रूप प्रमा शुद्धात्मरूपप्रमा २, विशिष्टात्मरूप प्रमा ३, ये आठ हो गये (५ प्रमाभेद से) १३ प्रकार-१ चेतन रूप ज्ञान १४ प्रकार की प्रमा है, सो अप्रमावृत्ति (१) स्मृति-अनुभूति (२) इस भेद से दो प्रकार की है । (१) संस्कारमात्र जन्यं ज्ञानं स्मृतिः = संस्कार मात्र करके जन्य जो ज्ञान है सो स्मृति सा, मे माता स पिता-यह साध्य है । स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभव कहते हैं । अनुभव १ यथार्थप्रमा २ अयथार्थप्र मद भेद से दो प्रकार का है । यथार्थ षट्प्रमा प्रकार का पहले कह दिया प्रत्यक्ष १ अनुमान २ उपमान ३ शब्द ४ अर्थापत्ति ५ अभाव =अनुपलब्धि और ईश्वर का ज्ञान सुख दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म संस्कार के भेद से आठ प्रकार का है । अयथार्थ अनुभव भ्रम १ तर्क २ संशय भेद से तीन प्रकार का है ।भ

(३) स्मृतित्वात् यह हेतु है । उद्बुद्ध संस्कार मात्र से जन्य ज्ञान को स्मृति कहते हैं । भ्रम और प्रमा भेद से उसके दो भेद हैं । भ्रमरूप अनुभव के संस्कार से जन्य स्मृति भ्रमरूप और यथार्थ अनुभव के संस्कार से जन्य स्मृति यथार्थ । ४ यह व्याप्ति है ५ यह उदाहरण है ।

तस्यानुभवस्य स्वविषयादज्ञानाद्भेदं बोधान्तरादभेदं चाह—

स बोधो विषयाद्भिन्नो न बोधात्स्वप्नबोधवत् ।
एवं स्थानत्रयेऽप्येका संवित्तद्वद्दिनान्तरे ॥६॥
मासाब्द युगकल्पेषु गतागम्येष्वनेकधा ।
नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयंप्रभा ॥७॥

अन्वय—सबोधः विषयात् अज्ञानात् भिन्नः बोधात् स्वप्नबोधवत् न एवं (एकदिनवर्तिनि स्थानत्रयेऽपि अवस्था जाग्रदाद्यवस्था त्रयेपि संवित् एकैव तद्वत् दिनान्तरे स्वयं प्रभा एका संवित् मासाब्दयुगकल्पेषु गतागम्येषु अनेकधा नोदेति नास्तमेति ।

व्युत्पत्तिः = दिनान्तरे = अन्यत् दिनं दिनान्तरं तस्मिन् दिनान्तरे । अनेकधा = न एकधा अनेकधा एक शब्दात् विधार्थेधा प्रत्ययः ।

स बोध इति । स बोधः सौषुप्ताज्ञानानुभवो विषयाद ज्ञानाद्भिन्नः पृथग्भवितुमर्हति बोधत्वाद्-घटबोधवत्, बोधान्तरान्न भिद्यते बोधत्वात्स्वप्नबोधवत् । फलितं कथयन्नुक्तन्यायमन्यत्राप्यतिदिशति—एवमित्यादिना । स्थानत्रयेऽपि एकदिनवर्तिनि जाग्रदाद्यवस्थात्रयेऽपि संविदेकैव । 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इति न्यायात् । तद्वद्दिनान्तर इति । यथैकस्मिन्दिवसेऽवस्थात्रयेऽपि ज्ञानस्याभेद एवमन्यस्मिन्नपि दिवसेऽनेकधानेक-

उस अज्ञान के ज्ञानरूप अनुभव को अपना विषय जो अज्ञान उससे भेद और इतर ज्ञान से अभेद का वर्णन करते हैं —

यह सुषुप्तिकाल के अज्ञान का बोध विषय से भिन्न है, और स्वप्न काल के बोध के तुल्य बोध से भिन्न नहीं है । इसी प्रकार जाग्रत स्वप्न सुषुप्तिरूप तीनों अवस्थाओं में और उसी प्रकार अन्य दिन मास, वर्ष युग कल्प जो अनेक प्रकार से बीते और आगामी हैं उनमें संवित् एक ही है । यह न उदय होती है न अस्त, किन्तु यह संवित् एक स्वप्रकाशरूप है । अर्थात् उसको किसी के प्रकाश की अपेक्षा नहीं है ॥६-७॥

यह सुषुप्तिकाल का बोध अपने विषय से भिन्न है, बोध से भिन्न नहीं है । जैसे स्वप्नबोध सुषुप्तिकाल का अनुभव अज्ञान रूप विषय से भिन्न हो सकता है । क्योंकि वह बोध है । जैसे घट बोध अपने विषय घट से भिन्न है ।

परन्तु जैसे स्वप्न समय का ज्ञान जाग्रत ज्ञान से भिन्न नहीं है । वैसे यह बोध भी जाग्रत् स्वप्न के बोध से भिन्न नहीं है ।

प्रकारेण गतागम्येऽतीतागामिषु मासेषु चैत्रादिषु अब्देषु प्रभवादिषु, युगेषु कृतादिषु, कल्पेषु ब्राह्मणादिषु च ज्ञानस्याभेद एवेत्यर्थः । संविद -एकत्वसमर्थने फलमाह—नोदेतीति । यतः संविदेका अतो नोदेति नोत्पद्यते नास्तमेति न विनश्यति च । असाक्षिकयोरुत्पत्तिविनाशयोरसिद्धेः स्वोत्पत्तिविनाशयोस्तयैव संविदा ग्रहीतुमशक्यत्वात् संविदन्तराभावाच्चेति भावः ।

अब फलित को कहते हुए इसी न्याय को अन्यत्र भी दिखाते हैं, इसी प्रकार जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में ज्ञान एक ही है । एक दिन में होने वाली जाग्रत-स्वप्न सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में संवित् (ज्ञान) एक ही है । यद्यपि = अवधारण (निश्चय) का वाची एवं शब्द का अर्थ यहाँ मूल श्लोक में एव शब्द नहीं है । तो भी टीकाकार ने 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' होता है । इस न्याय से यहाँ एव अर्थात् ही का प्रयोग किया है । जो ऐसा नहीं मानों तो प्रमा ज्ञान की जनकता के अभाव में वाक्य को अप्रमाणपने की प्राप्ति होगी ।

जैसे एक दिन की जाग्रत आदि तीनों अवस्थाओं में संवित् (ज्ञान) एक ही है । इसी प्रकार अन्य दिनों में भी अनेक प्रकार से बीते हुए और आने वाले दिन चैत्र आदि महीने और प्रभव आदि वष सत्य आदि युग और ब्राह्म-बाराह आदि कल्प सम्बन्धी ज्ञान अभिन्न ही हैं । इसमें भेदक प्रमाण कोई नहीं है संवित् (ज्ञान) की अभेद (एकता) के समर्थन का फल कहते हैं । इससे संवित् एक है क्योंकि यह संवित् न उदित होती है और न अस्त होती है । (क्योंकि बिना साक्षी उत्पत्ति और विनाश दोनों ही नहीं होते) अपने अर्थात् संवित् के उत्पत्ति एवं विनाश को वही संवित् आप नहीं जान सकते और दूसरी कोई संवित् है नहीं ।

प्राग् अभाव के अन्तिम क्षण का नाम उत्पत्ति (जन्म) और प्रध्वंस अभाव के प्रथम क्षण का नाम नाश है । इसलिए कोई भी पुरुष अपने जन्म तथा नाश को नहीं देख सकता । आत्मारूप संवित् दीपक की तरह अपने समान कालीन पदार्थों की प्रकाशिका है । इस प्रकार जब अपनी स्थिति के काल में अविद्यमान प्राग् अभाव और प्रध्वंस अभाव के ज्ञान के अभावरूप प्राग् अभाव के अन्तिम क्षणरूप जन्म को और प्रध्वंसाभाव के प्रथमक्षण रूप नाश को संवित् आप ही जानने के योग्य नहीं है ।

ननु संविदन्तराभावे ग्राहकाभावादस्या अप्यभाने जगदान्ध्यं प्रसज्येतेत्यत आह-एषेति। अत्रायं प्रयोगः-संवित्स्वयं प्रकाशा अवेद्यत्वे सति अपरोक्षत्वाद् व्यतिरेक घटवत्। न चायं विशेषणासिद्धो

शंका दूसरी तो कोई संवित् है नहीं, ग्राहक (साक्षी ज्ञाता) के अभाव में इस संवित् का भी भान नहीं होगा। तो सब जगत ही अन्धा हो जायेगा ? (समाधान) यह संवित् स्वयं प्रकाश रूप है। अपने प्रकाश के लिए दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखती। अथवा स्व=अपनी सत्ता में ही प्रकाश अर्थात् संशय रहित होती है यही स्वयं प्रकाश कहलाती है।

विशेष—(१) स्वयं च तत्त्वं स्वयमेव बुद्धम्=स्वयं आप परमात्मतत्व है स्वयं ही उसे जानोगे। नित्य अलुप्त ज्ञान स्वरूप ज्योतिः आत्म ब्रह्मैव=नित्य अविनाशी ज्ञान स्वरूप प्रकाश मय आत्मा ही ब्रह्म है। ज्योतिः चरणाभिधानात् ब्र० सू० १।१।२४। ज्योतिः ब्रह्म चरणाभिधानात्=एतावानस्य० छा० ३।१२।६। प्रतिबोधविदितं मतममृत्वं हि विन्दते। आत्मावा विन्दते वीर्यं विद्यया बिन्दतेऽमृतम् के० उ० २।२।४।

(२) प्रत्यगात्मत्वेन अविषयतया प्रतिपादयत् अविद्या कल्पितं वेद्य वेदतृ वेदनादि भेदमपनयति, भाष्यकार का वचन—ब्रह्मप्रत्यगात्मा होने के कारण अविषय है ऐसा प्रतिपादन करता हुआ (वेद्य) जानने योग्यवस्तु (वेदितृ) जानने वाला (वेदना) ज्ञान इत्यादिक अविद्या से कल्पित भेदों को दूर करता है। तथा च श्रुति यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातं अविजानताम्" के० २।३। यस्य ब्रह्म अमतं चैतन्यः अविषय इति निश्चयः तेन सम्यग् अवगतम्। जिसको ऐसा निश्चय है कि ब्रह्मतत्त्व चैतन्य का विषय नहीं है ज्ञान स्वरूप है उसे ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान हुआ। यस्य तु अज्ञस्य ब्रह्म चैतन्य विषय इति मतं स न वेद। जिस अज्ञ को ऐसा निश्चय है कि ब्रह्म चैतन्य का विषय है। उसने ब्रह्म को ठीक नहीं समझा। अविज्ञातं अविषतया ब्रह्म विजानतां, अविज्ञातं अदृश्यं, जो तत्त्वज्ञ समझते हैं कि ब्रह्म ईन्द्रियों का गोचर-विषय नहीं उनके मत में ब्रह्म अदृश्य है। (ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं है) अज्ञानां तु ब्रह्म विज्ञातं दृश्यं=जो अज्ञानी है उसके लिए ब्रह्म विषय रूप से विदित है। न दृष्टे र्द्रष्टारं पश्ये न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः बृ० ३।४।२। दृष्टि इन्द्रिय वृत्ति के साक्षी को तू देख नहीं सकेगा और बुद्धि वृत्ति के साक्षी को तू नहीं जान सकेगा ॥४०॥ अविषयतया=अनिदंतया=इदं प्रतीति की अयोग्यता।

हेतुः संविदः स्वसंवेद्यत्वे कर्मकर्तृत्वविरोधात्, परवेद्यत्वेऽनवस्थानात् । अतः स्वप्रकाशत्वेन भासमानायाः संविदः सर्वविभासकत्वसंभवान्न जगदान्ध्यप्रसङ्ग इति भावः ॥६॥७॥

यहाँ यह अनुमान है कि संवित् स्वयं प्रकाशरूप है । किसी अन्य से जानने के अयोग्य होकर प्रत्यक्ष अपरोक्ष होने से जैसे घट ज्ञान का अविषय होते हुए अपरोक्ष नहीं है । किन्तु ज्ञान का विषय होकर अपरोक्ष है । इसलिए स्वयं प्रकाश भी नहीं । यह संवित् तो ज्ञान की अविषय होती हुई अपरोक्ष न हो ऐसा नहीं, अपितु अपरोक्ष है ।

अतएव स्वप्रकाश है यह व्यतिरेक दृष्टान्त का आकार है । हेतु दृष्टान्त और अनुमान-अन्वयी और व्यतिरेकी दो प्रकार के होते हैं । जो हेतु साध्य और दृष्टान्त दोनों में व्याप्तिवाला हो उसे अन्वयी कहते हैं और जो हेतु दृष्टान्त में व्याप्ति रहित केवल साध्य में बर्तने वाला है वह हेतु व्यतिरेकी है । दृष्टान्त के अनुकूल या हेतु की व्याप्ति सहित दृष्टान्त को अन्वयी दृष्टान्त और दार्ष्टान्त से विरुद्ध या हेतु की व्याप्ति रहित दृष्टान्त को व्यतिरेकी दृष्टान्त कहते हैं । अन्वयी हेतु तथा दृष्टान्त से युक्त अनुमान अन्वयी है । इससे विपरीत अनुमान व्यतिरेकी है ।

कदाचित् कोई शंका करे कि उक्त अनुमान में स्थित अवेद्यत्वे सति अपरोक्षत्वात् = यह विशेषण है । इसकी असिद्धि है जानने के अयोग्य होकर प्रत्यक्ष होने से विशेषण जानने के अयोग्य होकर अर्थात् संवित् जानने योग्य है । यह शंका ठीक नहीं है । क्योंकि संवित् ही संवित् को जानेगी तो उसी को कर्म और उसी को कर्ता मानने में विरोध होगा ।

कर्ता और कर्म भिन्न-भिन्न होते हैं, एक नहीं यदि संवित् को जानने वाली अन्य दूसरी संवित् मानोगे तो अनवस्था दोष होगा क्योंकि दूसरी संवित् के ज्ञानार्थ तीसरी और तीसरी के ज्ञानार्थ चौथी माननी पड़ेगी । इस प्रकार कहीं भी स्थिति न होगी । इसलिए स्वप्रकाश रूप से भासमान संवित् सर्व अनात्म वस्तु की प्रकाशक है । इससे जगत् की अंधता (अप्रतीति का) प्रसंग रूप दोष नहीं है ॥७॥

भवत्वेवं संविदो नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वं च ततः किमित्यत आह—

इयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदं यतः ।
मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते ॥८॥

अन्वय :—इयं (संवित्) आत्मा परानन्दः यतः परप्रेमास्पदं हि आत्मनि मा न भूवं (किन्तु) भूयासम् इति प्रेम ईक्ष्यते ।

व्युत्पत्तिः = ईक्ष्यते = ईक्ष धातोः कर्मणि यक् प्रत्ययः ईक्ष्यते । आत्मा-अततीति अत धातोः - मन प्रत्येय रूपम् ।

इयमिति । अत्रायं प्रयोगः-इयं संविदात्मा भवितुमर्हति नित्यत्वे सति स्वप्रकाशत्वाद्यन्नैवं न तदेवं यथा घटः, इति आत्मनो नित्यसंविद्रूपत्वप्रसाधनेन सत्यत्वमपि साधितं भवति । नित्यत्वातिरिक्त-सत्यत्वाभावात् नित्यत्वं सत्यत्वं तद्यस्यास्ति तन्नित्यं सत्यमिति वाचस्पतिमिश्रैरुक्तत्वादिति भावः । आत्मन आनन्द रूपत्वं साधयति —परानन्द[1] इति । आत्मेत्यनुषज्यते । परश्चासावानन्दश्चेति परानन्दः निरतिशय-

इस प्रकार संवित् (ज्ञान नित्यता और स्वप्रकाशता रही इससे क्या सिद्ध हुआ इस शंका का समाधान करते हैं —

यह संवित् आत्मरूप है और परम प्रेम का आस्पद होने से यह आत्मा परमानन्द रूप है। क्योंकि मेरी असत्ता (अभाव) कभी न हो किन्तु मैं सदैव रहूँ। इस प्रेम को आत्मा के प्रति ऐसा प्रेम होना तो सब अनुभव करते हैं ॥८॥

यह संवित् ही आत्मा है। यहाँ अनुमान इस प्रकार है -- यह संवित् आत्मा होने योग्य है। नित्य (उत्पत्ति विनाश रहित) या भाव रूप होती हुई भी अजन्मा होते हुए स्वप्रकाश होने के कारण, जो ऐसे (आत्मा नहीं हैं वह ऐसे नित्य होते हुए स्वप्रकाश भी नहीं है। जैसे घट आत्मा नहीं है अतएव नित्य स्वप्रकाश स्वरूप भी नहीं है। परन्तु यह संवित् वैसी नहीं है। (यह व्यतिरेकी दृष्टान्त है) इस अनुमान में आत्मा के नित्य और संवित् रूप सिद्ध होकर सत्य की भी सिद्धि हो गयी। क्योंकि नित्यता से पृथक् सत्यता नहीं होती। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने भी कहा है। नित्यत्वरूप सत्य जिस वस्तु में हो वह वस्तु नित्य और सत्य है अब आत्मा को परमानन्दरूप सिद्ध करते हैं। सब प्राणियों के भीतर प्रकाशित होने वाला साक्षात् परमानन्द है निरतिशय सुखरूप है। सबसे अधिक सुखरूप है। आत्मा के आनन्दरूप लेश से ही चाटी से लेकर ब्रह्मा तक के सब भूत भौतिक आनन्दवान् है। क्योंकि परम प्रेम का विषय है। यह

विशेष १) आत्माहि नामसर्वजन्तूनां प्रत्यक् चेतनः स्वसंवेद्य प्रसिद्ध० (भा० छा० ८।१४।१।) स्वजन्यं ज्ञाने स्वयं प्रमाणं ने तु प्रवर्तकम् । रत्न प्र० १।१।१। जो ज्ञान जिससे उत्पन्न होता है उस ज्ञान में वह स्वयं प्रमाण होता है। किन्तु प्रवर्तक नहीं होता।

सुखस्वरूप इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—परेति। यतो यस्मात्कारणात्परस्य निरुपाधिकत्वेन निरतिशयस्य प्रेम्णः स्नेहस्य आस्पदं विषयः तस्मात्।

अत्रेदमनुमानम्—आत्मा परमानन्दरूपः परप्रेमास्पदत्वात् यः परमानरूपो न भवति नासौ परप्रेमास्पदमपि यथा घटः, तथाचायं परप्रेमास्पदं न भवतीति न, तस्मात्परमानन्द रूपो न भवतीति न।

नन्वात्मनि धिङ्मामिति द्वेषस्योपलभ्यमानत्वात्प्रेमास्पदत्वमेवासिद्धम्, कुतः परप्रेमास्पदत्वमित्याशङ्क्य तस्य दुःखसंबन्धनिमित्तकत्वेनान्यथा[1]सिद्धत्वात्प्रेम्णश्चात्मन्यनुभव[2] सिद्धत्वान्मैवमिति परिहरति—मा न भूवमिति। हि यस्मात्कारणादात्मनि विषये मा न भूवम् अहं मा भूवमिति न। ममासत्त्वं कदापि माभूत् किन्तु भूयासमेव सदा सत्त्वमेव मम भूयादित्येवंविधं प्रेमेक्ष्यते सर्वैरनुभूयते। अतो नासिद्धिरित्यर्थः ॥८॥

आत्मा उपाधि से रहित सबसे अधिक प्रेम स्नेह का आस्पद है। अर्थात् धन, पुत्र, देह, इन्द्रिय आदि इन उपाधियों सहित आत्मा में कम अधिक प्रीति होती है और इन उपाधियों से रहित शुद्ध आत्मा में इन सबसे अधिक प्रीति होती है। इसलिए आत्मा परमानन्द है।

यहाँ अनुमान इस प्रकार है। आत्मा परमानन्द रूप हैं, परम प्रेम का विषय होने से जो परमानन्द रूप नहीं है वह परम प्रेम का विषय भी नहीं है। जैसे घट, यह आत्मा परम प्रेमका आस्पद न हो ऐसा नहीं अपितु परम प्रेमास्पद ही है। शङ्का - आत्मा के (अपने आपके) प्रति मुझको धिक्कार है, इस प्रकार के द्वेष की प्रतीति होती है। इसलिए प्रेम का आस्पद आत्मा नहीं है। परम प्रेम का आस्पद कहा से होगा असिद्ध है। समाधान यह द्वेष दुःख के सम्बन्ध रूप निमित्त से जन्य है अतएव अन्यथा सिद्ध है आत्मा में प्रेम अनुभव सिद्ध है। इसलिए आत्मा में प्रेम स्वतःसिद्ध है। इसी शङ्का का समाधान करते हैं। समाधान जिस कारण से आत्मा में इस प्रेम को मेरी असत्ता (अभाव) कभी न हो मैं सदा बना रहूँ। आत्मा के प्रति ऐसा प्रेम तो सब अनुभव करते हैं। इस कारण आत्मा में प्रेम की विषयता की असिद्धि नहीं है।

---

(१) अन्यथा सिद्धिः = कारण सामग्री वाह्यः। कार्याव्यवहितपूर्ववृत्तित्वे सति, कार्यानुपपादकत्वम्।

(२) अनुभवावसानत्वाद् भूतवस्तुविषयत्वात् च ब्रह्म ज्ञानस्य = ब्रह्मज्ञानसिद्धवस्तु (ब्रह्म) विषयक है और ब्रह्म ज्ञान की चरमसीमा अनुभव (ब्रह्मसाक्षात्कार) है।

ननु मा भूत्स्वरूपासिद्धिः, प्रेम्णः परत्वे मानाभावाद्विशेषणासिद्धिर्हेतोरित्याशङ्क्याह —

तत्प्रेमात्मार्थमन्यत्र नैवमन्यार्थमात्मनि ।
अतस्तत्परमं तेन परमानन्दतात्मनः ॥९॥

अन्वयः—अन्यत्र तत्प्रेम आत्मार्थम् एवं आत्मनि (विद्यमानं) प्रेम अन्यार्थं न अन्तः तत्परमं तेन आत्मनः परमानन्दता (सिद्धा) ॥

तत्प्रेमेति । अन्यत्र स्वातिरिक्ते पुत्रादौ यत्प्रेम तदात्मार्थं तेषामात्मशेषत्वनिमित्तकमेव न स्वाभाविकं, एवमात्मनि विद्यमानं प्रेमाऽन्यार्थं न आत्मनोऽन्यशेषत्वनिमित्तकं न भवति किंत्वात्मत्वनिमित्तकमेव । अतो निरुपाधिकत्वात् तत्परमं निरतिशयम् । फलितमाह – तेनेति । तेन निरतिशय प्रेमास्पदत्वेनात्मनः परमानन्दता निरतिशयसुखरूपत्वं सिद्धम् ॥९॥

शंका जो पक्ष में हेतु के अभावरूप—स्वरूपासिद्धि दोष तो मत हो परम प्रेम की उत्तमता में मान का अभाव है। इस हेतु में विशेषणासिद्धि रूप दोष है। इस शंका की निवृत्ति नीचे लिखे श्लोक से करते हैं।

जैसे पुत्र आदि में जो प्रेम है वह आत्मा के लिए है और ऐसे ही आत्मा में प्रेम अन्य के लिए नहीं है इससे आत्मा में प्रेम उत्तम है इससे आत्मा परमानन्द रूप है ॥९॥

अपने से भिन्न पुत्र आदि में जो प्रेम है। वह आत्मा के (अपने) लिए ही है। अर्थात् अपनी प्रीति के लिए ही पुत्र आदि के प्रति प्रेम होता है स्वाभाविक नहीं है। परन्तु आत्मा के प्रति जो प्रेम है वह किसी दूसरे पुत्रादि के लिए नहीं है। अर्थात् आत्मा किसी अन्य का शेष नहीं है। किन्तु आत्मा के प्रेम का निमित्त आत्मा में रहने वाला आत्मस्वरूप धर्म ही हेतु है। इसलिए आत्मगत प्रेम ही निरुपाधिक (अकारण = निर्व्याज) होने के कारण परम अर्थात् (सर्वश्रेष्ठ) है। फलित कहते हैं। इसलिए सबसे उत्तम प्रेम का आश्रय होने से आत्मा परमानन्द स्वरूप है अर्थात् निरतिशय सुखरूप सिद्ध हो जाता है ॥९॥

एतैः सप्तभिः श्लोकैः प्रतिपादितमर्थं संक्षिप्य दर्शयति—

इत्थं सच्चित्परानन्द आत्मा युक्त्या तथाविधम् ।
परं ब्रह्म तयोश्चैक्यं श्रुत्यन्तेषूप दिश्यते ॥१०॥

अन्वय—इत्थं सच्चित् परानन्दः आत्मा युक्त्या तथाविधम् परं ब्रह्म (तत्पदार्थः) तयोः (तत्वं (पदार्थयोः) ऐक्यं श्रुत्यन्तेषु उपदिश्यते ।

इत्थमिति। शब्दस्पर्शादय इत्यादिना ज्ञानस्य नित्यत्वं प्रसाध्य तस्यैवेयमात्मेत्यात्मत्वप्रसाधनेनात्मनः सच्चिद्रूपत्वं साधितं, परानन्द इत्यादिना च परमानन्दरूपत्वं समर्थितम् । अतः आत्मा महावाक्ये त्वं पदार्थः: सच्चिदानन्दरूपः सिद्धः ।

ननूक्तलक्षणस्यात्मनोयुक्त्यैवावगतावुपनिषदः निर्विषयत्वेनाप्रामाण्यप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह-तथाविधमिति । तथा तादृग्विधा प्रकारो यस्य तत्तथाविधं सच्चिदानन्दरूपं परं ब्रह्म तत्पदार्थं तयोस्तत्त्वंपदार्थयोरैक्यमखण्डैकरसत्वं च श्रुत्यन्तेषु वेदान्तेषु उपदिश्यते प्रतिपाद्यते । अतो न वेदान्तानां निर्विषयत्वमित्यर्थः ॥१०॥

इन पूर्वोक्त सात श्लोकों से सिद्ध किये अर्थ को कि जीव और आत्मा की एकता संक्षेप से दिखाते हैं—

इस प्रकार पूर्वोक्त युक्ति से जीवात्मा सत्-चित्-परम आनन्दरूप है और वैसे ही परब्रह्म भी परमानन्द रूप है, इन दोनों जीव ब्रह्म की एकता (अभेद, अद्वैत) का उपदेश सम्पूर्ण वेदान्त करते हैं। जीव ब्रह्म का अभेद सिद्ध करते हैं ॥१०॥

शब्द स्पर्शादिक इस तीसरे श्लोक से सातवें श्लोक तक संवित् की नित्यता सिद्ध करके आठवें श्लोक से वह संवित् रूप ज्ञान को ही "इयमात्मा" इस श्लोक से आत्मत्वसिद्ध कर देने से आत्मा को सत्-चित् और परमानन्द इत्यादि से परम आनन्द समर्थन सिद्ध किया । इस प्रकार आत्मा तत्त्वमसि आदि महावाक्यों में जो त्वं पद का अर्थ है । वह सच्चिदानन्द रूप सिद्ध है यह सिद्ध हो गया । शंका यदि आत्मा सत्-चित् आनन्दरूप युक्ति से ही सिद्ध हो गया तो उपनिषदों का विषय न होने से अप्रमाणता हो जायेगी तो ठीक नहीं । अर्थात् परब्रह्म भी वैसा ही सच्चिदानन्द रूप है । और वहीं महावाक्यों में तत् पद का अर्थ है । इन तत्-त्वम् पदों की एकता इन दोनों पदों का अर्थ करते हुए ब्रह्मात्मा की अखण्ड एक रसता रूप एकता का उपनिषदों में प्रतिपादन किया गया है, इसलिए उपनिषदें निर्विषय नहीं हैं । अर्थात् जीव और ब्रह्म की एकता वेदान्तों से प्रतीत होती है ॥१०॥

विशेष—(१) श्रुतियों के अन्तो (वेदान्त में) वेदान्त = जीव ब्रह्म अभेदबोधकं वाक्यम् ।
(२) वेदानां अन्तोऽवसानभागः ।

आत्मनः परमानन्दरूपत्वमाक्षिपति—

अभाने न परं प्रेम भाने न विषये स्पृहा ।
अतो भानेऽप्यभातासौ परमानन्दतात्मनः ॥११॥

अन्वयः—(परमानन्दरूपत्वस्य) अभाने न परं प्रेम, भाने तु विषये स्पृहा न। अतः आत्मनः असौ परमानन्दता भानेऽपि अभाता ।

अभानेइति । परमानन्दरूपत्वं न भासते भासते वा । अभानेऽप्रतीतौ न परं प्रेम आत्मनि निरतिशय स्नेहो न स्यात्, विषय सौन्दर्यज्ञानजन्यत्वात्स्नेहस्य । भाने प्रतीतौ तु विषये ख साधने स्रगादौ तज्जन्ये सुखे व स्पृहा इच्छा न स्यात् फलप्राप्तौ सत्यां साधनेच्छानुपपत्तेः । नित्यनिरतिशयानन्दलाभे सति क्षणिके साधन-पारतन्त्र्यादिदोष दूषिते वैषयिके सुखे स्पृहायोगाच्च । तस्मान्नानन्दरूपतात्मन उपपन्नेति प्रकारान्तरस्य नात्र संभवात् नैवमिति परिहरति —अत इति । यतो भानाभानपक्षयोरुभयोरपि दोषोऽस्त्यतः कारणादात्मनोऽसौ परमानन्दता भानेऽपि प्रतीतौ सत्यामपि अभाता न प्रतीता भवति ॥११॥

अब आत्मा के परमानन्द रूप में आशंका करते हैं ।

आत्मा की परम आनन्दता का भान न मानोगे तो परम स्नेह वह न होगा और भान मानोगे तो विषयों की इच्छा न होगी । इससे यह आत्मा की परमानन्दरूपता भान होने पर भी भान न होने के समान है । अर्थात् प्रकटता से प्रतीत नहीं होता ॥११॥

आत्मा में परमानन्दरूपता भासती है या नहीं भासती अर्थात् प्रतीत होती है कि नहीं, यदि कहो कि इसका भान नहीं होता तो आत्मा में सर्वाधिक स्नेह-परम प्रेम नहीं होना चाहिए, क्योंकि स्नेह विषय की सुन्दरता के ज्ञान से जन्य होता है । यदि कहो कि आत्मा की परमानन्दरूपता का भान होता है तो सुख के साधन (विषयानन्द) माला-चन्दन-स्त्री आदि में अथवा उन विषयों से जन्य सुख में मनुष्य की इच्छा नहीं होनी चाहिए । क्योंकि जब परम सुख रूप फल ही मिल गया तो विषय रूप साधन की इच्छा असम्भव होगी । और नित्य तथा सर्वाधिक आनन्द के मिल जाने पर क्षणिक तथा पराधीनता आदि दोषों से युक्त विषय जन्य सुख के प्रति इच्छा असंभव है । इसलिए आत्मा परमानन्द रूप है यह सिद्ध नहीं होता इससे आत्मा परमानन्द रूप नहीं हो सकता अन्य कोई प्रकार (रीति) यहाँ नहीं हो सकती इससे परिहार=समाधान करते हैं । समाधान जिससे भासने और न भासने दोनों पक्षों में दोष है इस कारण इस आत्मा की परमानन्दरूपता भान होने पर भी भान नहीं होता अर्थात् प्रतीति होते हुए भी और प्रतीति नहीं होती ॥११॥

नन्वेकस्य युगपद्भानाभाने न युज्येते इत्याशङ्क्य किमिदमयुक्तत्वं अदृष्टचरत्वमुपपत्तिरहितत्वं वा । नाद्य इत्याह—

अध्येतृवर्गमध्यस्थपुत्राध्ययनशब्दवत् ।
भानेऽप्यभानं भानस्य प्रतिबन्धेन युज्यते ॥१२॥

अन्वय—अध्येतृवर्गमध्यस्थपुत्राध्ययनशब्दवद् भानस्य भानेऽपि अभानं (सामान्यतः प्रतीतावपि) प्रतिबन्धेन युज्यते ।

अध्येति । अध्येतृणां वेदपाठकानां वर्गः समूहस्तस्य मध्ये तिष्ठतीत्यध्येतृवर्गमध्यस्थः स चासौ पुत्रश्चेति तथा तस्याध्ययनं तत्कर्तृकं पठनं तस्य शब्दो ध्वनिर्यथा बहिःस्थस्य पितुर्भासमानोऽपि सामान्यतो न भासते विशेषतोऽयं मत्पुत्रध्वनिरिति तथाऽऽनन्दस्यापि भानेऽप्यभानं भवतीत्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह—भानस्येति । भानेऽप्यभानमित्येतदत्राप्यनुषञ्जनीयम् । भानस्य स्फुरणस्य प्रतिबन्धेन वक्ष्यमाणलक्षणेन भानेप्यभानं

कदाचित् शंका करो कि एक वस्तु का एक काल में भान और अभान युक्त नहीं हो सकता है । इस शंका में यह विकल्प है । (समाधान) यह तो बताओ कि यह एक ही में प्रतीति और अप्रतीति का होना कहीं देखा नहीं या इसकी सिद्धि ही नहीं हो सकती. पहला पक्ष (देखा नहीं) तो ठीक नहीं है ।

अनेक पढ़ने वालों के मध्य में पढ़ते हुए पुत्र का जो पढ़ने का शब्द सामान्य रूप से भान में भी विशेष रूप से अभानयुक्त है भान के प्रतिबन्ध (विघ्न) से भान में अभान युक्त हो सकता है ॥१२॥

पहला विकल्प मानो तो हम कहते हैं कि वेद पाठियों में बैठे किसी के पुत्र द्वारा किये गये पठन का शब्द बाहर बैठे उसके पिता को सामान्य रूप से प्रतीत होता भी है (यह पुत्र के पढ़ने की ध्वनि है) इस रूप में विशेषतया प्रतीत नहीं होती वैसे ही आत्मा का आनन्द भी सामान्य रूप से भान होने पर भी विशेष रूप से अप्रतीत रहता है । दूसरे विकल्प के विषय में बात यह है कि अर्थात् स्फुरण रूप

सामान्यतः प्रतीतावपि विशेषाकारेणाप्रतीतिर्युज्यते। उपपद्यत इत्यर्थः ॥१२॥

कोऽसौ प्रतिबन्ध इत्यत आह—

प्रतिबन्धोऽस्तिभातीतिव्यवहारार्हवस्तुनि।
तं निरस्य विरुद्धस्य तस्योत्पादनमुच्यते ॥१३॥

अन्वयः—अस्तिभातीति व्यवहारार्हे वस्तुनि तं निरस्य विरुद्धस्य उत्पादनं प्रतिबन्धः उच्यते।

व्युत्पत्तिः—उत्पादनं = उदुपसर्गात् पद धातोः णिचि ल्युटि रूपम्।

प्रतिबन्धइति। अस्तिभातीतिव्यवहारार्हवस्तुनि अस्ति विद्यते भाति प्रकाशते इत्येवं प्रकारं व्यवहार मर्हतीत्यस्तिभातीतिव्यवहारार्हं तच्च तद्वस्तु चेति तथा तस्मिन् तं पूर्वोक्तं व्यवहारं निरस्य निराकृत्य विरुद्धस्य नास्ति न भातीत्येवंरुपस्य तस्य व्यवहारस्योत्पादनं जननं प्रतिबन्धइत्युच्यते ॥१३॥

प्रतीति की आगे कहे जाने वाले प्रतिबन्ध[1] के कारण सामान्यतया प्रतीति होते हुए भी विशेष आकार से अप्रतीति संभव है ॥१२॥

प्रतिबन्ध क्या है इसका वर्णन करते हैं—

अस्ति भाति इस व्यवहार वस्तु में अस्ति विद्यते भाति (प्रकाशते) इस रूप में होने वाले व्यवहार को अस्ति भातीति व्यवहारार्ह कहते हैं। वह वस्तु वैसी हो जिसमें इस प्रकार व्यवहार का वर्णन करके व्यवहार विरुद्ध न अस्ति नहीं है न भाति (प्रकाशित है) है इस व्यवहार का उत्पादन ही प्रतिबन्ध कहा जाता है ॥१३॥

अब प्रतिबन्धक को कहते हैं कि अस्ति (है) भाति (प्रकाशता है) इस रीति के व्यवहार अथवा प्रतीति और कथन के योग्य वस्तुमें उस व्यवहार का उस पूर्वोक्त व्यवहार को दूर करके भ्रम आदि के द्वारा उससे विरुद्ध जो नहीं है नहीं भासता यह व्यवहार उसकी जो उत्पत्ति उसको ही प्रतिबन्धककहते हैं॥१३॥

विशेष (१) कार्य के विरोधी को प्रतिबन्धक कहते हैं। यहां परमानन्दता की विशेष-विशेष प्रतीतिरूप कार्य का विरोधी आवरण ही प्रतिबन्ध है। बात यह है कि अज्ञानी जनों को अविद्याकृत आवरण रूप प्रतिबन्ध से परमानन्दता की सामान्य प्रतीति होते हुए भी विशेष प्रतीति नहीं है। इसलिए आत्मा में परम प्रेम भी है और विषय की इच्छा भी बनती है और ज्ञानी को कदाचिता, व्यवहार में विज्ञात आत्मा के अविचार से जन्य बहिर्मुख वृत्ति रूप प्रतिबन्ध से परमानन्दता की सामान्य से प्रतीति के होते हुए भी विशेष से प्रतीति कुछ समय तक नहीं होती। इसलिए आत्मा में परम प्रेम भी है। और विषय (इष्ट पदार्थ) की इच्छा भी होती है फिर विचार से उक्त प्रतिबन्ध के तिरस्करण विशेष से परमानन्दता की प्रतीति होती है।

उक्तलक्षणस्य प्रतिबन्धस्य कारणं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः क्रमेण दर्शयति—

तस्य हेतुः समानाभिहारः पुत्रध्वनिश्रुतौ ।
इहानादिरविद्यैव व्यामोहैकनिबन्धनम् ॥१४॥

अन्वयः—पुत्रध्वनि श्रुतौ समानाभिहारः तस्य (प्रतिबन्धस्य) हेतुः इह व्यामोहैकनिबन्धनं अनादिः अविद्या एव (प्रतिबन्धस्य हेतुः) ।

व्युत्पत्तिः—व्यामोहः = वी आङ् पूर्वात् मुह धातोः अचि प्रत्यये रूपं । मोह शब्दस्य अज्ञान-वाचकत्त्वेऽपि उपसर्गद्वयं प्रबलमोहं समर्थयति ।

तस्येति । पुत्रध्वनिश्रुतौ पुत्रध्वनिश्रवणलक्षणे दृष्टान्ते तस्य प्रतिबन्धस्य हेतुः कारणं समानाभिहारः बहुभिः सह पठनं इह दार्ष्टान्तिके व्यामोहैकनिबन्धनं व्यामोहानां विपरीतज्ञानानामेकनिबन्धनं मुख्यं कारणम् ।[1]

अब पूर्वोक्त लक्षण वाले प्रतिबन्ध के हेतु को दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में दिखाते हैं—

पुत्र शब्द के सुनने में अनेकों के संग पढ़ना और यहाँ अनादि अविद्याही विपरीत ज्ञान में हेतु है ॥१४॥

पुत्र के शब्द के श्रवण रूप दृष्टान्त में बहुतों के साथ मिलकर पढ़ना प्रतिबन्ध का कारण है और आत्मा की परमानन्दता का जो अभान दाष्टान्तिक में एक व्यामोह विपरीत ज्ञानों का कारण है । अनादि

विशेष —(१) अनादिमाययासुप्तो यदा जीवः प्रबुद्ध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥माण्डू० का० आगम प्र० १६॥

जिस समय जीव अनादि माया से सोकर जागता है । अर्थात् श्री गुरुदेव जगाते हैं तत्त्वमसि तत्त्व ज्ञान प्राप्त करता है । उसी समय उसे अज-अनिद्र और स्वप्न रहित अद्वैत आत्मतत्त्व का बोध प्राप्त होता है । यदा पद का तात्पर्य =

श्रुत्याचार्यप्रसादेन योगाभ्यासावशेन च । ईश्वरानुग्रहेणापि स्वात्मबोधो यदा भवेत् ।

वार्तिक सुरेश्वराचार्य ! वेदान्त श्रवण से आचार्य गुरु के प्रसाद, योगाभ्यास से और परमेश्वर के अनुग्रह से जब स्वात्मबोध होता है ।

जीवईशोविशुद्धाचित् तथा जीवेशयोः भिदा । अविद्यातच्चितो योगात् षडस्मामनादयः ।

ये छः तत्त्व हमारे मत में अनादि हैं जैसे १—जीव, २ —ईश, ३ —विशुद्धाचित्, ४—जीवेशभेद, ५—अविद्या, ६ —अविद्याचित् का योग ।

अविद्याऽस्तमयोमोक्षः स च बन्ध उदाहृतः । निवृत्तिरात्ममोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः ॥वार्तिकसुरे०॥

अविद्या तत् कार्य निवृत्तिरूप ही मोक्ष है । सा अविद्या ही बन्ध है आत्ममोह की निवृत्ति ज्ञातत्व से उपलक्षित = ब्रह्मस्वरूप ही है ।

अनादिरुत्पत्तिरहिताऽविद्या वक्ष्यमाणलक्षणा प्रतिबन्धस्य हेतुरित्यर्थः ॥१४॥

इदानीं प्रतिबन्धहेतुभूतामविद्यां प्रतिपादयितुं तन्मूलभूतां प्रकृतिं व्युत्पादयति—

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता ।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा ॥१५॥

अन्वयः—चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता तमोरजःसत्वगुणा या अवस्था सा च प्रकृतिः द्विविधा द्विप्रकारा भवति ।

चिदानन्देति । यच्चिदानन्दरूपं ब्रह्म तस्य प्रतिबिम्बेन प्रतिच्छायया समन्विता युक्ता । तमोरजःसत्त्वगुणा सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्था या सा प्रकृतिरित्युच्यते । सा च द्विविधा द्विप्रकारा भवति । चकाराद्वक्ष्यमाणं प्रकारान्तरं सूचयति ॥१५॥

उत्पत्ति रहित अविद्या (जिसका लक्षण आगे बताया जायेगा) उस मूल अविद्या की निवृत्ति के बिना परम आनन्द का ज्ञान नहीं हो सकता है । यही प्रतिबन्ध का कारण है ॥१४॥

अब पूर्वोक्त प्रतिबन्ध का कारण जो अविद्या उसके कहने के लिए उस अविद्या की मूल जो प्रकृति का वर्णन करते हैं—

सच्चिदानन्दरूप परब्रह्म के प्रतिबिम्ब से युक्त जो तमोगुण रजोगुण सत्वगुण रूप प्रकृति वह दो प्रकार की है ।

चिदानन्दरूप जो ब्रह्म उसके प्रतिबिम्ब से (आभास से) युक्त जो सत्व-रज-तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं । वह प्रकृति दो प्रकार की है । च शब्द से प्रकृति के तीसरे प्रकार की सूचना मिलती है ॥१५॥

सहेतुकं द्वैविध्यमेव दर्शयति—

सत्त्वशुद्ध्य[1]विशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते ।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः ॥१६॥

अन्वयः सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां ते च मायाविद्ये मते । मायाबिम्बः तां वशीकृत्य स सर्वज्ञः ईश्वरः स्यात् ।

सत्त्वेति । सत्त्वस्य प्रकाशात्मकस्य गुणस्य शुद्धिः गुणान्तेरणाकलुषीकृतता अविशुद्धिः गुणान्तरेण कलुषीकृतत्वं ताभ्यां सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां ते च द्विविधे मायाविद्ये इति मायेत्यविद्येति च मते संमते । विशुद्धसत्त्वप्रधाना[2] माया, मलिनसत्त्वप्रधाना[3] अविद्येत्यर्थः । यदर्थं मायाविद्ययोर्भेद उक्तस्तदिदानीं दर्शयति—मायाबिम्ब इति । मायाबिम्बः मायायां प्रतिफलितश्चिदात्मा तां मायां वशीकृत्य स्वाधीनीकृत्य वर्तमानः[4] सर्वज्ञः सर्वज्ञत्वादिगुणकः ईश्वरः स्यात् ॥१६॥

अब माया अविद्या का भेद और उनके कारणों का और ईश्वर का स्वरूप दिखाते हैं—सत्त्वगुण की शुद्धि और अशुद्धि वे दोनों क्रम से माया और अविद्या मानी जाती है । माया में प्रतिबिम्ब चिदात्मा ब्रह्म माया को अपने वश में करके सर्वज्ञ ईश्वर होता है । अर्थात् मायोपाधिक ईश्वर कहते हैं ॥१६॥

प्रकाशरूप सत्त्व गुण की शुद्धि अर्थात् रज-तम से मलिन न होना और सत्त्व की अशुद्धि अर्थात् रज-तम से मलिन होना, इन दोनों कारणों से प्रकृति के क्रमशः माया और अविद्या दो भेद है । उनमें से विशुद्ध सत्त्व गुण प्रधान माया और मलिन सत्त्व गुण प्रधान अविद्या है । अब माया और अविद्या के भेद का फल दिखाते हैं । माया में पड़ा है प्रतिबिम्ब जिसका ऐसा चिदात्मा (परब्रह्म) उस माया को (अपने अधीन) करता हुआ सर्वज्ञादिगुणवान् ईश्वर होता है अर्थात् माया के नियन्ता परब्रह्म को ईश्वर कहते हैं ॥१६॥

विशेष—(१) शुद्धसत्त्वप्रधाना मलिनसत्त्वप्रधानेति तस्याद्वैविध्यम् चकारात् तम प्रधानाया संग्रहः ।

(२) स्वाश्रयाऽव्यामोहकरत्वे सति इतरव्यामोहकरणम् । अघटितघटनासाधिका शक्तिः माया एका आपेक्षिकव्यापिका ।

(३) स्वाश्रय व्यामोहकरी । असत् प्रकाशनशक्तिः ।

(४) एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञः एषोऽन्तर्यामी एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् । मा० उ० ६ । यह सबका ईश्वर है, यह सर्वज्ञ है, यह अन्तर्यामी है और समस्त जीवों की उत्पत्ति तथा लय का स्थान होने के कारण यह सबका कारण है ।

अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा ।
सा कारणशरीरं स्यात्प्राज्ञस्तत्राभिमानवान् ।।१७।।

अन्वयः—अविद्यावशगस्तु अन्यः तद् वैचित्र्यात् अनेकधा (अनेकप्रकारः) भवति स।अविद्या कारण शरीरं स्यात् तत्र प्राज्ञः अभिमानवान् भवति ।

व्युत्पत्ति—प्राज्ञः=प्रकर्षेण अज्ञः प्राज्ञः इति अत्र नञ् समासः । किन्तु सद्ऽसद् विवेकिनीबुद्धिः प्रज्ञा सा अस्ति यस्य स प्रज्ञः । प्रज्ञ एव प्राज्ञः प्रज्ञा श्रद्धा इति णप्रत्ययः ।

अविद्येति । अविद्यावशगोऽविद्यायां प्रतिबिम्बत्वेन स्थितः तत्परतन्त्रस्तु चिदात्मान्यो जीवः स्यात् । स च तद्वैचित्र्यात्तस्या अविद्याया उपाधिभूताया वैचित्र्यादविशुद्धितारतम्यादनेकधाऽनेकप्रकारो देवतिर्यगादिभेदेन विविधो भवतीत्यर्थः । 'यथा मुञ्जादिषीकैवमात्मा युक्त्या समुद्धृतः । शरीरत्रितयाद्धारैः परं ब्रह्मैव जायते' इत्युत्तरत्र शरीरत्रितयाद्विवेचितस्य जीवस्य परब्रह्मत्वं वक्ष्यति । तत्र तानि कानि त्रीणि शरीराणि तत्त-दुपाधिको वा जीवः किंरूपो भवतीत्याकाङ्क्षायां तत्सर्वं क्रमेण व्युत्पादयति—सा कारणशरीरमित्यादिना ।

जीवात्मा का स्वरूप—

अविद्या का वशीभूत जो जीव है वह अविद्या की विचित्रता से देव मनुष्य आदि रूप अनेक प्रकार का है । वह अविद्या कारण शरीर कहलाती है और उस अविद्या के अभिमानी को प्राज्ञ कहते हैं ।।१७।।

अविद्या में प्रतिबिम्बित और उसके अधीनस्थ हुए चिदात्मा को जीव कहते हैं । यह जीव अविद्या की उपाधि रूप अशुद्धि के न्यूनाधिकरूप विचित्रता के कारण देव-पशु-पक्षी आदि भेद से नाना प्रकार का होता है । जैसे मुञ्ज से ईषीका (अग्रशलाका) को पृथक् कर लेते हैं इसी प्रकार तीनों शरीरों से धीर पुरुष युक्तियों से आत्मा को पृथक् जान लेते हैं । आगे ४२वें श्लोक में तीन शरीरों से विवेचित (पृथक् किये हुए) जीव का ब्रह्म भाव कहेंगे । उसमें वे तीन शरीर कौन से हैं और उन-उन शरीरोपाधिक जीव क्या रूप है । इस आकांक्षा की निवृत्ति के लिए उन शरीर आदिकों का क्रम से वर्णन करते हैं ।

साऽविद्या[1] कारणशरीरं स्थूलसूक्ष्मशरीरादिकारणभूतं प्रत्ययवस्थाविशेषत्वात्कारणं[2] उपचाराच्छीर्यंते तत्त्वज्ञानाद्विनश्यति चेति शरीरं स्यात् । तत्र कारणशरीरेऽभिमानवान् तादात्म्याध्यासेनाहमित्यभिमानवान् जीवः । प्रज्ञाऽविनाशिस्वरूपानुभवरूपा यस्य स प्रज्ञः प्रज्ञ एव प्राज्ञः ऐतन्नामकः स्यादित्यर्थः ॥१७॥

क्रमप्राप्तं सूक्ष्मशरीरं तदुपाधिकं जीवं व्युत्पादयितुं तत्कारणाकाशादिसृष्टिमाह—

तमः प्रधानप्रकृतेस्तद्भोगायेश्वराज्ञया ।
वियत्पवनतेजोम्बुभुवो भूतानि जज्ञिरे ॥१८॥

अन्वयः—तद्भोगाय तमःप्रधानप्रकृतेः ईश्वराज्ञयावियत्पवन तेजोम्बुभुवः भूतानि जज्ञिरे ।

व्युत्पत्तिः—जज्ञिरे—जन धातोः आत्मने पदे झ प्रत्यये लिटि रूपम् ।

वह अविद्या कारण शरीर होती है अर्थात् स्थूल सूक्ष्म का कारण है । क्योंकि प्रकृति की अवस्था विशेष होने से उस अविद्या को कारण शरीर और तत्त्व ज्ञान होने से नष्ट हो जाती है इसलिए उसे शरीर कहते हैं । उस अविद्या रूप कारण का अभिमानी अर्थात् उसे तादात्म्य (एकता) अभेदाध्यास से अहं अज्ञ इस अभिमान वाला[3] जीव प्राज्ञ है । उसकी ज्ञान दृष्टि अनुभव स्वरूप है वह प्रज्ञ है और प्रज्ञ को ही प्राज्ञ कहते हैं ॥१७॥

अब क्रम से प्राप्त हुए सूक्ष्म शरीर का और सूक्ष्म शरीर है उपाधि जिसकी ऐसे जीव का वर्ण करने के लिए सूक्ष्म शरीर के कारण भूत आकाश आदि कीसृ ष्टि का वर्णन करते हैं । (अपंचीकृत पंच महाभूतों की उत्पत्ति ।)

उन जीवों के भोगार्थ तमो गुण है प्रधान जिसमें ऐसी प्रकृति से ईश्वर की आज्ञा के अनुसार आकाश आदि पाँचों भूत उत्पन्न हुए ॥१८॥

विशेष— (१) अनादि अविद्याऽनिर्वाच्या करणोपाधिरुच्यते ।
उपाधित्रितयादन्यमात्मानमवधारयेत् ।

(२) अहं ब्रह्मास्मि ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानेन शीर्यंते ।

(३) प्राज्ञः जीवः सुषुप्त्यभिमानी जीव, या सुषुप्तौ विलीन अन्तःकरणे अज्ञा मात्रसाक्षी । व्यष्टि कारणशरीरमात्रोपहितं चैतन्यम् ।

तमः प्रधानेति । तद्भोगाय तेषां प्रज्ञानां भोगाय सुखदुःखसाक्षात्कारसिद्धये तमःप्रधानप्रकृतेस्तमो-गुणप्रधानाया प्रकृतेः पूर्वोक्ताया उपादानकारणभूतायाः सकाशादीश्वराज्ञया ईशनादिशक्तियुक्तस्य जगदधिष्ठातुराज्ञया ईक्षापूर्वकसर्जनेच्छारूपया निमित्तकारणभूतया वियदादिपृथिव्यन्तानि पञ्चभूतानि जज्ञिरे प्रादुर्भूतानि । उत्पन्नानीयर्थः ॥१८॥

भूतसृष्टिमभिधाय भौतिकसृष्टिमभिदधानः आदौ ज्ञानेन्द्रियसृष्टिमाह—

सत्त्वांशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमाद्धीन्द्रियपञ्चकम् ।
श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्राणाख्यमुपजायते ॥१९॥

अन्वयः —तेषां पञ्चभिः सत्त्वांशैः क्रमात् इन्द्रियपञ्चकं श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्राणाख्य्। उपजायते ।

व्युत्पत्तिः —इन्द्रियपञ्चकम् = पञ्च एव पञ्चकं स्वार्थे क प्रत्ययः ।

सत्त्वांशैरिति । तेषां वियदादीनां पञ्चभिः सत्त्वांशैः सत्त्वगुणभागैरुपादानभूतैः श्रोत्रत्वगक्षिर सनघ्राणाख्यधीन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि तेषां पञ्चकं क्रमादुपजायते । एकैकभूतसत्त्वांशादेकैकमिन्द्रियं जायत इत्यर्थः ॥१९॥

उन प्राज्ञ अभिमानी जीवों के भोगार्थ अर्थात् सुख-दुःख की प्राप्ति के लिए तमोगुण है। प्रधान (मुख्य) जिसमें ऐसी पूर्वोक्त प्रकृति[1] (उपादान कारण रूप) से जगत के अधिष्ठाता ईश्वर की आज्ञा से अर्थात् ईक्षा पूर्वक रचने की इच्छा रूप निमित्तकारण रूप आज्ञा से आकाश, वायु, तेज, जल, भूमि ये पाँच भूत पैदा हुए। अर्थात् अभिन्न (तद्रूप) निमित्त उपादान रूप माया से पाँचों भूत उत्पन्न हुए ॥१८॥

पाँचों भूतों की सृष्टि को कहकर भौतिक सृष्टि (भूतों के कार्यों की सृष्टि) को बताते हुए आचार्य प्रथम ज्ञानेन्द्रिय सृष्टि को कहते हैं—

उन भूतों के पाँचों सत्त्वगुणी भागों से कान, त्वचा आँख, रसना, घ्राण ये पाँचों ज्ञानेन्द्रिय क्रम से हुई ॥१९॥

उन आकाश आदि कारण रूप पाँचों भूतों के जो पाँच सत्त्व गुणी भाग से श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण नाम की पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पैदा हुई। अर्थात् एक-एक भूत के सत्त्वगुणी भाग से श्रोत्र आदि ज्ञान इन्द्रियाँ क्रम से उत्पन्न हुई ॥१९॥

विशेष—(१) प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुरोधात् । ब्र० सू० १।४।२३। अभिध्योपदेशाच्च ब्र० सू० १।४।२४।

सत्त्वांशानां प्रत्येकमसाधारणकार्याण्यभिधाय सर्वेषां साधारणं कार्यमाह—

तैरन्तःकरणं सर्वैर्वृत्तिभेदेन तद्द्विधा ।
मनोविमर्शरूपं स्याद्बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका ॥२०॥

अन्वयः—तैः सर्वैः सह अन्तःकरणं उपजायते । तच्च वृत्तिभेदेन द्विधा । विमर्शरूपं मनः स्यात्, निश्चयात्मिका बुद्धिः स्यात् ।

तैरिति । तैः सह सत्त्वांशैः सर्वैः संभूय वर्तमानैरन्तःकरणबुद्ध्युपादानभूतं द्रव्यमुपजायत इत्यनुषङ्गः । तस्यावान्तरभेदं सनिमित्तमाह—वृत्तीति । तदन्तःकरणं वृत्तिभेदेन परिणामभेदेन द्विधा द्विप्रकारं भवति । वृत्तिभेदमेव दर्शयति मन इति । विमर्शरूपं विमर्शः संशयात्मिका वृत्तिः सा स्वरूपं यस्य तत्तथा तन्मनः स्यात् । निश्चयात्मिका निश्चयोऽध्यवसायः स आत्मा स्वरूपं यस्याः सा निश्चयात्मिका वृत्तिर्बुद्धिः स्यात् ॥२०॥

क्रमप्राप्तानां रजोंशानां प्रत्येकमसाधारणकार्याण्याह—

रजोंशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमात्कर्मेन्द्रियाणि तु ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाभिधानानि जज्ञिरे ॥२१॥

अन्वयः—तेषां पञ्चभिः रजोंशैः क्रमात् कर्मेन्द्रियाणि वाक् पाणिपादपायूपस्थाभिधानानि तु जज्ञिरे ।

व्युत्पत्तिः- -जज्ञिरे = जन धातोः आत्मनेपदे झ प्रत्यये लिटि रूपम् ।

प्रत्येक भूत के सत्त्व गुणांशों के असाधारण कार्य (एक ही का कार्य) को कहकर जब सब भूतों के सत्त्वगुणांश के साधारण (सबका कार्य) कार्य कहते हैं। अर्थात् अपञ्चीकृत महाभूतों की उत्पत्ति—

मिले हुए भूतों के सत्त्वगुणी भागों से अन्तःकरण होता है । वह अन्तःकरण वृत्ति के भेद से दो प्रकार का है एक संशय रूप मन और दूसरी निश्चय रूप बुद्धि होती है ॥२०॥

मिले हुए उन सम्पूर्ण सत्त्वगुणी भागों से मन और बुद्धि का उपादान रूप अन्तःकरण पैदा हुआ और वह अन्तःकरण वृत्ति (परिणाम) के भेद से दो प्रकार का है उसी वृत्ति भेद को दिखाते हैं। संशय रूप वृत्ति हैं। स्वरूप जिसका वह मन होता है और निश्चय रूप है वृत्ति जिसकी यह बुद्धि होती है। अर्थात् मन का सन्देह और बुद्धि का निश्चय कार्य होता है ॥२०॥

पाँचों भूतों के रजोगुणी भागों से वाक्-हाथ-पाद-गुदा-लिङ्ग नाम की पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुई है ॥२१॥

रजोंशैरिति। तेषां वियदादीनामेव पञ्चभी रजोंशैः रजोभागैस्तूपादानभूतैः वाक्पाणिपादपायूपस्था-भिधानानि एतन्नामकानि कर्मेन्द्रियाणि क्रियाजनकानि इन्द्रियाणि जज्ञिरे ॥२१॥

रजोंशानामेव साधारणं कार्यमाह—

तैः सर्वैः सहितैः प्राणो वृत्तिभेदात्स पञ्चधा ।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च ते पुनः ॥२२॥

अन्वयः—तैः सर्वैः सहितैः स प्राणः वृत्तिभेदात् पञ्चधा भवति। ते पुनः प्राणः अपानः समानः उदानः व्यानः च भवति।

व्युत्पत्तिः—प्रसरणेन अनिति अनेन इति प्राणः हलश्च इति घञ् इति मुकुटः। अन्ये तु अनप्राणने धातोः ण्यन्तात् ड प्रत्यये अच् प्रत्यये वा प्राणः। अयं शरीरस्थो वायुः।

अब क्रम से प्राप्त रजोगुणी भागों के पृथक् असाधारण (भिन्न-भिन्न) कार्य को कहते हैं। (कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति—

उन आकाश आदि के पाँचों रजोगुणी भागों से अर्थात् उपादान कारण रूप अंशों से वाणी, हाथ, पैर, गुदा, लिङ्ग नाम की पाँच कर्मेन्द्रियाँ अर्थात् कार्य की कर्ता इन्द्रिय उत्पन्न हुई। एक-एक भूत के रजोगुणी भाग से एक-एक इन्द्रिय का जन्म हुआ ॥२१॥

अब रजो गुणी भागों के साधारण कार्य को कहते हैं—(प्राण की उत्पत्ति और उसके भेद)।

उन पञ्च महाभूतों के पञ्च रजो गुण अंश से कारणता प्राप्त हो जाने पर प्राण की उत्पत्ति हो जाती है। वह वृत्ति भेद से पाँच प्रकार का है और वे प्राण, अपान समान उदान एवं व्यान है ॥२२॥

वैरिति। सहितैः संभूय कारणतां गतैः प्राणो जायत इति शेषः। तस्यावान्तरभेदमाह-वृत्तिभेदादिति। सप्राणो[1] वृत्तिभेदात्प्राणनादिव्यापारभेदात्पञ्चधा पञ्चप्रकारो भवति। वृत्तिभेदानेव दर्शयति-प्राण इति। पुनः ते तु भेदाः प्राणादिशब्दवाच्या इत्यर्थः ॥२२॥

उन मिले हुए सम्पूर्ण रजोगुणी भागों से प्राण उत्पन्न होता है। उस प्राण का भेद कहते हैं। और वह प्राण प्राणन (जीवना) आदि वृत्ति भेद से पाँच प्रकार का है। प्राणन-अपानन-समानन-उदानन और व्यानन क्रियाओं के भेद से प्राण—(१) प्राण (२) अपान (३) समान (४) उदान और (५) व्यान नामों से पाँच प्रकार का है किन्तु वे वृत्ति भेद तो प्राणादि शब्द के वाच्य हैं ॥२२॥

विशेष—(१) हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानोनाभिसंस्थितिः। उदानः-- कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः। पाँच प्राणों की स्थिति और उनका विभाग इस प्रकार है। प्रश्न उ० ३।३।५ पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां, प्राणः स्वयं प्रतिष्ठिते तु समानः एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेता सप्तार्चिषो भवन्ति। यह (प्राण) वायु में (पुरीषमल) और उपस्थ में (मूत्रेन्द्रिय में मूत्र) अपान को नियुक्त करता है। मुख और नासिका से निकला हुआ नेत्र श्रोत्र में प्राण वायु स्वयं स्थित होता है। तथा प्राण अपान के मध्य में समान वायु रहता है (यह समान वायु) ही खाये हुए अन्न को समभाव से शरीर में सर्वत्र ले जाता है। उस प्राणाग्नि से ही (दो नेत्र दो कर्ण दो नाशा रन्ध्र और एक रसना ये सात ज्वाला उत्पन्न होती हैं। व्यान वायु हृदिह्येष आत्मा प्र० ३।३।६। इस श्रुति से यह लिङ्ग देह जीवात्मा हृदय में है। १०१ नाड़ियाँ उनमें से एक एक की सौ सौ शाखाएँ हैं। उनमें से प्रत्येक की बहत्तर-बहत्तर हजार शाखा उन सबमें व्यान वायु रहता है। उदान वायु अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापं उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् प्र० उ० ३।३।८। तथा उन एक सौ एक नाड़ियों में से जो सुषुम्ना नाम की एक ऊर्ध्व गामिनी नाड़ी है। उस एक के द्वारा ही ऊपर की ओर जाने वाला तथा चरण से मस्तक पर्यन्त सञ्चार करने वाला उदान वायु जीवात्मा को पुण्य कर्म के द्वारा पुण्य लोक और पाप कर्मके द्वारा पाप मय पशु, पक्षी, योनी, नरक मिश्रित कर्मों के द्वारा मनुष्य लोक प्राप्त कराता है।

(३७)

यदर्थमाकाशादि प्राणान्तानां सृष्टिरुक्ता तदिदानीं दर्शयति –

बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया ।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते ॥२३॥

अन्वयः—बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैः मनसा धिया सप्तदशभिः सूक्ष्मं शरीरं यत् तल्लिङ्गमुच्यते ।

व्युत्पत्तिः—लिङ्गयते - अनेन इति विग्रहे लिगि धातो । इदित्वान् नुमि हलश्च इति घञि लिङ्गं चिह्ने ऽनुमाने च नपुंसकं इति मेदिनीकोषवलात् नपुंसकं अन्यथा घञजपाः पुंसि इति लिङ्गानुशासनेन पुंस्त्वं स्यात् ।

बुद्धीति । बुद्धयो ज्ञानादि कर्माणि व्यापारास्तज्जनकानीन्द्रियाणि । बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि चेत्यर्थः । बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च प्राणाश्च बुद्धिकर्मेन्द्रिय प्राणाः तेषां पञ्चकानि तैः मनसा विमर्शात्मकेन धिया निश्चयरूपा या बुद्ध्या च सह सप्तदशभिः सप्तदशसंख्याकैः सूक्ष्म शरीरं भवति । तस्यैव संज्ञान्तरमाह तल्लिङ्गमिति[1] उच्यते वेदान्तेष्वित्यर्थः ॥२३॥

जिसके लिए आकाश से प्राणपर्यन्त सृष्टि का वर्णन किया उस फल को अब दिखाते हैं—(सूक्ष्म शरीर का स्वरूप लिङ्ग देह का कथन)

पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण मन एवं बुद्धि सहित सप्तदश पदार्थों का नाम सूक्ष्म शरीर है । इसको शास्त्रीय भाषा में लिङ्ग शरीर भी कहते हैं ॥२३॥

बुद्धि अर्थात् ज्ञान की जनक ज्ञानेन्द्रिय और क्रियाओं की जनक कर्मेन्द्रिय और प्राण इन तीनों पञ्चक अर्थात् ये पन्द्रह तथा मन और बुद्धि इन सब सत्रह तत्त्वों का नाम सूक्ष्म शरीर है । उस सूक्ष्म को ही उपनिषदों में लिङ्ग शरीर कहा है ।

विशेष—(१) तदेव सक्त सह कर्मणैति लिङ्गमनो यत्र निषक्तमस्य (बृ० ४।४।६।

लिङ्गं मनः = मनः प्रधानत्वात् लिङ्गयते अवगम्यते अवगच्छति येन तत् लिङ्गमनोलीनं अर्थं वहिः गमयतीति व्युत्पत्या तार्किकैर्धमो लिङ्गमिति उच्यते । तथा एव एदमपि साक्षिणः साक्षात् तद्भास्यत्वेन तत् ज्ञापकत्वात् लिङ्गम् उच्यते इति भावः ।

एवं सूक्ष्म शरीरमभिधाय तदभिमानित्वप्रयुक्तं प्राज्ञेश्वरवोरवस्थान्तरं[1] दर्शयति—

प्राज्ञस्तत्राभिमानेन तैजसत्त्वं प्रपद्यते ।

हिरण्यगर्भतामीशस्तयोर्व्यष्टिसमष्टिता ।।२४।।

अन्वयः—प्राज्ञः तत्राभिमानेन तैजसत्वं प्रपद्यते । ईशः तयोः तैजसहिरण्यगर्भयोःव्यष्टिसमष्टिता च भवति ।

व्युत्पत्तिः—हिरण्यगर्भः = हिरण्यं हिरण्यमयं अण्डं तस्य गर्भ इव अथवा हिरण्यं गर्भे अस्य इति विग्रहः । अतएव मनुः तैरण्डभमवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभामति ।

प्राज्ञइति । प्राज्ञो मलिनसत्त्वप्रधानाविद्योपाधिको जीवः, तत्र तेजः शब्दवाच्यान्तःकरणोपलक्षित[2] लिङ्ग-शरीरे अभिमानेन तादात्म्याभिमानेन तैजसत्वं तैजसनामकत्वं प्रपद्यते प्राप्नोति । ईशः विशुद्धसत्त्वप्रधान-मायोपाधिकः परमेश्वरस्तत्र शरीरे अहमित्यभिमानेन हिरण्यगर्भतां हिरण्यगर्भसंज्ञकत्वं प्रपद्यते इत्यनुषङ्गः ।

इस प्रकार सूक्ष्म शरीर को कहकर उस सूक्ष्म शरीर के अभिमान से प्राज्ञ और ईश्वर की अन्य अवस्थाओं को भी कहते हैं—

एक लिङ्ग शरीरों के अभिमानी प्राज्ञ को तैजस और सब लिङ्ग शरीरों के अभिमानी ईश्वर को हिरण्यगर्भ कहते हैं और इन दोनों का व्यष्टि, समष्टि भाव रूप से भेद है ।।२४।।

मलिन सत्त्व प्रधान अविद्या है उपाधि जिसकी कारण शरीर का अभिमानी जीव प्राज्ञ है । तेज शब्द (अर्थ) अन्तःकरण से उपलक्षित (जान) लिङ्ग शरीर के अभिमान से अर्थात् तादात्म्य (एकता के अध्यास से) तैजस नाम को प्राप्त होता है अर्थात् सूक्ष्म शरीर के अभिमानी को तैजस कहते हैं और विशुद्ध सत्त्व गुण प्रधान माया उपाधि वाला परमेश्वर उस लिङ्ग शरीर में अहं (मैं हूँ) ऐसा अभिमान

विशेष—(१) जिस सुषुप्ति अभिमानी को प्रकृष्ट स्वयं प्रकाश रूप आनन्दात्मा में अज्ञान की वृत्ति रूप बोध है । उसे प्राज्ञ कहते हैं । संस्कार रूप अस्पष्ट उपाधि युक्त होने से उस उपाधि से आवृत्त होने के कारण अति प्रकाशता के अभाव से इस सुषुप्ति अभिमानी जीव का प्राज्ञपन है और सब जीवों का कर्मानुसार ईशिता अर्थात् फलदाता होने के कारण परमात्मा ईश्वर है । फलमत उपपत्तेः । (ब्र० सु० ३।२।३८।)

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।

लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ।। (श्रीमद्भा० गी० ७।२२।।)

वह पुरुष उस श्रद्धा से युक्त होकर उस देवता का पूजन करता है और उस देवता से मेरे द्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगों को निःसन्देह प्राप्त करता है ।

(२) उपलक्षित = जान । स्वप्रतिपादकत्वविशिष्टस्वेतरप्रतिपादिकत्वम् ।

तैजसहिरण्यगर्भयोर्लिङ्गशरीराभिमाने समाने सति तयोः परस्परं भेदः किंनिवन्धन इत्यत आह-- 'तयोरिति' तयोस्तैजसहिरण्यगर्भयोः व्यष्टित्वं[3] समष्टित्वं भवति, अतएव भेद इत्यर्थः ॥२४॥

ईश्वरस्य समष्टिरूपत्वे जीवानां व्यष्टिरूपत्वे च कारणमाह—

समष्टिरीशः सर्वेषां स्वात्मतादात्म्यवेदनात् ।
तदभावात्ततोऽन्ये तु कथ्यन्ते व्यष्टिसंज्ञया ॥२५॥

अन्वयः—ईशः सर्वेषां स्वात्मतादात्म्यवेदनात् समष्टिः । अन्ये तु त भावात् व्यष्टिसंज्ञया कथ्यन्ते ।

समष्टिरिति । ईशः ईश्वरो हिरण्यगर्भः सर्वेषां लिङ्गशरीरोपाधिकानां तैजसानां स्वात्मतादात्म्यवेदनात् स्वात्मना तादात्म्यस्य एकत्वस्य वेदनाज्ज्ञानात् समष्टिर्भवति । तत ईश्वरादन्ये जीवस्तु तदभावात्तस्य तादात्म्यवेदनस्याभावाद् व्यष्टिसंज्ञया 'व्यष्टि' शब्देन कथ्यन्ते ॥२५॥

कर हिरण्यगर्भ कहलाता है । अर्थात् लिङ्ग शरीर के अभिमानी ईश्वर को हिरण्य गर्भ कहते हैं । यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि तैजस हिरण्य गर्भ इन दोनों को जब लिङ्ग शरीर का अभिमान तुल्य है तो उसके भेद का क्या कारण होगा । क्योंकि उन दोनों तैजस हिरण्य गर्भ का एक व्यष्टि दूसरा समष्टि है इसलिए दोनों का भेद है ॥२४॥

ईश्वर के समष्टि रूप और जीवों के व्यष्टि रूप होने में कारण का वर्णन करते हैं

ईश्वर समस्त तैजसों को अपने स्वरूप में तादाम्य भाव पूर्वक जानने के कारण समष्टि रूप है इससे अतिरिक्त जीवात्मा में तो तादात्म्य ज्ञान का अभाव होने से व्यष्टि संज्ञक कहलाते हैं ॥२५॥

ईश्वर अर्थात् हिरण्यएर्भ सम्पूर्ण तैजस लिङ्ग शरीर उपाधि जीवों को उनके साथ अपनी आत्मा के संग एकता के ज्ञान से समष्टि हो जाता है । ईश्वर से इतर जो जीव है अपनी आत्मा के संग सबकी एकता के ज्ञान के अभाव के कारण व्यष्टि कहलाते हैं ॥२५॥

---

(१) व्यस्तोपाधिविशिष्टो व्यष्टिः, समस्तोपाधिविशिष्टः समष्टिरित्यभिधीयते ।

एवं लिङ्गशरीरं तदुपाधिकौ तैजसहिरण्यगर्भौ च दर्शयित्वा स्थूलशरीराद्युत्पत्तिसिद्धये पञ्चीकरणं निरूपयितुमाह—

तद्भोगाय पुनर्भोग्यभोगायतनजन्मने ।
पञ्चीकरोति भगवान्प्रत्येकं वियदादिकम् ।।२६।।

अन्वयः—तद्भोगाय पुनः भोग्यभोगायतनजन्मने वियदादिकं प्रत्येकं भगवान् पञ्चीकरोति ।

तदिति । भगवानैश्वर्यादि गुणषट्कसंपन्नः परमेश्वरः पुनः पुनरपि तद्भोगाय तेषां जीवानां भोगायैव भोग्यभोगायतनजन्मने भोग्यस्यान्नपानादेः, भोगायतनस्य जरायुजादि चतुर्विधशरीरजातस्य च जन्मने उत्पत्तये वियदादिकमाकाशादिभूतपञ्चकं प्रत्येकमेकैकं पञ्चीकरोति । अपञ्चात्मकं पञ्चात्मकं संपद्यमानं करोति ।।२६।।

इस प्रकार लिङ्ग शरीर को और लिङ्ग शरीरोपाधिक तैजस हिरण्यगर्भ दोनों को दिखाकर अब स्थूल शरीर (ब्रह्माण्ड) आदि की जो उत्पत्ति उसकी सिद्धि के लिए पञ्चीकरण का निरूपण करते हैं—(पञ्चीकरण का निरूपण और उसका प्रयोजन)

श्री भगवान् जीवों के भोग और अन्न पान और शरीर इनके लिए परमेश्वर आकाश आदि पाँचों भूतों का पञ्चीकरण करते हैं ।।२६।।

भगवान् ऐश्वर्य-धर्म-यश-श्री, ज्ञान और वैराग्य इन ६ गुणों से युक्त परमेश्वर बारंबार उन जीवों के सुख-दुःख साक्षात्कार कराने के लिए अन्न पानादि भोग्य पदार्थ और जरायुज-अण्डज, स्वेदज, उद्भिज चार प्रकार चौरासी लक्ष शरीरों की उत्पत्ति के लिए आकाश आदि प्रत्येक पाँचों भूतों का पञ्चीकरण करते हैं । अर्थात् एक-एक भूत को पाँच-पाँच प्रकार का करते हैं ।।२६।।

विशेष—(१) भ-ग-व-अ-न म् का अर्थ भवन=होना । भ० भरण अर्थात् सम्पूर्ण विश्व का होना उद्भव तथा भरण परिस्थिति जिसके हाथ में हो । ग=गमन आगमन सम्पूर्ण गति आगति स्वर्ग, नरक, ब्रह्मलोक जिसके हाथ में हो । व-वेदना अवेदना विशेष-विशेष वस्तुओं को जानना न जानना जिसके हाथ में हो । अ अध्यारोप और अपवाद जिसके हाथ में हो । न सबका निषेध करके अध्यारोप अपवाद का भी बोध हो जाने पर जो शेष रहे श्रीसर्वश्रेष्ठ सर्वोपरि ।

कथमेकैकस्य पञ्चपञ्चात्मकत्वमित्यत आह—

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः ।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्च ते ॥२७॥

अन्वयः—एकं-एकं द्विधा विधाय प्रथमं पुनः चतुर्धा विधाय स्वस्वेतरद्वितीयांशैः योजनात् पञ्च ते पञ्च भवन्ति ।

व्युत्पत्तिः—द्विधेति प्रकारवचने धा द्विप्रकारेणेत्यर्थः ।

द्विधेति । वियदादिकमेकैकं द्विधा द्विधा तन्त्रेणोच्चारितो[1] द्विधाशब्दः विधाय कृत्वा भागद्वयोपेतं कृत्वेत्यर्थः । पुनश्च पुनरपि प्रथमं प्रथमं भागं चतुर्धा भागचतुष्टयोपेतं विधाय इत्यनुषज्यते । स्वस्वेतर-द्वितीयांशैः स्वस्मात्स्वस्मादितरेषां चतुर्णां चतुर्णां भूतानां यो यो द्वितीयः स्थूलो भागस्तेन तेन सह प्रथम-प्रथम भागांशानां चतुर्णां चतुर्णां मध्ये एकैकस्य योजनात् ते वियदादयः प्रत्येकं पञ्चपञ्चात्मका भवन्ति ॥२७॥

अब एक-एक को पाँच-पाँच रूपता के हेतु पञ्चीकरण को कहते हैं—(पञ्चीकरण का स्वरूप दिखाते हैं)

एक-एक भूत के दो-दो भाग करके और इनमें से प्रथम भाग के चार भाग करके अपने से भिन्न दूसरे भागों में सबका एक-एक भाग मिलाने से वे आकाश आदि भूत पाँच-पाँच प्रकार के होते हैं ॥२७॥

आकाश आदि प्रत्येक भूत के पहले दो-दो भाग किये जाँय । फिर उनमें से पहले एक भाग के चार-चार भाग किये जाँय । (तथा दूसरे आधे भागों को वैसा ही रखा जाय) तब अपने तथा अपने से भिन्न दूसरे चारों भूतों के दूसरे स्थूल भागों के साथ योग करने से ये पाँचों भूत प्रत्येक पाँच-पाँच प्रकार के हो जाते हैं ॥२७॥

विशेष—(१) सकृदुच्चरितत्त्वे सति अनेकार्थबोधकत्वम् = एक बार उच्चारण किया जावे और अनेक अर्थ का बोध हो तो तन्त्र कहा जाता है । द्विधा शब्द = दो प्रकार इस अर्थवाला है ।

एवं पञ्चीकरणमभिधाय तैर्भूतैरुत्पाद्यं कार्यवर्गं दर्शयति—

तैरण्डस्तत्र भुवनं भोग्यभोगाश्रयोद्भवः ।
हिरण्यगर्भः स्थूलेऽस्मिन्देहे वैश्वानरो भवेत् ॥२८॥

अन्वयः—तैः अण्डः तत्र भुवनं भोग्यं भोगाश्रयोद्भवः हिरण्यगर्भः स्थूलेऽस्मिन् देहे वैश्वानरो भवेत् ।

व्युत्पत्तिः—वैश्वानरः = विश्वे नरा अस्य नरे संज्ञायां विश्व शब्दस्य दीर्घः विश्वानरस्य अपत्यं ऋष्यन्धक वृष्णिकुरुभ्यश्च इति ऋष्यादित्वात् अण् । अत्र केचित् विदादित्वात् अम् प्रत्यये वहुवचने अजयोश्च तन्न विश्वे वैश्वानरा उत इत्यत्र लुको अदर्शनात् वैश्वानराय मीढ़िषु इत्यत्र अन्तोदात्त दर्शनाच्च ।

तैरण्ड इति । तैः पञ्चीकृतैर्भूतैरुपादानकारणभूतैरण्डो ब्रह्माण्ड उत्पद्यते । तत्र ब्रह्माण्डान्तर्भुवनान्यु-परिभागे वर्तमाना भूम्यादयः सप्तलोका भूमेरधः स्थितान्यतलादीनि सप्तपातालान्तानि तेषु च भुवनेषु तैस्तैः प्राणिभिर्भोक्तुं योग्यान्यन्नादीनि तत्तल्लोकोचितशरीराणि च तैरेव पञ्चीकृतैर्भूतैरीश्वराज्ञया जायन्ते । एवं स्थूलशरीरोत्पत्तिमभिधाय तेषु स्थूलशरीरेषु अभिमानवतो हिरण्यगर्भस्य समष्टिरूपस्य वैश्वानरसंज्ञकत्वं

इस रीति से पञ्चीकरण को बताकर उन भूतों से उत्पन्न करने योग्य कार्यों के समूह को दिखलाते हैं—

पञ्चीकरण किये भूतों से ब्रह्माण्ड, चौदह भुवन, अन्न आदि भोग्य और शरीर उत्पन्न होते हैं और उस स्थूल शरीर के अभिमानी हिरण्यगर्भ को वैश्वानर कहते हैं ॥२८॥

उन उपादान कारण भूत पञ्चीकृत भूतों से ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है । उस ब्रह्माण्ड के भीतर के भाग में भुवन अर्थात् पृथ्वी भूः। भुवः. स्वर्ग, मह, जन, तप, सत्य, सात लोक और भूमि के नीचे सात, अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल लोक उन भुवनों में नाना प्राणियों के भोग योग्य अन्न आदि और नाना भुवनों के योग्य शरीर ये सब उन पञ्चीकृत भूतों से ईश्वर की आज्ञा (इच्छा) से उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार स्थूल शरीर की उत्पत्ति को कहकर उस स्थूल शरीर के अभिमानी समष्टि रूप हिरण्यगर्भ की वैश्वानर संज्ञा को और एक-एक स्थूल शरीर के अभिमानी व्यष्टि रूप तैजस

एकैकस्थूलशरीराभिमानवतां व्यष्टिरूपाणां तैजसानां विश्वसंज्ञकत्वं च भवतीत्याह-हिरण्यगर्भं इति अस्मिन्स्थूलदेहे वर्तमानो हिरण्यगर्भो वैश्वानरो[1] भवेत् ॥२८॥

तत्रैव वर्तमानास्तैजसा विश्वा भवन्ति तेषामवान्तरभेदमाह—

तैजसा विश्वतां याता देवतिर्यङ्नरादयः ।
ते पराग्दर्शिनः प्रत्यक्तत्त्वबोधविवर्जिताः ॥२९॥

अन्वयः—ते परागदर्शिनः प्रत्यक्तत्त्वबोध विवर्जिताः तैजसा देवतिर्यङ्नरादयः विश्वतां याताः ।

व्युत्पत्तिः—पराक्-परां अञ्चतीति विग्रह प्रत्यक् प्रति अञ्चतीति इति प्रत्यक् अञ्चेर्लुक् (५।३।३०) इति अञ्चेर्लुक् । पराक् दर्शिनः इत्यस्य वहिर्दर्शन इत्यर्थः । एते प्रत्यक्तत्त्वबोधविवर्जिताः भवन्ति ।

की विश्व संज्ञा को कहते हैं कि ब्रह्माण्ड रूप इस स्थूल शरीर में ।वर्तमान उसमें अहं भाव करने वाला समष्टि रूप हिरण्यगर्भ वैश्वानर हो जाता है । यह वैश्वानर ही विविध प्रकार से प्रकाशमान होने से विराट् भी कहलाता है ॥२८॥

उसी स्थूल शरीर में वर्तमान (अभिमानी) तैजस विश्व संज्ञा को प्राप्त होते हैं—(तैजस का विश्व बनना) ।

तैजस (जीव) विश्व संज्ञा को प्राप्त होकर देवता, पशु, पक्षी, सर्प तथा मनुष्य आदि रूप होते हैं और वे प्रत्यक् (व्यापक साक्षी रूप) आत्मा के बोध से रहित होते हैं ॥२९॥

विशेष—(१) वैश्वानर = सब नरों का अभिमानी होने से सब प्राणियों के समूह में अहं मैं इस अभिमानवान होने से ईश्वर वैश्वानर कहलाता है । और वह वैश्वानर ही विविध प्रकार से जायमान प्रकाशमान होने से विराट् भी कहलाता है और तैजस जीव विश्वनाम वाला स्थूल देह के अभिमान को न त्यागकर उस-उस स्थूल शरीर में अहं इस अभिमान वाला जाग्रत अभिमानी जीव विश्व कहलाता है । विश्वश्चायं नरश्चेति सकल प्रपञ्च रूप नर पुरुष रूप है । विश्वश्चायं नरो जीवः च सर्वात्मकत्वात् । विश्वेषां वाच्यं नरः सबका कर्ता विश्वेषां नराणां अनेकधा नयनात् वैश्वानरः सम्पूर्ण नरों को (अनेक प्रकार की योनियों में) नयन वहन करने के कारण वह वैश्वानर कहलाता है ।

इदानीं तेषां विश्वसंज्ञां प्राप्तानां जीवानां तत्त्वज्ञानरहितत्वेन संसारापत्तिप्रकारं सदृष्टान्तं श्लोकद्वयेनाह—ते परागिति । ते देवादयः पराग्दर्शिनः बाह्यानेव शब्दादीन् पश्यन्ति, न तु प्रत्यगात्मानम् । पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् (कठ० ४।१) इति श्रुतेः । ननु तार्किकादयो देहव्यतिरिक्तमात्मानं जानन्तीत्याशङ्क्य यद्यप्यात्मानं ते तथा जानन्ति तथापि श्रुतिसिद्धं तत्त्वं न जानन्तीत्याशयेनोक्तमित्याह—प्रत्यगिति[1] ॥२६॥

कुर्वते कर्म भोगाय कर्म कर्तुं च भुञ्जते ।
नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तान्तरमाशु ते ।
व्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम् ॥३०॥

अन्वयः—भोगाय कर्म कुर्वते कर्म कर्तुं च भुञ्जते नद्यां कीटा इव आवर्तात् आवर्तान्तरं आशु व्रजन्ति जन्मनो जन्म लभन्ते, निर्वृतिम् नैव ।

व्युत्पत्तिः—आवर्तात्-आवर्त्यन्ते इति आवर्तः नदीषु आवर्ताः चलन्ति ते कदाचित् प्राप्तं वस्तु त्यजन्ति पुनः गृहीत्वा भ्रामयन्ति इति जन्म प्रवाहस्य आवर्तसाम्यम् ।

निर्वृतिम्—वर्णं वृत्तिः वृञ् वरणे धातोः गृहवृदृ (३।३।५८) इति अपस्त्रियांक्तिन् (३।३।६४) इत्यनेन क्तिन् कित्वाद् गुणाभावः निर्गतावृत्तिः यस्मात् तत् निर्वृतिम् मोक्षं इत्यर्थः ।

अब विश्व संज्ञा को प्राप्त हुए उन जीवों को आत्म तत्त्व ज्ञान रहित होने से संसार प्राप्ति का प्रकार दृष्टान्त सहित दो श्लोकों से वर्णन करते हैं कि वे देव आदि पराक्दर्शी है अर्थात् शब्द आदि विषयों को ही जानते हैं। प्रत्यगात्म रूप पर ब्रह्म को नहीं जानते । क्योंकि श्रुति में लिखा है। ब्रह्मा ने इनकी इन्द्रियों को पराक् वहिर्मुख बना दिया इसलिए पुरुष बाह्य वस्तुओं को देखता है। अन्तरात्मा को नहीं देखता कोई धीर पुरुष अन्तरात्मा को देखता है। शंका-तार्किक देह से भिन्न जीव आत्मा को जानते हैं। तो भी श्रुति से सिद्ध तत्त्व को नहीं जानते इस अभिप्राय से कहा है कि साक्षी रूप आत्मा को नहीं जानते इस कारण वे वाह्य दर्शी हैं ॥२६॥

वे जीव भोग के लिए कर्म करते हैं और कर्म करने के लिए फल को भोगते हैं। नदी में एक कुण्ड भ्रमण में से दूसरे कुण्ड मैं शीघ्र जाते हैं। इसी प्रकार एक जन्म से दूसरे जन्म में जाते हुए सुख को प्राप्त नहीं होते ॥३०॥

विशेष—(१) प्रत्यक्ताऽस्य स्वतोरूपं निष्क्रिया कारका फलम् । अद्वितीयं तदिद्धा धी प्रत्यगात्मेन लक्ष्यते ॥नै० सि०।७१॥

कुर्वते इति। अतएव भोगाय सुखाद्यनुभवाय मनुष्यादिशरीराण्यधिष्ठाय कर्म तत्तच्छरीरोचितानि कर्माणि कुर्वते। कर्मेति जातावेकवचनम्। पुनश्च कर्म कर्तुं देवादिशरीरैस्तत्तत्फलं भुञ्जते च। फलानुभवाभावे तत्तत्सजातीयेच्छानुपपत्त्या तत्तत्साधनानुष्ठानानुपपत्तेः। एवं वर्तमानास्ते जीवा नदीप्रवाहपतिताः कीटाश्चावर्तादावर्तान्तरमाशु व्रजन्तो यथा निर्वृतिं सुखं न लभन्ते, एवमाशु जन्मनो जन्म व्रजन्तः सुखं नैव लभन्ते इति ॥३०॥

एवं संसारापत्तिमभिधाय तन्निवृत्त्युपायं दर्शयितुं दृष्टान्तं तावदाह—

सत्कर्मपरिपाकात्ते करुणानिधिनोद्धृताः।
प्राप्य तीरतरुच्छायां विश्राम्यन्ति यथासुखं ॥३१॥

अन्वयः—ते सत्कर्म परिपाकात् करुणानिधिनोद्धृताः तीरतरुछायां प्राप्य यथासुखं विश्राम्यन्ति।

व्युत्पत्तिः – करुणानिधिः करुणायाः निधिः करुणानिधिः जीवस्य जन्म प्रवाह पतितस्य उद्धार कामनया भगवान् करुणां कृत्वा कदाचित् सत् कर्मणः एव फलदातृत्वं स्वीकृत्य प्राणिनं सत्कर्मकर्तुं अवसरं ददाति। इयमेव करुणानिधिता। भगवान् स्वयं न कस्यापि कर्म नाशयति न वा सत्कर्मभिः योजयति-किन्तु अनेकजन्मपरिपाकवशात् खिन्नस्य जीवस्य सत् फलानां गणनया जन्म ददाति येन स उत्तमं कर्म कर्तुम् प्रभवति।

इसी से सुख दुःख आदि के भोगार्थ मनुष्य आदि शरीरों में रहकर उस शरीर के योग्य कर्म को करते हैं और फिर भी कर्म करने के लिए देव आदि शरीरों से उन-उन कर्मों के फलों को भोगते हैं। मूल में जो कर्म है वह एक वचन है सो जाति के अभिप्राय से है। क्योंकि फल के ज्ञान बिना उस उसके सजातीय सुख कर्म की इच्छा के न होने से उस-उस इच्छानुकूल साधन का अनुष्ठान भी नहीं बनता इस प्रकार वर्तमान वे जीव इस स्थिति में विद्यमान वे जीव नदी के प्रवाह में पड़े हुए कीट जैसे एक आवर्त-कुण्ड से दूसरे आवर्त में शीघ्रता से जाते हुए सुख को प्राप्त नहीं होते। इसी प्रकार जीव भी एक जन्म से दूसरे जन्म में प्राप्त हुए सुख को प्राप्त नहीं होते अर्थात् उस-उस जन्म में उसको दुःख भोगने पड़ते हैं ॥३०॥

सत्कर्मेति । ते कीटाः सत्कर्मपरिपाकात्पूर्वोपार्जितपुण्यकर्मपरिपाकात्कृपालुना केनचित्पुरुष-विशेषेणोद्धृता नदीप्रवाहाद् बहिर्निःसारिताः सन्तस्तीरतरुच्छायां प्राप्य सुखं यथा भवति तथा यद्व-द्विश्राम्यन्ति ॥३१॥

इदानीं दृष्टान्तसिद्धमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—

उपदेशमवाप्यैवमाचार्यात्तत्त्वदर्शिनः ।
पञ्चकोशविवेकेन लभन्ते निर्वृतिं पराम् ॥३२॥

अन्वयः—तत्वदर्शिनः आचार्यात् उपदेशकवाप्य एव पञ्चकोशविवेकेन परां निवृतिं लभन्ते ।

इस पूर्वोक्त प्रकार से जीवों को संसार की प्राप्ति को कहकर संसार की निवृत्ति के उपाय को दिखाने के लिए प्रथम दृष्टान्त को कहते हैं कि—

(दुःख निवृत्ति के लिए कीट का दृष्टान्त)

वे कीड़े सुकर्म के फल के कारण किसी कृपालु सद्गुरु की कृपा द्वारा नदी के प्रवाह से बाहर निकाले जाते हैं और किनारे पर स्थित वृक्ष की शीतल छाया में पहुँचकर विश्रान्ति पाते हैं ॥३१॥

वे कीड़े आदि पूर्व जन्म में किये अपने कर्मों के फल के कारण किसी दयालु पुरुष ने नदी के प्रवाह से बाहर निकाले हुए वे कीट तट पर लगे किसी वृक्ष की छाया में पहुँच कर आश्रय लेकर जैसे सुख से विश्राम करते हैं । अर्थात् सुख भोगते हैं ।३१॥

अब दृष्टान्त से सिद्ध अर्थ को दार्ष्टान्तिक में घटाते हैं—

इसी प्रकार तत्त्व के ज्ञाता आचार्य के उपदेश को प्राप्त होकर पाँचों कोशों के विवेक से वे जीव मुक्त हो जाते हैं ॥३२॥

उपदेशमिति । एवमुक्तेन प्रकारेण पूर्वोपार्जितपुण्यकर्मपरिपाकवशादेव तत्त्वदर्शिनः प्रत्यगभिन्नब्रह्म-साक्षात्कारवतः आचार्याद् गुरोः सकाशादुपदेशं 'तत्त्वमस्यादि' वाक्यार्थज्ञान साधनंश्रवणं वक्ष्यमाणमवाप्य संपाद्य पञ्चकोशविवेकेनान्नादीनां पञ्चानां कोशानां विवेकेनवक्ष्यमाण विवेचनेन परां निर्वृतिं मोक्षसुखं लभन्ते प्राप्नुवन्ति ॥३२॥

के ते अन्नादयः पञ्चकोशा इत्याकाङ्क्षायां तानुपदिशति—

अन्नं प्राणो मनो बुद्धिरानन्दश्चेति पञ्च ते ।
कोशास्तैरावृतः स्वात्मा विस्मृत्या संसृतिं व्रजेत् ॥३३॥

अन्वयः—अन्नं प्राणः मनः बुद्धिः आनन्दश्चेति पञ्च कोशाः तैरावृतः स्वात्मा विस्मृत्या संसृतिं व्रजेत् ।

व्युत्पत्तिः—अन्नं—अद्यते इति तः (३।२।१०२) अन्नाण्णः इति निपातनात् अन्नं ओदनमित्यर्थः ।

प्राणः—प्राणयतीति प्राणः अच् प्रत्ययः अयं शरीरस्थो वायुः हृदये तिष्ठति । हृदि प्राणः गुदेपानः इति वचनात् अनितेः (८।४।१९) इत्यनेन णत्वं ।

मनः—मन्यते अनेनेति मनः असुन् उणादि सूत्र (४।१।८९) ।

बुद्धिः—बुद्ध्यते अनया इति बुद्धिः बुध धातोः क्तिन् प्रत्ययः मनसः बोधजनिकावृत्तिः ।

आनन्दः—आनन्दयतीति आनन्दः 'टुनदि समृद्धौ' धातोः आङ् उपसर्गात् घञि रूपं । इदितो नुम् धातोः इति इदित्वान्नुमि"।

इसी उक्त प्रकार पूर्व जन्म के संचित किए पुण्य कर्म के परिपाक वश तत्त्वदर्शी जो आचार्य अर्थात् प्रत्यक् जीवों से अभिन्न (एक रूप) ब्रह्म तत्त्व के ज्ञाता गुरु के सकाश से उपदेश को अर्थात् (तत्त्वमसि) आदि वाक्यों के अर्थों का साधन जो वेदान्त शास्त्र का श्रवण (जो आगे कहेंगे) उसको प्राप्त होकर अन्न आदि पाँच कोशों के विवेक से अर्थात् पाँच कोशों से भिन्न[1] आत्मा के ज्ञान से मोक्ष रूप परम सुख को प्राप्त होते हैं ॥३२॥

विशेष—(१) मनुष्योऽहं । प्राणिरहम् । प्रमाताऽहं । कर्ताऽहं । भोक्ताऽहं । पञ्चानां विशिष्टानां यद् एकं स्वरूपं अनुगतं प्रत्यक् चैतन्यं तत् ब्रह्म एव इति जीवपरयोरैक्यम् ।

अन्नमिति। अन्नं[1] प्राणो मनोबुद्धिरानन्दश्चेति पञ्चकोशाः। बुद्धिर्विज्ञानम्। तेषामन्नादीनां कोशशब्दाभिधेयत्वे कारणमाह—तैरिति। तैः कोशैरावृत आच्छादितः स्वात्मा स्वरूपभूत आत्मा विस्मृत्या स्वस्वरूपविस्मरणेन संसृतिं जननादिप्राप्तिरूपं संसारं व्रजेत्। स्पष्टम्। कोशो यथा कोशकारकृमेरावरकत्वेन क्लेशहेतुः, एवं अन्नादयोऽपि अद्वयानन्दत्वाद्यावरकत्वेन आत्मनः क्लेशहेतुत्वात्कोशा इत्युच्यन्ते इत्यर्थः ॥३३॥

अब अन्न आदि पाँच कोशों का उपदेश करते हैं—

अन्न, प्राण, मन, बुद्धि और आनन्द ये पाँच कोश हैं। इन कोशों से आवृत हुआ आत्मा अपने स्वरूप की विस्मृत हो जाने से जन्म मरण रूप संसार धर्म को प्राप्त हो जाता है ॥३३॥

अन्न प्राण अब उन पाँच कोशों के नाम क्रमशः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय हैं। यहाँ बुद्धि से विज्ञान लेते हैं। अब अन्न आदिकों को कोश शब्द का अर्थ होने में कारण कहते हैं उन अन्नमयादि कोशों से आच्छादित (ढका) हुआ स्वात्मा अर्थात् अपना स्वरूपभूत आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर विस्मरण से जन्म, मरण रूप संसार को प्राप्त होता है। कोश-कोशकारी कोश बनाने वाले कीड़े को कोश में ढाँककर कीड़े का दुःख क्लेश का कारण बनता है। इसी प्रकार अन्नमय आदि भी आत्मा की अद्वयता आनन्दरूपता ब्रह्म को ढककर आवरण करके आत्मा के लिए क्लेश के हेतु हैं इससे कोश कहते हैं।

(अब आत्मा और पञ्चकोशों का परस्पर अध्यास यह है, सत्ता, चेतनता, आनन्दरूपता और अद्वयता ये चार आत्मा के विशेषण है। इसी प्रकार असत्ता, जड़ता दुःख रूपता और सद्वयता (द्वैत सहितता) ये चार देहादि के विशेषण हैं। आत्मा की सत्ता चेतनता में देहादिक की असत्ता मिथ्यात्व) और जड़ता ढकी हुई है। इसलिए देहादिक सत् और चेतन की तरह प्रतीत होते हैं और देहादिक की दुःखरूपता और सद्वयता ने आत्मा की आनन्द रूपता और अद्वयता को ढका हुआ है। इसलिए आत्मा दुःखी और द्वैत सहित प्रतीत होता है। इन दो विशेषणों के ढके जाने की तरह ही पूर्ण नित्यमुक्तता आदि विशेषण भी ढके रहते हैं ॥३३॥

---

(१) ये कोशक्रमशः भोगायतन, क्रिया शक्तिमान् कार्यरूप, विक्षेप इच्छा शक्तिमान् करण रूप, और आवरण ज्ञान शक्तिमान् कर्ता रूप, अस्मिता सूक्ष्म अहंकार भोक्ता रूप हैं।

तेषां कोशानां स्वरूपाणि क्रमेण व्युत्पादयति—

स्यात्पञ्चीकृतभूतोत्थो देहः स्थूलोऽन्नसंज्ञकः ।
लिङ्गे तु राजसैः प्राणैः प्राणाः कर्मेन्द्रियैः सह ॥३४॥

अन्वयः—पञ्चीकृतभूतोत्थो स्थूलो अन्नसंज्ञकः देहः स्थूलः स्यात् लिङ्गे तु राजसैः प्राणैः कर्मेन्द्रियैः सह प्राणः भवति ।

व्युत्पत्ति—देहः दिह् उपचये धातोः घञि प्रत्यये गुणे देहः सिद्धयति । उपचयापचयौ देहधर्मौ न तु आत्मनः इत्यर्थः ।

स्यात्पञ्चीकृतेत्यादिना । मोदादिवृत्तिभिरित्यन्तेन सार्धश्लोकद्वयेन । पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्य उत्पन्नः स्थूलो देहोऽन्नसंज्ञकः अन्नमयशब्दितः कोशः स्यात् । प्राणस्तु प्राणमयकोशस्तु लिङ्गशरीरे वर्तमानैः राजसैः रजोगुणकार्यभूतैः प्राणैः प्राणापानादिभिर्वायुभिः पञ्चभिर्वागादिभिः कर्मेन्द्रियैः सह दशभिः स्यात् ॥३४॥

अब क्रम से उन कोशों का स्वरूप कहते हैं—

अन्नमय और प्राणमय कोश का स्वरूप—

पञ्चीकृत भूतों से पैदा हुए स्थूल देह को अन्नमय कोश और रजोगुणी पाँच प्राण और पाँचों कर्मेन्द्रियों को प्राणमय कोश कहते हैं ॥३४॥

इस चौतीस श्लोक से छत्तीस श्लोक के आधे श्लोक तक याने ढाई श्लोकों से पञ्चीकरण किये पाँचों भूतों से पैदा हुआ जो स्थूल देह है वह अन्नमय कोश होता है और लिङ्ग शरीर में विद्यमान जो रजोगुण के कार्यरूप प्राण अपान आदि पाँचों वायु और वाक् आदि पाँचों कर्मेन्द्रिय इन दशों सहित प्राणमय कोश होता है । अर्थात् इन दशों को प्राणमयकोश कहते हैं ॥३४॥

सात्त्विकैर्धीन्द्रियैः साकं विमर्शात्मा मनोमयः ।
तैरेव साकं विज्ञानमयो धीर्निश्चयात्मिका ॥३५॥

अन्वयः सात्विकैः धीन्द्रियैः साकं विमर्शात्मा मनोमयः कोशः तैरेव साकं विज्ञानमयः कोशः धीश्च निश्चयात्मिका ।

व्युत्पत्तिः । विमर्शः विमृशते इति विमर्शः विचार इति यावत् । संशये विमर्शो भवति अत उक्तं संशयात्मक इति ।

सात्त्विकैरिति । विमर्शात्मा संशयात्मकं पञ्चभूतसत्त्वकार्यं यन्मन उक्तं तत्सात्त्विकैः प्रत्येकं भूतसत्त्वकार्यभूतैर्धीन्द्रियैः श्रोत्रादिभिः पञ्चभिर्ज्ञानेन्द्रियैः साकं सहितं मनोमयः कोशः स्यादिति पूर्वेण सम्बन्धः । निश्चयात्मिका धीस्तेषामेव सत्त्वकार्यरूपा बुद्धिस्तैरेव पूर्वोक्तैर्ज्ञानेन्द्रियैरेव साकं सहिता सती विज्ञानमयः विज्ञानमयाख्यः कोशः स्यात् ॥३५॥

मनोमय विज्ञानमय कोश का स्वरूप—

पञ्चभूतों ज्ञानेन्द्रियों सहित संशय रूप मन-मनोमय कोश और उन्हीं ज्ञानेन्द्रियों सहित निश्चय रूप बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहते हैं ॥३५॥

विमर्शात्मा अर्थात् संशय रूप तथा पांचों भूतों के सत्तांशों का कार्य मन वह मनोमयकोश होता है । अर्थात् श्रोत्र पांच ज्ञानेन्द्रिय और मनोमय कोश कहलाते हैं और उन्हीं ज्ञानेन्द्रियों से युक्त और भूतों का सत्त्वगुण कार्य रूप जो निश्चयात्मक बुद्धि वह विज्ञानमयकोश होता है। अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञानेन्द्रियों के सहित निश्चय कारिणी बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहते हैं ॥३५॥

विशेष १ -इह ज्ञानेन्द्रियाणां मनोमयविज्ञानमयकोशद्वयेऽपि संनिवेशस्तु तेषां अपि संशय-निश्चय-उभयविध वृत्तिः एव ।

कारणे सत्त्वमानन्दमयो मोदादिवृत्तिभिः ।
तत्तत्कोशैस्तु तादात्म्यादात्मा तत्तन्मयो भवेत् ॥३६॥

अन्वयः—कारणे सत्त्वं मोदादिवृत्तिभिः आनन्दमयः आत्मा तत्तत्कोशैः तु तादात्म्यात् तत् तन्मयः भवेत् ।

कारणइति । कारणे कारणशरीरभूतायामविद्यायां यन्मलिनसत्त्वमस्ति तन्मोदादिवृत्तिभिः प्रियमोदप्रमोदाख्यैरिष्टदर्शनलाभभोगजन्यैः सुखविशेषैः सहितमानन्दमयः आनन्दमयाख्यः कोशः स्यादिति ।

ननु स्थूल शरीरादीनामन्नमयादिशब्दवाच्यत्वे 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' (तैत्ति० २।१।१) इत्युपक्रम्य 'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' (तैत्ति० २।२।१) 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः (तैत्ति० २।३।१) इत्यादिश्रुतत्वादात्मनोऽन्नमयादिशब्दवाच्यत्वं कथमुच्यत इत्याशङ्क्य, देहादीनामन्नादिविकारत्वेनान्नमयादिशब्दवाच्यत्वमात्मनस्तु तेन तेन कोशेन तादात्म्याभिमानादित्याह-तत्तदिति । आत्मा प्रत्यगात्मा तत्तत्कोशैस्तेन तेन कोशेन सह तादात्म्यात् तादात्म्याभिमानात्तत्तन्मयस्तत्तत्कोशमयः स्यात् ।

कारण शरीर में जो मलिन सत्त्वगुण है। प्रिय, मोद, प्रमोद वृत्तियों सहित वह आनन्दमय कोश होता है और आत्मा तो उस-उस कोश के अध्यास से उस-उस कोशमय होता है अर्थात् अन्नमयोऽहम् (मैं अन्न हूँ) इत्यादि अध्यास से अन्नमय, प्राणमय, विज्ञानमय, मनोमय, आनन्दमय हो जाता है ॥३६॥

पूर्वोक्त कारण शरीर रूप अविद्या में जो मलिन सत्त्व है। वह प्रिय मोद नाम की वृत्तियों से अर्थात् इष्ट का दर्शन-लाभ-भोग से पैदा हुए सुख विशेषों सहित आनन्दमय कोश होता है। कोई शंका करे स्थूल शरीर आदि अन्नमय आदि शब्द के अर्थ हैं इसमें तो यह श्रुति प्रमाण है कि यह वह आत्मा अन्न रस मय है। यह आरम्भ करके कहा है कि—उस इस अन्न रसमय आत्मा से अन्य अन्तर आत्मा प्राणमय है और अन्य अन्तर आत्मा मनोमय है। इत्यादि सुनने से स्थूल शरीर अन्नमय कोश हो सकता है। उस आत्मा को अन्नमय आदि होने में क्या प्रमाण है। समाधान-देह आदि को तो अन्न आदि का विकार होने से अन्नमय शब्द से वाच्य है और आत्मा को तो उस-उस कोश के संग तादात्म्य (एकता) के अध्यास के अभिमान से अन्नमय आदि कहते हैं। प्रत्यगात्मा उस-उस कोश के संग तादात्म्य के अभिमान से

व्यवहारकालेऽन्नमयादिकोशप्राधान्यात् अन्नमयादिशब्दवाच्य इत्यर्थः । तु शब्दश्चात्मनः[1] कोशेभ्यो वैलक्षण्यद्योतनार्थः ॥३६॥

कथं तर्हि एवं विधस्यात्मनो ब्रह्मत्वं भवतीत्याशङ्क्य कोशेभ्यो विवेचनाद्भवतीत्याह—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पञ्चकोशविवेकतः ।
स्वात्मानं तत उद्धृत्य परं ब्रह्म प्रपद्यते ॥३७॥

अन्वयः—अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पञ्चकोशविवेकतः स्वात्मानं ततः उद्धृत्य परं ब्रह्म प्रपद्यते ।

अन्वयेति । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वक्ष्यमाणाभ्यां पञ्चकोशविवेकतः पञ्चानां कोशानामन्नमयादीनां विवेकतःप्रत्यगात्मनो विवेचनेन पृथक्करणेन, यद्वा पञ्चकोशेभ्योऽन्नमयादिभ्य आत्मनः पृथक्करणेन स्वात्मानं प्रत्यगात्मानं ततस्तेभ्यः कोशेभ्य उद्धृत्य बुद्ध्या निष्कृष्य चिदानन्दस्वरूपं निश्चित्य परं ब्रह्म पूर्वोक्त लक्षणं प्रपद्यते प्राप्नोति । ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥३७॥

(संसर्गाध्यास से) उस-उस कोशमय होता है । व्यवहार काल में अन्नमय आदि कोशों की प्रधानता है । इससे आत्मा भी अन्नमय आदि कहलाता है । परमार्थ की दृष्टि से तो आत्मा कोशों से विलक्षण है इससे तु शब्द पड़ा है ॥३६॥

शंका करो कि इस प्रकार का आत्मा कैसे ब्रह्म रूप हो सकता है—समाधान कोशों से विवेक करने से होता है । उसी विवेक को कहते हैं—

(अन्वय व्यतिरेक से आत्मा के ब्रह्म रूप का ज्ञान)

अन्वयव्यतिरेक से पञ्चकोशों से आत्मा के विवेक से पञ्चकोशों से अपने आत्मा को उद्धार करके जीवात्मा ब्रह्मरूप हो जाता है ॥३७॥

अन्वय—व्यतिरेक से आगे श्लोक में वर्णन करने योग्य पञ्चकोशों का आत्मा से पृथक् विवेक (ज्ञान) से भेद ज्ञान से, अथवा अन्नमय आदि पञ्चकोशों से आत्मा को पृथक् करके और प्रत्यगात्मा अर्थात् अपने आपको उन कोशों से बुद्धि द्वारा निकालकर अपने को चिदानन्द स्वरूप का निश्चय करके अधिकारी पूर्वोक्त (१०।१५) श्लोकों में वर्णित अपने स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥३७॥

विशेष १—अस्तिकश्चित् स्वयं नित्यमहं प्रत्ययलम्बनः । अवस्थात्रयसाक्षी सन् पञ्चकोश विलक्षणः । अहं प्रत्यय का आधार कोई स्वयं नित्य पदार्थ है । जो तीनों अवस्थाओं का साक्षी होकर भी पञ्चकोशातीत है । आत्मा नाम स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरत्रयविलक्षण पञ्चकोश व्यतिरिक्त अवस्थात्रय साक्षी सच्चिदानन्दभारय का वचन है ।

इदानीं विवक्षितान्वयव्यतिरेकौ दर्शयति—

अभाने स्थूलदेहस्य स्वप्ने यद्भानमात्मनः ।
सोऽन्वयो व्यतिरेकस्तद्भानेऽन्यानवभासनम् ।।३८।।

अन्वयः—स्थूलदेहस्य अभाने स्वप्ने यत् आत्मनः अभानं स अन्वयः । तद्भाने अन्यानवभासनं व्यतिरेकः ।

अभान इति । स्वप्ने स्वप्नावस्थायां स्थूलदेहस्यान्नमयकोशस्याभानेऽप्रतीतौ सत्यामात्मनः प्रतीचो यद्भानं स्वप्नसाक्षित्वेन यत्स्फुरणमस्ति स आत्मनोऽन्वयः । तस्यामेव स्वप्नावस्थायां तद्भाने तस्यात्मनः स्फुरणे सति अन्यानवभासनमन्यस्य स्थूलदेहस्यानवभासनमप्रतीतिः व्यतिरेकः । स्थूलदेहस्येति शेषः । अस्मिन्प्रकरणे ऽन्वयव्यतिरेकशब्दाभ्यामनुवृत्तिव्यावृत्ती उच्येते ।।३८।।

एवं स्थूलदेहस्यानात्मत्वावबोधकान्वयव्यतिरेकौ दर्शयित्वा लिङ्गदेहस्य तथात्वावगमकौ तौ दर्शयति—

लिङ्गाभाने सुषुप्तौ स्यादात्मनो भानमन्वयः ।
व्यतिरेकस्तु तद्भाने लिङ्गस्याभानमुच्यते ।।३९।।

अन्वय—सुषुप्तौ लिङ्गाभाने आत्मनः भानं अन्वयः स्यात् व्यतिरेकस्तु तद्भाने लिङ्गस्याभानं उच्यते ।

अब कहने को इष्ट जो अन्वय व्यतिरेक का स्वरूप दिखाते हैं—

स्वप्न में स्थूल देह के अभान में जो आत्मा का भान उसको अन्वय कहते हैं और स्वप्न में ही साक्षी रूप से ही आत्मा के भान में जो स्थूल देह का अभान उसको व्यतिरेक कहते हैं ।।३८।।

स्वप्न में अन्नमय कोश रूप स्थूल देह की तो अप्रतीति होती है और प्रत्यक् आत्मा की स्वप्न के साक्षी रूप से प्रतीति (स्फुरण) होती है। यही आत्मा का अन्वय (व्यापकता) कहलाता है और उसी स्वप्नावस्था में उस आत्मा के स्फुरण होने पर स्थूल देह की जो अप्रतीति है वह स्थूल देह का व्यतिरेक है। (इस प्रकरण में अन्वय व्यतिरेक शब्दों से क्रमशः (अनुस्यूतता) और व्यावृत्ति (भिन्नता) अभाव का ग्रहण होता है ।।३८।।

इस प्रकार स्थूल देह को अनात्मा आत्मा से भिन्न रूप के बोधक अन्वय, व्यतिरेक को दिखाते हैं—

(सुषुप्ति में आत्मा का अन्वय और लिङ्ग देह का व्यतिरेक है)

सुषुप्ति में लिङ्ग देह के अभान में जो आत्मा का भान साक्षी रूप से स्फुरण वह अन्वय और आत्मा के भान में जो लिङ्ग देह का अभान वह व्यतिरेक कहलाता है ।।३९।।

लिङ्गेति। सुषुप्तौ सुषुप्त्यवस्थायां लिङ्गाभाने लिङ्गस्य सूक्ष्मदेहस्याभानेऽप्रतीतौ आत्मनो भानं तदवस्थासाक्षित्वेन स्फुरणमात्मनोऽन्वयः स्यात्। तद्भाने आत्मभाने लिङ्गस्याभानं लिङ्गदेहस्यास्फुरणं व्यतिरेक उच्यते ॥३९॥

ननु पञ्चकोशविवेचनमुपक्रम्य लिङ्गदेहविवेचनं प्रकृतासंगतमित्याशङ्क्य प्राणमयादिकोशत्रितयस्य तत्रैवान्तर्भावान्न प्रकृतासंगतिरित्याह—

तद्विवेकाद्विविक्ताः स्युः कोशाः प्राणमनोधियः।
ते हि तत्र गुणावस्थाभेदमात्रात्पृथक्कृताः ॥४०॥

अन्वयः—तद् विवेकात् प्राणमनोधियाः कोशाः विविक्ताः स्युः हि ते तत्र गुणावस्थाभेदमात्रा पृथक् कृताः।

तद्विवेकेति। तस्य लिङ्गशरीरस्य विवेकाद्विवेचनात् प्राणमनोधियः एतन्नामकाः कोशा विविक्ता आत्मनः पृथक्कृताः स्युः। कुत इत्यत आह—ते हीति। हि यस्मात्कारणात् ते प्राणमयादयः तत्र तस्मिन्-लिङ्गशरीरे गुणावस्थाभेदमात्रात् गुणयोः सत्वरजसोरवस्थाभेदमात्राद्गुणप्रधानभावेनावस्थाविशेषादेव पृथक्कृताः। भेदेन निर्दिष्टा इत्यर्थः ॥४०॥

सुषुप्ति अवस्था में सूक्ष्म देह रूप लिङ्ग की अप्रतीति होने पर जो आत्मा का भान है अर्थात् सुषुप्ति अवस्था के साक्षिरूप से जो आत्मा का स्फुरण है वह आत्मा का अन्वय है और आत्म का भान होते हुए लिङ्ग शरीर का अभान होना लिङ्ग देह का व्यतिरेक है ॥३९॥

शंका—पञ्च कोश का विवेचन का आरम्भ करके लिङ्ग देह का विवेचन प्रकरण से विरुद्ध है यह शंका करके यह कहते हैं कि प्राणमय, मनोमय विज्ञानमय इन तीनों कोशों का लिङ्ग देह में ही अन्तर्भाव होने से प्रकरण का विरोध नहीं है। यह बात इस प्रकरण में कहते हैं—

लिङ्ग देह के विवेचन से प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, कोशों का भी विवेक समझना चाहिए क्योंकि वे तीन कोश गुणों की अवस्था के भेद से पृथक्-पृथक् किये हैं ॥४०॥

उस लिङ्ग शरीर के विवेक से प्राणमय, मनोमय विज्ञानमय कोशों का भी विवेक हुआ ही समझना। क्योंकि उस लिङ्ग शरीर में ही सत्त्व गुण रजोगुण की अवस्था के भेद से ही अर्थात् गुण प्रधान भाव से ही वे तीनों पूर्वोक्त कोश पृथक् दिखाये हैं ॥४०॥

इदानीमानन्दमयकोशत्वेन विवक्षितस्य कारणशरीरस्य विवेचनोपायमाह --

सुषुप्त्यभाने भानं तु समाधावात्मनोऽन्वयः ।
व्यतिरेकस्त्वात्मभाने सुषुप्त्यनवभासनम् ॥४१॥

अन्वयः—समाधौ सुषुप्त्यभाने आत्मनस्तु (एव) भानं स अन्वयः । आत्मभाने सुषुप्त्यनवभासनं तु व्यतिरेकः ।

सुषुप्तीति । समाधौ[१] वक्ष्यमाणलक्षणायां समाध्यवस्थायां सुषुप्त्यभाने सुषुप्तिशब्दोपलक्षितस्य कारणदेहरूपस्याज्ञानस्याप्रतीतौ आत्मनस्तु । तु शब्दोऽवधारणे । आत्मन एव भानं स्फुरणं यदस्ति स आत्मनोऽन्वयः । आत्मभाने आत्मनः स्फूर्तौ सत्यां सुषुप्त्यनवभासनं सुषुप्त्युपलक्षितस्याज्ञानस्याप्रतीतिरेव व्यतिरेकस्तस्येति । अत्रायं प्रयोगः —प्रत्यगात्मा अन्नमयादिभ्यो भिद्यते, तेषु परस्परं व्यावर्त्यमानेष्वपि स्वयमव्यावृतत्वात्, यत् येषु व्यावर्त्यमानेष्वपि न व्यावर्तते ततेभ्यो भिद्यते यथा कुसुमेभ्यः सूत्रं, यथा वा खण्डादिव्यक्तिभ्यो गोत्वमिति ॥४१॥

अब जिसको आनन्दमय कोश कहते हैं ऐसे कारण शरीर के विवेक का उपाय कहते हैं –

समाधि में सुषुप्ति के अभान होने पर आत्मा के भान को अन्वय और आत्मा के भान होने पर सुषुप्ति के अभान को व्यतिरेक कहते हैं ॥४१॥

आगे वर्णन करने योग्य समाधि अवस्था में सुषुप्ति के अभान होने पर अर्थात् सुषुप्ति शब्द से उपलक्षित कारण शरीर रूप अविद्या की अप्रतीति होने पर केवल आत्मा का ही जो भान (स्फुरण) है वह आत्मा का अन्वय है और आत्मा के भान होने पर जो सुषुप्ति का अभान अर्थात् सुषुप्ति से उपलक्षित अज्ञान की अप्रतीति उसके व्यतिरेक कहते हैं । यहाँ अनुमान इस प्रकार का है । प्रत्यक् आत्मा अन्नमय आदि से भिन्न है । क्योंकि उन अन्नमय कोशों के आपस में व्यावृति भिन्न प्रतीत होते हुए भी वह आत्मा स्वयं अव्यावृत्त अभिन्न होने से. जिसकी-जिसकी व्यावृत्ति होने पर भी व्यावृत्ति नहीं होती वह उनसे भिन्न होता है । जैसे पुष्पों से सूत्र और गौ आदि खण्ड व्यक्तियों से गोत्व रूप जाति भिन्न नहीं होते ॥४१॥

विशेष—(१) समाध्यवस्था तु-लीने पूर्वविकल्पे तु यावत् अन्यस्य नोदयः । निर्विकल्पक चैतन्यं स्पष्टं तावद्विभासते । एकद्वित्रिक्षणेष्वेवं विकल्पस्य निरोधनम् । क्रमेणाभ्यस्यतां यत्नात् ब्रह्मानुभवकांक्षिभिः । **लघुवाक्य वृत्ति श्ला० ११-१२॥**

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कोशपञ्चकाद्विविक्तस्यात्मनो ब्रह्मप्राप्तिर्भवतीत्युक्तं, तत्प्रतिपादिकां 'ङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा' (कठ० २।६।१७) 'इत्यादिकां' 'तं विन्द्याच्छुक्रममृतम्' (कठ० २।६।१७) इत्यन्तां कठश्रुतिं अर्थतः पठति—

यथा मुञ्जादिषीकैवमात्मा युक्त्या समुद्धृतः ।
शरीरत्रितयाद्धीरैः परं ब्रह्मैव जायते ।।४२।।

अन्वयः—यथा मुञ्जात् इषीका युक्त्या समुद्धृतः एवं आत्मा शरीरत्रितयात् धीरैः समुद्धृतः परं ब्रह्मैव जायते ।

यथैवेति । यथा येन प्रकारेण मुञ्जादेतन्नामकात्तृणविशेषादिषीका गर्भस्थं कोमलं तृणं युक्त्या बहिरावरकत्वेन स्थितानां स्थूलपत्राणां विभजनलक्षणोपायेन समुद्ध्रियते एवमात्मापि युक्त्यान्वयव्यतिरेक-लक्षणोपायेन शरीरत्रितयात्पूर्वोक्ताच्छरीरत्रितयात् धीरैः ब्रह्मचर्यादिसाधनसंपन्नैरधिकारिभिः समुद्धृतः पृथक्कृतश्चेत् स परं ब्रह्मैव जायते । चिदानन्दरूपत्वस्य लक्षणस्य उभयोरविशिष्टत्वादित्यभिप्रायः ।।४२।।

अन्वय व्यतिरेक से पञ्चकोशों द्वारा किया है विवेक जिसका ऐसे जीवात्मा को ब्रह्म की प्राप्ति होती है यह कह आये हैं पीछे । अब उसको कहने वाली श्रुति है । जो यह कठ की श्रुति है उसी के अर्थ को पढ़ते हैं ।

जैसे युक्ति के द्वारा मूँज में से इषीका को निकाल लेते हैं । ऐसे ही धीर पुरुष तीनों शरीरों से आत्मा को पृथक् कर लेते हैं और पृथक् किया वह परब्रह्म रूप हो जाता है ।।४२।।

जिस प्रकार मूँज नाम के तृण विशेष से गर्भ के कोमल तृण रूप इषीका को युक्ति से अर्थात् ऊपर के आच्छादक को जो स्थूल-स्थूल पत्ते उनके छेदन रूप उपाय से उद्धार कर लेते हैं अर्थात् इषीका को मूँज से निकाल लेते हैं । इसी प्रकार आत्मा को भी अन्वय व्यतिरेक रूप उपाय से पूर्वोक्त तीनों शरीरों से ब्रह्मचर्य आदि[1] साधनों से युक्त धीर[2] अधिकारी व्यक्ति उद्धार कर लेते हैं । अर्थात् पृथक् जान लेते हैं और वह पृथक् किया जीवात्मा ब्रह्म रूप ही हो जाता है क्योंकि चिदानन्द लक्षण दोनों में तुल्य हैं ।।४२।।

विशेष—(१) आदि पद से विवेक-वैराग्य-शम-दम उपरति श्रद्धा समाधान मुमुक्षुता = अर्थात् ब्रह्मचर्यादि लक्षण वैराग्यादि का उपलक्षण है ।

(२) धीर बुद्धि की विषयों से रक्षा । विषयग्रहणेभ्यो धियं राति निगृह्णाति इति धीरः सदात्म-निष्ठः धीर=धी जो बुद्धि उस बुद्धि को "र" विषयों से रक्षा करे । आगे योगानन्द ११ प्रकरण में १२४ श्लोक में देखो । धीर=धियं ।ईरयति प्रेरयति चिदाभास द्वारा धी तादात्म्याध्यासेन धीरः [illegible] ।

एतावता ग्रन्थसंदर्भेण सफलस्य तत्त्वज्ञानस्य निरूपितत्वादुत्तरग्रन्थभागस्यानारम्भप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य तदारम्भसिद्धये वृत्तानुकथनपूर्वकमुत्तरग्रन्थस्य तात्पर्यमाह—

परापरात्मनोरेवं युक्त्या संभावितैकता ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यैः सा भागत्यागेन लक्ष्यते ॥४३॥

अन्वय—एवं परापरात्मनोः एकता युक्त्या सम्भाविता सा तत्त्वमस्यादिवाक्यैः भागत्यागेन लक्ष्यते ।

परापरेति । एवमुक्तप्रकारेण परापरात्मनोः तत्त्वंपदार्थयोः परमात्मजीवात्मनोः एकताऽभिन्नता युक्त्या लक्षणसाम्यप्रदर्शनाद्युपायेन संभाविताऽङ्गीकारिता । सा एकता तत्त्वमस्यादिवाक्यैः[1] स्पष्टं भागत्यागेन (विरुद्धांशपरित्यागेन) लक्ष्यते (लक्षणया वृत्त्या बोध्यते) ॥४३॥

शंका—इतने पूर्वोक्त ग्रन्थ से सफल तत्त्वज्ञान का निरूपण हो चुका तो अग्रिम ग्रन्थ का आरम्भ न होगा यह आशंका करके । ग्रन्थ की आरम्भ सिद्धि के लिए वृतान्त के कथन पूर्वक आगे के ग्रन्थ के तात्पर्य को कहते हैं—

(आगामी ग्रन्थ का प्रयोजन)

इस उक्त प्रकार से जीव परमात्मा की एकता युक्ति से अंगीकार करायी वही 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के द्वारा विरुद्धअंशों को छोड़कर जानी जाती है। अर्थात् जीव के विरुद्ध भाग अविद्या, ब्रह्म के विरुद्ध भाग मायारूपजडांश का त्याग और चैतन्य मात्र जो धर्म दोनों में एक है, उसके ग्रहण से दोनों का अभेद प्रतीत हो जाता है ॥४३॥

उक्त प्रकार से तत्-त्वम् पदों के अर्थभूत परमात्मा और जीवात्मा एकता को (अभिन्नता) युक्तियों से चिन्दानन्दरूपतामय लक्षण की समता दिखाने आदि उपाय रूप युक्ति से अंगीकार करायी। जिज्ञासु या वादी के बुद्धि में बैठा दिया गया है। उसी एकता को 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के द्वारा विरुद्धांस को छोड़कर लक्षणारूप वृत्ति (भाग त्याग लक्षण) से जानी जाती है ॥४३॥

विशेष—(१) तत्त्वमस्यादि—आदि पद से अध्यारोप और अपवाद अन्वयव्यतिरेक आदिक युक्ति।

'तत्वमसी' तिवाक्यार्थज्ञानस्य तदादिपदार्थज्ञानपूर्वकत्वात् तत्पदस्य वाच्यार्थं तावदाह—

जगतो यदुपादानं मायामादाय तामसीम् ।
निमित्तं शुद्धसत्वां तामुच्यते ब्रह्म तद्गिरा ।।४४।।

अन्वयः—यत् तामसीं जगतः शुद्धसत्वां मायां आदाय ताम् निमित्तं उपादानं तत् ब्रह्म तद्गिरा ब्रह्म उच्यते ।

जगत इति । यत्सच्चिदानन्दलक्षणं ब्रह्म तामसीं तमोगुणप्रधानां मायामादायोपाधित्वेन स्वीकृत्य जगतश्चराचरात्मकस्य कार्यवर्गस्योपादानमध्यासाधिष्ठानं शुद्धसत्वां विशुद्धसत्वप्रधानां तामुपाधित्वेन स्वीकृत्य

तत्त्वमसि आदि वाक्य के अर्थ का ज्ञान तब हो सकता है । जब तत् त्वं पदों के अर्थों का ज्ञान हो—क्योंकि (वाक्यबुद्धौ पदार्थबुद्धिःकारणम्) वाक्य के अर्थ ज्ञान में पदों के अर्थ का ज्ञान कारण होता इससे प्रथम तत् पद के अर्थ को कहते हैं—

जो परम ब्रह्म तमोगुण प्रधान तामसी माया को लेकर समस्त संसार का उपादान कारण बनता है तथा जो शुद्ध सत्त्व गुण प्रधान माया को लेकर संसार का निमित्तकारण बन जाता है उस ब्रह्म को ही 'तत्' शब्द से कहा जाता है ।४४।। ।

सत्-चित् आनन्दरूप जो ब्रह्म है वह ब्रह्म तमोगुण है प्रधान जिसमें ऐसी माया को लेकर अर्थात् मायारूप उपाधि को स्वीकार करके चर-अचर रूप जगत् के कार्य का उपादान होता है । अर्थात् भ्रमरूप जगत का अधिष्ठान होता है और वही ब्रह्म विशुद्ध गुण है प्रधान जिसमें ऐसी उसी माया को उपाधि रूप से स्वीकार करके उपादान आदि[२] का कर्ता ज्ञाता जानने वाला निमित्त होता है और वही निमित्त

विशेष—(२) उपादान आदि अभिज्ञ कर्तृ = कर्ता = ज्ञाता जानने वाला निमित्त यहाँ आदि शब्द से जीवों के पूर्वजन्म के अदृष्ट (१) और अपनी इच्छा (२) ज्ञान (३) प्रयत्न (४) काल (५) दिशा (६) प्राग् भाव (७) प्रतिबन्ध का भाव ८) इन आठों और निमित्त कारण का ग्रहण है । जैसे कुलाल घट की उपादान मृत्तिका और दूसरे निमित्त दण्ड चक्रादि का जानने वाला हुआ घट का कर्ता । वैसे ही विशुद्ध सत्त्व प्रधान माया उपहित (निर्लिप्त) ब्रह्म भी जगत् का निमित्त आदिक की हेतु सर्व सामग्री का ज्ञाता है । इससे जगत् का कर्ता है ईश्वर जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण अन्तर्यामी ईश्वर है । अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपिसन् । प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।।गीता० ४।६।। मेरा जन्मप्राकृत मनुष्यों के सदृश नहीं है मैं अविनाशी स्वरूप अजन्मा होने पर भी तथा सब भूत प्राणियों का ईश्वर होने पर भी अपनी प्रकृति को अधीन करके योगमामा से प्रकट होता हूँ ।

निमित्तमुपादानाद्यभिन्नं कर्तृ भवति । तद्ब्रह्म निमित्तोपादानोभयरूपं ब्रह्म तद्गिरा 'तत्त्वमसी'[1] तिवाक्य-स्थेन तत्पदेनोच्यते ।।४४।।

त्वं पदवाच्यार्थमाह—

यदा मलिनसत्वां तां कामकर्मादिदूषिताम् ।
आदत्ते तत्परं ब्रह्म त्वंपदेन तदोच्यते ।।४।।

अन्वयः—यदा मलिनसत्त्वां तां कामकर्मादिदूषितां आदत्ते तत् परं ब्रह्म तदा त्वं पदेन उच्यते ।

यदेति । तदेव ब्रह्म यदा यस्यामवस्थायां मलिनसत्वां ईषद्रजस्तमोमिश्रेण मलिनसत्वप्रधानां अतएव कामकर्मादिदूषितां[2] तामविद्याशब्दवाच्यां मायामादत्ते उपाधित्वेन स्वीकरोति तदा त्वंपदेनोच्यते ।।४५।।

उपादान रूप ब्रह्म "तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के तत् पद का निमित्त उपादान रूप ब्रह्म है ।।४४।।

अब त्वं पद के अर्थ को कहते हैं—

(लक्षणा से वाक्य के अर्थ का ज्ञान)

जब वही परमब्रह्म मलिन सत्त्व गुण प्रधान काम कर्मादि दोष से युक्त अविद्या शब्द वाच्य माया को उपाधितया स्वीकार करता है । तब वह त्वं पद से कहा जाता है ।।४५।।

वही सच्चिदानन्द ब्रह्म कुछ मिले हैं रजोगुण तमोगुण जिसमें ऐसा मलिन सत्त्व है प्रधान जिसमें ऐसी और काम कर्म आदि से दूषित उसी अविद्या नाम की माया को जब स्वीकार करता है । अर्थात् अविद्या रूप उपाधि का वशीभूत होता है तब वही ब्रह्म त्वं पद से कहा जाता है । अर्थात् अविद्योपाधि जो त्वं का वाच्य हो जाता है ।।४५।।

विशेष—(१) महावाक्य में विरुद्ध अंश त्याग कर सर्वज्ञादिक ईश्वर के और अल्पज्ञादिक रूप जीव के एकता के विरोधी धर्मों के त्याग ।

(२) अविद्या काम कर्म विशिष्ट कार्यकारणोपाधिरात्मा संसारी जीव उच्यते । काम का अर्थ है विषयों की इच्छा और नित्य-निरतिशय ज्ञानशक्त्युपाधिरात्मा अन्तर्यामी सकल जीवनियामक ईश्वर उच्यते । एष एव निरूपाधिककेवलशुद्धस्वभावेन अक्षर परम् उच्यते । भाष्य वृ० ३।८।१२। यद्यपि माया अविद्ययोः नास्तिभेदः तथापि प्रपञ्चोत्पत्तिहेतुभूताया मायमृया । विक्षेयशक्तिप्राधान्येन आवरण शक्ति प्रधानाया अविद्याः या अध्यासादि हेतुत्वं च तयोर्भेदः । भाष्यकार ने कहा है । शक्ति द्वयं हि माया या विक्षेपावृत्ति रूपकम् । विक्षेयशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत् । वाक्य सुधा ।।१३।।

एव तत्त्वंपदार्थाविभिधाय वाक्यार्थमाह—

त्रितयीमपि तां मुक्त्वा परस्परविरोधिनीम् ।
अखण्डं सच्चिदानन्दं महावाक्येन लक्ष्यते ॥४६॥

अन्वयः--त्रितयीमपि परस्परविरोधिनीं तां मुक्त्वा अखण्डं सच्चिदानन्दं महावाक्येन लक्ष्यते ।

त्रितयीति । त्रितयीमपि त्रिप्रकारामपि तमःप्रधानविशुद्धसत्वप्रधानमलिनसत्वप्रधानत्वभेदेनोक्ताम् अतएव परस्परविरोधिनीं तां मायां मुक्त्वा परित्यज्य अखण्डं भेदरहितं सच्चिदानन्दं (ब्रह्म) महावाक्येन लक्ष्यत इत्युक्तम् ॥४६॥

इस प्रकार तत्-त्वं पदों के अर्थों को कहकर वाक्यार्थ वाक्य के अर्थ को कहते हैं । वाक्यार्थ ज्ञाने पदार्थज्ञानं कारणम् = वाक्य का अर्थ जानने में पद का अर्थ ज्ञान कारण होता है ।

(लक्षणा से वाक्य के अर्थ का ज्ञान)

तीनों प्रकार की परस्पर विरोधिनी उस माया को छोड़कर अखण्ड सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म का ज्ञान महावाक्य द्वारा लक्षित हो जाता है ॥४६॥

तमोगुण प्रधान, मलिन सत्त्व प्रधान, विशुद्ध सत्त्व प्रधान रूप से तीन प्रकार की बताई गयी । इसलिए परस्पर विरोधिनी (विरुद्ध २) उस माया को छोड़कर (श्रुति और युक्ति दोनों से ही मिथ्या[1] जान कर) असार जानकर अखण्ड[2] (त्रिविध परिच्छेदशून्यत्वं अखण्डत्वं) सत् चित् आनन्द रूप ब्रह्म महावाक्य से लक्षित होता है । अर्थात् जाना जाता है । लक्षणा वृत्ति से पर ब्रह्म का बोध होता है ॥४६॥

विशेष - (१) सत् असत् सदसत् इत्यादि नवकोटिकिनिर्मुक्ता भावरूपं विज्ञानं विरस्यं । न सत् है १ न असत् है २ और न सदसत् उभयरूप है ३ न भिन्न है ४ न अभिन्न है ५ न भिन्नाभिन्न उभय रूप है ६ न अंग सहित है ७ न अंग रहित है ८ और न (साङ्गानङ्ग) उभयात्मिका है ९ अनिर्वचनीय रूप है । आगे देखो—चित्र दीप ११८ श्लोक में—अधिष्ठाननिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् मिथ्यात्वम् = जिस अधिष्ठान में जिस वस्तु का अत्यन्त अभाव हो उसी में उस वस्तु का भासना मिथ्या है । जैसे रस्सी में साँप है नहीं, फिर भी रस्सी में साँप दीख रहा है तो उस दीखते हुए साँप को मिथ्या कहेंगे ।

(२) अखण्ड = प्रथम (१) देशपरिच्छेद अल्पाभाव भाव का जो प्रतियोगी । जैसे घट पट का (२) दूसरा काल परिच्छेद प्राग् अभाव का तथा प्रध्वंस अभाव का जो प्रतियोगी है सो काल परिच्छेद (३) वस्तु परिच्छेद अन्योन्याभाव के प्रतियोगीपना वस्तु परिच्छेद जैसे घट पट का भेद ।

नन्वेवं लक्षणावृत्त्या वाक्यार्थबोधनं क्व दृष्टमित्याशङ्क्याह—

सोऽयमित्यादिवाक्येषु विरोधात्तदिदन्तयोः ।
त्यागेन भागयोरेक आश्रयो लक्ष्यते यथा ॥४७॥

अन्वयः---सोऽयं देवदत्तः इत्यादिवाक्येषु तदिदन्तयोः विरोधात् भागयोः त्यागेन एकः आश्रयः यथा लक्ष्यते ॥४७॥

सोयमिति । 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि वाक्येषु तदिदन्तयोः तदेतद्देशकालवैशिष्ट्यलक्षणयोः धर्मयोर्विरोधादैक्यानुपपत्तेः भागयोर्विरुद्धांशयोस्त्यागेन एक आश्रयो देवदत्तस्वरूपमेकमेव यथा लक्ष्यते ॥४७॥

कोई शंका करे कि इस प्रकार लक्षणावृत्ति से वाक्य के अर्थ का बोध कहाँ देखा है । इस शंका की निवृत्ति के लिए कहते हैं—

(लक्षणा वृत्ति से वाक्यार्थ ज्ञान का दृष्टान्त)

सोऽयम् इत्यादि वाक्यों में जैसे तत् और अयम् के विरोध से विरुद्ध २ भागों के त्याग से जैसे एक देवदत्त जाना जाता है ॥४७।

यह[1] वही देवदत्त है इत्यादि वाक्यों में तत्ता अर्थात् परोक्ष दूर देश तथा भूतकाल की विशिष्टता रूप धर्म और-इदन्ता अर्थात् यह अपरोक्ष समीपदेश तथा वर्तमान काल की विशिष्टता रूप धर्म इन दोनों के विरोध के कारण तत् और इदं शब्द के अर्थों की एकता नहीं हो सकती । इससे विरुद्ध अंश रूप भागों के त्याग से अर्थात् वह देश काल और यह देश काल इनके त्याग से एक देवदत्त रूप आश्रय देही जैसे लखा जाता है । अर्थात् जो शरीरधारी दोनों देश काल में एक है उसका बोध होता है । उससे अभिन्न यह है ऐसी अभेद बुद्धि होती है ॥४७॥

विशेष—(१) अभेदान्वयबोधकत्वम् ।

भिन्नप्रकृतिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिसामानाधिकरण्यम् । सोऽयं देवदत्तः ।

एवं दृष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकमाह—

मायाविद्ये विहायैवमुपाधी परजीवयोः ।
अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते ॥४८॥

अन्वयः—एवं परजीवयोः उपाधी मायाविद्ये विहाय अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव महावाक्येन लक्ष्यते ।

मायेति । एवं 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि वाक्ये यथा तद्वत्परजीवयोरुपाधी उपाधिभूते मायाविद्ये पूर्वोक्ते विहाय अखण्डं भेदरहितं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव महावाक्येन लक्ष्यते ॥४८॥

अब दृष्टान्त को कहकर दार्ष्टांतिक को कहते हैं—

वैसे ही परब्रह्म और जीवात्मा की माया और अविद्या रूप उपाधियों को त्यागकर महावाक्यों से एक सच्चिदानन्दरूप लखा जाता है ॥४८॥

सोऽयं देवदत्त इस वाक्य के अनुसार पर ब्रह्म और जीवात्मा की उपाधि जो माया और[२] अविद्या है । उन पूर्वोक्त माया और अविद्या को त्यागकर अखण्ड सच्चिदानन्द (त्रिविध भेद रहित ब्रह्म) महावाक्यों से लखा जाता है अर्थात् जीव की उपाधि अविद्या और परब्रह्म की उपाधि माया के त्याग से सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है ॥४८॥

विशेष -(१) उपाधिश्च साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम् ।
यथा प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात् शुक्तिरूपवत् ।

उप समीपे स्थित्वात्स्वीयं रूपं अन्यत्र आदधाति इति उपाधि अविद्या रूपी माया भी चिदात्मा के समीप रहकर अपना एकत्व उपहित चिदात्मा में समर्पण कर देता है जैसे जपा कुसुम ।

(२) अविद्यामाययोः भेदं निरसितुं सामानाधिकरण्यम् आवरणविक्षेपशक्तिरूपशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभेदात् सहप्रयोगः ब्रह्मैव अविद्यया संसरति न ततोऽन्यो जीव इति (ब्रह्म सूत्रे १।३।१६)

ननु किं महावाक्येन लक्ष्यं सविकल्पमुत निर्विकल्पमिति विकल्प्य प्रथमे पक्षे दोषमाह पूर्ववादी—

सविकल्पस्य लक्ष्यत्वे लक्ष्यस्य स्यादवस्तुता ।
निर्विकल्पस्य लक्ष्यत्वं न दृष्टं न च संभवि ।।४६।।

अन्वयः—सविकल्पस्य लक्ष्यत्वे लक्ष्यस्य अवस्तुता स्यात् । निर्विकल्पस्य लक्ष्यत्वं न दृष्टं च सम्भवि ।

सविकल्पेतति । सविकल्पस्य विकल्पेन विपरीतत्वेन कल्पितेन नामजात्यादिना रूपेण सह वर्तत इति सविकल्पं तस्य लक्ष्यत्वे वाक्येन वोध्यत्वे लक्ष्यस्य वाक्यार्थतया लक्ष्यास्यावस्तुता स्यात् मिथ्यात्वं स्यात् । द्वितीये दोषमाह—निर्विकल्पस्येति । निर्विकल्पस्य नामजात्यादिना रहितस्य लक्ष्यत्वं न दृष्टं लोके न क्वापि दृष्टम् । न च संभवि उपपद्यमानमपि न भवति । लक्ष्यत्वधर्मवतो निर्विकल्पत्वव्याघातादिति यावत् । ४६।।

कोई पूर्व वादी शंका करे कि महावाक्य से जो ब्रह्म लखा जाता है । वह सविकल्प (विकल्प सहित है) कि निर्विकल्प ।

प्रथम पक्ष में दोष कहते हैं—

(लक्ष्य के विषय में एक शंका)

विकल्प सहित को लक्ष्य मानोगे तो लक्ष्य मिथ्या हो जायेगा और निर्विकल्प कहीं भी लक्ष्य नहीं देखा गया और न उसके लक्ष्य होने की सम्भावना है ।।४६।।

विपरीत रूप माने नाम जाति आदि सहित जो हो उसे सविकल्प कहते हैं । उसको महावाक्यों का लक्ष्य (जानने योग्य) मानोगे तो महावाक्य के लक्ष्य को अवस्तुता (मिथ्यात्व) हो जावेगी । क्योंकि विकल्प सहित घट आदि सब मिथ्या होते हैं ।

अब दूसरे पक्ष में दोष कहते हैं कि नाम जाति आदि से रहित जो निर्विकल्प है उसको जगत् में कहीं भी लक्ष्यत्व नहीं देखा गया और न उसे लक्ष्यत्व होने की सम्भावना है । तब लक्ष्यता रूप धर्म से युक्त को निर्विकल्प कैसे कह सकते हैं । लक्ष्य में रहने वाला लक्ष्यत्व भी तो एक विकल्प ही है किसी को लक्ष्य मानना और उसी को निर्विकल्प कहना[1] (व्याघातदोष) से युक्त है । जैसे घटमें घटत्व और गौ में गोत्व की लक्ष्य अर्थात् शब्द की लक्षणावृत्ति से ज्ञातव्य वस्तु में लक्ष्यता एक धर्म है यही विकल्प हुआ ।।४६।।

विशेष—(१) व्याहतिनर्मि पूर्वोत्तरविरोधि असंबद्धार्थकम् । यथा यावज्जीवमहंमौनी ब्रह्मचारी च मे पिता । माता तु मम वन्ध्यासीदपुत्रश्च पितामह इति ।

व्याघात = गौरव आत्माश्रयदोष = अन्योन्याश्रय दोष चक्रिकादोष अनवस्थादोष । तदाश्रय विकल्प आश्रय एक विकल्प अङ्गीकार में आत्मश्रयदोष । विकल्पद्वय स्वीकारे-अन्योन्याश्रय-नियत तृतीयादि दोष विकल्प स्वीकार में = चक्रकम् । अनियत स्वीकार में अनवस्था दोष होता है ।

सिद्धान्ती जात्युत्तरत्वान्नेदं चोद्यमिति विकल्पपूर्वकं दोषमाह —

विकल्पो निर्विकल्पस्य सविकल्पस्य वा भवेत् ।
आद्ये व्याहतिरन्यत्रानवस्थात्माश्रयादयः ॥५०॥

अन्वयः—सविकल्पस्य निर्विकल्पस्य वा विकल्पः भवेत् आद्ये व्याहति, अन्यत्र अनवस्था आत्माश्रयादयः भवन्ति ।

विकल्प इति । सविकल्पस्य निर्विकल्पस्य लक्ष्यत्वमिति वा यो विकल्पस्त्वया कृतः स किं निर्विकल्पस्य उत सविकल्पस्य भवेत् । आद्ये प्रथमे पक्षे व्याहतिस्त्वयोक्तो व्याघात एव । अन्यत्र द्वितीये पक्षे अनवस्थादयः । तथाहि सविकल्पस्य । विकल्प इत्यत्र विकल्पेन सह वर्तते इत्यत्र तृतीयान्तविकल्पपदेन प्रथमान्तविकल्पपदेन च एक एव विकल्पोऽभिधीयते द्वौ वा । एक एव चेत्स्वयमेक एव विकल्पाश्रयविशेषणतया आश्रयः । तदाश्रितो

अब सिद्धान्ती जाति उत्तर इसमें है इससे हे पूर्ववादी तु यह शंका मत करे इससे विकल्प में दोष को कहता है कि—

विकल्प रहित में विकल्प करते हो वा निर्विकल्प में । विकल्प रहित में विकल्प करोगे तो वह तो व्याघात[1] दोष है और निर्विकल्प में कहोगे तो अनवस्था आत्माश्रय अन्योन्याश्रय चक्रिका आदि चार दोष आते हैं ॥५०॥

सिद्धान्ती—हे वादी तुमने यह जो प्रश्न किया है महावाक्य से लक्षित ब्रह्म निर्विकल्प है या सविकल्प । इसमें तुमने जो विकल्प किया वह क्या निर्विकल्प का होगा या सविकल्प ब्रह्म का । यदि तुम निर्विकल्प ब्रह्म का विकल्प मानो तो उसमें तो व्याघात दोष ही है । क्योंकि उसी ब्रह्म को निर्विकल्प कहते हो और उसमें विकल्प भी करते हो । यदि सविकल्प का विकल्प किया है यह दूसरा पक्ष भी मानो तो इसमें आत्माश्रय अनवस्था आदि चार दोष आते हैं । इनका क्रमशः वर्णन करते हैं । वह ही दिखाते हैं—

"सविकल्प ब्रह्म का विकल्प" है इस वाक्य में विकल्प के साथ जो विद्यमान हो वह सविकल्प हुआ । यहाँ विकल्प शब्द दो रूपों में आया एक तृतीया विभक्ति वाला (विकल्प के साथ) और दूसरा प्रथमा विभक्ति वाला (सविकल्प ब्रह्म में विकल्प) इन दोनों में क्या विकल्प एक ही है या दो ? यदि दोनों में एक विकल्प मानो तो एक ही विकल्प विकल्प के आश्रय भूत सविकल्प ब्रह्म का विशेषण हुआ

विशेष १—मेरे मुंह में जिह्वा नहीं है । परस्पर विरुद्धधर्मों का जो एक अधिकरण में जो समुच्चय है । उसका नाम व्याघात है ।

विकल्पश्चेत् तदा आत्माश्रयता । द्वौ चेत्तदा तृतीयान्तशब्दनिर्दिष्टस्यापि विकल्पस्य विकल्परूपत्वात्तदाश्रयस्यापि सविकल्पत्वात्तद्विशेषणभूतो विकल्पः किं प्रथमान्तशब्दनिर्दिष्ट एव विकल्प उत ताभ्यामन्यः ? आद्ये अन्योन्याश्रयता । द्वितीयेऽपि धर्मिविशेषणीभूतो विकल्पः किं प्रथमान्तशब्दनिर्दिष्ट उत तेभ्योऽन्यः ? आद्ये चक्रकापत्तिः, द्वितीये तस्याप्यन्यस्तस्याप्यन्य इत्यनवस्थापात इति ॥५०॥

और इस प्रकार आप ही अपना आश्रय हुआ । अर्थात् प्रथमान्त रूप जो तुम्हारा विकल्प है । उसका आश्रय सविकल्प ब्रह्म का विशेषण रूप तृतीयान्त विकल्प भी तुम्हारे प्रथमान्त विकल्प का आश्रय है ? विशिष्ट में रहने वाला धर्म विशेषण में नियम से रहता ही है । फिर वह आश्रय बने तृतीयान्त विकल्प रूप आप में प्रथमान्त विकल्प रहा तो आप ही (प्रथमान्त रूप विकल्प) आप (तृतीयान्त रूप आश्रय के) आश्रित हो गया अर्थात् एक ही विकल्प जो तृतीयान्त रूप से आश्रय है और वही विकल्प प्रथमान्त रूप से आश्रित हुआ । यही आत्मश्रय दोष है । "स्व स्थितिं प्रति स्वस्य हेतुता' अपनी स्थिति में जो अपनी अपेक्षा । स्वज्ञानं प्रति स्वस्य हेतुता । अपने ज्ञान में जो अपनी अपेक्षा करनी पड़ती है । यदि दोनों विकल्पों को मानो तो प्रथमान्त विकल्प और तृतीयान्त विकल्पों को परस्पर भिन्न दो माने तो तृतीयान्त शब्द निर्दिष्ट विकल्प भी विकल्प है और उसका आश्रय ब्रह्म भी विकल्प है इसलिए उस तृतीयान्त विकल्प के आश्रय "तद् विशेषण भूत" ब्रह्म का विशेषण कोई विकल्प मानना होगा । प्रथमान्त शब्द से निर्दिष्ट विकल्प सविकल्प के आश्रय में रहता है । ऐसे ही सब विकल्प विकल्प आश्रय में रहने वाले हुए । अथवा उन प्रथमान्त और तृतीयान्त दोनों विकल्पों से भिन्न तीसरा विकल्प है । यदि प्रथम पक्ष मानने में आन्योन्याश्रय "अन्योन्याश्रय यह है दो वस्तु में से एक दूसरे की सिद्धि के लिए एक दूसरे की की जपेक्षा होना अन्योन्याश्रय दोष है" । यहाँ प्रथमान्त रूप विकल्प की सिद्धि के लिए तृतीयान्त की स्थितिके लिए विषयाभूत विकल्प की अपेक्षा है । वह विशेषणी भूत विकल्प-प्रथमान्तरूप में ही तूने स्वीकार किया है । इस प्रकार तृतीयान्त को प्रथमान्त की अपेक्षा हुई । इस रीति से यह अन्योन्याश्रय दोष है । यदि विशेषणीभूत विकल्प को प्रथमान्त और तृतीयान्त से भिन्न तीसरा विकल्प मानो याने प्रथमान्त, तृतीयांत और विशेषणीभूत तीसरे विकल्प से भी भिन्न चौथा विकल्प है । आद्यप्रथम पक्ष में चक्रिक दोष आता है । चक्र की तरह घूमने का नाम चक्रिक है । उसी विकल्प से चलकर उसी पर समाप्ति हुई और इन सबसे अन्य ही मानोगे तो उसका अन्य और उसका भी अन्य विकल्प मानना पड़ेगा । इससे अनवस्था दोष है । अर्थात् विकल्पों की संख्या समाप्त नहीं होगी सबको विकल्प सहितों में ही मानना पड़ेगा ।५०।

न केवलमत्रैवेदं दूषणमपि तु सर्वत्रैवंविधविकल्पपूर्वकं दूषणं प्रसरतीत्याह—

इदं गुणक्रियाजातिद्रव्यसंबन्धवस्तुषु ।
समं तेन स्वरूपस्य सर्वमेतदितीष्यताम् ॥५१॥

अन्वय—इदं गुणक्रियाजातिद्रव्यसम्बन्धवस्तुषु समं तेन सर्वं एतत् स्वरूपस्य ईष्यतां ।

इदमिति । इदं विकल्पदूषणजातं गुणक्रियाजातिद्रव्यसंबन्धवस्तुषु गुणादिसंबन्धान्तेषु पञ्चसु वस्तुषु समम् तथाहि । गुणः किं निर्गुणे वर्तते अथवा गुणवति ? क्रियाऽपि क्रियारहिते वर्तते क्रियावति वा ? आद्ये व्याघातोऽन्यत्रात्माश्रयादय इति सर्वत्र[1] चैवमूह्यम् । नन्विदमसदुत्तरं चेत्किं सदुत्तरमित्या शङ्कयाह —तेनेति । तेनैवं विकल्पस्यासंगतत्वेन एतद्गुणादिकं सर्वं स्वरूपस्येतीष्यताम् । गुणादयः सर्वे वस्तुस्वरूपे वर्तन्ते इत्यभिप्रायः ॥५१॥

कुछ यह दूषण केवल यहाँ ही नहीं है । किन्तु ऐसे स्थलों में सर्वत्र ऐसे ही दूषण आ सकते हैं -

यह विकल्प का दोष गुण आदि पाँचों में भी ऐसे ही हैं इससे ये सब गुण आदि वस्तु के स्वरूप में कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध से मानो ॥५१॥

अब यह विकल्प पक्ष में जो व्याघात आत्माश्रय आदि बहुत से दोष बताये ये सब गुण, क्रिया जाति, द्रव्य संबन्ध इन पाँचों वस्तुओं में समान हैं । वही दिखाते हैं कि जैसे कि गुण क्या निर्गुण में रहता है या सगुण में ? क्रिया क्रियारहित में या क्रियावान् में आदि यहाँ प्रथम पक्ष में व्याघात और दूसरे पक्ष में आत्माश्रयादि दोष उपस्थित हो जाते हैं । कदाचित् कोई शंका करे यह उत्तर ठीक नहीं है तो ठीक उत्तर कौन-सा है इस शंका की निवृत्ति के लिए कहते हैं कि इससे इस प्रकार विकल्प को असंगत होने से गुण आदि सम्पूर्ण स्वरूप को मानो अर्थात् वस्तु के स्वरूप में कल्पित तादात्म्य स्वरूप से रहते हैं ॥५१॥

विशेष १—षड्भावपदार्थेषु अपि एवं एव इति भाव ।

भवत्वेवमन्यत्र, प्रकृते किमायातमित्यत आह—

विकल्पतदभावाभ्यामसंस्पृष्टात्मवस्तुनि ।

विकल्पितत्वलक्ष्यत्वसंबन्धाद्यास्तु कल्पिताः ॥५२॥

अन्वय :—विकल्पतदभावाभ्यां असंस्पृष्टात्मवस्तुनि विकल्पितत्वलक्ष्यत्वसम्बन्धाद्यास्तु कल्पिता (एव) ।

विकल्पेति । विकल्पतदभावाभ्यां विकल्पेन विकल्पाभावेन चासंस्पृष्टात्मवस्तुनि[1] संस्पर्शरहिते परमात्म वस्तुनि विकल्पितत्वलक्ष्यत्वसंबन्धाद्याः । तत्र विकल्पितत्वं नाम सविकल्पस्य वा निर्विकल्पस्य वेति पूर्वोक्तेन विषयीकृतत्वम् । लक्ष्यत्वं लक्षणावृत्त्या ज्ञाप्यत्वम् । संबन्धः संयोगादिः । आदिशब्देन द्रव्यादयो गृह्यन्ते । तु शब्दोऽवधारणे । तत्र द्रव्यं नाम गुणानामाश्रयो द्रव्यं, समवायि कारणं । द्रव्यमिति वा तार्किकैर्लक्षितम् । कर्मव्यतिरिक्तत्वे सति जातिमात्राश्रयो गुणः । नित्यमेकमनेकवृत्तिसामान्यमिति लक्षिता जातिः । संयोग वियोगयोरसमवायिकारणजातीयं कर्म इति लक्षिता क्रिया । एते सर्वे स्वरूपे कल्पिता एवेत्यर्थः ॥५२॥

अन्य गुण आदि अनात्म वस्तुओं में ऐसा हो परन्तु प्रकरण याने प्रसंगत आत्मा में क्या प्रकरण की पूर्वोक्त समाधान न हुआ इसलिए कहते हैं—

विकल्प और विकल्पाभाव दोनों से असम्बन्धित आत्मविषयक वस्तु में विकल्पितत्व लक्ष्यत्व और संयोग सम्बन्ध आदि तो कल्पित ही है ॥५२॥

विकल्प और विकल्प के अभाव से जिसका कोई सम्बन्ध नहीं है उस प्रत्यक् अभिन्न परमात्मा में (१) विकल्पपना (२) लक्ष्यपना और (३ सम्बन्ध आदि रस्सी में सर्प की तरह भ्रम से कल्पित है । उसमें विकल्प यही है कि सविकल्पको वा निर्विकल्पको विकल्प है इस पूर्वोक्त का विकल्प का विषय होना । लक्ष्यत्व यह है कि लक्षणावृत्ति से जानने योग्य और सम्बन्ध से (संयोग-समवायी और तादात्म्य भेदाभेद सम्बन्धों का ग्रहण) आदि शब्द से द्रव्य आदि लेना द्रव्य, गुण, जाति और क्रिया का ग्रहण होता है उनके लक्षण टिप्पणी में है । यहाँ तु शब्द अवधारण (निश्चय) में वर्तता है । उनमें गुणों का आश्रय वा समवायि कारण जो हो उसे द्रव्य नैयायिक मानते है । कर्म में भिन्न होकर जातिमात्र का जो आश्रय वह गुण होता है । नित्य और एक होकर जो अनेक में रहे वह जाति सामान्य धर्म से लक्षित है । संयोग विभाग का जो असमवायि कारण के सजातीय का नाम कर्म अथवा क्रिया है । ये सब गुण आदि वस्तु (ब्रह्म) के स्वरूप में कल्पित हैं अर्थात् कल्पनामात्र है वस्तु नहीं है ॥५२॥

विशेष – (१) तथा च उक्तं अध्यास भाष्ये-यत्र यदध्यस्तं तत् कृतेन गुणेन दोषेण वा अणु मात्रेणापि स न संबध्यते इति ।

एतावता ग्रन्थसंदर्भेण किमुक्तं भवतीत्याकाङ्क्षायां फलितमाह—

इत्थं वाक्यैस्तदर्थानुसंधानं श्रवणं भवेत् ।
युक्त्या संभावितत्वानुसंधानं मननं तु तत् ॥५३॥

अन्वय—इत्थं वाक्यैः तदर्थानुसन्धानं श्रवणं भवेत् युक्त्या सम्भावितत्वानुसन्धानं तत्र तु मननं (उच्यते) ।

इत्थमिति । इत्थं 'जगतो यदुपादानम्' (प्र० १।४४) इत्यादि ग्रन्थजातोक्तप्रकारेण वाक्यैस्तत्त्वमस्यादि वाक्यैस्तदर्थानुसंधानं तेषां वाक्यानामर्थस्य जीवब्रह्मणोरेकत्वलक्षणस्यानुसंधानं श्रवणं भवेत् । युक्त्या 'शब्दस्पर्शादयोवेद्या:' (प्र० १।३) इत्यादिना 'परापरात्मनोरेवं युक्त्या संभावितैकता' (प्र० १।४३) इत्यन्तेन ग्रन्थसन्दर्भेणोक्तप्रकारेण संभावितत्वानुसंधानं श्रुतस्यार्थस्योपपद्यमानत्वज्ञानं यदस्ति तत् मननमित्युच्यते ॥५३॥

इतने पूर्वोक्त ग्रन्थ से जो कहा ४४वें श्लोक से ५२वें श्लोक तक बताई गयी रीति से उसके फल को कहते हैं—

(श्रवण मनन का लक्षण)

पूर्वोक्त वाक्यों से तत्त्वमस्यादि महावाक्यों के अर्थ का जो अनुसन्धान उसे श्रवण और युक्ति से महावाक्य के अर्थ की सिद्धि का जो अनुसंधान उसे मनन कहते हैं ॥५३॥

इस प्रकार तत् त्वं असि इत्यादि वाक्यों से उन बाक्यों के अर्थ का जो अनुसंधान अर्थात् जीव ब्रह्म की एकता बताने वाला जो अर्थ का अनुसंधान है उसे श्रवण कहते हैं। (यह श्रवण गुरुमुख द्वारा महावाक्य का उपदेश है यह ज्ञान का हेतु है और अंगी श्रवण है प्रमाणगत संदेह का निवर्तक श्रवण है) इस बात को आगे कहेंगे—तीसरे श्लोक से ४३वें श्लोक तक पूर्वोक्त जिस युक्ति द्वारा परब्रह्म और जीवात्मा की एकता की संभावना जो सुनी है उसकी सिद्धि (निर्णय) का ज्ञान उसे मनन कहते हैं । अर्थात् एकत्व के अनुसंधान को श्रवण और अन्तःकरण में निश्चय को मनन कहते हैं ॥५३॥

इदानीं निदिध्यासनमाह--

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत् ।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते ॥५४॥

अन्वय—ताभ्यां निर्विचिकित्से, अर्थे स्थापितस्य चेतसः एकतानत्वं एतद्धि निदिध्यासनं उच्यते ।

ताभ्यामिति । ताभ्यां श्रवणमननाभ्यां[1] निर्विचिकित्से, निर्गता विचिकित्सा संशयो[2] यस्मादसौ निर्विचिकित्सः तस्मिन्नर्थे विषये स्थापितस्य धारणावतश्चेतसः 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' इति पतञ्जलिनोक्तत्वाद्यदेकतानत्वंएकाकारवृत्तिप्रवाहवत्त्वं एतन्निदिध्यासनमुच्यते । हि प्रसिद्धं योगशास्त्रे तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् इति ॥५४॥

अब निदिध्यासन को कहते हैं--

श्रवण मनन के द्वारा संदेह रहित अर्थ में स्थित चित्त की जो एकाकार तद्रूप) वृत्ति है उसे निदिध्यासन कहते हैं ॥५४॥

उन श्रवण और मनन से संदेह रहित जो अर्थ (ब्रह्म) उसके विषय में स्थापित रोके हुए अर्थात् धारणा वाला चित्त पतञ्जलि ने यह लिखा है कि एकदेश में चित्त का जो सम्बन्ध उसे धारणा कहते हैं। उस पूर्वोक्त चित्त की जो एक तानता अर्थात् एकाकार वृत्ति का प्रवाह होना निदिध्यासन कहते हैं। वही योगशास्त्र में कहा है। उस अर्थ में जो प्रतीति की एकतानता उसे ध्यान कहते हैं ॥५४॥

विशेष-(१) षड्भिर्लिङ्गैः वेदान्तानामद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्यविधारणं श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ गुरुमुखाच्छ्रुतिवाक्यार्थविज्ञानम् ।

मननम् धारणम् मननं नाम शब्दावधारितेऽर्थे मानान्तरविरोधशंकायां तत् निराकरण अनुकूल तर्कात्मज्ञानजनको मानसो व्यापारः ।

(२। निदिध्यासनं जीव ब्रह्मैक्यावधारणम् । श्रुतार्थस्य नैरंतर्येण दीर्घकालमनुसंधानम् । विजातीयप्रत्ययतिरस्कारेण सजातीयप्रत्ययप्रवाहीकरणम् ।

तस्यैव निदिध्यासनस्य परिपाकदशारूपं समाधिमाह—

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैकगोचरम् ।
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते ।।५५।।

अन्वय :—ध्यातृध्याने ध्येयैकगोचरं क्रमात् परित्यज्य निवात दीपवच्चित्तं समाधिः अभिधीयते ।

ध्यातृध्याने इति । निदिध्यासने तावद्ध्याता ध्यानं ध्येयं चेति त्रितयं भासते । तत्र यदा चित्त-मभ्यासवशेन ध्यातृध्याने ध्यातारं ध्यानं च क्रमात्परित्यज्य ध्येयैकगोचरं ध्येयमेकमेव गोचरो विषयो यस्य तत्तथाविधं भवति, तदा समाधिरित्युच्यते । तत्र दृष्टान्तः—'निवातेति' वायुरहिते प्रदेशे वर्तमानो दीपो यथा निश्चलो भवति तद्वदित्यर्थः ।।५५।।

अब उसी निदिध्यासन की परिपाक रूप जो समाधि उसका वर्णन करते हैं ।

ध्याता और ध्यान इन दोनों के क्रम से त्याग के अनन्तर केवल ब्रह्म को विषय करने वाला चित्त वायु रहित देश में दीपक की लौ स्थिर रहती है वैसे चित्त भी उस अवस्था में एक ही ध्येय के आकार का हो जाता है ।।५५।।

निदिध्यासन में 'ध्याता' (ध्यान करने वाला) 'ध्यान' (ध्येयाकार, चित्त वृत्ति का प्रवाह) और 'ध्येय' (ध्यान करने योग्य ब्रह्म) तीनों प्रतीत होते रहते हैं । परन्तु अब चित्त अभ्यास के कारण क्रमशः ध्याता और ध्यान को छोड़कर केवल एक ध्येय (ब्रह्म) को ही विषय करता है । अर्थात् ध्यान करने योग्य ब्रह्माकार वृत्ति हो जाती है तब चित्त की वह समाधि अवस्था कहलाती हैं । दृष्टान्त यह है वायु[1] रहित प्रदेश में जैसे दीपक की लौ स्थिर रहती है वैसे चित्त भी इस अवस्था में एक ही ध्येय के आकार का हो जाता है ।।५५।।

विशेष - (१) जैसे अग्नि का उपादान कारण वायु है इससे अग्नि की उत्पत्ति स्थिति और नाश वायु के आधीन है । इससे सर्वथा वायु का अभाव हो तो दीपक की स्थिति भी सम्भव नहीं इससे स्फुरण रूप से वायु के अभाव वाले और सूक्ष्म (स्फुरण) रूपता से वायु का भाव वाले आदि स्थल में जैसे दीपक अचल होता है वैसे समाधि में भी सर्वथा अन्तःकरण का अभाव होता है तो शरीर की स्थिति में सम्भव नहीं । किन्तु शरीर का पात है इससे मन, बुद्धि, चित्त अहंकार को छोड़कर सूक्ष्म मूल अन्तःकरण रूप से समाधि में अन्तःकरण की स्थिति है ।

ननु समाधौ वृत्तीनामनुपलब्धौ ध्येयैकगोचरत्वमपि निश्चेतुं न शक्यते इत्याशङ्क्य वृत्तिसद्भावस्यानुमानगम्यत्वान्नैवमित्याह—

वृत्तयस्तु तदानीमज्ञाता अप्यात्मगोचराः ।
स्मरणादनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थितात् ॥५६॥

अन्वयः—आत्मगोचराः वृत्तयस्तु तदानीं अज्ञाता अपि व्युत्थितस्य समुत्थितात् स्मरणात् अनुमीयन्ते ।

वृत्तयस्त्विति । आत्मगोचराः आत्मा गोचरो विषयो यासां ता वृत्तयस्तु तदानीं समाधिकाले अज्ञाता अपि व्युत्थितस्य समाधेरुत्थितस्य समुत्थितादुत्पन्नात्स्मरणात् 'एतावन्तं कालं समाहितोऽभूवम्'[1] इत्येवंरूपादनुमीयन्ते । 'यद्यत्स्मर्यते तत्तदनुभूतम्' इति व्याप्तेर्लोकसिद्धत्वादित्यर्थः ॥५६॥

शंका जब समाधि में चित्त कोई वृत्तियों का ज्ञान नहीं होता इससे ध्येय के योग्य जो ब्रह्म तदाकार वृत्ति भी निश्चय नहीं होगा । वह ठीक नहीं समाधि में वृत्तियों का होना अनुमान से जाना जाता है—

समाधि में आत्म ज्ञान विषयक जो वृत्ति हैं अज्ञात भी उनके समाधि से उठे मनुष्य के स्मरण से अनुमान होता है ॥५६॥

समाधिकाल में यद्यपि आत्मा को विषय करने वाली वृत्तियाँ अज्ञात हैं तो भी समाधि से उठे पुरुष को जो स्मरण हुआ "इतने काल तक मैं समाहित रहा । इस सम्यक् उत्पन्न स्मरण से ज्ञान से (ब्रह्म से अभिन्न प्रत्यगात्मा है) वृत्तियों का अनुमान होता है । क्योंकि जो-जो स्मरण होता है उस-उसका अनुभव पूर्व हो चुका है पूर्वानुभूत है । यह व्याप्ति इस प्रकार है वह मेरा पिता है यहाँ यह अनुमान है । समाधिकाल में वृत्तियाँ हैं । उत्थान काल में उस समाधि का स्मरण होता है । जैसे निद्रा में जिसका स्मरण होता है । उसका पूर्व अनुभव है ॥५६॥

विशेष (१) श्रुति समाहिता नित्यतृप्ता यथा भूतार्थदर्शिनी । ब्रह्म अतिरिक्तं न किंचित् अस्ति इति समाहिता निर्विशेषं ब्रह्म स्वरूपमात्रम् । इति ।

ननु तदानीं वृत्त्युत्पादकप्रयत्नाभावात्कथं वृत्त्यनुवृत्तिरित्याशङ्क्य तात्कालिकप्रयत्नाभावेऽपि प्राथमिकादेव प्रयत्नाद्दृष्टादिसहकारिसहिताद्भवतीत्याह—

वृत्तीनामनुवृत्तिस्तु प्रयत्नात्प्रथमादपि ।
अदृष्टासकृदभ्याससंस्कारसचिवाद्भवेत् ।।५७।।

अन्वय—वृत्तीनां अनुवृत्तिस्तु प्रथमादपि प्रयत्नात् अदृष्टा सकृदभ्याससंस्कारसचिवाद्भवेत् ।

वृत्तीनामिति । ध्येयैकगोचराणां वृत्तीनामनुवृत्तिस्तु प्रवाहरूपेणानुगतिस्तु प्रथमादपि प्रयत्नात्समाधि-पूर्वकालीनादपि अदृष्टमशुक्लकृष्णकर्माख्यो यः पुण्यविशेषः 'कर्माऽशुक्लकृष्णं योगिनः त्रिविधमितरेषाम्' (यो० सू० कै० पा० सू० ७) इति 'पतञ्जलिना सूत्रितत्वात्, यश्चासकृदभ्याससंस्कारः पुनः पुनः समाध्यभ्यासेन जनितो भावनाख्यः संस्कारविशेषः ताभ्यां सहकारिकारणाभ्यां सह वर्तमानाद्भ-वति ।।५७।।

शंका समाधि काल में वृत्तियों के उत्पादन का तो कोई प्रयत्न नहीं करता तो फिर उनकी अनुवृत्ति (एक के पीछे एक का लगातार (आते रहना) कैसे बनेगा ? इसका उत्तर देते हैं—तथापि समाधिकाल का प्रयत्न न होने पर भी अदृष्ट और सहकारी जिसका ऐसे समाधि से पूर्वकालीन प्रयत्न से वृत्तियों का होना वर्णन करते हैं ।

अदृष्ट और बारम्बार अभ्यास से पैदा हुए संस्कार इन दोनों से युक्त जो समाधि से पूर्वकाल का प्रयत्न उससे ही समाधि में ब्रह्माकारवृत्तियों की अनुवृत्ति होती है अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति चली जाती है ।।५७।।

केवल ब्रह्म है विषय जिसका ऐसी वृत्तियों की प्रवाह रूप से अनुगति रूप जो अनुरति है वह समाधि से पूर्वकाल के पतञ्जलि के कहे अशुक्ल कृष्ण पुण्य विशेष रूप योगी के बारम्बार समाधि के अभ्यास से उत्पन्न भावना (स्मृतिजन्य और स्मृति का हेतु संस्कार) इन दोनों सहकारी कारणों के साथ वर्तमान (सहित) जो समाधि से पूर्वकाल का प्रयत्न उससे होती है ।।५७।।

नन्वयं समाधिः पूर्वाचार्यैर्न निरूपितो दृष्ट इत्याशङ्क्य सर्वगुरुणा श्रीपुरुषोत्तमेन निरूपितत्वान्मैव-मित्याह—

यथा दीपो निवातस्थ इत्यादिभिरनेकधा ।
भगवानिममेवार्थमर्जुनाय न्यरूपयत् ॥५८॥

अन्वयः—यथा निवातस्थः दीपः इत्यादिभिः अनेकधा भगवान् इमम् एवार्थं अर्जुनाय न्यरूपयत् ।

यथेति । 'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता' (गी० ६।१९) इत्यादिभिः श्लोकैः अनेकधानानाप्रकारेण भगवान् ज्ञानैश्वर्यादिसंपन्नः इममेव निर्विकल्पक समाधिरूपं अर्थं अर्जुनाय शिष्याय न्यरूपयन्निरूपितवान् ॥५८॥

अस्य समाधेरवान्तरफलमाह[1] —

अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः ।
अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विवर्धते ॥५९॥

अन्वयः—अनादौ इह संसारे सञ्चिताः कर्मकोट्यः अनेन विलयं यान्ति शुद्धोधर्मः विवर्धते ।

अनादाविति । अनादौ स्पष्टम् । इहास्मिन्संसारे संचिताः कर्मकोट्यः कर्मणां पुण्यापुण्यलक्षणानां कोट्यः इत्युपलक्षणम् । अपरिमितानि कर्माणीत्यर्थः । अनेन समाधिना विलयं यान्ति विनश्यन्ति । 'क्षीयन्ते चास्य

शंका—यदि कहा जाय कि इस समाधि का निरूपण किसी आचार्य ने नहीं किया । उत्तर—श्रीकृष्णचन्द्र जो सबके गुरु हैं । उनके निरूपण को कहते हैं—

जैसे वायु रहित स्थान में रखा हुआ दीपक निश्चल रहता है इत्यादि श्लोकों में अनेक प्रकार से भगवान श्रीकृष्ण ने इस निर्विकल्पक समाधि का अर्जुन के प्रति विवेचन किया है ॥५८॥

जैसे वायुरहित स्थान में दीपक निश्चल रहता है यही उपमा समाधि में स्थित योगी की है इत्यादि वचनों से अनेक प्रकार भगवान् (ज्ञानैश्वर्य से युक्त) ने इसी निर्विकल्पक समाधि रूप अर्थ का अपने शिष्य अर्जुन के प्रति निरूपण किया है ॥५८॥

अब समाधि के अवान्तर फल को कहते हैं—

इस समाधि से अनादि संसार में संचित किये पापों का नाश शुद्ध धर्म की वृद्धि होती है ॥५९॥

अनादि संसार में संचित किये जो कोटियों अपरिमित कर्म पुण्यापरूप कर्म है वे सब इस समाधि से प्राप्त ज्ञान द्वारा नष्ट हो जाते हैं । उस कार्य कारण रूप प्रत्यक् अभिन्न परब्रह्म के अपरोक्ष

विशेष—(१) परम प्रयोजन का जो (द्वार साधन) है वह अवान्तर प्रयोजन निर्विकल्प समाधि का ज्ञान द्वारा निदिध्यासन की परिपाक दशा रूप समाधि का फल ब्रह्म साक्षात्कार है । इससे अज्ञानकृत आवरण की निवृत्ति होती है ।

कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मु० २।२।८) इति श्रुतेः, 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि' (गी० ४।३७) इति स्मृतेश्च। शुद्धो धर्मः सविलासाऽविद्यानिवर्तकसाक्षात्कार साधनभूतो धर्मो विवर्धते । स्पष्टम् ।।५९।।

तत्र किं प्रमाणमित्यत आह—

धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः ।
वर्षत्येष यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः ।।६०।।

अन्वयः—योगवित्तमाः इमं समाधिं धर्ममेघं प्राहुः यतः एष सहस्रशः धर्मामृतधाराः वर्षति ।

धर्मेति । योग वित्तमाः अतिशयेन योगज्ञाः । ब्रह्मसाक्षात्कारवन्त इति यावत् । इमं निर्विकल्पसमाधिं धर्ममेघं प्राहुः । स्पष्टम् । तदुपपादयति—वर्षतीति । यतः कारणादेष समाधिर्धर्मामृतधाराः धर्मलक्षणा अमृतधाराः सहस्रशो वर्षति । 'क्षणमेकमास्थाय क्रतुशतस्यापि' (अथर्व शिखोप० २) इति श्रुतेः । अतो धर्ममेघं[1] प्राहुरिति पूर्वेणान्वयः ।।६०।।

ज्ञान हो जाने पर योगी के सब कर्म नष्ट हो जाते हैं । ज्ञान रूप अग्नि सब कर्मों को दग्ध कर देती है और सविलास कार्य पृथिवी जल आदि कार्यों से मुक्त जो अविद्या उसका निवर्तक जो प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म का साक्षात्कार उसका हेतु धर्म शुद्ध बढ़ता है ।।५९।।

समाधि के पूर्व स्वरूप में प्रमाण कहते हैं । अर्थात् समाधि से धर्म की वृद्धि में क्या प्रमाण है यह बताते हैं —

योग वेत्ताओं ने इस समाधि को धर्ममेघ शब्द से कहा है क्योंकि यह समाधि धर्मरूप अमृत की धाराओं को अनन्त प्रकार से बर्षाती है ।।६०।।

जो योगियों में श्रेष्ठ हैं अर्थात् जिनको ब्रह्म का प्रत्यक्ष है वे इस निर्विकल्प समाधि को धर्म का मेघ कहते हैं । क्योंकि यह समाधि धर्मरूप अमृत की हजारों धाराओं[2] को बरसाने लगती है । क्योंकि श्रुति में यह लिखा है कि एक भी समाधि का क्षण सौ यज्ञों के फल को देता है । इसलिए इस समाधि को धर्ममेघ कहा गया है ।।६०।।

विशेष—(१) प्रसंख्यानेऽप्य कुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेः धर्ममेघः समाधिः । पो० कै० ४।प्रसंख्यान चित्त की एकाग्रता होने पर जब मुमुक्षु ब्रह्म को जानने की इच्छा वाला अकुसीद विरक्त है सिद्धि आदि की इच्छा नहीं करता तब उसको विवेकख्याति स्वरूप साक्षात्कार होता है । उसी को धर्ममेघ समाधि है ।

(२) पुण्य विशेष रूप उक्त धर्म से तत्त्व ज्ञानी को उत्तम लोक की प्राप्ति आदि रूप फल होते नहीं । किन्तु ज्ञान से प्रथम तो ज्ञान उत्पत्ति में प्रतिबन्ध की निवृत्ति होती है । दूसरे उस ज्ञानी के दर्शन स्पर्शन भाषण सेवा से लोगों की पाप निवृत्ति तथा कामना की सिद्धि आदि होती है । चित्त के मल-विक्षेप आवरण रूप दोष आदि हैं ।

इदानीं समाधेः परमप्रयोजनमाह[1]—

अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते ।
समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये ॥६१॥

अन्वयः—अमुना वासना जाले निःशेषं प्रविलापिते पुण्यपापाख्ये कर्मसञ्चये समूलोन्मूलिते ।

अमुनेति । अमुना समाधिना वासनाजाले अहंकारममकार कर्तृत्वाद्यभिमानहेतुभूते ज्ञानविरुद्धे संस्कारसमूहे निःशेषं यथा भवति तथा प्रविलापिते विनाशिते, पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये समूलोन्मूलिते मूलसहितं यथा भवति तथोन्मूलिते उद्धृते, विनाशिते इति यावत् ॥६१ ।

फलितमाह—

वाक्यमप्रतिबद्धं सत्प्राक्परोक्षावभासिते ।
करामलकवद्बोधमपरोक्षं प्रसूयते ॥६२॥

अन्वयः—वाक्यं अप्रतिवद्धं सत् प्राक् परोक्षावभाषिते करामलकवत् अपरोक्षं वोधं प्रसूयते ।

व्युत्पत्तिः—न प्रतिवद्धम् प्रतिवद्धं नञ् समासः । करे स्थितं आमलकम् तद्वत् तथा करस्थित-मामलकं सर्वतो भावेन भासते तद्वत् इत्यर्थः ।

वाक्यमिति । वाक्यं तत्त्वमस्यादिवाक्यम प्रतिवद्धं सत्कर्मवासनाभ्यां प्रतिबन्धरहितं सत् प्राक्परोक्षावभासिते पूर्वं परोक्षतया प्रकाशिते तत्त्वे करामलकवत्करस्थितामलकगोचर मिवापरोक्षमपरोक्षतया तत्त्वावभासनसमर्थं बोधं ज्ञानं प्रसूयते जनयति ॥६२॥

अब समाधि के परम प्रयोजन को कहते हैं--

इस समाधि से वासनाओं का जाल सम्पूर्ण रूप से विशीर्ण हो जाता है और पुण्य, पाप नामक संचित कर्म समुदाय समूल विनष्ट हो जाता है ॥६१॥

इस समाधि के प्रताप से ज्ञान विरोधी अहंकार ममकार कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अभिमान के कारण भूत संस्कारों के सम्पूर्णतया नष्ट हो जाने पर और पुण्य, पाप रूप कर्मों का जो संचय उसके समूल (जड़ से) उखाड़ दिये जाने पर ॥६१॥

अब समाधि के फल को कहते हैं—अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य प्रतिबन्ध से रहित होकर सद्रूप ब्रह्म पहले परोक्ष रूप से अवभासित होता था, उसी तत्त्व को अब करस्थ आमले की भाँति अवरोध बोध उत्पन्न करा देते हैं ।६२॥

विशेष - (१) जिससे अधिक और प्रयोजन होता नहीं ऐसा मुख्य प्रयोजन फल है ।

इदानीं परोक्षज्ञानस्य फलमाह -

परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ।
बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥६३॥

अन्वयः परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकं बुद्धिपूर्वकृतं कृत्स्नं पापं वह्निवत् दहति ।

व्युत्पत्तिः—कृत्स्नमित्यत्र, कृती छेदने धातोः 'कृत्यशूभ्या' क्स्नुः (उ०सु०।३१७ कित् गुणाभावे सः । निखिले इत्यर्थः ।

परोक्षेतिः । देशिक पूर्वकं गुरुमुखाल्लब्धं शाब्दं तत्त्वमस्याद्यागमजन्यं परोक्षं ब्रह्म विज्ञानं बुद्धिपूर्वकृतं ज्ञानपूर्वकं यथा भवति तथा कृतं कृत्स्नं समस्तं पापं वह्निवद्दहति ॥६३॥

श्रेष्ठ कर्म और वासना रूप प्रतिबन्ध से रहित हुआ जो "तत्त्वमसि" आदि महावाक्य है वह समाधि से पहले परोक्षरूप से भासते (प्रकाशित) ज्ञात हो रहा था । उसी तत्त्व प्रत्यक्‌रूप ब्रह्म के विषय में हाथ में रखे आँवले को अथवा निर्मल जल[1] प्रकाशित करने वाले अपरोक्ष ज्ञान की तरह अपरोक्ष रूप से तत्त्व प्रकाशन के योग्य ज्ञान को उत्पन्न कर देते हैं ॥६२॥

अब परोक्ष ज्ञान के फल को कहते हैं—

गुरु के मुखारविन्द से प्राप्त हुआ शब्द प्रभावजन्य परोक्ष ब्रह्म विज्ञानबुद्धिपूर्वक किए हुए समस्त (सञ्चित क्रियमाण) पापों को अग्नि की भाँति जला देता है ॥६३॥

ब्रह्मनिष्ठ गुरु के मुख से प्राप्त और तत्त्वमसि महावाक्यों से जन्य परोक्ष विज्ञान ज्ञान पूर्वक बुद्धि पूर्वक (जानकर) किये हुए सम्पूर्ण पापों को अग्नि के समान भस्म कर देता है ॥६३॥

विशेष—(१) हाथ में रखा आमला केवल बाहर से ही जाना जाता है भीतर से नहीं अतएव दूसरा अर्थ निर्मल जल का किया । श्रुति यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम (कठ० २।४।१५)

अद्वैतमध्यनुभवामिकरस्थ विल्वतुल्यंशरीरमहि निर्व्यय वीक्षे एवं च जीवनमिव प्रतिभासमानं निःश्रेयसोऽधिगमनं च मम प्रसिद्धम् । (संक्षेप शा० ४।५५)

अपरोक्षज्ञानफलमाह—

अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ।
संसारकारणाज्ञानतमसश्चण्डभास्करः ॥६४॥

अन्वयः-शाब्दं देशिकपूर्वकम् अपरोक्षात्मविज्ञानं संसारकारणाज्ञानतमसःचण्डभास्करः अस्ति ।

अपरोक्षेति । शाब्दं देशिकपूर्वकं व्याख्यातम् । अपरोक्षात्मविज्ञानमपरोक्षस्यात्मनो[1] विज्ञानं संशय-विपर्ययरहितं[2] यज्ज्ञानं तत्संसारकारणाज्ञानतमसः संसारकारणं यदज्ञानमस्ति तदेव तमसः चण्डभास्करः मध्याह्नकालीनसूर्यो ब्राह्यतमसश्चण्डभास्कर इवाज्ञानतमसो निवर्तक इत्यर्थः ॥६४॥

ग्रन्थाभ्यासफलमाह—

इत्थं तत्त्वविवेकं विधाय विधिवन्मनःसमाधाय ।
विगलितसंसृतिबन्धः प्राप्नोति परं पदं नरो न चिरात् ॥६५॥

अन्वयः—इत्थं तत्वविवेकं विधाय विधिवत् मनः समाधाय विगलितसंसृतिबन्धः नरः न चिरात् परं पदं प्राप्नोति ।

अब अपरोक्ष ज्ञान के फल को कहते हैं—

सद्गुरु के मुखारबिन्द से प्राप्त 'तत्त्वमसि' महावाक्य जन्य अपरोक्ष आत्मविज्ञान संसार के हेतु अज्ञानरूपी तम को दूर करने के लिए मध्याह्न कालीन सूर्य के समान है ॥६४॥

ब्रह्मनिष्ठ गुरु के मुख से प्राप्त तत्त्वमसि आदि महावाक्यों से पैदा हुआ अपरोक्ष ब्रह्म भिन्न आत्मा का संशय विपर्यय रहित अपरोक्ष आत्मा का ज्ञान जन्मादि संसार के कारणभूत अज्ञान अविद्या के लिये मध्याह्न काल का सूर्य रूप है । जैसे सूर्य से अन्धकार का नाश होता है वैसे ही ब्रह्म ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति हो जाती है ॥६४॥

अब ग्रन्थ के अभ्यास का फल कहते हैं—

इस प्रकार तत्त्व का विवेक और विधि पूर्वक मन समाधान करके नष्ट हुआ है संसार रूप बन्धन (अविद्या कार्य) जिसका ऐसा मनुष्य शीघ्र ही परमपद को प्राप्त होता है ॥६५॥

विशेष—(१) अस्ति ब्रह्मेति चेत् वेद सन्तमेनं ततो विदुः । (तै० २।५।३)

(२) संशय एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धकोटि द्वयावगाहि ज्ञानम् । यथास्थाणुर्वा पुरुषो वा इति ।

(३) संसार—पुनर्जन्म (१) मायाकार्य (२) मिथ्या ज्ञान जन्य संस्कार रूपवासना ।

नर इत्थमुक्तेन प्रकारेण तत्त्वविवेकं तत्त्वस्य ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणस्य विवेकं कोशपञ्चकाद्विवेचनं विधाय कृत्वा तस्मिंस्तत्त्वे विधिवच्छास्त्रोक्तप्रकारेण मनः समाधाय स्थिरीकृत्य विगलितसंसृतिबन्धः अपरोक्षज्ञानेन निवृत्तसंसारबन्धः सन् परं पदं निरतिशयानन्दरूपं मोक्षं नचिरादविलम्बेन प्राप्नोति। सत्यज्ञानानन्दलक्षणं ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥६५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमद्भारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकिंकरेण
रामकृष्णेन विरचितायां तात्पर्यदीपिकाख्यायां तत्त्वविवेकाख्यं
प्रथमं प्रकरणं समाप्तम्।

मनुष्य इस पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्म और प्रत्यगात्मा की एकतारूप तत्त्व को पञ्चकोश से विवेक करके (पृथक् जानकर) उस तत्त्व में शास्त्रोक्त प्रकार से मन को स्थिर कर अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा संसार रूप बन्धन को हटाकर सबसे उत्तम परं पद मोक्ष निरतिशय आनन्दरूप को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। अर्थात् सत्य, ज्ञान, आनन्दरूप मोक्ष पद को ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥६५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य स्वामिश्रीकरपात्र शिष्य
श्रीलक्ष्मणचैतन्यब्रह्मचारिविरचित लक्ष्मणचान्द्रिकाख्ये पञ्चदशीहिन्दीव्याख्याने
तत्त्वविवेकाख्यं प्रथमं प्रकरणम् समाप्तम्।

पञ्चभूतविवेकप्रकरणम्

नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
पञ्चभूतविवेकस्य व्याख्यानं क्रियते मया ।।१।।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इति श्रुत्या जगदुत्पत्तेः पुरा यत् जगत्कारणं सद्रूपमद्वितीयं ब्रह्म श्रुतं तस्याऽवाङ्मनसगोचरत्वेन स्वतोऽवगन्तुमशक्यत्वात्तत्कार्यत्वेन तदुपाधिभूतस्य भूतपञ्चकस्य विवेकद्वारा तदवबोधनायोपोद्घातत्वेन भूतपञ्चकविवेकं प्रतिजानीते —

सदद्वैतं श्रुतं यत्तत्पञ्चभूतविवेकतः ।
बोद्धुं शक्यं ततो भूतपञ्चकं प्रविविच्यते ।।१।।

अन्वय सदद्वैतं यत् श्रुतं तत् पञ्चभूत विवेकतः बोद्धुं शक्यं ततः भूतपञ्चकं प्रविविच्यते ।

श्री भारतीतीर्थ और विद्यारण्य मुनि को नमस्कार करके, मैं पञ्चमहाभूतों के विवेक के लिए व्याख्या करता हूँ ।।१।।

हे सौम्य सृष्टि से पहले षट् प्रमाणादि से दीख रहा यह जगत् एक (स्वगत भेद रहित) एव = ही (सजातीय भेद रहित) अद्वितीय (विजातीय भेद रहित) और सत् (त्रिकाला बाधित) ब्रह्म[१] (निरपेक्ष व्यापक) था[२] इस श्रुति से जगत की उत्पत्ति से पूर्व जिस कारण सत्रूप अद्वितीय ब्रह्म का उपदेश सुना है वह ब्रह्म वाणी और मन का विषय नहीं है । अतएव स्वयं ही जाना नहीं जाता । उस ब्रह्म के कार्यभूत उसके उपाधि रूप पञ्चभूतों के विवेक द्वारा उस ब्रह्म का बोध होता है । इस बात को मन में रख पञ्चभूतों का विवेचन करने की भूमिका (उपोद्घात) बांधते हैं—

सद्रूप अद्वैत ब्रह्म को पाँच भूतों के विवेक से ही जाना जा सकता है । इसलिए पञ्चभूतों का ब्रह्म से अतिशय विवेचन करते हैं । उन्हें ब्रह्म से पृथक् दिखाते हैं ।।१।।

विशेष (१) अव्यावृताननुगतं वस्तु ब्रह्मेति भण्यते । ब्रह्मार्थो दुर्लभोऽत्रस्यात् द्वितीये सति वस्तुनि । वृ० वार्तिक में कहा है, जो किसी से व्यावृत नहीं जिसमें कोई धर्म अनुगत नहीं, ऐसी वस्तु को ब्रह्म कहते हैं । दूसरी वस्तु की सत्ता में ब्रह्मार्थ दुर्लभ हो जायेगा ।

(२) यह था भूतकाल, काल की वासना से युक्त शिष्य को समझाने के लिए ही है । इसी प्रकरण दो में ३८वें श्लोक में देखें ।

तत्र तावदाकाशादीनां पञ्चानां भूतानां गुणतो भेदज्ञापनायतद्गुणानाह—

शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गन्धो भूतगुणा इमे ।
एकद्वित्रिचतु:पञ्चगुणा व्योमादिषु क्रमात् ।।२।।

अन्वय—शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गन्धः इमे (पञ्च) भूतगुणाः व्योमादिषु क्रमात् एक, द्वि, त्रि, चतुः पञ्चगुणा (भवन्ति) ।

'शब्देति' नन्वेते गुणाः किं सर्वेषामुत ऐकैकस्यैकैकगुण इति विमर्शयन्नोभयथापि किन्तु प्रकारान्तरमस्तीत्यभिप्रायेणाह एकेति ।।२।।

तदेव प्रकारान्तरं विशदयति

प्रतिध्वनिर्वियच्छब्दो वायौ बीसीति शब्दनम् ।
अनुष्णाशीत:संस्पर्शो वह्नौ भुगुभुगुध्वनिः ।।३।।

अन्वय - वियच्छब्दः प्रतिध्वनिः वायौ बीसीति शब्दनम् अनुष्णाशीतसंस्पर्शः वह्नौ भुगुभुगुध्वनिः ।

'प्रतिध्वनिरिति' आकाशे तावच्छब्द एव गुणः प्रतिध्वनिरूपः । वायौ शब्दस्पर्शौ तत्र वायुशब्दमनुकारेण दर्शयति बीसीतिशब्दनमिति । एवमुत्तरत्रानुकरणशब्दनं द्रष्टव्यम् । तस्य स्पशमाह अनुष्णाशीतः संस्पर्शइति । वह्नौ शब्दस्पर्शरूपाणीति त्रयो गुणाः ते च क्रमेणाभिधीयन्ते । वह्नौ भुगुभुगुध्वनिः ।।३।।

उस विवेक में प्रथम आकाश आदि पांचों भूतों का गुणों के द्वारा भेद जानने के लिए पाँचों भूतों के गुणों को कहते हैं -

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच भूतों के गुण हैं । आकाश आदि पाँच भूतों में क्रमशः एक, दो, तीन, चार, पांच गुण रहते हैं ।।२।।

शंका-क्या ये पाँचों गुण सब भूतों के हैं या एक-एक भूत का एक-एक गुण है इस प्रकार विचार कर एक-एक का एक गुण नहीं है प्रकारान्त है अर्थात् आकाश में एक शब्द, वायु में दो शब्द, स्पर्श, अग्नि में तीन शब्द, स्पर्श, रूप, जल में चार शब्द, स्पर्श, रूप रस । पृथ्वी में पाँच शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध गुण होते हैं ।।२।।

अब उन पाँचों भूतों के असाधारण गुणों को कहते हैं--

आकाश में प्रतिध्वनि रूप शब्द ही मात्र गुण है वायु में 'सी-सी' इसी प्रकार का शब्द तथा अनुष्ण और अशीत स्पर्श रहता है और वह्नि में भुगु-भुगु शब्द है ।।३।।

आकाश में प्रतिध्वनि रूप शब्द ही गुण है । वायु में शब्द, स्पर्श दो है और वायु में बीसी इस अनुकरण का शब्द होता है । इसी प्रकार आगे भी अनुकरण शब्द जानना । वायु में स्पर्श अनुष्णशीत है अर्थात् न शीत न उष्ण और अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप तीन गुण क्रम से हैं और अग्नि में शब्द भुगु-भुगु इस अनुकरण का है ।।३।।

उष्णः स्पर्शः प्रभारूपं जले बुलुबुलुध्वनिः ।
शीतः स्पर्शः शुक्लरूपं रसो माधुर्यमीरितम् ॥४॥

अन्वयः – उष्णः स्पर्शः प्रभारूपं जले बुलुबुलु ध्वनिः शीतस्पर्शः शुक्लरूपं माधुर्यं रसः ईरितं ।

उष्णः स्पर्शः प्रभारूपमिति । जले शब्दादयो रसान्ताश्चत्वारो गुणास्तानाह –जले बुलुबुलुध्वनिः, शीतः स्पर्शः, शुक्लरूपं, रसो माधुर्यमिति ॥४॥

भूमौ शब्दादिगन्धान्ताः पञ्च गुणास्तानुदाहरति—

भूमौ कडकडाशब्दः काठिन्यं स्पर्श इष्यते ।
नीलादिकं चित्ररूपं मधुराम्लादिको रसः ॥५॥

अन्वयः : भूमौ कडकडाशब्दः काठिन्यं स्पर्शः नीलादिकं चित्ररूपं मधुराम्लादिको (षड) रसः इष्यते ।

भूमौ कडकडाशब्द इत्यादिना ॥५॥

उष्ण स्पर्श और भास्वर रूप भी वह्नि का है । जल में बुल-बुल शब्द शुक्ल रूप और मधुर रस रहता है—ऐसा कहा गया है ॥४॥

और पूर्वोक्त अग्नि में स्पर्श उष्ण है और रूप प्रकाशमान शुक्ल है और जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस ये चार गुण हैं । जल में बुल-बुल शब्द है स्पर्श शीतल है और रूप शुक्ल और रस मधुर ही कहा है ॥४॥

भूमि में शब्द से लेकर गन्ध तक पाँच गुणों को कहते हैं –भूमि में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच गुण हैं उनमें शब्द कडकडा अनुकरण का है और स्पर्श कठिन माना है और नीला पीला आदि चित्र रूप हैं और मीठा, खट्टा, लवण, कटु, कसाय, तिक्त ६ प्रकार का रस है ॥५॥

सुरभीतरगन्धौ द्वावित्यन्तेनोक्तमर्थमुपसंहरति—

सुरभीतरगन्धौ द्वौ गुणाः सम्यग्विवेचिताः ।
श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं चेन्द्रियपञ्चकम् ॥६॥

अन्वय—गन्धः सुरभिः इतरश्च द्वौ एवं गुणाः सम्यक् विवेचिताः श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा घ्राणं च इन्द्रियपञ्चकम् ।

गुणा इति । एवं गुणतो भेदमभिधाय कार्यतो भेदज्ञापनाय तत्कार्याणि ज्ञानेन्द्रियाणि तावदाह—श्रोत्रमिति ॥६॥

तेषां स्थानानि व्यापारांश्च दर्शयति—

कर्णादिगोलकस्थं तच्छब्दादिग्राहकं क्रमात् ।
सौक्ष्म्यात्कार्यानुमेयं तत्प्रायो धावेद्बहिर्मुखम् ॥७॥

अन्वयः—तत् कर्णादिगोलकस्थं क्रमात् शब्दादिग्राहकं सौक्ष्म्यात्कार्यानुमेयं प्रायः तत् बहिर्मुखं धावेत् ।

कर्णादीति । इन्द्रियसद्भावे किं प्रमाणमित्याकाङ्क्षायां कार्यलिङ्गकानुमानमित्याह-सौक्ष्म्यादिति तच्च 'रूपोपलब्धिः करणजन्या क्रियात्वाच्छिदिक्रियावद्' इत्यादि द्रष्टव्यम् । सौक्ष्म्यात् अपञ्चीकृतपञ्चभूतकार्यत्वेन[1] दुर्लक्ष्यत्वादित्यर्थः । एतेषां स्वभावमाह—प्राय इति । 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः' (कठ० ४।१) इति श्रुतेरित्यर्थः ॥७॥

सुगन्ध और दुर्गन्ध रूप दो प्रकार का गन्ध है । इस पूर्वोक्त कहे अर्थ का उपसंहार करते हैं—

इस पूर्वोक्त प्रकार से गुणों का भली प्रकार विवेचन किया अब गुणों के भेद को कहकर कार्य से भेद कहने के लिए भूतों के कार्य जो ज्ञानेन्द्रिय प्रथम उनको कहते हैं । श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये पाँचों क्रम से भूतों से पैदा हुई ज्ञान इन्द्रिय है ॥६॥

अब इन्द्रियों के स्थान और व्यापारों को दिखाते हैं—कान आदि स्थानों के छिद्रों में टिकी वे इन्द्रियाँ शब्द आदि को ग्रहण करती हैं और सूक्ष्म होने से कार्यों से अनुमान की जाती हैं और प्रायः बाह्य विषय को ग्रहण के लिए जाती हैं ॥७॥

विशेष—(१) विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध से जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं । पञ्चीकृत भूत और उनके कार्य यथा योग्य इन्द्रियों का विषय है और अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूत और उनका कार्य १० इन्द्रियाँ २ अन्तःकरण और पाँच प्राण इन्द्रियों के विषय नहीं जिससे इन्द्रिय अपञ्चीकृत भूतों के कार्य होने से इन्द्रियजन्य (प्रत्यक्ष) ज्ञान के विषय नहीं हैं । इस प्रत्यक्ष रूप से दुःख से जानने के अयोग्य (दुर्लक्ष्यत्वात् कहा) इनसे अनुमान से जानना ।

प्राय: शब्देन सूचितं क्वचित्करणानामान्तरविषयग्राहकत्वं दर्शयति—

कदाचित्पिहिते कर्णे श्रूयते शब्द आन्तर: ।
प्राणवायौ जाठराग्नौ जलपानेऽन्नभक्षणे ।।८।।

व्यज्यन्ते ह्यान्तरा: स्पर्शा मीलने चान्तरं तम: ।
उद्गारे रसगन्धौ चेत्यक्षाणामान्तरग्रह: ।।९।।

अन्वय —कदाचित् कर्णेपिहिते आन्तर: शब्द: श्रूयते प्राणवायौ जाठराग्नौ जलपाने अन्न भक्षणे ।।८।।

चान्तरा: स्पर्शा: व्यज्यन्ते मीलने च अन्तरं तम: उपलभ्यते उद्गारे रसगन्धौ च गृह्येते इति अक्षाणां आवरग्रह: (भवति) ।।९।।

इन्द्रियों के होने में क्या प्रमाण है ऐसी शंका होने पर अब इन्द्रियों के होने में कार्य है हेतु जिसमें ऐसे अनुमान रूप प्रमाण को कहते हैं। रूप की उपलब्धि (ज्ञान) किसी कारण से जन्य है (उत्पन्न) है। क्रिया होने से जो-जो क्रिया होती है वह करणजन्य होती है। जैसे छेदन क्रिया के समान इस प्रकार चक्षु इन्द्रिय का अनुमान होता है। इसी प्रकार शब्द के ज्ञान आदि से कर्ण आदि का अनुमान करना। वे इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं अपञ्चीकृत पञ्चभूतों का कार्य होने से इतनी सूक्ष्म हैं कि दिखायी नहीं देती अब इन्द्रियों के स्वभाव को कहते हैं। प्राय: ये इन्द्रियाँ बहिर्मुख होकर दौड़ती हैं अर्थात् बाह्य विषयों को ग्रहण करती हैं। आत्मा को नहीं वह ही इस श्रुति में लिखा है। ब्रह्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है इसलिए पुरुष बाहर की ओर देखता है भीतर अपने आत्मा को नहीं। स्वयंभू नाम ब्रह्मा का भी है परन्तु इन्द्रियों की उत्पत्ति ब्रह्मदेव से पूर्व ही सिद्ध है। अतएव यहाँ परमात्मा ही अर्थ है ।।७।।

प्राय: शब्द से सूचित किया जो इन्द्रियों को अन्तर विषय का ग्रहण करना भी दिखाते हैं—

कभी-कभी कानों को अंगुली द्वारा बन्द कर देने पर प्राण वायु और जठराग्नि का आन्तर शब्द सुनाई पड़ता है। जलपान में और अन्न भक्षण में आन्तर स्पर्श प्रतीत होता है ओर नेत्र को बन्द कर लेने पर आन्तर अन्धकार भासता है तथा डकार आने पर भीतर के रस एवं गन्ध का ज्ञान विदित हो जाता है। इस प्रकार इन इन्द्रियों से आन्तर विषय का ग्रहण होता है ।।८-९।।

कदाचिदिति द्वाभ्याम् । कदाचित्कर्णस्य पिधाने कृते सति प्राणवायौ जाठराग्नौ च विद्यमान आन्तरः शब्दः श्रूयते । जलपानेऽन्नभक्षणे चान्तरस्पर्शा अभिव्यज्यन्ते अभिव्यक्ता भवन्ति । नेत्रनिमीलने कृते आन्तरं तम उपलभ्यते । उद्गारे जाते रसगन्धौ द्वौ गृह्येत इत्यनेन प्रकारेणाक्षाणामान्तरग्रहः । अक्षाणामिति कर्तरि षष्ठी । आन्तरस्य विषयस्य ग्रहो ग्रहणम् । इन्द्रियकर्तृकमान्तरविषयग्रहणं भवतीत्यर्थः ॥८-९॥

एवं ज्ञानेन्द्रियव्यापारानभिधाय कर्मेन्द्रियासत्त्ववादिनं प्रति तत्सद्भावसमर्थनाय तल्लिङ्ग-भूतांस्तद्व्यापारानाह—

पञ्चोक्त्याऽऽदानगमनविसर्गानन्दकाः क्रिया ।

कृषिवाणिज्यसेवाद्याः पञ्चस्वन्तर्भवन्ति हि ॥१०॥

अन्वय :—उक्तिः आदानम् गमनम् विसर्गः आनन्दकाः क्रियाः पञ्च, कृषिवाणिज्यसेवाद्याः हि पञ्चसु अन्तर्भवन्ति ।

पञ्चेति । उक्तिश्चाऽऽदानं च गमनं च विसर्गश्च आनन्दश्चेति द्वन्द्वसमासः । उक्त्याऽऽदानगमन-विसर्गानन्दाख्याः पञ्चक्रियाः प्रसिद्धा इति शेषः । ननु कृष्यादीनां क्रियान्तराणामपि सत्त्वात्कथं पञ्चेत्युक्तमित्याशङ्क्याह कृषीति ॥१०॥

कभी-कभी कानों को हाथ आदि से ढाँपने पर प्राण वायु और पेट की अग्नि का आन्तर (भीतरी) शब्द भी सुनाई देता है । जल पीते और अन्न खाते समय शीत उष्ण आदि भीतर के स्पर्श प्रकट हो जाते हैं । आँख बन्द करने पर शरीर के भीतर का अन्धेरा दीख पड़ता है । डकार या वमन आने पर भीतर के रस तथा गन्ध दोनों का ग्रहण होता है । इन्द्रियाँ भीतर के विषयों का भी ग्रहण किया करती है । अक्षाणां इन्द्रियों का यह षष्ठी विभक्ति है वह कर्ता में है । इस रीति से इन्द्रिय रूपकर्ता का क्रिया कर्म है आन्तर विषय का ग्रहण होता है यह अर्थ है ॥८-९॥

इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों के व्यापारों (कार्य) को कहकर अब जो कर्मेन्द्रिय की सत्ता न मानने वाले नैयायिक आदि के सन्मुख कर्मेन्द्रियों की सत्ता सिद्ध करने के लिए प्रथम कर्मेन्द्रियों के हेतु रूप व्यापारों का वर्णन करते हैं—

वचन, आदान, गमन, विसर्ग और आनन्द ये पाँच क्रियाएँ हैं । क्योंकि कृषि, वाणिज्य सेवा आदि क्रियाएँ उन्हीं पाँचों के अन्तर्गत आ जाती है ॥१०॥

कानि तानि क्रियाजनकानीन्द्रियाणीत्यत आह—

वाक्पाणिपादपायूपस्थैरक्षैस्तत्क्रियाजनिः ।

मुखादिगोलकेष्वास्ते तत्कर्मेन्द्रियपञ्चकम् ॥११॥

अन्वयः—वाक् पाणिपाद पायू उपस्थैः अक्षैः तत् क्रिया जनिः मुखादि गोलकेषु तत् कर्मेन्द्रिय पञ्चकं आस्ते।

वाक्पाणीति । वागादिभिरक्षैस्तत्क्रियाजनिः तासां क्रियाणामुत्पत्तिर्भवतीति शेषः । अत्रापि 'उक्तिः करणपूर्विका क्रियात्वात्' इत्यादिकार्यलिङ्गकमनुमानं द्रष्टव्यम् । तस्य कर्मेन्द्रियपञ्चकस्य स्थानान्याह - मुखादीति । आदिशब्देन करचरणौ गुदशिश्नच्छिद्रे च गृह्येते ॥११॥

वचन, आदान, गमन, विसर्ग, (मल का त्याग) विषयानन्द ये पाँच क्रियाएँ जगत में प्रसिद्ध है। कृषि वाणिज्य आदि का भी सब क्रियाएँ इन्हीं पाँचों के अन्तर्गत आ जाती है। यहाँ प्रसिद्ध पद शेष (वाक्य) शेष है वाक्य पूर्ति के अर्थ वा/ अवशेष रहे पद का बाहर से अधिक कथन का नाम वाक्य शेष इसी को अध्याहार भी कहते हैं ॥१०॥

अब क्रिया जनक उन्हीं इन्द्रियों को कहते हैं—

(कर्मेन्द्रियाँ और उनके गोलक)

वाणी, हाथ, चरण, गुदा, लिङ्ग इन कर्मेन्द्रियों से उक्ति, ग्रहण, गमन विसर्ग, आनन्द ये पाँचों क्रियायें क्रम से उत्पन्न होती है और ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ मुख, हाथ, पैर, गुदा, छिद्र और शिश्न छिद्र इन पाँच गोलकों में स्थित है ॥११॥

वाणी, हाथ, चरण, गुदा, लिङ्ग इन इन्द्रियों से उन पूर्व क्रियाओं की उत्पत्ति होती है। यहाँ भी "वचन क्रिया करणपूर्वक है क्रिया होने के जैसे छेदन क्रिया" इस प्रकार अनुमान समझना चाहिए। अब पाँचों के कर्मेन्द्रियों के स्थानों को कहते हैं। मुख आदि गोलकों के विषे अर्थात् मुख, चरण, कर, गुदा, लिङ्ग इन पाँचों स्थानों में वे पाँच कर्मेन्द्रियाँ रहती हैं ॥११॥

विशेष १—सर्व पदार्थ प्रधान समास।

इदानीमुक्तदशेन्द्रियप्रेरकत्वेन प्रस्तुतस्य मनसः कृत्यं स्थानं च दर्शयति—

मनो दशेन्द्रियाध्यक्षं हृत्पद्मगोलके स्थितम् ।
तच्चान्तःकरणं वाह्येष्वस्वातन्त्र्याद्विनेन्द्रियैः ॥१२॥

अन्वयः -मनः दशेन्द्रियाध्यक्षं हृत्पद्मगोलके स्थितं तत्त्वं अन्तःकरणम् वाह्येषु इन्द्रियैः । अस्वातन्त्र्यात् ।

मन इति । तस्यान्तरिन्द्रियत्वं सनिमित्तकमाह—तच्चेति ॥१२॥

दशेन्द्रियाध्यक्षत्वमेव विशदयति—

अक्षेष्वर्थार्पितेष्वेतद्गुणदोषविचारकम् ।
सत्त्वं रजस्तमश्चास्य गुणा विक्रियते हि तैः ॥१३॥

अन्वयः—अक्षेषु अर्थार्पितेषु एततगुणदोषविचारकं सत्त्वं रजः तमः च अस्य (मनसः) गुणा हि तैः विक्रियते ।

व्युत्पत्तिः -अक्षः -अशु व्याप्तौ धातोः पचादित्वात् अचि अक्षः इति ।

अब पूर्वोक्त दशों इन्द्रियों का प्रेरक होने से प्रस्तुत अर्थात् प्रकरण से प्राप्त जो मन उसके कार्य और स्थान को दिखाते हैं—

मन भीतर की इन्द्रिय उसके कार्य स्थान को कहते हैं। मन दश इन्द्रियों का प्रेरक होने से उनका अधिपति है और हृदय कमलरूप गोलक में स्थित है। वह मन इन्द्रियों के बिना वाह्य शब्द आदि में स्वतन्त्रता से प्रवृत्त नहीं होता ।

यद्यपि पाद पीड़ा शिर के मुख का एक साथ ज्ञान होता है। क्योंकि यह ज्ञान मन से सम्बन्ध हुए बिना सम्भव नहीं। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि मन का निवास सारे शरीर में है। केवल हृदय में नहीं. तथापि विशेषतया हृदय में मन का मुख्य स्थान है। अतएव हृदय को मन का निवास स्थान कहा है, जैसे दीपक का प्रकाश घर भर में है। तथापि विशेषकर बत्ती वाले पात्र दीये में ही होने से वह उसका मुख्य स्थान है ।१२॥

अब मन की दशों इन्द्रियों की अध्यक्षता को दिखाते हैं-इन्द्रियों को विषयों पर पहुँचाकर गुण और दोषों का विचार का कर्ता मन है और उसके सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण हैं कि उनसे वह विकार को प्राप्त होता है ॥१३॥

अक्षेष्विति । अक्षेष्विन्द्रियेष्वर्थार्पितेषु विषयेषु स्थापितेषु सत्सु एतन्मनो गुणदोषविचारकम् । इदं समीचीनमिदमसमीचीनमित्यादिविचारकारीत्यर्थः । अयं भावः आत्मनः प्रमातृत्वेन सर्वज्ञानसाधारण्याच्चक्षुरादीनां रूपादिज्ञानजननमात्रे चरितार्थत्वात्तद्गुणदोषविचारस्योपलभ्यमानस्यान्यथानुपपत्त्या[1] तत्कारणत्वेन मनोऽभ्युपगन्तव्यमिति । मनसो वैराग्यकामाद्यनेकविधवृत्तिमत्त्वप्रदर्शनाय सत्त्वादिगुणवत्त्वं दर्शयति–सत्त्वमिति तेषां तद्गुणत्वे कारणमाह–विक्रियते इति । हि यतः तैर्गुणैर्विक्रियते विकारं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥१३॥

गुणैस्तस्य विक्रियमाणत्वमेव प्रपञ्चयति--

वैराग्यं क्षान्तिरौदार्यमित्याद्याः सत्त्वसंभवाः ।
कामक्रोधौ लोभयत्नावित्याद्या रजसोत्थिताः ।
आलस्यभ्रान्तितन्द्राद्या विकारास्तमसोत्थिताः ॥१४॥

अन्वयः– वैराग्यं क्षान्तिः औदार्यं इत्याद्याः सत्वसम्भवाः कामक्रोधौ लोभयत्नौ इत्याद्याः रजसोत्थिताः आलस्यभ्रान्तितन्द्राद्याः विकाराः तमसोत्थिताः (भवन्ति) ।

वैराग्यमिति । स्पष्टत्वान्न व्याख्यायते ॥१४॥

जब ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषय में लगी होती हैं तो यह मन 'यह अच्छा है यह बुरा' है इस प्रकार गुण दोष का विचार करता है। अभिप्राय यह है कि (चिदाभास सहित अन्तःकरणोपहित चेतन) आत्मा तो प्रमाता है, इससे सब ज्ञानों में साधारण हैं और चक्षु आदि इन्द्रियाँ रूपादि विषयों का ज्ञानमात्र उत्पन्न करती है, इसलिए गुण दोष का विचार वे तो कर नहीं सकते, तो यह गुण दोष का विचार कौन करता है ? यह बात दूसरी रीति से उपपन्न (सिद्ध) नहीं होती--अतएव इस गुण दोष विचार का कारण मन को स्वीकार करना पड़ता है और मन का वैराग्य काम आदि अनेक प्रकार की वृत्तियों के दिखाने के लिए मन के सत्त्व आदि गुणों को दिखाते हैं । सत्त्व,[2] रज, और तम ये तीनों मन के गुण हैं। क्योंकि इनसे ही मन विकार को प्राप्त होता है ॥१३॥

अब गुणों से मन के विचार को कहते हैं--

सत्त्व गुण से उत्पन्न शान्त वृत्तियाँ वैराग्य, क्षमा, उदारता आदि और रजो गुण से उत्पन्न वृत्तियाँ काम, क्रोध, लोभ, प्रयत्न आदि और तमोगुण से उत्पन्न वृत्तियाँ आलस्य, भ्रान्ति, तन्द्रा आदि होते हैं ॥१४॥

विशेष--(१) अन्यथाऽनुपपत्ति=और प्रकार से असम्भव, देवदत्त मोटा दिवा न भुक्ते रात्रौ पिनत्वात् पीनत्व का असम्भव ज्ञान ।

(२) सत्वगुण प्रकाश रूप रजोगुण प्रवृत्ति रूप, तमो गुण मोह जाड्य स्वभाववाच् ।

वैराग्यादीनां कार्याणि विभज्य दर्शयति

सात्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः पापोत्पत्तिश्च राजसैः ।
तामसैर्नोभयं किंतु वृथायुःक्षपणं भवेत् ॥१५॥

अन्वयः—सात्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः राजसैः पापोत्पत्तिश्च तामसैः उभयन्न किन्तु वृथायुः क्षपणं भवेत् ।

ऐतेषां बुद्धिस्थत्वादन्तः करणादीनां सर्वेषां स्वामिनमाह--

अत्राहं प्रत्ययी कर्तेत्येवं लोकव्यवस्थितिः ॥१६॥

अन्वयः—अत्र अहं प्रत्ययीकर्ता इति एवं लोकव्यवस्थितिः ।

अत्रेति । अहं इति प्रत्ययवान्कर्ता प्रभुरित्यर्थः । लोके हि कार्यकारी प्रभुरित्येवमुपदिश्यते ॥१६॥

एवं जगतः स्थितिमभिधाय इदानीं तस्य भौतिकत्वज्ञानोपायमाह—

स्पष्टशब्दादियुक्तेषु भौतिकत्वमतिस्फुटम् ।
अक्षादावपि तच्छास्त्रयुक्तिभ्यामवधार्यताम् ॥१७॥

अन्वय :—स्पष्टशब्दादियुक्तेषु भौतिकत्वं अतिस्फुटं अक्षादावपि तत् शास्त्रयुक्तिभ्यां (भौतिकत्वं) अवधार्यतां ।

वैराग्य आदिकों के कार्यों को विभाग कर दिखाते हैं—

सत्त्वगुणी विकारों से पुण्य की और रजोगुणी विकारों से पाप की उत्पत्ति होती है और तामस वृत्तियों से कुछ भी न पुण्य न पाप) उत्पन्न नहीं होता, किन्तु वृथा ही आयु का नाश हो जाता है ॥१५॥

इन सबको बुद्धि में स्थित होने से अन्तःकरण आदि सबके स्वामी का वर्णन करते हैं—

अत्र इन अन्तःकरण[1] आदि सबमें जो अहं बुद्धि को करे वह कर्ता[2] प्रभु है। यह लोक की मर्यादा है अर्थात् कार्य के कर्ता को प्रभु कहते हैं ॥१६॥

इस प्रकार जगत् की स्थिति को कहकर अब जगत भी भौतिक है। इस ज्ञान के उपाय को कहते हैं—

(जगत की भौतिकता का निश्चय)

प्रकट शब्द आदि से युक्त घट, पट आदि में भौतिकता स्पष्ट है और इन्द्रिय आदिकों में भी भौशिष्य शास्त्र और युक्ति से तुम भौतिकता निश्चय करो ॥१७॥

विशेष—(१) आदि शब्द से अन्तःकरण की वृत्ति इन्द्रियादि सबका ग्रहण ।

(२) अहं मैं इस वृत्ति वाला कर्ता प्रभु-मैं कर्ता भोक्ता प्रमाता सुखी दुःखी ऐसे अन्तःकरण में अहं प्रत्यय, अहं वृत्ति वाला और मैं वैराग्यवान् क्षमावान, उदार, कामी, क्रोधी, लोभी, प्रत्ययशील और भ्रान्त इत्यादिक ऐसी अन्तःकरण की वृत्तियों अहं प्रत्ययवाला साभास अहंकार ।

स्पष्टेति । स्पष्टशब्दादियुक्तेषु स्पष्टैः शब्दस्पर्शादिगुणैः सहितेषु घटादिषु वस्तुषु भूतकार्यत्वं स्पष्टमेवावगम्यते । इन्द्रियादिषु कथं भूतकार्यत्वनिश्चय इत्याशङ्क्य आगमानुमानाभ्यामित्याह अक्षादाव-पीति । 'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्' (छा० ६।५।४) इत्यादि शास्त्रम्, अनुमानं च विमतानि श्रोत्रादीनि भूतकार्याणि भवितुमर्हन्ति भूतान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् यद्यदन्वय व्यतिरेकानुविधायि तत्तत्कार्यं दृष्टं, यथा मृदन्वयव्यतिरेकानुविधायी घटो मृत्कार्यो दृष्टः तथा चेमानि तस्मात्तथेति' । तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं च 'षोडशकलः सोम्य पुरुषः' (छा० ६।७।१) इत्यादिना छान्दोग्यश्रुतौ मनसः श्रुतं तद्वदन्यत्रापि द्रष्टव्यम् ।।१७।।

स्पष्ट जो शब्द स्पर्श आदि गुण उनसे युक्त घट आदिकों में भूतों की कार्यता प्रकट दिखायी देती है । शंका-इन्द्रिय आदि (आदि अर्थात् मन मनोवृत्ति प्राण और देह) भी भूतों के कार्य हैं । इनका निश्चय कैसे होगा इस शंका का उत्तर है, इनका निश्चय आगम अनुमान से होता है यही बताते हैं । हे सोम्य निश्चय ही मन अन्नमय हैं प्राण आपोमय है और वाणी तेजोमय है । इन्द्रियाँ भौतिक हैं इसकी सिद्धि के लिए अनुमान इस प्रकार है । श्रोत आदि इन्द्रियाँ भौतिक हैं । क्योंकि वे भूतों के अन्वय, व्यतिरेक के अनुसारी हैं । जो वस्तु जिस वस्तु के अन्वय व्यतिरेक की अनुविधायी (अनुकूल) होती है, वह उस वस्तु का कार्य होती देखी गयी है । जैसे मृत्तिका के अन्वय तथा व्यतिरेक का अनुसारी घट मृत्तिका का कार्य है । ऐसे ही श्रोत आदि इन्द्रियाँ भी भूतों के अन्वय, व्यतिरेक की अनुसारी हैं । इसलिए भूतों के कार्य हैं 'षोडशकलः सोम्य पुरुषः' अर्थात् पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड में समाया ब्रह्म से अभिन्न प्रत्यगात्मा पुरुष अविद्या से अपने में आरोपित १६ कलाओं (अवयवों) वाला (वस्तुतः ब्रह्म निष्कल है)[1] प्रश्न उ० के छठे प्रश्न में १६ कलाएँ गिनाई गयी हैं । उनमें मन भी एक कला है । वह मन समष्टि प्राण (मिले हुए सूक्ष्म भूतों का कार्य है । इसलिए मन भूतों के अन्वय, व्यतिरेक का अनुसारी है । कर्मेन्द्रिय और प्राण आदि के विषय में भी ऐसे ही समझ लेना चाहिए ।।१७।।

विशेष—(१) सप्राणमसृजत प्राणच्छ्रद्धां खं वायु र्ज्योति रापः पृथिवीन्द्रियम् । मनोऽन्नमन्नात् वीर्यं तपो मन्त्राः कर्मलोका लोकेषु नाम च । प्र० ६।४।

एवं भूतानि भौतिकानि च विविच्य दर्शयित्वा प्रकृतां 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१) इत्यादि अद्वितीयब्रह्मप्रतिपादिकां श्रुतिं व्याचक्षाणस्तद्वाक्यस्थेदंपदस्यार्थ माह –

एकादशेन्द्रियैर्युक्त्या शास्त्रेणाप्यवगम्यते ।
यावत्किंचिद्भवेदेतदिदंशब्दोदितं जगत् ॥१८॥

अन्वयः–एकादशेन्द्रियैः युक्त्या शास्त्रेणापि अवगम्यते यावत् किञ्चित् जगत् भवेत् एतत् इदं शब्दोदितम् ।

व्युत्पत्तिः– जगत् - गच्छतीति जगत् गम्धातोः द्वित्वे चुत्वे तुकि अनुनासिकलोपे जगत् संसारः ।

एकादशेति । प्रत्यक्षादिभिः सर्वैः प्रमाणैरपिशब्दादर्थापत्त्यादिप्रमाणज्ञानैश्चयावत्किंचिज्जगदवगम्यते तत्सर्वं 'सदेव' (६।२।१) इत्यादिवाक्यस्थेन इदं पदेनाभिहितमित्यर्थः ॥१८॥

इस प्रकार भूतों और उनके कार्य भौतिकों को पृथक-पृथक दिखलाकर अब अद्वितीय ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली 'सदेव सो०' की व्याख्या करते हुए पहले इदं पद का अर्थ बतलाते हैं

पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा मन सहित एकादश इन्द्रियों से शब्दादि विषयों वचन आदि सब क्रियाओं और मुख आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । युक्ति अनुमान प्रमाण का नाम है शास्त्र शब्द प्रमाण को कहते हैं । इससे शब्द प्रमा के विषय परोक्ष स्वर्ग, धर्म आदि का ज्ञान होता है । अपि शब्द से शेष उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, प्रमाणों का ग्रहण होता है । इस प्रकार इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार है । प्रत्यक्ष-अनुमान और उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि प्रमाणों के ज्ञान से जितना कुछ जगत जाना जाता है । (इन छः प्रमाणों का विषय प्रपञ्च है) वह प्रपञ्च सदेव इत्यादि श्रुति में "इदं[1]" पद का अर्थ है ॥१८॥

विशेष १—इदं पद का अर्थ—वर्तमान काल का सम्मुख देश से सम्बन्ध होता है । इसलिए सब प्रमाणों से जन्य ज्ञान का विषय, परोक्ष, अपरोक्ष, भूत, भविष्यत् और वर्तमानकाल में होने वाले पदार्थ के रूप में विद्यमान प्रपञ्च इदं शब्द का अर्थ नहीं हो सकता । परन्तु सर्वज्ञ ईश्वर अथवा सर्वज्ञ उद्दालक मुनि की दृष्टि में सब पदार्थ प्रत्यक्ष एवं सन्मुख देश में स्थित से और सब कालों में एक रस दीखने के कारण वर्तमान ही है । इसलिए ईश्वर अथवा उद्दालक मुनि द्वारा उच्चारित इस श्रुति में आये 'इदं' पद का अर्थ सर्वकाल सम्बन्धी सर्वपदार्थ है ।

एवं 'इदं' शब्दस्यार्थमभिधाय इदानीं तां श्रुतिं स्वयमेवार्थतः पठति—

इदं सर्वं पुरा सृष्टेरेकमेवाद्वितीयकम् ।
सदेवाऽऽसीन्नामरूपे नास्तामित्यारुणेर्वचः ॥१९॥

अन्वयः—इदं सर्वं सृष्टेः पुरा एकमेवाद्वितीयकं सदेवाऽसीत् नामरूपे नास्तां इति आरुणेः वचः ।

इदमिति । अरुणस्यापत्यमारुणिरुद्दालकः तस्य वचनमित्यर्थः ॥१९॥

'एकमेवाद्वितीयम्' इति पदत्रयेण सद्वस्तुनि स्वगतादिभेदत्रयं प्रसक्तं निवारयितुं लोके स्वगतादि-भेदत्रयं तावद्दर्शयति—

वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः ।
वृक्षान्तरात्सजातीयो विजातीयः शिलादितः ॥२०॥

अन्वयः—वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः ज्ञेयः वृक्षान्तरात् सजातीयः शिलादितः विजातीयः भेदः वृक्षस्येति ॥२०॥

अब इदं शब्द के अर्थ को कहकर उसी श्रुति के अर्थ को स्वयं ही पढ़ते हैं—

आरूणि ऋषि के पुत्र उद्दालक ने अपने पुत्र से कहा—यह प्रतीयमान जगत् सृष्टि से पूर्व (जैसा अब दिखाई पड़ रहा है वैसा नहीं था, किन्तु) एक ही अद्वितीय रूप सत् कारण ही था उस समय नाम और रूप (आकार) कुछ नहीं थे ॥१९॥

इस श्रुति में 'एकम्' एव 'अद्वितीयम्' ये तीन पद आये हैं—ये सत् वस्तु में (ब्रह्म) में तीनों प्रकार के भेदों की प्राप्ति होने पर भेदों का निवारण करते हैं। कैसे यह बताने से पूर्व लोक में तीनों प्रकार के भेदों का वर्णन करते हैं—

स्वगत अर्थात् 'अंग' से किये गये भेद का नाम स्वगत भेद हैं। वृक्ष का उसके पत्ते फूल-फल आदि से जो भेद है वह स्वगत भेद है। दूसरे वृक्ष से इसका भेद सजातीय है और पत्थर आदि विरुद्ध जाति वालों से जो भेद है वह विजातीय भेद है ॥२०॥

एवमनात्मनि भेदत्रयं प्रदर्श्य सद्वस्तुन्यपि प्रसक्तं तत् भेदत्रयं श्रुतिः पदत्रयेण निवारयतीत्याह—

तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते ।
ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात् ।।२१।।

अन्वयः—तथा सद्वस्तुनः प्राप्तं (सजातीय विजातीय स्वगत) भेदत्रयं ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधैः एकं एव अद्वितीयं इति त्रिभिः पदैः क्रमात् निवार्यते ।

तथेति । वस्तुत्वसामान्यादनात्मनीव सद्रूपात्मवस्तुन्यपि प्रसक्तं स्वगतादिभेदत्रयं[1] ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधाभिधायकैरेकमेवाद्वितीयमिति त्रिभिः पदैः क्रमेण निवार्यत इत्यर्थः ।।२१।।

सद्वस्तुनस्तावन्न स्वगतभेदः शङ्कितुं शक्यते, अस्य निरवयवत्वादित्याह—

सतो नावयवाः शङ्क्यास्तदंशस्यानिरूपणात् ।
नामरूपे न तस्यांशो तयोरद्याप्यनुद्भवात् ।।२२।।

अन्वय :—सतो अवयवाः संदशस्य अनिरूपणात् न शङ्क्याः नामरूपे तस्यांशो न तयोः अद्यापि (सृष्टिकालेपि) अनुद्भवात् ।

इस प्रकार अनात्मा में तीनों भेदों को दिखाकर सत् वस्तु (ब्रह्म) में भी प्राप्त उन तीनों भेदों को श्रुति के तीन पदों से निवारण करते हैं—

वैसे ही सत् वस्तु में भी स्वगत आदि भेद एक 'एक' 'एव' अद्वितीय (एक ही अद्वैत) था । इन तीन पदों से निवारण करते हैं आगामी श्लोक में ।।२१।।

सत् वस्तु (ब्रह्म) भी वस्तु है–उस ब्रह्म में भी अनात्म=आत्मा से भिन्न के समान पाये प्राप्त हुए । अर्थात् सत् वस्तु में भी तीन भेद होने चाहिए । परन्तु श्रुति में आये एकता अवधारण और द्वैत का प्रतिषेध-इन तीन अर्थों का वाचक 'एक' 'एव' अद्वितीय ये तीन क्रमशः स्वगत, 'सजातीय' और 'विजातीय' भेदों को नहीं रहने देते।।२१।।

सत् वस्तु को अवयव रहित होने से स्वगत भेद की शंका नहीं कर सकते, इसका वर्णन करते हैं--

उस सत् वस्तु के भी अवयव होंगे ऐसी शंका मत करना । क्योंकि उसके अंश का निरूपण नहीं हो सकता । (स्वगत भेद होने के लिए अवयवों का होना आवश्यक है, परन्तु सत् वस्तु के अवयवों के स्वरूप का निरूपण वे कैसे हैं ऐसा निर्णय आज तक नहीं हो सका ।।२२।।

विशेष--(१) भेद परस्पर अभाव का नाम भेद है । जैसे घट और पट का उसमें परस्पर अनुयोगी आश्रय प्रतियोगी निरूपक होता है ।

सत इति । नामरूपयोः सदवयवत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्य सृष्टे[1]: पुरा तयोरभावान्न सदंशत्व-मित्याह—नामेति ॥२२॥

कुतो नामरूपयोरभाव इत्याशङ्क्याह—

नामरूपोद्भवस्यैव सृष्टित्वात्सृष्टितः पुरा ।
न तयोरुद्भवस्तस्मान्निरंशं सद्यथा वियत् ॥२३॥

अन्वयः—नामरूपोद्भवस्यैव सृष्टितः पुरासृष्टित्वात् न तयोः (नामरूपयोः) उद्भवः तस्मात् वियत् यथा सत् निरंशं अस्ति ।

व्युत्पत्तिः—वियत् = विपूर्वात् यम्धातोः अन्येभ्योऽपि दृश्यते इति क्विपि क्वौ च गमादीनां इति मलोपः वियच्छतीति वियत् आकाशः ।

नामरूपेति । फलितमाह—तस्मादिति । अत्रायं प्रयोगः सद्वस्तुस्वगतभेदशून्यं भवितुमर्हति निरवयवत्वाद्गगनवदिति[2] ॥२३॥

नाम रूप सत् वस्तु के अवयव क्यों नहीं है इस शंका का समाधान सृष्टि से पूर्व सत् वस्तु में नाम रूप का अभाव था । अब भी प्रतीति मात्र होने से नाम रूप का अभाव ही है । नाम रूप को सत् का अंश मानना सम्भव नहीं है । क्योंकि अब तक सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व तक नाम और रूप की उत्पत्ति ही नहीं होती ॥२२॥

क्यों सृष्टि से पूर्व नाम रूप का अभाव था इस शंका का उत्तर नाम[3] रूप के होने को ही सृष्टि कहते हैं । अतएव सृष्टि से पहले नामरूप नहीं हो सकते, इससे सिद्ध हुआ सत् वस्तु ब्रह्म आकाश के समान निरवयव पदार्थ है ॥२३॥

सद् वस्तु स्वगत भेद शून्य है अवयव रहित होने से आकाश के समान है ॥२३॥

विशेष –(१) सृष्टिर्नाम ब्रह्मरूपे सच्चिदानन्द वस्तुनि । अब्धौफेनवत् सर्वनामरूपप्रसारणम् ॥वाक्य सुधा १४॥ समुद्र के फेन आदि के समान ब्रह्मरूप सच्चिदानन्द में समस्त नाम रूप की उत्पत्ति को सृष्टि कहते हैं । ब्रह्मरूप वस्तु में तत्त्व से कोई विकार न होते हुए भी नाम रूप प्रतीति मात्र का नाम सृष्टि है । यह सब ब्रह्म का विवर्त है । 'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् । श्री भ०गी० अ० १३।१६। वह ब्रह्म व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक तथ्यों में भी अपृथक् रहता हुआ भी पृथक्-पृथक् सा दिखाई पड़ता है । अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् । आद्यत्रयं ब्रह्म रूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् । (अस्ति भाति और परम रूप नाम ये पाँच अंश हैं । इनमें आदि के तीन ब्रह्म रूप हैं और अन्त के दो जगत।रूप हैं)

मा भूत्स्वगतभेदः, सजातीयभेदः किं न स्यादित्याशङ्क्य तत्सजातीयं सदन्तरमिति वक्तव्यं, न तन्निरूपयितुं शक्यते, सतो वैलक्षण्याभावादित्याह—

सदन्तरं सजातीयं न वैलक्षण्यवर्जनात् ।
नामरूपोपाधिभेदं बिना नैव सतो भिदा ॥२४॥

अन्वयः—सदन्तरं सजातीयं वैलक्षण्यवर्जनात् नामरूपोपाधिभेदं बिना सतः भिदा नैव ॥

सदन्तरमिति । ननु घटसत्ता पटसत्तेति सतो भेदः प्रतिभासते इत्याशङ्क्य घटाकाशमठाकाशवदौपाधिक भेदो न स्वतो भातीत्याह नामरूपोपाधिभेदमिति । अत्रायं प्रयोगःसद्वस्तु सजातीयभेदरहितं भवितु मर्हति उपाधिपरामर्शमन्तरेणाविभाव्यमानभेदत्वाद्गगनवदिति । २४॥

ठीक है स्वगत भेद भले ही न हो किन्तु सजातीय भेद क्यों नहीं होता इस शंका का समाधान करते हैं कि सद्वस्तु का सजातीय दूसरा कोई सत् है यह कहना पड़ेगा । किन्तु उसका निरूपण नहीं हो सकता क्यों कि सद्वस्तु विलक्षण नहीं होता, किसी सद्वस्तु से अनेक सत् नहीं होते फिर दूसरी सद्वस्तु न होने से सजातीय भेद नहीं हो सकता यह कहते हैं -

सत् से सजातीय भेद तभी सम्भव है जब कि दूसरा सजातीय सत् हो विलक्षणता का अभाव से और नाम रूप उपाधि के बिना सत् का भेद कैसे हो सकता है ॥२४॥

यदि शंका करो कि 'घटसत्ता' 'पटसत्ता' इस प्रकार सत् का भेद देखते हैं । इसका उत्तर देते हैं क्योंकि घटाकाश, मठाकाश के समान नाम रूप उपाधि के भेद विना सत् स्वतः भेद नहीं हो सकता है । सद्वस्तु सजातीय भेद से रहित होने योग्य है । क्योंकि उपाधि भेद के विना उसमें कोई भेद प्रतीत नहीं होता जैसे आकाश में स्वतः कोई भेद नहीं होता तो भी घट, मठ आदि उपाधियों के भेद से उसमें भेद की भ्रान्ति होने लगती है ॥२४॥

विशेष २—नाम रूप दो सत् के अंश नहीं । 'सत्' ऐसा नाम तो व्यवहार के निमित्त कहा है और 'रूप' जो स्थूल, सूक्ष्म, ह्रस्व, दीर्घ आकार जो सत् के हैं नहीं । अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम् ।बृ० ३। ।८॥ (अस्थूलं अनणु अह्रस्वं अदीर्घम्) श्रुति में आकार का निषेध से । सत्-चित्, आनन्दादिक् सत् वस्तु के अवयव नहीं किन्तु स्वरूप हैं । किससे कटुता-सुगन्धता-शीतलता रूप तीन गुण चन्दन के हैं । किन्तु भिन्न नहीं किये जा सकते । वैसे सत्, चित् आनन्द भिन्न नहीं होते—(१) सत् से जो चित् आनन्द भिन्न होने से तो जड़ और दुःख रूप होने से असत् होंगे । (२) और चित् से जो सत् और आनन्द के भिन्न होने से जो असत् और दुःख रूप होने से जड़ होगा (३) आनन्द जो सत चित से भिन्न होने से दुःख रूप होगा, इससे परस्पर भिन्न नहीं, किन्तु जो ब्रह्म सत (अवाध्य) है वह चित (अलुप्त प्रकाश) है । जो चित है वह आनन्द, दुःख सम्बन्ध से रहित है इस रीति से सत आदि के सद् वस्तु ब्रह्म के स्वरूप हैं, गुण या अवयव नहीं । इससे सत् निरवयव है ।

३—आकाशस्तल्लिङ्गात् । ब्र०सू० १।१।२२॥
अकाशोऽर्थान्तरत्वादि व्यपदेशात् । १।३।४१॥

भवतु तर्हि विजातीयाद्भेद इत्याशङ्काय सतो विजातीयमसत्तस्यासत्त्वेनैव प्रतियोगित्वासंभवेन तत्प्रतियोगिकोऽपि भेदो नास्तीत्याह—

विजायीयमसत्तत्तु खल्वस्तीति गम्यते ।
नास्यातः प्रतियोगित्वं विजातीयाद्भिदा कुतः ॥२५॥

अन्वयः --विजातीय असत् तत्तु खलु न अस्तीति गम्यते अतः अस्य प्रतियोगित्वं न विजातीयाद्भिदा कुतः ।

व्युत्पत्तिः —भिदा = भिदिर्विदारणे धातोः भिदादित्वात् अङ्टापि भेदः इत्यर्थः ।

फलितमाह —

एकमेवाद्वितीयं सत्सिद्धमत्र तु केचन[1] ।
विह्वला[2] असदेवेदं[3] पुरासीऽऽदित्यवर्णयन् ॥२६॥

अन्वयः—केचन अत्रतु एकमेवाद्वितीयं सत् सिद्धं विह्वला (अन्ये) असदेवेदं पुरा आसीत् इति अवर्णयन् ।

एकयेवेति । इदानीं स्थूणानिखननन्यायेन सदद्वैतमेव द्रढयितुं पूर्वपक्षमाह अत्र त्विति ॥२६॥

शंका सत् का विजातीय से भेद हो तो निषेध करते हैं सत् का विजातीय असत् होगा । वह असत् नहीं है इस निश्चय से जाना जाता है इससे वह असत् सत् से भिन्न है । इस भेद का प्रतियोगी नहीं हो सकता, इसलिए वह असत् प्रतियोगी भी नहीं बन सकता—

सत् का विजातीय असत् है । वह असत् है ऐसा निश्चय पूर्वक ज्ञान नहीं हो सकता है इसलिए वह असत् प्रतियोगी भी नहीं बन सकता, तब भला सत् वस्तु में विजातीय वस्तु से भी भेद कैसे सिद्ध हो सकता है ॥२५॥

फलित अर्थ अर्थात् (सद्रूप अद्वैतब्रह्म) को सिद्ध करने के लिए पूर्व पक्ष का उत्थापन किया जाता है—

एक ही अद्वैत तत्त्व सद्रूप ब्रह्म है, यही सिद्ध हो गया, किन्तु इस विषय में कुछ वादी व्याकुल होकर कहने लगते हैं कि सृष्टि से पूर्व यह दृश्यमान नाम रूपात्मक जगत् असद्रूप में रहा ॥२६॥

विशेष १—माध्यमिकाख्य शून्यवादी बौद्ध ।

२—एतेन तद्धैक आहुरसदेवेकमग्र आसीत् । छा० ६।२।१॥ इति श्रुति ।

३—विह्वला कहने का तात्पर्य यह है कि वेद को प्रमाण ने मानने वाले लोग जो तर्क और युक्ति के आधार पर जगत् को असत् सिद्ध कर रहे थे वे हमारे तर्कों से घबड़ाकर पानी से डूबते हुए व्यक्ति की तरह उपनिषद् के मन्त्रों का सहारा लेने लगे यही उनका विह्वलत्व है ।

विह्वलत्वे दृष्टान्तमाह

मग्नस्याब्धौ यथाऽक्षाणि विह्वलानि तथाऽस्य धीः ।
अखण्डैकरसं श्रुत्वा निष्प्रचारा बिभेत्यतः ।।२७।।

अन्वयः –अब्धौ मग्नस्य यथा अक्षाणि विह्वलानि (भवन्ति) तथा अस्य धीः अखण्डैकरसं (वस्तु) श्रुत्वा अतः निष्प्रचारा बिभेति ।।

मग्नस्येति । दार्ष्टान्तिके योजयति-तथेति । अस्यासद्वादिनः । जातावेकवचनम् । धीरन्तःकरणमखण्डैकरसं वस्तु श्रुत्वा[1] निःप्रचारा साकारवस्तुनीवाखण्डैकरसे वस्तुनि प्रचाररहिता सती अतोऽस्माद्वस्तुनो बिभेति ।।२७।।

इससे एक अद्वितीय सद्वस्तु सिद्ध हुआ । अब यहाँ स्थूणनिखनन न्याय से जैसे खूँटे को हिला-हिलाकर देखते हैं कि मजबूत गड़ा है या नहीं वैसे ही सत् अद्वैत को दृढ़ करने के लिए पर्व पक्ष द्वारा हिलाकर फिर समाधान से दृढ़ करते हैं । इस अद्वितीय सिद्धि से विह्वल हुए कोई (शून्य वादियों का पूर्व पक्ष केवल इसलिए उद्धृत किया है कि सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में किसी प्रकार की अदृढ़ता न रह जावे) पूर्व पक्षी यह जगत् असत् रूप ही पहले हुआ यह वर्णन करते हैं ।।२६।।

अब उनके विह्वल होने में दृष्टान्त देते हैं--

जिस प्रकार समुद्र में डूबे हुए व्यक्ति की इन्द्रियाँ व्याकुल हो जाती हैं उसी प्रकार असत्वादी की बुद्धि भी अखण्ड एक रूप सच्चिदानन्द ब्रह्म को सुनकर आश्चर्य चकित हो जाती हैं ।।२७।।

जैसे समुद्र में डूबते मनुष्य की इन्द्रियाँ व्याकुल हो घबड़ा जाती हैं वैसे ही इस असद्वादी मन अखण्डैकरस वस्तु को सुनकर गति रहित होकर (न पहुँचकर) इस वस्तु रूप ब्रह्म से डरती है । क्योंकि उसकी बुद्धि का प्रचार साकार वस्तु में हो रहा था उसका मन अखण्ड एक रस वस्तु को सुनकर घबराती हैं ।।२७।।

विशेष १—इस असत्वादी की बुद्धि अखण्ड एक रस वस्तु को सुनकर साकार वस्तु की तरह अधिष्ठान ब्रह्म के अज्ञान से अन्तरदृष्टि रहित बहिर्मुख शून्यवादी की और उसके तुल्य अन्य अज्ञानी पुरुषों की जैसे भाव अभावरूप आकार युक्त वस्तु में बुद्धि की प्रवृत्ति होती है । वैसे निराकार ब्रह्म में प्रवृत्ति होती नहीं इससे शून्य की कल्पना करते हैं ।

उक्तार्थे आचार्यसंमतिं दर्शयति—

गौडाचार्या निर्विकल्पे समाधावन्ययोगिनाम् ।
साकारब्रह्मनिष्ठानामत्यन्तं भयमूचिरे ॥२८॥

अन्वयः—गौडाचार्याः अन्ययोगिनां निर्विकल्पे समाधौ साकारब्रह्मनिष्ठानां अत्यन्तं भयं ऊचिरे । गौडाचार्या इति ॥२८॥

केन वाक्येनोक्तवन्तः इत्याकाङ्क्षायां तदीयं वार्तिकमेव पठति—

अस्पर्शयोगो[1] नामैष दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥२९॥

अन्वयः—अस्पर्शयोगो नाम एषः सर्वयोगिभिः दुर्दशः अभये भयदर्शिनः योगिनः हि अस्मात् बिभ्यति ।

अस्पर्शेति—योऽयमस्पर्शयोगाख्यो निर्विकल्पः समाधिः एष सर्वयोगिभिः साकारध्याननिष्ठैर्दुर्दर्शः दुःखेन द्रष्टुं योग्यः दुष्प्राप इत्यर्थः । तत्रोपपत्तिमाह—योगिन[2] इति । हि यस्मात्कारणाद्योगिनः पूर्वोक्त द्वैतदर्शिनः अभये भयशून्ये समाधौ निर्जने देशे बाला इव भयदर्शिनो भयहेतुत्वं कल्पयन्तः अस्मादस्पर्श-योगाद्भीतिं प्राप्नुवन्ति ॥२९॥

अब उक्त अर्थ में आचार्यों की सम्मति कहते हैं—

गौडाचार्य ने भी यह बात कही है कि द्विभुज, चतुर्भुज आदि साकार ब्रह्म के उपासक योगियों को इस निर्विकल्प समाधि में भय लगा रहता है ॥२८॥

किस वाक्य से गौडाचार्य ने भय कहा उसी वाक्य को कहते हैं—

यह जो अस्पर्शयोगनाम[3] की निर्विकल्प[4] समाधि है उसका दर्शन साकार ब्रह्म में निष्ठ (स्थित) ध्यान करने वाले किसी भी योगियों को दुःख से देखने योग्य है । अर्थात् वे इस समाधि

विशेष—(१) जिसका स्पर्श (सम्बन्ध) वर्ण आश्रम आदि धर्म पाप रूप, मल अथवा किसी भी अनात्म वस्तु से नहीं होता और जो जीव को ब्रह्म भाव से जोड़ता है । वह अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार अस्पर्श योग नाम से प्रसिद्ध है ।

(२) ध्याता ध्यानादि रूप त्रिपुटी की कल्पना से रहित समाधि निर्विकल्प समाधि है ।

(३) अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखोहितः । अविवादोऽविरुद्धश्चदेशिनस्तं नमाम्यहम् ॥मा० का० अलात = २॥ शास्त्रों में जिस सम्पूर्ण प्राणियों के लिए सुखकर हितकरी, निर्विवाद और अविरोधी अस्पर्शयोग का उपदेश किया गया है उसे मैं नमस्कार करता हूँ ।

(४) नान्तःप्रज्ञं न वहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं । माण्डूक्योपनिषद्कारिका अद्वैत प्रकरणम् ॥२९॥

श्री मदाचार्यैरप्येतदभिहितमित्याह—

भगवत्पूज्यपादाश्च शुष्कतर्कपटूनमून् ।
आहुर्माध्यमिकान्भ्रान्तानचिन्त्येऽस्मिन्सदात्मनि ॥३०॥

अन्वयः—भगवत्पूज्यपादाश्च शुष्कतर्कपटून् अमून् भ्रान्तान् माध्यमिकान् अचिन्त्येस्मिन् सदात्मनि आहुः ।

तद्वार्तिकं पठति—

अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यादिमे बौद्धास्तमस्विनः ।
आपेदिरे निरात्मत्वमनुमानैकचक्षुषः ॥३१॥

अन्वयः—इमे तमस्विनः बौद्धाः मौर्ख्यात् श्रुतिं अनादृत्य (अनुमानैकचक्षुषः निरात्मत्वं आपेदिरे ।

को नहीं लगा सकते । वे द्वैत के दर्शी योगी भय से रहित समाधि में भय देखने वाले योगी जननिर्जन देश में बालकों के समान डरते हैं भय के कारण की कल्पना कर इस अस्पर्शयोग रूप निर्विकल्प समाधि से डरते हैं ॥२९॥

श्रीमान् शङ्कराचार्यों ने भी यही कहा है—

और भगवान् पूज्यपाद[1] श्री शङ्कराचार्य ने भी शुष्क[2] तर्क कुशल इन (माध्यमिक मत के अनुयायी शून्यवादीबौद्धों) को अचिन्त्य इस सदात्मा के विषय में सदा भ्रम में रहने वाला बताया है ॥३०॥

उनके वार्तिक को कहते हैं—

ये तमोगुणी[3] (अज्ञानी) बौद्ध अपनी मूर्खता से अर्थात् अल्पज्ञ होते हुए भी अपने आप को सर्वज्ञ मानते हुए श्रुति की बात को मानकर निःस्वरूप शून्य भाव निरात्मक को मान बैठे हैं । क्योंकि वे शास्त्र को छोड़कर मुख्यतया अनुमान की ही आँख से देखते हैं ॥३१॥

विशेष—(१) ऐश्वर्य सम्पन्न राजा आदि अथवा पाद पाद्मादि विष्णु आदि के अवतार जिनके चरणों को पूजते हैं, अथवा भगवान् गोविन्द पाद अपने गुरू के चरण जिनको पूज्य हैं, वे शङ्कराचार्य ।

(२) शुष्क तर्कों में कुशल (१) अनिष्ट के आपादन रूप, वा, (२) नवीन अर्थ की कल्पना रूप जो तर्क है वह तर्क-सुतर्क-कुतर्क भेद से दो प्रकार की है । श्रुति अविरुद्ध सुतर्क और श्रुति विरुद्ध दुष्तर्क वह कुतर्क विरस और निष्फल होने से शुष्क तर्क कहते हैं । नास्तिक वेदों को प्रमाण नहीं मानते, इससे सो शुष्क तर्कों में पटु कुशल है ।

(१) तमस्वी अज्ञान रूप अन्धकार से युक्त और (मूर्खता (से अल्पज्ञता होने से सर्वज्ञता का अभिमान रूप मूर्खता से) ।

इदानीमसद्वादं विकल्प्य दूषयति—

शून्यमासीदिति ब्रूषे सद्योगं वा सदात्मताम् ।
शून्यस्य न तु तद्युक्तमुभयं व्याहृतत्वतः ॥३२॥

अन्वयः—शून्यं आसीत् इति ब्रूषे सदात्मतां सद्योगं वा शून्यस्य तु उभयं व्याहृतत्वत.. न तद्युक्तं ।

शून्यमिति । "शून्यमासीत्" इत्यनेन वाक्येन शून्यस्य सत्ताजातीययोगं वा सद्रूपतां वा ब्रूषे इति विकल्पार्थः । तदुभयं सत्तासम्बन्धसद्रूपत्वलक्षणं शून्यस्य व्याहृतत्वान्न युज्यत इत्यर्थः ॥३२॥

व्याहृतत्त्वमेव दृष्टान्तपूर्वकं द्रढयति—

न युक्तस्तमसा सूर्यो नापि चासौ तमोमयः ।
सच्छून्ययोर्विरोधित्वाच्छून्यमासीत्कथं वद ॥३३॥

अन्वयः—सूर्यः तमसायुक्तः न असौ च तमोमयः अपि न सत्शून्ययोः विरोधित्वात् शून्यं आसीत् इति कथं वद॥

अब विकल्प करके असत् वाद में दूषण देते हैं—

शून्य या ऐसा शून्य का सत्ता से सम्बन्ध अथवा शून्य की सद्रूपता को मानते हो, किन्तु शून्य का सम्बन्ध और सद्रूपता ये दोनों ही पक्ष सिद्ध नहीं होते क्योंकि दोनों पक्षों में व्याघात दोष आ जाता है ॥३२॥

हे शून्यवादी यह तो बताया कि—शून्य था इस तुम्हारे अपने वाक्य से तुम शून्य के साथ "सत्ता जाति" (होना) का योग मानता है या शून्य को "सदात्मा" (सत् स्वरूप) ही मान लेते हो इस प्रकार विकल्प करके शून्य के ये दोनों पक्ष सिद्ध नहीं होते क्योंकि दोनों अवस्था में व्याघात[1] दोष आता है । इसलिए न तो शून्य के साथ सत्ता का सम्बन्ध है और न शून्य कभी सद्रूप ही हो सकता है ।

अब दृष्टान्त पूर्वक व्याघात को दिखाते हैं—

जैसे सूर्य न तो अन्धकार से युक्त ही हो सकता है और न वह कभी तमोमय ही हो सकता है । वैसे ही सत् और शून्य का परस्पर विरोध है इसलिए हे शून्यवादी तब बता कि शून्य था यह तुम्हारा वचन कैसे बनता है ? व्याघात दोष के कारण तुम्हारा यह कथन सर्वथा असंगत है ॥३३॥

विशेष—(१) उस शून्य को असत् भी कहते हो और फिर उसको अन्धकार युक्त अथवा अन्धकार रूप सूर्य की तरह सत् सम्बन्धी वा सद् रूप भी कहते हो इसलिए व्याघात दोष है ।

ननु भवन्मते वियदादीनां निर्विकल्पे ब्रह्मणि सत्त्वं व्याहतमित्याशङ्क्याह—

वियदादेर्नामरूपे मायया सुविकल्पिते ।

शून्यस्य नामरूपे च तथा चेज्जीव्यतां चिरम् ॥३४॥

अन्वयः—वियदादेः नामरूपे माया सुविकल्पिते शून्यस्य नामरूपे च तथा चेत् चिरं जीव्यतां ।

वियदादेरिति । तर्हि शून्यस्यापि नामरूपे सद्वस्तुनि कल्पिते इति वदतो बौद्धस्यापसिद्धान्त इत्यभिप्रायेणाह—शून्यस्येति ॥३४॥

ननु तर्हि शून्यस्येव सद्वस्तुनोऽपि नामरूपे कल्पिते एवाङ्गीकर्तव्ये भवन्मते वास्तवयोर्नामरूपयोरभावादिति शङ्कते :—

सतोऽपि नामरूपे द्वे कल्पिते चेत्तदा वद ।

कुत्रेति निरधिष्ठानो न भ्रमः क्वचिदीक्ष्यते ॥३५॥

अन्वयः—सतोऽपि नामरूपे कल्पिते चेत् तदा कुत्र इति वद क्वचित् निरधिष्ठानो भ्रमः न ईक्ष्यते ।

सतोऽपीति । विकल्पासहत्वादयं पक्ष एवानुपपन्न इत्यभिप्रायेण परिहरति-तदेति । अयमभिप्रायः सतो नामरूपे किं सति कल्पिते उतासति, अथवा जगति ? नाद्या अन्यस्य रजतादेर्नामरूपयोरन्यत्र शुक्तिकादावारोपदर्शनात् सतो नामरूपयोः सत्येव कल्पनायोगात् । न द्वितीयः असतो निरात्मकस्य चाधिष्ठानत्वायोगात् । न तृतीयः सत उत्पन्नस्य जगतः सन्नामरूपकल्पनाधिष्ठानत्वानुपपत्तेरिति । मा भूदधिष्ठानम्, अनयोः कल्पना किं न स्यादित्याशङ्क्याह निरधिष्ठान इति ॥३५॥

ननु 'असदेवेदमग्र आसीत्' (छा० ३।१९।१, ६।२।१) इत्यत्र यथा व्याघात उक्तः तथा सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१) इत्यत्रापि ।

शंका वेदान्त के सिद्धान्त में भी निर्विकल्प ब्रह्म में आकाश आदिकों की सत्ता संगत नहीं होती । अर्थात् व्याघात दोष है इस शंका की निवृत्ति के लिए कहते हैं—

आकाशादि का तो नाम और रूप दोनों ही माया द्वारा सद्रूप ब्रह्म कल्पित है । यदि शून्य का भी नाम और रूप सद्वस्तु में कल्पित मानते हो तो चिरकाल तक जीते रहो ॥३४॥

आकाश आदि के नाम तथा रूप तो सत् ब्रह्म में माया द्वारा कल्पित है । यदि ऐसा बौद्ध कहे कि इसी प्रकार शून्य के नाम रूप भी कल्पित हैं । तब तो भाई ऐसा कहने वाला बौद्ध जुग-जुग जीवे अर्थात् इस प्रकार तो वह ठीक सिद्धान्त पर आ गया । अपने सिद्धान्त को छोड़कर वेदान्त के सिद्धान्त को मानने वाले बौद्ध का यह उपहास ही है ॥३४॥

कोई शंका करे कि शून्य के समान सत् वस्तु ब्रह्म के भी कल्पित नाम रूप का अंगीकार क्यों नहीं करते क्योंकि वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार वास्तविक (सच्चा) नाम रूप कोई नहीं है ऐसी शंका करके उत्तर देते हैं—

दोषोऽस्तीति शङ्कते—

सदासीदिति शब्दार्थभेदे वैगुण्यमापतेत् ।
अभेदे पुनरुक्तिः स्यान्मैवं लोके तथेक्षणात् ॥३६॥

अन्वयः—सदासीत् इति शब्दार्थभेदे सति वैगुण्यं आपेतत् अभेदे पुनरुक्तिः स्यात् मैवं लोके तथेक्षणात् ।

सदासीदितीति । तथाहि सदासीदिति शब्दभेदयोरर्थभेदोऽस्ति न वा ? अस्ति चेदद्वैतहानिः नास्ति चेत्पुनरुक्तिः स्यात्, अतः 'सदासीत' इत्यनुपपन्नमिति द्वितीयं पक्षमादाय परिहरति—'मैवमिति' पुनरुक्तिदोषस्य कः परिहार इत्याशङ्कयाह 'लोक इति' ।३६।

सत् के भी नाम रूप दोनों कल्पित हैं तो कहाँ कल्पित हैं यह कहो क्योंकि बिना अधिष्ठान के कहीं नहीं देखा ॥३५॥

क्योंकि यह पक्ष इस विकल्प से नहीं हो सकता इस अभिप्राय से समाधान करते हैं । हे शून्यवादी यह तो बताओ कि सत् के नामरूप किस-किस में कल्पित हैं । यहाँ तीन पक्ष सम्भव है (१) सत् के नाम रूप की कल्पना सत् में करते हो (२) अथवा असत् में (३) अथवा जगत में ।

(१) प्रथम पक्ष तो बनता नहीं क्योंकि रजत आदि के नाम रूप की कल्पना उससे भिन्न शुक्ति आदि में दिखायी पड़ती है । इसलिए सत् के नाम रूप की कल्पना सत् में ही नहीं हो सकती ।

(२) असत् की तो सत्ता ही नहीं है इसलिए असत् में भी असत् की सत्ता शून्य होने से भ्रम की अधिष्ठानता का असम्भव है भ्रम असत् में नाम रूप की कल्पना किसमें हो ।

(३) तीसरा पक्ष भी नहीं सिद्ध होता क्योंकि सत् से पैदा हुआ जगत सत् के नाम रूप का अधिष्ठान नहीं हो सकता । कदाचित् कहो कि बिना अधिष्ठान के ही नाम रूप की कल्पना क्यों नहीं कर लेते । उत्तर देते हैं अधिष्ठान रहित भ्रान्ति कभी कहीं नहीं दिखाई पड़ी ॥३५॥

सत् आसीत्-सत् था इस वाक्य में "सत् और था" इन दोनों शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं या नहीं यदि कहो शब्द अर्थ भिन्न हैं तब तो अद्वैत पक्ष सिद्ध न होगा सिद्धान्त भंग रूप विरुद्धता आ जाती है । यदि अर्थ को अभिन्न मानो तो पुनरुक्ति दोष हैं इससे सत् हुआ यह नहीं बन सकता, ऐसा मत कहो यदि अभेद है तो पुनरुक्ति दोष का क्या परिहार है इस शंका में कहते हैं पुनरुक्ति दोष इसलिए नहीं है कि लोक में व्यवहार में समानार्थक शब्दों का प्रयोग देखा जाता है ॥३६॥

लोके एवंविधेषु प्रयोगेषु पुनरुक्त्यभावः कुत्र दृष्ट इत्याशङ्क्याह—

कर्तव्यं कुरुते वाक्यं ब्रूते धार्यस्य धारणाम् ।
इत्यादिवासनाविष्टं प्रत्यासीत्सदितीरणम् ॥३७॥

अन्वयः—कर्तव्यं कुरुते वाक्यं ब्रूते धार्यस्य धारणां करोति इत्यादि वासनाविष्टं प्रत्यासीत्सत् इति ईरणं ॥

कर्तव्यमिति । भवत्वेवं लोके श्रुतौ किमायातमित्यत आह—'इत्यादीति' ॥३७॥

नन्वद्वितीये वस्तुनि भूतकालाभावात् 'अत्र आसीत्' इत्युक्तिरनुपपन्नेत्याशङ्क्याह—

कालाभावे पुरेत्युक्तिः कालवासनया युतम् ।
शिष्यं प्रत्येव तेनात्र द्वितीयं न हि शङ्क्यते ॥३८॥

अन्वयः—कालाभावे पुराइत्युक्तिः कालवासनया युतं शिष्यं प्रत्येव तेन अत्र द्वितीयं न हि (कल्पयितुं) शक्यते ॥

कालेति । ननुजगदुत्पत्तेः पुराजगदभावेन सद्वितीयत्वं ब्रह्मण इत्याशङ्क्यश्रुति प्रवृत्तेः द्वैतवासना-विष्टश्रोतृप्रतिबोधनार्थत्वात् नातिशङ्कनीयमित्याह-'तेनेति' ॥३८॥

शंका यह जगत सृष्टि से पहले असत् ही था । यहाँ जैसे तुमने व्याघात दोष कहा वैसे ही हे सोम्य सृष्टि से पहले सत् हुआ यहाँ भी दोष है । यह शंका का आशय है —

'सत् आसीत्' इस वाक्य में सत् एवं आसीत् इन दोनों शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं अथवा इन दोनों शब्दों के अर्थ एक ही हैं ? इन दोनों शब्दों के अर्थ को भिन्न-भिन्न मानने पर अद्वैतवाद की हानि हो जायेगी और अभेदात्मक है तो पुनरुक्ति दोष आ पड़ेगा, ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि लोक व्यवहार में कैसा देखने में आता है ॥३६॥

लोक में इस प्रकार प्रयोगो में पुनरुक्तिदोष के अभाव का स्थल दिखाते हैं—

कर्तव्य करता है, वाक्य बोलता है । धारण करने योग्य वस्तु को धारण करता है । इत्यादि वासनाओं से युक्त शिष्य के प्रति सत् आसीत् सत् हुआ । इस वाक्य का कथन उपदेश है ॥३७॥

इदानीं सिद्धान्तरहस्यमाह–

चोद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषया ।
अद्वैतभाषया चोद्यं नास्ति नापि तदुत्तरम् ॥३९॥

अन्वयः—चोद्यं वा परिहारो वा द्वैतभाषया क्रियतां अद्वैतभाषयाचाद्यं नास्ति तदुत्तरं अपि न ।

व्युत्पत्तिः– चोद्यं = चुद प्रैरणे धातोः यत् प्रत्यये चोद्यं इति कर्तव्यमित्यर्थः ।

चोद्यमिति । व्यवहारदशायां चोद्यादिकर्तव्यं, परमार्थतस्तु अद्वैतमेव तत्त्वमित्यर्थः ॥३९॥

जगत् की उत्पत्ति से पहले जगत् का प्राग्[१] अभाव था, अत एव ब्रह्म सद्वतीयम् अर्थात् दूसरा ब्रह्म है इस शंका के उत्तर में कहते हैं ब्रह्म में काल का अभाव होने पर भी पहले हुआ । यह कहना काल की वासना से युक्त अर्थात् श्रुति का यह कथन तो द्वैत के संस्कार रूप वासनाओं वाले श्रोता को समझाने के लिए है, इससे ब्रह्म में द्वितीय की शंका नहीं हो सकती ॥३८॥

शंका करो कि अद्वितीय वस्तु में भूतकाल का अभाव है इससे पहले सत् हुआ यह कहना बन नहीं सकता सो ठीक नहीं–

काल के अभाव होने पर भी 'पुरा' पूर्वकाल में श्रुति का यह कथन भूत आदि रूप कालवासना से युक्त शिष्य के प्रति ही है इससे श्रुति वाक्य में कालादि द्वितीय वस्तु की कल्पना नहीं करनी चाहिए ॥३८॥

अब सिद्धान्त के तत्त्व को कहते हैं—

शंका समाधान तो द्वैतभाषा (अज्ञानी की दृष्टि से आरोपित द्वैत को प्रत्यक्ष करने की भाषा) में अर्थात् व्यवहार दशा में ही सम्भव है अद्वैतभाषा में अर्थात् परमार्थ से तो अद्वैत ही परमार्थ वस्तु है । इसलिए परमार्थ से न शंका न उसका उत्तर है । किन्तु एक अद्वैत ब्रह्म रूप तत्व ही है ॥३९॥

विशेष १—अनादिः सान्तः प्रागभावः ।
२—सकल आरोप सहित मन और वाणी का निरोध (अपवाद) करके निर्गमक ब्रह्म की बोधक भाषा (अद्वैतभाषा में) प्रश्न उत्तर नहीं बनते ।

परमार्थतो द्वैताभावे स्मृतिं प्रमाणयति—

तदा स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते ॥४०॥

अन्वयः –तदा स्तिमितगम्भीरं न तेजः न तमः अनाख्यं अनभिव्यक्तं सत् किञ्चित् अवशिष्यते ।

तदेति । स्तिमितं निश्चलं गम्भीरं दुरवगाहं मनसा विषयीकर्तुमशक्यं । न तेजः तेजस्त्वानधिकरणं न तमः तमसो विलक्षणं अनावरणस्वभावं ततं व्याप्तम्, अनाख्यं व्याख्यातुमशक्यम्, अनभिव्यक्तं चक्षुरादिभिरप्यविषयीकृतं सत् शून्यविलक्षणं अत एव किंचिदिदन्तया निर्देष्टुमशक्यमवशिष्यते । द्वैतनिषेधावधित्वेनावतिष्ठत इत्यर्थः ॥४०॥

अब परमार्थ से द्वैत के अभाव में स्मृति प्रमाण को कहते हैं—

उस समय निश्चल गम्भीर न तेज है न तम है किन्तु कथन के अयोग्य अप्रकट सत् व्यापक जो कुछ शेष रहता है वही ब्रह्म है ॥४०॥

क्रिया रहित (कूटस्थ निर्विकार) गम्भीरं दुःख ग्राह्य मन से भी जानने को अशक्य, तेज से भिन्न (तेजत्त्व जाति का आश्रय) अर्थात् कार्य कारण का अभाव न तेज का विरोधी तम (अन्धकार) है तम से भिन्न उसका आवरण (ढकना) स्वभाव नहीं (अनावरण स्वभाव) व्यापक अकथनीय कहने के अयोग्य अप्रकट चक्षु आदि इन्द्रियों का अविषय सत् शून्य से विलक्षण इससे किञ्चित् रूप, जिसको यह है ऐसे कहकर नहीं दिखा सकते अर्थात् यह शब्द से अभिधेय कुछ पदार्थ शेष रहता है। सम्पूर्ण द्वैत का निषेध करते-करते निषेध की अवधि के रूप में जो तत्व शेष रहता है, जिसका निषेध नहीं हो सकता वह शेष रहा तत्व 'सत्' है ॥४०॥

विशेष १ —तेज रूप तेजसत्व जाति का जैसे सब घटों में घटत्वरूप जाति है और सब ब्राह्मणों में ब्राह्मण त्वरूप जाति है। वैसे सूर्य, चन्द्र आदि सर्व तेज प्रकाशों में तेजस्त्व जाति रूप धर्म है उसका अनाश्रयत्व है पर प्रकाश और मिथ्या सूर्यादिक ज्योतियों से विलक्षण स्वयं प्रकाश और सत्य होने से।

ननु अनिमत्त्वेनानित्यस्य भूम्यादेरसत्त्वमस्तु, नित्याकाशस्य असत्त्वं कथमङ्गीक्रियत इति शङ्कते—

ननु भूम्यादिकं[1] मा भूत्परमाण्वन्तनाशतः ।
कथं ते वियतोऽसत्त्वं बुद्धिमारोहतीति चेत् ॥४१॥

अन्वयः—ननु परमाण्वन्तनाशतः भूम्यादिकं मा भूत् ते बुद्धिं वियतः असत्त्वं कथमारोहति चेत् इति ।

दृष्टान्तावष्टम्भेन परिहरति—

अत्यन्तं निर्जगद्व्योम यथा ते बुद्धिमाश्रितम् ।
तदैव सन्निराकाशं कुतो नाश्रयते मतिम् ॥४२॥

अन्वयः—अत्यन्तं निर्जगत् व्योम यथा ते बुद्धिं आश्रितं तदैव सन्निराकाशं मतिं कुतो नाश्रयते ।

अत्यन्तमिति । अत्यन्तं निर्जगत् जगन्मात्ररहितमित्यर्थः ॥४२॥

शंका उत्पत्ति वाले अनित्य भूमि जल आदि अनित्य हैं। नित्य आकाश की असत्ता, अनित्यता कैसे अङ्गीकार करते हैं ऐसी शंका है—

परमाणु पर्यन्त पदार्थों का नाश हो जाने पर भूमि, जल, वायु और अग्नि न रहे यह तो हम मान सकते हैं, परन्तु नित्य आकाश की अनित्यता तुम्हारी बुद्धि में कैसे आरूढ़ होती हैं। अर्थात् आकाश को सत् ऐसा कोई कहे तो ॥४१॥

दृष्टान्त से उक्त शंका का परिहार (समाधान) करते हैं—

हे वादिन् जैसे तुम्हारी बुद्धि में यह आया है कि यह आकाश सम्पूर्ण जगत् से रहित भी हो सकता है। वैसे ही और कुछ और अधिक आगे बढ़कर तुम यह क्यों नहीं समझ लेते कि सत् (ब्रह्म) भी आकाश रहित हो सकता है ॥४२॥

विशेष—(१) वादी शंका करते हैं—अपने पक्ष में शिथिल हुआ जो वादी वह नैयायिक की रीति से मूल श्लोक में शंका करते हैं। ननु पृथिवी, जल, तेज, वायु के परमाणु रूप अवयव के नाश होने से नाश। नैयायिकों के मत में पृथिवी आदि चार भूतों के उपादान रूप परमाणु नित्य माने हैं। उनका नाश उनके मत में है नहीं। इससे यहाँ नाश शब्द प्रतीयमान जो सूक्ष्म रजकण वह (त्र्यणुक) त्रिसरेणु है। उसके तीसरे भाग का नाम अणु और छठे भाग का नाम परमाणु है।

'न हि दृष्टेऽनुपपन्नम्' इति न्यायमाश्रित्य चोदयति—

निर्जगद्व्योम दृष्टं चेत्प्रकाशतमसी विना ।
क्व दृष्टं किं च ते पक्षे न प्रत्यक्षं वियत्खलु ॥४३॥

अन्वयः—निर्जगद् व्योम प्रकाशतमसी विना दृष्टं चेत् क्व दृष्टं किञ्च ते पक्षे वियत् खलु न प्रत्यक्षम् ।

निर्जगदिति । दर्शनमेवासिद्धमिति परिहरति –'प्रकाशेति' । अपसिद्धान्तोऽपीत्याह–'किं चेति' ।४३।

ननु दर्शनाभावः सद्वस्तुन्यपि समान इत्याशङ्क्य सतः सर्वानुभव[1]सिद्धत्वान्नैवमित्याह—

सद्वस्तु शुद्धं त्वस्माभिर्निश्चतैरनुभूयते ।
तूष्णीं स्थितौ न शून्यत्वं शून्यबुद्धेश्च वर्जनात् ॥४४॥

अन्वयः—निश्चितैः अस्माभिः शुद्धं सद्वस्तु तु अनुभूयते तूष्णीं स्थितौ शून्यबुद्धेश्च न शून्यत्वम् ।

सद्वस्त्विति । ननु तूष्णींभावे शून्यमेव, इतरस्य कस्यापि प्रतीत्यभावादित्याशङ्क्य शून्यस्यापि शून्यप्रतीत्यभावाच्छून्यमपि न सम्भवतीत्याह—न शून्यत्वमिति ॥४४॥

देखे हुए पदार्थ को असम्भव कैसे मान लूँ, इस न्याय का आश्रय लेकर शंका—

आकाश को जगत से रहित देखा है । यह कहना तुम्हारा असिद्ध है। क्योंकि सूर्य आदि के प्रकाश और अन्धकार के बिना अकेले आकाश को तुमने देखा ही कहाँ है। इन दोनों के बिना कभी रहता ही नहीं । फिर तुम्हारे पक्ष में निश्चय से आकाश इन्द्रियों का विषय (प्रत्यक्ष) नहीं हो सकता ॥४३॥

कदाचित् शंका करो कि दर्शन का अभाव तो सत् वस्तु के विषय में भी समान हैं । अर्थात् सत् का भी प्रत्यक्ष नहीं होता इस शंका का उत्तर यह है । सत ब्रह्म तो सबको अनुभव से सिद्ध है—

निश्चय दशा में सत् शुद्धवस्तु का तो हमें अनुभव होता है और शून्य बुद्धि से वर्जन (निषेध) से तूष्णीं स्थिति में शून्यता नहीं हो सकती ॥४४॥

विशेषः—(१) सतः सर्वानुभव सिद्धत्वात् सत् ब्रह्म अज्ञ-तज्ञ सर्वजनों को अनुभव कर सिद्ध होता है । (१) मैं सत् हूँ इस सामान्य आकार करके सर्वजनों को स्वरूप का ज्ञान होता है और मैं चित् हूँ मैं आनन्द हूँ । इत्यादि विशेष आकार को ही स्वरूप का ज्ञान होता है । अन्य को नहीं है और शून्य की प्रतीति के अभाव से मौन दशा में शून्य भाव नहीं । यहाँ रहस्य यह है शून्य का जो ज्ञान होता है तो शून्य के जानने वाले के सद्भाव से शून्य (सबका अभाव) बनता नहीं और शून्य का ज्ञान होता नहीं । जिससे स्फुरणरूप तूष्णी दशा में किसी वस्तु का ज्ञान ही है । इससे शून्य भी ज्ञान के अभाव से तब शून्य नहीं है ।

ननु तर्हि सद्बुद्ध्यभावात्सत्त्वमपि न घटत इति शङ्कते—

सद्बुद्धिरपि चेन्नास्ति माऽस्त्वस्य स्वप्रभत्वतः ।
निर्मनस्कत्वसाक्षित्वात्सन्मात्रं सुगमं नृणाम् ॥४५॥

अन्वयः—सदबुद्धिरपि नास्ति चेत् अस्य स्वप्रभत्वतः मास्तु निर्मनस्कत्वसाक्षित्वात् सन्मात्रं नृणां सुगमम् ।

सद्बुद्धिरिति । तस्य स्वप्रकाशत्वान्न तद्बुद्ध्यभावोऽनिष्ट इति परिहरति—'माऽस्त्वस्येति' । स्वगोचरबुद्ध्यभावे कथं सद्वस्त्ववगन्तुं शक्यत इत्यत आह—'निर्मनस्कत्वेति' ॥४५॥

शंका चुपचाप मौन की स्थिति में तो शून्य ही है । क्योंकि दूसरी कोई और वस्तु भी उस अवस्था में प्रतीत नहीं होती इस शंका पर कहते हैं । शून्य को शून्य की प्रतीति नहीं हो सकती शून्य भी नहीं हो सकता इस पर कहते हैं ।क्योंकि शून्य बुद्धि से वर्जन निषेध से प्रतीति के अभाव तूष्णी निर्विकल्प दशा में शून्य नहीं कह सकते ॥४४॥

कदाचित कहो परमार्थ दशा में सत् बुद्धि का भी अभाव है । इससे सत् भी न घट सकेगा सो ठीक नहीं ।

निर्विकल्प समाधि में सत् बुद्धि भी नहीं है । तो न हो इस सत् को स्वप्रकाश मन रहित साक्षी रूप होने से सत् का ज्ञान मनुष्यों को सुगम है ॥४५॥

यदि कहो कि समाधि अवस्था में सत् बुद्धि भी नहीं रह जाती है । उत्तर यह है कि उस समय सद्बुद्धि चाहे न रहे पर यह तत्त्व तो स्वयं प्रकाश पदार्थ है । यह चाहे बुद्धि का विषय भी न रहे तो भी इसका ज्ञान तो होता ही है । स्व (सत्) विषयक बुद्धि के अभाव में कैसे सत् बुद्धि का ज्ञान होगा इस पर कहते हैं —'निर्मनस्कत्व साक्षित्वात्' वह सद्वस्तु उस समाधि अवस्था की निर्मनस्क स्थिति साक्षी रूप होती है । इस कारण निर्मनस्क स्थिति को जानने वाले (साक्षी) के रूप में सन्मात्र वस्तु का परिज्ञान होना मनुष्य को सुगम है ॥४५॥

विशेष—(१) मन रहित निर्विकल्प अवस्था में विचार शीलों को सुख से जानने योग्य है मैं हूँ सामान्य से सत् ही प्रतीत होता है ।

एवं निष्प्रपञ्चस्य साक्षिणस्तूष्णीं स्थितौ भानं प्रदर्श्यैतद्दृष्टान्तबलेन सृष्टेः पुरापि सद्वस्तु तथाऽवगन्तुं शक्यत इत्याह—

मनोजृम्भणराहित्ये यथा साक्षी निराकुलः ।
मायाजृम्भणतः पूर्वं सत्तथैव निराकुलम् ॥४६॥

अन्वय :—मनोजृम्भणराहित्ये यथा साक्षी निराकुलः तथैव मायाजृम्भणतः पूर्वं सत् निराकुलं ॥४६॥

मायायाः किं लक्षणमित्यत आह—

निस्तत्त्वा कार्यगम्याऽस्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत् ।
न हि शक्तिः क्वचित्कैश्चिद्बुद्ध्यते कार्यतः पुरा ॥४७॥

अन्वयः—निस्तत्त्वा कार्यगम्या अस्य शक्तिः मायाअग्निशक्तिवत् क्वचित् कैश्चित् पुरा कार्यतः शक्तिः न हि बुद्धयते ।

निस्तत्त्वेति । निस्तत्त्वा जगत्कारणभूताद्वस्तुनः पृथक्तत्त्वरहिता, कार्यगम्या वियदादिकार्यलिङ्ग-गम्या अस्य सद्वस्तुनः शक्तिः वियदादिकार्यजननसामर्थ्यं मायेत्युच्यते । वस्तुस्वरूपातिरिक्तशक्तिसद्भावे दृष्टान्तमाह—अग्नीति' । यथाऽग्न्यादिस्वरूपातिरिक्तं स्फोटादिकार्यलिङ्गगम्यं वह्न्यादिनिष्ठं सामर्थ्यमस्ति तद्वदित्यर्थः शक्तेः कार्यलिङ्गगम्यत्वं व्यतिरेकमुखेन द्रढयति—'न हि शक्तिरिति' ॥४७॥

इस प्रकार समाधि अवस्था में प्रपञ्च रहित साक्षी प्रत्यगात्मा का ज्ञान होना दिखाकर सृष्टि से पहले भी सद्वस्तु का ज्ञान ऐसे ही सम्भव है यह दर्शाते हैं—

जब मन (जंभाई आलस्य) व्यापार न होने की अवस्था में जैसे साक्षी आत्मा निराकुल (स्वस्थ) मन के संकल्प, विकल्प रूप विक्षेप से रहित होता है । इसी प्रकार माया का परिणाम स्वरूप कार्य (जृम्भण) फैलाब से पूर्व सृष्टि से पहले तब सत् ब्रह्म (निराकुल) शुद्धमाया के कार्य स्थूल, सूक्ष्म, प्रपञ्च रूप विक्षेप से रहित था ॥४६॥

अब माया के लक्षण को कहते हैं—

वस्तु के तत्त्व ब्रह्म से अभिन्न आकाश आदि कार्यभूत लिङ्गों से जिसकी पहिचान होती है सत् वस्तु की शक्ति है अग्नि की शक्ति के समान वस्तु की शक्ति वह माया है क्योंकि कहीं भी कार्य से पहले किसी ने शक्ति को नहीं जाना ॥४७॥

एवं शक्तेः कार्यलिङ्गगम्यत्वमुपपाद्य निस्तत्त्वरूपतामुपपादयति—

न सद्वस्तु सतः शक्तिर्न हि वह्नेः स्वशक्तिता ।
सद्विलक्षणतायां तु शक्तेः किं तत्त्वमुच्यताम् ॥४८॥

अन्वयः—न सद्वस्तु सतः शक्तिः न हि वह्नेः स्वशक्तिता सद्विलक्षणतायां तु शक्तेः तत्त्वं किं उच्यतम् ।

सद्वस्त्विति । अयमभिप्रायः—सद्वस्तुनः शक्तिः किं सती उतासती ? न तावत्सती तथात्वे सतोऽभिन्नत्वेन तच्छक्तितत्वायोगात् । उक्तार्थे दृष्टान्तमाह—'न हि वह्नेरिति' । द्वितीयेऽपि किं नरविषाण-तुल्या उत सद्विलक्षणेति विकल्पाभिप्रायेण पृच्छति —'सद्विलक्षणतायामिति'[१] ॥४८॥

अर्थात् जगत् के कारण भूत वस्तु ब्रह्म से पृथक् वास्तविकता जिसकी नहीं है । आकाश आदि कार्यभूत लिङ्गों से जिसकी पहचान[१] होती है और जो सत् वस्तु की शक्ति है । आकाश आदि कार्यों के उत्पादन की सामर्थ्य रूप है उसको माया कहते हैं । अब सद् वस्तु के स्वरूप से भिन्न शक्ति के होने में दृष्टान्त कहते हैं । जैसे अग्नि आदि शक्तिमान के अपने स्वरूप से भिन्न शक्ति उसमें रहती है जिसका अनुमान स्फोट आदि से होता है, वैसे ही माया सत् वस्तु की शक्ति है । अब शक्ति का कार्य से ज्ञान, व्यतिरेक (निषध) के द्वारा दिखाते हैं । कोई भी कभी कार्य की उत्पत्ति से पहले शक्ति को नहीं जान सकता, इसलिए शक्ति कार्य रूप लिङ्ग से ही पहिचानी जाती है ॥४७॥

इस प्रकार शक्ति को कार्य में कहकर निस्तत्त्व रूपता को सिद्ध करते हैं—

अग्नि की शक्ति के समान सत् की शक्ति सत् वस्तु नहीं हैं । सत् से विलक्षण मानोगे तो शक्ति का क्या तत्त्व है उसको कहो ॥४८॥

सत् वस्तु की शक्ति सत् है या असत् है सत् तो नहीं कह सकते क्योंकि सत् रूप होने से सत् से अभिन्न होगी तो सत् की शक्ति नहीं हो सकती उक्त अर्थ में दृष्टान्त कहते हैं । द्वितीय सत् से भिन्न कहोगे तो वह मनुष्य के शृंग के तुल्य है अथवा सत् है विलक्षण है, इस विकल्प के अभिप्राय से पूंछते हैं । सत् से विलक्षण है तो उस शक्ति का क्या तत्त्व है उसको कहो ॥४८॥

विशेष —(१) आकाशादि कार्यरूप लिङ्ग से अनुमेय अनुमान प्रमाण करके जानने योग्य अनुमिति प्रमाण का विषय सो अनुमान यह है । आकाशादि प्रपञ्च रूपकार्य अपने कारण विवर्त उपादान ब्रह्म में स्थित शक्ति से जन्य है । अग्नि में स्थित शक्ति से जन्य विस्फोट आदि कार्य की तरह और मृत्तिका में स्थित शक्ति से जन्य घट आदि कार्य की तरह ।

(१) असत् रूप से शक्ति का क्या स्वरूप है—सत् से विलक्षण जो असत् है उसके दो अर्थ हैं । एक तो निःस्वरूप (शून्य) है दूसरा बाध योग्य स्वरूपवान (मिथ्या) अनिर्वचनीय । यदि सत् की शक्ति असत् है तो इतने में से उसका स्वरूप कौन सा है ।

तत्राद्यं पक्षमनूद्य दूषयति—

शून्यत्वमिति चेच्छून्यं मायाकार्यमितीरितम् ।
न शून्यं नापि सद्यादृक्तादृक्तत्त्वमिहेष्यताम् ।।४६।।

अन्वयः—शून्यत्वं इति चेत् शून्यं माया कार्यम् इति ईरितं न शून्यं नापि सत् यादृक् तादृक्तत्वं इह इष्यतां ।।४६।।

शून्यत्वमिति । 'शून्यस्य नामरूपे च तथा चेज्जीव्यतां चिरम्' (प्र० २।३४) इत्यत्रेत्यर्थः । तस्माद्द्वितीयः पक्षः परिशिष्यत इत्याह—'न शून्यमिति' । मायास्वरूपं सत्त्वासत्त्वाभ्यां निर्वचनानर्हमित्यभिप्रायः ।।४६।।

माया की सत् असत् अनिर्वचनीयता उन दोनों पक्षों में प्रथम पक्ष को कहकर दूषण देते हैं—

शून्य मानोगे तो वह माया का कार्य है यह कह आये ३४वाँ श्लोक में । इससे जो न शून्य हो न सत् हो ऐसा कहने के अयोग्य माया का रूप होता है । नव[1] कोटि विनिर्मुक्त ।

शून्य कहोगे तो शून्य तो माया का कार्य है यह पहले ३४वें श्लोक में कह आये हैं । अर्थात् शून्य के भी कल्पित नाम रूप मानने में कुछ दोष नहीं है । इससे सत् से विलक्षण है यह दूसरा पक्ष ही शेष रहा उसको ही कहते हैं । जो न शून्य है न सत् है ऐसा जो हो वही अनिवर्चनीय माया का रूप है अर्थात् न सत् कह सकते हैं न असत् कह सकते हैं ।।४६।।

विशेष —(१) सत् और असत् से विलक्षण का नाम अनिर्वचनीय है । माया का स्वरूप सत् कहो तो वह सत् (१) ब्रह्म से भिन्न है या (२) अभिन्न । (१) भिन्न कहो तो अद्वैत की प्रतिपादक श्रुतियों से विरोध होगा और निश्छिद्र ब्रह्म में उस शक्ति की स्थिति का भी असम्भव आवेगा । इससे ब्रह्म से भिन्न सत् बनता नहीं । (२) ब्रह्म से अभिन्न सत् शक्ति का स्वरूप है यह कहोगे, तो शक्ति और शक्ति वाले की एकता का उक्त असम्भव दोष होगा और ज्ञान से निवृत्त करने योग्य पदार्थ के अभाव से साधन सहित ज्ञान और ज्ञान से साध्य मोक्ष के प्रतिपादक वेदादि शास्त्र व्यर्थ होंगे । यदि माया का स्वरूप असत् है तो असत् तुच्छ रूप माया को भावरूप जगत की कारणता की असम्भवता होगी गी० के २।१६ श्लोक में । 'नासतोविद्यते भावो०" । असत् का भाव रूप होता नहीं । इस भगवद् वचन से विरोध होगा । इससे माया का स्वरूप असत् भी नहीं बनता, किन्तु सत् और असत् से विलक्षण माया का स्वरूप है । शंका — सत् से विलक्षण असत् है उसी को असत् से विलक्षण कहना विरुद्ध है । इससे सत् और असत् से विलक्षण कहने से कुछ भी माया का स्वरूप सिद्ध नहीं होता । उस ज्ञान से निवर्त्य प्रपञ्च सिद्ध नहीं होता, इससे ज्ञानादिकों की व्यर्थता आयेगी । इस शंका का समाधान यहाँ सत् से विलक्षण शब्द का अर्थ असत् विवक्षित (कहने को इच्छित) नहीं है । किन्तु त्रिकालाऽबाध्य जो सत् है । उससे विलक्षण जो बाध योग्य सो सत् से विलक्षण शब्द का अर्थ है और असत् से विलक्षण शब्द का अर्थ सत् विवक्षित नहीं किन्तु असत् जो निःस्वरूप शून्य है । उससे विलक्षण जो स्वरूपवान् सो असत् से विलक्षण शब्द का अर्थ है । बाध मिथ्यात्व निश्चयके योग्य स्वरूप (आकार) वान् जो वस्तु है वह सत् असत् से विलक्षण कहते हैं उसी को अनिर्वचनीय भी कहा है । इस रीतिसे माया उसके कार्य आकाशादि व्यावहारिक वस्तु और स्वप्न रज्जू सर्पादिक प्रातिभासिक वस्तुओंमें सारे बाधके योग्य स्वरूपवान् (आकार) ही अनिर्वचनीय शब्द का अर्थ है ।

अस्मिन्नर्थे श्रुतिं प्रमाणयति—

नाऽसदासीन्नो सदासीत्तदानीं किं त्वभूत्तमः ।
सद्योगात्तमसः सत्त्वं न स्वतस्तन्निषेधनात् ॥५०॥

अन्वयः—न सदासीत् नो सदासीत् तदानीं किं तु अभूत्तमः सत्योगात् तमसः सत्त्वं तन्निषेधनात् स्वतः न ॥५०॥

नासदिति । 'तम[1] आसीत्तमसा गूढमग्रे' ऋ० सं० ८:७।१७।१) इत्यादि श्रुतिः प्रमाणमित्यर्थः । तर्हि तम आसीदिति कथं सत्त्वमुच्यत इत्यत आह–'सद्योगादिति' । कुत इत्यत आह -'तन्निषेधनादिति' ।५०।

माया की अनिर्वचनीयता में श्रुति का प्रमाण—

उस सृष्टि से पूर्व समय में न असत् था न सत् था किन्तु पहले तम (अज्ञान) माया सत् असत् अनिर्वचनीय से गूढ़ (छिपा) ब्रह्म था ॥५०॥

इस श्रुति के प्रमाण से तब तम ही रहा इससे सत् हुआ यह कैसे कहते हो इस शंका को दूर करने के लिए कहते हैं । सत् ब्रह्म तत्त्व अधिष्ठान रूप, ब्रह्म के कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध से ही माया में सत्ता आ जाती है । स्वभाव से सत्ता माया में नहीं है । क्योंकि श्रुति ने माया के सत् होने में स्वत (स्वयं) सिद्धि का निषेध है ॥५०॥

....

विशेष—(१) यहाँ सत् असत् से विलक्षण माया ही थी यह अर्थ है ।

(२) कल्पित तादात्म्य से मूल का (१) दो द्रव्यों (गुण के आश्रय वस्तु) का ही संयोग सम्बन्ध होता है । जिससे ब्रह्म निर्गुण है और माया सत्वादि गुण स्वरूप है । गुणों का आश्रय नहीं, इससे ब्रह्म और माया द्रव्य नहीं है । इससे इन दोनों का संयोग सम्बन्ध नहीं बनता । (२) और गुण एवं गुणी का, जाति व्यक्ति का, क्रिया क्रियावान् का और उपादान कारण और कार्य का समवाय सम्बन्ध होता है, जिससे ब्रह्म और माया का परस्पर गुण, गुणीभाव, जाति व्यक्ति भाव, क्रिया क्रियावान् भाव-कारण कार्यभाव नहीं है । इससे ब्रह्म और माया का समवाय सम्बन्ध भी नहीं बनता । (३) और स्वरूप सम्बन्ध का नाम (तादात्म्य) है जिससे ब्रह्म और माया का परस्पर (विलक्षणता है इससे उनका तादात्म्य सम्बन्ध भी नहीं बनता । अथवा जहाँ (गुण गुणी आदि में) नैयायिक समवाय मानते हैं । वहाँ वेदान्त मत में तादात्म्य कहा है । इससे समवाय के निषेध से ही तादात्म्य का निषेध हो गया ४) श्रुति में ब्रह्म की असंगता के प्रतिपादन से माया और ब्रह्म का वास्तव सम्बन्ध नही बनता । किन्तु आकाश और नीलता के सम्बन्ध की तरह ब्रह्म और माया का कल्पित (आध्यासिक) तादात्म्य सम्बन्ध माना है । इसी को अनिर्वचनीय तादात्म्य भी कहते हैं । ऐसे समष्टि, व्यष्टि प्रपञ्च का और ब्रह्म का भी यह ही सम्बन्ध माना है ।

फलितमाह—

अत एव द्वितीयत्वं शून्यवन्न हि गण्यते ।
न लोके चैत्रतच्छक्त्योर्जीवितं लिख्यते पृथक् ।।५१।।

अन्वयः—अत एव शून्यवत् (मायायाः) द्वितीयत्वं न हि गण्यते (यथा) लोके चैत्रतच्छक्त्योः पृथग् जीवितं न लिख्यते ।

अत एवेति । यतः स्वतः सत्त्वं मायाया नास्ति, अतः शून्यस्येव मायाया अपि द्वितीयत्वं न गण्यते हि, नैवाद्रियत इत्यर्थः । अनृतस्य द्वितीयत्वानङ्गीकारे दृष्टान्तमाह—'न लोक इति' ।।५१।।

ननु शक्त्याधिक्ये जीविताधिक्यं दृश्यते, अतः शक्तेरपि पृथक् जीवितत्वमस्तीति शङ्कते—

शक्त्याधिक्ये जीवितं चेद्वर्धते तत्र वृद्धिकृत् ।
न शक्तिः किंतु तत्कार्यं युद्धकृष्यादिकं तथा ।।५२।।

अन्वयः—शक्त्याधिक्ये जीवितं वर्धते चेत् तत्र वृद्धिकृत् न शक्तिः किन्तु तत् कार्यम् युद्धकृष्यादिकं तथा (कारणं) ।

शक्त्याधिक्य इति । न शक्तिर्जीवितवर्धने कारणम्, अपितु तत्कार्यं युद्धकृष्यादीति परिहरति—'तत्रेति' । दार्ष्टान्तिके योजयति—'तथेति' ।।५२।।

इस सबका निष्कर्ष यह है कि (माया की द्वितीयता अमान्य) इससे माया स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जाती, इसलिए जैसे शून्य के समान माया को द्वितीय (दूसरा) पदार्थ नहीं गिना जाता, उसी प्रकार माया को भी ब्रह्म से भिन्न नहीं गिना जाता । मिथ्या वस्तु को दूसरी नहीं कह सकते इस पर दृष्टान्त कहते हैं । लोक व्यवहार में भी चैत्र नाम पुरुष शक्तिमान् और उसकी शक्ति पृथक्-पृथक् जीवन (आजीविका रूप कार्य) सामर्थ्य उल्लेख नहीं किया जाता ।।५१।।

शंका-परन्तु शक्ति के अधिक होने पर आजीविका बढ़ जाती है, अतः इससे शक्ति भी शक्ति वाले पुरुष से पृथक् है ।

आजीविका की वृद्धि का कारण शक्ति नहीं, अपितु खेती, युद्ध, व्यापार सेवा आदि है । इससे समाधान किया । उसमें वृद्धि के कर्ता दार्ष्टान्त में जोड़ते हैं । इस प्रकार माया शक्ति ब्रह्म से भिन्न नहीं है ।।५२।।

सर्वथा शक्तिमात्रस्य न पृथग्गणना क्वचित् ।
शक्तिकार्यं तु नैवास्ति द्वितीयं शङ्क्यते कथम् ॥५३॥

अन्वयः—सर्वथा शक्तिमात्रस्य क्वचित् पृथक् गणना न शक्तिकार्यं तु नैवास्ति द्वितीयं कथं शङ्क्यते ॥

सर्वथेति । मा भूच्छक्त्या स द्वितीयत्वं सतः, अपि तु तत्कार्येण तद्भवत्येवेत्याशङ्क्य तस्य तदानीमसत्त्वात्तेनापि न सद्वितीयत्वमित्याह 'शक्तिकार्यं त्विति' ॥५३॥

ननु सच्छक्तिः सति सर्वत्र वर्तते, उतैकदेशे ? नाद्यः, मुक्तैः प्राप्यब्रह्माभावप्रसङ्गात् । न द्वितीयः, निरंशत्वेन विरोधित्वादित्याशङ्क्याद्यानङ्गीकारात् द्वितीये परिहारो वक्ष्यत इत्यभिप्रायेणाह—

न कृत्स्नब्रह्मवृत्तिः सा शक्तिः किं त्वेकदेशभाक् ।
घटशक्तिर्यथा भूमौ स्निग्धमृद्येव वर्तते ॥५४॥

अन्वयः—सा शक्तिः कृत्स्नब्रह्मवृत्तिः न किन्तु एकदेशभाक् यथा भूमौ स्निग्धमृदि एव घट शक्तिः वर्तते ।

न कृत्स्नेति । एकदेशवृत्तौ दृष्टान्तमाह—'घटेति' ॥५४॥

शंका–माया शक्ति से सत् को ब्रह्म को द्वितीय न मानो, परन्तु शक्ति के कार्यों (स्थूल, सूक्ष्म, प्रपञ्च) के कारण तो ब्रह्म द्वितीय (पृथक्) मानना पड़ेगा, इस शंका के उत्तर में कहते हैं। उस प्रलय में शक्ति का कार्य नाम रूप भी कुछ नहीं है। फिर दूसरे के होने की शंका क्यों करते हो। शक्ति का कार्य है ही नहीं इससे द्वितीय की शंका कैसे करते हो ॥५३॥

सत् की माया शक्ति सम्पूर्ण ब्रह्म में है । या ब्रह्म के एक देश में ? यदि सम्पूर्ण ब्रह्म में मानेंगे तो मुक्तों की प्राप्ति के योग्य शुद्ध ब्रह्म[1] ही न रहेगा। यदि एक देश में शक्ति मानेंगे तो ब्रह्म को निरयव कैसे मानोगे यह शंका करके-प्रथम पक्ष को अस्वीकार (न मानना) से दूसरे पक्ष का समाधान कहेंगे। इस अभिप्राय से कहते हैं—

वह शक्ति सम्पूर्ण ब्रह्म में नहीं रहती, किन्तु एक देश में इस प्रकार रहती है दृष्टान्त से कहते हैं। जैसे घट को उत्पन्न करने की शक्ति सारी पृथ्वी में ही नहीं, अपितु उसके एकदेश एक अवयव चिकनी मिट्टी के रूप में ही रहती है ॥५४॥

विशेष १—वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार जीवन्मुक्त तत्त्व ज्ञानी को माया अविद्या आदि प्रपञ्च रहित शुद्ध ब्रह्म की प्राप्ति होती है। यदि माया सम्पूर्ण ब्रह्म में मानो तो माया विशिष्ट हो जाने के कारण ब्रह्म शुद्ध कैसे रह सकेगा ? जो शुद्ध माया रहित केवल ब्रह्म है उसका अभाव होगा

शक्तिरेकदेशवृत्तित्वे प्रमाणमाह—

पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्ति स्वयंप्रभः ।
इत्येकदेशवृत्तित्वं मायाया वदति श्रुतिः ॥५५॥

अन्वयः—पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्ति स्वयंप्रभः इति श्रुतिः मायायाः एकदेशवृत्तित्वं वदति ।

अब शक्ति की एक देश की वृत्तिता में प्रमाण कहते हैं—

सम्पूर्ण भूत इसके एक चतुर्थांश में ही है, इसका तीन चौथाई अंश अब भी स्वयं प्रकाश है। इस श्रुति के आधार पर ब्रह्म की माया उसके एक देश में ही रहती है ।:५५॥

और समाय (माया सहित) ब्रह्म को जो मुक्त पुरुष प्राप्त होंगे, तो वहाँ भी अविद्या के सद्भाव से मुक्तों के आत्मा को अविद्या विशिष्ट होने से अथवा अविद्या में प्रतिबिम्ब (आभास) होने से जीव भाव की प्रप्ति से फिर भी जन्मादि संसार की प्राप्ति होगी। इस उक्त अनर्थ की प्राप्ति से ब्रह्म में सर्वत्र माया सम्भव नहीं। (२) ब्रह्म के एक देश में माया रहती है ऐसा जब कहो तब ब्रह्म में माया की स्थिति अर्थ देश (अवयव) कहना चाहिए सो देश (१) वास्तव है या (२) कल्पित है (१) वास्तव कहोगे तो ब्रह्म की निरवयवता की प्रतिपादक श्रुति इसी प्रकरण के २२ श्लोक के टिप्पणी में है। उक्त युक्ति से विरोध होगा। इससे ब्रह्म का वास्तविक (वास्तव) सत्य देश (अवयव) बनता नहीं। यदि (२) कल्पित कहोगे तो ब्रह्म में कल्पित (अध्यस्त) देश कहें तो ६ विकल्प है। (१) वह देश क्या स्थूल, सूक्ष्म, प्रपञ्च है (२) वा जीव ईश्वर रूप है। (३) अथवा काल रूप है। (४) शून्य रूप अभाव रूप है। (५) माया रूप है या (६) अन्य रूप हैं। ये षट विकल्प हैं। (१) देश कहें तो बनता नहीं किससे उक्त स्थूल, सूक्ष्म, प्रपञ्च, माया का कार्य है। इससे प्रपञ्च माया को स्थिति के अधीन होने से देश का आश्रय सम्भव नहीं। (२) जीव ईश्वर कहें तो बनता नहीं। किससे जीव ईश्वर को भी मायिक कहते हैं माया के स्थिति के अधीन अपनी स्थिति वाले होने से उसका आश्रय बनता नहीं। (३) काल कहें तो बनता नहीं किससे काल भी माया से कल्पित है काल को देश रूपता के असभम्व से माया की आश्रयता नहीं बनती। (४) शून्य कहें तो शून्य को भी माया का कार्य काल्पित रूप तुच्छ होने से किसी की आश्रय तो नहीं बनती है। (५) माया कहें तो वह भी नहीं बनती, किससे माया आप ही को आप आश्रय कहो तो आत्माश्रय दोष आयेगा। उसकी आश्रय भी दूसरी माया कहें तो अन्योन्याश्रय दोष होगा और तीसरी माया कहें तो चक्रिका होगी। चतुर्थ माया कहें तो अनवस्था आदिक (विनिगमन विरह प्राग् लोप प्रमाण अभाव दोष आयेगा (६) इतने अन्य कल्पना के अभाव से अन्त्य पक्ष भी नहीं बनता, इससे निरवयव ब्रह्म में देश के असम्भव से ब्रह्म के देश में माया रहती है। यह कल्पना बनती नहीं।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।
इति कृष्णोऽर्जुनायाह जगतस्त्वेकदेशताम् ।।५६।।

अन्वयः—विष्टभ्य अहं इदं कृत्स्नं एकांशेन जगतः स्थितः इति कृष्णः अर्जुनाय जगतः एकदेशतां आह ।।

इदानीं निर्मायस्वरूपसद्भावे प्रमाणमाह—

स भूमिं विश्वतो वृत्वा ह्यत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ।
विकारावर्ति चात्रास्ति श्रुतिसूत्रकृतोर्वचः ।।५७।।

अन्वयः—स भूमिं विश्वतो वृत्वा हि दशांगुलं अपि तिष्ठत् अत्र श्रुतिसूत्र कृतोः वचः विकारावर्ति अस्ति ।

स भूमिमिति । विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह (ब्र० सू० ४।४।१९) इति सूत्रकारवचनमित्यर्थः ।।५७।।

केवलं श्रुतिरेव[1], स्मृतिरप्यस्तीत्याह[2]—

केवल श्रुति ही प्रमाण नहीं किन्तु स्मृति भी प्रमाण है—

मैं परमेश्वर इस सम्पूर्ण परिदृश्यमान जगत को अपने एक अंश से धारण किये हुए हूँ । यह कह कर गीता में कृष्ण ने भी जगत् की एकदेशता ब्रह्म के एक देश में रहने की बात कही ।।५६।।

अब माया[3] रहित स्वरूप होने में प्रमाण कहते हैं । (अर्थात् ब्रह्म के निर्माय स्वरूप हैं ।

उस परमात्मा ने भूमि, अर्थात् प्रपञ्च को सब ओर से लपेट लिया है । फिर भी उससे देश अंगुल बाहर निकला हुआ है । यह श्रुति का और सूत्रकार व्यास भगवान् का वचन है । विकारावर्ति अर्थात् विकार रूप प्रपञ्च से पृथक् है । ये दोनों वचन इस बात में प्रमाण हैं कि ब्रह्म का माया रहित स्वरूप भी है ।।५७।।

विशेष (१) एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पुरुषः । पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि इति (छा० ३।१२।६) ।।

(२) विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् । (श्रीभगवद्गीता १०।४२)

(३) (१) निर्माय, (२) स्वरूप विकारावर्ति च तथा स्थितिमाह (ब्र० सू० ४।४।१९) विकार जो कार्य प्रपञ्च उसमें ब्रह्म अवर्ति न्यारा है ऐसी ब्रह्म की स्थिति को श्रुति कहती है (१) निर्माय अवशेषमाया रहित निर्माय । (२) तीन पाद स्वयं प्रकाश सो परमेश्वर भूमि को यहाँ श्रुति में भूमि शब्द से उपलक्षित सारे प्रपञ्च का ग्रहण है । दश अंगुल पर्यन्त का कथन सो उपचार (आरोप से) इसका अभिप्राय यह है । सर्व प्रपञ्च से अतिरिक्त अपरिमित परमात्मा है ।

तर्हि निरंशत्वे विरोध इत्यस्य कः परिहार इत्याशङ्क्य वास्तवनिरंशत्वाभ्युपगमान्न विरोध इत्यभिप्रायेणोदाहृतश्रुत्यभिप्रायमाह—

निरंशेऽप्यंशमारोप्य कृत्स्नेंऽशे वेति पृच्छतः ।

तद्भाषयोत्तरं ब्रूते श्रुतिः श्रोतृहितैषिणी ॥५८॥

अन्वयः—निरंशेपि अंशं आरोप्य कृत्स्ने अंशे वा इति पृच्छतः श्रोतृहितैषिणी श्रुतिः तद्भाषया उत्तरं ब्रूते ।

सत्तत्त्वमाश्रिता शक्तिः कल्पयेत्सति विक्रियाः ।

वर्णा भित्तिगता भित्तौ चित्रं नानाविधं यथा ॥५९॥

अन्वयः—सत्तत्वं आश्रिता शक्तिः कल्पयेत विक्रियाः सति यथा वर्णाः भित्तिगताः भित्तौ नाना विधं चित्रम् ।

सत्तत्त्वमिति । विक्रियाः विविधत्वेन क्रियन्ते इति विक्रियाः कार्यविशेषा इत्यर्थः तत्र दृष्टान्तमाह— वर्णा इति'। वर्णा रक्तपीतादयो धातुविशेषाः ॥५९॥

शंका—यदि कहो कि ऐसा कहने में ब्रह्म निरवयव है, इसका विरोध होगा इस शंका का परिहार वास्तविक निरवयव मानने से विरोध नहीं है। इस अभिप्राय से उदाहरण में श्रुति का अभिप्राय कहते हैं—

अंश रहित ब्रह्म में भी अंश का आरोप करके सम्पूर्ण अंश में है या एक अंश में ऐसे पूँछते शिष्य के प्रति उसकी ही भाषा से श्रोता को हितकारिणी श्रुति उत्तर देती है वस्तुतः तो ब्रह्म निरवयव है ॥५८॥

जिसके लिए माया को सिद्ध किया उसको अब कहते हैं—

सत् तत्त्व में रहने वाली माया शक्ति उस सत् तत्त्व में विक्रिया नाना प्रकार के कार्य विशेषों को उत्पन्न किया करती है। दृष्टान्त कहते हैं—जैसे भीत पर पोते हुए लाल, पीले आदि रंग भीत पर अनेक प्रकार के चित्रों को अंकित कर देते हैं। तात्पर्य यह है कि चित्रों से पृथक् भित्ति के समान सत् वस्तु भी कार्य से पृथक् है ॥५९॥

तत्र प्रथमं कार्यविशेषं दर्शयति—

आद्यो विकार आकाशः सोऽवकाशस्वरूपवान्।
आकाशोऽस्तीति सत्तत्त्वमाकाशेऽप्यनुगच्छति ॥६०॥

अन्वयः—(मायायाः) आद्यः विकार आकाशः सः स्वरूपवान् अवकाशः आकाशः अस्ति इति सत्त्वम् आकाशेपि अनुगच्छति।

आद्य इति। तत्स्वरूपमाह—'सोऽवकाश इति'। आकाशस्य ब्रह्मकार्यत्वे हेतुमाह—'आकाश इति' ॥६०॥

ततः किमित्यत आह—

एकस्वभावं सत्तत्त्वमाकाशो द्विस्वभावकः।
नावकाशः सति व्योम्नि स चैषोऽपि द्वयं स्थितम् ॥६१॥

अन्वयः—सत्तत्वं एकः स्वभावः आकाशः द्वि स्वभावकः नावकाशः सति व्योम्नि सच एषोऽपि द्वयं स्थितम्।

एकेति। उक्तमर्थं विशदयति 'नावकाश इति'। सति सद्वस्तुन्यवकाशो नास्ति किंतु सत्स्वभाव एक एव, आकाशे तु स च सत्स्वभावश्च एषोऽप्यवकाशस्वभावोऽपीति द्वयं स्थितं विद्यत इत्यर्थः ॥६१॥

शक्ति पहले कार्य विशेष को दिखाते हैं—

शक्ति का पहला विकार कार्य आकाश है यह अवकाश स्वरूप है। यह सत् वस्तु का तत्त्व आकाश में भी अनुगत होता है "आकाश है" यह कहना बना रहा है। आकाश में सत् वस्तु अनुस्यूत है। भूताकाश तो ब्रह्म का विवर्त रूप कार्य है ॥६०॥

आकाश सत् रूप ब्रह्म का कार्य विशेष है। इससे कौन सा प्रयोजन सिद्ध होने वाला है ? इस पर कहते हैं—

इससे सत् तत्त्व का एक सत्ता ही स्वभाव है और आकाश के अवकाश और सत्ता दो स्वभाव है। क्योंकि सत् वस्तु में अवकाश नहीं है केवल सत् स्वभाव ही है और आकाश में तो सत् स्वभाव और यह आकाश ये दोनों है ॥६१॥

सदाकाशयोरेकद्विस्वभावत्वं प्रकारान्तरेण व्युत्पादयति—

यद्वा प्रतिध्वनिर्व्योम्नो गुणो नासौ सतीक्ष्यते ।
व्योम्नि द्वौ सद्ध्वनी तेन सदेकं द्विगुणं वियत् ॥६२॥

अन्वयः—यद्वा प्रतिध्वनिः व्योम्नः गुणः नासौ सति इक्ष्यते व्योम्नि द्वौ सद्ध्वनी तेन एकंसत् वियत् द्विगुणं ।

यद्वेति । प्रतिध्वनिर्व्योम्नो गुण इत्युपपादितमधस्तात् । असौ :प्रतिध्वनिः[1] सद्वस्तुनि नेक्ष्यते नोपलभ्यते । व्योम्नि तु सद्ध्वनी सच्छब्दौ उभावप्युपलभ्येते, तेन कारणेन सत् एकस्वभावम्, वियत् द्विगुणम् द्विस्वभावकमित्यर्थः ॥६२॥

नन्वाकाशस्य सद्ब्रह्मकार्यत्वे आकाशस्य सत्तेति सत आकाशधर्मता कुतः प्रतिभातीत्याशङ्क्याह —

या शक्तिः कल्पयेद्व्योम सा सद्व्योम्नोरभिन्नताम् ।
आपद्य धर्मधर्मित्वं व्यत्ययेनावकल्पयेत् ॥६३॥

अन्वयः—या (माया) शक्तिः व्योम कल्पयेत सा सद्व्योम्नः अभिन्नतां (कल्पयति) आपद्य धर्म धर्मित्वम् व्यत्ययेन अवकल्पयेत् ।

या शक्तिरिति । या माया सद्वस्तुनि आकाशं कल्पयति, सा प्रथमतः सद्व्योम्नोरभेदं कल्पयित्वा पश्चात्तद्धर्मधर्मिभावं वैपरीत्येन कल्पयति, अत आकाशस्य सत्तेति भानमुपपद्यत इत्यर्थः ॥६३॥

अब सत् और आकाश के एक दो स्वभाव प्रकारान्तर (अन्य प्रकार) से वर्णन करते हैं—

प्रतिध्वनि रूप शब्द आकाश का गुण है । यह प्रतिध्वनि गुण सद्वस्तु में नहीं पाया जाता है । आकाश में सत् और ध्वनि दोनों हैं । इस प्रकार सत् एक स्वभाव वाला और आकाश दो स्वभाव का है ॥६२॥

शंका यदि आकाश सत् ब्रह्म का कार्य है तो "आकाश की सत्ता" यह सत् आकाश का धर्म कैसे प्रतीत होता है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—(अर्थात् सत् और आकाश का मायाकृत विपरीत धर्म धर्मिभाव)

जिस शक्ति ने आकाश की कल्पना की है वह सत् और आकाश के अभेद की कल्पना करती हैं पश्चात् विपरीत रूप से धर्म[2] धर्मिभाव की कल्पना करती है ॥६३॥

विशेष—(१) पोल देश में पार्थिवादिक शब्द रूप निमित्त से उद्भूत शब्द प्रतिध्वनि ।

(२) सत् रूप जो धर्मि (आधार) उसमें धर्म (आश्रित) भाव कल्पित है और आकाश रूप जो धर्म (कल्पित हुआ आश्रित है इनमें धर्मि (आश्रय आधार) सत्ताभाव कल्पित है । रज्जू में सर्प की कल्पना करके रज्जू में स्थित इदंता और सर्प के अभेद (तादात्म्य को) कल्पित के पीछे वह सर्प है । इस रीति से इदंता धर्मी (आधार) में धर्म (आश्रित) भाव ओर सर्प रूप धर्म में धर्मी भाव । विपरीतता करके कल्पित है । जैसे सत् और आकाश के धर्म धर्मिभाव को सर्वकार्य समर्थ माया कल्पित है ऐसे ही वायु आदिक सर्व प्रपञ्च में जानना ।

रज्ज्वच्छिन्न चैतन्य के आश्रित अविद्या =

मायया वैपरीत्यं कथं कृतमित्याशङ्क्याह—

सतो व्योमत्वमापन्नं व्योम्नः सत्तां तु लौकिकाः ।
तार्किकाश्चावगच्छन्ति मायाया उचितं हि तत् ॥६४॥

अन्वयः—सतः व्योमत्वम् आपन्नं व्योम्नः सत्तां तु लौकिकाः तार्किकाः च अवगच्छन्ति हि तत् मायाया उचितम् ।

वस्तुतत्त्वविचारे क्रियमाणे मृदो घटरूपत्वमिव सतो व्योमत्वमापन्नं सद्वस्तुन आकाशरूपत्वं प्राप्तं लौकिकः प्राणिनः शास्त्रेषु मध्ये तार्किकाश्च तद्वैपरीत्येन व्योम्नो गगनस्य धर्मिणः सत्तां सद्रूपधर्मजातिं चावगच्छन्ति जानन्ति । ननु अन्यस्यान्यथाप्रतीतिरनुपपन्ना इत्याशङ्क्याह—'मायाया इति' । तद्विपरीत-दर्शनहेतुत्वं मायाया युक्तमित्यर्थः ॥६४॥

जिस माया रूप शक्ति ने सत् वस्तु ब्रह्म में आकाश की कल्पना की है । वही शक्ति प्रथम सत् वस्तु और आकाश के अभेद की कल्पना करती है फिर विपरीत (उलटा) रूप से धर्म और धर्मी भाव की कल्पना करती है । अर्थात् आकाश को धर्मी और सत् को धर्म बना देती है । इससे आकाश की सत्ता ऐसा भान सिद्ध होता हैं ॥६३॥

अब माया की विपरीत रीति को दिखाते हैं—कि पूर्वोक्त प्रकार से सत् व्योम रूप हुआ और व्योम की सत्ता को लौकिक और नैयायिक मानते हैं । क्योंकि वह विपरीत ज्ञान माया को उचित है ॥६४॥

वस्तु के तत्त्व का विचार करने पर ज्ञान होता है कि जैसे मिट्टी घटाकार हो जाती है । इसी प्रकार सत् ही आकाश रूप हो जाता है । इस प्रकार सत् वस्तु की आकाश रूपता को लौकिक[1] मनुष्य मानते हैं और शास्त्रों के ज्ञाता नैयायिक भी उससे विपरीत रूप से धर्मि रूप आकाश की सत्ता (सत् रूप धर्म) को जानते हैं कि आकाश की सत्ता है । शंका—अन्य की अन्यथा प्रतीति नहीं हो सकती अर्थात् धर्मी धर्म रूप नहीं हो सकता इस शंका का उत्तर यह है । माया में यह उचित है । विपरीत दिखाना माया[2] के योग्य है ॥६४॥

विशेषः—(१) यहाँ लौकिक प्राणि के कथन से जगत् को ब्रह्म का परिणाम है । जैसे दुग्ध का दही विकार है मानने वाले शुद्धाद्वैत मत वाले नवीन वैष्णव और सांख्य ।

(२) इससे माया अद्वैत वादिनां तु अघटितघटनाभासमानचतुरमायामहिम्ना स्वप्नवत् सर्वं उपपन्नम् । (भाष्य ब्र० सू० २।१।१८) मायाया विपरीतप्रतीतिहेतुत्वं लौकिकन्यायः ।

प्रदर्शनेनस्पष्टीकरोति—

यद्यथा वर्तते तस्य तथात्वं भाति मानतः ।
अन्यथात्वं भ्रमेणेति न्यायोऽयं सार्वलौकिकः ॥६५॥

अन्वयः—यत्यथा वर्तते तस्य तथात्वं मानतः भाति अन्यथात्वं भ्रमेण इति अयं न्यायः सार्वलौकिकः ।

यत् शुक्त्यादि यथा येन शुक्तिकादिरूपेण वर्तते तस्य तथात्वं शुक्त्यादिरूपत्वं प्रमाणतः स्फुरति । अन्यथात्वं रजतादिरूपत्वं तद्भ्रमेण भ्रान्त्या प्रतिभातीत्ययं न्यायः सर्वलोकप्रसिद्ध इत्यर्थः ॥६५॥

एवं भ्रान्त्या विपरीतप्रतिभानं दर्शयित्वा तन्निवृत्युपायमाह—

एवं श्रुतिविचारात्प्राग्यथा यद्वस्तु भासते ।
विचारेण विपर्येति ततस्तच्चिन्त्यतां वियत् ॥६६॥

अन्वयः—एवं श्रुति विचारात्प्राक्यद्वस्तु यथा भासते विचारेण विपर्येति ततः तद्वियत् चिन्त्यतां ।

एवमुक्तेन प्रकारेण श्रुतिविचारात्प्राक्श्रुत्यर्थविचारात्पूर्वं यद्वस्तु यत्सद्रूपं ब्रह्म भ्रान्त्या यथा येन गगनादिरूपेण वर्तते तच्छ्रुत्यर्थपर्यालोचनेन विपर्येति गगनादिभावं परित्यज्य सद्रूपं ब्रह्मैव भवति । तत श्रुतिविचारेण वस्तुयाथात्म्यदर्शनसंभवात्तद्वियच्चिन्त्यताम्,[१] विचार्यतामित्यर्थः ॥६६॥

अब लौकिक न्याय को दिखाकर माया को विपरीत प्रतीति का कारण दिखाते हैं—

जो शुक्ति आदि वस्तु जिस शुक्ति आदि रूप से वर्तती है उसका वह रूप प्रमाण से प्रतीत होता है । जो उसी में रजत आदि अन्यथा रूप प्रतीत होता है वह भ्रम से होता है यह न्याय सम्पूर्ण लोक में प्रसिद्ध है । यही भ्रान्ति का धर्म है ॥६५॥

इस प्रकार भ्रान्ति से विपरीत मान को दिखाकर अब भ्रान्ति की निवृत्ति का उपाय कहते हैं—

इस प्रकार श्रुति के विचार से पहले जो वस्तु जैसी भासती थी, वह विचार के अनन्तर विपरीत हो जाती है इससे तुम आकाश को भी विचार लो कि सत् रूप है कि नहीं ॥६६॥

इस पूर्वोक्त रीति से जो श्रुति के अर्थ का विचार करने से पूर्व जो सत् ब्रह्म भ्रान्ति जैसा गगनादि के रूप में दिखाई पड़ता था । फिर श्रुति के अर्थ के विचार से उस वस्तु का यथार्थ रूप ज्ञात होता है अर्थात् आकाश आदि रूप का त्यागकर सत् ब्रह्म रूप हो जाती है, इस श्रुति के विचार से वस्तु के यथार्थ "सच्चे" रूप का ज्ञान होनेसे हे वादी अब तुम इस आकाश को विचार लो कि क्या है ॥६६॥

विशेष (१) आकाश का विचार करना विचार नाम भेद ज्ञान का है इसी को विवेक कहते हैं विवेचन भी ।

विचारस्वरूपमेव दर्शयति—

भिन्ने वियत्सती शब्दभेदाद्बुद्धेश्च भेदतः ।
वाय्वादिष्वनुवृत्तं सन्न तु व्योमेति भेदधीः ।।६७।।

अन्वयः—वियत्सती भिन्ने शब्दभेदात् बुद्धेश्च भेदतः सत् वाय्वादिषु अनुवृत्तं व्योम तु न इति भेदधीः ।

भिन्न इति। भिन्ने इति प्रतिज्ञार्थे हेतुमाह 'शब्देति'। वियत्सच्छब्दयोरपर्यायित्वादित्यर्थः । हेत्वन्तरमाह 'बुद्धेश्चेति'। तमेव हेतुं विशदयति 'वाय्वादिष्विति'। यद्वाय्वादिषु भूतेषु सन्वायुः सत्तेज इत्येवं प्रकारेणानु वृत्तं भासते, व्योम तु नैवं भासते इति यज्ज्ञानं सा भेदधीः, भेदबुद्धिरित्यर्थः ।।६७।।

अब विचार के स्वरूप को दिखाते हैं—

आकाश और सत् परस्पर भिन्न है क्योंकि इन दोनों के वाचक शब्द (नाम) भिन्न-भिन्न है। आकाश और सत् ये दोनों शब्द आपस में पर्याय नहीं हैं अब दूसरा हेतु कहते हैं तथा इन दोनों से उत्पन्न होने वाली बुद्धियाँ[1] भी भिन्न-भिन्न होती हैं इसलिए ये भी भिन्न-भिन्न हैं क्योंकि वायु, तेज, जल और पृथिवी के साथ तो सत् वायु, सत् तेज, आदि वाक्यों से सत् अनुस्यूत प्रतीत होता है। परन्तु आकाश सब के साथ इस प्रकार अनुस्यूत प्रतीत नहीं होता यही भेद बुद्धि है। अर्थात् सत् सर्वत्र है आकाश आदि नहीं ।।६७।।

विशेष—१ बुद्धेश्च भेदतः=ज्ञान के भेद से भी भिन्न-भिन्न है, यहाँ अनुमान इस प्रकार है सत् और आकाश भिन्न है बुद्धि के (ज्ञान) के भेद से घट-पट की तरह-यद्यपि प्रत्यक् तत्त्व विवेक के ३ से ७वें श्लोक तक सब काल में ज्ञान का अभेद प्रतिपादन किया, और यहाँ ज्ञान का भेद बताते हैं। इससे पूर्वोत्तर विरोध होता है। तथापि पूर्व प्रथम प्रकरण में चेतन रूप ज्ञान का अभेद प्रतिपादन किया। यहाँ बुद्धि की वृत्ति रूप ज्ञान का भेद कहा इससे पूर्वोत्तर का विरोध नहीं है।

एवं सदाकाशयोर्भेदं प्रसाध्य, व्योम्नः सत्तेति भ्रान्त्या प्रतीतस्य धर्मिधर्मभावस्य विचारेण व्यत्ययं दर्शयति—

सद्वस्त्वधिकवृत्तित्वाद्धर्मिव्योम्नस्तु धर्मता ।
धिया सतः पृथक्कारे ब्रूहि व्योम किमात्मकम् ॥६८॥

अन्वयः—सद्वस्तु अधिकवृत्तित्वात् धर्मि व्योम्नस्तु धर्मता धिया सतः पृथक्कारे व्योम किमात्मकं इति ब्रूहि ।

सद्वस्त्विति । रूपरसादिष्वनुवृत्तस्य द्रव्यस्येव आकाशवाय्वादिष्वनुवृत्तस्य सतो धर्मित्वं रसादिभ्यो व्यावृत्तस्य रूपस्येव वाय्वादिभ्यो व्यावृत्तस्य नभसो धर्मत्वमित्यर्थः । ननु तर्हि घटाद्भिन्नरूपस्य यथा वास्तवत्वं, तथा सतो भिन्नस्य नभसोऽपि स्यादित्याशङ्क्य सद्व्यतिरिक्तस्य नभसो दुर्निरूपत्वान्नैवमित्याह- 'धियेति' ॥६८॥

दुर्निरूपत्वमसिद्धमिति शङ्कते—

अवकाशात्मकं तच्चेदसत्तदिति चिन्त्यताम् ।
भिन्नं सतोऽसच्च नेति वक्षि चेद्व्याहृतिस्तव ॥६९॥

अन्वयः—अवकाशात्मकं तत् चेत् तत् असत इति चिन्त्यतां सतः असच्च भिन्नं नेति (अत्र) तव याहृतिश्चेत् वक्षि ।

अवकाशात्मकमिति । तर्हि सतो विलक्षणत्वादसदेव स्यादिति परिहरति-'असदिति' सतो विलक्षणस्या-सत्त्वं नास्तीति वदतो दोषमाह - 'भिन्नमिति' ॥६९॥

इस प्रकार सत् और आकाश के भेद को सिद्ध करके भ्रम से तो यह प्रतीति होती है कि आकाश की सत्ता है । विचार से विपरीत उस धर्म धर्मि भाव का व्यत्य या (उलटा) हो जाना दिखाते हैं —

अनुवृत होने से सत् वस्तु धर्मी और व्योम धर्म है और बुद्धि से सत् के पृथक् करने पर कहो कि व्योम किंरूप है ।

जैसे रूप, रस आदि अधिक में अनुवृत द्रव्य के समान गुणों में रहने वाला द्रव्य पदार्थ धर्मी होता है इसी प्रकार आकाश, वायु आदि सब में अनुगत हुआ, सत् धर्मि अर्थात् आश्रय है । रस आदि से भिन्न रूप के समान वायु आदि से भिन्न आकाश धर्म है । शंका कदाचित् कहो कि घट से भिन्न भी रूप वास्तविक (यथार्थ) है । वैसे ही सत् से भिन्न आकाश भी वास्तविक हो जायेगा, इस शंका का उत्तर तो ठीक नहीं, क्योंकि बुद्धि के द्वारा सत् के पृथक् करने पर हे वादी तुम कहो कि आकाश किस स्वरूप वाला रह गया ॥६८॥

असत्त्वे भानं न स्यादित्याशङ्क्य तुच्छविलक्षणत्वाद्भानं न विरुध्यत इत्याह—

भातीति चेद्भातु नाम भूषणं मायिकस्य तत् ।
यदसद्भासमानं तन्मिथ्या स्वप्नगजादिवत् ।।७०।।

अन्वयः—भाति इति चेत् भातु नाम तत मायिकस्य भूषणं यत् यत् भासमानं असत् तत् स्वप्न गजादिवत् मिथ्या ।

भातीति चेदिति । अविरोधं दर्शयितुं मिथ्यावस्तुनो लक्षणं[१] सदृष्टान्तमाह 'यदसदिति' यद्वस्तु स्वरूपेणा-विद्यमानमपि भासते तत्स्वप्नगजादिवन्मिथ्येत्यर्थः ।।७०।।

आकाश के दुर्निरूप होने में शंका करते हैं --

आकाश रूप आकाश को कहोगे तो वह असत् (मिथ्या है) और सत् से भिन्न है यह असत् नहीं ऐसा कहें तो तुम्हारे मत में व्याघात दोष है ।

यदि वह आकाश को सत् स्वभाव न मानकर अवकाश रूप है ऐसा कहोगे, सत् से विलक्षण होने से असत् ही हो जायेगा यह निश्चय करो । यदि कहो सत् से भिन्न भी है असत् भी नहीं होता तो भी ठीक नहीं, क्योंकि सत् से भिन्न है परन्तु असत् नहीं है ऐसा तुम कहोगे तो तुम्हारे मत में व्याघात[१] दोष है क्योंकि सत् से भिन्न असत् ही होता है ।।६६।।

शंका-असत् होने पर भान न होगा तो ठीक नहीं क्योंकि तुच्छ से विलक्षण के भान में कोई विरोध नहीं है । (मिथ्या माया का लक्षण)

अविरोध दिखाते हुए मिथ्या वस्तु का लक्षण दृष्टान्त के सहित कहते हैं । असत् होते हुए भी आकाश प्रतीत होता है तो हुआ करे, असत् होते हुए प्रतीत होना मायावादी का भूषण है । जो असत् अर्थात् स्वरूप से न हो, परन्तु प्रतीत होती हो, जैसे स्वप्नावस्था में हाथी आदि के समान ।।७०।।

विशेष १—व्याहतिम् पूर्वोत्तरविरोधि असंबद्धार्थकं वाक्यम् । ।यथा यावत् जीवं अहं मौनी ब्रह्मचारी च मे पिता । माता तु मम वन्ध्यासीद् पुत्रश्चप्र पितामह इति ।

२ –मित्यात्वं ज्ञानबाध्यत्वम् । अयं प्रपञ्चो मिथ्यैव सत्यं ब्रह्माहमद्वयम् । अत्र प्रमाणं वेदान्ता गुरवोनुभवस्तथा ।
स्वतः सत्ता शून्यम्

ननु नियमेन सहोपलभ्यमानयोर्भेदो न दृष्टचर इत्याशङ्क्याह——

जातिव्यक्ती देहिदेहौ गुणद्रव्ये यथा पृथक् ।
वियत्सतोस्तथैवास्तु पार्थक्यं कोऽत्र विस्मयः ॥७१॥

अन्वयः—यथा जातिव्यक्ती देहिदेहौ गुणद्रव्ये पृथक् तथैव वियत् सतोः पार्थक्यं अस्तु अत्र कः विस्मयः ॥

भेदो यद्यपि बुध्यते तथापि निश्चितो न भवतीति शङ्कते—

बुद्धोऽपि भेदो नो चित्ते निरूढिं याति चेत्तदा[1] ।
अनैकाग्र्यात्संशयाद्वा रूढ्यभावोऽस्य ते वद ॥७२॥

अन्वयः—भेदः बुद्धोऽपि चित्ते निरूढि नो याति चेत्तदा (मनसः) अनैकाग्र्यात् संशयाद्वा अस्य रूढ्यभावः ते वद ॥

बुद्धोऽपीति । तस्य परिहारं वक्तुं निश्चयाभावे कारणं पृच्छति —'अनैकाग्र्यादिति' ॥७२॥

आद्ये परिहारमाह –

अप्रमत्तो भव ध्यानादाद्येऽन्यस्मिन्विवेचनम् ॥
कुरु प्रमाणयुक्तिभ्यां ततो रूढतमो भवेत् ॥७३॥

अन्वयः—आद्ये ध्यानात् अप्रमत्तो भव अन्यस्मिन् प्रमाणयुक्तिभ्यां विवेचनं कुरु ततः रूढतमो भवेत् ॥

अप्रमत्त इति । आद्ये प्रथमे विकल्पे ध्यानात् तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ' इत्युक्तलक्षणादप्रमत्तो भव, सावधानमना भवेति यावत् । द्वितीये परिहारमाह—'अन्यस्मिन्निति' । ततः किमित्यत आह— 'ततइति' ॥७३॥

शंका करो यद्यपि भेद जान लिया तो भी निश्चय नहीं होता इस शंका पर कहते हैं—

शंका—नियम से जो में दिखाई पड़े और भिन्न भिन्न भेद दृष्टिगोचर न हो इस शंका पर कहते हैं—

जाति तथा व्यक्ति, देही तथा देह और गुण तथा द्रव्य, पृथक्-पृथक् हैं उसी प्रकार आकाश और सत् भी पृथक्-पृथक् है । इसमें कौन आश्चर्य है ॥७१॥

आकाश और सत् का यह भेद समझा हुआ भी यदि चित्त में न जमता हो तो बताओ कि इस अस्थिरता का क्या कारण है । चित्त की एकाग्रता का न होना है अथवा तुम्हारे चित्त में बैठा हुआ कोई संशय है । यह तुम कहो अर्थात् इन दोनों से अन्य कोई कारण प्रतीत नहीं होता ॥७२॥

विशेष १—(१) निरूपाधिक भ्रम (२) सोपाधिक भ्रम ॥

ततोऽपि किमित्यत आह—

ध्यानान्मानाद्युक्तितोऽपि रूढे भेदे वियत्सतोः ।
न कदाचिद्वियत्सत्यं सद्वस्तु च्छिद्रवन्न च ।।७४।।

अन्वयः—ध्यानात् मानात् युक्तितोऽपि वियत्सतोः भेदे रूढे वियत् कदाचित् सत्यं न सद्वस्तु छिद्रवत् (अवकाशवत) न च ।।

ध्यानादिति । ध्यानं पूर्वोक्त लक्षणम्, मानं 'भिन्ने वियत्सती शब्द भेदाद्बुद्धेश्च भेदतः, (प्र० २।६७) इत्यत्रोक्तम् । युक्तिस्तु 'सद्वस्त्वधिकवृत्तित्वात्' (प्र० २।६८) इत्यादावुक्ता । एतैः ध्यानादिभिः वियत्सतोर्भेदे चित्ते निरूढि याते सति वियत् कदाचिन्न सत्यं किन्तु सर्वदा मिथ्यैवावभासते, सद्वस्त्वपि छिद्रवदवकाशवन्न'च नैव, भवतीति शेषः ।।७४।।

वियत्सत्त्व विवेचने फलमाह—

ज्ञस्य भाति सदा व्योम निस्तत्त्वोल्लेखपूर्वकम् ।
सद्वस्त्वपि विभात्यस्य निश्छिद्रत्वपुरःसरम् ।। ७५।।

अन्वयः—ज्ञस्य सदा व्योम निस्तत्त्वोल्लेखपूर्वकं भाति सद्वस्तु अपि अस्य निश्छिद्रत्वपुरसरं विभाति ।।

चित्त की एकाग्रता के परिहार को कहते हैं —

प्रथम चित्त की एकाग्रता के अभाव से है। तो ध्यान से मन को लगाकर प्रमत्तता छोड़ तब तो अपने मन को समाधान कर। यदि कोई संशय रह गया हो संशय से भेद की प्रतीति हो तो युक्ति और प्रमाणों से उसका विवेचन कर उसे मिटा दो इन दोनों साधनों द्वारा सत् और आकाश का भेद के ज्ञान में भली प्रकार से आरूढ़ हो जायेगा ।।७३।।

अब ध्यान के फल को कहते हैं -

पूर्वोक्त प्रत्यय की एकतनता ध्यान पहले ७३वें श्लोक में कह दिया है मान (प्रमाण। ६७वें श्लोक में कहा। युक्ति भी ६८वें श्लोक में कही गयी है। इस पूर्वोक्त ध्यान, मान, प्रमाण आदियों से जब आकाश और सत् का भेद चित्त में आरूढ़ हो जायेगा तो आकाश कदाचित् भी सत्य नहीं प्रतीत होगा किन्तु सदा मिथ्या ही प्रतीत होगा और सत् वस्तु भी छिद्र वाली प्रतीत न होगी। भावार्थ यह है कि ध्यान मान और युक्ति से आकाश और सत् का भेदज्ञान होने पर आकाश सत्य और सद्वस्तु अवकाश वाली प्रतीत नहीं होगी ।।७४।।

अब आकाश और सत् के विवेक का फल कहते हैं —

वियन्मिथ्यात्वं सतो वस्तुत्वं च सदा चिन्तयतः किं भवतीत्यत आह—

वासनायां प्रवृद्धायां वियत्सत्यत्ववादिनम् ।
सन्मात्राबोधयुक्तं च दृष्ट्वा विस्मयते बुधः ॥७६॥

अन्वय :—वासनायां प्रवृद्धायां वियत् सत्यत्ववादिनम् सन्मात्राबोधयुक्तं दृष्ट्वा बुधः विस्मयते ।

वासनायामिति । बुधो वियत्सतोस्तत्त्ववेत्ता गगनस्य सत्यत्वं ब्रुवाणं निरवकाशसद्वस्तववबोधरहितं च दृष्ट्वा विस्मयं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥७६॥

उक्तन्यायमन्यत्राप्यतिदिशति—

एवमाकाशमिथ्यात्वे सत्सत्यत्वे च वासिते ।
न्यायेनानेन वाय्वादेः सद्वस्तु प्रविविच्यताम् ॥७७॥

अन्वय :—एवं आकाशमिथ्यात्वे सत्सत्यत्वे च वासिते अनेन न्यायेन वाय्वादेः सद्वस्तु प्रविविच्यताम् ।

भेद के ज्ञाता पुरुष को जब कभी व्यवहार में आकाश की प्रतीति होती है तो उसे सदैव निस्तत्व (मिथ्या) नाममात्र प्रतीत होता है। उसको जब-जब सद् वस्तु का भान होता है। तब-तब यह ज्ञान भी रहता है कि यह सद्वस्तु आकाश रहित है ॥७५॥

आकाश को मिथ्या और सत् को सत्य मानता हुआ बार-बार अनुभव करता हुआ जो है उसको क्या है वह कहते हैं—

आकाश और सद् की यथार्थता को जानने वाला जो बुध ज्ञानी है वह वासना अत्यन्त बढ़ने पर (दृढ़ हो जाती है) आकाश को सत्य मानने वाले और आकाश रहित सत् को न जानने वाले पुरुष को देखकर आश्चर्य करने लगता है ॥७६॥

उक्त न्याय को सद् और वायु आदि में दिखाते हैं—

इस प्रकार जब आकाश का मिथ्यापन और सत् का सत्यापन भली प्रकार चित्त में जम जाय तो इसी न्याय (शैली) के द्वारा वायु आदि शेष चारों भूतों से सद्वस्तु को भिन्न कर जान लेना चाहिए ॥७७॥

नन्वाकाशकार्यस्य वायोरकारणभूतेन सद्वस्तुना तादात्म्यप्रतीत्ययोगात्सतो विवेचनमप्रयोजकमित्याशङ्क्य साक्षात्संबन्धाभावेऽपि परम्परया संबन्धोऽस्तीत्याह—

सद्वस्तुन्येकदेशस्था माया तत्रैकदेशगम् ।
वियत्तत्राप्येकदेशगतो वायुः प्रकल्पितः ॥७८॥

अन्वय :—सद्वस्तुनि एकदेशस्था माया तत्र एकदेशगं वियत् तत्रापि एकदेशगतो वायुः प्रकल्पितः ।

एवं सद्वाय्वोः संबन्धं प्रदर्श्य, तयोर्धर्मतो भेदज्ञानाय वायौ प्रतीयमानान्धर्मानाह—

शोषस्पर्शौ गतिर्वेगो वायुधर्मा इमे मताः ।
त्रयः स्वभावाः सन्मायाव्योम्नां ये तेऽपि वायुगाः ॥७९॥

अन्वय :—शोषस्पर्शौ गतिः वेगो इमे वायुधर्माः मताः सन् मायाव्योम्नां ये त्रयः स्वभावाः तेऽपि वायुगाः ।

शोषस्पर्शाविति । एवं प्रातिस्विकान्धर्मानभिधाय कारणतः प्राप्तांस्तानाह 'त्रय इति' । सन्मायाव्योम्नां ये त्रयः स्वभावाः शीलविशेषा धर्मास्तेऽपि वायुगाः । वायौ विद्यन्ते इत्यर्थः ॥७९॥

शंका आकाश का कार्य जो वायु उसके अकारण रूप सत् वस्तु से वायु की एकता की प्रतीति अयुक्त है इससे वायु से सत् का विवेक करना निष्प्रयोजक (व्यर्थ) है इस शंका पर कहते हैं। साक्षात् सम्बन्ध का अभाव होने पर भी परम्परा सम्बन्ध है—

सद् वस्तु के किसी एक देश में माया है और माया के एक देश में आकाश है, उस आकाश के भी एक देश में वायु की कल्पना[1] की गई है ॥७८॥

इस प्रकार सत् और वायु के परम्परा सम्बन्ध को दिखाकर उन दोनों के धर्म से भेद ज्ञान के लिए वायु में प्रतीत हुए धर्मों को कहते हैं—

सुखाना-स्पर्श-गति-वेग ये वायु के धर्म माने हैं । इस प्रकार चार स्वाभाविक धर्मों को कहकर और सत् माया और आकाश के जो क्रमशः तीन स्वभाव सत्ता-मिथ्या और शब्द इनके जो तीन स्वभाव हैं कारणों के वायु में भी है ॥७९॥

विशेष—१ आकाश को माया उपाहित चैतन्य में कल्पित होने से इसलिए उसको अन्य कल्पित की अधिष्ठामता नहीं बन सकती । इससे यहाँ आकाश उपहित चेतन में वायु कल्पित (अध्यस्त) है यह अभिप्राय है ऐसा सारे स्थल में जानना ।

के ते धर्मा इत्यत आह—

वायुरस्तीति सद्भावः सतो वायौ पृथक्कृते ।
निस्तत्त्वरूपता मायास्वभावो व्योमगो ध्वनिः ॥८०॥

अन्वय :—वायुः अस्ति इति सद्भावः सतो वायौ पृथक्कृते निस्तत्त्वरूपता माया स्वभावः व्योमगः ध्वनिः ।

वायुरिति । वायुरस्तीति व्यवहारहेतुसद्रूपत्वं सद्वस्तुनो धर्म एकः । वायौ सद्वस्तुनो विवेचिते सति यन्निस्तत्त्वरूपत्वं स मायाधर्मो द्वितीयः । शब्दो व्योम्नः सकाशादागतो धर्मस्तृतीय इत्यर्थः ॥८०॥

ननु व्योमविवेचनप्रस्तावे, वाय्वादिष्वनुवृत्तं सत् न तु व्योमेति भेदधीः । (प्र० २।६७ इत्यत्र वाय्वादावाकाशानुवृत्तिर्निवारिता । इदानीं व्योमानुवृत्तिरभिधीयते । अतः पूर्वोत्तरविरोध इति शङ्कते—

सतोऽनुवृत्तिः सर्वत्र व्योम्नो नेति पुरेरितम् ॥
व्योमानुवृत्तिरधुना कथं न व्याहतं वचः ॥८१॥

अन्वय :—सतोऽनुवृत्तिः सर्वत्र व्योम्नो नेतिपुरा ईरितं व्योमानिवृत्तिः अधुना (उच्यते) वचः व्याहतं कथं न ।

सत इति । व्योमानुवृत्तिरधुनोच्यत इति शेषः ॥८१॥

अब उन्हीं कारणों के धर्म को कहते हैं—

"वायु है" इस व्यवहार के हेतु यह सत् ब्रह्म का रूप (धर्म) वायु में सत् रूप का धर्म है । सत् से वायु को पृथक् करने पर जो निस्तत्वं रूपता (मिथ्यात्व) है वह वायु में माया का स्वभाव है और शब्द जो वायु में प्रतीत होता है वह आकाश का स्वभाव हैं । अर्थात् आकाश के सम्बन्ध से प्रतीत होता है ॥८०॥

यदि शंका करो कि व्योम के विवेक प्रकरण में इसी प्रकरण के ६७वें श्लोक में कहा गया है कि सत् की सर्वत्र अनुवृत्ति है, आकाश की नहीं, वायु आदि में आकाश की अनुवृत्ति का निषेध किया, अब आकाश की अनुवृत्ति के कहने में पूर्वापर के विरोध (व्याघात दोष) की शंका करते हैं—

शंका-सत् की अनुवृत्ति सर्वत्र होती है आकाश की नहीं, यह पहले कह आये आये और अब आकाश की अनुवृत्ति को कहते हुए तुम्हारे वचन में व्याघात दोष क्यों नहीं होगा ॥८१॥

पूर्वमवकाशलक्षणस्वरूपानुवृत्तिर्निवारिता, इदानीं धर्मानुवृत्तिरेवाभिधीयते, न स्वरूपानुवृत्तिः, अतो न व्याहतिरिति परिहरति—

छिद्रानुवृत्तिर्नेतीति पूर्वोक्तिरधुना त्वियम् ।
शब्दानुवृत्तिरेवोक्ता वचसो व्याहृतिः कुतः ॥८२॥

अन्वय :—छिद्रानुवृत्तिः नेति इति पूर्वोक्तिः अधुना तुइयं शब्दानुवृत्तिः एव उक्ता (तर्हि) वचसो व्याहृतिः कुतः ।

ननु वायोः सद्ब्रह्मविलक्षणत्वादसत्त्वलक्षणं मायामयत्वं यदुच्यते तह्यव्यक्तस्वरूपमाया-वैलक्षण्यादमायामयत्वमपि किं न स्यादिति चोदयति -

ननु सद्वस्तुपार्थक्यादसत्त्वं चेत्तदा कथम् ।
अव्यक्तमायावैषम्यादमायामयतापि नो ॥८३॥

अन्वयः—ननु सदवस्तु पार्थक्यात् असत्त्वं चेत् तदा अव्यक्तमायावैषम्यात् अमायामयतापि कथं नो ।

पूर्व शंका का समाधान-प्रथम ६७वें श्लोक में जो लक्षण स्वरूप की अनुवृत्ति का निषेध किया अब धर्म की अनुवृत्ति कहते हैं स्वरूप की नहीं इस प्रकार व्याघात दोष नहीं—

छिद्र अर्थात् अवकाश रूप लक्षण वाले आकाश की अनुवृत्ति नहीं होती यह पूर्व कहा और अब तो यह शब्द की अनुवृत्ति कही है, अवकाश स्वरूप की अनुवृत्ति नहीं कही है, इसलिए वचन का व्याघात दोष कैसे हो सकता है ॥८२॥

शंका—हे सिद्धान्ती यदि तुम वायु को सद्रूप ब्रह्म से विलक्षण होने के कारण असत् रूप (मायामय) कहोगे तो बताओ कि अव्यक्त रूप माया से विलक्षण होने से वायु अमायामय भी हो जायेगा । अर्थात् सत्य क्यों नहीं मान लेते ।

पूर्व पक्षी शंका करे कि सद्रूप ब्रह्म से विलक्षण होने से वायु को असत् रूप मायामय कहोगे तो अव्यक्त रूप माया से विलक्षण होने से वायु अमायामय भी हो जायेगा । कि सत् वस्तु से पृथक् होने से वायु असत् है तो अव्यक्त माया की विषमता अमायामय भी क्यों नहीं मानते ॥८३॥

नाव्यक्तत्वं मायामयत्वे प्रयोजकं, किन्तु निस्तत्त्वरूपत्वं, तत्तु मायायामिव वाय्वादावप्यस्तीति न मायामयत्वहानिरिति परिहरति—

निस्तत्त्वरूपतैवात्र मायात्वस्य प्रयोजिका।
सा शक्तिकार्ययोस्तुल्या व्यक्ताव्यक्तत्वभेदिनोः ॥८४॥

अन्वयः—अत्र मायात्वस्य प्रयोजिका निस्तत्त्वरूपतैव सा व्यक्ताव्यक्तत्वभेदिनोः शक्तिकार्ययोः तुल्या।

ननुशक्तिकार्ययोरुभयोरपि निस्तत्वरूपतायामविशिष्टायां व्यक्ताव्यक्तत्वलक्षणो भेद कुतइयशङ्कय। तद्विचारः प्रस्तुतानुपयुक्त इति परिहरति—

सदसत्त्वविवेकस्य प्रस्तुतत्वात्स चिन्त्यताम्।
असतोऽवान्तरो भेद आस्तां तच्चिन्तयाऽत्र किम् ॥८५॥

अन्वयः—सदसत्त्वविवेकस्य प्रस्तुतत्वात् स चिन्त्यतां असतो वा अन्वातरो भेदः आस्तां अत्र तच्चिन्तया किं।

सदसत्त्वेति। असतो माया तत्कार्य रूपस्यावान्तरभेदो व्यक्ताव्यक्तत्व[२]रूप इत्यर्थः ॥८५॥

अब उक्त शंका का समाधान करते हैं मायामयता का हेतु अव्यक्त तत्त्व नहीं अपितु निस्तत्त्वता ही है। वह माया के समान युवा आदि में भी तुल्य है, इसलिए मायामय मान लेने में कुछ हानि नहीं—

मायामयत्व का प्रयोजक निस्तत्व (मिथ्यात्व) है और वह व्यक्त (वायु) और अव्यक्त (माया) मात्र में भी है भेद जिनका ऐसी माया और कार्य दोनों में तुल्य[१] है ॥८४॥

शंका—जब माया शक्ति और उसके कार्य वायु आदि में निस्तत्वरूपता समान हैं तो एक व्यक्त एक अव्यक्त यह भेद कहाँ से हुआ इस शंका का परिहार प्रकरण विरुद्ध होने से समाधान करते हैं—

असत् के व्यक्त अव्यक्त रूप अवान्तर (मध्य) भेद को रहने दो यहाँ उसके विचार का क्या फल है ८५॥

विशेष १ शक्ति के कार्य वायु में तुल्य है—अर्थात् व्यावहारिक पक्ष की रीति से माया का परिणाम जो आकाश उसका परिणाम होने से परम्परा से वायु माया का कार्य है।

२—अव्यक्तता रूप है शक्ति की अव्यक्तता और कार्य की व्यक्तता में हेतु आगे अद्वैतानन्द के प्रकरण में ३६वें श्लोक में देखो। अतोऽनिर्वचनीयोऽयं शक्तिवत् तेन शक्तिजः (यह श्लोक है)।

फलितमाह—

सद्वस्तु ब्रह्म शिष्टोंऽशो वायुर्मिथ्या यथा वियत् ।
वासयित्वा चिरं वायोर्मिथ्यात्वं मरुतं त्यजेत् ॥८६॥

अन्वयः—सद्वस्तु ब्रह्म शिष्टः अंश वियत् यथावायुः मिथ्या चिरं वायोः मिथ्यात्वं वासयित्वा मरुतं त्यजेत् ॥८६॥

सद्वस्त्विति । वायौ यः संदशस्तद् ब्रह्म[1] रूपम् । शिष्टोंऽशो निस्तत्त्वादिर्वायोः स्वरूपम् स च वायुर्निस्तत्त्व- रूपत्वादेव आकाशवन्मिथ्या । इत्थं वायोर्मिथ्यात्वं चिरं वासयित्वा मरुतं त्यजेत् मरुत्सत्य इति बुद्धिं त्यजेदि- त्यर्थः ॥८६॥

वायौ उक्तं विचारं तेजस्यप्यतिदिशति—

चिन्तयेद्वह्निमप्येवं मरुतो न्यूनवर्तिनम् ।
ब्रह्माण्डावरणेष्वेषा न्यूनाधिकविचारणा ॥८७॥

अन्वयः—एवं वह्नि अपि मरुतः न्यूनवर्तिनम् चिन्तयेत् एषा ब्रह्माण्डवरणेषु (अस्ति) न्यूनाधिक विचारणा अस्ति ।

चिन्तयेदिति । ननु 'सद्वस्तुन्येकदेशस्था माया तत्र' (प्र० २।७८) इत्यादिना वियदादीनां न्यूनाधिकभाव उक्तः स लोके न क्वापि दृश्यत इत्याशङ्क्याह – 'ब्रह्माण्डेति ॥८७॥

फलितार्थ का प्रतिपादन करते हैं—

वायु में जो सत् का अंश है वह ब्रह्म रूप है-और शेष अंश निस्तत्त्वता (१) आदि शब्द से शब्द, स्पर्श आदि वायु का स्वरूप है । वह वायु आकाश के समान मिथ्या है । निस्तत्त्व रूप (अधिष्ठान ब्रह्म से भिन्न सत्ता के अभाव वाला होने से मिथ्या) है । इस प्रकार चिरकाल तक वायु के मिथ्यात्व[2] निश्चय करके मुमुक्षु. वायुः को छोड़ दें वायु सत्य है इस बुद्धि को छोड़ दे ॥८६॥

विशेष १ – देशतः कालतो वस्तुतः परिच्छेदरहितं ब्रह्म । बृहत्वं बृहणत्वं आत्मा एव ब्रह्म बृहणत्वपिण्ड ब्रह्माण्डशरीरबृद्धयादिहेतुत्वम् । वार्तिके अव्याबृतानुगतं वस्तु ब्रह्मेति भण्यते ब्रह्मार्थो दुर्लभोऽत्र ।

२ – मिथ्यात्वं स्वतः सत्ताशून्यत्वम् । ए अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड जिस अनादि अनन्त परिपूर्ण वस्तु में भास रहे हैं, उसी ब्रह्म में इनका अभाव भी है ! अतः अपने अभाव के अधिकरण में भासमान होने से ए अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड मिथ्या हैं । अधिष्ठान निष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगित्व मिथ्यात्वम् । जिस अधिष्ठान में जिस वस्तु का अत्यन्त अभाव हो उसी में उस वस्तु का भासना मिथ्या है, जैसे रज्जू में सर्प है नहीं, फिर भी रस्सी में सर्प का भासना उसे दिखाई पड़ते हुए सर्प को मिथ्या कहेंगे ।

वायोः कियतांशेन न्यूनो वह्निरित्यत आह—

वायोर्दशांशतो न्यूनो वह्निर्वायौ प्रकल्पितः।
पुराणोक्तं तारतम्यं दशांशैर्भूतपञ्चके ॥८८॥

अन्वयः—वायोः दशांशतो न्यूनः वह्निः वायौ प्रकल्पितः पुराणोक्तं तारतम्यं दशांशैः भूत पञ्चके (उक्तं)।

वायोरिति। तस्य वास्तवत्वशङ्कां वारयति 'वायाविति'। नन्वयं न्यूनाधिकभावः स्वकपोलकल्पित इत्याशङ्कयाह 'पुराणोक्तमिति'[१] ८८॥

उक्त वायु के विचार को अग्नि में भी कहते हैं अर्थात् सत् ब्रह्म और अग्नि का विवेचन करते हैं—

इसी प्रकार वायु की अपेक्षा न्यून देश में रहने वाली अग्नि का भी इसी प्रकार विचार करे। (अन्त में अग्नि की भी सत्यत्व बुद्धि का भी परित्याग कर दे)। यदि शंका करो ७८वें श्लोक में सत् वस्तु के एक देश में माया है और माया के एक देश में आकाश है ७८वें श्लोक में आकाश आदि का जो न्यूनाधिक भाव कहा है वह लोक में चाहे न होता हो अर्थात् नहीं देखा। सो ठीक नहीं ब्रह्माण्ड[२] के आवरणों में पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदि में भी यही न्यून अधिक विचार है ॥८७॥

वायु से कितने अंश में अग्नि कम है—

शंका—अग्नि वास्तविक नहीं है व्यावहारिक है, यह न्यूनाधिक भाव स्वकपोल कल्पित है, अर्थात् मिथ्या है। अग्नि वास्तविक सत्य पदार्थ नहीं है व्यावहारिक है।

यह न्यूनाधिक भाव कपोल कल्पित नहीं है। अपित पुराणों के कथन के अनुसार इन पाँच भूतों में १⁄१० भाग के अनुसार क्रम से न्यूनाधिक भाव है ॥८८॥

विशेष १—ब्रह्माण्ड के आवरणों में या लोक प्रसिद्ध पदार्थों में यह न्यूनाधिकता का विचार नहीं है इससे लोक में इस न्यूनाधिक भाव का देखना बनता नहीं।

२—इदं श्री मद्भागवते ३।२६।५२। "एतदण्डं विशेषाख्यं क्रमवृद्धै र्दशोत्तरैः। तोयादिभिः परिवृतं प्रधानेनावृतं बहिः" । यत्र लोकवितानोऽयं रूपं भगवतो हरेः।

वह्नेः स्वरूपमाह—

वह्निरुष्णः प्रकाशात्मा पूर्वानुगतिरत्र च ।
अस्ति वह्निः स निस्तत्त्वः शब्दवान्स्पर्शवानपि ॥८९॥

अन्वयः - वह्निःउष्णः प्रकाशात्मा अत्र च पूर्वानुगतिः वह्निः अस्ति सशब्दवान् स्पर्शवान् अपि निस्तत्त्वः ।

वह्निरिति । अत्रापि वायाविव कारणधर्मा अनुगता इत्याह–'पूर्वेति' के ते धर्मा इत्याकांक्षायामाह-'अस्तीति' ॥८९॥

एवमग्नौ कारणधर्मानुगत्यनुवादपूर्वकं स्वकीयं धर्मं दर्शयति—

सन्मायाव्योमवाय्वंशैर्युक्तस्याग्नेर्निजो गुणः ।
रूपं तत्र सतः सर्वमन्यद्बुद्ध्या विविच्यताम् ॥९०॥

अन्वयः— सन्मायाव्योमवाय्वंशैः युक्तस्य अग्नेः निजः गुणः रूपं तत्र सतः सर्वं अन्यद् बुद्धया विविच्यतां ।

सन्मायेति । इत्थं सविशेषणं वह्निस्वरूपं व्युत्पाद्य, इदानीं सद्वस्तुनो वह्निं विविनक्ति –'तत्रेति' । तत्र तेषु मध्ये सतः सद्वस्तुनोऽन्यत्सर्वं धर्मजातं मिथ्येति बुद्धया विविच्यताम् पृथक् क्रियतामित्यर्थः ॥९०॥

अग्नि के स्वरूप को कहते हैं अर्थात् सत् और अग्नि का विवेक—

अग्नि उष्ण और प्रकाश रूप है और इस अग्नि में भी ये कारण के धर्मों की अनुगति हो रही है, इसलिए कहा जाता है कि वह्नि है, मिथ्या रूप है और स्वर्शवान् है ॥८९॥

इसी प्रकार कारण के धर्मों से युक्त अग्नि के अनुवाद पूर्वक अग्नि के स्वाभाविक धर्म को दिखाते हैं—

इस प्रकार विशेषणों सहित अग्नि के स्वरूप का प्रतिपादन कर अब सत् वस्तु से अग्नि को अलग दिखाते हैं । सत्, माया, आकाश तथा वायु इन चार कारणों के अंश क्रमशः अस्तित्व, मिथ्यात्व, शब्द, स्पर्श ये चार धर्म हैं । इनसे युक्त अग्नि का अपना गुण (धर्म) रूप है । इनमें से सत् को छोड़कर शेष सर्व धर्म मिथ्या है, बुद्धि द्वारा इस बात का विवेचन पृथक्करण कर लेना चाहिए ॥९०॥

एवं वह्नेर्मिथ्यात्वनिश्चयानन्तरमपां मिथ्यात्वं चिन्तयेदित्याह—

सतो विवेचिते वह्नौ मिथ्यात्वे सति वासिते।

आपो दशांशतो न्यूनाः कल्पिता इति चिन्तयेत् ॥६१॥

अन्वयः सतो विवेचिते वह्नौ मिथ्यात्वे सति वासिते दशांशतो न्यूनाः आपः कल्पिताः इति चिन्तयेत्।

अस्यापि कारणधर्मान्स्वधर्मांश्च विभज्य दर्शयति—

सन्त्यापोऽमूः शून्यतत्त्वाः सशब्दस्पर्शसंयुताः।

रूपवत्योऽन्यधर्मानुवृत्त्या स्वीयो रसो गुणः ॥६२॥

अन्वयः—अमूः आपः सन्ति शून्यतत्त्वाः सशब्दस्पर्शसंयुताः रूपवत्यः अन्यधर्मानुवृत्त्या स्वीयः रसः गुणः।

सन्त्याप इति। शब्देन सह वर्तते इति सशब्दः सशब्दश्चासौ स्पर्शश्च सशब्दस्पर्शः तेन युक्ता इत्यर्थ ॥६२॥

विवेकध्यानाभ्यामपां मिथ्यात्वं निश्चित्यानन्तरं भूमेर्मिथ्यात्वं चिन्तनीय मित्याह—

सतो विवेचितास्वप्सु तन्मिथ्यात्वे च वासिते।

भूमिर्दशांशतो न्यूना कल्पिताऽप्स्विति चिन्तयेत् ॥६३॥

अन्वय :—अप्सु सतो विवेचितासु तन्मिथ्यात्वे च वासिते दशांशतो न्यूना भूमिः अप्सु कल्पिता इति चिन्तयेत्।

इस प्रकार जब अग्नि का मिथ्यात्व निश्चय हो गया। सत् वस्तु से विवेक करने पर (पृथक्) करने पर जल का मिथ्यात्व चिन्तन करे—

वह्नि का सत् से विवेक (पृथक्) करने पर मिथ्यात्व का निश्चय हो गया तो अग्नि से दशांश न्यून (कम) जल, अग्नि, उपहित चैतन्य में कल्पित है। यह चिन्तन करना चाहिए। अर्थात् जलों को भी मिथ्या समझे ॥६१॥

अब जलों में भी कारण के और अपने गुणों को कहते हैं

यह जल है यह जल मिथ्या है, यह शब्द, स्पर्श और रूपवाला है ऐसा कहा जाता है। अयन के धर्मों की अनुवृत्ति (आने से है और जल का अपना गुण रस है ॥६२॥

अब विवेक और ध्यान से जलों का मिथ्यात्व का निश्चय होने पर भूमि के मिथ्यात्व की चिन्तन को कहते हैं—(सत् से पृथिवी का विवेक।

सत् वस्तु से जल का विवेक और मिथ्यात्व का निश्चय होने पर उन जलों में दशांश न्यून (कम) है वह भूमि भी जल उपहित चैतन्य में कल्पित है। अर्थात् मिथ्या है ऐसा चिन्तन करें ॥६३॥

तस्या मिथ्यात्वचिन्तनाय तद्धर्मानपि विभजते —

अस्ति भूस्तत्त्वशून्यास्यां शब्दस्पर्शौ सरूपकौ ।
रसश्च परतो गन्धो नैजः सत्ता विविच्यताम् ॥९४॥

अन्वयः—भूःअस्ति तत्त्वशून्या अस्यां सरूपकौ शब्दस्पर्शौ रसश्च परतः गन्धः नैजः सत्ता विविच्यताम् ।

अस्ति भूरिति । तेभ्यः सत्तामात्रं पृथक् कर्तव्यमित्याह-'सत्तेति' ॥९४॥

सत्तापृथक्करणे फलमाह—

पृथक्कृतायां सत्तायां भूमिर्मिथ्याऽवशिष्यते ।
भूमेर्दशांशतो न्यूनं ब्रह्माण्डं भूमिमध्यगम् ॥९५॥

अन्वयः—सत्तायां पृथक्कृतायां भूमिः मिथ्या अवशिष्यते भूमेः दशांशतो न्यूनं ब्रह्माण्डं भूमि मध्यगं ।

पृथगिति । इदानीं भौतिकेभ्यो ब्रह्माण्डादिभ्यःसतो विवेचनाय तदवस्थानप्रकारं दर्शयति — 'भूमेरिति' ॥९५॥

अब भूमि में मिथ्यात्व निश्चय के लिए भूमि के धर्मों का विभाग करते हैं—

भूमि "है वह निस्तत्त्व (मिथ्या) है" इस भूमि में शब्द, स्पर्श, रूप, रस ये गुण दूसरों (क्रमशः सत् माया, आकाश, वायु, तेज और जल कारणों से आये हैं। पृथिवी का अपना गुण (धर्म) गन्ध है, उन सब में से सत्ता का विवेचन करना है ॥९४॥

सत्ता से पृथक् करके फल कहते हैं—

सत्ता से पृथक् कर लेने पर भूमि नाम का पदार्थ मिथ्या रह जाता है। अब भौतिक ब्रह्माण्ड आदि से पदार्थों से सत् वस्तु के विवेकार्थ ब्रह्माण्ड आदि की स्थिति का वर्णन करते हैं। पृथिवी से दश अंश कम चौदह भुवनों के रूप में विद्यमान ब्रह्माण्ड है, वह पृथिवी के मध्य में स्थित है। इसका एक अर्थ यह भी है कि वह ब्रह्माण्ड आकाश में घूमते रहने वाले भूमि के खण्डों (परमाणुओं) से बना हुआ है। परन्तु पृथिवी जिस ब्रह्माण्ड के मध्य में स्थित है ऐसा अर्थ होना ठीक प्रतीत होता है ॥९५॥

ब्रह्माण्डमध्ये तिष्ठन्ति भुवनानि चतुर्दश ।
भुवनेषु वसन्त्येषु प्राणिदेहा यथायथम् ।।९६।।

अन्वयः—ब्रह्माण्डमध्ये चतुर्दश भुवनानि तिष्ठन्ति एषु भुवनेषु यथायथं प्राणिदेहाः वसन्ति । स्पष्टम् ।।९६।।

तेषु सद्विवेचने फलमाह -

ब्रह्माण्डलोकदेहेषु सद्वस्तुनि पृथक्कृते ।
असन्तोऽण्डादयो भान्तु तद्भानेऽपीह का क्षतिः ।।९७।।

अन्वयः—ब्रह्माण्डलोक देहेषु सद्वस्तुनि पृथक्कृते असन्तः अण्डादयः भान्तु तद्भानेऽपि इह क्षतिः का ।

तद्भाने का क्षतिरित्युक्तमेवार्थं स्पष्टीकरोति—

भूतभौतिकमायानामसत्त्वेऽत्यन्तवासिते ।
सद्वस्त्वद्वैतमित्येषा धीर्विपर्येति न क्वचित् ।।९८।।

अन्वयः—भूतभौतिकमायानां असत्वे अत्यन्तवासिते सद्वस्तु अद्वैतं इति एषाधीः क्वचित् न विपर्येति ।

भूतेति । भूतानामाकाशादीनां भौतिकानां ब्रह्माण्डादीनां मायायाश्च तत्कारणभूताया मिथ्यात्वे-विवेकध्यानाभ्यां चित्ते दृढं वासिते सति सद्वस्तुनोऽद्वैतत्वबुद्धिः कदाचिन्न विहन्यते इत्यर्थः ।।९८।।

ब्रह्माण्ड के मध्य में चौदह भुवन टिक रहे हैं और उन चौदह भुवनों में प्राणियों के देह अपने अपने कर्मों के अनुसार रहते हैं। चौदह भुवन-यहाँ भू. भुवः स्व, मह, जन, तप, और सत्य ये सात ऊपर अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल महातल और पाताल इस प्रकार के चौदह भुवन हैं ।।९६।।

भूतों का कार्य ब्रह्माण्ड से सत् के विवेचन का फल कहते हैं—

ब्रह्माण्ड, चौदह भुवन और प्राणियों के देहों में से सद्वस्तु के पृथक् कर लेने पर भी असत् ब्रह्माण्ड आदि का भान होता है तो होता रहे। इससे हमारी कुछ हानि नहीं (अर्थात् अद्वैत ब्रह्म तत्त्व की कोई हानि नहीं है जैसे मृग जल की प्रतीति से उसकीअधिष्ठान पृथ्वी गीली नहीं होती ऐसे ही जगत की मिथ्या जगत के भासने से अष्ठिान अद्वैत ब्रह्म में कुछ हानि नहीं होती।

असत् वस्तु के भान होने पर अद्वैत की कोई हानि नहीं इसी को कहते हैं—

आकाश आदि पाँच भूत ब्रह्माण्ड आदि भौतिक इनकी कारण रूपमाया इन तीनों की मिथ्यात्व की वासना के विवेक और ध्यान से चित्त में दृढ़ जम जाने पर सत् वस्तु अद्वैत ही है यह बुद्धि कभी भी बिपरीत भाव को प्राप्त नहीं होती अर्थात् सदैव बनी रहती है ।।९८।।

ननु भूम्यादीनामसत्त्वे विदुषो व्यवहार लोपःप्रसज्जेतेत्याशङ्क्य विवेकेन मिथ्यात्वनिश्चयेऽपि भूम्यादेः स्वरूपोपमर्दनाभावान्न व्यवहारो लुप्यत इत्याह—

सदद्वैतात्पृग्भूते द्वैते भूम्यादिरूपिणि ।
तत्तदर्थक्रिया लोके यथा दृष्टा तथैव सा ॥९९॥

अन्वयः—सदद्वैतात् पृथग्भूते भूम्यादिरूपिणि द्वैते लोके तत्तदर्थं क्रिया यथा दृष्टा तथैव सा ।

ननु सत्तत्त्वस्याद्वैतरूपत्वे सांख्यादिभिरभिधीयमानस्य भेदस्य कुतो न निराशः क्रियते इत्याशङ्क्य व्यावहारिकभेदस्यास्माभिरभ्युपगतत्वान्न तन्निरासाय प्रयत्यत इत्याह—

सांख्यकाणादबौद्धाद्यैर्जगद्¹भेदो यथा यथा ।
उत्प्रेक्ष्यतेऽनेकयुक्त्या भवत्वेष तथा तथा ॥१००॥

अन्वयः—सांख्यकाणादबौद्धाद्यैः जगद्भेदः यथा यथा उत्प्रेक्ष्यते अनेकयुक्त्या एष तथा तथा भवति ।

कोई शंका करे कि जबभूमि आदि रूपधारी इस द्वैत जगत को, सत् अद्वैत से पृथक् मिथ्या जान लिया जाता है तो विद्वान के व्यवहार का लोप हो जायेगा इस शंका का उत्तर - जब भूमि आदि स्वरूप द्वैतका विवेक के द्वारा मिथ्यात्व निश्चय होने पर ज्ञानी को भूमि आदि के स्वरूप का नाश नहीं होता इससे व्यवहार का लोप भी नहीं होता है—

जब भूमि आदि द्वैत का सत् अद्वैत से पृथक् भाव हो गया तो भी उन-उस अर्थ का कार्य जैसा जगत् में देखा है, वैसा ही विद्वान को प्रतीत होगा ॥९९॥

कदाचित् कोई शंका करे कि यदि सत् रूप तत्त्व अद्वैत रूप है तो सांख्य आदि के कहे भेद का खण्डन क्यों नहीं करते ।

उत्तर—हम भी व्यावहारिक भेद को मानते हैं, इससे उसके खण्डन करने में प्रयत्न नहीं करते—

सांख्य कणाद, बौद्ध आदि जैसे-जैसे जगत् का भेद अनेक युक्तियों से वर्णन करते हैं, वह भेद वैसे-वैसे ही रहे ॥१००॥

विशेष १—कपिल मत के अनुसारी सांख्य वादी । कणाद (कण भुक्) मत के अनुसारी वैशेषिक बुद्ध अवतार के शिष्य (१) माध्यमिक (शून्यवादी (२) योगाचार (क्षणिक विज्ञानवादी) (३) सौत्रान्तिक (बाह्य पदार्थ की अनुमेयता का वादी) (४) वैभाषिक (बाह्यार्थ पदार्थ की प्रत्यक्षता का वादी) ये चार बौद्ध कहलाते हैं । आदि शब्द से गौतम के अनुयायी नैयायिक आदि अन्य भेद वादियों का ग्रहण करना ।

ननु प्रमाणसिद्धस्य सत्त्वभेदस्य अवज्ञा अनुपपन्नेत्याशङ्क्याह--

अवज्ञातं सदद्वैतं निःशङ्कैरन्यवादिभिः ।

एवं का क्षतिरस्माकं तद्द्वैतमवजानताम् ॥१०१॥

अन्वयः निःशङ्कैः अन्यवादिभिः सदद्वैतं अवज्ञातं एवं तद्द्वैतमवजानतां अस्माकं का क्षतिः ।

अवज्ञातमिति । यथाऽन्यवादिभिः सांख्यादिभिः निःशंकैः श्रुत्यादिसिद्धस्यापि सदद्वैतस्यावज्ञा क्रियते, श्रुतियुक्त्यनुभवावष्टम्भेनास्माभिस्तदीयद्वैतानादरणे किं हीयत इत्यर्थः ॥१०१॥

ननु निष्प्रयोजनेयं द्वैतावज्ञा इत्याशङ्क्य, जीवन्मुक्तिलक्षणप्रयोजनसद्भावान्मैवमित्याह ..

द्वैतावज्ञा सुस्थिता चेदद्वैते धीः स्थिरा भवेत् ।

स्थैर्ये तस्याः पुमानेष जीवन्मुक्त इतीर्यते ॥१०२॥

अन्वयः—द्वैतावज्ञा सुस्थिता चेत् अद्वैते धीः स्थिरा भवेत् तस्याः स्थैर्ये एष पुमान् जीवन्मुक्त इति ईर्यते ।

न केवलं जीवन्मुक्तिरेव[1] प्रयोजनम्, अपितु विदेहमुक्तिरपीत्यभिप्रायेण कृष्णवाक्यमप्युदाहरति—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति ।

स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥१०३

अन्वयः—हे पार्थ एषा ब्राह्मी स्थितिःएनां प्राप्य न विमुह्यति अस्यां अन्तकालेऽपिस्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणं ऋच्छति ।

शंका करो कि प्रमाणों से सिद्ध तत्व भेद को मानने वाले अन्य वादियों की अवज्ञा (तिरस्कार करना उचित नहीं तो हमारा उत्तर है—

जब अन्य सांख्य वादियों ने निःशंक होकर श्रुति आदि से सिद्ध सद् अद्वैत की अवज्ञा की है तो वैसे ही श्रुति युक्ति और अनुभव द्वारा उनके द्वैत तिरस्कार करने में हमारी क्या हानि है, कुछ भी हानि नहीं है ॥१०१॥ ।

शंका द्वैत अवज्ञा निष्प्रयोजन है उत्तर अब द्वैत की अवज्ञा का फल जो जीवन्मुक्ति उसका वर्णन करते हैं —

द्वैत तिरस्कार पूर्ण रुप से अन्तःकरण में स्थिर हो जायेगी तो अद्वैत में बुद्धि स्थिर हो जायेगी स्थिर बुद्धि पुरुष जीवन्मुक्त कहलाने लगताहै ॥102॥

विशेष । प्रपञ्च की प्रतीति होते हुए (अद्वैत ब्रह्म में स्वरूप परिस्थित ऐसा पुरुष जीवन्मुक्त ।

'अन्तकाल' शब्देन वर्तमानदेहपातोऽभिधीयते इत्याशङ्कां वारयितुं विवक्षितमर्थमाह—

सदद्वैतेऽनृतद्वैते यदन्योन्यैक्यवीक्षणम् ।
तस्यान्तकालस्तद्भेदबुद्धिरेव न चेतरः ॥१०४॥

अन्वयः—सदद्वैते अन्नृततद्वैते यत् अन्यून्यैक्यवीक्षयणं तस्य अन्तकालः तद्भेदबुद्धिःएवइतर च न ।

सदद्वै ते इति । सद्रूपेऽद्वैते च यदन्योन्याध्यासलक्षणमैक्यज्ञानमस्ति, तस्यैक्यभ्रमस्यान्तकालो नाम तयोरद्वैतद्वैतयोः सत्यानृतरूपेण भेदबुद्धिरेव, नापरो वर्तमानदेहपात इत्यर्थः ॥१०४॥

केवल जीवन्मुक्ति ही फल नहीं, किन्तु श्री कृष्णजी की कही यह विदेह मुक्ति भी इसका फल है—

यह गीता २।७२ में कहा है। हे अर्जुन यहाँ तक ब्रह्म निष्ठा[1] बतलाई इस स्थिति में प्राप्त हुआ मनुष्य फिर भ्रान्त नहीं होता। यदि मनुष्य अन्त काल में भी इस स्थिति में ठहर जाता है तो वह ब्रह्म भाव रूप विदेह[3] मुक्तिमय ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त करता है ॥१०३॥

यहाँ अन्तकाल शब्द से वर्तमान देह पात लिया इस शंका का उत्तर वर्तमान देह पात नहीं लेना—

सत् रूप अद्वैत और मिथ्या रूप द्वैत इनकी जो परस्पर अन्योन्याध्यास रूप एकता का ज्ञान रूप भ्रम हो रहा था उस एकता के भ्रम ज्ञान का अन्तकाल अर्थात् "सद् अद्वैत" और मिथ्या द्वैत को क्रमशः दोनों को भिन्न-भिन्न समझने को ही अन्तकाल कहते हैं देहमरण को नहीं ॥१०४॥

विशेष— १—ब्रह्मनिष्ठ—तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् १।१।७ ब्र० सू० ।

२—ब्रह्मनिर्वाण—प्रपञ्च की प्रतीति से रहित अद्वैत ब्रह्मस्वरूप से स्थिति विदेह मुक्ति ।

३—अध्यासः परमपरावभासः स द्विविधो ज्ञानाध्यासोऽर्थाध्यासश्च । यद्वा-स्वरूपाध्यास संसर्गाध्यासश्चेति द्विधो अध्यास- तत्राद्यो स्वरूपाध्यासरज्ज्वादौ भुजंगाद्यध्यास आत्मनि अनात्माध्यासो द्वितीयस्तु संसर्गाध्यास स्फटिके लौहितस्य शंखे पीतिभ्नो अनात्मनि च आत्मतद्धर्मादिः ।

इदानीं लोकप्रसिद्धार्थस्वीकारेऽपि न दोष इत्यभिप्रायेणाह—

यद्वाऽन्तकालः प्राणस्य वियोगोऽस्तु प्रसिद्धितः ।
तस्मिन्कालेऽपि न भ्रान्तेर्गताया: पुनरागमः ।।१०५।।

अन्वय :—यद्वा अन्तकालः प्रसिद्धितः प्राणस्य वियोगः अस्तु तस्मिन् कालेऽपि गतायाः भ्रान्तेः पुनः आगमः न ।

उक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति—

नीरोग उपविष्टो वा रुग्णो वा विलुठन्भुवि ।
मूर्च्छितो वा त्यजत्वेष प्राणान्भ्रान्तिर्न सर्वथा ।।१०६।।

अन्वय :—नीरोगः उपविष्टो वा रुग्णो वा भूविविलुठनमूर्च्छितो वा एषु प्राणान् त्यजतु सर्वथा भ्रान्तिर्न ।

अब जगत् में प्रसिद्ध अन्तकाल के लेने में दोष के अभाव को कहते हैं—अथवा लोक प्रसिद्ध होने के कारण देह के प्रधान लिङ्ग प्राणों के वियोग को ही अन्तकाल मान लो—उसमें भी कोई दोष नहीं है क्योंकि जो भ्रान्ति उस समय नष्ट हो जायेगी वह फिर कभी लौटकर आने वाली नहीं है ।।१०५।।

पूर्वोक्त अर्थ का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—

रोग रहित हो अथवा उपविष्ट (बैठा) हो रोगी हो या भूमि पर लोटता, पड़ा या मूर्च्छा को प्राप्त हो ऐसा होकर भी यह पुरुष प्राणों को त्यागे तो भी यह भ्रान्ति नहीं रहती, अर्थात् मरण समय में सर्वथा भ्रम की निवृत्ति हो जाती है ।[१] ।।१०६।।

विशेष—(१) ब्रह्मैवाहं न संसारी नित्यमुक्तः न शोकभाक् । सच्चिदानन्दरूपोऽहं आत्मानं इति भावयेत् । ऐसी भावना करता हुआ "राम-राम" कहता हुआ या पीड़ा से व्याकुल हुआ—तनुं त्यजति वा काश्यांश्वपचस्य गृहे तथा ज्ञानसम्प्राप्तिसमये मुक्तोऽसौ विगताशय—काशी आदि पवित्र देश में मगध देश में चाण्डाल के घर ज्ञान के समकाल में मुक्त है मरण का देश कालकर्मि उपासक के लिए है तत्त्व ज्ञान के लिए नहीं है ।

ननु प्राणवियोगकाले मूर्च्छादिना ज्ञाननाशे भ्रान्तिः स्यादेव इत्याशङ्क्य ज्ञाननाशाभावे दृष्टान्तमाह—

दिने दिने स्वप्नसुप्त्योरधीते विस्मृतेऽप्ययम् ।
परेद्युर्नानधीतः स्यात्तद्वद्विद्या न नश्यति ॥१०७॥

अन्वय :—दिने दिने स्वप्नसुप्त्योः अधीते विस्मृतेऽपि अयं परेद्युः नानधीतः स्यात् तद्वत् विद्या न नश्यति ।

दिनेदिन इति । यथा प्रत्यहमधीते वेदे स्वप्नसुषुप्त्याद्यवस्थायां विस्मृतेऽपि परेद्युरनधीतवेदत्वं नास्ति, तथा मृतिकालेऽपि तत्त्वानुसंधानाभावेऽपि ज्ञाननाशाभाव इत्यर्थः ॥१०७॥

व्युत्पत्ति :—परेद्युः पूर्वस्मिन् अहनि सद्यःपरुत्इत्यादिना निपातनात् एद्युष् प्रत्यये पूर्वेद्युः इति निपात्यते ।

ज्ञाननाशाभावमेवोपपादयति —

प्रमाणोत्पादिता विद्या प्रमाणं प्रबलं बिना ।
न नश्यति न वेदान्तात्प्रबलं मानमीक्ष्यते ॥१०८॥

अन्वय :—विद्या प्रमाणोत्पादिता प्रबलं प्रमाणं बिना न नश्यति वेदान्तात् प्रबलं मानं न ईक्ष्यते ।

शंका प्राण वियोग के समय मूर्च्छा आदि से ज्ञान का नाश होने पर भ्रान्ति हो जायेगी, इस शंका पर कहते हैं । ज्ञान के नाश के अभाव में दृष्टान्त कहते हैं--

जैसे प्रतिदिन स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में पठित वेद का विस्मरण होने पर भी अगले दिन में वह वेद अनधीत (अपठित) नहीं होता अर्थात् उसकी स्मृति बनी रहती है । वैसे ही मरण काल में भी तत्त्व का अनुसंधान न होने पर भी विद्या (ज्ञान)[१] का नाश नहीं होता ॥१०॥

ज्ञान का नाश के अभाव प्रतिपादन करते हैं –

प्रमाणों से उत्पन्न हुई विद्या प्रबल प्रमाण के बिना[२] नष्ट नहीं होती और वेदान्त से प्रबलतर दूसरा प्रमाण प्रबल अन्य कोई दिखाई भी नहीं पड़ता ॥१०८॥

विशेष—(१) ज्ञान के नाश का अभाव अहं ब्रह्मास्मि मैं ब्रह्म हूँ । इस दृढ़ निश्चय रूप अपरोक्ष ब्रह्म निष्ठा अभेद ज्ञान है ।

(२) बाधितत्त्वदविद्यायां विद्यां सा नैव बाधते । सद्वासना निमित्तत्वं याति विद्या स्मृते ध्रुवम् ॥नै० कर्म सि०॥

उपपादितमर्थमुपसंहरति—

तस्माद्वेदान्तसंसिद्धं सदद्वैतं न बाध्यते ।
अन्तकालेऽप्यतो भूतविवेकान्निर्वृत्तिः स्थिता ॥१०६॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्भारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकिंकरेण रामकृष्णन सरचितायां तात्पर्यदीपिकाख्यायां पञ्चभूतविवेकाख्यं द्वितीयंप्रकरणम् समाप्तम् ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनि कृत पञ्चदश्यां पञ्चभूत-विवेकाख्यं द्वितीयं प्रकरणम् ।

अन्वय :—तस्माद् वेदान्तसंसिद्धं सदद्वैतं न बाध्यते अन्तकालेऽपि अतःभूतविवेकात् निवृतिः स्थिता ।

प्रतिपादित अर्थ का उपसंहार करते हैं—

इससे यही सिद्ध हुआ कि वेदान्त सिद्ध अद्वैत की बाधा अन्तकाल में भी नहीं होती इसलिए यह कहना सर्वथा उचित है कि सत् से पञ्चभूतों का भेद ज्ञान रूप विवेचन कर लेने से निरतिशय सुख की प्राप्ति रूप मुक्ति निश्चित रूप से होती है ।

विशेष—वेदान्त जीवब्रह्मअभेदबोधकवाक्यम् । वेदानाम अन्तेऽवसानभाग उपनिषद् ।

इति श्री मत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यस्वामिश्रीकरपात्रशिष्य
श्रीडॉ०लक्ष्मणचैतन्यब्रह्मचारिविरचित लक्ष्मणचन्द्रिकाख्ये पञ्चदशीहिन्दीव्याख्याने
पञ्चभूतविवेकाख्यं द्वितीयं प्रकरणम् समाप्तम् ।

पञ्चकोशविवेकप्रकरणम्

नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
पञ्चकोशविवेकस्य कुर्वे व्याख्यां समासतः ।।१।।

तैत्तिरीयोपनिषत्तात्पर्यव्याख्यानरूपं पञ्चकोशविवेकाख्यं प्रकरणमारभमाण आचार्यः तत्र श्रोतृप्रवृत्तिसिद्धये सप्रयोजनमभिधेयं[1] सूचयन् मुखतश्चिकीर्षितं ग्रन्थं प्रतिजानीते—

गुहाहितं ब्रह्म यत्तत्पञ्चकोशविवेकतः ।
बोद्धुं शक्यं ततः कोशपञ्चकं प्रविविच्यते ।।१।।

अन्वयः—गुहाहितं यद् ब्रह्म तत् पञ्चकोश विवेकतः बोद्धुं शक्यं ततः कोशपञ्चकं प्रविविच्यते ।

गुहाहितमिति—'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' (तैत्ति० २।१।१) इति श्रुत्या गुहाहितत्वेनाभिहितं यत् ब्रह्म अस्ति तत् 'गुहा' शब्दवाच्यान्नमयादिकोशपंञ्चकविवेकेन ज्ञातुं शक्यते, ततस्तेषां कोशानां पञ्चकं प्रकर्षेण प्रत्यगात्मनः सकाशाद्विभज्य प्रदर्श्यत इत्यर्थः ।।१।।

श्री भारतीतीर्थ और विद्यारण्यमुनि को नमस्कार करके मैं पञ्चकोश विवेक को संक्षेप में व्याख्या करता हूँ ।।१।।

अब यजुर्वेद के अन्तर्गत तैत्तिरीय उपनिषद के तात्पर्य व्याख्यान रूप में जो पंञ्चकोश विवेक प्रकरण, उसका आरम्भ करते हुए और उसमें श्रोताओं की प्रवृत्ति के लिए प्रयोजन अभिधेय को सूचित करते हुए श्री आचार्य ग्रन्थकार मुख से कहने योग्य ग्रन्थ की प्रतिज्ञा करते हैं—

जो परम आकाश रूप गुहा में छिपे ब्रह्म को जानता है। इस श्रुति में कहा जो गुहाहित ब्रह्म है। वह गुहा शब्द के अर्थ जो पञ्च (अन्नमय आदि) कोश उसके विवेक से जानने शक्य है। इससे उन पाँचों कोशों के अवान्तर प्रत्यगात्मा से भली तरह पृथक् करके दिखाया जा रहा है ।।१।।

विशेष १—पञ्चकोशेभ्यो विवेकेन आत्मनो ज्ञानं पञ्चकोश अनात्मप्रतिपन्नम् च अस्य प्रकरणस्य प्रयोजनम् ।

पञ्च कोशों की परम्परा के अनुसार माला गुहा शब्द करके है। जैसे पर्वत अविच्छिन्न आकाश में विद्यमान पाँच किवाड़ सहित द्वार युक्त गुफा होती है, उसमें अतिशय तेजो रूप

ननु केयं गुहा, यस्यां निहितं ब्रह्म कोशपञ्चकविवेकेन अवबुध्यते, इत्याशङ्क्य श्रुत्या 'गुहा' शब्देन विवक्षितमर्थमाह—

देहादभ्यन्तरः प्राणः प्राणादभ्यन्तरं मनः ।
ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परम्परा ॥२॥

अन्वयः –देहात् अभ्यन्तरः प्राणः प्राणात् अभ्यन्तरं मनः ततः कर्ता (विज्ञान आन्तर) ततः भोक्ता (आनन्दमयः) सेयं परम्परा गुहा ।

देहादिति । देहादन्नमयात्प्राणः प्राणमयः अभ्यन्तरः आन्तरः प्राणात्प्राणमयान्मनः मनोमयः अभ्यन्तर आन्तरस्ततो मनोमयात्कर्ता विज्ञानमय आन्तर इत्यनुषज्यते । ततो विज्ञानमयाद्भोक्ता आनन्दमयः सोऽपि पूर्ववदान्तर इत्यर्थः । सेयं अन्नमयाद्यानन्दमयान्तानां परम्परा 'गुहा' शब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥२॥

शंका-गुहा कौन हैं । इससे स्थित ब्रह्म पञ्चकोश के विवेक से जाना जाता है । उत्तर श्रुति से अब उस गुहा शब्द से विवक्षित अर्थ को कहते हैं—

अन्नमय रूप देह से आन्तर (भीतर) प्राण और प्राणमय से आन्तर मन और मनोमय से आन्तरकर्ता विज्ञानमय और विज्ञानमय आन्तर भोक्ता आनन्दमय) कोश है । वह यह जो अन्नमय कोश से आनन्दमय पर्यन्त कोशों की परम्परा है यही गुहा है । अर्थात् गुहा अपनी-अपनी एकता के द्वारा ब्रह्म को छिपा देती है ॥२॥

बाहर प्रकाशमान तेज तत्व की अवस्था विशेष मणिमयों भगवत् प्रतिमा स्थित होती है । उस प्रतिमा की आच्छादक जैसे यह गुफा है जैसे ही सबको अवकाश देने वाली अव्याकृत (माया, रूप आकाश में विद्यमान जो पाँच को उसमें उस माया के भी परम प्रकाश ब्रह्म ही प्रत्यगात्मा पञ्चकोश के साक्षी रूप से स्थित है । इससे (पञ्चकोशों के साक्षी) रूप से स्थित है । इससे पञ्चकोश आच्छादक है इससे गुहा कहते हैं और उस मणिमयी प्रतिमा के सेवक के अनुग्रह से किल्ली (चाबी) द्वारा पाँच किवाड़ों के खोलने से प्रतिमा का दर्शन (ज्ञान) होता है । वैसे ब्रह्म निष्ठ गुरु के अनुग्रह से पाँचकोश के विवेक रूप किल्ली द्वारा पाँच कोश कृत आवरण रूप केवाड़ खोलने से प्रत्यगात्मा स्वरूप ब्रह्म का दर्शन (ज्ञान) होता है । इससे इन केशों का ज्ञान विवेक करना चाहिए ।

इदानीमन्नमयस्य स्वरूपं तदनात्मत्वं च वर्णयति—

पितृभुक्तान्नजाद्वीर्याज्जातोऽन्नेनैव वर्धते ।

देहः सोऽन्नमयो नात्मा प्राक् चोर्ध्वं तदभावतः ॥३॥

अन्वयः—पितृभुक्तात् अन्नजात वीर्यात् जातः अन्नेनैव वर्धते देहः स अन्नमयः नात्मा (जन्मनः) प्राक् (मरणात्) ऊर्ध्वं तदभावतः ।

पितृभुक्तेति । पितृभुक्तान्नजात्[1]मातृपितृभुक्तात् यवव्रीह्यादिलक्षणात् अन्नाज्जायमानं यद्वीर्यमस्ति तस्माद्वीर्यात् यो देहो जातः यश्च जननान्तरंक्षीराद्यन्नेनैव वर्धते, स देहोऽन्नमयोऽन्नस्य[2] विकारः स आत्मा न भवति । कुत इत्यत आह 'प्रागिति' । जन्मनः प्राक्[3] मरणादूर्ध्वं च तदभावतः, तस्य देहस्याभावादित्यर्थः विवादाध्यासितो देह आत्मा न भवति, कार्यत्वात् घटादिवदिति भावः ॥३॥

अब अन्नमय का रूप और उसको आत्मा से भिन्न दिखाते हैं—

पिता माता के भक्षित अन्न से उत्पन्न रज वीर्य से पैदा हुआ देह अन्न से बढ़ता है, इसलिए अन्नमय है आत्मस्वरूप नहीं, क्योंकि जन्म से पूर्व और मरण के पीछे देह का अभाव है ।

पिता और माता के भक्षण किये अन्न से पैदा हुए वीर्य से उत्पन्न हुआ देह अन्न से ही बढ़ता है । अर्थात् दूध आदि अन्न से पुष्ट होता है वह देह अन्नमय (अन्न का विकार) है, आत्मा नहीं है क्योंकि जन्म से पूर्व और मरण के अनन्तर उस देह का अभाव है यहाँ अनुमान इस प्रकार का है—(चार्वाक् आदि साधारण जन देह को आत्मा मानते हैं इसलिए विवाद का विषय) यह जो देह है, वह आत्मा नहीं है, क्योंकि "कार्य" अर्थात् उत्पत्ति और विनाशवान् है, जैसे घट ॥३॥

विशेष १ पुरुषो ह वा अयमादितो गर्भो भवति-यत् एतत् रेतः तत् एतत् सर्वेभ्यो अङ्गेभ्यः तेजः सम्भूतं आत्मन्येवात्मानं बिभर्ति तत् यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ।(ऐ० २।४।१)

२—माता का रज रूप वीर्य उसके रक्त मांस-त्वचा होते हैं, पिता के वीर्य से हाड़-नाड़ी-मज्जा और वीर्य होते हैं'।

३—प्राग् अभाव-जन्माभाव होने से ।

हेतुरस्तु साध्यं मा भूत्, विपक्षे बाधकाभावादप्रयोजकोऽयं हेतुरित्याशङ्क्य अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशाख्यबाधकसद्भावान्मैवमितिपरिहरति—

पूर्वंजन्मन्यसन्नैतज्जन्म संपादयेत्कथम् ।
भाविजन्मन्यसत्कर्म न भुञ्जीतेह संचितम् ॥४॥

अन्वयः—पूर्वजन्मनि असत् एतत् कथं जन्म सम्पादयेत् भावि जन्मनि असत् कर्म इह सञ्चितं न भुञ्जीत ।

पूर्वजन्मनीति । एतद्देहरूपस्यात्मनः पूर्वस्मिन् जन्मन्यसत्त्वादेतज्जन्महेत्वदृष्टासंभवेऽप्यस्य जन्मनोऽप्यङ्गीक्रियमाणत्वादकृताभ्यागमः प्रसज्जेत । तथा भाविजन्मन्यप्यस्य देहरूपस्यात्मनोऽसत्त्वादभावादिहानुष्ठितयोः पुण्यपापयोः फलभोक्तृरभावेन भोगमन्तरेणापि कर्मक्षयः प्रसज्जेत, अयं कृतविप्रणाशः । एवं कृतनाशाकृताभ्यागमरूपबाधकसद्भावादात्मनः कार्यत्वं नाङ्गीकर्तव्यमिति भावः ॥४॥

कोई शंका करे कि देह में कार्यत्व रूप हेतु को मानोगे, देह रूप आत्मा से भिन्न रूप साध्य को न मानोगे साध्य अनुमिति प्रमा का विषय) क्योंकि उससे विपक्ष (न मानना) कोई बाधक नहीं यह हेतु अप्रोजक अर्थात् (अनात्म स्वरूपस्य असाधक यह आशय है) उत्तर नहीं किये कर्म के फल का भोग किये कर्म के फल का नाश रूप को कहते हैं । ऐसा मत कहो समाधान करते हैं—

पूर्व जन्म में असत् देह इस जन्म को कैसे पैदा करेगा और भावी (भविष्य) जन्म में असत् देह इस देह में संचित कर्मों को कैसे भोगेगा ।

इस देह रूप आत्मा को पूर्व जन्म में न होने से और इस जन्म के हेतु अदृष्ट के असम्भव में भी इस जन्म को अंगीकार करोगे तो अकृत का अभ्यागम (प्राप्ति) होगी वैसे ही भावी (होनेवाला) जन्म में भी यह देह रूप आत्मा न रहेगा तो इस देह के द्वारा किये हुए पुण्य पापों के फल का कोई भोक्ता ही न होगा । इससे भोग के बिना ही किये हुए कर्मों का क्षय रूप कृत नाश हो जायेगा । इससे कृत नाश अकृत का अभ्यागम रूप होने से आत्मा को कार्य जन्म का विकाररूप देह न मानना चाहिए ॥४॥

एवमन्नमयकोशस्यानात्मत्वं प्रदर्श्य,प्राणमयकोशस्य स्वरूपं तदनात्मत्वं च दर्शयति—

पूर्णो[1] देहे बलं यच्छन्नक्षाणां यः प्रवर्तकः ।
वायुः प्राणमयो नासावात्मा चैतन्यवर्जनात् ॥५॥

अन्वयः—देहे पूर्णः बलं यच्छन् अक्षाणां प्रवर्तकः यः स वायुः प्राणमयः असौ चैतन्यवर्जनात् आत्मा न ।

पूर्ण इति । यो वायुर्देहे पूर्णः पादादिमस्तकपर्यन्तं व्याप्तः सन्, बलं यच्छन्, व्यानरूपेण[2] सामर्थ्यं प्रयच्छन् अक्षाणां चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां प्रवर्तकः प्रेरको वर्तते, स वायुः 'प्राणमयः', इत्युच्यते । असावप्यात्मा न भवति । तत्र हेतुमाह –'चैतन्येति' । विवादाध्यासितः प्राण आत्मा न भवति, जडत्वात्, घटादिवदिति भावः ॥५॥

इदानीं मनोमयस्वरूपदर्शनपूर्वकं तस्याप्यनात्मत्वमाह—

अहन्तां ममतां देहे गेहादौ च करोति यः ।
कामाद्यवस्थया भ्रान्तो नासावात्मा मनोमयः ॥६॥

अन्वयः—यः देहे गेहादौ च कामाद्यवस्थया भ्रान्तः, अहंतां ममतां करोति असौ मनोमयः आत्मा न भवति ।

अहन्तामिति । देहेऽहन्तामहंभावं गृहादौ ममतां मदीयत्वाभिमानं च यः करोति असौ 'मनोमय' स आत्मा न भवति । कुत इत्यत आह-'कामादीति' । हेतुगर्भविशेषणम् । कामक्रोधादिवृत्तिमत्त्वेनानियत-स्वभावत्वादित्यर्थः । मनोमय आत्मा न भवति, विकारित्वात्, देहवदिति भावः ॥६॥

अब अन्नमय कोश का आत्मा से भिन्न अनात्मा दिखाकर प्राणमय कोश के स्वरूप और अनात्मा है यह दिखाते हैं । (प्राणमय कोश क्रिया शक्तिमान कार्य रूप विकारी है)—

जो वायु देह में पैर से लेकर मस्तक पर्यन्त सम्पूर्ण देह में व्यापक होकर व्यान रूप से शक्ति (बल) देता हुआ चक्षु आदि इन्द्रियों का उस-उस विषय में प्रेरक है, वह वायु प्राणमय कोश है चेतनता न होने से जड़ होने के कारण वह भी आत्मा नहीं है । विवाद का आश्रय (संशययुक्त समष्टि पापों को आत्मा मानने वाले हिरण्य गर्भ के उपासक यह विवाद का विषय है । प्राण आत्मा नहीं है जड़ होने से घट के समान है ॥५॥

विशेष १—देहात्मवादिनं चार्वाकं निरस्य-प्राणात्मवादिनो हैरण्यगर्भान्निरस्यति—पूर्णोत्यादिना ।
२—सारे शरीरवर्ती वायु व्यान वायु ।

अनन्तरं[1] 'कर्तृ' शब्दवाच्यस्य विज्ञानमयस्य स्वरूपं प्रदर्शयंस्तदनात्मत्वं दर्शयति—

लीना सुप्तौ वपुर्बोधे व्याप्नुयादानखाग्रगा ।
चिच्छायोपेतधीर्नात्मा विज्ञानमयशब्दभाक् ॥७॥

अन्वयः—या चिच्छायोपेतधीः सुप्तौ लीना बोधे आनखाग्रगा सती वपुः व्याप्नुयाद् सा विज्ञानमयशब्दभाक् आत्मा न ।

लीनेति । या चिच्छायोपेता धीश्चिदाभासयुक्ता[2] बुद्धिः सुप्तौ सुप्तिकाले लीना विलीना सती बोधे जागरणकाले आनखाग्रगा नखाग्रपर्यन्तं वर्तमाना सती वपुः शरीरं व्याप्नुयात् संव्याप्य वर्तते सा विज्ञानमयशब्दभाक् 'विज्ञानमय' शब्देनोच्यमाना असावप्यात्मा न भवति, विलयाद्यवस्थावत्वात्, घटादिवदित्यर्थः ॥७ ।

अब मनोमय[1] कोश के स्वरूप आत्मा से भिन्न है अनात्मा उसको कहते हैं—

जो देह में अहंता (देह मैं हूँ) और गृह आदिकों में ममता (मेरे है) ऐसा अभिमान रूप जो करे वह मनोमय कोश रूप मन आत्मा नहीं है क्योंकि वह मन काम क्रोध आदि वृत्तियों से अस्थिर स्वभाव है । अर्थात् सदा एक रस नहीं रहता । मनोमय कोश आत्मा नहीं है, क्योंकि विकारी है (पूर्व वृत्ति अवस्था को छोड़कर दूसरी वृत्ति को ग्रहण करने वाला है) जैसे देह बाल्य कौमार यौवन आदि अवस्थाओं वाला होने से विकारी है आत्मा भी नहीं है ॥६॥

(विज्ञानमय ज्ञानशक्तिमान् कर्ता रूप आवरण शक्ति)

अब कर्ता रूप शब्द से कहा विज्ञानमय के स्वरूप आत्मा से भिन्न अनात्मा है दिखाते हैं—

अर्थ – सोते समय जो चैतन्य प्रतिबिम्ब रूप चिदाभास से युक्त जो बुद्धि सुषुप्तिकाल में लीन होकर छिपी हुई शरीर में व्याप्त रहती है तथा जाग्रत अवस्था में नखों के अग्रभागपर्यन्त सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहती है वह विज्ञानमय कोश रूप बुद्धि आत्मा नहीं हो सकती क्योंकि वह लय अवस्था वाली है । यहाँ भी यह अनुमान है कि बुद्धि आत्मा नहीं है लीन होने से घट के समान है ॥७॥

अर्थ – सोते समय लीन और जाग्रत में नखाग्र पर्यन्त व्यापक जो चिदाभास से युक्त बुद्धि विज्ञानमय कोश रूप वह भी विलय होने से आत्मा नहीं है ॥७॥

विशेष १—इच्छाशक्तिमान् करण रूप विक्षेप करने वाला ।

विशेष (1) मनोमयस्य अनात्मत्व साधन अनन्तरम् इति भावः ।

(2) आभासस्यापि जडाजड विलक्षणत्वेन अनिर्वचनीयत्वात् - आभास जड और चेतन से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है ।

तेनशुद्ध चैतन्यस्य आभास एव बन्धस्तन्निवृत्तश्चमोक्ष न किञ्चित् असमञ्जसम् ।

ननु मनोबुद्ध्योरन्तःकरणत्वाविशेषात् मनोमयविज्ञानमयरूपेण कोशद्वयकल्पनाऽनुपपन्नेत्याशङ्क्य कर्तृत्वकरणत्वाभ्यां भेदसद्भावादघटत एव मनोमयत्वादिभेद इत्याह—

कर्तृत्वकरणत्वाभ्यां विक्रियेतान्तरिन्द्रियम् ।
विज्ञानमनसी अन्तर्बहिश्चैते परस्परम् ॥८॥

अन्वय :—अन्तरिन्द्रियं कर्तृत्वकरणत्वाभ्यां विक्रीयते एते विज्ञानमनसी परस्परं अन्तर्बहिः (वर्तेते) ।

कर्तृत्वेति । अन्तरिन्द्रियमन्तःकरणं कर्तृत्वकरणत्वाभ्यां कर्तृरूपेण करणरूपेण च विक्रियेत, परिणमेतेत्यर्थः । एते कर्तृकरणे विज्ञानमनसी विज्ञानमनःशब्दवाच्ये भवतः । एते च परस्परं अन्तर्बहिर्भावेन वर्तेत, अतः कोशद्वयमुपपद्यत इत्यर्थः ॥८॥

शंका-मन और बुद्धि दोनों ही अन्तःकरण रूप हैं । अतएव मनोमय विज्ञानमय दो कोशों की कल्पना नहीं हो सकती इस शंका की निवृत्ति के लिए कर्तृत्वरूप और करणत्व रूप से उनके भेद को कहते हैं । अर्थात् मनोमय और विज्ञानमय का भेद है—

कर्ताकरण रूप से अन्तःकरण के जो दो विकार उनको विज्ञान और मन कहते हैं और ये दोनों अन्तःबहिः रूप से परस्पर भिन्न है ॥८॥

भीतर की इन्द्रिय (मन) कभी कर्ता रूप से और कभी करण रूप से विकृत (परिणत) होती रहती है । ये दोनों जब कर्ता रूप से परिणत होती है । तब उसको विज्ञान (बुद्धि) मय कोश, और जब करण रूप से परिणत होती है, तब उसको मनोमय कोश कहते हैं । विज्ञान का अर्थ निश्चय रूप वृत्ति और मन का वाच्य संशय रूप वृत्ति है । ये दोनों परस्पर भीतर और बाहर रहा करते हैं (बुद्धि भीतर रहती है मन बाहर रहता है, इसलिए एक अन्तःकरण के दो कोश हो गये हैं ॥८॥

विशेष—१ उत्पत्तिनाशवत्वात् इत्याशय—कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रमातृत्वअभिमानेन इहलोक परलोक गामी व्यावहारिकजीवकूटस्थ आत्मा को आवृत करके अविद्या में स्थित होने पर कूटस्थ आत्मा में कल्पित अन्तःकरण उस अन्तःकरण के तादात्म्य से अहं मैं इस प्रकार अभिमान करने वाला जीव व्यावहारिक है ।

इदानीं भोक्तृशब्दवाच्यस्य आनन्दमयस्य अनात्मत्वं दर्शयितुं तस्य च स्वरूपमाह—

काचिदन्तर्मुखा वृत्तिरानन्दप्रतिबिम्बभाक् ।
पुण्यभोगे भोगशान्तौ निद्रारूपेण लीयते ॥९॥

अन्वय :—पुण्यभोगे काचित् वृत्तिः अन्तर्मुखा सती आनन्दप्रतिबिम्बभाक् सैव भोगशान्तौ निद्रारूपेण लीयते ।

काचिदिति । पुण्यभोगे पुण्यकर्मफलानुभवकाले काचिद्धीवृत्तिरन्तर्मुखा सती आनन्द प्रतिबिम्बभाक् आत्मस्वरूपस्यानन्दस्य प्रतिबिम्बं भजते, सैव भोगशान्तौ पुण्यकर्मफलभोगोपरमे सति निद्रारूपेण लीयते विलीना भवति सा वृत्तिः 'आनन्दमयः [1]' इत्यभिप्रायः ॥९॥

अब भोक्ता शब्द के अर्थ आनन्दमय कोश का स्वरूप और आत्मा से भिन्न अनात्मा है उसको कहते हैं—

"पुण्य भोग के काल में किसी अन्तरमुखी बुद्धि की वृत्ति में जो आनन्द का प्रतिबिम्ब पड़ता है और उस भोग की शान्ति के समय वह वृत्ति निद्रारूप से लीन हो जाती है। उसको आनन्दमय कोश कहते हैं ॥९॥

जब हम किसी पुण्य कर्म के फल को अनुभव करते हैं तब कोई बुद्धिवृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है और उस पर आत्म स्वरूप आनन्द का प्रतिबिम्ब को भजती है, अर्थात् उस वृत्ति में आनन्द का प्रति-बिम्ब पड़ता है और वही वृत्ति पुण्य कर्मफल भोग की शान्ति के समय निद्रा रूप से लीन संस्कार रूप हो जाती है। उस वृत्ति को ही आनन्दमय कोश कहते हैं ॥९॥

विशेष –(१) प्रिय मोदप्रमोदवृत्तिमत् अज्ञानप्रधान संस्काररूप आनन्दमयकोश उच्यते। प्रियमोदप्रमोद रहितं आत्मानं प्रियमोदप्रमोद मन्तमिव अभोक्तारं आत्मानं भोक्तारं इव परिच्छिन्नरहितं आत्मानं परिच्छिन्नमिव ।

तस्याऽनात्मत्वमाह—

कादाचित्कत्वतो नात्मा स्यादानन्दमयोऽप्ययम् ।
बिम्बभूतो य आनन्द आत्माऽसौ सर्वदास्थितेः ॥१०॥

अन्वय : अयं आनन्दमयोऽपि कादाचित्कत्वतः आत्मा नस्यात् बिम्बभूतः यः आनन्दः असौ सर्वदास्थितेः आत्मा (भवति) ।

कादाचित्कत्वत इति । अयमानन्दमयोऽपि कादाचित्कत्वादात्मा न स्यात्, अभ्रादि पदार्थवदित्यर्थः । ननु विद्यमानानामानन्दमयादीनां सर्वेषामात्मत्वनिरासे नैरात्म्यं प्रसज्जेतेत्याशङ्क्याह- बिम्बभूत इति' । बुद्ध्यादौ प्रतिबिम्बतयाऽवस्थितस्य प्रियादिशब्दवाच्यस्य आनन्दमयस्य बिम्बभूतः कारणभूतो य आनन्दः असावेव आत्मा भवति । कुत इत्यत आह—'सर्वदेति' । नित्यत्वादित्यर्थः । विवादाध्यासित आनन्द आत्मा भवितुमर्हति, नित्यत्वात्, य आत्मा न भवति नासौ नित्यः, यथा देहादिः । गगनादेरुत्पत्तिमत्त्वेनानित्यत्वान्नानैकान्तिकतेतिभावः ॥१०॥

चोदयति—

ननु देहमुपक्रम्य निद्रानन्दान्तवस्तुषु ।
मा भूदात्मत्वमन्यस्तु न कश्चिदनुभूयते ॥११॥

अन्वय :—ननु देहमुपक्रम्य निद्रानन्दान्तवस्तुषु आत्मत्वं मा भूत् अन्यस्तु न कश्चिदनुभूयते । नन्विति । अन्नमयाद्यानन्दमयान्तानां कोशानामुक्तैर्हेतुभिरात्मत्वं न घटते । चेन्म घटिष्ट, अन्यस्त्वात्माऽनुपलभ्यमानत्वान्नैव संभवतीति ॥११॥

अब आनन्दमय कोश को आत्मा से भिन्न अनात्मा कहते हैं—कदाचित् होने से यह आनन्दमय भी आत्मा नहीं, किन्तु इसका बिम्ब जो आनन्द वही नित्य होने से आत्मा है ॥१०॥

यह आनन्दमय भी मेघ आदि के समान कभी-कभी होता है सदा नहीं रहता, इसलिए आत्मा नहीं है । यदि शंका करो कि विद्यमान आनन्दमय आदि सबको आत्मा मानोगे तो जगत् में कोई आत्मा ही न रहेगा, इस शंका का उत्तर-किन्तु बुद्धि आदि में प्रतिबिम्ब रूप से स्थित प्रिय आदि शब्दों के वाच्य (अर्थ) आनन्दमय उसका जो बिम्ब (कारण रूप) आनन्द वही आत्मा है क्योंकि वह सर्वदा स्थित विवाद का आश्रय आनन्द आत्मा होने योग्य है । नित्य होने से जो आत्मा नहीं है वह नित्य भी नहीं हो सकता जैसे देह आदि इस अनुमान में आकाश आदि उत्पत्तिमान होने से अनित्य है इससे हेतु में व्यभिचार दोष नहीं है । अर्थात् नित्यता रूप हेतु आकाश आदि में अतिव्याप्ति नहीं है ॥१०॥

परिहरति—

> बाढं निद्रादयः सर्वेऽनुभूयन्ते न चेतरः ।
> तथाप्येतेऽनुभूयन्ते येन तं को निवारयेत् ॥१२॥

अन्वयः—निद्रादयः सर्वे बाढं अनुभूयन्ते इतरः न च तथापि एते येन अनुभूयन्ते तं को निवारयेत् ।

बाढमिति । अत्र निद्रा' शब्देन निद्रानन्दो लक्ष्यते, निद्रादयो देहान्ता उपलभ्यन्ते, अन्यो नानुभूयते' इति यदुक्तं, तत्सत्यम्, कथं तर्हि तदति रिक्तस्यात्मनोऽङ्गीकारइत्यत आह—'तथापीति' अन्यस्यानुपलभ्यमानत्वेऽपि तद्बलादेतेषां आनन्दमयादींनामुपलभ्यमानता भवति, सोऽनुभवः कथं नाङ्गीक्रियत इत्यर्थ ॥१२॥

यहां वादी की शंका है—

अन्नमय देह से लेकर निद्रा तथा आनन्द पर्यन्त कोशों को पूर्वोक्त कारणों से आत्मत्व नहीं घटता है तो मत घटे, परन्तु इनसे अन्य भी कोई आत्मा प्रतीत नहीं होता अर्थात् इनसे अन्य कोई पदार्थ नहीं है ॥११॥

अब उक्त शंका का समाधान करते हैं—

निद्रा आदि सबका अनुभव होता है इनसे अन्य का नहीं यह यद्यपि सत्य है तथापि जिससे इनका ज्ञान होता है उसको कौन हटा सकता है ॥१२॥

बाढं[1] अर्थ स्वीकृति । निद्रा अर्थात् निद्रागत आनन्द, अर्थात् आनन्दमय, उस आनन्दमय से लेकर (देह) अन्नमय को शतक पाँचकोश ही उपलब्ध होते हैं, अन्य कोई भी पदार्थ उपलब्ध नहीं होता । तुम्हारा यह कथन सर्वथा ठीक है । उनसे भिन्न आत्मा की किस प्रकार सिद्धि होगी. इसका समाधान यद्यपि देह आदि से अन्य कोई नहीं मिलता तथापि जिसके बल से ये आनन्दमय आदि कोश जाने जाते हैं । उस अनुभव (ज्ञान) का निवारण कौन कर सकता है । अर्थात् मानना पड़ेगा वही आत्मा है । वही आत्मा है ॥१२॥

विशेष १—बाढं सो सत्य जहां पूर्व पक्ष दृढ़ होता है वहां बाढ सत्य ऐसा कहते हैं अर्थात् अर्धस्वीकृति ।

ननूक्तेभ्योऽन्य आत्मा यदि विद्यते तह्युपलभ्येत अतो नास्तीत्याशङ्क्याह—

स्वयमेवानुभूतित्वाद्विद्यते नानुभाव्यता ।
ज्ञातृज्ञानान्तराभावादज्ञेयो न त्वसत्तया ॥ १३॥

अन्वय :—स्वयमेव अनुभूतित्वात् अनुभाव्यता न विद्यते ज्ञातृज्ञानान्तराभावात् अज्ञेयः असत्तया तु न ।

स्वयमिति । आनन्दमयादीनां साक्षिणोऽनुभवरूपत्वादेवानुभाव्यत्वं नास्तीति ।ननु अनुभव रूपत्वेऽप्यनुभाव्यत्वं कुतो न स्यादित्या शङ्क्याह—'ज्ञात्रिति' ज्ञाता च ज्ञानं च ज्ञातृज्ञाने, अन्ये ज्ञातृज्ञाने ज्ञातृज्ञानान्तरे. तयोरभावः तस्मादज्ञेयो ज्ञातविषयो न भवतीति ज्ञात्राद्यभावाद्वा न ज्ञायते स्यस्यैवासत्त्वाद्वा किमत्र निगमने कारणमित्यत आह—'न त्वसत्तयेति । निद्रानन्दादिसाक्षित्वेनासत्त्वस्य' पूर्वमेव निराकृतत्वादिति भावः ॥१३॥

कोई शंका करे कि पूर्व देह से अन्य आत्मा यदि होता तो मिलता जिससे नहीं मिलता है इससे जाना जाता है कि नहीं है । इस शंका पर कहते हैं—

उसको स्वयं अनुभव रूप होने से ज्ञेयरूपता नहीं है और वह अपने से भिन्न ज्ञाता और ज्ञान के अभाव से अज्ञेय है असत् रूप से नहीं ॥१३॥

क्योंकि आनन्दमय आदिकों के साक्षी आत्मा को अनुभव रूप होने के कारण किसी अन्य के अनुभव का विषय नहीं है अर्थात् उसका ज्ञाता कोई अन्य नहीं है । किन्तु वह स्वयं प्रकाश रूप है, शंका करो कि अनुभव रूप भी उसको ज्ञान का विषय क्यों नहीं मानते इस शंका का उत्तर, क्योंकि वह अनुभव आत्मा अपने से भिन्न अन्य ज्ञाता और उससे भिन्न ज्ञान के अभाव से ज्ञान का विषय नहीं होता, अपनी असत्ता के कारण नहीं जाना जाता इन दोनों में निश्चय का क्या कारण है[१] कहते हैं । उसकी अज्ञेयता का हेतु, उसकी "असत्ता" अभाव नहीं है १२वें श्लोक में निद्रा आनन्द आदि का साक्षी होने के कारण आत्मा के असत् भाव का निषेध किया जा चुका है । अतएव आत्मा अपने अभाव के कारण अज्ञेय नहीं है, अपितु वह स्वयं विद्यमान होता भी अपने भिन्न ज्ञाता और ज्ञान के अभाव के कारण अज्ञेय[२] अर्थात् स्वप्रकाश रूप है ॥१३॥

विशेष १—निगमनम् = सिद्धान्त (निर्णीत अर्थ) का वाक्य । उपस्थितयोः एकतरमात्रार्थ विषयक शाब्द बोधजननम् । न्याय शास्त्र में प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण-उपनय-निगमन ऐसा कहते हैं । तस्मात् तथा यह निगमन का आकार है ।

२—अज्ञेय (ज्ञान का अविषय) वस्तु तीन प्रकार की होती है, (१) तो असत् (वन्ध्यापुत्रादि) (२) कदाचित् वृत्ति सम्बन्ध रहित और अज्ञान के सम्बन्ध वाला, जैसे घटादिक (३) स्वप्रकाश है इनमें न आत्मा असत् है, और न कदाचित् वृत्ति सम्बन्ध रहित और अज्ञान के सम्बन्ध वाला नहीं है । किन्तु सत् और सर्वदा वृत्ति और अज्ञान के वास्तव सम्बन्ध से रहित है । वन्ध्यापुत्रादिक जैसा अज्ञेय नहीं किन्तु स्वप्रकाश होने से अज्ञेय है ।

३—त्रिषुधामसु यद् भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद् भवेत् । तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहंसदाशिवः ।

अनुभवरूपस्यात्मनोऽनुभाव्यत्वाभावे दृष्टान्तमाह—

माधुर्यादिस्वभावानामन्यत्र स्वगुणार्पिणाम् ।
स्वस्मिंस्तदर्पणापेक्षा नो न चास्त्यन्यदर्पकम् ॥१४॥

अन्वयः—माधुर्यादिस्वभावानां अन्यत्र (स्व संसृष्ट पदार्थेषु) स्वगुणार्पिणां स्वस्मिन् तदर्पणापेक्षा नो अन्यत् अर्पकं च नास्ति ।

माधुर्यादिति । 'आदि' शब्देनाम्लादयो गृह्यन्ते । माधुर्यादयः स्वभावाः सहजा धर्मविशेषा येषां ते माधुर्यादिस्वभावा गुडादयस्तेषामन्यत्र स्वसंसृष्टपदार्थेषु चणकादिषु स्वगुणार्पिणां स्वगुणान्माधुर्यादीन-र्पयन्तीति स्वगुणार्पिणस्तेषां स्वस्मिन्स्वस्वरूपे गुडादिलक्षणे तदर्पणापेक्षा तेषां माधुर्यादीनां अर्पणे सम्पादनेऽपेक्षा आकांक्षा माधुर्यादिकं केनचित्संपादनीयमित्येवंरूपा नो नैव विद्यते, किंचान्यदर्पकं नास्ति, गुडादीनां माधुर्यादिप्रदं वस्त्वन्तरं नास्तीत्यर्थः ॥१४॥

सदृष्टान्तं फलितमाह—

अर्पकान्तरराहित्येऽप्यस्त्येषां तत्स्वभावता ।
मा भूत्तथानुभाव्यत्वं बोधात्मा तु न हीयते ॥१५॥

अन्वयः—अर्पकान्तरराहित्ये अपि एषां अस्ति तत्स्वभावता मा भूत तथानुभाव्यत्वं बोधात्मा तु न हीयते ।

अर्पकान्तरेति । माधुर्यासमर्पकवस्त्वराभावेऽपि येषां गुडादीनां माधुर्यादिस्वभावता यथा विद्यते, एव मात्मनोऽप्यनुभवविषयत्वं मा भूत्, अनुभवरूपता[1] तु भवत्येवेत्यर्थः ॥१५॥

अब अनुभव रूप आत्मा की अनुभाव्यता के अभाव में दृष्टान्त देते हैं—

गुण आदि स्वभाव से मीठे (खट्टे आदि) पदार्थ अपने से बनाये गये हैं और गेहूँ चने आदि में अपने मिठास आदि गुणों को अर्पण कर देते हैं । उन गुण आदि को अपने आपको मिठास आदि अर्पण करने की आवश्यकता नहीं होती वे यह भी नहीं चाहते कि कोई हमको आकर मीठा कर दे और फिर उन गुड़ आदि को मिठास आदि देने वाला दूसरा पदार्थ भी है नहीं ॥१४॥

अब दृष्टान्त के सहित फल को कहते हैं —

जब कोई अन्य मधुरता का अर्पक (दाता) नहीं है । और गुड़ आदि का स्वाभाविक माधुर्य आदि स्वभाव से है वैसे ही आत्मा का भी (किसी के) अनुभव ज्ञान का विषय न होता हो तो भी उसमें ज्ञान रूप आत्मा को कौन हटा सकता है, आत्मा अनुभव रूप है ॥१५॥

विशेष १ --अपने से भिन्न पृथक् जो अनुभव का विषय होता है, वह तो जड़ होगा दृश्य होगा आत्मा अपने स्वरूप से पृथक् तो जड़ होगा ।

उक्तार्थे प्रमाणमाह—

स्वयंज्योतिर्भवत्येष पुरोऽस्माद्भासतेऽखिलात् ।
तमेव भान्तमन्वेति तद्भासा भास्यते जगत ।।१६।।

अन्वयः—एष स्वयं ज्योतिः भवति अस्मात् अखिलात्पुरः भासते तमेव भान्तमन्वेति तद्भासा जगत् भास्यते ।

स्वयमिति । 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' (बृ० ४।३।६) 'अस्मात्सर्वस्मात्पुरतः सुविभातम्' (नृ० उ० ता० २) 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुण्ड० २।२।१०, श्वे० ६।१४, कठ० ५।१४) इत्यादिश्रुतय आत्मनः स्वप्रकाशत्वं बोधयन्तीत्यर्थः ।।१६।।

'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्, विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (बृ० २।४।१४) इति वाक्यमर्थतः पठति—

येनेदं जानते सर्वं तं केनान्येन जानताम् ।
विज्ञातारं केन विद्याच्छक्तं वेद्ये तु साधनम् ।।१७।।

अन्वयः—येनइदं सर्वं जानते तं अन्येनकेन जानतां विज्ञातारं केन विद्यात् साधनं तु वेद्ये शक्तं ।

येनेदमिति । येन साक्षिचैतन्यरूपेण[1] आत्मनाइदं सर्वं दृश्यजातं जानते प्राणिनः तं साक्षिणमात्मानमन्येन केन साक्ष्यभूतेन जडेन जानतामवगच्छेयुः पुमांस[2] इति शेषः । अस्यैव वाक्यस्य तात्पर्यमाह 'विज्ञातारमिति' । दृश्यजातस्य ज्ञातारं केन दृश्यभूतेन विद्याद्विजानीयात् ? न केनापि जानातीत्यर्थः । ननु मनसा ज्ञास्यतीत्याशङ्क्याह 'शक्तिमिति' । साधनं तु ज्ञानसाधनं तु मनः वेद्ये ज्ञातव्यविषये शक्तं समर्थं, न तु ज्ञातर्यात्मनि । 'नैव वाचा न मनसा' (कठ० ६।१२) इत्यादि श्रुतेः । स्वस्यापि ज्ञेयत्वे कर्मकर्तृत्वविरोधाच्चेति भावः ।१७।।

अब पूर्वोक्त अर्थ में श्रुति का प्रमाण कहते हैं—

स्वप्नावस्था में यह पुरुष स्वयंप्रकाश होता है । बृ० उस आत्मा के प्रकाश के पीछे सारा प्रपञ्च प्रकाशित होता है । मु० । इस सम्पूर्ण जगत से पहले प्रकाशित होता है । नृ । इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा की स्वप्रकाशता बताती हैं ।।१६।।

विशेष १—ज्ञातृज्ञानज्ञेयानां आविर्भावतिरोभावज्ञाता एवं स्वयं आविर्भावतिरोभावहीनस्वयंज्योति सक्षी उच्येत ।

२—पुमांस इति शेष यहाँ पुरुष पद शेष है बाहर से कहा गया है ।

आत्मन: स्वप्रकाशत्वे एव 'सवेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता' (श्वे० ३।१९) 'अन्यदेवतद्विदितादथो अविदितादधि' (केन० ३) इति वाक्यद्वयमपि प्रमाणमिति मन्वानस्तद्वाक्यद्वयमर्थत: पठति—

स वेत्ति वेद्यं तत्सर्वं नान्यस्तस्यास्ति वेदिता ।
विदिताविदिताभ्यां तत्पृथग्बोधस्वरूपकम् ॥१८॥

अन्वय: - स यद् वेद्यं तत् सर्वं वेत्ति तस्य वेदिता अन्य: नास्ति तत् विदिताविदिताभ्यां पृथक् बोध स्वरूपकं अस्ति ।

सवेत्तीत्ति । स आत्मा यद्यद्वेद्यं तत्तत्सर्वं वेद्यं वेत्ति । तस्यात्मनो वेदिता ज्ञाता अन्यो नास्ति, तद्बोधस्वरूपकं ब्रह्म विदिताविदिताभ्यां विदितं ज्ञानेन विषयीकृतं, अविदितमज्ञानेनावृतं, ताभ्यां— पृथग्विलक्षणम् बोधस्वरूपत्वादेवेत्यर्थ: ॥१८॥

जिस आत्मा से इस लोक को जानता है उस आत्मा को किससे जानें और गार्गी विज्ञाता जानने वाले को किससे जाने इस श्रुति वाक्य को अर्थ से पढ़ते हैं—

जिस चेतन आत्मा से इस सबको जानते हैं उसको सम्पूर्ण प्राणी किस अन्य से जाने सबके ज्ञाता को किससे जानें क्योंकि ज्ञान का साधन मन जानने योग्य को जान सकता है ज्ञाता को नहीं ॥१७॥

जिस चैतन्य रूप साक्षी आत्मा से सम्पूर्ण प्राणी इस जगत को जानते हैं। उस साक्षी आत्मा को कौन से जड़ साक्ष्य से जानेंगे। अर्थात् नहीं जान सकते. फिर इस वाक्य के तात्पर्य को कहते हैं इस दृश्य (देखने योग्य) जगत् के ज्ञाता को कौन से दृश्य पदार्थ से जाने अर्थात् किसी से भी नहीं जान सकते। शंका करो मन से जान लेंगे तो भी ठीक नहीं क्योंकि ज्ञान का साधन जो मन वह जानने योग्य विषय में समर्थ है। ज्ञाता[1] रूप आत्मा को नहीं जान सकता श्रुति में कहा है। न वह वाणी से मन से न आँखों से आत्मा नहीं जाना जाता है। यदि आत्मा को अपना ही ज्ञेय मानेंगे तो वह स्वयं ही विषय (ज्ञेय कर्म) और स्वयं ही ज्ञाता रूप कर्ता हो यह परस्पर विरोध आता है। अतएव आत्मा अनुभव का विषय नहीं है। वह स्वप्रकाश है ॥१७॥

अब आत्मा के स्वप्रकाश होने में इन दो श्रुति वाक्यों को प्रमाण मानकर श्लोक में पढ़ते हैं—

वह आत्मा सम्पूर्ण वेद्यों को जानता है और उसका ज्ञाता कोई अन्य नहीं है। इसी से ज्ञात और अज्ञात से विलक्षण वह आत्मा बोध रूप है ॥१८॥

विशेष १—परन्तु ज्ञात जो आत्मा है उसको यहाँ बुद्धिरूप उपाधि वाला आत्मा को ज्ञाता (ज्ञान का आश्रय) वृत्ति ज्ञान रूप क्रिया का कर्ता कहा है। वास्तव में तो निरपेक्ष ज्ञान रूप ही आत्मा है। कंठ में "नैव वाचा न मनस" इस श्रुतिमें जिस आत्मा को आप आत्मा करके ज्ञेय हुए भी एक ही को कर्म विषय भाव और कर्ता ज्ञाता भाव रूप विरोध के होने से आत्मा को अनुभव की विषयता का अभाव है। इससे आत्मा स्वप्रकाश है। जैसे एक ही कुलाल को आप ही आप का कर्म आप ही आप कर्ता कहने में कर्म कर्तृ भाव विरोध है। वैसे यहाँ भी (आत्मा को आप ही का ज्ञाता मानने में भी कर्मकर्तृभाव रूप विरोध है ॥१७॥

ननु विदिताविदितातिरिक्तो बोधो नानुभूयत इत्याशङ्क्य, विदितविशेषणस्य वेदनस्यैव बोध स्वरूपत्वातदनु भवाभावे विदितस्याप्यनुभवाभावप्रसङ्गाद्बोधानुभवोऽवश्यमङ्गीकर्तव्य इति सोपहासमाह—

बोधेऽप्यनुभवो यस्य न कथंचन जायते ।
तं कथं बोधयेच्छास्त्रं लोष्टं नरसमाकृतिम् ।।१९।।

अन्वय :—यस्य बोधेऽपि अनुभवः कथञ्चन न जायेत न रसमाकृतिं तं लोष्टं शास्त्रं कथं बोधयेत् ।

बोधेऽपीति । यस्य मन्दस्य बोधेऽपि घटादिस्फुरणरूपेऽप्यनुभवः साक्षात्कारः कथंचन कथमपि न जायते नोत्पद्यते, तं नरसमाकृतिं नरसमाकारं लोष्टंलोष्टव ज्जडं मनुष्यं शास्त्रं कथंबोधयेत् न कथमपि बोधयेदित्यर्थः ।।१९।।

वह आत्मा जो-जो जानने योग्य है, उस सबको जानता है। उस आत्मा का ज्ञाता आत्मा से अन्य कोई नहीं है और वह प्रत्येक् अभिन्न ब्रह्म विदित (ज्ञान का विषय) व्याकृत वस्तु अविदित (अज्ञान से युक्त) जगत् की बीज माया रूप अव्याकृत इन दोनों से पृथक् (विलक्षण) बोध स्वरूप है ।।१८।।

कदाचित कोई शंका करे कि विदित से भिन्न (विलक्षण) तो कोई बोध देखा ही नहीं उसे कैसे मान लें शंका का उत्तर देता है कि यह ठीक नहीं है। क्योंकिविदित (बोध के विषय में जो वेदन विशेषण है और जो कि ज्ञात एवं अज्ञात वस्तु में व्यावर्तक है. वही बोध कहलाता है उस बोध का यदि अनुभव नहीं मानोगे तो विदित ज्ञात वस्तु का भी अनुभव नहीं होगा। इसलिए बोध का अनुभव अवश्य मानना होगा। अत एव वादी को उपहास पूर्वक उत्तर देते हैं—

जिस मन्द को घट आदि के स्मरण रूप बोध में भी अनुभव (साक्षात्कार) किसी प्रकार भी नहीं होता मनुष्य के समान है आकार जिसका ऐसे उस लोष्ट (डेला) अर्थात् जड़ को शास्त्र भी कैसे समझावेगा ? अर्थात् मूर्ख को ज्ञान होना असम्भव हैं ।।१९।।

'बोधो न बुध्यते' इत्युक्तिरेव व्याहतेति सदृष्टान्तमाह—

जिह्वा मेऽस्ति न वेत्युक्तिर्लज्जायै केवलं यथा ।
न बुध्यते मया बोधो बोद्धव्य इति तादृशी ।।२०।।

अन्वयः—जिह्वा मेऽस्ति न वाइति उक्तिः यथाकेवलं लज्जायै, मया बोधः न बुध्यतेइति तादृशी बोधव्यं ।

जिह्वेति । 'मे जिह्वा अस्ति न वा?' इत्युक्तिर्भाषणं यथा लज्जायै केवलं लज्जाजननायैव भवति, न बुद्धिमत्त्वज्ञापनाय जिह्वया बिना भाषणानुपपत्तेः । एवं मया बोधो न बुध्यते, इतः परं बोद्धव्य इत्युक्तिरपितादृशी लज्जाहेतुरेव, बोधेन बिना तद्व्यवहारासिद्धेरित्यर्थः ।।२०।।

भवत्वेवंविधः स बोधः तथापि प्रकृते ब्रह्मावबोधे किमायातमित्याशङ्क्याह—

यस्मिन्यस्मिन्नस्ति लोके बोधस्तत्तदुपेक्षणे ।
यद्बोधमात्रं तद्ब्रह्मेत्येवंधीर्ब्रह्मनिश्चयः ।।२१।।

अन्वयः—लोके यस्मिन् यस्मिन् बोधः अस्तितत् तदुपेक्षणे यद्बोधमात्रं तद्ब्रह्मइति एवं धीः ब्रह्म निश्चयः ।

यस्मिन्निति । लोके जगति यस्मिन्यस्मिन् घटादिलक्षणे विषये बोधो ज्ञानमस्ति तत्तदुपेक्षणे तस्य तस्य घटादिविषयस्योपेक्षणंऽनादरणे कृते सति यद्बोधमात्रं घटादि सर्वत्रानुस्यूतं यत् स्फुरणमस्ति तदेव ब्रह्मेत्येवंरूपा धीर्बुद्धिर्ब्रह्मनिश्चयः ब्रह्मावगतिरित्यर्थः[1] ।।२१।।

अब बोध नहीं जाना इस उक्ति में व्याघात दोष देते हैं दृष्टान्त के सहित—

मेरे मुँह में जिह्वा है कि नहीं यह उक्ति (वचन केवल लज्जा के लिए है । बुद्धिमानी के लिए नहीं, जिह्वा के बिना भाषण ही नहीं हो सकता । इसी प्रकार मैं बोध[2] (घटादि के स्फुरण रूप ज्ञान) को अब नहीं जानता, "उस बोध को मुझे अभी जानना है" यह कथन भी लज्जा का हेतु है । क्योंकि बोध के बिना यह व्यवहार ही नहीं होता अर्थात् कही नहीं जा सकती ।।२०।।

विशेष १—हमको बोध जो घटादिक का स्मरणरूप ज्ञान नहीं है, ज्ञान शब्द का मुख्य अर्थ चेतन ही है और घटादिक विषयाकार हुई जो बुद्धि वृत्ति है वह विषयनिष्ठ चेतन और अभिव्यञ्जक (आविर्भाव की करने वाली) है । इससे वह बुद्धि वृत्ति भी उपचार से ज्ञान शब्द का अर्थ (अमुख्य) गौण है ।

२—ब्रह्म अवगति अध्यासभाष्ये

ननु घटादिविषयोपेक्षया तदर्थानुभवरूपं ब्रह्मावगम्यते चेत्तर्हि कोशपञ्चविवेकोऽयं निष्प्रयोजनः स्यादित्याशङ्क्य, ब्रह्मणः प्रत्यग्रूपताज्ञानेन विना संसारानिवृत्तेः तथात्वावबोधोपयोगित्वान्न तस्यापि[१] वैयर्थ्यमित्याह—

पञ्चकोशपरित्यागे साक्षिबोधावशेषतः ।
स्वस्वरूपं स एव स्याच्छून्यत्वं तस्य दुर्घटम् ॥२२॥

अन्वयः—पञ्चकोशपरित्यागे साक्षिबोधावशेषतः स्वस्वरूपं स एव स्यात् तस्य शून्यत्वं दुर्घटम् ।

पञ्चकोशेति । पञ्चानां कोशानामन्नमयादीनां परित्यागे बुद्ध्याऽनात्मत्वनिश्चये कृते तत्साक्षिरूपस्य बोधस्यावशेषणात् स साक्षिरूपो बोध एवं स्वस्वरूप निजरूपं ब्रह्मैव स्यात् । नन्वन्नमयादीनामनुभवसिद्धानां त्यागे शून्यपरिशेषः स्यादित्याशङ्क्याह—'शून्यत्वमिति' । तस्य साक्षिबोधस्य शून्यत्वं दुर्घटम्, दुःसंपाद्यमित्यर्थः ॥२२॥

शंका-कदाचित कहो कि वह बोध ऐसा रहे, प्रकरण (यहाँ) ब्रह्म के अवबोध में क्या आया उत्तर—

जगत् में जिस-जिस घटादि रूप नाम वाले पदार्थों का बोध (ज्ञान) है। उस-उस घट आदि विषय की उपेक्षा (अनादर) कर देने पर जो केवल ज्ञान रूप घटादि में सर्वत्र व्यापक रूप (अनुस्यूत) स्फुरण है, वही ब्रह्म तत्त्व ऐसी बुद्धि का हो जाना ही "ब्रह्म निश्चय" ब्रह्म ज्ञान कहलाता है ॥२१॥

शंका यदि घट आदि विषयों की उपेक्षा करने पर उस-उस अर्थ का ज्ञान रूप ब्रह्म जाना जाता है, तो फिर पञ्चकोश का विवेक करना व्यर्थ है। इस शंका का उत्तर—क्योंकि ब्रह्म की प्रत्यक् रूपता के ज्ञान बिना संसार की निवृत्ति नहीं हो सकती, और पञ्चकोश विवेक भी प्रत्यक् रूप ज्ञान का हेतु है इसलिए व्यर्थ नहीं है—

पञ्चकोशों के परित्याग में जो साक्षी रूप बोध शेष रहता है वह निजरूप ब्रह्म ही है और शून्यता नहीं हो सकती ॥२१॥

क्योंकि अन्नमय आदि पञ्चकोशों के परित्याग अर्थात् बुद्धि से "अनात्मा" है ऐसा निश्चय करले पर उनका साक्षी रूप बोध ही प्रत्यगात्मारूप से शेष रहता है—वही साक्षी रूप बोध ही स्व अपना स्वरूप ब्रह्म ही है। यदि शंका करो कि अनुभव सिद्ध अन्नमय आदि कोशों के परित्याग (आत्मा न मानने से) तो शून्य ही रह जायेगा यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि साक्षीरूप बोध शून्य नहीं हो सकता ॥२१॥

विशेष १—तस्यापि पञ्चकोशविवेकस्यापि इत्यर्थः। १ मनुष्योऽहम्। २ प्राण्यहम्। ३ प्रमाताऽहम् ४ कर्ताऽहम्। ५ भोक्ताऽहम्। पञ्चानां विशिष्टानां यत् एकंस्वरूपम् अनुगतं प्रत्यक् चैतन्यं तद् ब्रह्म एव इति जीवपरयोः ऐक्यम्।

दुर्घटत्वमेवोपपादयति—

अस्ति तावत्स्वयं नाम विवादा विषयत्वतः ।
स्वस्मिन्नपि विवादश्चेत्प्रतिवाद्यत्र को भवेत् ॥२३॥

अन्वयः—स्वयं नाम तावत् अस्ति स्वस्मिन्नपि विवादश्चेत् अत्र कः प्रतिवादी भवेत ।

अस्तीति । 'स्वयं' शब्दवाच्यं स्वस्वरूपं लौकिकानां वैदिकानांञ्च मतेतावदस्त्येव कुतइत्यत आह—'विवादेति'[1] । स्वस्वरूपस्य विप्रतिपत्तिविषयत्वाभावादित्यर्थः । विपक्षे बाधकमाह—'स्वस्मिन्निति' । स्वात्मन्यपि विप्रतिपत्तौ[2] सत्यां अत्रास्यां विप्रतिपत्तौकः प्रतिवादी नस्यात् ? न कोऽपीत्यर्थः ॥२३॥

ननु स्वासत्त्ववाद्येव प्रतिवादी भविष्यतीत्याशङ्क्य, तथाविधः कोऽपि नास्तीत्याह—

स्वासत्वं तु न कस्मैचिद्रोचते विभ्रमं बिना ।
अत एव श्रुतिबाधं ब्रूते चासत्ववादिनः ॥२४॥

अन्वयः—विना विभ्रमं स्वासत्त्वं तु कस्मैचिद् न रोचते अत एव श्रुतिः असत्त्ववादिनः च बाधं ब्रूते ।

स्वासत्त्वमिति । भ्रान्तिमेकां विहायाऽन्यस्यां दशायां स्वस्याभावः केनापिनाङ्गी क्रियतइत्यर्थः । कुत एवं निश्चीयत इत्याशङ्क्याह-'अत इति' । यतः कस्मैचिन्न रोचते अतएव श्रुतिरपि असत्त्ववादिनो बाधं ब्रूते ॥२४॥

दुर्घटता को ही कहते हैं—

स्वयं शब्द का वाच्य स्वस्वरूप (अपना आपा) नाम की वस्तु लौकिक एवं वैदिक (शास्त्रवेत्ता) सबके मन में विद्यमान ही है । यह स्वस्वरूप "मैं हूँ या नहीं" ऐसी विप्रतिपति (विवाद का) विषय नहीं है । विवाद में दोष भी है । "स्वात्मन्यपि विप्रतिपत्तौ सत्यां" यदि अपने आप भी विवाद होगा तो इस विवाद में प्रतिवादी कौन होगा अर्थात् कोई भी नहीं होगा ॥२३॥

शंका अपना असत्ववादी ही प्रतिवादी हो जाएगा इसका उत्तर इस प्रकार का कोई नहीं है ।—

भ्रान्ति (पागलपन) अवस्था को छोड़कर दूसरी किसी भी दशा में अपना अभाव किसी को अच्छा नहीं लगता कैसे इस प्रकार निश्चय हो इसका उत्तर—जिससे किसी को भी नहीं रुचता इसी से श्रुति भी असत्वादियों के मत में अर्थात् शून्यवादी का निषेध करती है ॥२४॥

विशेष १—जहाँ अपने आप में ही जब संशय होगा तब जो संशयिता (सन्देह करने वाला) है सोइ तू (तेरा स्वरूप) है ।

२—तत्त्वनिर्णयफलः कथाविशेषोवादः, विशिष्टो जल्पादिघटितो वादो विवादः, उभय साधनवती विजिगीषुकथाजल्पः, स्वपक्षस्थापनहीनः कथाविशेषो वितण्डा इति सर्वदर्शनसंग्रहे ।

केयं श्रुतिरित्याकाङ्क्षायां 'असन्नेव' (तै० २।६।१) इत्यादिकां तां श्रुतिमर्थतः पठति—

असद्ब्रह्मेति चेद्वेद स्वयमेव भवेदसत् ।
अतोऽस्य मा भूद्वेद्यत्त्वं स्वसत्त्वं त्वभ्युपेयताम् ।।२५।।

अन्वयः— ब्रह्म असत् इति चेत् वेद स्वयमेव असद् भवेत् अतः स्वसत्त्वं तु अभ्युपेयतां अस्य वेद्यत्वं मा भूत् ।

असदिति । यदि ब्रह्मासदिति जानीयात्तर्हि स्वयमेव ब्रह्मणोऽसत्त्वज्ञानी असद्भवेत् स्वस्यैव[1] ब्रह्मरूपत्वादित्यर्थः । फलितमाह— 'अतइति' ।।२५।।

इदानीमात्मनः स्वप्रकाशत्वं वक्तुकामस्तस्य वेद्यत्वाभावे कीदृक्स्वरूपमिति प्रश्नमुत्थापयति—

कीदृक्तर्हीति चेत्पृच्छेदीदृक्ता नास्ति तत्र हि ।
यदनीदृगतादृक् च तत्स्वरूपं विनिश्चिनु ।।२६।।

अन्वयः—कीदृक् तर्हि इति चेत् पृच्छेत् तत्रहि ईदृक्ता नास्ति यद् अनीदृक् अतादृक च तत्स्वरूपं विनिश्चिनु ।

कीदृगिति । अयमभिप्रायः—आत्मन ईदृक्त्वादिना केनचिद्रूपेण वैशिष्ट्याङ्गीकारे तेनैव रूपेण वेद्यत्वं स्यात् तदनङ्गीकारे शून्यत्वमिति । सत्यम् । ईदृक्ताद्यङ्गीकारे तथैव वेद्यत्वं, तत्तुनाङ्गीक्रियत इत्याह —'ईदृगिति' । उपलक्षणमेतत्तादृक्त्वस्यापि । उभयाभावमेवाह— 'यदनीदृगिति' ।।२६।।

अब वह कौन सी श्रुति है-उसी श्रुति के अर्थ को श्लोक में पढ़ते हैं—

यदि ब्रह्म को असत् जानेगा वह स्वयं आप ही असत् हो जाएगा जीवात्म स्वयं ब्रह्म रूप है अब फल को कहते हैं इसलिए इस ब्रह्म को वेद्य मत मानो परन्तु अपने स्वरूप को तो स्वीकार करो वही स्व ब्रह्म है ।।२५।।

अब आत्मा को स्वप्रकाश कहने की अभिलाषा से वेद्य न मानने में ब्रह्म के स्वरूप में प्रश्न करते हैं—

ब्रह्म कैसा है यह पूंछोगे तो ब्रह्म में ईदृशता नहीं है किन्तु जो ईदृश और तादृश नहीं है अर्थात् जिसको ऐसा वैसा नहीं कह सकते उस ब्रह्म के स्वरूप को तुम निश्चय करो ।।२६।।

विशेष १—जीवस्य तावत् आत्मत्वात् ब्रह्माव्यतिरेकः अज्ञानं तत् सम्बन्ध योर्गं कल्पितत्वेनाऽव्यतिरेकात् न अज्ञान अयोग—जीव तो आत्मरूप होने से ब्रह्म से अभिन्न है अज्ञान का सम्बन्ध कल्पित रूप होने से अभिन्न है अज्ञान अयुक्त है ! २।३।६। ब्र. सू. रत्न ।

नहि प्रतिज्ञामात्रेणार्थसिद्धिरित्याशङ्क्य ईदृक्तादृक्शब्दयोरर्थमभिदधानस्तदवाच्यत्वमुपपादयति—

अक्षाणां विषयस्त्वीदृक्परोक्षस्तादृगुच्यते ।
विषयी नाक्षविषयः स्वत्वान्नास्य परोक्षता ॥२७॥

अन्वय :—अक्षाणां विषयस्तु ईदृक् परोक्षः तादृक् उच्यते विषयी नाक्षविषयः स्वत्वात् अस्य परोक्षता न ।

अक्षाणामिति/प्रत्यक्षस्यैव घटादेरीदृक्शब्दवाच्यत्वं दृष्टं, परोक्षस्यैव धर्मादेस्तादृक्शब्दवाच्यत्वं द्रष्टुरात्मनस्तु इन्द्रियजन्यज्ञानविषयत्वाभावान्नेदृक्त्वं स्वत्वेनैव परोक्षत्वाभावान्न तादृक्त्वमित्यर्थः ॥२७॥

वह ब्रह्म[1] कैसा है, ऐसा कोई पूछे तो यह उत्तर है कि आत्मा में ईदृशता नहीं है । अर्थात् ईदृक्त्व आदि किसी रूप का आत्मा में सम्बन्ध मानोगे तो उसी रूप में आत्मा वेद्य हो जायेगा, यदि ऐसा है तो उसको किसी भी रूप में स्वीकार न करें तो वह शून्य हो जायेगा--यह सत्य है । ईदृशता के अंगीकार में वैसे ही वेद्यत्व को अंगीकार नहीं करते, कहते हैं ऐसे ही तादृश रूप भी नहीं है । ईदृश् उपलक्षण तादृक् दोनों से रहित—अर्थात् ऐसे ही तादृक रूप भी नहीं है कि उस ब्रह्म में ईदृगता नहीं है किन्तु जो ईदृक् (ऐसा, तादृश (वैसा) नहीं है वही ब्रह्म स्वरूप है यह निश्चय करो ॥२६॥

प्रतिज्ञा मात्र से अर्थ सिद्धि नहीं होती इस शंका का उत्तर अब ईदृक् शब्द के अर्थ को कहते हुए ग्रन्थकार यह कहते हैं । ईदृक्-तादृक् शब्द का भी अर्थ ब्रह्म नहीं है—

इन्द्रियों के विषय को ईदृक् और परोक्ष को तादृक् कहते हैं । आत्मा अविषय होने से इन्द्रियों का विषय नहीं और स्वस्वरूप होने से परोक्ष नहीं है इससे न ईदृक् है न तादृक् ॥२७॥

इन्द्रिय जन्य ज्ञान के विषय घट आदि "ऐसे" ईदृक् शब्द के वाच्य हैं और परोक्ष धर्माधर्म स्वर्ग आदि "वैसा" (तादृक) के वाच्य हैं और सबका द्रष्टा आत्मा इन्द्रियों के ज्ञान का अविषय होने से ईदृक् नहीं है । स्व अपना स्वरूप होने से परोक्ष भी नहीं है इससे तादृक् भी नहीं ॥२७॥

विशेष १— श्रुतिः कीदृग् ब्रह्मेति चेत् पृच्छेत् तादृगीदृगितीद्वयम् । यत्र न प्रसज्येत् तद् ब्रह्मेति अवधारय ।

अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम् । सकृत् विभाति सर्वज्ञं नोपचारः कथंचन । अद्वैत प्रकरण० मा० । वह ब्रह्म जन्म रहित (अज्ञान) रूप निद्रा से रहित स्वप्न शून्य नाम रूप से रहित नित्य प्रकाश रूप और सर्वज्ञ है । उसमें किसी प्रकार का कर्तव्य नहीं है ।

तर्हि शून्यमिति द्वितीयं पक्षं फलदर्शनव्याजेन परिहरति—

अवेद्योऽप्यपरोक्षोऽतः स्वप्रकाशो भवत्ययम् ।
सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्यस्तीह ब्रह्मलक्षणम् ॥२८॥

अन्वय :—अतः अविद्योऽपि अपरोक्षः अयं स्वप्रकाशः भवति सत्यं ज्ञानं अनन्तं च इति ब्रह्म लक्षणं इह अस्ति ।

अवेद्यइति । इन्द्रियजन्यज्ञानविषयत्वाभावेऽप्यपरोक्षत्वात्स्वप्रकाश इत्यर्थः । अत्रायं प्रयोगः—आत्मा स्वप्रकाशः संवित्कर्मतामन्तरेणाऽपरोक्षत्वात्, संवेदनवदिति । न च विशेषणासिद्धो हेतुः, आत्मनः संवित्कर्मत्वे कर्मकर्तृभावविरोधप्रसङ्गात् । स्वस्वरूपेण कर्तृत्वं विशिष्टरूपेण कर्मत्वमित्यविरोध इति चेत् गमनक्रियायामपि एकस्यैव स्वरूपेण कर्तृत्वं विशिष्टरूपेण कर्मत्वमित्यतिप्रसङ्गात् । न च साधन विकलो दृष्टान्तः संवेदनस्य संवेदनान्तरापेक्षायामनवस्थानादिति तर्कमते घटो घटज्ञानेन भासते घट-ज्ञानमनुव्यवसायेनेति[1] संवेदनवत्स्वप्रकाशे दृष्टान्तः साधनविकलइति चेन्न, ज्ञानस्य ज्ञानान्तरेण भासना-

अब फल दिखाते हुए शून्य रूप दूसरे पक्ष का खण्डन करते हैं—

अवेद्य भी ब्रह्म अपरोक्ष है इससे यह स्वप्रकाश है और आत्मा में सत्य ज्ञान अनन्त रूप ब्रह्म के लक्षण हैं ॥२८॥

अवेद्य होने से अपरोक्ष है अर्थात् इन्द्रिय जन्य ज्ञान का अविषय होता हुआ भी अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) है । इससे यह आत्मा स्वप्रकाश रूप है । यहाँ यह अनुमान है - आत्मा स्वप्रकाश रूप है संवित् (ज्ञान) का विषय न होने पर भी अपरोक्ष होने से जैसे संवेदन । इन्द्रिय जन्य वृत्ति ज्ञान, इस अनुमान में "संवित् का विषय हुए बिना" हेतु का यह विशेषण असिद्ध नहीं है क्योंकि यदि आत्मा संवित् (ज्ञान) का कर्म (विषय) मानोगे तो आत्मा को ही कर्ता-कर्म दोनों के होने में विरोध होगा । यदि यहाँ यह शंका करते हो कि वही आत्मा स्वस्वरूप चेतन मात्र साक्षी रूप से ज्ञान का कर्ता या ज्ञाता है, और अन्तःकरण विशिष्ट रूप से कर्म (ज्ञान का विषय) हो जायेगा इस प्रकार विरोध नहीं है यह ठीक नहीं है क्योंकि गमन क्रिया में भी एक ही पुरुष जीव रूप (स्व स्वरूप) से गमन क्रिया का कर्ता और देह विशिष्ट रूप से कर्म हो

विशेष १—अनुव्यवसायरूप ज्ञान नैय्यायिक ज्ञान घटादि ज्ञान के ज्ञान को अनुव्यवसाय ज्ञान कहते हैं, उसी को वेदान्ती साक्षी रूप ज्ञान कहते हैं । यह घट है । ऐसा घट ज्ञान का आकार है और घट को मैं जानता हूँ । ऐसा अनुव्यवसाय ज्ञान का आकार है ।

सिद्धिरहित नहीं है ।

भावात्साधनविकलः[1] । नन्वात्मनः स्वप्रकाशत्वेन सिद्धत्वेऽपि ब्रह्मलक्षणाभावात् न ब्रह्मत्वसिद्धिरित्याशङ्क्य तल्लक्षणं तत्र योजयति—'सत्यमिति'। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (—तैत्ति० २।१।१) श्रुत्या यद् ब्रह्मणो लक्षणमुक्तं तदात्मनि विद्यत इत्यर्थः ॥२८॥

जायेगा। इस प्रकार मर्यादा का उल्लंघन हो जायेगा। यदि कहो कि इस अनुमान में तुम्हारे ज्ञान रूप संवित् की तरह यह दृष्टान्त में हेतु (सिद्धि रहित है)। अर्थात् ज्ञान, ज्ञान का विषय न होने पर अपरोक्ष नहीं है वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि ज्ञान को भी यदि अपनी सिद्धि के लिए दूसरे संवेदन (ज्ञान) की अपेक्षा रहेगी तो इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। शंका करो-न्याय के मत में घट का ज्ञान घटाकार वृत्ति से और घट ज्ञान का ज्ञान अनुव्यवसाय ज्ञान से होता है। इस प्रकार संवेदन की तरह यह स्वप्रकाश-का दृष्टान्त साधन से रहित है। (असिद्ध) है वह भी ठीक नहीं. क्योंकि एक इन्द्रिय जन्य वृत्ति रूप ज्ञान दूसरे इन्द्रिय जन्य वृत्ति रूप ज्ञान से भासमान नहीं है। इसलिए उक्त दृष्टान्त साधन से विकल (रहित) नहीं है। शंका करो कि आत्मा स्वप्रकाश रूप से सिद्ध हो जाने पर भी यह आत्मा ब्रह्म है यह लक्षण नहीं है इससे ब्रह्म की सिद्धि न होगी इस शंका का उत्तर आत्मा के लक्षण ब्रह्म में घटाते हैं। इस श्रुति में जो ब्रह्म का लक्षण कहा है, वह आत्मा में विद्यमान होने से आत्मा ब्रह्म-रूप है ॥२८॥

विशेष १ — "सत्यं ज्ञानं अनन्तं" यह जो ब्रह्म का लक्षण है। जो केवल ब्रह्म को सत्य कहे तो नैयायिक आकाश को सत्य मानते हैं, इससे ब्रह्म के लक्षण की अति व्याप्ति होती है। उसके निवारणार्थ श्रुति ने ब्रह्म के लक्षण में ज्ञानपद का निवेश किया है और केवल ज्ञान कहें तो क्षणिक विज्ञानवादी क्षणिक विज्ञान रूप बुद्धि को ज्ञान रूप मानते हैं और नैयायिक आत्मा का ज्ञान गुण मानते हैं और कोई सत्व गुण को और उसका कार्य अन्तःकरण को भी ज्ञान रूप मानते हैं। इनमें अतिव्याप्ति होती है। उसके निवारणार्थ ज्ञान के साथ अनन्त पद का निवेश किया है। नैयायिक आत्मा को विभु तो कहते हैं। परन्तु अनन्त (देशकाल, वस्तु परिच्छेद रहित) होने से विभु नहीं कहते और उपासकादिक आत्मा को सत्य (नित्य) और ज्ञान (चेतन रूप कहते हैं। परन्तु विभु (अनन्त) नहीं कहते हैं। किन्तु कोई अणु कोई मध्यम परिणाम (देह जितना) कहते हैं। इससे सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म है। इस ब्रह्म के लक्षण की कही भी अतिव्याप्ति दोष नहीं है। यहाँ अनन्त कहने से आनन्द रूपता अर्थ में है। जो भूमा (अपरिच्छिन्न) सो सुख रूप है। छा० श्रुति से ॥२८॥

आत्मनः सत्यत्वोपपादनाय तावत्सत्यत्वस्य लक्षणमाह—

सत्यत्वं बाधराहित्यं जगद्बाधैकसाक्षिणः ।
बाधः किंसाक्षिको ब्रूहि न त्वसाक्षिक इष्यते ॥२९॥

अन्वय :—बाधराहित्यं सत्यत्वं जगद्बाधैकसाक्षिणः बाधः किं साक्षिकः ब्रूहि असाक्षिकः तु न इष्यते ।

सत्यत्वमिति । बाधशून्यत्वं सत्यत्वम् 'सत्यमबाध्यं, मिथ्येति तद्विवेकः, इति पूर्वाचार्यैरुक्तत्वात् । अस्तु प्रकृते किमायातमित्यत आह—'जगदिति'—जगतः स्थूलसूक्ष्मशरीरादिलक्षणस्य योऽयं बाधः सुप्ति-मूर्च्छासमाधिषु अविद्यमानता तत्साक्षित्वेनैव वर्तमानस्यात्मनो बाधः किंसाक्षिकः कः साक्षी अस्य बाधस्यासौ किंसाक्षिकः ? न कोऽपि साक्षी विद्यत इत्यर्थः । असाक्षिकोऽप्यात्मबाधः किं न स्यादित्याशङ्क्याह - 'नो त्विति' । साक्षिरहितो बाधो नाभ्युपगन्तव्यः, अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति भावः ॥२९॥

अब आत्मा को सत्यत्व कहने के लिए पहले सत्य का लक्षण कहते हैं —

बाध से रहित सत्य होता है और जगत् के बाध का एक साक्षी जो आत्मा उसके बाध में कहाँ कौन साक्षी होगा और साक्षी के बिना बाध नहीं हो सकता है ॥२९॥

बाध रहितता ही सत्यता है, सत्य उसी को कहते हैं जिसकी बाधा (मिथ्यापन का निश्चय) कभी न होती हो, जो बाध योग्य, वह असत्य है—सत्य और मिथ्या का यह विवेक पूर्वाचार्यों ने किया है । कदाचित् क हो कि ऐसा कहने से प्रकरण में क्या फल हुआ क्योंकि स्थूल, सूक्ष्म शरीर आदि रूप जो इस जगत् बाध अर्थात् सुषुप्ति मूर्च्छा और समाधि अवस्था में स्थूलादि देहादि रूप जगत् नहीं रहता, तब उनके अभाव का साक्षी (उस अभाव को जानने वाला) जो आत्मा है । उस आत्मा के न रहने का साक्षी कौन है कोई भी नहीं । शंका करो साक्षी के बिना ही आत्मा का बाध क्यों न हो यह ठीक नहीं है । क्योंकि साक्षि रहित बाध तो माना नहीं जाता यदि मानोगे तो अनेक दोष मर्यादा का उल्लंघन होता है ॥२९॥

उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

अपनीतेषु मूर्तेषु ह्यमूर्तं शिष्यते वियत् ।
शक्येषु बाधितेष्वन्ते शिष्यते यत्तदेव तत् ।।३०।।

अन्वय :—अपनीतेषु मूर्तेषु अमूर्तं वियत् शिष्यते हि शक्येषु बाधितेषु अन्ते यत् शिष्यते तदेव तत् (ब्रह्म)।

अपनीतेष्विति । मूर्तेषु गृहादिगतेषु घटादिष्वपनीतेषु गृहादिभ्यो निःसारितेषु सत्सु यथाऽपनेतुम शक्यं नभ एवावशिष्यते, एवं स्वव्यतिरिक्तेषु मूर्तामूर्तेषु देहेन्द्रियादिषु निराकर्तुं शक्येषु 'नेति नेति' (बृ० २।३।६) इति श्रुत्या निराकृतेषु सत्सु अन्तेऽवसाने सर्वं निराकरणसाक्षित्वेन यो बोधोऽवशिष्यते स एव बाधरहित आत्मेत्यर्थः ।।३०।।

अब पूर्वोक्त अर्थ को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं—

जैसे मूर्त आकारवान् घट आदि पदार्थों को अपनयन अर्थात् घर से बाहर निकाल देने पर भी निकालने के अयोग्य अमूर्त (निराकार) शेष रह जाता है । इसी प्रकार आत्मा भिन्न सब बाध योग्य मूर्तामूर्त देहेन्द्रिय आदि का जो निषेध करने योग्य "यह भी नहीं" यह भी नहीं, नेति नेति इत्यादि श्रुति वाक्यों से निराकरण कर दिए जाने पर अन्त में सब अनात्म पदार्थों के बाध का साक्षी जो बोध (ज्ञान) मात्र शेष रह जाता है । वही बाध रहित आत्मा है ।।३०।।

विशेष—(१) नेति-नेति जैसे किसी वन में एक गुफा में रहने वाले दो सिंह होते हैं । वे दोनों पिता, पुत्र रूप मेषों में से एक-एक मेष को भक्षण करते हैं । वैसे ही ब्रह्म रूप वन में जो नेति-नेति श्रुति रूप गुहा है, उसमें दोनों निषेध रूप अर्थ के वाची "नञ्" प्रत्यय है वे कारण शरीर रूप अज्ञान और कार्य सूक्ष्म-स्थूल रूप दोनों प्रपञ्च को क्रम से निषेध करते हैं ।

ननु प्रतीयमानस्य सर्वस्यापि निषेधे किंचिन्नावशिष्यते, अतः कथं 'शिष्यते यत्तदेव तत्' (प्र० ३।३०) इत्यवशिष्टस्यात्मत्वमुच्यत इति शङ्कते।

सर्वबाधे न किंचिच्चेद्यन्न किंचित्तदेव तत्।

भाषा एवात्र भिद्यन्ते निर्बाधं तावदस्ति हि ।।३१।।

अन्वय :—सर्वबाधे न किञ्चित् चेत् यत् न किञ्चित् तत् तदेव अत्र भाषा एव भिद्यन्ते निर्बाधं तावत् अस्ति हि।

सर्वबाध इति। 'न किंचिदवशिष्यते, इति वदता तथापि प्रयोगसिद्धये सर्वाभावविषयं ज्ञानम-वश्यमभ्युपेतव्यम्, अतस्तदेवास्मदभिमतात्मस्वरूपमित्यभिप्रायेण परिहरति—'यन्नेति'। 'न किंचित्' इति शब्देन यच्चैतन्यमुच्यते तदेव तद्ब्रह्मेत्यर्थः। ननु 'न किंचित्' इत्यभाववाचकेन 'न किंचित्' शब्देन कथं चैतन्यमुच्यत इत्याशङ्क्य, बाधसाक्षिणोऽवश्यमभ्युपेयत्वादभिधायकशब्दष्वेव विप्रतिपत्तिर्नाभिधेये इति परिहरति—"भाषा इति'। अत्र बाधसाक्षिणि प्रत्यगात्मनि[1] भाषा एव न किंचित्साक्षीत्यादिशब्दा एव भिद्यन्ते। निर्बाधं बाधरहितं साक्षिचैतन्यं तु विद्यत एवेत्यर्थः ।।३१।।

शंका करें कि प्रतीयमान मात्र का सबके निषेध से किञ्चित् भी शेष न रहेगा। फिर कैसे कहते हो, जो शेष रहे वह आत्मा है। ३०वें श्लोक में। इसका उत्तर यह है—

सबके बाध में "न किंचित्" कहोगे तो जो "न किंचित्" है वही आत्मा है और यहाँ भाषा (शब्द) ओं का हेर-फेर (भेद) है बाध के साक्षी बाध रहित आत्मा तो सर्वत्र है ।।३१।।

कुछ शेष नहीं रहता है ऐसा कहने वाले शून्यवादी को भी सबके अभाव का ज्ञान अवश्य मानना पड़ेगा, वही ज्ञान हमारा अभीष्ट आत्मा का रूप है क्योंकि "न किंचित्" कुछ नहीं इस शब्द से जिस चैतन्य का उल्लेख किया जाता है वही वह ब्रह्म है। कोई शंका करे "कुछ नहीं है" इस अभाव वाचक शब्द से भाव रूप चैतन्य कैसे कहा जाता है उत्तर बाध का साक्षी तो मानना ही पड़ेगा, इसलिए यहाँ वाचक शब्दों (भाषा) में ही विवाद हेर-फेर है अर्थ में नहीं "न किंचित्" यह कह दो या साक्षी यह कहो, यहाँ बाध से रहित बाध के साक्षी प्रत्यगात्मा के विषय में चैतन्य में कोई विवाद नहीं है। बाध से रहित साक्षी चैतन्य तो सर्वत्र विद्यमान है ।।३१।।

विशेष १—कोऽहम् त्वं प्रत्यक्-मैं कौन हूँ तू देहेन्द्रिय का साक्षी प्रत्यगात्मा है प्रतिकूल्येन यः सत्यप्रकाशात्मना सत्त्वम्-प्रतीपं विपरीतं अञ्चति गच्छति इति प्रत्यक् असत्-जड़-देहादि।

उक्तमर्थं श्रुत्यारूढं करोति—

अत एव श्रुतिर्बाध्यं बाधित्वा शेषयत्यदः ।
स एष नेति नेत्यात्मेत्यतद्व्यावृत्तिरूपतः ॥३२॥

अन्वयः—अत एव श्रुतिः अतद्व्यावृत्तिरूपतः बाध्यं बाधित्वा एष एव नेति नेति इति एतत् अदः शेषयति ।

अत एवेति । यतः साक्षिचैतन्यमबाध्यम्, अतएव 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६) इति श्रुतिरतद्व्यावृत्तिरूपतोऽनात्मपदार्थनिराकरणद्वारेण बाध्यं निराकरणयोग्यं सर्वमनात्मकवस्तुजातं बाधित्वा निराकृत्य अदो निराकर्तुमशक्यं प्रत्यक्स्वरूपं शेषयत्यवशेषयति ॥३२॥

'नेति नेति' (बृ० २।३।६) इति श्रुतिर्बाधयोग्यं बाधित्वा बाधितुमशक्यमवशेषयतीत्युक्तम्, तत्र कीदृशं बाधितुं शक्यं, कीदृशमशक्यमिति विवक्षायां तदुभयं विभज्य दर्शयति—

इदंरूपं तु यद्यावत्तत्त्यक्तुं शक्यतेऽखिलम् ।
अशक्यो ह्यनिदंरूपः स आत्मा बाधवर्जितः ॥३३॥

अन्वयः—इदं रूपं तु यत् यावत् तत् अखिलं त्यक्तुं शक्यते अनिदंरूपः हि अशक्यः बाधवर्जितः स आत्मा ।

इदंरूपमिति । इदंरूपमित्येवं रूपं दृश्यत्वेनानुभूयमानं रूपं स्वरूपं यस्य देहादेस्तदिदंरूपम् । 'तु' शब्दोऽवधारणे । 'यद्यावत्' इति पदद्वयं सर्वदृश्योपसंग्रहार्थम् । एवं च सति यद्दृश्यं तदखिलं त्यक्तुं शक्यत एवेत्यर्थः संपद्यते । अनिदंरूपः प्रत्यक्त्वेनेदंतयावगन्तुं अयोग्यः साक्षी अशक्यस्त्यक्तुमित्यर्थः । 'हि' इति निपातेन प्रसिद्धिद्योतकेन त्यक्तुः स्वस्वरूपत्वेन त्यागायोग्यतां सूचयति । फलितमाह—'आत्मेति' यो बाधरहितः साक्षी स एवात्मा नाहङ्कारादिदृश्य इत्यर्थः ॥३३॥

अब उक्त अर्थ को श्रुति के अनुकूल दिखाते हैं—

इसी से साक्षी चैतन्य अबाध्य है, इसलिए "यह आत्मा नहीं है यह आत्मा नहीं है" यह श्रुति अतद्व्यावृत्ति अनात्म पदार्थों का निषेधकर निराकरण करण के अयोग्य प्रत्यक् अभिन्न अद्वैत ब्रह्म चैतन्य आत्मा को शेष रख देती है ॥३२॥

अब यह आत्मा नहीं यह आत्मा नहीं इस श्रुति से बाध करने योग्य, अनात्मा का बाध करके, और बाध के अयोग्य आत्मा इन दोनों को पृथक्-पृथक् दिखाते हैं—

जितने इदं रूप जगत है उस सबका त्याग निषेध हो सकता है और जो अनिदंरूप है उसका त्याग नहीं हो सकता इससे बाधरहित वहीं आत्मा है ॥३३॥

भवत्वात्मनोऽबाध्यत्वम्, प्रकृते किमायातमित्यत आह—

सिद्धं ब्रह्मणि सत्यत्वं ज्ञानत्वं तु पुरेरितम् ।
स्वयमेवानुभूतित्वादित्यादिवचनैः स्फुटम् ॥३४॥

अन्वयः—ब्रह्मणि सत्यत्वं सिद्धं ज्ञानत्वं तु पुरा स्वयमेवानुभूतित्वात् इत्यादिवचनैः स्फुटं ईरितं ।

सिद्धमिति । ब्रह्मणि ब्रह्मलक्षणे यत्सत्यत्वमभिहितं तदात्मनि सिद्धम् । भवतु सत्यत्वं, ज्ञानत्वं कथमित्याकङ्क्षायां तत्पूर्वमेवोपपादितमित्याह—'ज्ञानत्वमिति' । 'स्वयमेवानुभूतित्वाद्विद्यते नानुभाव्यता' प्र० ३।१३) इत्यादिभिर्वचनैर्ज्ञानरूपत्वं पूर्वमेव सम्यगभिहितमित्यर्थः ॥३४॥

यह रूप है, इस प्रकार दृश्य रूप से अनुभव से आने वाला देह आदि वह इदं रूप । तु शब्द निश्चय है । यत्, यावत् दो सम्पूर्ण दृश्य का ग्रहण है । ऐसा होने पर जो दृश्य सम्पूर्ण वह सम्पूर्ण त्यागने के योग्य है । यह है इस इदं रूप से ज्ञान के अयोग्य जो प्रत्यक् रूप होने के कारण साक्षी रूप है । वह त्यागने को अशक्य है । यहाँ "हि" इस प्रसिद्धि के द्योतक और त्याग के कर्ता चैतन्य रूप निश्चय के बोधक निपात से त्याग की अयोग्यता सूचन की है । अब फल को कहते हैं—जो बाध से रहित साक्षी है वही आत्मा है, अहंकार आदि दृश्य पदार्थ आत्मा नहीं है ॥३३॥

कदाचित् कहो कि आत्मा अबाध्य रहे प्रकृत में क्या आया, इसका उत्तर—

क्योंकि ब्रह्म जो सत्यत्व कहा है वह आत्मा में सिद्ध हो गया कदाचित् कहो कि सत्यत्व रहे ज्ञानत्व न रहेगा ऐसी आकांक्षा में कहते हैं ज्ञानत्व पूर्वोक्त वचनों से कह दिया है । स्वयं अनुभव होने से आत्मा ज्ञान रूप है । इत्यादि पूर्वोक्त वचनों से आत्मा को ज्ञान रूप पहले अच्छी प्रकार कह आये हैं ॥३४॥

ननु सत्यत्वज्ञानत्वयोरात्मनि सिद्धत्वेऽप्यानन्त्यं न घटते, ब्रह्मण्यपि तस्यासिद्धेरित्याशङ्क्य ब्रह्मणि तावत्तत्साधयति –

न व्यापित्वाद्देशतोऽन्तो नित्यत्वान्नापि कालतः ।
न वस्तुतोऽपि सार्वात्म्यादानन्त्यं ब्रह्मणि त्रिधा ॥३५॥

अन्वयः –व्यापित्वात् देशतः अन्तो न नित्यत्वात् कालतः अपि (अन्तः) न सार्वात्म्यात् वस्तुतोऽपि अन्तः न इति ब्रह्मणि त्रिधा आनन्त्यं (वर्तते) ।

न व्यापिवादिति । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं (मुण्ड० १।१।६) 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः', 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां' (कठ० ५।१३, श्वे० ६।१३) 'इदं सर्वं यदयमात्मा', (बृ० ४।५।७) 'सर्वं ह्येतद्ब्रह्म' (माण्डू० २) 'ब्रह्मैवेदं सर्वं' (नृ० उ० ता० ७) इत्यादिश्रुतिषु व्यापित्वनित्यत्वसर्वात्मत्व-प्रतिपादनाद्ब्रह्मणस्त्रिविधमप्यानन्त्यं देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदराहित्यमभ्युपेतव्यमित्यर्थः ॥३५॥

शंका करो कि सत्यत्वं ज्ञानत्वं ये दोनों आत्मा में सिद्ध रहें परन्तु आनन्त्य न घटेगा, क्योंकि ब्रह्म में भी आनन्त्य नहीं है यह शंका करके पहले ब्रह्म में आनन्त्य को सिद्ध करते हैं—

ब्रह्म (व्यापक) होने से देश से अन्त नहीं, और नित्य होने से काल से भी अन्त नहीं, सबका आत्मा होने से वस्तु से भी अन्त नहीं है इससे ब्रह्म में तीन प्रकार का आनन्त्य है ॥३५॥

पहले ब्रह्म की अनन्तता सिद्ध करते हैं कि नित्य विभु सर्वगत अत्यन्त सूक्ष्म अविनाशी आकाश के समान सर्वगत नित्य, नित्यों का नित्य चेतनों का चेतन और जो यह सब में है वह आत्मा है। यह सम्पूर्ण ब्रह्म है, ब्रह्म ही यह सब है। इत्यादि श्रुतियों में व्यापक नित्यत्व सबका आत्मत्व आदि ब्रह्म को कहने से तीन प्रकार का भी आनन्त्य कहा अर्थात् देश-काल वस्तु के किये परिच्छेद (अभाव[1]) से रहित आत्मा स्वरूप ब्रह्म स्वीकार करना ॥३५॥

विशेष १ —अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी देश परिच्छेद होता है। यदि कोई वस्तु किसी देश में हो, किसी देश में न हो तो वह वस्तु देश परिच्छेद वाली कहलाती है। जैसे घट पट आदि, ब्रह्म देश परिच्छेद रहित है, क्योंकि वह व्यापक है। जो देश परिच्छेद रहित नहीं, वह व्यापक भी नहीं, जैसे—घट, पट आदि। प्राग् अभाव और प्रध्वंसाभाव का प्रतियोगी भाव काल परिच्छेद कहलाता है। यदि कोई वस्तु किसी समय में हो पर दूसरे समय में न हो तो वह काल परिच्छेद वाली कहलाती है। ब्रह्म उत्पत्ति विनाश रहित होने से नित्य है। इसलिए काल परिच्छेद रहित है। अन्योन्या भाव का प्रतियोगी भाव वस्तु परिच्छेद कहलाता है यदि कोई वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न हो तो उन दोनों का परस्पर परिच्छेद होता है। ब्रह्म तो सब कल्पित वस्तुओं का अधिष्ठान (विवर्त्तोपादान कारण) है इसलिए सबका स्वरूप है। कल्पित की अधिष्ठान से भिन्न सत्ता नहीं होती। इसलिए ब्रह्म वस्तुओं से भिन्नता नहीं है।

न केवलं श्रुतितः, किंतु युक्तितोऽपीत्याह –

देशकालान्यवस्तूनां कल्पितत्वाच्च मायया ।
न देशादिकृतोऽन्तोऽस्ति ब्रह्मानन्त्यं स्फुटं ततः ।।३६।।

अन्वयः—देशकालान्यवस्तूनां मायया कल्पितत्वात् च देशादिकृतः अन्तः नास्ति ततः आनन्त्यं ब्रह्म अस्ति ।

देशकालेति । परिच्छेदहेतूनां देशकालान्यवस्तूनां मायया कल्पितत्वाच्च गन्धर्वनगरादिभिर्गगनस्येव न देशादिभिः कृतः पारमार्थिकः परिच्छेदो ब्रह्मणि संभवति, यतोऽतो ब्रह्मण्यानन्त्यं तावद्युक्तमेव 'तदेतत्सत्यमात्मा ब्रह्मैव' (नृ० उ० ता० ६) 'ब्रह्मात्मैवात्र ह्येवं न विचिकित्स्यमित्यों सत्यमात्मैव[1] नृसिंहो देवो ब्रह्म भवति' (नृ० उ० ता० ५–६) 'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डू० २) इत्यादिभिः श्रुतिभिरात्मनो ब्रह्माभेदप्रतिपादनात्तस्याप्यानन्त्यं सिद्धमिति तात्पर्यम् ।।३६।।

केवल श्रुति से ही ब्रह्म का आनन्त्य नहीं किन्तु युक्ति से भी आनन्त्य है कहते हैं—

देश, काल, वस्तु माया से कल्पित है, इससे देश आदि का किया अन्त ब्रह्म में नहीं है इससे प्रकट है कि ब्रह्म अनन्त है ।।३६।।

परिच्छेद (अन्त) के हेतु देश, काल, अन्य वस्तु (पदार्थों) की कल्पना ये सब कल्पना ने की है, जैसे कल्पित गन्धर्व, नगर, नीलपन, कढ़ाई जैसे आकार वाला आदि भेद आकाश में सम्भव नहीं है । वैसे ही ब्रह्म में माया से कल्पित देश आदि का परिच्छेद वास्तविक नहीं होता है । अतएव ब्रह्म की अनन्तता स्पष्ट प्रकट ही है । वह यह आत्मा सत्य ब्रह्म ही है और ब्रह्म ही आत्मा है । इसमें सन्देह, संशय नहीं करना कि आत्मा असत्य है । नृसिंह देव ही ब्रह्म है । यह आत्मा ब्रह्म है । इत्यादि श्रुति आत्मा को ब्रह्म से अभिन्न कहती है । इससे आत्मा भी अनन्त सिद्ध हुआ ।।३६।।

विशेष १—"नृ" नाम नर मनुष्य का है । उसमें "सिं" नाम जन्मादि संसार रूप मल विशेष-आवरण को "ह" नाम अपने ज्ञान से नाश करता है । ऐसे जो आत्मा है वह यहाँ इस श्रुति में नृसिंह कहा है । नृसिंह आत्मा रूप देव स्वप्रकाश चैतन्य सो नृसिंह देव है । ग्रन्थकर्ता की इच्छा रूप तात्पर्य यह है जैसे आत्मा में ब्रह्म के लक्षण की योजना से प्रसंग में ब्रह्म की अनन्तता प्रतिपादन की है । इससे उस ब्रह्म की अनन्तता आकाश से अभिन्न घटाकाश की तरह ब्रह्म से अभिन्न आत्मा की ही है । ऐसे प्रसंग के बल से ग्रन्थकर्ता की इच्छा जानी जाती है ।

ननु जडस्य जगतो ब्रह्मण्यारोपितत्वेन ब्रह्मणः परिच्छेदकत्वाभावेऽपि चेतनयोर्जीवेश्वरयोस्तद-संभवात्तत्कृतपरिच्छेदवत्त्वेन आनन्त्यं ब्रह्मणो न संगच्छेत इत्याशङ्क्य, तयोरप्यौपाधिकरूपत्वेन पारमार्थिकत्वाभावान्न तयोरपि वास्तवपरिच्छेदहेतुत्वमित्यभिप्रायेणाह —

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म तद्वस्तु तस्य तत् ।
ईश्वरत्वं च जीवत्वमुपाधिद्वयकल्पितम् ।।३७।।

अन्वयः—यत् सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म तद्वस्तु तस्य तत् ईश्वरत्वं च जीवत्वञ्च उपाधिद्वय कल्पितं अस्ति ।

सत्यमिति । यत्सत्यादिरूपं ब्रह्म तद्वस्तु तदेव पारमार्थिकं तस्य ब्रह्मणो यल्लोकप्रसिद्धमीश्वरत्वं जीवत्वं च तद्वक्ष्यमाणोपाधिद्वयेन कल्पितम्, अतः कल्पितत्वादेव जडवज्जीवेश्वरयोरपि तत्परिच्छेदकत्वाभाव इति भावः ।।३७।।

शंका करो कि जड़ रूप जगत् ब्रह्म में आरोपित है, इससे ब्रह्म का परिच्छेद न होने पर भी परन्तु चेतन जीव और ईश्वर तो आरोपित नहीं है, इससे उनका किया परिच्छेद वाला होने से ब्रह्म अनन्त न होगा । इस शंका का उत्तर—जीव और ईश्वर, अविद्या, माया उपाधि वाले होने से पारमार्थिक (सच्चे) न होने से उनका वास्तविक परिच्छेद हेतु के अभिप्राय से कहते हैं—

जो ब्रह्म सत्य ज्ञान अनन्त रूप हैं वह सत्य वस्तु है और वहीं पारमार्थिक है और जीव ईश्वर दोनों अविद्या-माया उपाधि से ब्रह्म में कल्पित है ।।३७।।

जो सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म ही एक है वही वस्तु पारमार्थिक रूप है, उस ब्रह्म को लोक में प्रसिद्ध ईश्वरत्व ओर जीवत्व ३१ से ४१ वें श्लोक तक कही गयी दो उपाधियाँ । माया पञ्चकोश से ब्रह्म में कल्पित होने से जड़ के समान होने, जीव ईश्वर भी ब्रह्म में परिच्छेदक नहीं हो सकते ।।३७।।

किं तदुपाधिद्वयमित्याकाङ्क्षायां तदुभयं क्रमेण दिदर्शयिषुरादावीश्वरोपाधिभूतां शक्तिं निरूपयति—

शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित्सर्ववस्तुनियामिका ।
आनन्दमयमारभ्य गूढा सर्वेषु वस्तुषु ॥३८॥

अन्वयः—ऐश्वरीशक्तिः काचित् सर्ववस्तुनियामिका अस्ति आनन्दमयं आरभ्य सर्वेषु वस्तुषु गूढा (अतः नोपलभ्यते ।

शक्तिरिति । ऐश्वरी ईश्वरोपाधितया ईश्वरसम्बन्धिनी काचित्सदसत्त्वादिभी रूपैर्निर्वक्तुमशक्या सर्ववस्तुनियामिका सर्वेषामन्तर्यामिब्राह्मणोक्तानां[1] (बृ० ३।७) पृथिव्यादीनां नियम्यवस्तूनां नियमनकर्त्री शक्तिरस्ति[2] । सा कुत्रतिष्ठति, कुतो वा नोपलभ्यत इत्याशङ्क्याह -'आनन्देति । आनन्दमयादिषु ब्रह्माण्डान्तेषु सर्वेषु वस्तुषु गूढा वर्तते, अतो नोपलभ्यत इत्यर्थं ॥३८॥

दो उपाधियाँ कौन इस आकांक्षा में कहते हैं । अब दोनों उपाधियों को क्रम से दिखाते हुए प्रथम ईश्वर की उपाधि शक्ति का निरूपण करते हैं –

ईश्वर कीं उपाधि होने से ईश्वर सम्बंधिनी (१) सत् और (२) असत् या (३) दोनों रूप (४) अधिष्ठान ब्रह्म से भिन्न या (५) अभिन्न (६) या दोनों रूप (७) या निरवयव (८) या सावयव या (६) दोनों रूप नव को विनिर्मुक्ता इनमें से किसी भी शब्द से निरूपण न होने वाली अनिर्वचनीय बृहदारण्यक उपनिषद के ३।७।३ से लेकर २३ मन्त्र तक वर्णित है । पृथ्वी आदि नियमन करने योग्य सब वस्तुओं की नियामक कोई शक्ति है । वह आनन्दमय आदि ब्रह्माण्ड पर्यन्त (अध्यात्म अधिदैव अधिभूत) सब वस्तुओं में गूढ़ (छिपी) है इससे प्रतीत नहीं हो सकती ॥३८॥

विशेष १ –यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यामन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत. (३।७।३) यः सर्वेषु भूतेषु इत्यादि ।

२—शक्ति—पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते (श्वे०६।८) विशेषनिरूपण अद्वैतानन्द १३ वें श्लोक में देखो ।

नियमेनानुपलभ्यमानायास्तस्या असत्त्वमेव किं न स्यादित्याशङ्क्य जगन्नियमनान्यथानुपपत्त्या साऽवश्यमभ्युपेयेत्याह—

वस्तुधर्मा नियम्येरञ्शक्त्या नैव यदा तदा ।
अन्योन्यधर्मसांकर्याद्विप्लवेत जगत्खलु ॥३९॥

अन्वयः—वस्तुधर्मा यदा शक्त्या नैव नियम्येरन् तदा अन्योन्यधर्मसाङ्कर्यात् जगत् विप्लवेत खलु ।

वस्तुधर्माइति । वस्तूनां पृथिव्यादीनां काठिन्यद्रवत्वादयो धर्मा यदा शक्त्या न व्यवस्थाप्यन्ते तदा तेषां धर्माणां सांकर्याद्विमिश्रणेनैकत्रावस्थानात् जगद्विप्लवेत, अनियतव्यवहारविषयतां प्राप्नुयादित्यर्थः 'खलु' इति प्रसिद्धिं द्योतयति ॥३९॥

ननु जडाया अस्या जगन्नियामकत्वं न युज्यत इत्याशङ्क्याह—

चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा ।
तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद्ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत् ॥४०॥

अन्वयः—सा शक्तिः चिच्छायावेशतः चेतनेव विभाति तच्छक्त्युपाधिसंयोगात् ब्रह्मैवईश्वरतांव्रजेत् ।

चिच्छायेति । सा शक्तिश्चिच्छायावेशतश्चिदाभास प्रवेशाच्चेतना इव चेतनत्वमापन्ना इव विभाति प्रतीयते, अतोऽस्या नियामकत्वं घटत इत्यर्थः । अस्तु, प्रस्तुते किमायातमित्यत आह-'तच्छक्तिरित' सा चासौ शक्तिश्चेति कर्मधारयः । सैवोपाधिस्तेन संयोगः सम्बन्धस्तस्माद्ब्रह्मैव सत्यादिलक्षणमीश्वरतां सर्वज्ञत्वादिधर्मयोगितां व्रजेत्प्राप्नुयात्[1] ॥४०॥

शंका जो शक्ति नियम से उपलब्ध नहीं होती, उसको असत् ही क्यों न मान लिया जाय इसके उत्तर में कहते हैं जगत आदि का नियमन शक्ति के बिना नहीं हो सकता, शक्ति अवश्य माननी चाहिए इस पर कहते हैं —

क्योंकि पृथिवी आदि वस्तुओं के जो काठिन्य द्रवत्व आदि धर्मों का यदि माया रूप शक्ति से नियमन (व्यवस्था) न हो तो अर्थात् जिसका जो धर्म हो उसको उसमें न रखें तो परस्पर धर्मों का संकर (गड्ड मड्ड होकर) मिल जाने से जगत् अवश्य ही नष्ट हो जायेगा अर्थात् व्यवहार का नियम न रहेगा । खलु यह निश्चय है ॥३९॥

शंका करे कि जड रूप शक्ति जगत् का नियामक न होगी इसका उत्तर कहते हैं —

वही शक्ति चिदाभास के प्रवेश से चेतन के समान प्रतीत होती है । इसलिए जड़ होते हुए भी नियामक अर्थात् नियमन की कर्ता है । ठीक है प्रकरण में क्या आया, वही चिदाभास युक्त शक्ति ही उपाधि है । उससे जो कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध है । उसके कारण सत्य ज्ञान आदि लक्षण वाला ब्रह्म ही ईश्वर भाव को प्राप्त हो जाता है ॥४०॥

विशेष—१ तादृशी स्वचिदाभासविशिष्टा या शक्ति सा एव उपाधिः तत् संयोगात् तत् तदात्म्याध्यासात् इत्यर्थ - एतेन आभासवाद एवैतेषांमतेऽपि पर्यवस्यति इति भावः ।

आभास एव च ब्र. सू. २।३।५० एष जीवपरमात्मनोः प्रतिबिम्ब एव ।

जीवत्वोपाधिभूतानां कोशानां प्रागेवाभिहितत्वात्तन्निमित्तकं जीवत्वमिदानीमाह—

कोशोपाधिविवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम् ।
पिता पितामहश्चैकः पुत्रपौत्रौ यथा प्रति ॥४१॥

अन्वयः— कोशोपाधिविवक्षायां ब्रह्मैव जीवतां याति यथा एकः पुत्रपौत्रौ प्रति पिता पितामहश्च ।

कोशोपाधीति । कोशा एव उपाधिः कोशोपाधिः तद्विवक्षायां पर्यालोचनायां क्रियमाणायां ब्रह्मैव सत्यादिलक्षणमेव जीवतां जीवव्यवहारविषयतां गच्छति । नन्वेकस्यैव विरुद्धधर्मद्वययोगित्वं युगपन्न क्वापि दृष्टचर मित्याशङ्क्याह - पितेति' । यथैक एव देवदत्त एकदैव पुत्रं प्रति पिता भवति, पौत्रं प्रति तु पितामहः एवं ब्रह्मापि कोशोपाधिविवक्षायां जीवो भवति, शक्त्युपाधिविवक्षायां ईश्वरश्च भवतीत्यर्थः ॥४१॥

वस्तुतस्तु जीवत्वमीश्वरत्वं वा ब्रह्मणो नास्तीत्येतत्सदृष्टान्तमाह—

पुत्रादेरविवक्षायां न पिता न पितामहः ।
तद्वन्नेशो नापि जीवः शक्तिकोशाविवक्षणे ॥४२॥

अन्वयः—पुत्रादेः अविवक्षायां न पिता न पितामहः तद्वत् शक्तिकोशाविवक्षणे न ईशः नापि जीवः ।

'पुत्रादेरिति' ॥४२॥

पूर्व कहे हुए अन्नमय आदि पञ्चकोश रूप जीव की उपाधि हैं । उन उपाधियों के निमित्त जीव है अब उसको कहते हैं—

जब कोश (पञ्चकोश) रूपी उपाधि (विशेषण) की पर्यालोचना (विवेक करने पर) सत्य, ज्ञान आदि लक्षण वाला ब्रह्म ही (जो अभी ईश्वर बना वही) जीव बन जाता है । शंका करो कि एक ही ब्रह्म जीव ईश्वर भाव को कैसे प्राप्त हो सकता है । अर्थात् एक में विरुद्ध दो धर्मों का योग नहीं देखा इस शंका पर कहते हैं क्योंकि जैसे एक ही देवदत्त एक ही समय में पुत्र के प्रति पिता और पौत्र के प्रति पितामह है, इसी प्रकार ब्रह्म भी कोश रूप उपाधि की विवक्षा से जीव और शक्ति रूप उपाधि की विवक्षा से ईश्वर हो जाता है ॥४१॥

अब कहते हैं कि वस्तुत ब्रह्म न जीव है न ईश्वर इसी को दृष्टान्त के सहित कहते हैं—

जैसे पूर्वोक्त देवदत्त पुत्र आदि की अविवक्षा में न पिता है और न पितामह है । इसी प्रकार शक्ति और कोश की अविवक्षा में ब्रह्म न ईश्वर है न जीव ही है ॥४२॥

इदानीमुक्तज्ञानस्य फलमाह—

य एवं ब्रह्म वेदैष ब्रह्मैव भवति स्वयम् ।
ब्रह्मणो नास्ति जन्मात: पुनरेष न जायते ।।४३।।

इति विद्यारण्यमुनिविरिचतायां पञ्चदश्यां पञ्चकोशविवेक: ।।३।।

अन्वय:—य: एवं ब्रह्मवेद एष स्वयं ब्रह्मैव भवति ब्रह्मणो नास्ति जन्म अत: एष पुन: न जायते ।

य एनमिति ।—य: साधनचतुष्टयसंपन्न एवमुक्तेन प्रकारेण पञ्चकोशविवेकपुर:सरं ब्रह्म प्रत्यगभिन्नं सत्यादिलक्षणं वेद साक्षात्करोति एष स्वयं ब्रह्मैव भवति । 'स यो ह वै तत्परम (मुण्ड० ३।२।६) 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० ३।२।६) 'ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्' (तैत्ति० २।१) इत्यादि श्रुतिभ्य: । ततोऽपि किमित्यत आह –'ब्रह्मण इति । 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (कठ० २।१८) इत्यादिश्रुते: ब्रह्मणस्तावज्जन्म नास्ति, अत एव विद्वानपि स्वात्मनस्तद्रूपत्वावगमान्नैव जायते 'न स पुनरावर्तते' (कालाग्निरुद्रो० २) इति श्रुतेरिति ।।४३।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्भारतीतीर्थ विद्यारण्य मुनिवर्य किंकरेण रामकृष्णेन विरचितायां पञ्चकोश विवेकाख्यं तृतीयं प्रकरणम् समाप्तम् ।

अब पूर्वोक्त ज्ञान के फल का वर्णन करते हैं—

जो इस प्रकार ब्रह्म को जानता है वह स्वयं भी ब्रह्म ही होता है और जिस प्रकार ब्रह्म का जन्म नहीं है इमसे यह ज्ञानी भी फिर नहीं जन्मता ।।४३।।

जो विवेक (१) वैराग्य (२) शम,दम,तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान (३) मुमुक्षता (४) इन चारों साधनों से सम्पन्न पुरुष इस उक्त प्रकार से पञ्चकोशों से विवेक द्वारा प्रत्यक् आत्मा से अभिन्न सच्चिदानन्द लक्षण ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है तब वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है । श्रुति में भी कहा है कि जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है । कदाचित् कहो कि फिर उससे क्या होता है इसका उत्तर देते हैं—नित्य ज्ञान स्वरूप न जन्मता है न मरता है, इत्यादि श्रुति प्रमाण से ब्रह्म का जन्म

नहीं है इससे यह ज्ञानी भी फिर जन्म नहीं लेता है। क्योंकि ज्ञानी को भी ब्रह्म रूप अपनी आत्मा का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् अपनी प्रत्यगात्मा को ब्रह्म समझता है ॥४३॥

विशेष –विद्वान जो ज्ञानी वह भी स्वात्मा, जो आप उसको ब्रह्म रूपता के ज्ञान से जन्मता नहीं, जैसे निर्विकार कुन्ती के पुत्र कर्ण को यह विपरीत प्रतीति, कि मैं राधा पुत्र (दास) भाव का हो गया था वैसे ही निर्विकार सच्चिदानन्द घन ब्रह्म में अविद्या के कारण जीव भाव की प्रतीति हुई है। वास्तव में तो सबको, सदा ब्रह्म रूप ही है। इसलिए यद्यपि वास्तविक में जन्म आदि संसार का अभाव है तो भी अविकृत जीव भाव के कारण अज्ञानियों को अपने जन्म आदि की प्रतीति होती है। फिर जैसे सूर्य के कहने से कर्ण को कुन्ती पुत्र होना, ज्ञात होने पर उसके राधा पुत्र होने की भ्रान्ति मिट गयी थी। वैसे ही गुरु के उपदेश से अपने निर्विकार ब्रह्मत्व का ज्ञान होने पर नेत्रों का आवरक दोष की तरह स्वरूप आवरक अविद्या के आवरण अंश की निवृत्ति द्वारा जन्म मरण संसार की निवृत्ति प्रतीत होती है यह भाव है।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यस्वामिश्रीकरपात्रशिष्य
श्रीडॉ०लक्ष्मणचैतन्यब्रह्मचारिविरचितलक्ष्मणचन्द्रिकाख्ये पञ्चदशीहिन्दीव्याख्याने
पञ्चकोशविवेकाख्यं तृतीयं प्रकरणं समाप्तम्।

द्वैतविवेकप्रकरणम्

नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
मया द्वैतविवेकस्य क्रियते पदयोजना ॥१॥

चिकीर्षितस्य ग्रन्थस्य निष्प्रत्यूहपरिपूरणाय अभिलषितदेवतातत्त्वानुस्मरणलक्षणं मङ्गलमाचरन् अस्य वेदान्तप्रकरणत्वाच्छास्त्रीयमेवानुबन्धचतुष्टयं सिद्धवत्कृत्य ग्रन्थारम्भं प्रतिजानीते—

ईश्वरेणापि जीवेन सृष्टं द्वैतं विविच्यते ।
विवेके सति जीवेन हेयो बन्धः स्फुटीभवेत् ॥१॥

अन्वयः—ईश्वरेणापि जीवेन सृष्टं द्वैतं (जगत) विविच्यते विवेके सति जीवेन हेयः बन्धः स्फुटीभवेत् ।

ईश्वरेणेति । ईश्वरेण कारणोपाधिकेनान्तर्यामिणा जीवेनापि कार्योपाधिकेनाहंप्रत्ययिना च सृष्टमुत्पादितं द्वैतं जगद्विविच्यते विभज्य प्रदर्श्यते । अस्य द्वैतविवेचनस्य काकदन्तपरीक्षावन्निष्प्रयोजनत्वं वारयति—'विवेक इति' । विवेके सति जीवेश्वरसृष्टयोर्द्वैतयोर्विवेचने कृते सति जीवेन पूर्वोक्तेन हेयः परित्याज्यो बन्धो बन्धहेतुर्द्वैतं स्फुटीभवेत् स्पष्टतां गच्छेत्, एतावज्जीवेन हेयमिति निश्चीयते इत्यर्थः ॥१॥

श्री भारतीतीर्थ और विद्यारण्य मुनि को नमस्कार करके, मैं द्वैत विवेक प्रकरण की पद योजना करता हूँ ॥१॥

इष्ट ग्रन्थ की निर्विघ्न पूर्ति (पूरा होना) के लिए इष्टदेव का स्मरण रूप मंगल करते हुए वेदान्त का प्रकरण होने से शास्त्रीय अनुबन्ध चतुष्टय से युक्त आचार्य ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं—

ईश्वर और जीव के रचे द्वैत का विवेक इसलिए करते हैं कि इस विवेक के अनन्तर जीव का त्यागने योग्य बन्धन स्पष्ट हो जाता है ॥१॥

माया रूप कारणोपाधि वाले अन्तर्यामी ईश्वर ने और अन्तःकरण रूप कार्योपाधि वाले मैं "प्रतीति वाले जीव ने रचे जो द्वैत (जगत्) पृथक् करके दिखाते हैं । कदाचित् कहो कि यह द्वैत का विवेक काक के दातों की परीक्षा के समान निष्प्रयोजन है यह ठीक नहीं । कौन सा द्वैत ईश्वर कृत है और कौन सा जीव कृत है, यह ज्ञान हो जाने पर पञ्चकोश उपाधि वाले जीव को परित्याग करने योग्य सुख दुःख रूप बन्धन का हेतु जगत् कितना है, यह स्पष्ट हो जायेगा, अर्थात् जीव को इतना त्यागने योग्य है, इसका निश्चय हो जायेगा । जीव अपने बनाये द्वैत को हटा सकता है और ईश्वर को संकल्प से बनाया द्वैत नहीं हटा सकता ॥१॥

नन्वदृष्टद्वारा जीवानामेव जगद्धेतुत्वं वादिनो वर्णयन्ति, अतः कथमीश्वरसृष्टत्वमुच्यते जगतः इत्याशङ्क्य, बहुश्रुतिविरोधान्नेदं चोद्यमुत्थापयितुमर्हति, इत्यभिप्रेत्य श्वेताश्वतर'—वाक्यं तावदर्थतः पठति—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
स मायी सृजतीत्याहुः श्वेताश्वतरशाखिनः ॥२॥

अन्वयः—मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम् स मायी सृजति इति श्वेताश्वतर शाखिनः आहुः ।

मायां त्विति । मायोपाधिकमीश्वरं प्रस्तुत्य 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्' (श्वे० ४।९) इति तस्यैवेश्वरस्य जगत्स्रष्टृत्वं श्वेताश्वतरशाखिनो वर्णयन्तीत्यर्थः ॥२॥

'ऐतरेयोपनिष' द्वाक्यमर्थतोऽनुसंक्रामति—

आत्मा वा इदमग्रेऽभूत्स ईक्षत सृजा इति ।
संकल्पेनासृजल्लोकान्स एतानिति बह्वृचाः ॥३॥

अन्वयः—आत्मा वा (एव) इदं अग्रे अभूत् स ईक्षत सृजा इति सा एतान् लोकान् संकल्पेन असृजत् इति बह्वृचाः ।

आत्मेति । 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्स ईक्षत लोकन्नु सृजा इति स इमाँल्लोकानसृजत' (ऐत० १।१) इत्यनेन वाक्येनाद्वितीयस्य परमात्मन एव जगत्स्रष्टृत्वं बह्वृचा ऋक्शाखाध्यायिन आहुरित्यर्थः ॥३॥

शंका—जीवों के अदृष्ट (धर्म-अधर्म) आदि किसी को भी जगत् का कारण वादी पूर्व मीमांसक वर्णन करते हैं । इससे जगत् को ईश्वर का रचा कैसे कहते हो, इसपर कहते हैं—अनेक श्रुतियों का विरोध है शंका ठीक नहीं इसके श्वेताश्वतर श्रुति के वाक्य का अर्थ पढ़ते हैं—

माया को ही प्रकृति जाने और मायी महेश्वर को जाने वह मायी (ईश्वर) ही रचता है यह श्वेताश्वतर शाखा वाले कहते हैं ॥२॥

माया प्रकृति (उपादान कारण) और माया का अधिष्ठान ब्रह्म विवर्त है । "अस्मात् मायी" इस प्रकार अक्षर ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है ॥२॥

अब ऋग्वेदगत ऐतरेय उपनिषद् के वाक्य का अर्थ पढ़ते हैं—

यह प्रतीयमान जगत् सृष्टि से पूर्व आत्मा रूप ही था उस परमेश्वर ने ईक्षणरूप संकल्प किया कि मैंने इन लोगों को संकल्प द्वारा बनाया ॥३॥

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्सईक्षत लोकान्नु सृजा इतिस इमाल्लोकानसृजत्' के अनुसार बह्वृचा ऋक् शाखा के अध्येताओं ने कहा है कि यह दृश्यमान सृष्टि से पहले आत्म रूप ही था, उस परमात्मा ने ईक्षण किया और संकल्प के बल से इन समस्त लोक उपलोकों की रचना की इसलिए अद्वितीय परमात्मा का ही यह जगत् उत्पन्न किया हुआ है ॥३॥

ईश्वरस्य जगत्कारणत्वे 'तैत्तिरीयश्रुतिरपि, प्रमाणमित्यभिप्रेत्यतद्वाक्यमर्थतः पठति द्वाभ्याम्—

खं वाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहाः क्रमादमी ।
संभूता ब्रह्मणस्तस्मादेतस्मादात्मनोऽखिलाः ॥४॥
बहु स्यामहमेवातः प्रजायेयेति कामतः ।
तपस्तप्त्वाऽसृजत्सर्वं जगदित्याह तित्तिरिः ॥५॥

अन्वयः—खं वायु अग्नि जल उर्वी औषधि अन्न देहाः अमी क्रमात् तस्मात् एतस्मात् ब्रह्मणः आत्मनः अखिलाः सम्भूताः ।

अहं बहु स्याम एव अतः प्रजायेय इति कामतः तपस्तप्त्वा सर्वं जगत् असृजत इति तित्तिरिः आह ।

खमिति । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्ति० २।१।१) इत्युपक्रम्य, तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, (तैत्ति० २।१।१) इत्यादिना 'अन्नात्पुरुषः' (तैत्ति० २।१।१) इत्यन्तेन वाक्येन गुहाहितत्वेन प्रत्यगभिन्नाद् ब्रह्मण आकाशादिदेहपर्यन्तं जगदुत्पन्नमित्यभिधायोपरिष्टादपि 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्त स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किंच' (तैत्ति० २।६) इति वाक्येन तस्यैव ब्रह्मणो जगत्सर्जनेच्छापूर्वकपर्यालोचनेन जगत्स्रष्टृत्वं तित्तिरिराहेत्यर्थः ॥४-५॥

अब ईश्वर ही जगत् को रचता है इसमें तैत्तिरीय श्रुति का भी प्रमाण के लिए उसके वाक्य का अर्थ पढ़ते हैं दो श्लोक से—

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, औषधि, अन्न, देह ये सब क्रम से इसी ब्रह्म रूप आत्मा से उत्पन्न हुए हैं । मैं बहुत हो जाऊँ प्रजा रूप के उत्पन्न हो जाऊँ इस इच्छा से विचारात्मक तप किया, इस सब जगत् को उत्पन्न कर डाला यह तित्तिरि ने कहा ॥४-५॥

अब सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म है "यह आरम्भ करके, उस इस आत्मा से आकाश हुआ इत्यादि और अन्न से पुरुष हुआ" यहाँ तक के वाक्यों से गुहा में छिपे प्रत्यक् आत्मा से अभिन्न ब्रह्म, आकाश आदि से देह पर्यन्त जगत् की उत्पत्ति को कहकर पीछे जो यह कहा है कि उसने इच्छा की, मैं बहुत प्रकार का हो जाऊँ जन्म धारण करूँ । इसलिए उसने तप किया । वह तप करके, जो कुछ यह जगत् है, इस को रचता हुआ इस वाक्य से उस ब्रह्म को ही इच्छा पूर्वक जगत्[1] का स्रष्टा तित्तिरि ने कहा ॥४-५॥

विशेष १—अभिध्योपदेशाच्च (ब्र० सू० १।४।२४) अभिध्यासृष्टि संकल्प ।

'छान्दोग्ये'ऽपि ब्रह्मण एव जगत्स्रष्टृत्वं श्रुतमित्याह्—

इदमग्रे सदेवासीद्बहुत्वाय तदैक्षत ।
तेजोऽबन्नाण्डजादीनि ससर्जेति च सामगाः ॥६॥

अन्वयः—अग्रे इदं सत् एव आसीत् बहुत्वाय तत् ऐक्षत तेजोऽबन्नाण्डजादीनि ससर्ज इति च सामगाः आहुः ।

इदमिति । 'सदेव सोम्येदग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इति सद्रूपमद्वितीयं ब्रह्मोपक्रम्य 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति । तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इत्यादिना तस्यैवेक्षणपूर्वकं तेजोऽबन्नस्रष्टृत्वम-भिधाय 'तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्यण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' (छा० ३।३।१) इत्यादिना अण्डजादिशरीरनिर्मातृत्वं च सामगा वर्णयन्तीत्यर्थः ॥६॥

छान्दोग्य उपनिषद् में भी ब्रह्म ही जगत् का स्रष्टा है यह कहा है—

यह जगत् सृष्टि से प्रथम सत् रूप रहा और ब्रह्म ने ही बहुत होने के लिए देखा और तेज, अण्डज आदि को रचा यह सामवेदी कहते हैं ॥६॥

हे सौम्य पहले यह जगत् सत् रूप एक एव (ही) अद्वितीय था । ब्रह्म आरम्भ करके कहा है कि उस ब्रह्म ने बहुत होने के लिए विचार आलोचन किया, अनेक प्रकार से होने का उसने तेज रचा जल अन्न आदि का कर्ता[1] कहकर उन इन सब भूतों के तीन ही बीज होते हैं, कि अण्डज, जीवज, उद्भिज चतुर्थ स्वेदज इत्यादि ग्रन्थ से अण्डज आदि शरीरों का निर्माता ब्रह्म को ही सामगों ने वर्णन किया है ॥६॥

विशेष १—तदैक्षत निमित्तकारण कर्तृत्व बहु स्वां प्रकृतित्व उपादनम् ।

असंग शुद्ध निर्विकार ब्रह्म जगत् का कारण नहीं है । किन्तु अनिर्वचनीय माया उपहित ब्रह्म ही जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण है । वहाँ अवरण शक्ति विशिष्ट माया रूप उपाधि की प्रधानता के कारण वह ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है और ज्ञान शक्ति विशिष्ट माया उपहित अपने स्वरूप की प्रधानता करके वह ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण (तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय) तदैक्षत यह निमित्त कारण बहुस्यां प्रजायेय यह उपादान कारण वह माया उपहित ब्रह्म सृष्टि से पूर्व भावी प्रपञ्च विषयक ज्ञान रूप ईक्षण करता है, मैं परमेश्वर बहुत हो जाऊँ ।

मुण्डकोपनिषद्यपि 'तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' (मुण्ड० २।१।१) इति 'अक्षर' शब्द-वाच्याद् ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिः श्रूयत इत्याह—

विस्फुलिङ्गा यथा वह्नेर्जायन्तेऽक्षरतस्तथा।
विविधाश्चिज्जडा भावा इत्याथर्वणिका श्रुतिः ॥७॥

अन्वय :—यथा वह्नेः विस्फुलिङ्गाः जायन्ते तथा अक्षरतः (ब्रह्मण) विविधाः चित् जडाभावाः (जायन्ते) इति आथर्वणिका श्रुतिः (आह)।

'विस्फुलिङ्गा इति ॥७॥

अब मुण्डकोपनिषद् के वाक्य से जगत् उत्पत्ति कहते हैं। कि जैसे भली प्रकार जलती हुई अग्नि से सहस्रों विस्फुलिङ्ग सजातीय होते हैं। उसी प्रकार अविनाशी ब्रह्म तत्त्व से विविध प्रकार के चेतन और जड़ पदार्थ उत्पन्न होते हैं। यह अथर्ववेद में लिखा है—

जैसे[1] अग्नि से विस्फुलिङ्ग (पतंगा) होते हैं उसी प्रकार ब्रह्म से अनेक प्रकार के चित् जड़ रूप अनेक प्रकार के भाव पदार्थ होते हैं यह अथर्ववेद में लिखा है ॥७॥

विशेष १—महा तेज अग्नि के दो रूप हैं। एक सामान्य रूप दूसरा विशेष रूप है। उसमें निरूपाधिक अग्नि का सामान्य रूप है। वह जल से सूक्ष्म रूप है और दशगुना व्यापक है। काष्ट आदिक उपाधि वाला अग्नि का विशेष रूप है वह उपाधि के भेद से नाना तरह का है। और परिच्छिन्न है। यहाँ सोपाधिक अग्नि के ढेर से उपाधि के अंशों से विस्फुलिङ्ग रूप अंश हुए की तरह अंश होता है। फिर उपाधि के अंशों में विलय से विलय होने की तरह विलय होता है। वास्तव में अग्नि में नाना भाव से युक्त उत्पत्ति और विनाश नहीं है। वैसे चेतन भी सामान्य और विशेष भाव से दो रूप है। तिनमें निरूपाधिक ब्रह्म चेतन का सामान्य रूप है। वह एक व्यापक है और माया अविद्या उपाधि विशिष्ट चिदाभास ये दो क्रमशः सामान्य विशेष रूप हैं। वह विशेष ही नाना है और परिच्छिन्न है। उस विशेष अंश की उपाधि अंश के नानात्व से नाना भाँतिपना और उत्पत्ति विलय आदिक है। वास्तविक चेतन में नाना भाव अथवा उत्पत्ति विनाश आदि नहीं है। इससे जीव ब्रह्म का वास्तव अंश अंशी भाव नहीं है यह प्रसंग से कहा।

एवं 'बृहदारण्यके'ऽप्यव्याकृतशब्दवाच्याद्ब्रह्मणो नामरूपात्मकं जगदुत्पन्नमिति श्रुतमित्याह द्वाभ्याम्—

जगदव्याकृतं पूर्वमासीद्व्याक्रियताधुना ।
दृश्याभ्यां नामरूपाभ्यां विराडादिषु ते स्फुटे ॥८॥

विराण्मनुर्नरा गावः खराश्वाजावयस्तथा ।
पिपीलिकावधिद्वन्द्वमिति वाजसनेयिनः ॥९॥

अन्वय :—पूर्वं जगत् अव्याकृतं आसीत् अधुना व्याक्रियत ते दृश्याभ्यां नामरूपाभ्यां विराडादिषु स्फुटे ।

विराट मनुः नराः गावः तथा खराश्वाजावयःपीपीलिकावधिद्वन्द्वं इति वाजसनेयिनः ।

जगदिति । तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौनामायमिदंरूपः' (बृ० १।४।७) इति वाक्येन सृष्टेः पुरा स्पष्टनामरूपत्वेनाव्याकृतशब्दवाच्यान्मायोपाधिकाद्ब्रह्मणो नामरूप स्पष्टीकरणलक्षणा सृष्टिरुक्ता, तयोर्नामरूपयोर्विराडादिषु स्थूलकार्येषु स्पष्टता च 'तदिदमप्येतर्हि नाम रूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामायमिदं रूप' (बृ० १।४।७) इति वाक्येनाभिहिता, ते च विराडादयः आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः' (बृ० १।४।१) इत्यादिना 'एवमेव यदिदं किंच मिथुनमापिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत' (बृ० १।४।४) इत्यनेन दर्शिता इत्यर्थः ॥८-९॥

इसी प्रकार बृहदारण्यक में भी अव्याकृत रूप से नाम रूप ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति कही है—

यह जगत् सृष्टि से पहले अव्याकृत (ब्रह्म) रूप था और अब सृष्टि के पश्चात् दृष्टा के विषय (दृश्य) नाम तथा रूप इन दो से व्याकृत स्पष्ट हो गया । इस वाक्य से सृष्टि से पहले अप्रकट नाम रूप होने से अव्याकृत मायोपाधि ब्रह्म के नाम रूप प्रकट करना यह सृष्टि कही और वे नाम रूप विराट् आदि स्थूल कार्य में प्रकट है । यहाँ आत्म शब्द से अण्डे से उत्पन्न हुआ प्रथम शरीर प्रजापति ही कहा गया है । इत्यादि वाक्यों से विराट् आदि का वर्णन किया । इस प्रकार जो कुछ यह विराट्, मनु, मनुष्य, गौ, गर्दभ, घोड़े, बकरे, पक्षी, मेंढक, चीटी, पर्यन्त स्त्री, पुरुष मय मिथुन (जोड़े) यह सब सृष्टि से पहले नाम रूप से रहित अव्याकृत जो ब्रह्म है उससे उत्पन्न हुआ ॥८-९॥

उदाहृताभिः श्रुतिभिः द्वैतसृष्ट्यभिधानानन्तरं ब्रह्मणो[1] जीवरूपेण तत्र प्रवेशोऽप्यभिहित इत्याह—

कृत्वा रूपान्तरं जैवं देहे प्राविशदीश्वरः ।
इति ताः श्रुतयः प्राहुर्जीवत्वं प्राणधारणात् ॥१०॥

अन्वय :—जैवं रूपान्तरं कृत्वाईश्वरः देहे प्राविशत इतिताः श्रुतयः प्राण धारणात् जीवत्वं प्राहुः ।

कृत्वेति । श्रुतयः जैवं जीवसम्बन्धिरूपान्तरं अविक्रियब्रह्मणो विलक्षणं विकारिरूपमित्यर्थः । देहे देहजाते जीवत्वं कुतइत्यत आह—'जीवत्वमिति' । प्राणादीनां स्वामित्वेन प्रेरकत्वं प्राणधारणं तस्माज्जैवं रूपं कृत्वा प्राविशदित्युक्तम् ॥१०॥

किं तदित्यपेक्षायामाह—

चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्च यः पुनः ।
चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत्सङ्घो जीव उच्यते ॥११॥

अन्वय :—यदधिष्ठानं चैतन्यं यः पुनः लिङ्गदेहश्च चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत् सङ्घः जीव उच्यते ।

चैतन्यमिति । यदधिष्ठानं लिङ्गदेहकल्पनाधारभूतं यच्चैतन्यमस्ति, यश्च तत्र कल्पितो लिङ्गदेहः, यश्च तस्मिन् लिङ्गदेहे वर्तमानश्चिदाभासस्तत्सङ्घः, तेषां त्रयाणां समूहो 'जीव' शब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥११॥

अब पूर्वोक्त श्रुतियों से द्वैत सृष्टि के जीव रूप से ब्रह्म का जो प्रवेश देह आदि में कहा उसका वर्णन करते हैं—

श्रुतियाँ भी कहती हैं जीव सम्बन्धी भिन्न रूप अर्थात् अविकारी ब्रह्म से विलक्षण विकारी रूप को करके वह ईश्वर देह में प्रविष्ट हुआ । इन्द्रिय आदि वस्तुओं का स्वामी बनकर उनका प्रेरक होने से ही (जीव प्राण धारणे) वह जीव हो गया अर्थात् जीव का रूप धारण करके शरीर में प्रविष्ट हो गया ॥१०॥

अब जीव के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

जो लिङ्ग देह की कल्पना का अधिष्ठान आधारभूत चैतन्य और लिङ्गदेह और लिङ्ग देह में वर्तमान चित् की छाया (चिदाभास) अर्थात् प्रतिबिम्ब इन तीनों के समूह को जीव कहते हैं ॥११॥

विशेष—(१) तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत् (तै० २।६।३)

नन्वीश्वरस्यैव जीवरूपेण प्रविष्टत्वे तस्याज्ञत्वदुःखित्वादिविरुद्धधर्मवत्त्वं कुत इत्याशङ्क्याह—

माहेश्वरी तु माया या तस्या निर्माणशक्तिवत् ।
विद्यते मोहशक्तिश्च तं जीवं मोहयत्यसौ ॥१२॥

अन्वयः—या तु माहेश्वरी माया तस्याः निर्माणशक्तिवत् मोहशक्तिश्च विद्यते असौ तं जीवं मोहयति ।

माहेश्वरी त्विति । माहेश्वरी 'मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे० ४।१०) इति श्रुत्युक्ता महेश्वर सम्बन्धिनी या मायाऽस्ति, तस्या निर्माणशक्तिवज्जगत्सर्जनसामर्थ्यवन्मोहशक्तिश्च मोहनसामर्थ्यमप्यस्ति, 'तदेतज्जडं मोहात्मकम् (नृ० उ० ता० ९) इति श्रुतेः । ततः किमित्यत आह—'तं जीवमिति' । असौ मोहनशक्तिस्तं पूर्वोक्तं जीवं मोहयति चिदानन्दादिस्वरूपज्ञानरहितं करोति ॥१२॥

ततोऽपि किमित्यत आह—

मोहादनीशतां प्राप्य मग्नो वपुषि शोचति ।
ईशसृष्टमिदं द्वैतं सर्वमुक्तं समासतः ॥१३॥

अन्वय : – मोहात् अनीशतां प्राप्य वपुषि मग्नः शोचति इदं द्वैतं ईशसृष्टं समासतः सर्वं उक्तं ।

मोहादिति । मोहात्पूर्वोक्तादनीशतामिष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारयोरसामर्थ्यं प्राप्य वपुषि निमग्नः शरीरे तादात्म्याभिमानं गतः शोचति दुःखित्वाद्यभिमानं करोति । समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः' (श्वे० ७ मुं० ३।१।२) इति श्रुतेरित्यर्थः । वक्ष्यमाणसांकर्यपरिहाराय वृत्तं निगमयति—'ईशेति' । समासतः संक्षेपेणेत्यर्थः[२] ॥१३॥

कोई शंका करे कि यदि ईश्वर ही जीव रूप से प्रविष्ट है तो वह अज्ञता और दुःख[१] रूपत । आदि विरुद्ध धर्मों का आश्रय कैसे हो गया इसका उत्तर—

श्रुति में कही गयी महेश्वर की जो माया मूल प्रकृति उसमें जैसे जगत् को रचने का सामर्थ्य है, इसी प्रकार मोहन करने का भी सामर्थ्य है। वह माया की मोहन शक्ति इस जीव को मोहित कर देती है (अर्थात् जीव को इस शक्ति के प्रभाव से ही अपने) चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म के ज्ञान से रहितकरती है ॥१२॥

स्वरूप ज्ञान से शून्य कर देने पर भी क्या होता है ? इसका समाधान करते हैं—

पूर्व मोह के कारण उस जीव को इष्ट की प्राप्ति, अनिष्ट की निवृत्ति का सामर्थ्य नहीं रहता यह अनीश बन जाता है और इस प्रकार शरीर में तादात्म्य रूप से (देहोऽहम्) मैं देह हूँ। इस अहंकार में डूबकर शोच करने लगता है। मैं दुःखी हूँ, ऐसा अपने आपको मानने लगता है । इस प्रकार प्रथम श्लोक से १३वें श्लोक पर्यन्त ईश्वर रचित जड़ चेतन मय द्वैत जगत् संक्षेप में यहाँ तक वर्णन किया ॥१३॥

विशेष—(१) अज्ञता और दुःखित्व, सुखित्व आदि विरुद्ध धर्म ईश्वर और जीव का जो भेद है वह औपाधिक है अविद्या ओर अन्तःकरण रूप उपाधि से है । अविद्याकामकर्मविशिष्ट कार्यकारणोपाधिरात्मा संसारी जीव उच्यते । नित्य निरतिशय ज्ञानशक्त्युपाधिरात्मा अन्तर्यामि ईश्वर उच्यते० बृ० भाष्य ३।८।१२।

(२) इयदामननात् ब्र० सू० ३।३।३४॥

ननु जीवस्य द्वैतस्रष्टृत्वे किं मानमित्याशङ्क्याह—

सप्तान्नब्राह्मणे द्वैतं जीवसृष्टं प्रपञ्चितम् ।
अन्नानि सप्त ज्ञानेन कर्मणाऽजनयत्पिता ॥१४॥

अन्वय :—सप्तान्नब्राह्मणे द्वैतं जीवसृष्टं प्रपञ्चितं अन्नानि सप्त पिता ज्ञानेन कर्मणा अजनयत् ।

सप्तान्नेति । कथं तत्र प्रपञ्चितमित्याशङ्क्य 'सप्तान्न' शब्दवाच्यद्वैतसृष्टिप्रतिपादकं "यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता" (बृ० १।५।१) इति वाक्यमर्थतः संगृह्णाति—'अन्नानीति' । पिता स्वादृष्टद्वारा जगदुत्पादनेन सर्वलोकपालको जीव इत्यर्थः ॥१४॥

नन्वन्नसप्तकसर्जनं किमर्थमित्याशङ्क्य तद्विनियोगोऽपि 'एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत् त्रीण्यात्मनेऽकुरूत पशुभ्य एकं प्रायच्छत्' (बृ० १।५।१) इति वाक्येनोक्त इत्याह—

मर्त्यान्नमेकं देवान्ने पश्वन्नं चतुर्थकम् ।
अन्यत्त्रितयमात्मार्थमन्नानां विनियोजनम् ॥१५॥

अन्वय :—एकं मर्त्यान्नं द्वे देवान्ने चतुर्थकं पश्वन्नं अन्नानां अन्यत्र त्रयं आत्मार्थं विनियोजनम् ।

मर्त्यान्नमिति । विनियोजनमुक्तमिति शेषः ॥१५॥

जीव को द्वैत स्रष्टा होने में क्या प्रमाण है, इस शंका का उत्तर देते हैं—

सप्तान्न ब्राह्मण में अर्थात् द्वैत सृष्टि के प्रतिपादक ब्राह्मण में जीव के रचे द्वैत का विस्तार से वर्णन किया है (१) उस वाक्य का अभिप्राय यह है कि पिता (प्रजापति) ने अपने अदृष्ट द्वारा जगत् की उत्पत्ति करने वाले सर्वलोक पालक, जीव, ने सप्त अन्नों को ज्ञान (चिन्तन) और कर्म के द्वारा उत्पन्न किया ॥१४॥

सात अन्नों की रचना किसलिए की गयी है ? उत्तर में कहते हैं कि उन अन्नों की वाक्योक्त विनियोग को दिखाते हैं—

(१) बृ० के इस वाक्य के अनुसार कहते हैं एक चावल आदि रूप मर्त्यान्न है । दर्श और पूर्ण-मास रूप ये दो देवताओं के हैं दूध के रूप में चौथा पशु अन्न है । मन, वाणी, और प्राण ये तीन अन्न स्वयं जीव के हैं । इस प्रकार इन सात अन्नों का विनियोजन (विभाग) किया अर्थात् बांट दिया ॥१५॥

तानि च सप्तान्नानि 'एकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते' (बृ० १।५।२) इत्यादिना 'अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः' (बृ० १।५।३) इत्यन्तेन वाक्यसंदर्भेणेषदूनकण्डिकाद्वयरूपेण दर्शितानीत्याह—

व्रीह्यादिकं दर्शपूर्णमासौ क्षीरं तथा मनः ।
वाक् प्राणश्चेति सप्तत्वमन्नानामवगम्यताम् ।।१६।।

अन्वयः—व्रीह्यादिकं दर्शपूर्णमासौ क्षीरं तथा मनः वाक् प्राणश्चेति अन्नानां सप्तत्वं अवगम्यतां।

व्रीह्यादिकमिति ।।१६।।

ननूक्तसप्तान्नानां जगदन्तःपातित्वेन ईश्वरनिर्मितत्वाज्जीवनिर्मितत्वाभिधानमययुक्तमित्याशङ्क्य, तत्स्वरूपस्येश्वरनिर्मितत्वेऽपि योग्यत्वाकारस्य जीवनिर्मितत्वान्मैवमित्याह—

ईशेन[२] यद्यप्येतानि निर्मितानि स्वरूपतः ।
तथापि ज्ञानकर्मभ्यां जीवोऽकार्षीत्तदन्नताम् ।।१७।।

अन्वयः—यद्यपि एतानि ईशेन स्वरूपतः निर्मितानि तथापि ज्ञानकर्मभ्यां जीवः तदन्नतां अकार्षीत् ।

ईशेनेति । ज्ञानकर्मभ्यां ज्ञानं विहितं प्रतिषिद्धं च देवतापरयोषिदादिविषयध्यानं कर्म च विहितं यज्ञादिरूपं, प्रतिसिद्धं हिंसादिरूपं ताभ्यामित्यर्थः । तदन्नतां तेषां व्रीह्यादिप्राणान्तानां स्वभोगोपकरणत्वमित्यर्थः ।।१७।।

उन सप्त अन्नों को श्रुति के मन्त्रों से ही दिखाते हैं—

सात अन्नों के नाम ये हैं– व्रीहि[१] आदि, दर्श, पूर्णमास, दुग्ध, मन, वाक् और प्राण, इनका वर्णन 'एकमस्य' से लेकर 'अयमात्मा' इस वाक्य तक किया है। यहाँ साधारण का अर्थ सब प्राणियों में बाँटने योग्य। भूत यज्ञ में यही अन्न प्रसिद्ध है ।।१६।।

कोई शंका करे कि ये सातों अन्न जगत् के अन्तर्गत हैं, इससे जीव के निमित कहना अयुक्त है, इसका उत्तर यद्यपि ईश्वर ने ये अन्नों को स्वरूप से रचे हैं, तथापि जीव के भोग्य रूप से निर्मित कहने में कुछ दोष नहीं—

ज्ञान का अर्थ विषयों का ध्यान है। वह विहित (शास्त्रोक्त) और निषिद्ध (शास्त्र निषिद्ध) दो प्रकार का होता है, देवतादि विषय का ध्यान या उपासना विहित है और पर स्त्री आदि विषय का चिन्तन निषिद्ध है। इसी प्रकार यज्ञादि विहित और हिंसादि निषिद्ध दो प्रकार कर्म है इन दो प्रकार के ज्ञान और कर्म के सहारे ही चावल, गेहूँ आदि से लेकर प्राण तक के सातों अन्न जीव के भोग्य (अन्न) बनते हैं, ईश्वर ने तो उनके स्वरूप का निर्माण किया परन्तु जीव ने अपने ज्ञान कर्मों के सहारे इनको अपना अन्न (भोग्य) बना लिया ।।१७।।

विशेष — (१ व्रीह्यादिकं मनुजानां, दर्शपूर्णमासौ देवानां, क्षीरं पशूनां, वाङ्मनःप्राणा जीवस्य इतिअन्न सप्तकस्य विभागः सिद्धः ।

(२) तं विद्या कर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च बृ०४।४।२ इति श्रुतेः ज्ञानकर्मभ्यां जीवेनापि तेषां आत्म भोगार्थं सृष्टत्वं अस्त्येव, तत् उभय भोक्तृत्वादित्याह –ईशेनेति समन्वारम्भणात् ब्र० सू० ३।४।५।

किमुक्तं भवतीति तत्राह—

ईशकार्यं जीवभोग्यं जगद्द्वाभ्यां समन्वितम् ।
पितृजन्या भर्तृभोग्या यथा योषित्तथेष्यताम् ॥१८॥

अन्वय :—ईशकार्यं जीवभोग्यं जगत् द्वाभ्यां समन्वितं, यथा पितृजन्या भर्तृभोग्या योषित् तथा इष्यताम् ।

ईशकार्यमिति । जगत्सप्तान्नत्वेन उक्तं व्रीह्यादिरूपं ईशकार्यत्वेन जीवभोग्यत्वेन च द्वाभ्यां संबद्धमित्यर्थः । एकस्योभयसम्बन्धे दृष्टान्तमाह—'पितृजन्येति ॥१८॥

ईशजीवयोर्जगत्सर्जने किं साधनमित्यत आह—

मायावृत्त्यात्मको हीशसंकल्पः साधनं जनौ ।
मनोवृत्त्यात्मको जीवसंकल्पो भोगसाधनम् ॥१९॥

अन्वयः—मायावृत्यात्मको हीशसंकल्पः साधनं जनौ मनोवृत्त्यात्मकः जीव संकल्पः भोग साधनं । मायेति ॥१९॥

पूर्व कहे का क्या तात्पर्य है कहते हैं—

यह जगत् सात व्रीहि आदि रूप अन्न ईश्वर का कार्य और जीव का भोग्य इस प्रकार इष्ट है अर्थात् ईश्वर इनको रचता है जीव भोगता है । एक या दोनों से सम्बन्ध में दृष्टान्त कहते हैं । जैसे एक ही स्त्री पिता से उत्पन्न होती है और पति की भोग्य होती है । ऐसे ही यह जगत् भी ईश्वर जीव दोनों से सम्बद्ध है ॥१८॥

अब ईश्वर और जीव की जगत् रचने में क्या साधन (हेतु) को कहते हैं—

जब ईश्वर माया वृत्ति रूप संकल्प करता है तो उस संकल्प से जगत् उत्पन्न होता है, अन्तःकरण की वृत्ति (मनोवृत्ति) रूप जीव के संकल्प से यह जगत् सुखादि अनुभव रूप भोग बनता है । (यह जगत् माया के बल से बनता है और मन से भोगा जाता है) ॥१९॥

नन्वीशसृष्टवस्तुस्वरूपातिरिक्तो भोग्यत्वाकार एव नास्ति, को जीवेन सृज्यते इत्याशङ्क्याह—

ईशनिर्मितमण्यादौ वस्तुन्येकविधे स्थिते ।
भोक्तृधीवृत्तिनानात्वात्तद्भोगो बहुधेष्यते ॥२०॥

अन्वय :—ईश निर्मितमण्यादौ एकविधे वस्तुनि स्थिते भोक्तृधी वृत्तिनानात्वात् तद्भोगः बहुधेष्यते ।

ईशनिर्मितेति । एकस्मिन्नेव विषये बहुविधोपभोग उपलभ्यमानस्तत्प्रयोजकं भोग्याकारभेदं गमय तीत्यर्थः ॥२०॥

ननु सति भोगभेदे भोग्यभेदः कल्प्येत, स एव नास्तीत्याशङ्क्य, दृश्यमानत्वान्मैवमित्याह –

हृष्यत्येको मणिं लब्ध्वा क्रुध्यत्यन्यो ह्यलाभतः ।
पश्यत्येव विरक्तोऽत्र न हृष्यति न कुप्यति ॥२१॥

अन्वयः—एकः मणिं लब्ध्वा हृष्यति अन्यः हि अलाभतः क्रुध्यति अत्र विरक्तः पश्यति एव न हृष्यति न कुप्यति ।

हृष्यतीति । एको मण्यर्थी तं लब्ध्वा हृष्यति, अन्यस्तथाविधस्तदलाभात् क्रुध्यति । अत्र मणौ विषये विरक्तस्तु तं मणिं पश्यत्येव, लाभालाभनिमित्तौ हर्षक्रोधौ न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥२१॥

कोई शंका करे कि ईश्वर की रची वस्तु स्वरूप से भिन्न कोई भोग्य का आकार ही नहीं है। जिसको जीव रचे इसका उत्तर कहते हैं—

ईश्वर रचित मणि आदि के एक प्रकार की होने पर भी भोक्ता बुद्धि वृत्ति नाना प्रकार की होने से उस एक ही मणि आदि का भोग विविध प्रकार का हो जाता है। एक ही पदार्थ में जो बहुत प्रकार का भोग देखा जाता है। वह अपने (भोग भेद के) प्रयोजक अर्थात् निमित्त कारण (भोग्याकार) भेद को सिद्ध करता है ॥२०॥

शंका करो कि भोग के भेद होने पर भोग्य भेद की कल्पना होती है वह है नहीं इसका उत्तर भोग के भेद से भोग्य का भेद देखते हैं—

मणि का लालची एक पुरुष मणि को पाकर प्रसन्न हो उठता है और दूसरा लालची न मिलने से क्रोधी होता है। मणि के प्रति वैराग्य (उदासीनता) रखने वाला तीसरा पुरुष उसी मणि को केवल देखता ही है। न प्रसन्न होता है न क्रुद्ध होता है, इस प्रकार भेद होने से ही भोग्य-भेद मानना पड़ता है ॥२१॥

के ते भोगभेदोपरक्ता जीवसृष्टा आकारभेदा इत्यत आह—

प्रियोऽप्रिय उपेक्ष्यश्चेत्याकारा मणिगास्त्रय: ।
सृष्टा जीवैरीशसृष्टं रूपं साधारणं त्रिषु ॥२२॥

अन्वय :—प्रिय: अप्रिय: उपेक्ष्यश्च इत्याकारा मणिगा: त्रय: सृष्टा: जीवै:, ईशसृष्टं त्रिषु साधारणं रूपं ।

प्रियइति । मणिनिष्ठा: प्रियत्वाप्रियत्वोपेक्ष्यत्वलक्षणा आकारभेदा जीवै: सृष्टा: त्रिष्वपि साधारणमनुस्यूतं यन्मणिरूपं तदीश्वरनिर्मितमित्यर्थ: ॥२२॥

उक्तं जीवसृष्टाकारभेदमुदाहरणान्तरेण स्पष्टयति—

भार्या स्नुषा ननान्दा च याता मातेत्यनेकधा ।
प्रतियोगिधिया योषिद्भिद्यते न स्वरूपत: ॥२३॥

अन्वय:—भार्या स्नुषा ननान्दा च याता माता इति अनेकधा योषित् प्रतियोगिधिया भिद्यते स्वरूपत: न ।

भार्येति । ननान्दा भर्तृभगिनी, याता देवरपत्नी, प्रतियोगिधिया भर्तृश्वशुरादिलक्षणप्रतियोगि-गोचरया बुद्ध्या, तत्तदपेक्षयेत्यर्थ: ॥२३॥

अब जीव के रचे आकारों के भेद जो भोग के भेद से होते हैं उनको कहते हैं—

मणि में जो प्रिय, अप्रिय और उपेक्षा ये जीवों के बनाये हुए हैं और इन तीनों में साधारण रीति से अनुस्यूत जो मणि रूप है वह ईश्वर का बनाया हुआ है ॥२२॥

अब उक्त जीव के रचे आकार का भेद दूसरे उदाहरण से स्पष्ट करते हैं—

जैसे भार्या, स्नुषा, ननान्दा, याता, माता आदि अनेक प्रकार के प्रति योगी (सम्बन्धी) की बुद्धि के अनुसार एक ही स्त्री का भेद होता है और स्वरूप से नहीं होता है । अर्थात् पति के अपेक्षा भार्या, श्वसुर की अपेक्षा स्नुषा, भौजाई की अपेक्षा ननंद, देवरानी की अपेक्षा याता और पुत्र की अपेक्षा माता होती है ॥२३॥

विशेष—उपेक्ष्यता-राग और द्वेष से रहित वृत्ति को उपेक्षा कहते हैं । उसका विषय जो उपेक्षा करने योग्य वस्तु है उसे उपेक्ष्य कहते हैं विरक्त को मणि का आकार है ।

ननु योषिद्विषयाणि भार्यास्नुषेत्यादिज्ञानान्येव भिन्नान्युपलभ्यन्ते, न तु तद्विषयभूताया योषितः स्वरूपे भेदो दृश्यते, अतः 'प्रतियोगिधिया योषिद्भिद्यते' (प्र० ४।२३) इत्युक्तमयुक्तमिति शङ्कते—

ननु ज्ञानानि भिद्यन्तामाकारस्तु न भिद्यते ।
योषिद्वपुष्यतिशयो न दृष्टो जीवनिर्मितः ॥२४॥

अन्वयः—ननु ज्ञानानि भिद्यन्तां आकारस्तु न भिद्यते योषित्वपुषि जीवनिर्मितः अतिशयः न दृष्टः ।

नन्विति ॥२४॥

ज्ञानावैलक्षण्यस्य ज्ञेयवैलक्षण्याविनाभूतत्वात् ज्ञेयाकारभेदोऽङ्गीकर्तव्य एवेत्याशयेन परिहरति—

मैवं[1] मांसमयी योषित् काचिदन्या मनोमयी ।
मांसमय्या अभेदेऽपि भिद्यते हि मनोमयी ॥२५॥

अन्वयः—मैवं योषित् मांसमयी काचित् अन्या मनोमयी, मांसमय्याः अभेदेऽपि मनोमयी भिद्यते हि ।

मैवमिति ॥२५॥

एक शंका—स्त्री विषयक ज्ञान-भार्या है, पुत्रवधू है, इत्यादि भिन्न-भिन्न उपलब्ध होते हैं। उन ज्ञानों का विषय बनी हुई स्त्री का आकार या स्वरूप भिन्न नहीं होता, वह वैसे का वैसा ही रहता है। इसलिए सम्बन्धियों की भिन्न-भिन्न बुद्धि से स्त्री भी भिन्न हो जाती है यह जो २३वें श्लोक में कहा वह अयुक्त है—

यद्यपि ज्ञानों का भेद है आकार का नहीं क्योंकि स्त्री के शरीर में जीव की रची कोई अधिकता नहीं देखी ॥२४॥

ज्ञेय की विलक्षणता के बिना ज्ञान की विलक्षणता नहीं हो सकती, इससे ज्ञेय के आकार का भेद अवश्य मानना पड़ेगा, इस आशय से उत्तर देते हैं—

ऐसा मत कहो कि विषय का भेद नहीं है, क्योंकि एक स्त्री तो मांसमयी है और दूसरी मनोमयी है। उनमें मांस की स्त्री का भेद नहीं है, परन्तु मनोमयी का भेद है ॥२५॥

विशेष १—अन्यथा भार्याआदिशब्दज्ञानव्यवहाराणां भेदो नैव स्यात् तदेवं तत्तत्जीवदृष्टि कल्पिता अन्या मनोमयी योषितु भिन्नैवं बहुधात्वं अवश्यं एव उररीकर्तव्यमित्याशयः ।

नन्‌ु भ्रान्त्यादिस्थले बाह्यविषयाभावात्‌ तत्रत्यं वस्तु मनोमयमस्तु प्रमितिस्थले तु तदनुपपन्नं बाह्यवस्तुनः सत्त्वादिति शङ्कते—

भ्रान्तिस्वप्नमनोराज्यस्मृतिष्वस्तु मनोमयम्‌ ।
जाग्रन्मानेन मेयस्य न मनोमयतेति चेत्‌ ॥२६॥

अन्वय: भ्रान्ति स्वप्न, मनोराज्य स्मृतिषु मनोमयं अस्तु जाग्रन्मानेन मेयस्य मनोमयता नेति चेत्‌ ।

भ्रान्तीति । मानेन प्रत्यक्षादिप्रमाणेन मेयस्य प्रमेयस्येत्यर्थः ॥२६॥

प्रतितिस्थले बाह्यं विषयसत्त्वमङ्गीकरोति—

बाढं[1] माने तु मेयेन योगात्स्याद्विषयाकृतिः ।
भाष्यवार्तिककाराभ्यामयमर्थ उदीरितः ॥२७॥

अन्वय: बाढं माने तु मेयेन योगात्‌ विषयाकृतिः स्यात्‌ अयं अर्थः भाष्यवार्तिककाराभ्यां उदीरितः ।

बाढमिति । कथं तर्हि तद्विषयस्य मनोमयत्वमुच्यत इत्यत आह—'मानेत्विति' । माने विषयाकृतिस्तु तस्य मेयेन योगात्सम्बन्धात्स्यात्‌ । नन्विदं स्वकपोलकल्पितमित्याशङ्कयाह—'भाष्येति' ॥२७॥

भ्रान्ति, स्वप्न, मनोराज्य और स्मरण करने में दृश्यमान वस्तु मनोमय भले ही रहे, किन्तु जाग्रत काल में प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमेय विषय विद्यमान रहता है, इसलिए मनोमय नहीं हो सकती अर्थात्‌ जाग्रत्‌ कालीन वस्तु को प्रत्यक्ष .प्रमाण से विषयरूप से रहती है, किन्तु मनोमय को कैसे स्वीकार कर सकते हैं ? ॥२६॥

शंका है कि भ्रान्ति स्वप्न, मनोराज्य तथा स्मृति के समय बाह्य विषय के अभाव मेंवहाँ की वस्तुएँ मनोमय हुआ करें, परन्तु जो वस्तु जाग्रत कालीन मान्‌ अर्थात्‌ ६ प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रमेय पदार्थ मनोमय कैसे मान सकते हैं—

बाह्य वस्तुओं के अभाव वाले स्वप्न आदि स्थलों में मनोमय मान लिया जाता है किन्तु जिस जाग्रत अवस्था में वस्तुओं का सद्भाव रहता है जो वस्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से दीखती है ॥२६॥

सत्य है कि प्रमिति स्थल में बाह्य विषय रहता है—

सत्य है समाधान-प्रमिति के स्थल में बाह्य विषय रहता है, तो भी उस विषय को मनोमय इसलिए कहते हैं कि प्रमाण में विषय का आकार यानी मनोमय स्वरूप तो उस प्रमाण जो विषय उसके साथ सम्बन्ध है उससे होता है । (अर्थात्‌ इन्द्रिय से निकलकर विषय पर्यन्त प्राप्त नाले के समान आकार वाली (मनोमय स्वरूप मनोवृत्ति में) मेय पदार्थ के संयोग से आता है । भाष्यकार श्री शंकराचार्य जी और वार्तिककार श्री सुरेश्वराचार्य दोनों ने यह बात कही है ॥२७॥

विशेष - (१) बाढं (सत्यं; जहाँ पूर्व पक्ष दृढ़ होता है, वहाँ बाढं (सत्यं) ऐसा कहते हैं । जहाँ पूर्व पक्ष यथार्थ है उसको इष्टापत्ति (व्यवहारिक पक्ष में अनुकूल होने से) अङ्गीकार करने के लिए सिद्धान्ती ने सत्य ऐसा कहा अर्थात्‌ अर्द्ध स्वीकृति'।

तत्र 'तावद्भाष्यकार' वचनमुदाहरति—

मूषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं जायते तथा ।
रूपादीन्व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभं दृश्यते ध्रुवम् ॥२८॥

अन्वय :—यथा ताम्रं मूषासिक्तं सत् तन्निभं जायते तथा रूपादीन् व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभं दृश्यते इति ध्रुवम् ।

मूषेति । यथा द्रुतं ताम्रं मूषायां सिक्तं सत् तन्निभं जायते तत्समानाकारवद्भवति, तथा रूपादीन्विषयान् व्याप्नुवद्विषयीकुर्वच्चित्तं ध्रुवमवश्यं तन्निभं दृश्यते, उपलभ्यत इत्यर्थः ॥२८॥

ननु ताम्रादेरग्निसंपर्काद्द्रुतस्य मूषानिषिक्तस्य कठिनमूषाभिघातेन शैत्यापत्तौ मूषाकारापत्तावपि बुद्धेरमूर्तायास्ताम्रादिविलक्षणाया विषयव्याप्तावपि कुतस्तदाकारापत्तिरित्याशङ्क्य, दृष्टान्तान्तरमाह—

व्यञ्जको वा यथाऽऽलोको व्यङ्ग्यस्याकारतामियात् ।
सर्वार्थव्यञ्जकत्वाद्धीरर्थाकारा प्रदृश्यते ॥२९॥

अन्वय :—आलोकः यथा वा व्यञ्जकः व्यङ्ग्यस्य आकारतां इयात् सर्वार्थव्यञ्जकत्वात् धीः अर्थाकारा प्रदृश्यते ।

व्यञ्जक इति । यथा वा व्यञ्जकः प्रकाशक आलोक आतपादिर्व्यङ्ग्यस्य प्रकाश्यस्य घटादेराकारतामाकारवत्तामियात्प्राप्नुयात् एवं धीरपि सर्वार्थस्य व्यञ्जकत्वात् सकलपदार्थप्रकाशकत्वात् अर्थाकारा अर्थस्याकार इव आकारो यस्याः सा तथा प्रदृश्यते, प्रकर्षेणोपलभ्यत इत्यर्थः ॥२९॥

प्रथम भाष्यकार के वचन को कहते हैं—

जैसे पिघले हुए ताम्र आदि को जब साँचे में ढाल दिया जाता है, तो वह साँचे के आकार वाला ही हो जाता है । वैसे ही रूपादि विषयों को व्याप्त करने वाला चित्त भी अवश्य ही उन रूपादि के समान मनोमय दीखने लगता है ॥२८॥

शंका करें कि अग्नि में तपाने से द्रुत हुए ताम्र आदि को मूषा में ढाला जाता है तो ठोस साँचे के संयोग से ठण्डे होकर वे सांचों के आकार के हो जाते हैं । परन्तु चित्त तो ताम्र आदि से विलक्षण अमूर्तमान् पदार्थरूप बुद्धि वह विषय को व्याप्त करके भी विषयाकार कैसे हो सकती है । यह शंका करके अन्य दृष्टान्त देते हैं —

अथवा जैसे सूर्य आदि का प्रकाश (धूप आदि) व्यङ्ग्य प्रकाश्य प्रकाशित होने योग्य घट आदि आकार वाला हो जाता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों की प्रकाशिका होने से बुद्धि भी पदार्थ के आकार को प्राप्त हो जाती है । यह भी भले प्रकार देखते हैं । अर्थात् जैसा आकार पदार्थ का होता है वैसा ही आकार उस पदार्थ को देखने वाली बुद्धि का भी हो जाता है ॥२९॥

इदानीं 'वार्तिककार' वचनमाह—

मातुर्मानाभिनिष्पत्तिर्निष्पन्नं मेयमेति तत् ।
मेयाभिसंगतं तच्च मेयाभत्वं प्रपद्यते ॥३०॥

अन्वय :—मातुः मानाभिनिष्पत्तिः निष्पन्नं इति तत् मेयं तच्चमेयाभिसङ्गतं मेयाभत्वं प्रपद्यते ।

मातुरिति । मातुः साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासरूपात्प्रमातुः मानाभिनिष्पत्तिः मानस्य साभासान्तःकरणवृत्तिरूपस्य अभिनिष्पत्तिरुत्पत्तिः भवतीति शेषः । निष्पन्नमुत्पन्नं तन्माने मेयं घटादिरूपमेति प्राप्नोति । किंच, तन्मानं मेयाभिसंगतं प्रमेयेण सम्बद्धं सन्मेयाभत्वं मेयस्याभेवाभा यस्य तन्मेयाभं तस्य भावस्तत्त्वं मेयसमानाकारतां प्रपद्यते, प्राप्नोतीत्यर्थः ॥३०॥

भवत्वेवंप्रकृते किमायातमित्यत आह—

सत्येवं विषयौ द्वौ स्तौ घटौ मृन्मयधीमयौ ।
मृन्मयो मानमेयः स्यात् साक्षिभास्यस्तु धीमयः ॥३१॥

अन्वय :—एवं सति घटौ मृन्मयधीमयौ द्वौ विषयो स्तः मृन्मयो मानमेयः स्यात् साक्षिभास्यस्तु धीमयः ।

सत्येवमिति । ननु मृन्मयघटस्येव मनोमयघटस्य तेनैव मनसा ग्रहीतुमशक्यत्वात् ग्राहकान्तराभावाच्चासिद्धिरेव इत्याशङ्क्य, ग्राहकान्तराभावोऽसिद्ध इत्याह— 'मृन्मय इति' । यथा मृन्मयो मानमेयः, तथा धीमयः साक्षिभास्य इत्यर्थः ॥३१॥

अब वार्तिककार के वचन को कहते हैं—

प्रमाता अर्थात् कूटस्थ अधिष्ठान सहित बुद्धि में स्थित चिदाभास रूप जो प्रमाता (ज्ञाता) जीव से चिदाभास सहित अन्तःकरण की वृत्ति रूप प्रमाण की उत्पत्ति होती है । जब वह प्रमाण उत्पन्न हो जाता है। तब वह घटादि मेय पदार्थों के पास पहुँचता है । इस प्रकार मेय पदार्थं से सम्बद्ध हुआ प्रमेय के से आकार का दीखने लगता है ॥३०॥

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ, प्रकृत को कहते हैं——

प्रमाण के विषय दो होते हैं । एक मिट्टी का दूसरा मनोमय । जिस प्रकार मृन्मयघट मनोवृत्ति द्वारा प्रमा ज्ञान का विषय प्रमाता भास्य है । (प्रमाण वृत्ति द्वारा जिनको साक्षी प्रकाशित करता है । वे बाह्य घट पट आदि प्रमाता भाष्य हैं) वैसे ही मनोमय घट साक्षि भास्य है (साक्षी से भीतर ही उत्पन्न हुई वृत्ति द्वारा जिनको साक्षी प्रकाशित करता है वे स्वप्न, सुख, दुःख और काम आदि मनोमय पदार्थं साक्षि भास्य है ॥३१॥

भवत्वेवं द्विविधं द्वैतम्, अत्र कस्य हेयत्वं, कस्य वा नेति न ज्ञायते इत्याशङ्क्य, जीवसृष्टस्यैव हेयत्वमित्यभिप्रेत्य तस्य बन्धहेतुत्वं दर्शयति—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां[१] धीमयो जीवबन्धकृत् ।

सत्यस्मिन् सुखदुःखे स्तस्तस्मिन्नसति न द्वयम् ॥३२॥

अन्वय :—अन्वयव्यतिरेकाभ्यां धीमयः जीवबन्धकृत् (भवति) सति अस्मिन् सुखदुःखे स्तः असति तस्मिन् द्वयं (सुखं दुःखं च न) ।

अन्वयेति । अन्वयव्यतिरेकावेव दर्शयति 'सत्यस्मिन्निति' । अस्मिञ्जीवसृष्टे मानसप्रपञ्चे सति विद्यमाने सुखदुःखे स्तो भवतः, असति तु तस्मिन्न द्वयम्, सुखं दुःखं च नास्तीत्यर्थः ॥३२॥

ननूक्तावन्वयव्यतिरेकौ बाधितार्थविषयौ किं न स्यातामित्यत आह—

असत्यपि च बाह्यार्थे स्वप्नादौ बध्यते नरः ।

समाधिसुप्तिमूर्च्छासु सत्यप्यस्मिन्न बध्यते ॥३३॥

अन्वयः बाधितार्थे असत्यपि च नरः स्वप्नादौ बध्यते समाधिसुप्तिमूर्छासु अस्मिन् सत्यपि न बध्यते ।

असतीति । नरो मनुष्यः एतदुपलक्षणमन्येषामपि ।[२] स्वप्नादौ स्वप्नस्मृत्यादिकाले बाधितार्थेऽनुकूले योषिदादौ, प्रतिकूले व्याघ्रादौ च पारमार्थिके विषयेऽसत्यपि अविद्यमानेऽपि बध्यते सुखदुःखाभ्यां युज्यते, समाध्यादिषु तु अस्मिन्बाधितार्थे सत्यपि न बध्यते, न सुखदुःखादिभाग् भवति, अतस्तद्विषयावन्वयव्यतिरेकौ न स्त इत्यर्थः ॥३३॥

इस प्रकार दो प्रकार का द्वैत रहे, इनमें कौन त्यागने योग्य और कौन अत्याज्य है। यह ज्ञान नहीं हो सकता यह शंका करके जीव के रचे द्वैत को त्याज्य मान कर उसे बन्धन का हेतु कहते हैं—

अन्वय व्यतिरेक को दिखाते हैं- अन्वय और व्यतिरेक से धीमय जगत् जीव को बन्धन का कर्ता है क्योंकि इस जीव के रचे मानस प्रपञ्च के विद्यमान होते सुख दुःख होते हैं (यह अन्वय है। इसके न होने से सुख दुःख दोनों नहीं होते। (यह व्यतिरेक है। ॥३२॥

शंका करो कि पूर्वोक्त अन्वय व्यतिरेक सुख दुःख का जो मनोमय पदार्थों में बताया यह बाह्य पदार्थ अर्थात् ईश्वर रचित प्रपञ्च के सम्बन्धी क्यों नहीं है यह कहते हैं—

मनुष्य आदि प्राणी स्वप्न या स्मृति आदि के समय स्त्री आदि अनुकूल और व्याघ्र आदि प्रतिकूल और सच्चे विषय की अविद्यमानता में भी खुशी या दुःखी हुआ करते हैं। इसके विपरीत, समाधि,

विशेष (१) धीमय विषयसत्त्वे जाग्रत् स्वप्नयोबन्धसत्त्वं, तदभावे समाधि सुप्त्योर्बन्धाभाव इति प्रसिद्धावेवेतिभावः ।

(२) देव ऋषि आदि का भी उपलक्षण ।

मनोमयप्रपञ्चस्य बन्धकत्वेनान्वयव्यतिरेकावुदाहरणेन स्पष्टयति—

दूरदेशं गते पुत्रे जीवत्येवात्र तत्पिता ।
विप्रलम्भकवाक्येन मृतं मत्वा प्ररोदिति ॥३४॥

अन्वय : पुत्रे दूरदेशे गतं सति जीवति एव अत्र (गृहे) तत्पिता विप्रलम्भकवाक्येन मृतं मत्वा प्ररोदिति ।

दूरदेशमिति । देशान्तरं प्राप्ते पुत्रे तत्र जीवत्येव सति अत्र स्वगृहे स्थितः तस्यपिता विप्रलम्भकस्य मिथ्यावचनैः परवञ्चकस्य 'त्वत्पुत्रो मृतः' इत्येवं रूपेण वाक्येन स्वपुत्रं मृतं कल्पयित्वा प्रकर्षेण रोदनं करोति ॥३४॥

मृतेऽपि तस्मिन्वार्तायामश्रुतायां न रोदिति ।
अतः सर्वस्य जीवस्य बन्धकृन्मानसं जगत् ॥३५॥

अन्वय :—मृतेऽपि तस्मिन् वार्तायां अश्रुतायां न रोदिति अतः सर्वस्य जीवस्य बन्धकृत् मानसं जगत् अस्ति ।

तस्मिन्नेव पुत्रे तत्रैव मृतेऽपि तन्मृतिवार्तायामश्रुतायां सत्यां न रोदनं करोति । फलितमाह–'अत इति ॥३५॥

सुषुप्ति और मूर्च्छा के समय बाह्य पदार्थ के विद्यमान रहने पर भी सुखी या दुःखी नहीं होते । इससे यही सिद्ध होता है कि सुख, दुःख के साथ ईश्वर रचित बाह्य प्रपञ्च के अन्वय, व्यतिरेक नहीं है । किन्तु सुख दुःख के साथ जीव रचित मनोमय पदार्थों के ही अन्वय व्यतिरेक है । जीव अपने मनोमय प्रपञ्च से ही खुशी या दुःखी होता है ॥३३॥

अब मनोमय प्रपञ्च को ही बन्धन होने से ही अन्वय व्यतिरेक को उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं—

किसी का पुत्र दूर देश में गया हो वहाँ जीवित है और किसी मिथ्यावादी के "तेरा पुत्र मर गया है" इस मिथ्या वचन से अपने पुत्र को मरा मानकर अपने घर में स्थित उसका पिता रोदन करता है। मनोमय पुत्र मर गया और बाह्य पुत्र जीता हुआ परदेश में विद्यमान है ॥३४॥

और उस पुत्र के पदेरश में मरने पर भी पिता मरने की वार्ता न सुने तो रोदन नहीं करेगा । इससे सम्पूर्ण जगत् को मानस जगत् ही सब जीवों को बन्धन डालता है ॥३५॥

धीमयस्यैव जगतो बन्धहेतुत्वाङ्गीकारे बाह्यार्थपलापादपसिद्धान्तापातः स्यादिति शङ्कते –

विज्ञानवादो बाह्यार्थवैयर्थ्यात्स्यादिहेति चेत् ।

न हृद्याकारमाधातुं बाह्यस्यापेक्षितत्वतः ॥३६॥

अन्वयः—बाह्यार्थे वैयर्थ्यात् इह विज्ञानवादः स्यात् इति चेतनहृद्याकारमाधातुं बाह्यस्या-पेक्षितत्वतः ।

विज्ञानेति । परिहरति – 'नेति' । यद्यपि मानसप्रपञ्चस्यैव बन्धहेतुत्वं, तथापि तद्धेतुत्वेन बाह्यार्थस्यापि स्वीकारान्न विज्ञानवादप्रसङ्ग इति भावः ॥३६॥

ननु न 'हृद्याकारसमर्पणाय बाह्यपदार्थोऽपेक्षणीयः, पूर्वपूर्वमानसप्रपञ्च संस्कारस्यैवोत्तरोत्तर-मानसप्रपञ्चहेतुत्वोपपत्तेरित्याशङ्क्य, प्रौढ़वादेन[1] तदङ्गीकरोति—

वैयर्थ्यमस्तु[2] वा बाह्यं न वारयितुमीश्महे ।

प्रयोजनमपेक्षन्ते न मानानीति हि स्थितिः ॥३७॥

अन्वयः वैयर्थ्यं अस्तु वा बाह्यं न वारयितुं ईश्महे हि मानानि प्रयोजनं न अपेक्षन्ते इति स्थितिः ।

वैयर्थ्यमिति । तर्हि विज्ञानवादात्को भेद इत्यत आह – 'बाह्यमिति' । विज्ञानवादिनो बाह्यार्थ-मेवापलयन्ति, वयं न तथेत्ययमेव भेद इत्यर्थः । प्रयोजनशून्यत्वादभ्युपगमोऽप्ययुक्त एवेत्याशङ्कयाह— 'प्रयोजनमिति' । मानाधीना वस्तुसिद्धिः न प्रयोजनाधीनाः मानसिद्धस्य प्रयोजनशून्यत्वमात्रेणासत्त्वस्य लौकिकैर्वादिभिर्वाऽनभ्युपगमादिति भावः ॥३७॥

कदाचित् कहो कि मानस प्रपञ्च जगत् को ही बन्धन का हेतु मानोगे तो बाह्य जगत् का सर्वथा अपलाप ही हो जायेगा । इससे सिद्धान्त भंग होगा, इस शंका पर कहते हैं—

बाह्य अर्थ व्यर्थ होने पर यहाँ विज्ञानवाद[1] हो जायेगा, यह ठीक नहीं । क्योंकि यद्यपि मानस प्रपञ्च ठीक बन्धन का हेतु है । तथापि उस मानस प्रपञ्च को बाह्य अर्थ की अपेक्षा है इससे विज्ञानवाद का प्रसङ्ग नहीं हो सकता । हृदय में आकर जमाने के लिए बाह्य अर्थ की अपेक्षा है ॥३६॥

शंका अन्तःकरण में आकार जमाने के लिए बाह्य पदार्थ की अपेक्षा करना उचित नहीं है । पूर्व पूर्व मानस प्रपञ्च का संस्कार ही उत्तरोत्तर मानस प्रपञ्च का हेतु हो सकता है । इस शंका का उत्तर पौढ़वाद से स्वीकार करते हुए कहते हैं—

बाह्य व्यर्थ हो हम वारण नहीं कर सकते, परन्तु यह मर्यादा है कि मान प्रयोजन की अपेक्षा वस्तु की सिद्धि में नहीं करते ॥३७॥

विशेष १—क्षणिक विज्ञानवादी के मत में (बुद्धि से भिन्न) अर्थ (विषय) का अभाव माना है । उसका प्रसंग जो यहाँ कहा, वह सिद्धान्त मत में आयेगा ।

विशेष २—प्रौढ़िवाद-दुर्जनतोष न्याय करके अपनी उत्कर्षता दिखाने के वाक्य यहाँ बाह्य वस्तु की व्यर्थता हुए भी उसको अङ्गीकार प्रौढ़िवाद है ।

२—प्रयोजनं विनाऽपि तृणादि ज्ञप्तः प्रमाणानां न प्रयोजनापेक्षेति भावः ।

मानमद्वैतस्यैव बन्धहेतुत्वे तस्य मनोनिरोधात्मकयोगेनैव निवृत्तिसंभवाद् ब्रह्मज्ञानस्य बन्धनिवर्तकत्वाभ्युपगमो विरुध्येतेति शङ्कते—

बन्धश्चेन्मानसद्वैतं तन्निरोधेन शाम्यति ।

अभ्यसेद्योगमेवातो ब्रह्मज्ञानेन किं वद ॥३८॥

अन्वयः—मानस द्वैतं बन्धश्चेत् तन्निरोधेन शाम्यति अतः योगमेव अभ्यसेद् ब्रह्म ज्ञानेन किं इति वद । बन्धश्चेदिति ॥३८॥

योगेन किं द्वैतोपशमस्तात्कालिक उच्यते, आत्यन्तिको वा ? इतिविकल्प्याद्यमङ्गीकृत्य, द्वितीयं दूषयति—

तात्कालिकद्वैतशान्तावप्यागामिजनिक्षयः ।

ब्रह्मज्ञानं विना न स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥३९॥

अन्वयः—तात्कालिक द्वैतशान्तौ अपि आगामि जनिक्षयः ब्रह्म ज्ञानं बिना न स्यात् इति वेदान्त डिण्डिमः ।

तात्कालिकेति । 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः (श्वे० १।८, २।१।१२, ५।१३) ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति' (श्वे० ४।१४) 'यदाचर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः । तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति' (श्वे० ६।२०) इत्यादि श्रुतिष्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां ब्रह्मज्ञानादेव बन्धनिवृत्तिरभिधीयत इति भावः ॥३९॥

विज्ञानवादी बाह्य का अर्थ का निषेध करते हैं बाह्य अर्थ चाहे व्यर्थ भी हो परन्तु उसका हम वरण (निषेध) करने को समर्थ नहीं । कदाचित् कहो कि प्रयोजन शून्य वाह्य अर्थ का मानना ही वृथा है यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि मान, प्रमाण, प्रयोजन की अपेक्षा नहीं करते यह मर्यादा है । अर्थात् प्रमाण के अधीन वस्तु की सिद्धि है । प्रयोजन के अधीन नहीं, मान से सिद्ध हुआ पदार्थ प्रयोजन शून्य होने से कुछ असत् नहीं हो सकता यह लौकिकवादी[3] मानते हैं ॥३७॥

मानस द्वैत ही जीव के बन्धन में मुख्य कारण है, उस मानस द्वैत का मनोनिरोधात्मक योग सेनिवर्तक सम्भव है । फिर उसके लिए ब्रह्मज्ञान के बन्धन का निवर्तक मानना विरुद्ध ही है ऐसी आशंका करते हैं—

यदि मानस द्वैत ही बन्धन का हेतु है तो यह मानस प्रपञ्च अन्तःकरण की वृत्ति को निरोध रूप योग से निवृत्त हो सकता है । अतः इसके उपशम के लिए योग का ही अनुष्ठानाभ्यास करना समुचित दीखता है कहीं ब्रह्मज्ञान से क्या सिद्ध होगा ? ॥३८॥

योग से द्वैत की निवृत्ति तात्कालिक (केवल चित्त के निरोध के समय ही) होती है, या आत्यन्तिक (एक द्वैत की निवृति होकर फिर द्वैत की उत्पत्ति न होना) इस प्रकार विकल्प में प्रथम स्वीकार करके दूसरे पक्ष में दूषण देते हैं—

३—रास्ते में पड़े तिनके और काँटे आदि व्यर्थ है तो भी उनकी सत्ता माननी ही पड़ती है ।

ननु बाह्यद्वैतनिवारणमन्तरेणाद्वितीयब्रह्मज्ञानमेव नोदीयादित्याशङ्क्य[1] तन्निवारणाभावेऽपि तस्य मिथ्यात्वज्ञानादेव पारमार्थिकमद्वैतं बोद्धुं शक्यतइत्याह—

अनिवृत्तोऽपीशसृष्टे द्वैते तस्य मृषात्मताम् ।
बुद्ध्वा ब्रह्माद्वयं बोद्धुं शक्यं वस्त्वैक्यवादिनः ।।४०।।

अन्वयः—ईशसृष्टे द्वैते अनिवृत्ते अपि तस्य मृषात्मतां बुद्ध्वा ब्रह्माद्वयं वस्तु बोद्धुं शक्यं इति वस्त्वैक्यवादिनः ।

अनिवृत्तोऽपीति ।।४०।।

योग से तत्काल के द्वैत का नाश हो भी जाय पर भविष्य काल के द्वैत का नाश ब्रह्म ज्ञान बिना नहीं होता यह वेदान्त का सिद्धान्त है ।।३६।।

देव ब्रह्म को जानकर सब बन्धनों से छूटता है । जब चर्म के समान आकाश को वेष्टन जैसे आकाश निरवयव होने से और विभु होने से सस्पर्श रहित होने से उसका वेष्टन किसी काल में नहीं होता । वैसे ही ब्रह्म स्वरूप आत्मा को जाने बिना दुःख जो जन्म मरण अनर्थ की निवृत्ति नहीं होती । इत्यादि श्रुतियों में भी अन्वय व्यतिरेक के द्वारा यही बताया है कि ब्रह्म ज्ञान से ही बन्ध की निवृत्ति होती है । यही वेदान्त का डिंडिम (घोषणा) है ।।३६।।

यदि शंका करो कि बाह्य द्वैत की निवृत्ति के बिना अद्वितीय ब्रह्मज्ञान ही नहीं होगा इस पर कहते हैं । ईश्वर रचित द्वैत की निवृत्ति न होने पर भी (द्वैत के बने रहने पर भी) उसको मिथ्या समझ लेने पर भी अद्वैतवादी अर्थात् एक वस्तु रूप ब्रह्म का ज्ञाता अद्वितीय ब्रह्म को जान सकता है । ब्रह्म ज्ञान में द्वैत का मिथ्यात्व निश्चय हेतु है सर्वदा निश्चय नहीं ।।४०।।

विशेष—तस्यमिथ्यात्वबोधेन तत्रोधकत्व असंभवात् आदर्शनिविष्टदेवदत्तादौ तथैव दृष्टत्वात्च मा एवं इति समाधत्तेअनिवृत्ते इति ।

न द्वैतमृषात्वज्ञानमद्वैतज्ञानप्रयोजकम्, अपि तु तन्निवारणमेवेत्यभिनिवेशमानं प्रत्याह—

प्रलये[1] तन्निवृत्तौ तु गुरुशास्त्राद्यभावतः ।
विरोधिद्वैताभावेऽपि न शक्यं बोद्धुमद्वयम् ॥४१॥

अन्वयः—प्रलये तन्निवृत्तौ तु गुरुशास्त्राद्यभावतः विरोधिद्वैताभावेऽपि अद्वयं (वस्तु) बोद्धुं शक्य न ।

प्रलय इति । प्रलये प्रलयावस्थायां तन्निवृत्तौ तु तस्य द्वैतस्य निवृत्तौ सत्यां तु विरोधिद्वैताभावेऽप्य-द्वैतज्ञानविरोधित्वेन भवदभिमतस्य द्वैतस्यानिवारणे सत्यपि गुरुशास्त्राद्यभावतः गुरुशास्त्रादिरूपस्य ज्ञानसाधनस्याभावाद्धेतोरद्वयं वस्तु बोद्धुं शक्यं न भवति, अतस्तन्निवारणमप्रयोजकमिति भावः ॥४१॥

तथापि सति द्वैते कथमद्वैतज्ञानमित्याशङ्क्याह—

अबाधकं साधकं च द्वैतमीश्वरनिर्मितम् ।
अपनेतुमशक्यं चेत्यास्तां तद्द्विष्यते कुतः ॥४२॥

अन्वयः—अबाधकं साधकञ्च द्वैतंईश्वरनिर्मितं अपनेतुं अशक्यं च इति आस्तां कुतः तद् द्विष्यते ।

अबाधकमिति । ईश्वरनिर्मितं द्वैतमबाधकं तन्मृषात्वज्ञानेनैवाद्वैतज्ञानोत्पत्तेरुक्तत्वात्साधकं च गुरुशास्त्रादिरूपस्य तस्य ज्ञानसाधनत्वादाकाशादिरूपद्वैतमस्माभिरपनेतुमशक्यं चेति हेतोस्तद्द्वैतमास्तां,[2] कुतः कारणाद् द्विष्यते इत्यर्थः ॥४२॥

बाह्य द्वैत का मिथ्यात्व ज्ञान नहीं आपितु अद्वैत ज्ञान का प्रेरक किन्तु द्वैत का निवारण होना चाहिए उसके प्रति कहते हैं—

प्रलय अवस्था में द्वैत की निवृत्ति होने पर भी अद्वैत का विरोधी जो द्वैत उसका अभाव अर्थात् निवारण होने पर भी, ज्ञान के साधन गुरु शास्त्र आदि के न होने के कारण अद्वैत का ज्ञान नहीं हो सकता । अतएव ईश्वर रचित द्वैत का विनाश अद्वैत ज्ञान का कारण नहीं ॥४१॥

कदाचित् कहो कि द्वैतके रहते किस प्रकार अद्वैत का ज्ञान होगा इस शंका पर कहते हैं—

ईश्वर का रचा हुआ द्वैत अबाधक है । क्योंकि उसके मिथ्यात्व ज्ञान से ही अद्वैत ज्ञान हो सकता है । यह श्रुति ने कहा है । फिर ईश्वर, द्वैत, अद्वैत ज्ञान का साधक भी है क्योकि गुरूशास्त्र आदि रूप में वह ईश्वर द्वैत ज्ञान का साधक है, आकाश आदि ईश्वर आदि ईश्वर द्वैत को हम नष्ट भी नहीं करसकते । इसलिए ईश्वर रचित द्वैत को ऐसे ही रहने दो । इससे द्वेष क्यों करते हो, हमें ब्रह्मज्ञान सेप्रयोजन है॥४२॥

विशेष १ – महाप्रलयेऽपि निर्लेपलयो असिद्धः । सत् कार्यवादात् । महाप्रलय में जगतका समूल नाशनहीं होता । समान नामरूपत्वात् च आवृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च । ब्र० सू०१।३।३० ।

२ - जैसे घट, कुण्डल आदि का आकार, मिट्टी सोने आदि के ज्ञान में बाधक नहीं है और दर्पण का प्रतिबिम्ब आकाश की नीलता, मरुभूमि का पानी और स्वप्न का संसार ये क्रम से मुँह, आकाश, मरुभूमि और पुरुष के अद्वैत ज्ञान में बाधक नहीं है । वैसे ही ईश्वर द्वैत भी, अद्वैत ब्रह्म के ज्ञान का विरोधी नहीं है । अपितु मिथ्या होने से अबाधक है ।

इदानीं जीवसृष्टद्वैतं विभजते—

जीवद्वैतं तु शास्त्रीयमशास्त्रीयमिति द्विधा ।
उपाददीत शास्त्रीयमाऽऽतत्त्वस्यावबोधनात् ॥४३॥

अन्वयः—जीवद्वैतं तु शास्त्रीयं अशास्त्रीयं इति द्विधा आतत्वस्य अवबोधनात् शास्त्रीयमुपाददीत ।

जीवेति । किं तद्द्विविधमपि सदा हेयमेव ? नेत्याह— 'उपाददीतेति' । आ तत्त्वस्य अवबोधनात्, तत्त्वस्यावबोधनपर्यन्तमित्यर्थः ॥४३॥

किं तच्छास्त्रीयं द्वैतमित्याकांक्षायामाह—

आत्मब्रह्मविचाराख्यं शास्त्रीयं मानसं जगत् ।
बुद्धे तत्त्वे तच्च हेयमिति श्रुत्यनुशासनम् ॥४४॥

अन्वयः—आत्मब्रह्म विचाराख्यं शास्त्रीयं जगत् मानसं तत्त्वे बुद्धे तच्च हेयं इतिश्रुत्य अनुशासनम् ।

आत्मेति । प्रत्यग्रूपस्य ब्रह्मणो[१] विचाराख्यं यच्छ्रवणादिकं तच्छास्त्रीयं मानसं जगदित्यर्थः । ननु 'आतत्त्वस्यावबोधनात्' इत्युक्तमनुपपन्नं, 'आ सुप्तेरा मृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया' इत्युक्तत्वादित्याशङ्क्याह—'बुद्धे इति' । तत्त्वे ब्रह्मात्मैक्यलक्षणे बुद्धे, साक्षात्कृते सतीत्यर्थः । तर्हि 'आसुप्तेः' इति वाक्यस्य का गतिरिति चेत् 'दद्यान्नावसरं किंचित्कामादीनां मनागपि' इति पूर्वार्धे कामाद्यवसरप्रदानस्य निषिद्धत्वात्तत्परतैवेति वदामः, अतो न काप्यनुपपत्तिरिति भावः ॥४४॥

अब जीव के रचे द्वैत का विभाग करते हैं—

जीव रचित द्वैत शास्त्रीय और अशास्त्रीय भेद से दो प्रकार का है । इनमें से तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति तक शास्त्रीय द्वैत को तो तब तक स्वीकार कर लें, जब तक अद्वैत का ज्ञान न हो ॥४३॥

वह शास्त्रीय द्वैत कौन है, अब शास्त्रीय द्वैत को कहते हैं—

प्रत्यक् तत्त्व आत्म रूप से ब्रह्म का विचार अर्थात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन रूप विचार (मन की कल्पना रूप होने से) शास्त्रीय मानस अर्थात् जीव कृत जगत् है । इस शास्त्रीय द्वैत को मानस जगत् है तत्त्व ज्ञान होने के पश्चात् छोड़ना चाहिए, श्रुति ने यही आज्ञा दी है । कोई शंका करे कि ४३वें श्लोक में कहा ब्रह्म और आत्मा की एकता रूप तत्त्व का ज्ञान होने तक श्रवण, मनन, आदि शास्त्रीय द्वैत का अवलम्बन करना चाहिए । यह कहा—सुषुप्ति और मरण पर्यन्त काल तक वेदान्त का चिन्तन करना चाहिए, यह क्यों बताया ? इसका उत्तर देते हैं । कि पूर्वार्ध में कहा गया है कि जीवन्मुक्ति सुख के विरोधी काम आदि को अवसर न देना ही अभीष्ट है । इसलिए यह वाक्य है, सुषुप्ति या मरण काल तक वेदान्त चिन्तन का विधान इस वाक्यमें नहीं है कि अद्वैत अवस्था में भी वेदान्त कात्याग न करें ॥४४॥

विशेष (१) एतेन त्वंपदार्थतत्पदार्थस्य क्रमशः उक्तौ, तयोर्यो विचारः प्राग् उक्तः लक्षणः श्रवणमनन निदिध्यासनात्मकमनोव्यापाराख्यस्तमित्याशयः ।

तत्त्वबोधोत्तरकालं तद्वैयत्वप्रतिपादनपराः श्रुतीरुदाहरति—

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत् ॥४५॥

ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः ॥४६॥

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥४७॥

अन्वयः—मेधावी शास्त्राणि अधीत्य पुनः पुनः अभ्यस्य च परमं ब्रह्म विज्ञाय अथ तानि उल्कावत् उत्सृजेत्।

ज्ञानविज्ञानतत्परः मेधावीग्रन्थं अभ्यस्य धान्यार्थी पलालमिव अशेषतः ग्रन्थं त्यजेत्।

धीरः ब्राह्मणः तमेव विज्ञाय प्रजां कुर्वीत नानुध्यायात् बहून शत् (यतः) तत् वाचःविग्लापनं हि।

'शास्त्राणी' त्यारम्य ॥४५-४७॥

तत्त्व ज्ञान के पश्चात् शास्त्रीय मानस द्वैत का त्याग करने के लिए श्रुतियों ने भीकहा है—

विवेक वैराग्य आदि से युक्त अधिकारी शास्त्रों का गुरु मुख से श्रवण और बार-बार उसका मनन करके, परब्रह्म को विशेषतया अर्थात् संशय आदि रहित ब्रह्म को जान लेने के पश्चात् शास्त्रों (शास्त्रवासना) को त्याग देता है उल्का (जले हुए काष्ठ) जैसे पाकार्थी पुरुष रसोई बनाने के पश्चात् बची जली लकड़ियों को व्यर्थ समझकर छोड़ देता है। वैसे ही मुमुक्षु परब्रह्म को जानकर शास्त्र को छोड़े, बोध से पहले न छोड़े. ब्रह्म को जानना ही शास्त्र का एकमात्र प्रयोजन है। विवेक चूडा० में भाष्यकार का वचन ६१वें श्लोक अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्रा धीतिस्तु निष्फला। विज्ञातेऽपि परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ॥४५॥

बुद्धिमान पुरुष ग्रन्थों के अभ्यास से ज्ञान (१) परोक्ष अनुभव या श्रवण, मनन से उत्पन्न, या गुरू शास्त्र से जन्य जगत् के मिथ्यात्व सहित ब्रह्म एवं आत्मा की एकता का निर्णय ज्ञान और विज्ञान (२) अपरोक्ष अनुभव या निदिध्यासन से जन्य अथवा गुरू शास्त्र द्वारा निर्णीत अर्थ का अपने को वैसा का वैसा अनुभव को विज्ञान कहते हैं उसमें कुशल होने पर ग्रन्थ को पूरी तरह ऐसे छोड़ दें जैसे धान्य चाहने वाला किसान धान्य निकाल कर भूसे को छोड़ देता है ॥४६॥

ब्रह्मचर्य आदि साधन से सम्पन्न धीर ब्राह्मण प्रत्यक् अभिन्न परमात्मा को ही विशेष रूप से जानकर उसमें निष्ठा (प्रज्ञा) अर्थात् ब्रह्म में निरन्तर वृत्तिरूप एकाग्रता को सिद्ध करें, अपनी बुद्धि को सदातदाकार बनाये रखें, और बहुत से शब्दों का ध्यान चिन्तन भी न करें। क्योंकि ऐसा चिन्तन वाणी और मन को व्यर्थ में थकाता है ॥४७॥

तमेवैकं विजानीथ ह्यन्या वाचो विमुञ्चथ ।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञ इत्याद्याः श्रुतयः स्फुटाः ॥४८॥

अन्वय :—तमेव एकं विजानीथ अन्या वाचः विमुञ्चथ हि प्राज्ञः 'वाङ्मनसी यच्छेत् इत्याद्याः श्रुतयः स्फुटाः ।

'तमेवैकं विजानीथ' इत्यनेन' तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ' (मुण्ड० २।२।५) ('अमृतस्यैष सेतुः' (मुण्ड० २।२।५) इति श्रुतिरर्थतः पठितेति ॥४८॥

अशास्त्रीयस्यापि द्वैतस्यावान्तरभेदमाह—

अशास्त्रीयमपि द्वैतं तीव्रं मन्दमिति द्विधा ।

कामक्रोधादिकं तीव्रं मनोराज्यं तथेतरत् ॥४६॥

अन्वय—अशास्त्रीयं द्वैतं अपि द्विधा तीव्रं मन्दं इति काम क्रोधादिकं तीव्रं मनोराज्यं तथेतरत् ।

अशास्त्रीयमिति । द्विधा द्विविधमपि क्रमेणोदाहरति–'कामेति' । इतरत् मन्दमित्यर्थः ॥४६॥

किमनयोः शास्त्रीयद्वैतस्यैव तत्त्वबोधोत्तरकालमेव हेयत्वम् ? नेत्याह—

उभयं तत्त्वबोधात्प्राङ् निवार्यं बोधसिद्धये ।

शमः समाहितत्वं च साधनेषु श्रुतं यतः ॥५०॥

अन्वय :—तत्त्वबोधात् प्राक् बोधसिद्धये उभयं निवार्यं शमः समाहितत्वञ्च यतः साधनेषु श्रुतं ।

उभयमिति । प्राङ् निवारणं किमर्थमित्यत आह—'बोधसिद्धये इति' । तत्र लिङ्गमाह— 'शम इति' । यतस्तत्त्वबोधात्प्राक् तयोर्हेयत्वं तत एव नित्यानित्यवस्तु विवेकादिब्रह्मज्ञानसाधननेषु मध्ये 'शान्तः समाहित' इति पदाभ्यां शान्तिसमाधी श्रूयेते इत्यर्थः ॥५०॥

क्योंकि उस एक ब्रह्म अभिन्न आत्मा को ही जानो अन्य वाणियों को (शास्त्रों को छोड़ दो) बुद्धिमान ज्ञानी पुरुष वाणी को मन में लय करें इत्यादि श्रुतियां इस बात में प्रमाण है कि ज्ञान होने के पश्चात् श्रवणादि रूप शास्त्रीय द्वैत त्याज्य है ॥४८॥

अब अशास्त्रीय भी जीव के रचे द्वैत का दूसरा भेद कहते हैं——

अब अशास्त्रीय भी द्वैत तीव्र और मन्द भेद से दो प्रकार का है। उनमें काम, क्रोध आदि तीव्र (भयानक) जीव रचित द्वैत है और मनोराज्य मन्द अशास्त्रीय जीव रचित द्वैत है ॥४६॥

क्या इन अशास्त्रीय द्वैतों का शास्त्रीय द्वैत के समान तत्त्वबोध के उत्तरकाल में ही छोड़ना चाहिए, नहीं ये दोनों भी द्वैत बोध (ज्ञान) सिद्धि केलिए तत्त्व ज्ञान से पहले निवारण करने योग्य है

क्योंकि नित्यानित्यविवेक जो ब्रह्म ज्ञान के साधन हैं उनमें शान्ति और समाधि साधनों के नाम सुने जाते हैं। यहाँ शान्ति का अर्थ कामादि तीव्र जीव द्वैत का निषेध और समाधि का अर्थ मनो-राज्य रूप मन्द जीव द्वैत का निषेध ॥५०॥

ननु 'तत्त्वबोधात्प्राङ् निवार्यम्' (प्र० ४।५०) इत्यभिधानादुत्तरकालमस्य स्वीकार्यता स्यादित्याशङ्क्याह—

बोधादूर्ध्वं च तद्धेयं जीवन्मुक्तिप्रसिद्धये ।
कामादिक्लेशबन्धेन युक्तस्य नहि मुक्तता ॥५१॥

अन्वय :—जीवन्मुक्तिप्रसिद्धये बोधात् ऊर्ध्वं च तत् हेयं कामादिक्लेशबन्धेन युक्तस्य मुक्तता न हि ।

बोधादिति । उक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेन द्रढयति—'कामादीति' । कामादिरूपो यः क्लेशः स एव बन्धः तेन युक्तस्य बद्धस्य मुक्तता जीवन्मुक्तत्वं नहि, नास्त्येवेत्यर्थः ॥५१॥

ननु जन्मादिसंसारादुद्विग्नस्यात्यन्तिकपुरुषार्थरूपया विदेहमुक्त्यैवालम्, किमनया आपातिकया जीवन्मुक्त्येति शङ्कते—

जीवन्मुक्तिरियं मा भूज्जन्माभावे त्वहं कृती ।
तर्हि जन्मापि तेऽस्त्वेव स्वर्गमात्रात्कृती भवान् ॥५२॥

अन्वय :—इयं जीवन्मुक्तिः माभूत् जन्माभावे तु अहं कृती तर्हि जन्मापि ते अस्तु एव भवान् स्वर्गमात्रात् कृती ।

जीवन्मुक्तिरिति । ऐहिक भोगनिवृत्तिभयाज्जीवन्मुक्तित्यागे[1] आमुष्मिकभोगनिवृत्ति भयात् विदेहमुक्तिरपि त्याज्या स्यादिति प्रतिबन्धा परिहरति—'तर्हीति' ॥५२॥

शंका करो कि बोध से पहले त्यागने योग्य है तो उत्तर काल में इनका स्वीकार हो जायेगा इस पर कहते हैं—

बोध के अनन्तर भी ये जीवन्मुक्ति के लिए त्यागने योग्य है, क्योंकि काम क्रोध आदि क्लेश से बधा जो मनुष्य है वह मुक्त नहीं हो सकता ॥५१॥

यदि शंका करो—जन्म आदि संसार से जिसका उद्विग्न चित्त है, वह आत्यन्तिक पुरुषार्थ रूप विदेह मुक्ति से ही पूर्ण हो जायेगा तो देहपात पर्यन्त जो स्थित रहे उसजीवन्मुक्ति का क्याप्रयोजन है—

अर्थात् जीवन्मुक्ति मत हो जन्म के अभाव से ही कृतार्थ हो जाऊँगा, ऐसा कहोगे तो इस लोक के भोगों की निवृत्ति के भय से तुमने जीवन्मुक्ति का त्याग किया तो परलोक के भोगों की निवृत्ति के भय से विदेह मुक्ति भी आपको त्यागने के योग्य हो जायेगी, इससे आपको तो जन्म का भी स्वीकार रहें और स्वर्ग मात्र की प्राप्ति से ही अपने आपको कृतार्थ मानो ॥५२॥

विशेष—(१) जीवन्मुक्ति प्रत्ययं शास्त्रजातं जीवन्मुक्ते कल्पिते योजनीयम् । तावन्मात्रेणार्थवत्तोपपत्तेः सद्यो-मुक्तिः सम्यगेतस्य हेतोः । इति संक्षेप शा० ॥४॥

प्रतिबन्दीमोचनं शङ्कते—

क्षयातिशयदोषेण स्वर्गो हेयो यदा तदा ।
स्वयं दोषतमात्मायं कामादिः किं न हीयते ॥५३॥

अन्वय :—क्षयातिशयदोषेण यदा स्वर्गः हेयः तदा स्वयं दोषतमात्मा अयं कामादिः किं न हीयते ।

क्षयेति । दोषयुक्तत्वेन स्वर्गादिस्त्याज्यत्वे सकलपुरुषार्थं विघातकत्वेनातीव दोषरूपस्य कामादेः सुतरां त्याज्यत्वमित्याह—'तदेति' ॥५३॥

ननु वैराग्यादिसंपादनेनात्यन्तानर्थहेतोः कामादेस्त्यक्तत्वादैहिकभोगमात्रोपयोगिकामाद्यभ्युपगमे को दोष इत्याशङ्क्याह—

तत्त्वं बुद्ध्वापि कामादीन्निःशेषं न जहासि चेत् ।
यथेष्टाचरणं ते स्यात्कर्मशास्त्रातिलङ्घिनः ॥५४॥

अन्वयः—तत्त्वं बुद्ध्वापि कामादीन निःशेषं न जहासि चेत् कर्मशास्त्रातिलङ्घिनः ते यथेष्टाचरणं स्यात्

तत्त्वमिति । तत्त्ववित्त्वाभिमानेन विधिनिषेधशास्त्रमतिक्रम्य कामाद्यधीनतया वर्तमानस्य तव यथेष्टाचरणं स्यादित्यर्थः ॥५४॥

प्रतिवन्दी मोचन की शंका करते हैं—

यदि कहो कि क्षय[1] और अतिशय के दोष से अर्थात् नष्ट होना और आधिक्य रूप से स्वर्ग त्यागने योग्य है । तो स्वयं अत्यन्त दूषितरूप काम आदि त्यागने योग्य क्यों नहीं मानते ॥५३॥

कदाचित् कहो कि वैराग्य आदि के सम्पादन में अत्यन्त अनर्थ के हेतु काम आदि के त्याज्य है और इस लोक[1] में भोग के हेतु काम आदि के स्वीकार में क्या दोष है वह ठीक नहीं--तत्व को जानकर भी "मैं तत्त्व वेत्ता हूँ" मुझे क्या दोष है" इस प्रकार तत्त्व ज्ञानी होने का अभिमान[2] करके विधि निषेध शास्त्र का उल्लंघन कर काम आदि[3] के अधीन होने वाले तुम्हारा पशु और नीच पुरुष की तरह यथेष्ट आचरण रूप प्रमाद ही कहलायेगा ॥५४॥

विशेष—(१ क्षय पुण्य क्षय से पतन होता है या प्रलय काल में स्वर्ग का नाश अतिशय अपने से और देवताओं का पुण्य के उत्कर्ष से अधिक ऐश्वर्य है । गीता ९।२१ ते तं भुक्त्वा ।

(२) स्वेच्छा से प्राप्त स्त्री आदि विषयक काम और प्रतिकूल प्राणियों के प्रति क्रोध प्रारब्ध भोग में उपयोगी है । इनका अंगीकार करना कैसे बाधक है ।

(३) प्रारब्ध रूप पूर्व जन्मों के पुरुषार्थ रूप है और इस जन्म के पुरुषार्थों में से अधिक बली की जीत होती है । इस जन्मके पुरुषार्थसेप्रारब्ध जनितकाम आदि जीते जा सकते हैं ।इसलिएप्रारब्ध के बहाने प्रयत्न को ढील देकर जीवन मुक्ति सुख के विरोधी कामादि में नहीं फसना चाहिए ।

(४) स्वर्गादिक भोग सम्बन्धी काम और गुरु पिता आदिक सम्बन्धी क्रोध है इन आदिक दुर्गुण जन्म आदि अनर्थ के हेतु हैं इनका त्याग करना चाहिए ।

अस्तु को दोष इत्याशङ्क्य तदनिष्टत्वप्रतिपादनपरं 'सुरेश्वराचार्य' वचनमुदाहरति—

बुद्धाद्वैतस्वतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥५५॥

अन्वयः—बुद्धाद्वैतस्वतत्वस्य यथेष्टाचरणं यदि शुनां तत्त्वदृशां चैव अशुचिभक्षणे कः भेदः ।

बुद्धाद्वैतेति । बुद्धमद्वैतस्वतत्त्वमद्वैतस्वरूपं ब्रह्म येन स बुद्धाद्वैतस्वतत्त्वः तत्त्ववित् तस्य यथेष्टाचरणं यदि स्यात् तर्हि अशुचिभक्षणादिकमपि स्यात्, तथा सति शुनां तत्त्वदृशां चैव न कोऽपि विशेषः स्यादित्यर्थः ॥५५॥

एतावता किमनिष्टमापादितमित्याशङ्क्य, सोपहासमुत्तरमाह—

बोधात्पुरा मनोदोषमात्रात्क्लिश्नास्यथाधुना ।
अशेषलोकनिन्दा चेत्यहो ते बोधवैभवम् ॥५६॥

अन्वयः—बोधात्पुरा मोनोदो षमात्रात् क्लिश्नासि अथ अधुना अशेषलोकनिन्दा च इति ते बोधवैभवं अहो ।

बोधादिति । तत्त्वज्ञानोदयात्प्राक् कामक्रोधादिचित्तदोषैस्तव क्लेशोऽभूत्, इदानीं तु सर्वलोक-निन्दामपि सहस्व इति क्लेशद्वैगुण्यमिति भावः ॥५६॥

ठीक है, यथेष्ट आचरण करने में कौन सा दोष आ पड़ेगा ? यथेष्ट आचरण करने से अनिष्ट की प्राप्ति होती है । इस विषय में श्री सुरेश्वराचार्य के वचन का उदाहरण देते हैं –

अद्वैत स्वरूप ब्रह्म तत्त्व को जानने वाला तत्त्वज्ञानी यदि यथेष्टाचरण करेगा । तो वह अपवित्र वस्तु भक्षण भी करेगा, उस अवस्था में कुत्तों ऐसे गर्हित आचरण करने वाला तत्त्व ज्ञानियों में क्या भेद रहेगा ॥५५॥

इतने से क्या अनिष्ट होगा ? उत्तर—ऐसे तत्त्व ज्ञानियों की हँसी करते हैं—

तब ज्ञान के उदय से पूर्व तो तुम काम, क्रोध आदि मन के दोषों से ही कष्ट पा रहे थे, अब ज्ञान की दशा में भी सब लोगों की निन्दा के पात्र बने हो । वाह रे तुम्हारा बोध वैभव ऐसा बोध तो न हो तभी अच्छा है ॥५६॥

तर्हि किं कर्तव्यमित्यत आह—

विड्वाराहादितुल्यत्वं मा काङ्क्षीस्तत्त्वविद्भवान् ।
सर्वधीदोषसंत्यागाल्लोकैः पूज्यस्व देववत् ॥५७॥

अन्वयः—तत्त्वविद् भवान् विड्वराहादितुल्यत्वं मा काङ्क्षीः सर्वधीदोषसंत्यागात् लोकैः देववत् पूज्यस्व ।

विड्वराहेति । सर्वोत्कर्षहेतुज्ञानवान् त्वं कामादित्यागाशक्तत्वेन सर्वाधमविड्वराहादिसाम्यं मा काङ्क्षीः किंतु कामादिलक्षणसकलमनोदोषहानेन सर्वजनैर्देववत् पूज्यस्व, पूज्यो भवेत्यर्थः ॥५७॥

तत्त्यागोपायमाह—

काम्यादिदोषदृष्ट्याद्याः कामादित्यागहेतवः ।
प्रसिद्धा मोक्षशास्त्रेषु तानन्विष्य सुखी भव । ॥५८॥

अन्वयः—काम्यादिदोषदृष्ट्याद्याः कामादित्याग हेतवः मोक्षशास्त्रेषु प्रसिद्धाः तान् अन्विष्य सुखी भव ।

काम्येति । काम्याः कामनाविषयाः स्रगादय आदयो येषां द्वेष्यादीनां ते काम्यादयस्तेषां ये दोषा अनित्यत्वसातिशयत्वादयस्तेषां दृष्टिः अवलोकनमाद्यं येषां कामस्वरूपविचारादीनां ते तथोक्तास्तेषाम् । कामादित्यागहेतुत्वे प्रमाणमाह—'प्रसिद्धा इति' । भवतु, ततः किमायातमित्यत आह—तानन्विष्येति ॥५८ ॥

इस स्थिति में तब क्या करना चाहिए, इस पर कहते हैं—

जिससे तुम सर्व श्रेष्ठता के हेतु तत्त्वज्ञान से युक्त हो तुम कामादि त्याग में असमर्थ हैं-अधमाचरण है । इससे विड्वराह आदि के तुल्य होने की आकांक्षा मत करो, अपितु मन के सब कामादि दोषों को छोड़कर विष्णु आदि देवों की तरह सब लोगों के पूजनीय बनो ॥५७॥

अब कामादि के त्याग का उपाय कहते हैं—

कामना के विषय (भोग साधन) माला, चन्दन, स्त्री आदि तथा अन्य लोभ, भय, द्वेष आदि के विषय साधनों में अनित्यता सातिशयता आदि दोषों को देखना और क्रोधादि के स्वरूप का विचार आदि बातें काम, क्रोध आदि के त्याग में हेतु हैं वे सब मोक्ष शास्त्रों (श्रीमद्भागवत् आत्मपुराण वशिष्ठ वेदान्तों में) प्रसिद्ध हैं उनका तुम अन्वेषण (ढूंढ़ना) करो और सुख को प्राप्त करो ॥५८॥

ननु कामादीनामनर्थहेतुत्वात्त्याज्यत्वमस्तु, मनोराज्यस्य तु अतथात्वात्तस्यागो नापेक्षित इति शङ्कते—

त्यज्यतामेष कामादिर्मनोराज्ये तु का क्षतिः।
अशेषदोषबीजत्वात्क्षतिर्भगवतेरिता ॥५९॥

अन्वयः—एष कामादिः त्यज्यतां मनोराज्ये तु का क्षतिः अशेषदोषबीजत्वात् क्षतिः भगवता ईरिता।

त्यज्यतामिति। साक्षादनर्थहेतुत्वाभावेऽपि परम्परया तद्धेतुत्वात्त्याज्यत्वमेवेत्यभिप्रेत्य परिहरति — अशेषेति ॥५९॥

परम्परयाऽनर्थहेतुत्वप्रदर्शनपरं भगवद्वाक्यं (गी० २।६२) उदाहरति—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६०॥

अन्वयः —विषयान् ध्यायतः पुंसः तेषु सङ्गः उपजायते सङ्गात् कामः सञ्जायते कामात् क्रोधः अभिजायते।

ध्यायत इति ॥६०॥

कदाचित् कहो कि कामादि अनर्थ के कारण हैं, उन्हें छोड़ दो, पर मनोराज्य तो निर्दोष है। इससे उसके स्वीकार करने में क्या हानि है। इस प्रश्न का उत्तर यह है—

यद्यपि साक्षात् अनर्थ का हेतु नहीं है, तथापि परम्परा से अनर्थ का हेतु होने से त्यागने के योग्य है। सम्पूर्ण दोषों का बीज होने से मनोराज्य के मानने में भगवान श्री कृष्ण ने हानि कही है ५९॥

जिससे परम्परा से मनोराज्य अनर्थ का हेतु है, उस भगवान के वाक्य को कहते हैं —

जब मनुष्य विषयों से बुद्धि को ध्यान करता (मनोराज्य) रहता है। उसको उन विषयों से आसक्ति हो जाती है। सङ्ग से इच्छा (उनकी चाह) उत्पन्न होती है और उस इच्छा का भंग होने से, उसमें रुकावट पड़नेपर क्रोध उत्पन्न हो जाता है ॥६०॥

तर्ह्यस्य मनोराज्यस्य कः परिहारोपाय इत्यत आह—

शक्यं जेतुं मनोराज्यं निर्विकल्पसमाधितः ।
सुसंपादः क्रमात्सोऽपि सविकल्पसमाधिना ।।६१।।

अन्वयः—निर्विकल्पसमाधितः मनोराज्यं जेतुं शक्यं सोऽपि सविकल्पसमाधिना क्रमात् सुसंपादः ।

शक्यमिति । सोऽपि कुतः सिध्यतीत्याह—'सुसंपाद इति' ।।६१।।

नन्वष्टाङ्गयोगयुक्तस्य तथाऽस्तु, तद्रहितस्य का गतिरित्यत आह—

बुद्धतत्त्वेन धीदोषशून्येनैकान्तवासिना ।
दीर्घं प्रणवमुच्चार्य मनोराज्यं विजीयते ।।६२।।

अन्वयः—बुद्धतत्त्वेन धीदोषशून्येन एकान्तवासिना दीर्घं प्रणवं उच्चार्य मनोराज्यं विजीयते ।

बुद्धतत्त्वेनेति । बुद्धमवगतं तत्त्वं ब्रह्मात्मैक्यलक्षणं येनसबुद्धतत्त्वः, तेन कामक्रोधादिबुद्धिदोष-रहितेन एकान्तवासिना विजनदेशनिवासशीलेन पुरुषेण दीर्घं षड्द्वादशादिमात्रोपेतं प्रणवमोङ्कारमुच्चार्य मनोराज्यं विजीयते विनिवार्यत इत्यर्थः ।।६२।।

मनोराज्य की निवृत्ति का उपाय क्या है इस पर कहते हैं—

निर्विकल्प समाधि से मनोराज्य जीत सकते हैं और वह निर्विकल्प समाधि अर्थात् अद्वैत ब्रह्म में चित्त की स्थिरता भी सविकल्प ब्रह्म में समाधि करते-करते सरलता से प्राप्त हो जाती है ।।६१।।

कोई शंका करे कि अष्टाङ्ग योग से जो युक्त है, यम, नियम आदि से रहित उसका क्या उपाय है इसका उत्तर—

जिसने तत्त्व को जान लिया अर्थात् आत्मा और ब्रह्म की एकता का निश्चय कर लिया और काम क्रोधादि बुद्धि के दोषों से जो रहित है और एकान्त स्थान का निवासी हो ऐसा पुरुष दीर्घ स्वर से ६, ८, १०, १२, मात्रा से प्रणव का उच्चारण करके मनोराज्य को जीत लेता है । (मन के चार आधार हैं) वाणी, श्रोत्र, चक्षु और संकल्प-विकल्पादि भीतरी कल्पना, एकान्तवास करने से वहाँ वाणी आदि के विषयों वचन, श्रवण और दृश्य का अभाव होने के कारण निरोध हो ही जाता है और इन तीनों के निरोध के पश्चात् जैसे आना रोकने से तालाब में जल नहीं आता वैसे ही भीतरी कल्पनाएँ रुक जाती हैं ।।६२।।

मनोराज्यविजये किं भवतीत्यत आह—

जिते तस्मिन्वृत्तिशून्यं मनस्तिष्ठति मूकवत् ।
एतत्पदं वसिष्ठेन रामाय बहुधेरितम् ॥६३॥

अन्वय :—तस्मिन् जिते वृत्तिशून्यं मनः मूकवत् तिष्ठति वसिष्ठेन रामाय एतत् पदं बहुधा ईरितम् ।

जिते तस्मिन्निति । यथा मूकः सकलवाग्व्यवहाररहितस्तिष्ठत्येवं मनोऽपि सर्वव्यापाररहित-मवतिष्ठत इत्यर्थः । अवृत्तिकमनोवस्थानस्य पुरुषार्थत्वे प्रमाणमाह—'एतत्पदमिति' । एतत्पदमियं दशेत्यर्थः ॥६३॥

वसिष्ठश्लोकद्वयवाक्यमुदाहरति—

दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम् ।
सम्पन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः ॥६४॥

अन्वय :—दृश्यं नास्ति इति बोधेन मनसः दृश्यमार्जनं सम्पन्नं चेत् परा निर्वाण निर्वृत्तिः तदुत्पना ।

दृश्यमिति । 'नेह नानास्ति किंचन' (बृ० ४।४।१९, कठ० ४।११) इत्यादिश्रुत्याऽद्वितीय ब्रह्माति-रिक्तजगदभावज्ञानेन मनसः सकाशात् दृश्यनिवारणं संपन्नं यदि तर्हि निरतिशयं मोक्षसुखं निष्पन्नमिति जानीयादित्यर्थः ॥६४॥

अब मनोराज्य के जय का फल कहते हैं—

मनोराज्य जीत लेने पर उस पुरुष का मन गूंगे मनुष्य की तरह संकल्प विकल्प रूप सकल वाक् व्यवहार से रहित हो जाता है। यह मनोराज्य जीतने का प्रकार वसिष्ठ जी ने श्रीरामचन्द्र के प्रति अनेक प्रकार से प्रेरित किया है, अतः यह वृत्ति रहित मन की स्थिति पुरुषार्थ ही है ॥६३॥

अब वसिष्ठ जी के दो श्लोकों को प्रमाण रूप में कहते हैं—

इस श्रुति से पैदा हुए जब अद्वितीय ब्रह्म के अतिरिक्त दृश्य जगत् नहीं है यह ज्ञान होकर मन से दृश्य का निवारण सिद्ध होने पर निरतिशय निर्वाण निवृत्ति मोक्ष सुख सिद्ध हो जाता है ॥६४॥

विचारितमलं शास्त्रं चिरमुद्ग्राहितं मिथः ।
संत्यक्तवासनान्मौनादृते नास्त्युत्तमं पदम् ॥६५॥

अन्वय :—शास्त्रं अलं विचारितं चिरं मिथः उद्ग्राहितं सन्त्यक्तवासनात् मौनात् ऋते उत्तमं पदं नास्ति ।

किञ्च, अद्वैत शास्त्रमत्यर्थं विचारितं तथा परस्परं गुरुशिष्यादिसंवादद्वारा चिरकालं प्रत्यायितं च । एवं कृत्वा किं निश्चितमित्यत आह—

'संत्यक्तेति' । सम्यक्परित्यक्तकामादिवासनान्मनसस्तूष्णींभावादृतेऽधिकः पुरुषार्थो नास्तीति निश्चितमित्यर्थः ॥६५॥

एवं निवृत्तिकस्य चित्तस्य प्रारब्धकर्मणा विक्षेपे सति तत्प्रतीकारोपायः क इत्यपेक्षायामाह—

विक्षिप्यते कदाचिद्धीः कर्मणा भोगदायिना ।
पुनः समाहिता सा स्यात्तदैवाभ्यासपाटवात् ॥६६॥

अन्वय :—भोगदायिना कर्मणा कदाचिद्धीः विक्षिप्यते सा पुनः समाहिता स्यात् तदेव अभ्यास पाटवात् ।

विक्षिप्य इति । भोगप्रदेन प्रारब्धकर्मणा बुद्धिः कदाचिद्विक्षिप्यते चेत्तर्हि सा बुद्धिरभ्यासदाढ्यात्तदैव पुनरपि समाहिता स्यादित्यर्थः ॥६६॥

हमने अद्वैत शास्त्र अथवा वेदान्त का खूब विचार किया और गुरु 'शिष्य आदि के संवाद द्वारा परस्पर उपदेश किया हो इस प्रकार करने से यही निश्चय किया कि कामादि वासनाओं से रहित मौन भाव से अधिक पद (पुरुषार्थ) नहीं है ॥६५॥

इस प्रकार वृत्ति रहित चित्त में यदि प्रारब्ध के कारण कोई विक्षेप उठे तो उसके निवारण का उपाय कहते हैं—

भोगप्रद प्रारब्ध कर्मों के कारण यदि कभी चित्त विक्षिप्त होने लगे तो वह बुद्धि की प्रबल अभ्यास के सामर्थ्य से फिर उसी समय समाहित (स्थिर) हो सकती है ॥६६॥

सदा चित्तविक्षेपरहितस्य ब्रह्मवित्त्वमप्यौपचारिकमित्याह—

विक्षेपो यस्य नास्त्यस्य ब्रह्मवित्त्वं न मन्यते ।
ब्रह्मैवायमिति प्राहुर्मुनयः पारदर्शिनः ॥६७॥

अन्वय :—यस्य विक्षेपः नास्ति अस्य ब्रह्मवित्त्वं न मन्यते ब्रह्मैव अयं इति पारदर्शिनः मुनयः प्राहुः ।

विक्षेप इति । पारदर्शिनो वेदान्तपारगा इत्यर्थः ॥६७॥

अत्रापि वसिष्ठवाक्यमुदाहरति—

दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः ।
यस्तिष्ठति स तु ब्रह्मन् ब्रह्म न ब्रह्मवित्स्वयम् ॥६८॥

अन्वय :—स्वयं केवलरूपतः दर्शनादर्शने हित्वा हे ब्रह्मन् यः तिष्ठति स तु ब्रह्म न ब्रह्मवित् स्वयं ।

दर्शनादर्शने इति । यो 'ब्रह्म जानामि, न जानामि' इति व्यवहारद्वयं परित्यज्य स्वयमद्वितीय चैतन्यमात्ररूपेणावतिष्ठते स स्वयं ब्रह्मैव न ब्रह्मविदित्यर्थः ॥६८॥

अब जिसका चित्त सदैव विक्षेप से रहित रहता है वह यथार्थ ब्रह्म ज्ञानी महापुरुष को भी गौण रूप से ही ब्रह्मवित् कहा जाता है इस बात को दिखाते हैं —

जिसको कभी भी विक्षेप नहीं होता, उसको ब्रह्मवित् नहीं माना जाता । वेदान्त पारदर्शी मुनि लोग कहते हैं कि वह तो साक्षात् ब्रह्म ही है ॥६७॥

इसमें भी वसिष्ठजी के वचन का उदाहरण देते हैं—

जो महापुरुष ब्रह्म के दर्शन (ज्ञान) और अज्ञान इन दोनों को छोड़कर, ब्रह्म को जानता हूँ, नहीं जानता हूँ, इन दोनों प्रतीति एवं कथन रूप व्यवहारों को छोड़कर आप केवल चिद् रूप से अद्वितीय चैतन्य में अवस्थित हो बैठता है । वह स्वयं ब्रह्म ही है, ब्रह्म का ज्ञाता नहीं है अर्थात् ब्रह्म से अभिन्न है ॥६८॥

सकलद्वैतविवेचनमुपसंहरति—

जीवन्मुक्तेः परा काष्ठा जीवद्वैतविवर्जनात् ।
लभ्यतेऽसावतोऽत्रेदमीशद्वैताद्विवेचितम् ॥६९॥

इति श्री मत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकृत पञ्चदश्यां द्वैतविवेकः समाप्तः ॥४॥

अन्वय :—जीवद्वैतविवर्जनात् जीवन्मुक्तेः परा काष्ठा लभ्यते अतः असौ अत्र इदं ईशद्वैतात् विवेचितं ।

जीवन्मुक्तेरिति । असावुक्तप्रकारा जीवन्मुक्तेः परा काष्ठा निरतिशयपर्यवसानभूमिर्जीवद्वैतस्य मनोमयप्रपञ्चस्य विवर्जनात्यागाल्लभ्यते प्राप्यते । अतः कारणादिदं जीवद्वैतमीशद्वैतादीश्वरसृष्टद्वैताद्विवेचितम्, विविच्य प्रदर्शितमित्यर्थः ॥६९॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकिङ्करेणश्रीरामकृष्णाख्य विदुषा विरचिता द्वैतविवेकपदयोजना समाप्ता ॥४॥

सकल द्वैत विवेचन का उपसंहार करते हैं –

यह पूर्वोक्त प्रकार की जो जीवन्मुक्ति की पराकाष्ठा है अर्थात् सबसे उत्तम अन्तिम अवस्था है यह जीव का जो द्वैत (मनोमय प्रपञ्च रूप) उसके त्यागने से ही प्राप्त होती है, इस कारण यहाँ जीव द्वैत का ईश्वर के रचे द्वैत से विवेक किया है अर्थात् दोनों पृथक्-पृथक् दिखा दिये हैं ॥६९॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यस्वामिकरपात्रशिष्य
श्री डॉ०लक्ष्मणचैतन्यब्रह्मचारिविरचितलक्ष्मणचन्द्रिकाख्ये पञ्चदशीहिन्दीव्याख्याने
द्वैतविवेकाख्यं चतुर्थं प्रकरणं समाप्तम् ।

महावाक्यविवेकप्रकरणम्

नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
महावाक्यविवेकस्य कुर्वे व्याख्यां समासतः ॥१॥

मुमुक्षोर्मोक्षसाधनब्रह्मात्मैकत्वावगतिसिद्धये प्रसिद्धानां चतुर्णां महावाक्यानामर्थं क्रमेण निरूपयन् परमकृपालुराचार्य आदौ तावत् ऐतरेयारण्यकगते "प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐत० ५।३) (आत्मबोधोप० १) इति महावाक्ये 'प्रज्ञान' शब्दस्यार्थमाह –

येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च ।
स्वाद्वस्वादु विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम् ॥१॥

अन्वयः—येन ईक्षते इदं शृणोति जिघ्रति व्याकरोति च स्वादु अस्वादु विजानाति तत् प्रज्ञानं उच्यते ।

येनेक्षत इति । येन चक्षुर्द्वारा निर्गतान्तःकरणवृत्त्युपहितचैतन्येन इदं दर्शनयोग्यं रूपादिकमीक्षते पश्यति पुरुषः, तथा श्रोत्रद्वारा निर्गतान्तःकरणवृत्त्युपाधिकेन येन शब्दजातं शृणोति, तथैव घ्राण द्वारा निर्गतान्तःकरणवृत्त्युपाधिकेन येन गन्धजातं जिघ्रति, येन वागिन्द्रियावच्छिन्नेन व्याकरोति, येन रसनेन्द्रिय-द्वारा निर्गतान्तःकरणवृत्युपाधिकेन स्वाद्वस्वादु रसौ विजानाति, अनुक्तसमुच्चयार्थश्च शब्दः, तथा चोक्तानुक्तैः सकलेन्द्रियैः अन्तःकरणवृत्तिभेदैश्चोपलक्षितं यच्चैतन्यमस्ति तदेवात्र 'प्रज्ञानम्' इत्युच्यत इत्यर्थः । अनेन 'येन वा पश्यति' (ऐ० ५।१, इत्यादेः सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि' (ऐ० ५।२) इत्यन्तस्यावान्तरवाक्यसंदर्भस्यार्थः संक्षिप्य दर्शितः[1] ॥१॥

श्री भारतीतीर्थ और श्री विद्यारण्यमुनि को नमस्कार करके, मैं यहाँ वाक्यों के विवेक के लिए संक्षेप में व्याख्या करता हूँ ॥१॥

मुमुक्षु को मोक्ष के साधन ब्रह्म और आत्मा एकता ज्ञान की सिद्धि के लिए प्रसिद्ध जो चारों महावाक्य हैं । उनका क्रम से अर्थ निरूपण करने के लिए परम दयालु आचार्य प्रथम ऐतरेय आरण्य का जो "प्रज्ञानं ब्रह्म" यह महावाक्य उसके प्रज्ञान शब्द का अर्थ कहते हैं—

यह पुरुष जिस चक्षु इन्द्रिय के द्वारा बाहर निकली अन्तःकरण की वृत्ति से उपहित युक्त जिस चैतन्य से दर्शन योग्य रूप आदि को देखता है श्रोत्र द्वारा निकली अन्तःकरण की वृत्ति सहित

विशेष १—एतेन सर्वं बहिः अन्तःकरण साभास वृत्ति साक्षित्व उपलक्षि त चैतन्यम् एव प्रज्ञानस्य नाम धेयानि इत्यन्त श्रुत्याशयेन दर्शितम् ।

एवं प्रज्ञानशब्दस्यार्थमभिधाय 'ब्रह्म' शब्दस्यार्थमाह—

चतुर्मुखेन्द्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु ।
चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्ममय्यपि ॥२॥

अन्वयः—चतुर्मुखेन्द्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु एकं चैतन्यं ब्रह्म अतः प्रज्ञानं ब्रह्म मय्यपि (अस्ति)।

चतुर्मुखेति। उत्तमेषु देवादिषु, मध्यमेषु मनुष्येषु, अधमेषु अश्वगवादिषु देहधारिषु आकाशादिभूतेषु च जगज्जन्मादिहेतुभूतं यदेकं चैतन्यमस्ति तद्ब्रह्मेत्यर्थः। अनेन च एष ब्रह्मैष इन्द्र' (ऐ० ५।३) इत्यादेः 'प्रज्ञा प्रतिष्ठा' (ऐ० ५।३) (आत्मबोध० १) इत्यन्तस्यावान्तरवाक्यस्यार्थः संक्षिप्य दर्शितः। इत्थं पदार्थमभिधाय वाक्यार्थमाह—'अत इति'। यतः सर्वत्रावस्थितं प्रज्ञानं ब्रह्म, अतो मय्यपि स्थितं प्रज्ञानं ब्रह्मैव, प्रज्ञानत्वाविशेषादित्यर्थः ॥२॥

जिस चैतन्य से शब्दों को सुनता है, नासिका द्वारा निर्गत अन्तःकरण की उपाधि सहित जिस चैतन्य से गन्धों को सूंघता है और वागिन्द्रिय से युक्त जिस चैतन्य से शब्दों का उच्चारण करता है। रसना इन्द्रिय द्वारा निर्गत अन्तःकरण वृत्ति रूप उपाधि वाले जिस चैतन्य से स्वादु अस्वादु दोनों प्रकार के रसों को चखता है। "च" उक्तानुक्त सभी इन्द्रियों और अन्तःकरण की वृत्तियों से उपलक्षित जो चैतन्य है वही यहाँ प्रज्ञान शब्द से अभिधेय है। इस प्रकार (येन वा पश्यति) से लेकर ऐतरेयारण्यक के षष्ठाध्याय में आये इन अवान्तर वाक्यों का अर्थ भी संक्षेप में दिखला दिया ॥१॥ (इन वाक्यों के द्वारा सव: अन्तः वहिः चिदाभाससहित उन की वृत्तियों से भिन्न, स्वप्रकाशस्वरूप सब के साक्षी, सर्व वृत्तियों में अनुगत एक आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है)।

अब पूर्वोक्त प्रकार से प्रज्ञान शब्द के अर्थ को कहकर "ब्रह्म" शब्द का अर्थ कहते हैं—

सब ब्रह्मा, इन्द्र देवता, अश्व, गौ आदि में एक चैतन्य ब्रह्म है, तो मुझमें भी प्रज्ञान रूप ब्रह्म है ॥२॥

ब्रह्मा, इन्द्र और देवता, जो उत्तम हैं और जो मनुष्य आदि मध्य है और अश्व, गौ, आदि जो अधम हैं उन सब देहधारियों में आकाश आदि भूतों में जो जगत् के जन्म स्थिति और प्रलय का कारण भूत एक चैतन्य है, वह ब्रह्म है-इस श्लोक में "एष ब्रह्म एष इन्द्र" इत्यादि और "प्रज्ञा प्रतिष्ठा" इस पर्यन्त का अर्थ संक्षेप में दिखाया। इस प्रकार पदार्थ को कह कर वाक्यार्थ को कहते हैं कि जिससे सम्पूर्ण पदार्थों में स्थित प्रज्ञान ब्रह्म है इससे मुझमें स्थित भी प्रज्ञान ब्रह्म है, क्योंकि सर्वत्र ब्रह्म रूप तत्त्व में कोई विशेषता नहीं है ॥

एवं ऋक्शाखागतं महावाक्यार्थं निरूप्य, यजुःशाखासु मध्ये 'बृहदारण्य कोपनिषद्गतस्य 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०) इति महावाक्यस्यार्थाविष्करणाय' 'अहं' शब्दस्यार्थमाह—

परिपूर्णः परात्माऽस्मिन्देहे विद्याधिकारिणि ।
बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्नहमितीर्यते ॥३॥

अन्वयः—परिपूर्णः परमात्मा अस्मिन् विद्याधिकारिणि देहे बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन् अहं इति ईर्यते ।

परिपूर्ण इति । परिपूर्णः स्वभावतो देशकालवस्तुभिरपरिच्छिन्नः परमात्मा अस्मिन्मायाकल्पिते जगति विद्याधिकारिणि शमादिसाधनसंपन्नत्वेन विद्यासंपादनयोग्येऽस्मिञ्छ्रवणाद्यनुष्ठानवति देहे मनुष्यादिशरीरे बुद्धेर्बुद्ध्युपलक्षितस्य सूक्ष्मशरीरस्य साक्षितयाऽविकारित्वेनावभासकतया स्थित्वाऽवस्थाय स्फुरन् प्रकाशमानोऽहमितीर्यते, लक्षणया 'अहं' पदेनोच्यत इत्यर्थः ॥३॥

इस प्रकार ऋग्वेद की शाखा के महा महावाक्य का अर्थ निरूपण करके यजु शाखाओं के मध्य में वृहदारण्यक उपनिषद् में लिखे "अहं ब्रह्मास्मि" इस महावाक्य का अर्थ प्रकट करने के लिए अहं शब्द का अर्थ कहते हैं—

इस ज्ञान के अधिकारी देह में जो व्यापक रूप परमात्मा बुद्धि के साक्षी रूप से टिककर प्रकाशमान है वही अहं शब्द का अर्थ है ॥३॥

स्वभावतः देश, काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न परिपूर्ण परमात्मा, इस माया कल्पित जगत में शम, दम आदि से युक्त होकर विद्या (ब्रह्म ज्ञान) सम्पादन करने योग्य और श्रवण मनन आदि जिसमें हो सके, ऐसे इस मनुष्य आदि शरीर में बुद्धि अर्थात् बुद्धि से उपलक्षित सूक्ष्म शरीर का साक्षी होकर अर्थात् अविकारी रूप से प्रकाशमान रूप से स्थित जो परिपूर्ण परमात्मा प्रकाशमान है वह अहं शब्द का अर्थ है लक्षणा से अहं पद का लक्ष्य बनता है ॥३॥

'ब्रह्म' शब्दार्थमाह—

स्वतःपूर्णः परात्माऽत्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः ।
अस्मीत्यैक्यपरामर्शस्तेन ब्रह्म भवाम्यहम् ।।४।।

अन्वयः—स्वतः पूर्णः परात्मा अत्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः अस्मिन् इति ऐक्यपरमर्शः तेन अहं ब्रह्म भवामि ।

स्वतइति । स्वतः परिपूर्णः[१] स्वभावतो देशकालाद्यनवच्छिन्नः पूर्वोक्तः परमात्माऽत्रास्मिन्महावाक्ये 'ब्रह्म' शब्देन ब्रह्मेत्यनेन पदेन वर्णितः लक्षणयोक्त इत्यर्थः । एतद्वाक्यगतेन 'अस्मि' इति पदेन पदद्वयसामानाधिकरण्यलभ्यं[२०] जीवब्रह्मणोरैक्यं परामृश्यत इत्याह—'अस्मीति' फलितमाह–'तेनेति' ।।४।।

इदानीं 'छान्दोग्यश्रुतिगतस्य 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इति वाक्यस्यार्थप्रकाशनाय 'तत्' पदलक्ष्यार्थमाह—

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम् ।
सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते ।।५।।

अन्वय :—एकमेवाद्वितीयं सत् नामरूपविवर्जितं सृष्टेः पुरा अधुनापि अस्य तादृक्त्वं तत् इति ईर्यते ।

एकमेवेति । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इति वाक्येन 'सृष्टेः पुरा स्वगतादिभेदशून्यं नामरूपरहितं 'यत्सद्वस्तु' प्रतिपादितमस्ति अस्य सद्वस्तुनोऽधुनापि सृष्ट्युत्तरकालेऽपि तादृक्त्वं विचारदृष्ट्या तथात्वं तदितिपदेनेर्यते, लक्ष्यत इत्यर्थः ।।५।।

अब ब्रह्म शब्द के अर्थ को कहते हैं—

स्वरूप से जो पूर्ण अर्थात् देश, काल, वस्तु से अपरिच्छिन्न परमात्मा ही यहाँ महावाक्य में ब्रह्म शब्द से कहा गया है। लक्षणा से वर्णित किया है और इसी वाक्य में (अस्मि) पद से दोनों पदों का सामानाधिकरण्य भाव (एक अर्थ को ही कहना) से जीव ब्रह्म की एकता का बोध होता है। "तेन ब्रह्म अहं भवामि"—इससे (मैं) ब्रह्म हूँ यह उक्त महावाक्य का अर्थ है ।।४।।

अब छान्दोग्य श्रुति में पढ़े (तत्त्वमसि) इस महावाक्य का अर्थ प्रकाश करने के लिए "तत्" पद का लक्ष्य अर्थ कहते हैं—

सत् ब्रह्म सृष्टि से पहले एक अद्वितीय नाम रूप से विवर्जित है, अब सृष्टि के समय भी वह वैसा नाम रूप से रहित है, यह तत् पद का अर्थ है ।।५।।

विशेष—(१) अनेन जीव ब्रह्मणोरैक्यंपरामर्शः क्रियते ।

२० —भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानां एकस्मिन्नर्थवृत्तिसामानाधिकरण्यम् सोऽयं देवदत्तः ।

त्वं पदलक्ष्यार्थमाह—

श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वंपदेरितम् ।
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम् ।।६।।

अन्वय :—अत्र श्रोतुः देहेन्द्रियातीतं वस्तु त्वंपदेरितं असिइति एकता ग्राह्यते तत् ऐक्यं अनुभूयताम् ।

श्रोतुरिति । श्रोतुः श्रवणाद्यनुष्ठानेन महावाक्यार्थप्रतिपत्तुर्देहेन्द्रियातीतं देहेन्द्रियोपलक्षित-स्थूलादिशरीरत्रयसाक्षितया तद्विलक्षणं वस्तु सद्वस्त्वेव "त्वं" पदेरितम्, वाक्यगतेन त्वमिति पदेन लक्षित-मित्यर्थः । एतद्वाक्यस्थेन 'असि' इति पदेन 'तत्त्वं' पद सामानाधिकरण्यलब्धं पदार्थद्वयैक्यं शिष्यं प्रति प्रत्याय्यत इत्याह—'एकतेति' । सिद्धमर्थमाह—'तदैक्यमिति' । तयोस्तत्त्वंपदार्थयोरैक्यं प्रमाणसिद्धमेकत्व-मनुभूयतां मुमुक्षुभिरित्यर्थः ।।६।।

हे सौम्य ! यह जगत् सृष्टि से पहले एक ही अद्वितीय ब्रह्म रूप था । इस वाक्य से सृष्टि से पहले स्वगत आदि भेदों से शून्य नाम रूप रहित जो सत् वस्तु कही है उस सत् वस्तु को अब सृष्टि के अनन्तर भी वैसी की वैसी है । यह बात विचार दृष्टि से ठीक (८०) नाम रूप रहित शुद्ध वस्तु प्रतीत होती है । तत् शब्द उसी अविकृत सद् वस्तु की ओर लक्षणावृत्ति से निर्देश कर रहा है ।।५।।

अब त्वं पद का लक्ष्य अर्थ को कहते हैं--

श्रोता के देह इन्द्रियों से अतीत वस्तु को त्वं पद ने कहा है और असि पद दोनों पदों की एकता को ग्रहण कराता है । इस प्रकार दोनों की एकता जाननी चाहिए ।।६।।

श्रोता के श्रवण मनन आदि के द्वारा महावाक्य के अर्थ का जो ज्ञाता उसके देह, इन्द्रियों से अतीत और स्थूल आदि तीनों शरीरों का साक्षी जो विलक्षण सत् रूप वस्तु है । उसको ही लक्षणावृत्ति से त्वं पद से वही अभिप्रेत है । इस वाक्यगत असि पद से तत् त्वं दोनों पदों की सामानाधिकरण्य से शिष्य को ऐक्य का बोध होता है । सिद्ध हुई जो एकता है । अर्थात् दोनों पदों का एक ब्रह्म रूप अर्थ है प्रमाण सिद्ध का ब्रह्म और आत्मा एक ही अर्थ है मुमुक्षु अनुभव करें ।।६।।

क्रमप्राप्तस्याथर्वणवेदगतस्य 'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डू० २) इति वाक्यस्यार्थं व्याचिकीर्षुरादौ 'अयमात्मा' इति पदद्वयेन विवक्षितमर्थं क्रमेण दर्शयति—

स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम् ।
अहंकारादिदेहान्तात्प्रत्यगात्मेति गीयते ॥७॥

अन्वय :—अयं इति उक्तितः स्वप्रकाशापरोक्षत्वं मतं अहंकारादिदेहान्तात् प्रत्यगात्मा इति गीयते ।

स्वप्रकाशेति । अयमित्युक्तितः 'अयम्' इति शब्देन स्वप्रकाशापरोक्षत्वं स्वप्रकाशेनापरोक्षत्वं मतमभिमतम् । अदृष्टादिवन्नित्यपरोक्षत्वं घटादिवत् दृश्यत्वं च व्यावर्तयितुं विशेषणद्वयमिति बोद्धव्यम् । देहादिष्वप्यात्मशब्दप्रयोगदर्शनादत्रात्मशब्देन किं विवक्षितमित्याकाङ्क्षायामाह—'अहंकारेति' । अहंकार आदिर्यस्य प्राणमनइन्द्रियदेहसंघातस्य सोऽहंकारादिस्तथा देहे अन्तो यस्योक्तसंघातस्य स देहान्तः, अहंकारादिश्चासौ देहान्तश्चेति तथा तस्मात्प्रत्यगधिष्ठानतया साक्षितया चान्तर आत्मेति गीयते, अस्मिन्वाक्य इत्यर्थः ॥७॥

अब क्रम से प्राप्त अथर्ववेद के "अयमात्मा ब्रह्म" इस महावाक्य के अर्थ का व्याख्यान करने की इच्छा से प्रथम अयम्, आत्मा इन दो पदों के अर्थ को क्रम से कहते हैं—

अयं इस पद का अर्थ स्वप्रकाश अपरोक्ष है और अहंकार से लेकर देह पर्यन्त का जो साक्षी रूप अन्तरात्मा है उसको आत्मा कहते हैं ॥७॥

अयम् यह कहने से स्वप्रकाश होने से अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) मत (माना) है। यह तत्त्व अदृष्ट (धर्माधर्म) की तरह सदा परोक्ष भी नहीं है और घटादि की तरह दृश्य (पर प्रकाश्य तथा अपरोक्ष) भी नहीं है। स्वप्रकाश अपरोक्ष ये दोनों इसलिए हैं। यदि कहो कि देह आदि में आत्म शब्द का प्रयोग देखते हैं इससे आत्मपद के अर्थ को कहते हैं। जो चेतन तत्त्व अहंकार से लेकर देह पर्यन्त संघात (अहंकार-प्राण, मन इन्द्रिय और देह रूप संघात) से पृथक् उक्त संघात का अधिष्ठान एवं साक्षी अन्तरात्मा है उसको आत्मा कहते हैं ॥७॥

ब्राह्मणादिष्वपि 'ब्रह्म' शब्दस्य प्रयोगदर्शनात्तद्व्यावर्तनायात्र विवक्षितमर्थमाह—

दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते ।
ब्रह्मशब्देन तद्ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम् ।।८।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यारण्यमुनिवर्यकृतपञ्चदश्यां महावाक्यविवेकः समाप्तः ।।५।।

अन्वय : दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतः ब्रह्मशब्देन तत्वं ईर्यते ; तद्ब्रह्म स्वप्रकाशात्मकरूपकं (अस्ति) ।

दृश्यमानस्येति । दृश्यत्वेन मिथ्याभूतस्य सर्वस्याकाशादेर्जगतस्तत्त्वमधिष्ठानतया तद्बाधावधित्वेन च पारमार्थिकं सच्चिदानन्दलक्षणं यद्रूपमस्ति तद्ब्रह्मशब्देनेर्यते, कथ्यत इत्यर्थः । वाक्यार्थमाह—'तद्ब्रह्मेति' । यदुक्तलक्षणं ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपं स्वरूपं यस्य तत्स्वप्रकाशात्मकरूपकं स एवेत्यर्थः ।।८।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्भारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकिंकरेणरामकृष्णेन विरचितायां महावाक्यविवेकदीपिकायां पञ्चमं प्रकरणं समाप्तम् ।

ब्रह्म शब्द का प्रयोग ब्राह्मण आदि में भी देखते हैं । उसके निषेधार्थ ब्रह्म शब्द का अर्थ कहते हैं—

दिखाई पड़ते हुए सम्पूर्ण जगत् का जो तत्त्व है उसको ब्रह्म शब्द कहते हैं और ब्रह्म स्वप्रकाश आत्मरूप है ।।८।।

दृश्य होने से मिथ्यारूप आकाश आदि सम्पूर्ण जगत् का जो अधिष्ठान है । एवं इस जगत् का बाध हो जाने पर भी जो शेष रह जाता है वह पारमार्थिक (वास्तविक) सच्चिदानन्द रूप तत्त्व ही 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है ।।८।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यस्वामिकरपात्रशिष्य
श्री डॉ० लक्ष्मणचैतन्यब्रह्मचारिविरचितलक्ष्मणचन्द्रिकाख्ये पञ्चदशीहिन्दीव्याख्याने
महावाक्यविवेकाख्यं पञ्चमं प्रकरणं समाप्तम् ।

चित्रदीपप्रकरणम्

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥१॥

यस्य स्मरणमात्रेण विघ्ना दूरं प्रयान्ति हि ।
वन्देऽहं दन्तिवक्त्रं तं वाञ्छितार्थप्रदायकम् ॥२॥

नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
क्रियते चित्रदीपस्य[1] व्याख्या तात्पर्यबोधिनी ॥३॥

चिकीर्षितस्य ग्रन्थस्य निष्प्रत्यूहपरिपूरणाय परमात्मनीति पदेनेष्टदेवतातत्त्वानुसंधानलक्षणं मङ्गलमाचारन्नस्य ग्रन्थस्य वेदान्तप्रकरणत्वात्तदीयैरेव विषयादिभिस्तद्वत्तासिद्धिं मनसि निधाय अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते, इति न्यायमनुसृत्य परमात्मन्यारोपितस्य जगतः स्थितिप्रकारं सदृष्टान्तं प्रतिजानीते—

यथा चित्रपटे दृष्टमवस्थानां चतुष्टयम् ।
परमात्मनि विज्ञेयं तथाऽवस्थाचतुष्टयम् ॥१॥

अन्वयः—यथा चित्रपटे अवस्थानां चतुष्टयं दृष्टं तथा परमात्मनि अवस्थाचतुष्टयं विज्ञेयं ।

'यथेति' । चित्रपटे यथा वक्ष्यमाणानां अवस्थानां चतुष्टयं तथैव परमात्मन्यपि वक्ष्यमाणमवस्था-चतुष्टयं ज्ञेयमिति ।

सम्पूर्ण विघ्नों के उपशम के लिए शुक्ल वस्त्र को धारण करने वाले, शशिवर्ण, चतुर्भुज प्रसन्न मुख विष्णु का ध्यान करें ॥१॥

जिसके स्मरण मात्र से ही विघ्नों की निवृत्ति हो जाती है, मैं अभीष्ट पदार्थ के प्रदायक उस गजानन की वन्दना करता हूँ ॥२॥

श्री भारतीतीर्थ और श्री विद्यारण्य मुनि को नमस्कार करके मैं चित्रदीप प्रकरण की तात्पर्य बोधिनी नामक व्याख्या करता हूँ ॥३॥

विशेष १—अधिष्ठान चेतन रूप वस्त्र पर जगत् रूप चित्र को दीपक की तरह प्रकाशने वाला होने से इस प्रकरण का नाम चित्र दीप है।

किं तदित्याकाङ्क्षायां दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरुभयोरप्यवस्थाचतुष्टयं क्रमेणोद्दिशति—

यथा धौतो घट्टितश्च लाञ्छितो रञ्जितः पटः ।
चिदन्तर्यामी सूत्रात्मा विराट् चात्मा तथेर्यते ॥२॥

अन्वयः—यथा धौतः घट्टितः लाञ्छितः रञ्जितःपटः (तथा) च आत्मा चित् अन्तर्यामी सूत्रात्मा विराट इति ईर्यते ।

'यथेति'। धौतः घट्टितः, लाञ्छितः रञ्जित इत्येवंप्रकाराश्चतस्रोऽवस्था यथा चित्रपटे उपलभ्यन्ते, तथा परमात्मन्यपि चित्, अन्तर्यामी, सूत्रात्मा, विराट् चेत्यवस्थाचतुष्टयं बोद्धव्यमित्यर्थः ॥६॥

करने को इष्ट ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के अर्थ "परमात्मनि" इस पद से इष्ट देवता स्मरण रूप मंगल को करते हुए श्री आचार्य मन में यह विचार करके इस ग्रन्थ को वेदान्त का प्रकरण होने से वेदान्त में जो विषय, प्रयोजन, अधिकारी सम्बन्ध चार अनुबन्ध होते हैं । अनुबन्धों का वर्णन छोड़कर अध्यारोप[1] अपवाद[2] से निष्प्रपञ्च (जगत् से भिन्न ब्रह्म) का प्रपञ्च (वर्णन) करते हैं । इस न्याय के अनुसार परमात्मा में आरोप किये जगत् की दृष्टान्त सहित स्थिति के प्रकार की प्रतिज्ञा करते हैं—

जैसे चित्रपट (वस्त्र) में वक्ष्यमाण (जो कहेंगे) चार अवस्थाएँ दिखायी पड़ती हैं, इसी प्रकार परमात्मा में भी वक्ष्यमाण चार अवस्थाएँ जाननी चाहिए ॥1॥

अब उन चार अवस्थाओं को दृष्टान्त दार्ष्टान्त से दिखते हैं—

जैसे पट धौत, घट्टित, लाञ्छित, रञ्जित, अर्थात् धुला, घुटा चिह्न सहित रंगा होता है । एक ही वस्त्र में चार अवस्था होती है । उसी प्रकार परमात्मा में भी चित्, अन्तर्यामी, सूत्रात्मा, विराट् ये चार अवस्था होती है ॥२॥

विशेष १ —असर्प रज्जू में सर्प के आरोप की तरह वस्तु जो ब्रह्म में अवस्तु अज्ञान और उसके कार्य का आरोप अध्यारोप कहलाता है ।

२ —रज्जू का विवर्त सर्प जैसे रज्जू मात्र है, वैसे ही अज्ञान आदि प्रपञ्च वस्तु ब्रह्म स्वरूप मात्र है, यह अपवाद कहलाता है ।

दृष्टान्तस्थितानामवस्थानां स्वरूपं क्रमेण व्युत्पादयति—

स्वतः शुभ्रोऽत्र धौतः स्याद् घट्टितोऽन्नविलेपनात् ।
मष्याकारैर्लाञ्छितः स्याद्रञ्जितो वर्णपूरणात् ॥३॥

अन्वय :—अत्र स्वतः शुभ्रः धौतः स्यात् घट्टितः अन्नविलेपनात् मष्याकारैः लाञ्छितः स्यात् वर्ण-पूरणात् रञ्जितः ।

'स्वत इति' । अत्र आस्ववस्थासु मध्ये स्वतो द्रव्यान्तरसम्बन्धं बिना शुभ्रो 'धौतः' इत्युच्यते, अन्नेन लिप्तो 'घट्टितः' मषीमयैराकारैर्युक्तो 'लाञ्छितः' यथा योग्यं वर्णैः पूरितो 'रञ्जितः' स्यात् ॥३॥

दार्ष्टान्तिके ताः व्युत्पादयति—

स्वतश्चिदन्तर्यामी तु मायावी सूक्ष्मसृष्टितः ।
सूत्रात्मा स्थूलसृष्ट्यैव विराडित्युच्यते परः ॥४॥

अन्वय :—स्वतः चित् मायावी तु अन्तर्यामी सूक्ष्मसृष्टितः सूत्रात्मा स्थूलसृष्ट्यैव विराट् इति परः (परमात्मा) उच्यते ।

'स्वत इति' । परः परमात्मा मायातत्कार्यरहितः 'चित्' इत्युच्यते, मायायोगात् 'अन्तर्यामी', अपञ्चीकृतभूतकार्यसमष्टिसूक्ष्मशरीरयोगात् 'सूत्रात्मा', पञ्चीकृतभूतकार्यसमष्टिस्थूलशरीरोपाधियोगात् 'विराट्' इति ॥४॥

अब वस्त्र रूप दृष्टान्त की चारों अवस्थाओं का स्वरूप क्रम से दिखाते हैं—

स्वतः शुभ्र (शुक्ल) जो हो उसे धौत और अन्न का लेप माँड दिया हुआ जिसमें हो वह 'घट्टित' और मषी (स्याही) के जिसमें चिह्न हों वह 'लाञ्छित' देव मनुष्यादि आकृतियाँ तथा यथोचित वर्णों से जो पूर्ण हो वह 'रञ्जित' होता है ॥३॥

अब दार्ष्टान्तिक (आत्मा) में चारों अवस्था दिखाते हैं कि—

परमात्मा माया और माया के कार्य से रहित होने से चित् (चेतन) रूप है । माया के योग से तादात्म्यसम्बन्ध से अन्तर्यामी कहलाता है । अपञ्चीकृत पञ्चभूतों के कार्य भूत समष्टि सूक्ष्म शरीर में संयुक्त होने पर सूत्रात्मा कहलाता है । पञ्चीकृत पञ्चभूतों के कार्यभूत समष्टि स्थूल शरीर (ब्रह्माण्ड रूप उपाधि) के योग से विराट् कहलाता है ॥४॥

ननु परमात्मनः चित्रपटस्थानीयत्वे तदाश्रितानि चित्राणि वक्तव्यानीत्यत आह—

ब्रह्माद्याः स्तम्बपर्यन्ताः प्राणिनोऽत्र जडा अपि।
उत्तमाधमभावेन वर्तन्ते पटचित्रवत् ॥५॥

अन्वयः :—अत्र ब्रह्माद्याः स्तम्बपर्यन्ताः प्राणिनः जडा अपि उत्तमाधमभावेन पटचित्रवत् वर्तन्ते ।

'ब्रह्माद्या इति' । अत्र परमात्मनि उत्तमाधमभावेन वर्तमानं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं चेतनात्मकं गिरिनद्यादि जडजातं च चित्रस्थानीयमित्यर्थः ॥५॥

ब्रह्मादिजगतश्चेतनस्थानीयत्वे कारणं वक्तुं दृष्टान्तमाह—

चित्रार्पितमनुष्याणां वस्त्राभासाः पृथक् पृथक् ।
चित्राधारेण वस्त्रेण सदृशा इव कल्पिताः ॥६॥

अन्वय :—यथा चित्रार्पितमनुष्याणां पृथक् पृथक् वस्त्राभासाः (लिख्यन्ते) चित्राधारेण वस्त्रेण सदृशाइव कल्पिताः सन्ति ।

'चित्रेति' । यथा चित्रे लिखितानां मनुष्यादिशरीराणामेव नानावर्णोपेता वस्त्रविशेषा लिख्यन्ते, ते च शीताद्यनिवारकत्वाद्वस्त्राभासा एव ॥६॥

अब चित्र वस्त्र रूप परमात्मा के चित्रों का वर्णन करते हैं—

इस परमात्मा में ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्नों वाले तुच्छ घास आदि) स्तम्ब सब चेतन (जंगम) अचेतन (स्थावर) प्राणी और गिरि नदी, जड़, जगत्, ऊँच, नीच भाव से ऐसे रह रहे हैं। जैसे वस्त्र पर चित्र विद्यमान रहते हैं।

ब्रह्मा आदि जगत् का स्थान चेतन है उसका कारण कहने के लिए दृष्टान्त कहते हैं—

जैसे चित्र में अङ्कित (लिखे हुए) मनुष्यों के शरीरों पर नाना प्रकार के वस्त्र पृथक्-पृथक् लिखे जाते हैं और चित्र का आधार जो वस्त्र उसके समान ही कल्पित किए जाते हैं। उसे वस्त्राभास (वस्त्र की तरह दिखाई पड़ने वाले) कहाते हैं। उनसे शीत आदि की निवत्ति नहीं हो सकती ॥६॥

दार्ष्टान्तिकमाह--

पृथक् पृथक्चिदाभासाश्चैतन्याध्यस्तदेहिनाम् ।
कल्प्यन्ते जीवनामानो बहुधा संसरन्त्यमी ॥७॥

अन्वय :--चैतन्याध्यस्तदेहिनां चिदाभासाः पृथक्-पृथक् (कल्प्यन्ते) अमी जीवनामानः बहुधा संसरन्ति ।

'पृथगिति' । एवं परमात्मन्यारोपितानां देवानां शरीराणामेव जीवनामानश्चिदाभासाः[1] प्रत्येकं कल्प्यन्ते, न पर्वतादीनाम् । तेषां तत्कल्पने कारणमाह --'बहुधेति' । अमी जीवाः देवतिर्यङ्मनुष्यादिशरीर प्राप्त्या बहुधा संसरन्ति, न परमात्मा, तस्य निर्विकारित्वादित्यभिप्रायः ॥७॥

ननु सर्वे वादिनो वैदिका लौकिकाश्चात्मन एव संसार इति वदन्ति, तत्र किं कारणमित्याशङ्क्य अज्ञानमेव कारणमिति सदृष्टान्तमाह--

वस्त्राभासस्थितान् वर्णान् यद्वदाधारवस्त्रगान् ।
वदन्त्यज्ञास्तथा जीवसंसारं चिद्गतं विदुः ॥८॥

अन्वय : वस्त्राभासस्थितान् वर्णान् यद्वत् आधारवस्त्रागान् अज्ञाः वदन्ति तथा जीवसंसारं चिद्गतं विदुः ।

'वस्त्राभासेति' ॥८॥

अब दार्ष्टान्तिक कहते हैं --

इस प्रकार परमात्मा में देव आदि शरीर है उनके शरीरों के जो जीव नाम के चिदाभास हैं, वे भी प्रत्येक शरीर में कल्पित हैं, और पर्वत आदि जड़ पदार्थों को नहीं कल्पित करते (देवादिक के शरीरों के चिदाभास कल्पने का कारण कहते हैं ये जीव अनेक प्रकार से देव तिर्यक् मनुष्य आदि रूप शरीरों की प्राप्ति से जन्म मरण रूप संसार को भोगते हैं, परमात्मा नहीं क्योंकि निर्विकार है, वह संसार में नहीं फँसता ॥७॥

सम्पूर्णवादी और लौकिक आत्मा को ही संसार होता है यह जो कहते है । क्या कारण है, इस शंका का उत्तर-अज्ञान ही कारण है । इस बात को दृष्टान्त सहित वर्णन करते हैं --

जैसे अज्ञानी पुरुष वस्त्राभासों में स्थित वर्णों को चित्र के आधार वस्त्रों में स्थित कहते हैं । वैसे ही जीव के संसार को भी नैयायिक आदि वादी भी) साक्षी चेतनगत समझते हैं ॥८॥

विशेष--(१) चिदाभास = चेतन के लक्षण से रहित हो और चेतन की तरह भासता है वह चिदाभास-- चेतनलक्षणरहितत्वे सति यः चेतनवद् भासते स चिदाभासः ।

गिरिनद्यादीनां तु चिदाभासकल्पनाभावं दृष्टान्तपुरःसरमाह—

चित्रस्थपर्वतादीनां वस्त्राभासो न लिख्यते ।
सृष्टिस्थमृत्तिकादीनां चिदाभासस्तथा नहि ॥९॥

अन्वय :—चित्रस्थपर्वतादीनां वस्त्राभासो न लिख्यते तथा सृष्टिस्थमृत्तिकादीनां चिदाभासः न हि (लिख्यते) ।

'चित्रस्थेति' । प्रयोजनाभावादिति भावः ॥९॥

एवमात्मन्यारोपितस्य संसारस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वसिद्धये तन्मूलभूतामविद्यामाह—

संसारः परमार्थोऽयं संल्लग्नः स्वात्मवस्तुनि ।
इति भ्रान्तिरविद्या स्याद्विद्ययैषा निवर्तते ॥१०॥

अन्वय :—अयं संसारः परमार्थः स्वात्मवस्तुनि संल्लग्नः इति भ्रान्तिः अविद्या स्यात् एषा विद्यया निवर्तते ।

'संसार इति ॥१०॥

केयं विद्या, तल्लाभोपायश्च क इत्याकाङ्क्षायां विद्यास्वरूपं तल्लाभोपायं च दर्शयति—

आत्माभासस्य जीवस्य संसारो नात्मवस्तुनः ।
इति बोधो भवेद्विद्या लभ्यतेऽसौ विचारणात् ॥११॥

अन्वयः—आत्माभासस्य जीवस्य नात्मवस्तुनः संसारः इति बोधः विद्या भवेत् असौ विचारणात् लभ्यते ।

'आत्माभासस्येति । चिदाभासस्येत्यर्थः ॥११॥

अब गिरि नदी आदिकों में चिताभास की कल्पना के अभाव को दृष्टान्त पूर्वक वर्णन करते हैं—

जैसे चित्र में स्थित पर्वत आदिकों का प्रयोजन[1] के अभाव से वस्त्राभास नहीं लिखा जाता है, उसी प्रकार सृष्टि स्थित मृत्तिका आदिकों में भी चिदाभास नहीं होता ॥९॥

एवं ब्रह्माद्यस्थावरान्ताः ५वें श्लोक में कहे आत्मा में आरोपित संसार आत्मज्ञान से निवृत्त होता है इसकी सिद्धि के लिए संसार की मूल जो अविद्या उसको कहते हैं—

यह कर्तृत्वादि रूप संसार पारमार्थिक (वास्तविक) है और स्वात्म वस्तु में संलग्न अर्थात् आत्मा का धर्म है। यह भ्रान्ति (अन्यथा बुद्धि) अविद्या (कार्यरूप अज्ञान) इस अविद्या का निवारण विद्या (ज्ञान) से होता है ॥१०॥

विद्या का स्वरूप और उसके लाभ का उपाय वर्णन करते हैं—

यह संसार आत्माभास (चिदाभास) जीव का है वस्तु रूप आत्मा का नहीं यह ज्ञान की विद्या है यह विद्या अध्यात्म विचार विवेक करते रहने से मिला करती है ॥११॥

विशेष—(१) संसार रूप फल ।

विचाराल्लभ्यते विद्येत्युक्तं, कस्य विचाराल्लभ्यते विद्येत्याशङ्क्याह—

सदा विचारयेत्तस्माज्जगज्जीवपरात्मनः ।
जीवभावजगद्भावबाधे स्वात्मैव शिष्यते ॥१२॥

अन्वयः—सदा विचारयेत् तस्मात् जगत्जीवपरमात्मनः जीवभावजगद्भावबाधे स्वात्मैव शिष्यते ।

'सदेति' । ननु परात्मा विचार्यतां मोक्षावस्थायां फलरूपेणावस्थानाज्जीवजगतोर्विचारः क्वोपयुज्यत इत्याशङ्क्य तयोरपवादेन परमात्मावशेषणे उपयुज्यत इत्याह 'जीवभावेति' ॥१२॥

ननु विचारेण जीवभावजगद्भावबाधे स्वात्मैव शिष्यते, इत्युक्तविचारेण जीवजगतोर्बाधे तदप्रतीत्या व्यवहारलोपः प्रसज्जेतेत्याशङ्क्य 'बाध' शब्दस्य विवक्षितमर्थं विपक्षे दण्डे चाह—

नाप्रतीतिस्तयोर्बाधः किंतु मिथ्यात्वनिश्चयः ।
नो चेत्सुषुप्तिमूर्च्छादौ मुच्येतायत्नतो जनः ॥१३॥

अन्वयः—तयोर्बाधः (इति) नाप्रतीतिः किन्तु मिथ्यात्वनिश्चयः नो चेत् सुषुप्तिमूर्च्छादौ अयत्नतः जनः मुच्येत ।

'नाप्रतीतिरिति' । सुषुप्तिमूर्च्छादौ स्वत एव द्वैतप्रतीत्यभावात्तत्त्वज्ञानं विनापि मुक्तिः स्यादित्यर्थः ॥१३॥

विचार से विद्या प्राप्त होती है, किसके विचार से अब विद्या उसके लाभ का वर्णन करते हैं—

इससे जगत् जीव परमात्मा इनको सदा विचारे क्योंकि जगत जीव इनके निषेध होने पर परमात्मा ही शेष रह जाता है ॥१२॥

मोक्ष अवस्था में फलरूप आत्मा रहता है, इसमें आत्मा का विचार तो उचित है जीव और जगत् का क्या प्रयोजन है इसका उत्तर—जीवभाव और जगत्भाव का बाध (निषेध) होने पर परमात्मा ही शेष रह जाता है ॥१२॥

कोई शंका करे पूर्वोक्त विचार से जीव जगत् की प्रतीति न होगी तो व्यवहार (पठन पाठन) का ही लोप हो जायेगा । इस शंका को दूर करने के लिए बाध शब्द का अर्थ उस अर्थ को न मानने से दण्ड कहते हैं—

परन्तु 'बाध" उन जीव और जगत् की अप्रतीति को नहीं कहते, अपितु उनके मिथ्या होने के निश्चय को बाध कहते हैं । यदि ऐसा न मानोगे तो सुषुप्ति मूर्च्छा, मरण और प्रलय आदि के समय मनुष्य बिना प्रयत्न के मुक्त हो जायेगा । उस समय बिना ही प्रयत्न के द्वैत की प्रतीति नष्ट हो जाती है, अतएव तत्त्व ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती है ॥१३॥

'स्वात्मैव शिष्यते' इत्यनेनापि परमात्मनः सत्यत्वज्ञानमेव विवक्ष्यते न तदतिरिक्तजगद्विस्मृतिर्जीवन्मुक्त्यभावप्रसङ्गादित्याह—

परमात्मावशेषोऽपि तत्सत्यत्वविनिश्चयः ।
न जगद्विस्मृतिर्नो[1] चेज्जीवन्मुक्तिर्न संभवेत् ॥१४॥

अन्वयः—परमात्मावशेषोऽपि तत्सत्यत्वविनिश्चयः न जगद्विस्मृतिः नो चेत् जीवन्मुक्तिः न सम्भवेत् ।

'परमात्मेति' ॥१४॥

'सदा विचारयेत्' इत्युक्त्या देहपातपर्यन्तं विचारप्रसक्तौ सत्यां तस्यावधिमाह—

परोक्षा चापरोक्षेति विद्या द्वेधा विचारजा ।
तत्रापरोक्षविद्याप्तौ विचारोऽयं समाप्यते ॥१५॥

अन्वयः—परोक्षा च अपरोक्षा च इति विचारजा विद्या द्वेधा तत्र अपरोक्षविद्याप्तौ अयं विचारः समाप्यते ।

'परोक्षेति' ॥१५॥

"स्वात्मैव शिष्यते" अर्थात् अपना स्वरूप ही शेष रह जाता है । इस वाक्य से परमात्मा का सत्यरूप ज्ञान ही विवक्षित है, उससे भिन्न जगत्विस्मृति विवक्षित नहीं है, नहीं तो जीवन्मुक्ति के अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा । इस पर कहते हैं —

परमात्मा का शेष रूप से रह जाना ही उस सत्यरूपत्व का निश्चय जगत् का विस्मृत होना ही मात्र नहीं है, यदि जगत् की विस्मृति ही शेष मानोगे तो जीवनमुक्ति नहीं हो सकती है ॥१४॥

सदा विचारे इस पूर्वोक्त १२वें श्लोक से मरणपर्यन्त विचार पाया इससे विचार की अवधि को कहते हैं—

विचार से उत्पन्न होने वाली विद्या परोक्ष और अपरोक्ष दो प्रकार की है-जगत्, जीव, परमात्मा का यह विचार अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति पर समाप्त हो जाता है ॥१५॥

विशेष १—नोचेत् = जगत्विस्मृतिरेव परमात्मावशेषइति अंगीकारे इत्यर्थः ।

विचारजन्या विद्या परोक्षत्वापरोक्षत्वभेदेन द्वेधेत्युक्तं, तयोरुभयोः स्वरूपं क्रमेण दर्शयति—

अस्ति[१] ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत्।
अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते ॥१६॥

अन्वयः—ब्रह्म अस्ति इति चेद् वेद तत् परोक्षज्ञानमेव अहं ब्रह्म इति चेद् वेद साक्षात्कारः स उच्यते।

'अस्ति ब्रह्मेति' ॥१६॥

एवंविधात्मसाक्षात्कारासाधारणकारणमात्मतत्त्वविवेचनं प्रतिजानीते—

तत्साक्षात्कारसिद्ध्यर्थमात्मतत्त्वं विविच्यते।
येनायं सर्वसंसारात् सद्य एव विमुच्यते ॥१७॥

अन्वयः तत् साक्षात्कारसिद्ध्यर्थं आत्मतत्त्वं विविच्यते येनायं सर्वसंसारात् सद्यः एव विमुच्यते।

'तत्साक्षात्कारेति'। येन साक्षात्कारेण पुमान् सद्य एव विमुच्यते तत्साक्षात्कारसिद्ध्यर्थमिति पूर्वेणान्वयः ॥१७॥

अब विचार से उत्पन्न परोक्ष अपरोक्ष रूप दोनों विद्याओं के स्वरूप को क्रम से कहते हैं—

अस्ति ब्रह्मेति-ब्रह्म तत्त्व है इतना समझ लेना परोक्ष ज्ञान है और जब यह जान ले कि मैं ब्रह्म हूँ, तब इसको साक्षात्कार अथवा (अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं) ॥१६॥

अब पूर्वोक्त आत्मा के साक्षात्कार का असाधारण कारण जो आत्मतत्त्व का विवेक उसकी प्रतिज्ञा करते हैं—

जिस आत्मा के साक्षात्कार से पुरुष शीघ्र ही मुक्त होता है उस साक्षात्कार की सिद्धि के लिए आत्मतत्त्व का विवेक करते हैं ॥१७॥

विशेष १—अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद, सन्तमेनं ततो विदुः। (तै० २।६।१) तदात्मानमेव वेदाहं ब्रह्मास्मीति तस्मात् तत् सर्वमभवत्। (बृ० १।४।१०)।

चिदात्मनः पारमार्थिकमेकत्वं निश्चेतुं व्यवहारदशायां[1] प्रतीयमानं चैतन्यभेदमुद्दिशति—

कूटस्थो ब्रह्म जीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा ।
घटाकाशमहाकाशौ जलाकाशाभ्रखे यथा ॥१८॥

अन्वय :—कूटस्थः ब्रह्म जीवेशौ इत्येवं चित् चतुर्विधा यथा घटाकाशमहाकाशौ जलाकाशाभ्रखे ।

'कूटस्थ इति' । एकस्याश्चितेश्चातुर्विध्ये दृष्टान्तमाह—'घटाकाशेति' ॥१८॥

चिदात्मा की वास्तविक एकता के निश्चयार्थं व्यवहार दशा में प्रतीत जो चैतन्य का भेद उसको कहते हैं—

एक चित् चार प्रकार का है—दृष्टान्त कहते हैं । जैसे घटाकाश, जलाकाश, मेघाकाश, महाकाश, भेद से एक ही आकाश चार प्रकार का है इसी प्रकार कूटस्थ, जीव, ईश्वर, ब्रह्म भेद से एक ही चैतन्य चार[2] प्रकार का है ॥१८॥

विशेष—(१) शास्त्राभ्यास रूप व्यवहार दशायाम् ।

(२) वार्तिक कार ने छः अनादि गिनाये हैं—जीव ईशो विशुद्धाचित् । तथा जीवेशयोभिधा । अविद्यातच्चितोर्योगःषडस्माकमनादयः । जीव चैतन्य १ । ईश्वर चैतन्य । शुद्ध चैतन्य ३ । अविद्या चेतन का परस्पर सम्बन्ध ४ । अविद्या ५ । और पाँचों का परस्पर भेद ये उत्पत्ति रहित होने से षड पदार्थ अनादि कहे हैं । यहाँ चैतन्य चार प्रकार का कहा, कूटस्थ ब्रह्म, जीव और ईश्वर कुछ विद्वान चेतन के तीन भेद कहते हैं जीव, ईश्वर और शुद्ध ब्रह्म ये वचन परस्पर विरुद्ध हैं । तथापि तीन चेतन मानने पर मुमुक्षुको ब्रह्मात्म की एकता सम्भव है अधिक कूटस्थ, चैतन्य की कल्पना में गौरव दोष है । तथापि कूटस्थ और ब्रह्म का नाम मात्र भेद है ।

घटावच्छिन्नस्य घटाकाशस्य तदनवच्छिन्नस्य च महाकाशस्य प्रसिद्धत्वात्तौ विहायाप्रसिद्धं जलाकाशं व्युत्पादयति—

घटावच्छिन्नखे नीरं यत्तत्र प्रतिबिम्बितः ।
साभ्रनक्षत्र आकाशो जलाकाश उदीर्यते ॥१९॥

अन्वय :—घटावच्छिन्नखे यत् नीरं तत्र प्रतिबिम्बितः साभ्रनक्षत्रः आकाशः जलाकाशः उदीर्यते ।

'घटावच्छिन्नेति' । घटावच्छिन्ने आकाशे सदुदकमस्ति, तत्र जले प्रतिबिम्बितोऽभ्रनक्षत्रसहित आकाशो 'जलाकाशः' इत्युच्यते ॥१९॥

अभ्राकाशं व्युत्पादयति—

महाकाशस्य मध्ये यन्मेघमण्डलमीक्ष्यते ।
प्रतिबिम्बतया तत्र मेघाकाशो जले स्थितः ॥२०॥

अन्वय :—महाकाशस्य मध्ये यत् प्रतिबिम्बतया मेघमण्डलं ईक्ष्यते तत्र मेघाकाशो जले स्थितः ।

'महाकाशस्येति' । मेघमण्डले यज्जलं तस्मिन्नित्यर्थः ॥२०॥

अब घटावच्छिन्न (युक्त) घटाकाश और घट से अनवच्छिन्न महाकाश इन दोनों प्रसिद्धों को छोड़कर अप्रसिद्ध जलाकाश का वर्णन करते हैं—

घटोपाधि आकाश में (घट के भीतर के आकाश में) जो जल भरा है उसमें मेघ और नक्षत्र सहित जिस आकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसे जलाकाश कहते हैं ॥१९॥

अब अभ्राकाश को कहते है—

महाकाश के मध्य जो मेघ मण्डल दीख पड़ता है और उस मेघ मण्डल में जो जल विद्यमान है, उस जल में प्रतिबिम्ब से जो स्थिति है उसको मेघाकाश कहते हैं ॥२०॥

विशेष—(१) यहाँ पर यह शंका है कि जल पूर्ण घट में प्रतिबिम्बित तो घटाकाश ही होगा, इसकी निवृत्ति के लिए बादल और नक्षत्र सहित प्रतिबिम्ब का ग्रहण है। फिर जंघा परिमाण घट के जल में जो गम्भीरता प्रकट होती है। वह घट के भीतर आकाश में प्रतीत नहीं होती, अपितु बाहर के आकाश में ही है। अतएव महाकाश का ही वह प्रतिबिम्ब है।

ननु मेघजलस्याप्रतीयमानत्वान्नभसस्तत्र कथं प्रतिबिम्बतत्वज्ञानमित्याशङ्क्याह—

मेघांशरूपमुदकं तुषाराकारसंस्थितम् ।
तत्र खप्रतिबिम्बोऽयं नीरत्वादनुमीयते ॥२१॥

अन्वय :—मेघांशरूपं उदकं तुषाराकारसंस्थितं तत्र अयं एव प्रतिबिम्बः नीरत्वात् अनुमीयते ।

'मेघांशेति' । मेघस्थजलस्य प्रत्यक्षेणानुपलम्भेऽपि वृष्टिलक्षणकार्येण मेघे तदुपादानमुदकं सूक्ष्मावयवरूपमस्तीत्यनुमीयते, उदकत्वेनैव लिङ्गेन प्रतिबिम्बवत्त्वमपि । विमतं जलं आकाशबिम्बवद्भवितुमर्हति जलत्वात्, घटगतजलवत्, इत्यनुमानेन मेघांशरूपे जलेऽप्याकाशप्रतिबिम्बसद्भावोऽवगम्यत इत्यर्थः ॥२१॥

यदि यह कहो कि मेघ का जल तो अप्रत्यक्ष है उसमें आकाश का प्रतिबिम्ब कैसे दिखाई पड़ेगा । इसका उत्तर देते हैं—

यद्यपि मेघ का जल अप्रकट है तो भी वृष्टि रूप कार्य से मेघ में वृष्टि के उपादान कारण सूक्ष्म अवयव रूप जल का अनुमान किया है और उदक रूप ही हेतु (लिंग) से उसमें आकाश का प्रतिबिम्ब का भी अनुमान हो जाता है । यह अनुमान इस प्रकार होगा, विवाद का विषय मेघ का जल आकाश के प्रतिबिम्ब वाला होने योग्य है जल होने से घट के तुल्य, इस अनुमान में मेघ के अंश रूप जल में भी आकाश का प्रतिबिम्ब हो सकता है ॥२१॥

भावार्थ यह है कि बिन्दुओं के आकार से स्थित जो मेघ का अंश रूप जल है उस जल में भी यह आकाश का प्रतिबिम्ब जल होने से अनुमान किया जाता है ॥२१॥

विशेष १—यह अनुमान इस प्रकार का है मेघों में जल है, वृष्टि रूप कार्य होने से जहाँ-जहाँ वृष्टि होती है । वहाँ-वहाँ जल अवश्य है, पर्वत के झरने से गिरे जल बिन्दुओं से युक्त पर्वत की तरह ।

एवं दृष्टान्तभूतमाकाशचतुष्टयं व्युत्पाद्य, दार्ष्टान्तिके प्रथमोद्दिष्टं कूटस्थं व्युत्पादयति—

अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्नचेतनः ।
कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते ॥२२॥

अन्वयः – अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्नचेतनः कूटवत् निर्विकारेण स्थितः (सन्) कूटस्थः उच्यते ।

'अधिष्ठानेति' । पञ्चीकृताऽपञ्चीकृतभूतकार्यत्वेन स्थूलसूक्ष्मरूपस्य देहद्वयस्याविद्याकल्पितस्याधारतया वर्तमानत्वेन ताभ्यामवच्छिन्न आत्मा कूटस्थ इत्युच्यते, तत्र कूटस्थशब्दप्रवृत्तौ निमित्तमाह—

'कूटवदिति ॥२२॥

एवं कूटस्थं व्युत्पाद्य, जीवस्य कूटस्थे कल्पितबुद्धिप्रतिबिम्बकत्वेन तत्पक्षपातित्वात्तं व्युत्पादयति—

कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिबिम्बकः ।
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते ॥२३॥

अन्वयः - कूटस्थे कल्पिता बुद्धिः तत्र चित्प्रतिबिम्बकः प्राणानां धारणात् जीवः स संसारेण युज्यते ।

'कूटस्थ इति' । तस्य जीवशब्दाभिधेयत्वे निमित्तमाह–'प्राणानामिति' । कूटस्थातिरिक्तजीवकल्पनमप्रयोजकमित्याशङ्क्य, अविकारिणः कूटस्थस्य संसारासंभवान्निर्वाहार्थं सोऽङ्गीकर्तव्य इत्याह —'संसारेणेति' ॥२३॥

इस प्रकार दृष्टान्त रूप चारों आकाशों का वर्णन करके दार्ष्टान्तिक में सबसे प्रथम जो कूटस्थ उसका वर्णन करते हैं —

अधिष्ठान होने से स्थूल सूक्ष्म देहावच्छिन्न जो चेतन है कूटस्थ कहलाता है। निर्विकार रहता है लोहार के ऐरन की तरह ॥२२॥

चेतन आत्मा, पञ्चीकृत और अपञ्चीकृत भूतों के कार्यभूत स्थूल और सूक्ष्म देहों का जो अविद्या से कल्पित है इन सब का आधार बना रहता है अतएव इन दोनों देहों से अवच्छिन्न आत्मा जीव साक्षी उसको कूटस्थ कहते हैं ॥२२॥

इस प्रकार कूटस्थ को कहकर कूटस्थ में कल्पित जो बुद्धि उसमें प्रतिबिम्ब कूटस्थ के बराबरी जीव का वर्णन करते हैं –

कूटस्थ में कल्पित की गयी बुद्धि उसमें चेतन का प्रतिबिम्ब चिदाभास ही जीव है। वह सब प्राणों को धारण करता है इसलिए उसे जीव कहते हैं। यह जीव ही संसार में फंसा करता है ॥२३॥

तस्य—बुद्धि में पड़ा प्रतिबिम्ब जीव[1] शब्द के निमत्त को कहते हैं। प्राण धारण उसको जीव कहते हैं।

शंका-कूटस्थ से भिन्न जीव की कल्पना ठीक नहीं, इस शंका पर कहते हैं।

और अविकारी कूटस्थ को तो संसार होने का असम्भव है। आभास के अधिष्ठान कूटस्थ सहित को स्वीकार करना चाहिए। इससे यह जीव ही जन्म मरण रूप संसार से युक्त होता है। प्राण धारण का नाम जीवन है वाणी आदि इन्द्रियाँ शरीर में स्थिति के कारण प्राण धारण है सभी प्राण के शरण में है ॥२३॥

विशेष १ यहाँ प्रतिविम्ब का अर्थ चिदाभास (आभास एव च; ब्र० सू० २।३।५०) एष जीवः परमात्मनः प्रतिबिम्ब एव ॥

घटाकाश के आश्रित जल पूरित घट में महाकाश के प्रतिबिम्ब की तरह कूटस्थ में कल्पित स्थूल देह रूपी घट में स्थित अन्तःकरण या अविद्या अंश रूप, जल के प्रतीयमान व्यापक चेतन का प्रतिबिम्ब चिदाभास है। अधिष्ठान कूटस्थ सहित उस चिदाभास को ही जीव कहते हैं। यहाँ यह शंका है कि रूप रहित आकाश का रूप सहित जल में और रूप रहित जल गुण का रूप सहित दर्पण आदि में तो प्रतिबिम्ब देखा जाता है। परन्तु रूप रहित उपाधि में प्रतिविम्ब कहीं नहीं दीख पड़ता, इस प्रकार रूप रहित अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों के अप्रत्यक्ष अन्तःकरण अथवा अविद्यांश में रूपरहित चेतन का प्रतिबिम्ब सम्भव ही नहीं है।

समाधान—रूप सहित वस्तु में अवश्य ही प्रतिबिम्ब हो ऐसा कोई नियम नहीं है क्योंकि नीलादि रूप सहित घट आदि में प्रतिविम्ब नहीं दिखाई देता। हाँ स्वच्छ वस्तु में अवश्य हीं प्रतिबिम्ब होता है यह नियम है। इसलिए रूप सहित वस्तु में प्रतिबिम्ब वाली होगी, रूपवान होने से 'यह अनुमान रूप सहित वस्तु में प्रतिबिम्ब का साधक नहीं है। अन्तःकरण या अविद्यांश रूप रहित है तो भी सत्व गुण युक्त होने से स्वच्छ है। इसलिए चेतन के प्रतिबिम्बवान् है। विचार कर देखें तो श्रुतिप्रतिपादित विषय में तर्क असंगत है और दृष्ट कल्पना रूप युक्ति तो पुरुष की बुद्धि से कल्पित (कल्पना होने से) उसका श्रुति प्रतिपादित अर्थ में मनुष्य बुद्धि का प्रयोग नहीं करना चाहिए श्रुतियों से प्रतिपादित स्वर्गादिकों में दृष्ट कल्पना का अभाव है। रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव० (क० २।५।६) उपाधि-उपाधि की तरह प्रतिबिम्ब होता है। (छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति० क० १।३।१) छाया आतप (प्रतिबिम्ब और सूर्य की तरह) जीव और परमात्मा को ब्रह्मविद् कहते हैं। कठ० एक एव भूतात्मा अत एव चोपमासूर्यादिवत् (ब्र० सू० ३।२।१८)। इन श्रुति सूत्रों से चिदाभास आरोप मानना चाहिए।

ननु जीवातिरिक्तः कूटस्थोऽस्ति चेत्किमिति न प्रतिभासत इत्याशङ्क्य, जीवेन तिरोहितत्वादिति सदृष्टान्तमाह—

जलव्योम्ना घटाकाशो यथा सर्वस्तिरोहितः ।
तथा जीवेन कूटस्थः सोऽन्योन्याध्यास उच्यते ॥२४॥

अन्वयः—यथा जलव्योम्ना घटाकाशः सर्वः तिरोहितः तथा जीवेन कूटस्थः सः अन्योन्याध्यास उच्यते ।

'जलेति' । नन्वेतत्तिरोधानं न क्वापि शास्त्रे प्रतिपादितमित्याशङ्क्य, तस्यान्योन्याध्यासशब्देनाभिधानान्मैवमित्याह—'सोऽन्योन्याध्यास इति' । उच्यते भाष्यादिष्विति शेषः ॥२४॥

नन्वयमेवाध्यासश्चेदस्य कारणरूपाविद्या वक्तव्येत्याशङ्क्य जीवकूटस्थयोः संसारदशायां भेदाप्रतीतिरेवाऽविद्येत्याह—

अयं जीवो न कूटस्थं विविनक्ति कदाचन ।
अनादिरविवेकोऽयं मूलाविद्येति गम्यताम् ॥२५॥

अन्वयः—अयं जीवः कदाचन कूटस्थं न विविनक्ति अयं अनादिः अविवेकः मूलाविद्या इति गम्यताम् ।

'अयमिति' ॥२५॥

यदि जीव से भिन्न कूटस्थ है तब वह प्रतीत क्यों नहीं होता इस शंका का उत्तर–

जीव से कूटस्थ तिरोहित होने से स्वरूप का दर्शन नहीं हो पाता, इसको सदृष्टान्त कहते हैं—

जैसे जलाकाश से घटाकाश सारा का सारा ढका रहता है, वैसे ही जीव से कूटस्थ (आवृत रहता है) इसका नाम अन्योन्याध्यास है ॥२४॥

यदि कहो यह आवरण किसी शास्त्र में प्रतिपादित नहीं है इसका उत्तर—उसको अन्योन्याध्यास शब्दों से कहा है । इसी अध्यास[1] को ब्रह्म सूत्र के भाष्य आदि में अन्योन्याध्यास बताया है ॥२४॥

शंका–यह ही अध्यास है तब अध्यास की कारण अविद्या बताओ इसका उत्तर–

जीव और कूटस्थ दोनों की संसार दशा में भेद की प्रतीति न होना ही अविद्या है—

विशेष १ - परत्र परावभासः ।

पूर्वोक्तस्य जीवस्य अविद्याकल्पितत्वस्य स्पष्टीकरणाय अविद्यां विभजते—

विक्षेपावृतिरूपाभ्यां द्विधाऽविद्या व्यवस्थिता ।

न भाति नास्ति कूटस्थ इत्यापादनमावृतिः ॥२६॥

अन्वयः— विक्षेपावृतिरूपाभ्यां अविद्या द्विधा व्यवस्थिता न भाति नास्ति कूटस्थ इत्यापादनं आवृतिः ।

'विक्षेपेति' । विक्षेपहेतुत्वेनाभ्यर्हितत्वादावृतिं प्रथमं लक्षयति—'न भातीति । कूटस्थो न भाति न प्रकाशते, नास्ति चेति व्यवहारहेतुरावरणमित्यर्थः ॥२६॥

यह जीव कभी भी अपने कूटस्थ रूप को नहीं पहचानता, यह अनादि काल का अविवेक (कार्य[1] अज्ञान) मूल अविद्या है ऐसा जानो । इस अविद्या से ही अन्योन्याध्यास की उत्पत्ति होती है ॥२५॥

अब पूर्वोक्त २३वें श्लोक में जीव को अविद्या से कल्पित कहा है, उसको स्पष्ट करने के लिए अविद्या का विभाग करते हैं—

विक्षेप की हेतु है, अतएव उसका लक्षण पहले किया गया है विक्षेप और आवृति रूप से दो प्रकार की अविद्या व्यवस्थित है । उनमें कूटस्थ न भासता है और न है । इस कथन को आवृति आवरण कहते हैं, यह आवरण ही विक्षेप का हेतु है ॥२६॥

विशेष १ - विचार करने पर जो रहे नहीं । या आवरण विक्षेप शक्ति वाली अनादि भावरूप ज्ञान से रहने वाली जो है, वह अविद्या कहलाती है । वह अविद्या मूलाऽविद्या, तुलाऽविद्या भेद से दो प्रकार की है । ब्रह्माऽऽत्म के स्वरूप की आच्छादक जो अविद्या है वह मूला अविद्या जो घटादि अवच्छिन्न चेतन का आच्छादक है (शुक्ति में रजतादिक की) उपादान जो अविद्या वह तूला अविद्या है । इसमें कार्य कारण भेद से मूलाऽविद्या दो प्रकार की है और मैं और की बुद्धि आदि की जनक कारण रूप मूलाऽविद्या, और मैं और की बुद्धि आदि स्वरूप कार्यरूप मूल अविद्या है वह कार्य अविद्या भी । अविद्या अस्मिता, राग द्वेष अभिनिवेश भेद से जो पञ्चक्लेश है ।

नन्वविद्यायास्तत्कृतावरणस्य च सद्भावे किं प्रमाणमित्याशङ्क्य, लोकानुभव एवेत्याह —

अज्ञानी विदुषा पृष्टः कूटस्थं न प्रबुध्यते ।
न भाति नास्ति कूटस्थ इति बुद्ध्वा वदत्यपि ॥२७॥

अन्वयः—अज्ञानी विदुषा पृष्टः (सन्) कूटस्थं न प्रबुध्यते न भाति नास्ति कूटस्थः इति बुध्वा वदत्यपि ।

'अज्ञानीति' । विदुषा 'कूटस्थं किं जानासि ?' इति पृष्टोऽज्ञानी तं 'न जानामि' इत्यज्ञानमनुभूय वक्ति,-अयं 'अविद्यानुभवः' । न केवलमज्ञानानुभवमेव वक्ति, अपि तु 'नास्ति न भाति कूटस्थऽइति कूटस्था भावाऽभाने चानुभूय वदति— अयं 'आवरणानुभवः' । अत उभयत्रानुभवः प्रमाणमिति भावः ॥२७॥

ननु भवन्मते आत्मनः स्वप्रकाशत्वात्तस्मिन्नविद्या नोपपद्यते, तेजस्तिमिरयोरिव विरुद्धस्वभावत्वेन तयोः सम्बन्धानुपपत्तेः, अविद्याभावे च तत्कृतमावरणं दुर्निरूप्यं स्यात्, तदभावे च तन्मूलकस्य विक्षेपस्यासम्भवः विक्षेपाभावे च ज्ञाननिवर्त्यस्याभावाद् ज्ञानवैयर्थ्यं, ततस्तत्प्रतिपादकं शास्त्रमप्रमाणं स्यादित्याशङ्क्यैतत्सर्वं पूर्वोक्तानुभवबाधितमित्याह—

स्वप्रकाशे कुतोऽविद्या तां विना कथमावृतिः ।
इत्यादितर्कजालानि स्वानुभूतिर्ग्रसत्यसौ ॥२८॥

अन्वयः— स्व प्रकाशे अविद्या कुतः तां बिना आवृतिः कथं इत्यादि तर्कजालानि स्वानुभूतिः असौ ग्रसति ।

'स्वप्रकाश इति'। 'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' इति न्यायादिति भावः ॥२८॥

अब अविद्या और उसके किये आवरण के होने में लोक के अनुभव को प्रमाण रूप से कहते हैं—

ज्ञानी ने पूँछा अज्ञानी को तुम कूटस्थ को जानते हो या नहीं जानते वह उत्तर देता है वह कूटस्थ नहीं भासता और न है उसको जानकर ही उत्तर देता है ॥२७॥

क्या तुम कूटस्थ को जानते हो, इस प्रकार विद्वान् का पूँछा हुआ अज्ञानी, उस कूटस्थ को मैं नहीं जानता इस प्रकार अज्ञान को जानकर (समझकर) कहता है यह अविद्या का अनुभव है। फिर वह केवल अज्ञान का अनुभव ही नहीं बताता किन्तु कूटस्थ नहीं है और भासमान भी नहीं होता यह बात कूटस्थ के अभाव को और उसकी अप्रतीति को अनुभव के कारण ही बताता है यही आवरण का अनुभव है। इसलिए अविद्या और आवरण दोनों में अनुभव प्रमाण है ॥२७॥

शंका—वेदान्त मत में आत्मा स्वप्रकाश है। उसमें अविद्या का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? क्योंकि प्रकाश और अन्धकार की तरह आत्मा और अविद्या का परस्पर विरुद्ध स्वभाव है, फिर उसका

नन्वनुभवस्योक्ततर्कविरोधेनाभासत्वान्न तेन तत्त्वनिश्चय इत्याशङ्क्य, अनुभवप्रामाण्यानभ्युपगमे केवलतर्कस्यानिश्चायकत्वस्य[2] स्वेनैवाभ्युपगतत्वान्न तार्किकस्य तत्त्वनिश्चयः क्वापि स्यादित्याह—

स्वानुभूतावविश्वासे तर्कस्याप्यनवस्थितेः ।
कथं वा तार्किकंमन्यस्तत्त्वनिश्चयमाप्नुयात् ॥२९॥

अन्वयः—स्वानुभूतौ अविश्वासे तर्कस्य अपि अनवस्थितेः तार्किकं मन्यः तत्त्वनिश्चयं कथं वा आप्नुयात् ।

'स्वानुभूताविति' ॥२९॥

सम्बन्ध कैसा ? जब अविद्या का ही अभाव है तो उसका किया आवरण कैसे होगा ? जब आवरण नहीं हुआ तो उसके कारण होने वाला विक्षेप भी सिद्ध नहीं होगा । विक्षेप के अभाव में ज्ञान से नष्ट होने वाला अनर्थ भी नहीं होगा और इस प्रकार ज्ञान ही जब व्यर्थ होगा तो उसका प्रतिपादक शास्त्र भी अप्रमाण होगा । इन प्रश्नों का उत्तर देते हैं -

स्वप्रकाश[1] में अविद्या कहाँ और अविद्या के बिना आवरण कहाँ इत्यादि तर्कों को पूर्व श्लोक में कहा हुआ जो अनुभव है वह ग्रस लेता है ।।२८।।

जो वस्तु इष्ट अर्थात् अनुभूत होती है उसको असिद्ध या असम्भव नहीं माना जाता ॥२८॥

वादी की शंका २७वें श्लोक में बताया गया अनुभव २८वें श्लोक में वर्णित तर्क से विरुद्ध है अतएव वह आभास मात्र है, उससे तत्त्व का निश्चय नहीं हो सकेगा । इसके उत्तर में कहते हैं, यह कहना ठीक नहीं, यदि तार्किक स्वानुभव को ही प्रमाण न मानेगा, और केवल तर्क को निश्चय मानेगा तो फिर उसे तत्त्व ज्ञान भी न होगा —

यदि अपने अनुभव में ही विश्वास नहीं है, तो तर्क की भी स्थिति नहीं होगी, इससे अपने को तार्किक मानने वाला किस प्रकार तत्त्व निश्चय को प्राप्त होगा अर्थात् नहीं होगा ॥२९॥

विशेष १—स्वप्रकाश आत्मा में सूर्य में तम की तरह । यह सिद्धान्त के तुल्य नहीं है । किससे सूर्य आदिक जो प्रकाश है, वह अग्नि के विशेष रूप हैं । इससे इनका तो वृत्ति आरूढ़ विशेष चैतन्य में अज्ञान के विरोध की तरह अन्धकार से विरोध है । तथापि काष्ठादिक वस्तु में अनुस्यूत जो अग्नि का सामान्य रूप है उसका सुषुप्ति आदिक स्थल में प्रकाशमान सामान्य चैतन्य से अज्ञान के अविरोध की तरह विरोध नहीं, इससे यह दृष्टान्त असदृश है और स्वप्रकाश में अविद्या के सम्भव में स्वानुभूति रूप प्रबल प्रमाण है ।

२—केवल तर्कस्य-पूर्वपूर्वतर्कात् उत्तरोत्तर तर्को बलवान्, अतएव तर्कस्याप्यनवस्थितिःइत्याशयः ।

नन्वनुभवः तत्त्वनिश्चायक एव, तथाप्यनुभूयमानस्यार्थस्य संभावितत्वज्ञानाय तर्कोऽप्यभ्युपेतव्य इत्याशङ्कामनूद्य, तर्ह्यनुभवानुसारेणैव तर्को वर्णनीयः, न तद्विरोधेनेत्याह—

बुद्ध्यारोहाय तर्कश्चेदपेक्षेत तथा सति ।
स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम् ॥३०॥

अन्वयः—बुद्ध्यारोहाय तर्कश्चेत् अपेक्षेत तथा सति स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यतां मा कुतर्क्यतां । 'बुद्ध्यारोहायेति' ॥३०॥

कोऽसावनुभवो यदनुसारेण तर्को वर्णनीय इत्याकाङ्क्षायां पूर्वोक्तमविद्यादिगोचरमनुभवं स्मारयति—

स्वानुभूतिरविद्यायामावृतौ च प्रदर्शिता ।
अतः कूटस्थचैतन्यमविरोधीति तर्क्यताम् ॥३१॥

अन्वयः–स्वानुभूतिः अविद्यायां आवृतौ च प्रदर्शिता अतः कूटस्थचैतन्यं अविरोधी इति तर्क्यतां ।

'स्वानुभूतिरिति'। फलितमाह—'अत इति' ॥३१॥

यदि कहो कि अनुभव से तर्क का निश्चय होता है–तथापि अनुभव किये पदार्थ की यथार्थता (निश्चयत्व ज्ञान) के लिए तर्क भी मानने योग्य है। ऐसा कहने वाले वादी को कहते हैं—

बुद्धि में पदार्थ के आरूढ़ होने के लिए जब तर्क की अपेक्षा हो तो अपने अनुभव के अनुसार ही तर्क करना चाहिए। कुतर्क नहीं करना चाहिए ॥३०॥

वह अनुभव कौन सा है बताते हैं अब तर्क के अनुसारी पूर्वोक्त अविद्यादि गोचर अनुभव का स्मरण दिखाते हैं—

अविद्या और आवरण में जो अपना अनुभव (अविद्या और आवरण में जो दिखा आये हैं २७वें श्लोक में) उस अनुभव के अनुसार ही यह तर्क करो कि कूटस्थ चैतन्य अविद्या और आवरण का विरोध नहीं है ऐसी तर्क करनी चाहिए ॥३१॥

विशेष १—न अनुभवविरोधेन इत्याह इति भावः ।

तमेव तर्कमभिनीय दर्शयति—

तच्चेद्विरोधि केनेयमावृतिर्ह्यनुभूयताम् ।
विवेकस्तु विरोध्यस्यास्तत्त्वज्ञानिनि दृश्यताम् ॥३२॥

अन्वयः—तद् विरोधि चेद् इयं आवृत्तिः केन हि अनुभूयतां, विवेकस्तु अस्याः विरोधी तत्वज्ञानिनि दृश्यतां ।

'तच्चेदिति' । अविद्यावरणसाधकचैतन्यस्यैव तद्विरोधित्वेऽविद्याप्रतीतिरेव न स्यादिति भावः तर्ह्यविद्यायाः को विरोधीत्यत आह—'विवेक इति' । विवेकः उपनिषद्विचारजन्यं ज्ञानम् । विवेकस्य अविद्याविरोधित्वं क्व दृष्टमित्यत आह —'तत्त्वज्ञानिनीति' ॥३२॥

एवमविद्यावरणे दर्शयित्वा विक्षेपाध्यासमाह—

अविद्यावृतकूटस्थे देहद्वययुता चितिः ।
शुक्तौ रूप्यवदध्यस्ता विक्षेपाध्यास एव हि ॥३३॥

अन्वयः—अविद्यावृतकूटस्थे देहद्वययुता चितिः शुक्तौ रूप्यवत् अध्यस्ता सति विक्षेपाध्यास एव हि ॥३३॥

'अविद्येति' । पूर्वोक्तविद्यावरणवति कूटस्थे प्रत्यगात्मन्यारोपितस्थूलशूक्ष्मशरीरसहितश्चिदाभासो विक्षेपाध्यास इत्यर्थः ॥३३॥

उसी तर्क को अंगुली निर्देशकर दिखाते हैं—

चैतन्य विरोधी हो तो इस आवरण को कौन अनुभव करेगा । उसको बताओ, अविद्या और आवरण का साधक चैतन्य ही यदि उनका विरोधी हो तो (कूटस्थ को मैं नहीं जानता हूँ) इस आवरण वाली अविद्या की प्रतीति ही न होगी (जब यह प्रतीति होती है तब यह मानना पड़ता है कि कूटस्थ अविद्या का विरोधी नहीं है) तब अविद्या का कौन विरोधी है, इसका उत्तर देते हैं ।-उस विवेक को तुम तत्त्व ज्ञानियों में देखो अर्थात् विवेक उपनिषदों के विचार से जो ज्ञानवान् है उसका जो विवेक उससे ही अविद्या का नाश होता है ॥३२॥

इस प्रकार अविद्या को और आवरण को दिखाकर विक्षेपाध्यास को दिखाते हैं—

पूर्वोक्त अविद्या आवरण वाले (ढके) हुए कूटस्थ रूप प्रत्यगात्मा में स्थूल सूक्ष्म शरीर सहित आरोपित चिदाभास है उस अध्यास को विक्षेपाध्यास कहते हैं सीप में चाँदी की तरह ॥३३॥

अस्य विक्षेपस्याध्यासत्वसिद्धये शुक्तिरजताध्याससाम्यं दर्शयति—

इदमंशश्च सत्यत्वं शुक्तिगं रूप्य ईक्ष्यते ।
स्वयंत्वं वस्तुता चैवं विक्षेपे वीक्ष्यतेऽन्यगम् ।।३४।।

अन्वय; —इदं अंशश्च सत्यत्वं शुक्तिगं रूप्य ईक्ष्यते स्वयं त्वं वस्तुता च एवं विक्षेपे अन्यगं वीक्ष्यते ।

'इदमंशश्चेति । शुक्तिकायां स्थितं पुरोदेशादिसंबन्धित्वमबाध्यत्वं च यथाऽऽरोपिते रजतेऽवभासते एवं स्वयंत्वं वस्तुत्वं च कूटस्थनिष्ठमारोपिते चिदाभासेऽवभासत इत्यर्थः ।।३४।।

एवं सामान्यांशप्रतीतिमुभयत्र प्रदर्श्य विशेषांशप्रतीतिसाम्यं दर्शयति—

नीलपृष्ठत्रिकोणत्वं यथा शुक्तौ तिरोहितम् ।
असङ्गानन्दताद्येवं कूटस्थेऽपि तिरोहितम् ।।३५।।

अन्वयः—यथा शुक्तौ नीलपृष्ठ त्रिकोणत्वं तिरोहितं तथा असङ्गानन्दतादि एवं कूटस्थेऽपि तिरोहितं ।

'नीलेति' ।।३५।।

अब इस विक्षेप को अध्यास सिद्धि के लिए शुक्तिरजत का जो अध्यास उसकी तुल्यता दिखाते हैं—

जैसे शुक्तिका इदम् (यह) अंश अर्थात् नेत्रों के अग्रिम देश में स्थित और सत्यत्व ये दोनों शुक्ति के रूप रुप्य में अर्थात् चांदी को दीखते हैं इसी प्रकार कूटस्थ के स्वयंत्व (अपना रूप) और वस्तुत्व (सत्यता) ये जो दो धर्म हैं ये आरोपित चिदाभास में दिखायी देते हैं। यहाँ विक्षेप शब्द से चिदाभास कहा ।।३४।।

इस प्रकार शुक्ति कूटस्थ दोनों में सामान्य[1] अंश की प्रतीति दिखाकर दोनों में विशेष अंश की अप्रतीति दिखाते हैं—

जिस प्रकार शुक्ति के नीला पृष्ठ और त्रिकोणपना (ये दोनों विशेष अंश) तिरोहित छिपे हैं। उसी प्रकार कूटस्थ में भी असंगता और आनन्दता आदि दोनों धर्म विशेष अंश तिरोहित हैं। अर्थात् चिदाभास में प्रतीत नहीं होते ।।३५।।

विशेष १—ऐसे सामान्य (१) अंश की प्रतीति की समता शुक्ति और कूटस्थ इन दोनों जगह दिखाकर विशेष (२) अंश को दिखाते हैं (१) सामान्य जो भ्रान्ति के साथ प्रतीत हो और जिसके प्रतीति के बिना भ्रान्ति होती नहीं ऐसा जो अंश वह सामान्य अंश है अथवा आधार भी है ऐसा दृष्टान्त इदंपना (इदं अंश) और अबाध्य है। सिद्धान्त में स्वयंपना और वास्तवपना अंश है (२) विशेष अंश भ्रान्ति काल में जिसकी प्रतीति न हो किन्तु जिसकी से होने पर भ्रान्ति दूर हो जाती है। वह विशेष अंश है। उसी को अधिष्ठान भी कहते हैं। ऐसे शुक्ति दृष्टान्त में नीलपृष्ठता त्रिकोणता शुक्तित्व आदिक है। सिद्धान्त में चेतनता, आनन्दता, असंगता, अद्वय आदिक विशेष अंश है।

साम्यान्तरं दर्शयति—

आरोपितस्य दृष्टान्ते रूप्यनाम यथा तथा ।

कूटस्थाध्यस्तविक्षेपनामाहमिति निश्चयः ॥३६॥

अन्वयः यथा आरोपितस्य दृष्टान्ते रूप्यनाम तथा कूटस्थाध्यस्त विक्षेपनामाहं इति निश्चयः ।

'आरोपितस्येति' । दृष्टान्ते शुक्तिस्थले आरोपितपदार्थस्य रूप्यनाम रूप्यमिति नाम यथा, एवं कूटस्थे कल्पितस्य चिदाभासरूपविक्षेपस्य पूर्वोक्तस्याहमिति नामेत्यर्थः ॥३६॥

ननु दृष्टान्ते पुरोवर्तिनि शुक्तिशकले इन्द्रियसंनिकर्षे जाते सति रूप्यमिदमिति तदतिरिक्तरजताभिमान उपपद्यते, नैवं दार्ष्टान्तिके आत्मातिरिक्तवस्त्वभिमान इत्याशङ्क्य, अत्रापि स्वप्रकाशतया चिदात्मन्यवभासमाने तदतिरिक्तोऽहमित्यभिमान उपलभ्यते, अतो न वैषम्यमित्यभिप्रायेणाह—

इदमंशं स्वतः पश्यन् रूप्यमित्यभिमन्यते ।

तथा स्वं च स्वतः पश्यन्नहमित्यभिमन्यते ॥३०॥

'इदमंशमिति' ॥३७॥

अन्य भी तुलना को दिखाते हैं—

जैसे सीपी रूप दृष्टान्त में आरोप किये गये पदार्थ (रूप्य) चाँदी यह नाम है । इसी प्रकार दार्ष्टान्त कूटस्थ में अध्यास से कल्पित किये चिदाभास रूप विक्षेप का नाम अहं अर्थात् मैं—हैं यह शास्त्र का निश्चय है ॥३६॥

यदि शंका करो कि दृष्टान्त में नेत्रों के आगे स्थित शुक्ति के खण्ड में नेत्र का सम्बन्ध होने पर जैसे यह रजत है । यह शुक्ति से भिन्न रजत का अभिमान देखते हैं, वैसे दार्ष्टान्तिक में तो आत्मा से भिन्न वस्तु का अभिमान नहीं देखते इसका उत्तर—यहाँ भी स्वप्रकाश चिदात्मा प्रकाशित होने पर भी, उससे भिन्न अहं यह अभिमान देखते हैं । इसलिए दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक की विषमता नहीं है—

जैसे इदं भाग को स्वतः (स्वरूपतः) देखता हुआ भी पुरुष यह रजत है यह मानता है । इसी प्रकार स्वयंको निज रूप से देखकर मैं ऐसा मान लेता है ॥३७॥

ननु 'स्वयमहं' शब्दयोरेकार्थत्वात्कथं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यमित्याशङ्क्य, 'इदंरूप्य' शब्दार्थयोः 'स्वयमहं' शब्दार्थयोश्च सामान्यविशेषरूपत्वस्योभयत्र साम्यान्मैवमित्याह—

इदंत्वरूप्यते भिन्ने स्वत्वाहन्ते तथेष्यताम् ।
सामान्यं च विशेषश्च ह्युभयत्रापि गम्यते ॥३८॥

अन्वयः—इदंत्वंरूप्यते भिन्ने स्वत्वाहन्ते तथा ईष्यतां उभयत्रापि हि सामान्यं च विशेषश्च गम्यते ।

'इदमिति' ॥३८॥

'स्वयं' शब्दार्थस्य सामान्यरूपत्वं स्पष्टीकर्तुं लौकिक प्रयोगं तावद्दर्शयति—

देवदत्तः स्वयं गच्छेत्त्वं वीक्षस्व स्वयं तथा ।
अहं स्वयं न शक्नोमीत्येवं लोके प्रयुज्यते ॥३९॥

अन्वयः—देवदत्तः स्वयं गच्छेत् त्वं स्वयं वीक्षस्व तथा अहं स्वयं न शक्नोमि इति एवं लोके प्रयुज्यते ।

'देवदत्त इति' ॥३९॥

शंका--स्वयं और अहं शब्द का एक अर्थ है तो शुक्ति और आत्मा की समानता कैसे सिद्ध होगी इसका उत्तर देते हैं। अर्थात् वहाँ इदं सामान्य और रूप्य विशेष है ऐसे ही यहाँ स्व सामान्य और अहं विशेष है—

जैसे इदम् और रूप्य ये दोनों अंश भिन्न हैं इसी प्रकार स्व और अहं को भी भिन्न जानो क्योंकि सामान्य विशेष भाव की प्रतीति दोनों स्थलों में तुल्य है । ३८॥

अब स्वयं शब्द को सामान्य रूप दिखाने के लिए लौकिक व्यवहार को प्रथम दिखाते हैं—

देवदत्त स्वयं (अपने आप जाता) है। मैं स्वयं समर्थ नहीं हूँ। इस प्रकार के व्यवहार (प्रयोग) देखने हैं। अर्थात् सामान्य रूप एक ही स्वयं शब्द का देवदत्त अहं विशेषों के साथ अन्वय होता है ॥३९॥

भवत्वेवं लोके प्रयोगः, कथमेतावता[1] 'स्वयं' शब्दार्थस्य सामान्यरूपत्वमित्याशङ्क्य, 'इदं' शब्दार्थवदित्याह --

इदं रूप्यमिदं वस्त्रमिति यद्वदिदं तथा।
असौ त्वमहमित्येषु स्वयमित्यभिमन्यते ।।४०।।

अन्वयः—इदं रूप्यं इदं वस्त्रं इति यत्वद् इदं तथा असौ त्वं असौ अहं इति एषु स्वयं इति अभिमन्यते।

'इदं रूप्यामिति'। यथा रूप्यवस्त्रादौ सर्वत्रेदंशब्दस्य प्रयुज्यमानत्वात्तदर्थस्य सामान्यरूपत्वं, तथा 'असौ' त्वम् अहम् इत्यादौ सर्वत्र-स्वयशब्दप्रयोगात्तदर्थस्यापि सामान्यरूपत्वमवगम्यत इत्यर्थः ।।४०।।

यदि कहो लोक में इस प्रकार रहे, इससे किस प्रकार स्वयं शब्द का अर्थ[2] सायान्य होगा इसका उत्तर—

जैसे यह रूप्य है यह वस्त्र है, यहाँ जैसे सर्वत्र इदं सामान्य शब्द का प्रयोग होने से उसके अर्थ की सामान्यता मानी जाती है इसी प्रकार असौ (यह) त्वं (तू, और अहं (मैं) इन तीनों के साथ स्वयं शब्द का प्रयोग उसके अर्थ की सामान्य रूपता को दर्शाता है ।।४०।।

विशेष १—एतावता लोक में प्रयोग देखने मात्र से।

२ —यहाँ यह भाव है बुद्धिस्थ चिदाभास और कूटस्थ का अन्योन्याध्यास है। किससे चिदाभास विशिष्ट बुद्धि का अधिष्ठान कूटस्थ है। अहं प्रतीति का विषय चिदाभास विशिष्ट बुद्धि है और स्वयं प्रतीति का विषय कूटस्थ है। उक्त ३८वें श्लोक की रीति से सकल प्रतीतियों में अनुगत स्वयं शब्द का अर्थ है और अहंत्व आदि शब्दों का अर्थ चिदाभास विशिष्ट व्यभिचारी है। स्वयं शब्द का अर्थ कूटस्थ सारे में अनुगत होने से अधिष्ठान है और अहंत्व आदि शब्दों का अर्थ चिदाभास विशिष्ट बुद्धि रूप जीव व्यभिचारी होने से अध्यस्त है। कूटस्थ में जीव का सम्बन्धाध्यास है। इसलिए अज्ञानियों को कूटस्थ और जीव का अन्योन्याध्यास होने से परस्पर विवेक नहीं होता, परन्तु कूटस्थ और चिदाभास दोनों भिन्न हैं।

भवतु 'स्वयमहं' शब्दयोर्लोके भेदः, एतावता कूटस्थात्मनि किमायातमिति पृच्छति—

अहन्त्वाद्भिद्यतां स्वत्वं कूटस्थे तेन किं तव ।
स्वयंशब्दार्थ एवैष कूटस्थ इति मे भवेत्।।४१।।

अन्वयः— अहंत्वात् स्वत्वं कूटस्थे विद्यतां तेन तव किं स्वयंशब्दार्थं एव एषः कूटस्थः इति मे भवेत् ।

'अहन्त्वादिति' । सामान्यरूपः स्वयंशब्दार्थ एव कूटस्थ इतीदमायातमित्याह— 'स्वयंशब्दार्थ इति' ।।४१।।

ननुस्वत्वरूपो धर्मोऽन्यत्वं निवारयति, न कूटस्थत्वं बोधयतीति शङ्कते—

अन्यत्ववारकं स्वत्वमिति चेदन्यवारणम् ।
कूटस्थस्यात्मतां वक्तुरिष्टमेव हि तद्भवेत् ।।४२।।

अन्वयः—अन्यत्ववारकं स्वत्वं इति चेत् अन्यवारणं कूटस्थस्य आत्मतां वक्तुः तत इष्टमेव भवेत् हि ।

अन्यत्ववारकमिति—'स्वयं' शब्दार्थस्य कूटस्थस्यैवात्मत्वात्स्वत्वेनान्यवारणमिष्टमेवेति परिहरति— अन्यवारणं कूटस्थस्येति' ४२।।

यदि कहो कि स्वयं और अहं शब्द का भेद रहे इससे कूटस्थ आत्मा में क्या आया, इस आशय से वादी पूंछता है । इसका उत्तर यह है—

अहंता शब्द से स्वयं रूपत्व का भेद भले ही रहे, इससे कूटस्थ में तुम्हारा क्या सिद्ध हुआ ? इसका उत्तर यह है कि सामान्यतया जो स्वयं शब्दार्थ है वही तो कूटस्थ है इस प्रकार मेरा उद्देश्य पूर्ण हो जाता है ।।४१।।

लोक व्यवहार में स्वयं शब्द और अहं शब्द की भले ही उपयोगिता सिद्ध होती हो किन्तु कूटस्थ में तो कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं हो रहा है ? स्वयं शब्द का अर्थ ही कूटस्थ है अर्थात् सामान्य रूप जो-जो स्वयं शब्दार्थ है वही कूटस्थ है इससे हमारे प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है ।।४१।।

यदि कहो स्वत्वरूप धर्म तो अन्य का निवारण करता है, वह कूटस्थपने का बोध नहीं करता—

यह शंका यह है कि जो स्व है वह अन्य नहीं हो सकता उसका फिर वह स्वत्व रूप धर्म कूटस्थता का बोध कैसे होने देगा । समाधान यह है स्वयं शब्द का अर्थ कूटस्थ को ही आत्मा कहता है । यदि स्वत्व से अन्य (अनात्मा का) वारण होता है तो आत्मा तो स्वयं शेष रह जाता है और यही अभीष्ट है ।।२४।।

ननु 'स्वयमात्म' शब्दयोर्भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः गवाश्वादिशब्दयोरिवैकार्थत्वाभावात्कथं 'स्वयं' शब्दार्थस्य कूटस्थस्यात्मत्वमित्याशङ्क्य, हस्तकरादिशब्दवदेकार्थत्वोपपत्तेर्मैवमिति परिहरति –

स्वयमात्मेति पर्यायौ तेन लोके तयोः सह ।
प्रयोगो नास्त्यतः स्वत्वमात्मत्वं चान्यवारकम् ।।४३।।

अन्वयः—स्वयं आत्मा इति पर्यायौ तेन लोके तयोः सह प्रयोगः नास्ति अतः स्वत्वं आत्मत्वं च अन्यवारकं ।

'स्वयमात्मेतीति'। पर्यायत्वे सहप्रयोगाभावं हेतुमाह—'तेन लोक इति' फलितमाह—'अतः स्वत्वमिति' ।।४३।।

ननु घटादिष्वचेतनेष्वपि 'स्वयं' शब्दस्य प्रयोगदर्शनात्स्वयन्त्वात्मत्वयोरेकत्वं न घटत इति शङ्कते—

घटः स्वयं न जानातीत्येवं स्वत्वं घटादिषु ।
अचेतनेषु दृष्टं चेद् दृश्यतामात्मसत्त्वतः ।।४४।।

अन्वयः—घटः स्वयं न जानाति इति एवं स्वत्वं अचेतनेषु घटादिषु दृष्टं चेत् आत्मसत्त्वतः दृश्यताम् ।

'घट इति'। घटादिष्वपि स्फुरणरूपेणात्मचैतन्यस्य सत्त्वात्तेष्वपि स्वयंशब्दप्रयोगो न विरुध्यते 'इत्याह-दृश्यतामिति' ४४।।

यदि शंका करो कि स्वयं और आत्मा इन दोनों शब्दों के स्वयंत्व और आत्मत्व रूप प्रवृत्ति निमित्त भिन्न-भिन्न हैं इसमें गौ, अश्व आदि के समान इनका एक अर्थ नहीं और एक अर्थ न होने से स्वयं शब्द का अर्थ कूटस्थ आत्मा कैसे होगा, ऐसी आशङ्का कर हस्त एवं कर आदि शब्द के समान स्वयं और आत्मा इन दोनों शब्दों की एकार्थता हो सकती है इस प्रकार की शंका मत करो इसका परिहार करते हैं—

स्वयं और आत्मा दोनों आपस में हस्त और कर की तरह पर्याय हैं। इसलिए लोक में इनका एक साथ प्रयोग नहीं होता इसलिए पर्याय होने से स्वत्व आत्मत्व दोनों शब्द अन्य के निषेधक हैं।।४३।।

यदि शंका हो कि घट स्वयं नहीं जानता इस प्रकार अचेतन घट आदिकों में भी स्वत्व' को देखा है इसलिए स्वयं आत्मा दोनों एक नहीं हो सकते इसका उत्तर—

घट आदिकों में भी अस्ति, भाति स्फुरण रूप प्रकाशमान आत्म चैतन्य है। उसकी सत्ता से अचेतनों में भी देखा है तो देखो उसके देखने में कोई विरोध नहीं।।४४।।

ननु घटादिष्वप्यात्मचैतन्यस्य सत्त्वे चेतनाचेतनविभागो निर्निमित्तकः स्यादित्याशङ्क्य, चेतनाचेतनविभागस्य चिदाभाससत्त्वासत्त्वलक्षणकारकसद्भावान्नैवमिति परिहरति—

चेतनाचेतनभिदा कूटस्थात्मकृता न हि ।
किंतु बुद्धिकृताऽऽभासकृतैवेत्यवगम्यताम् ॥४५॥

अन्वयः—चेतनाचेतनभिदा कूटस्थात्मकृता नहि किन्तु बुद्धिकृता आभासकृता एव इति अवगम्यताम् ।

'चेतनेति' ॥४५॥

ननु चेतनाचेतनविभागस्य चिदाभाससत्त्वासत्त्वप्रयुक्तत्वाभ्युपगमे अचेतनेष्वात्मसत्त्वाभ्युपगमो निष्प्रयोजनः स्यादित्याशङ्क्य, चेतनाचेतनविभागहेतुत्वेन कूटस्थस्यानभ्युपगम्यत्वेऽप्यचेतनकल्पनाधिष्ठानत्वेन कूटस्थोऽभ्युपगन्तव्य इत्यभिप्रायेण घटादेस्तत्र कल्पितत्वं सदृष्टान्तमाह—

यथा चेतन आभासः कूटस्थे भ्रान्तिकल्पितः ।
अचेतनो घटादिश्च तथा तत्रैव कल्पितः ॥४६॥

अन्वयः—यथा चेतनः आभासः कूटस्थे भ्रान्तिकल्पितः तथा अचेतनः घटादिश्च तत्र एव कल्पितः ।

'यथा चेतन इति' ॥४६॥

जब घटादि जड़ पदार्थों में भी आत्मा चैतन्य को मानोगे तो फिर चेतन अचेतन का भेद किस कारण से होगा ऐसी आशङ्काकर, चेतन और अचेतन का विभाग के प्रति विद्यमानता एवं अविद्यमानता-रूप कारण,का सद्भाव रहता है इस प्रकार की शंका मत करो इसका परिहार करते हैं—

चेतन और अचेतन का भेद कूटस्थ आत्मा का किया हुआ नहीं है। किन्तु कृत आभास चिदाभास का किया हुआ है। बुद्धि के अधीन चेतन का प्रतिबिम्ब ही उसके भेद का कारण है, इसको तुम जानो ॥४५॥

शंका—चेतन अचेतन का विभाग चिदाभास की सत्ता और असत्ता से मानोगे तो फिर अचेतनों में आत्मा की सत्ता का स्वीकार करना निष्प्रयोजन हो जायेगा इस शंका का उत्तर यह है—चेतन अचेतन के विभाग का हेतु कूटस्थ को न मानें तो भी चेतन की कल्पना का अधिष्ठान कूटस्थ मानना पड़ेगा इस अभिप्राय से कूटस्थ में घट आदिकों की कल्पना और दृष्टान्तों को कहते हैं अचेतनों में भी आत्मा की सत्ता को मानना निष्प्रयोजन नहीं है—

जैसे कूटस्थ में चेतन का आभास भ्रान्ति से कल्पित है उसी प्रकार अचेतन घट आदि भी उसी कूटस्थ में भ्रान्ति से कल्पित है ॥४६॥

स्वत्वात्मत्वयोरेकत्वेऽतिप्रसङ्गं शङ्कते—

तत्तेदन्ते अपि स्वत्वमिति त्वमहमादिषु ।
सर्वत्रानुगते तेन तयोरप्यात्मतेति चेत् ॥४७॥

अन्वय —तत्तेदन्ते अपि स्वत्वं इति त्वं अहमादिषु सर्वत्र अनुगते तेन तयोः अपि आत्मताइति चेत् ।

'तत्तेदन्ते अपीति' । त्वमहमादिषु सर्वत्रानुगस्य स्वत्वस्येव सर्वत्रानुग[1] तयोस्तत्तेदन्त[2] योरप्यात्मस्वरूपता किं न स्यादिति भावः ॥४७॥

तत्तेदन्तयोरात्मत्वाधिकवृत्तित्वादात्मत्वं न संभवतीत्याह—

ते आत्मत्वेऽप्यनुगते तत्तेदन्ते ततस्तयोः ।
आत्मत्वं नैव संभाव्यं सम्यक्त्वादेर्यथा तथा ॥४८॥

अन्वयः—तेआत्मत्वेऽपि अनुगते तत्ताइदंता ततः तयोः आत्मत्वं नैव सम्भाव्यं यथा सम्यक्त्वादेः तथा ।

'ते आत्मत्वेऽपीति' । तत्तेदन्ते स्वत्वमिव यद्यपि त्वमहमादिषु अनुगते तथापि तेष्वनुवर्तमाने आत्मत्वेऽप्यनुगते तदात्मत्वमिदमात्मत्वमित्यादि व्यवहारसंभवादतस्तयोरात्मत्वाधिकवृत्तित्वादात्मस्वरूपता न संभाव्यते । तत्र दृष्टान्तः 'सम्यक्त्वादेरिति' । 'आत्मत्वं सम्यक्, आत्मत्वमसम्यक्' इति व्यवहारवशादात्मत्वेऽप्यनुवर्तमानयोः सम्यक्त्वासम्यक्त्वयोरिवेत्यर्थः ॥४८॥

स्व और आत्मा को एक मानने में शंका करते हैं—

जैसे तुम "तू" अहम् (मैं) आदि में सर्वत्र रहने वाले स्वप्न (स्वत्व) आत्मा मानते हो "तत्ता" (वहपन) इदन्ता (यहपन) भी इसी प्रकार सर्वत्र अनुगत है, उसको भी आत्मा मानना पड़ेगा ॥४७॥

पूर्वोक्त शंका का उत्तर यह है कि तत्ता और इदन्ता को आत्मत्व से अधिक वृत्ति होने के कारण आत्मत्व नहीं हो सकता—

वे तत्ता और इदन्ता आत्मपन में अनुगत है, इसलिए उनकी आत्म स्वरूपता सम्भव नहीं है ॥४८॥

तत्ता और इदन्ता स्वत्व के समान त्वं, अहं आदि में अनुगत (वर्तमान) हैं । तथाऽपि वे दोनों जैसे त्वम्- अहम् आदि में अनुगत है, ऐसे ही आत्मत्व में भी अनुगत है । (तद् आत्मत्वं) वह आत्मता (इदं आत्मत्वं) यह आत्मत्व यह व्यवहार है ही अर्थात् तत्ता और इदन्ता आत्मता से अधिक देशवर्ती हैं, इसलिए वे आत्म स्वरूप नहीं हैं । इसमें दृष्टान्त देते हैं - जैसे यह आत्मा सम्यक् (श्रेष्ठ) है या यह असम्यक् (असमीचीन) है इत्यादि व्यवहार में आत्मत्व में भी वर्तमान असम्यकत्व अथवा सम्यकत्व की आत्मरूपता नहीं है वैसे ही इदन्ता और तत्ता की भी आत्म रूपता नहीं है ॥४८॥

विशेष १ —सदेवदत्तो गच्छति, सत्वं वीक्षस्व, सोऽहं न शक्नोति इत्येवं सर्वत्र अनुगतत्वम् ।

२ —यो यन्नूनातिरिक्तवृत्तिः स तत्स्वरूपो भवति, यथा स्वशब्द आत्मवाचकः तस्यान्यूनानतिरिक्तवृत्तित्वात् । तत्तेदन्तयोर्नात्मस्वरूपता, तयोरात्मनि आत्मत्वे च वृत्तित्वात् । वेदान्तमते जातिर्नास्ति, नैयायिक संमतां जातिं स्वीकृत्यैवेद मुक्तम् ।

एवं प्रासङ्गिकं परिसमाप्य, फलितदर्शनाय लोकव्यवहारसिद्धमर्थमनुवदति—

तत्तेदन्ते स्वतान्यत्वे त्वन्ताहन्ते परस्परम् ।
प्रतिद्वन्द्वितया लोके प्रसिद्धे नास्ति संशयः ॥४९॥

अन्वयः—तत्तेदन्ते स्वतान्यत्वे त्वन्ता हन्ते परस्परं प्रतिद्वन्द्वितया लोके प्रसिद्धे संशयः नास्ति।

'तत्तेदन्ते इति'। तत्ताप्रतियोगित्वमिदन्तायास्तदिदमिति स्वत्वप्रतियोगित्वमन्यत्वस्य स्वयमन्य इति त्वन्ताप्रतियोगित्वमहन्तायास्त्वमहमिति लोके प्रतिद्वन्द्वित्वेन प्रयोगदर्शनात् प्रसिद्धमिति भावः ॥४९॥

भवत्वेवं लोके, प्रकृते किमायातमित्यत आह—

अन्यतायाः प्रतिद्वन्द्वी स्वयं कूटस्थ इष्यताम् ।
त्वन्तायाः प्रतियोग्येषोऽहमित्यात्मनि कल्पितः ॥५०॥

अन्वयः—अन्यतायाः प्रतिद्वन्द्वी स्वयं कूटस्थः इष्यतां एषः त्वन्तायाः प्रतियोगी अहं इति आत्मनि कल्पितः।

'अन्यतायाइति'—अन्यत्वप्रतियोगी स्वयंशब्दार्थः त्वन्ताप्रतियोग्यहंशब्दार्थश्चिदाभासः कूटस्थे कल्पित इत्यर्थः ॥५०॥

अब प्रसंग की बात को समाप्त करके फलित दिखाने के लिए लोक प्रसिद्ध का अनुवाद करते हैं—

तत्ता का प्रतियोगी (प्रतिद्वन्द्वी) जैसे वह यह स्वयम् दूसरा तू मैं और स्वत्व के प्रतिद्वन्द्वी अन्यत्व जैसे स्वयम् अन्य है और त्वत्ता का प्रतिद्वन्द्वी अहंता का जैसे त्वं (तू) अहं (मैं) है इसी प्रकार जगत् की प्रतिद्वन्द्वी भाव से प्रयोग देखे जाते हैं अर्थात् इन दो-दो का मेल देखते हैं इसमें संशय नहीं है ॥४८॥

यदि कहो कि जगत् में यह प्रतिद्वन्द्वी प्रसिद्ध रहे प्रसंग में यहाँ क्या सिद्ध हुआ इस पर कहते हैं—

अन्य का प्रतिद्वन्द्वी (बराबरी का) दूसरा जो स्वयं है वह कूटस्थ है। और त्वन्ता का प्रतियोगी (प्रतिद्वन्द्वी) जो यह अहं शब्द का अर्थ जो चिदाभास है, वह चिदाभास कूठस्थ में कल्पित है यह तुम मानों कि स्वयं कूटस्थ है यह मैं हूँ ॥५०॥

ननूक्तप्रकारेण जीवकूटस्थयोर्भेदे सत्यपि सर्वे इत्थं किमिति न जानन्तीत्याशङ्क्याह—

अहन्तास्वत्वयोर्भेदे रूप्यतेदन्तयोरिव ।
स्पष्टेऽपि मोहमापन्ना एकत्वं प्रतिपेदिरे ॥५१॥

अन्वयः—अहन्तास्वत्वयोः भेदे इदन्तयोः इव रूप्यते स्पष्टेऽपि मोहमापन्नाः एकत्वं प्रतिपेदिरे ।

'अहन्तेति' । बुद्धिसाक्षिणः कूटस्थस्य बुद्ध्या प्रत्यक्षीकर्तुमशक्यत्वादह[१] मिति प्रतिभासमानयोः जीवकूटस्थयोर्भ्रान्त्यैकत्वं प्रतिपन्ना इत्यर्थः ॥५१॥

नन्वस्य जीवकूटस्थयोरेकत्वभ्रमस्य किं कारणमित्यपेक्षायामाह—

तादात्म्याध्यास एवात्र पूर्वोक्ताविद्यया कृतः ।
अविद्यायां निवृत्तायां तत्कार्यं विनिवर्तते ॥५२॥

अन्वयः—अत्र पूर्वोक्ताविद्याकृतः एव तादात्म्याध्यासः अविद्यायां निवृत्तायां तत् कार्यं विनिवर्तते ।

'तादात्म्येति' । अत्रास्मिन् ग्रन्थे 'अनादिरविवेकोऽयम्' (प्र० ६।२५) इत्यत्रोक्तयाऽविद्ययेत्यर्थः यतोऽविद्याकार्यत्वमस्यातोऽविद्यानिवर्तकज्ञानेनैव तन्निवृत्तिरित्याह—'अविद्यायामिति' ॥५२॥

यदि कहो कि पूर्वोक्त प्रकार से जीव और कूटस्थ का भेद होने पर भी सबको इस प्रकार ज्ञान क्यों नहीं होता, इसका उत्तर कहते हैं—

रूप्यता और इदन्ता की तरह अहंता और स्वयंता में भेद स्पष्ट है, फिर भी भ्रान्ति में पड़े जीव उनको एक समझते हैं ॥५१॥

बुद्धि का साक्षी कूटस्थ बुद्धि से प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता, इसलिए (अहम्) मैं रूप वृत्ति में भासमान जो दोनों जीव, और कूटस्थ हैं, उनकी भ्रान्ति से प्रतीत होती हैं ॥५१॥

अब जीव और कूटस्थ को एक मानने के भ्रम में जो कारण अविद्या उसको कहते हैं—

जो तादात्म्य (एकता का) अध्यास जीव कूटस्थ की एकता का भ्रम इस प्रकरण के २५वें श्लोक में वर्णित अविद्या का किया हुआ है । अतएव अविद्या के निवृत्त हो जाने पर तत्त्व ज्ञान से उसका कार्य अध्यास[२] भ्रम भी तो नष्ट हो जाता है ॥५२॥

विशेष १ —अहं मैं इस वृत्ति में एक काल में ही चिदाभास और कूटस्थ दोनों का भान, परन्तु भेद इतना है कि चिदाभास तो कूटस्थ के विषय रूप में प्रतीत होता है और कूटस्थ आत्मा अहं वृत्ति सहित चिदाभास को प्रकाशित करता हुआ स्वयंप्रकाशता से प्रतीत होता है । एक समय ही भान द्वै, साक्षी अरु आभास । दूजो चेतन को विषय, साक्षी स्वयं प्रकाश ।

२—जीव और कूटस्थ की एकता के भ्रम को तादात्म्याध्यास कहते हैं ।

नन्वध्यासस्याविद्याकार्यत्वात्तन्निवृत्त्या निवृत्तिरित्येतदनुपपन्नं, ब्रह्मात्मैकत्वविद्यायामुत्पन्नायामप्यविद्याकार्यस्य देहादेरुपलभ्यमानत्वादित्यत आह—

अविद्यावृतितादात्म्ये विद्ययैव विनश्यतः ।

विक्षेपस्य स्वरूपं तु प्रारब्धक्षयमीक्षते ॥५३॥

अन्वयः—अविद्यावृतितादात्म्ये विद्यया एव विनश्यतः विक्षेपस्य स्वरूपं तु प्रारब्धक्षयं ईक्षते ।

'अविद्यावृतीति' अविद्यैककारणयोरावृतितादात्म्ययोर्विद्ययैव विनिवृत्तिः कर्मसहिताविद्याजन्यस्य तु विक्षेपस्वरूपस्य कर्मावसानपर्यन्तमवस्थानमित्यविरोध इति भावः ॥५३॥

यदि कहो कि अविद्या का कार्य होने के कारण जो अध्यास अविद्या की निवृत्ति से हट जाता है यह सिद्ध नहीं होता, क्योंकि ब्रह्म और आत्मा की एकता रूप ज्ञान के उत्पन्न होने पर भी अविद्या के कार्य देह आदि प्रतीत होते हैं, इस शंका का समाधान करते हैं —

एक अविद्या ही है कारण जिसका ऐसे आवरण और तादात्म्य (जीव कूटस्थ की एकता का भ्रम) ये दोनों तो अविद्या के कार्य होने के कारण विद्या से ही नष्ट हो जाते हैं और कर्म सहित अविद्या से पैदा हुआ जो विक्षेप[1] जो संसार उसका स्वरूप तो प्रारब्ध के क्षय को देखता है । अर्थात् देह आदि संसार अपने प्रारब्ध कर्म तक रहता है ॥५३॥

विशेष १—स्थूल सूक्ष्म शरीर सहित चिदाभास को विक्षेप कहते हैं । यही अविद्या लेश है, ब्रह्मात्मत्वं सान्तरायं पुरस्तात् बोधोत्पत्तौ ध्वस्तमोहान्तरायम् । यद्ययेवं द्वैतलेशानुवृत्तेः प्रत्यक्षत्वात् मोहलेशोऽभ्युपेयः । (संक्षेप शा० ४।४८) पहले (ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व) ब्रह्मात्मत्व सान्तराय, अविद्या तत् कार्य अध्याससे व्यवहित था और ज्ञान की उत्पत्ति हो जाने पर उसकी मोहरूपी अन्तराय ध्वस्त हो जाता है । यद्यपि ऐसा (मोह सर्वथा ध्वस्त हो गया) है तथापि द्वैताभास की अनुवृत्ति प्रत्यक्ष होने से अविद्या लेश मानी जाती है ।

ननु प्रारब्धकर्मणो निमित्तमात्रत्वात्तत्सद्भावमात्रेणोपादाने विनष्टेऽपि कथं कार्यानुवृत्तिरित्याशङ्क्य, शास्त्रान्तर सिद्धदृष्टान्तेन तदनुवृत्ति संभावयति –

उपादाने विनष्टेऽपि क्षणं कार्यं प्रतीक्षते ।
इत्याहुस्तार्किकास्तद्वदस्माकं किं न संभवेत् ॥५४॥

अन्वयः –उपादाने विनष्टेऽपि क्षणं कार्यं प्रतीक्षते इति तार्किका आहुः तद्वत् अस्माकं किं न सम्भवेत् ।

'उपादान इति' ॥५४॥

ननु तार्किकै कार्यस्य क्षणमात्रमवस्थानमङ्गीकृतं, न चिरकालमित्याशङ्क्याह—

तन्तूनां दिनसंख्यानां तैस्तादृक् क्षण ईरितः ।
भ्रमस्यासंख्यकल्पस्य योग्यः क्षण इहेष्यताम् ॥५५॥

अन्वयः - तन्तूनां दिनसंख्यानां तैः तादृक् क्षण ईरितः असंख्यकल्पस्य भ्रमस्य इह योग्यः क्षणः ईष्यताम् ।

'तन्तूनामिति' । संसारस्यानादिकालमारभ्यानुवृत्तत्वात्तत्संस्कारवशेन कुलालचक्रभ्रमवच्चिरकालानुवृत्तिर्न विरुध्यत इति भावः ॥५५॥

शंका प्रारब्ध कर्म तो निमित्त मात्र है, वे चाहे बनें रहें, उपादान कारण अविद्या है अविद्या के नष्ट हो जाने पर भी कार्य रूप देह और विक्षेप कैसे बना रहता है इसका उत्तर अन्य शास्त्र वाले नैयायिक जैसा यह कहते हैं, प्रसिद्ध दृष्टान्त से कहते हैं—

उपादान कारण की निवृत्ति होने पर भी क्षण मात्र कार्य की अनुवृत्ति (स्थिति) देखते हैं, अर्थात् क्षण भर कार्य बना रहता है इसी प्रकार हमारे सिद्धान्त में भी देह आदि विक्षेप बना रहना संभव क्यों नहीं है ॥५४॥

नैयायिक कार्य की स्थिति क्षणमात्र मानते हैं चिरकाल तक नहीं, तब फिर तुम विक्षेप को चिरकाल स्थायी कैसे मानते हो इसका उत्तर देते हैं—

उन नैयायिकों ने जैसे दिनों में गिने योग्य तन्तुओं का क्षण वैसा ही (छोटा सा) क्षण मान लिया है । वैसे यहाँ भी असंख्य कल्पों की आयु वाले भ्रम के योग्य क्षण (उसी अनुपात में लम्बा) मानना चाहिए संसार तो अनादि काल से चला आ रहा है, संस्कारवश वह भ्रम रूप संसार अविद्या रूप उपादान के नष्ट हो जाने पर भी चिरकाल अर्थात् प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति तक वैसे बना रहता है, जैसे कि कुलाल चक्र एक बार घुमाकर छोड़ देने पर भी देर तक घूमता रहता है ॥५५॥

ननु तार्किकैर्यथाऽयुक्तमभिहितं तद्वद्भवतापीत्याशङ्क्य, स्वोक्तौ ततो वैषम्यं दर्शयति—

विना क्षोदक्षमं मानं तैर्वृथा परिकल्प्यते ।
श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यो वदतां किं नु दुःशकम् ॥५६॥

अन्वयः—विना क्षोदक्षमं मानं तैः वृथा परिकल्प्यते श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यः वदतां दुःशकं नु किं ।

'विनेति'। क्षोदक्षमं विचारसहं मानं विना, प्रमाणमन्तरेणेत्यर्थः। तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथसंपत्स्ये (छा० ६।१४।२) इति श्रुतिः, चक्रभ्रमादिदृष्टान्तो युक्तिः अनुभूतिर्विद्वदनुभवः एतेभ्यः प्रमाणेभ्यः किं वक्तुमशक्यमित्याभिप्रायः ॥५६॥

प्रकृतमनुसरति—

आस्तां दुस्तार्किकैः साकं विवादः प्रकृतं ब्रुवे ।
स्वाहमोः सिद्धमेकत्वं कूटस्थपरिणामिनोः ॥५७॥

अन्वयः—दुस्तार्किकैः साकं विवादः आस्तां प्रकृतं ब्रुवे, स्वाहमोः कूटस्थपरिणामिनोः एकत्व (भ्रान्त्या) सिद्धम् ।

'आस्तामिति'। स्वयमहं शब्दार्थयोः[1] कूटस्थपरिणामिनोरेकत्वं भ्रान्त्या सिद्धम् ॥५७॥

नैयायिकों की तरह तुम्हारा कथन भी अयुक्त है। इस शंका का उत्तर हमारे कथन नैयायिकों के कथन में भेद दिखाते हैं—

तार्किक विचार सहित प्रमाण के विना वृथा कल्पना करते हैं श्रुति युक्ति अनुभव सहित कहने वाले हमारे मत में क्या कठिनाई है ॥५६॥

विचार करने पर भी बने रहने वाले प्रमाणान्त के बिना ज्ञानी को मोक्ष में इतनी ही देरी है कि जब तक देहपात नहीं होता, देहपात होते ही ज्ञानी मुक्त हो जाता है यह श्रुति का प्रमाण है, कुलाल चक्र का भ्रमण वेदान्त के सिद्धान्त में युक्तिः और विद्वानों का अनुभव है ही इतने प्रमाणों के रहते प्रारब्ध कर्म की समाप्ति तक विक्षेप का बना रहना हमारे मत में सिद्ध करना कठिन नहीं है ॥५६॥

अब पुनः प्रसंग पर आते हैं—

दुष्ट जो तर्क उसके कर्ता तार्किकों के संग विवाद रहे अब प्रकरण की बात को ही करता हूँ। स्व का अर्थ जो कूटस्थ निर्विकार साक्षी और अहम् का अर्थ परिणामी, विकारी चिदाभास है इन दोनों की एकता भ्रान्ति (अज्ञान) से सिद्ध हो गयी ॥५७॥

विशेष १– कूटस्थ चिदाभास ।

ननु कूटस्थजीवयोरेकत्वं भ्रान्तिसिद्धं चेदिदं भ्रान्तमिति केऽपि कुतो न जानन्तीत्याशङ्क्य, श्रुतितात्पर्यपर्यालोचन शून्यत्वादित्याह –

भ्राम्यन्ते पण्डितंमन्याः सर्वे लौकिकतैर्थिकाः ।
अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यात्केवलां युक्तिमाश्रिताः ॥५८॥

अन्वयः - श्रुतिं अनादृत्य केवलां युक्ति आश्रिताः लौकिकतैर्थिकाः सर्वे पण्डितंमन्याः मौर्ख्यात् भ्राम्यन्ते ।

'भ्राम्यन्ते इति' ॥५८॥

ननु श्रुत्यर्थप्रवक्तारोऽपि केचिदित्थं कुतो न जानन्तीत्याशङ्क्य, तेषां साकल्ये श्रुत्यर्थपर्यालोचनाभावादित्याह –

पूर्वापरपरामर्शविकलास्तत्र केचन ।
वाक्याभासान्स्वस्वपक्षे योजयन्त्यप्यलज्जया ॥५९॥

अन्वयः तत्र केचनपूर्वापरपरामर्श विकलाः अलज्जया वाक्याभासान् अपि स्वस्वपक्षे योजयन्ति ।

'पूर्वापरेति' ॥५९॥

शंका कूटस्थ और जीव की एकता भ्रान्ति से सिद्ध है। तो यह भ्रान्ति है। इसको कोई भी व्यक्ति क्यों नहीं जानते ? ऐसी शंका कर उत्तर में कहते हैं कि श्रुति के अभिप्राय पर्यालोचन होने के कारण नहीं जान सकते हैं —

पण्डित न होते हुए भी अपने आपको पण्डित समझने वाले अज्ञानी नैयायिक आदि शास्त्रवेत्ता जन (सब अपनी) मूर्खता से श्रुति का आदर न कर केवल तर्क के ही बल से जो कूटस्थ और जीव की एकता भ्रान्तिसिद्ध हैं और वे दोनों को एक समान मान बैठे हैं ॥५८॥

यदि कहो कि श्रुतियों के वक्ता भी कोई-कोई ऐसे इस प्रकार क्यों नहीं जानते इस शंका का उत्तर यह है कि उन लोगों को भी पूर्ण रूप से श्रुति के अर्थ का अवबोध पर्यालोचनपूर्वक नहीं है, इसलिए वे लोग अच्छी तरह नहीं जानते –

पूर्व और अपर के विचार करने में असमर्थ कुछ (श्रुत्यर्थ को थोड़ा जानने वाले) पुरुष निर्लज्ज होकर अपने-अपने पक्ष (मत) में वाक्याभासों[1] को भी लगा लिया करते है ॥५९॥

विशेष १ —वाक्य के आभास को पूर्वापर जो विरोध से अन्य अर्थ में तात्पर्य वाले जो वाक्य हैं, वह वाक्याभास कहलाते हैं ।

तत्र तावत्प्रत्यक्षैकप्रमाणाभ्युपगमेनातिस्थूलत्वाल्लोकायतादिपक्षं प्रथमतोऽनुभाषते—

कूटस्थादिशरीरान्तसंघातस्यात्मतां जगुः ।
लोकायताः पामराश्च प्रत्यक्षाभासमाश्रिताः ॥६०॥

अन्वयः—लोकायताः पामराः च प्रत्यक्षाभासं आश्रिताः कूटस्थादिशरीरान्तसंघातस्य आत्मतां जगुः ।

'कूटस्थादीति'। प्रत्यक्षसिद्धत्वेन देहादेरात्मत्वं पारमार्थिकं स्यादित्याशङ्क्योक्तं प्रत्यक्षाभासमिति' ॥६०॥

ते प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनोऽपि परव्यामोहनाय स्वमतं श्रुतिसिद्धमिति दर्शयितुं वाक्यमभ्युदाहरन्तीत्याह—

श्रौतीकर्तुं स्वपक्षं ते कोशमन्नमयं तथा ।
विरोचनस्य सिद्धान्तं प्रमाणं प्रतिजज्ञिरे ॥६१॥

ते स्वपक्षं श्रौतीकर्तुं अन्नमयं कोशं तथा विरोचनस्य सिद्धान्तं प्रमाणं प्रतिजज्ञिरे ।

'श्रौतीकर्तुमिति'। कोशमन्नमयमिति शब्देन अन्नमयकोशप्रतिपादकं 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः (तैत्ति० २।१।१) इत्यादि वाक्यं लक्ष्यते। विरोचनस्य सिद्धान्तमिति तत्सिद्धान्तप्रतिपादकं 'आत्मैव देहमयः' इत्यादिवाक्यं लक्ष्यते। एतद्वाक्यद्वयं प्रमाणत्वेन प्रतिजानन्त एव, न तूपपादयितुं क्षमाः, प्रकरणविरोधादिति भावः ॥६१॥

अब केवल मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण मानने वाले स्थूल बुद्धि जो लोकायत (नास्तिक) और पामर उनके पक्ष को प्रथम कहते हैं—

(चार्वाक के अनुयायी) लोकायत तथा पामर (महामूर्ख) लोग (मनुष्य) प्रत्यक्ष नहीं अपितु प्रत्यक्षाभास का आश्रय लेकर कूटस्थ से लेकर शरीर पर्यन्त का जो यह संघात (जमघट्ट) इसी को आत्मा कहते हैं ॥६०॥

और वे प्रत्यक्ष प्रमाण के वादी भी अन्यों के मोहनार्थ अपने मत को श्रुति सिद्ध करने के लिए इस वाक्य को कहते हैं—

वे अपने पक्ष को श्रुति सिद्ध करने के लिए अन्नमय कोश से यहाँ उसके प्रतिपादक वह यही पुरुष (ईश्वर) है जो अन्न रस मय (देह) है इस श्रुति के वाक्य को कहते हैं, प्रह्लाद पुत्र विरोचन का जो यह सिद्धान्त है कि (आत्मा ही देहमय है) इसको ही प्रमाण मानते हैं। वे लोग इन दो वाक्यों को प्रमाण की प्रतिज्ञा मात्र करते हैं और अपने पक्ष का कथन नहीं कर सकते प्रसंग के विरोध के कारण ॥६१॥

अस्मिन्मते दोषदर्शनपुरःसरं मतान्तरमुत्थापयति—

जीवात्मनिर्गमे देहमरणस्यात्र दर्शनात् ।
देहातिरिक्त एवात्मेत्याहुर्लोकायताः परे ।।६२।।

अन्वयः -अत्र जीवात्मनिर्गमे देहमरणस्य दर्शनात् देहातिरिक्तः एव आत्मा इति परे लोकायताः आहुः ।

'जीवात्मेति' ।।६२।।

कीदृशो देहातिरिक्त आत्मा, येन वा प्रमाणेनावगम्यत इत्याशङ्कायामाह—

प्रत्यक्षत्वेनाभिमताहंधीर्देहातिरेकिणम् ।
गमयेदिन्द्रियात्मानं वच्मीत्यादिप्रयोगतः ।।६३।।

अन्वयः -देहातिरेकिणं अहं धीः प्रत्यक्षत्वेनाभिमताः वच्मि इत्यादिप्रयोगत इन्द्रियात्मानं गमयेत् ।

'प्रत्यक्षत्वेनेति' । 'अहं वच्मि' 'अहं पश्यामि' इत्यादि प्रयोगदर्शनात् देहातिरिक्ताहंबुद्धिगम्यानीन्द्रियाण्यात्मेत्यर्थः ।।६३।।

अब इस मत (पक्ष) में दोष दिखाकर अन्यमत इन्द्रियात्मवादी को कहते हैं—

इन्द्रियात्मवादी कुछ दूसरे लोकायत जीव रूप आत्मा के निकल जाने पर देह का मरण जगत् में देखते हैं इसलिए देह से भिन्न ही आत्मा है ।।६२।।

अब देह से भिन्न कैसा आत्मा है और किस प्रमाण से जाना जाता है यह दिखाते हैं—

मैं कहता हूँ, मैं देखता हूँ इत्यादि प्रयोगों से प्रतीत होता है कि प्रत्यक्ष मानी हुई यह अहंबुद्धि देह से भिन्न (अहं बुद्धि से गम्य) इन्द्रियों को आत्मा बता रही है ।।६३।।

नन्विन्द्रियाणामचेतनानां कथमात्मत्वमित्याशङ्क्य, श्रुतिष्विन्द्रियसंवादश्रवणादचेतनत्वमसिद्ध-मित्याह—

वागादीनामिन्द्रियाणां कलहः श्रुतिषु श्रुतः ।
तेन चैतन्यमेतेषामात्मत्त्वं तत एव हि ॥६४॥

अन्वय :—श्रुतिषु वागादीनां इन्द्रियाणां कलहः श्रुतः तेन एतेषां चैतन्यं तत एव हि आत्मत्वं (सिद्धम्) ।

'वागादीनामिति' । चेतनत्वस्यैवात्मलक्षणत्वात् चेतनानामिन्द्रियाणां आत्मत्वमुचितमित्याह— 'आत्मत्वमिति' ॥६४॥

मतान्तरमुत्थापयितमाह—

हैरण्यगर्भाः प्राणात्मवादिनस्त्वेवमूचिरे ।
चक्षुराद्यक्षलोपेऽपि प्राणसत्त्वे तु जीवति ॥६५॥

अन्वय : प्राणात्मवादिनः हैरण्यगर्भाः तु एवं ऊचिरे चक्षुरादिअक्षलोपेऽपि प्राणसत्त्वे तु जीवति ।

"हैरण्यगर्भा इति' ॥६५॥

यदि शंका हो कि अचेतन इन्द्रियों को आत्मत्व कैसे होगा, इसका उत्तर श्रुतियों में इन्द्रियों का संवाद श्रवण करने से ज्ञात होता है कि इनका अचेतनत्व असिद्ध है इस पर कहते हैं—

वाक् आदि इन्द्रियों का कलह श्रुतियों में सुना है इससे वे इन्द्रियाँ चेतन हैं और चेतन होने से ही आत्म रूप हैं, क्योंकि यह मत उनका है जो इन्द्रियों को आत्मा मानते हैं ॥६४॥

अब दूसरे के सिद्धान्त का उत्थापन करने के लिए कहते हैं—

समष्टि प्राण रूप हिरण्यगर्भ के उपासक जो प्राण को आत्मा मानते हैं नेत्र आदि इन्द्रियों के नष्ट होने पर भी प्राणों की सत्ता से रहने तक पुरुष जीवित रहता है, इसलिए प्राण आत्मा है, इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हैं ॥६५॥

प्राणस्यात्मत्वे श्रौतलिङ्गानीति दर्शयति—

प्राणो जागर्ति सुप्तेऽपि प्राणश्रैष्ठ्यादिकं श्रुतम् ।
कोशः प्राणमयः सम्यग्विस्तरेण प्रपञ्चितः ॥६६॥

अन्वय :—प्राणः सुप्तेऽपि जागर्ति प्राणश्रैष्ठ्यादिकं श्रुतं प्राणमयः कोशः विस्तरेण सम्यक् प्रपञ्चितः ।

'प्राण इति'। 'प्राणादय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति' (प्रश्नो० ४।३) इत्यादिना प्राणजागरणं श्रूयते 'तत्प्राणे प्रपन्न उदतिष्ठत्तदुक्थमभवत्तदेतदुक्थम्' इति प्राणस्य श्रैष्ठ्यादिकं श्रूयते। 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' (तैत्ति० २।२ इत्यादिना प्राणमयः। कोश प्रपञ्चितः । 'आदि' शब्देन प्राणसंवादप्रवेशादिकं ग्राह्यम् ॥६६॥

प्राणादप्यान्तरस्य मनसः आत्मत्ववादिनो मतं दर्शयति—

मन आत्मेति मन्यन्त उपासनपरा जनाः ।
प्राणस्याभोक्तृता स्पष्टा भोक्तृत्वं मनसस्ततः ॥६७॥

अन्वय :—उपासनपराः जनाः मनः आत्मा इति मन्यन्ते प्राणस्य अभोक्तृता स्पष्टा ततः मनसः भोक्तृत्वं (सिद्धम्)

मन आत्मेतीति'। प्राणस्यानात्मत्वे युक्तिमाह— 'प्राणस्येति' ॥६७॥

अब प्राण को आत्मा मानने में श्रुति के प्रमाण देते हैं —

(सुषुप्ति काल में) इस शरीररूप पुर में प्राणाग्नि जागते हैं और के आश्रय से उठता है इससे प्राण की ही श्रेष्ठता है और अन्य अन्तर (भीतर) प्राणमय आत्मा है, इत्यादि से प्राणमय कोश का विस्तार से वर्णन किया है, और प्राण का सम्वाद प्रवेश आदि भी देखते हैं इसलिए प्राण ही आत्मा है ॥६६॥

अब प्राण से भी अन्तर (भीतर) मन की आत्मता नारदपञ्चरात्र मत को दिखाते हैं—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
श्रुतौ मनोमयः कोशस्तेनात्मेतीरितं मनः ॥६८॥

मनस आत्मत्वे युक्तिप्रतिपादिकां श्रुतिमाह—

अन्वय :—मनुष्याणां बन्धमोक्षयोः कारणं मनः एव मनोमयः कोशः श्रुतः तेन आत्मा इति मनः इरितं ।

'मन एवेति'। 'तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' (तैत्ति० २।२) इति श्रुत्यन्तरं दर्शयति—'श्रुत इति'। फलितमाह—'तेनेति' ॥६८॥

और उपासना करते हुए जन यह कहते हैं प्राण भोक्ता[1] नहीं है यह बात स्पष्ट है इससे सुख, दुःख का भोक्ता मन ही हो सकता है और यही आत्मा है ॥६७॥

अब मन को आत्मा मानने में युक्ति की बोधक श्रुति को कहते हैं कि—मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण मन ही है उस प्राणमय कोश से दूसरा इसके भीतर रहने वाला आत्मा मनोमय है। इस श्रुति में मनोमय कोश का भी वर्णन आता है इसलिए मन को ही आत्मा कहा गया है ॥६८॥

विशेष १—(१) प्राण आत्मा नहीं है—प्राण वायु है जैसे बाह्य वायु आत्मा नहीं है वैसे ही यह वायु प्राण भी आत्मा नहीं है। (२) प्राण के अदर्शन से मृत्यु का होना नियम नहीं है, स्थावर वृक्ष आदि में प्राण न दिखायी देने पर भी मृत्यु नहीं होती जंगम मनुष्यादि में भी मूर्च्छादि के समय प्राण न दिखायी देने पर भी मृत्यु नहीं होती इसलिए प्राण आत्मा नही है। (३) सुषुप्ति के समय प्राण जागता है तो भी यदि कोई शरीर के भूषणादि को ले जावे तो हटाता नहीं, सम्बन्धी आये तो उनका सत्कार नहीं करता इसलिए प्राण जड़ है। जड़ होने से वह प्राण आत्मा नहीं है। (४) प्राण के निकलने से देह की मृत्यु होना हेतु प्राण के आत्मा होने का साधक नहीं है- जठराग्नि के निकलने से भी मृत्यु हो जाती है। (५) श्रुति में प्राण की श्रेष्ठता आदि के प्रतिपादक जो वाक्य कहे हैं वे प्राण की उपासना में प्रवृत्ति के प्रयोजक मात्र हैं और प्राणमय कोश की आत्मता के प्रतिपादक वचनों का तो मनोमय कोश की आत्मता के प्रतिपादक वचनों से बाध है अतएव उन श्रुति वाक्यों का तात्पर्य तो स्थूलारुन्धतिन्याय से अधिष्ठान प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म को बतलाना ही है। (६) इन्द्रिय प्राण संवाद और शरीर में प्राण के प्रवेश का वर्णन भी वायु के अभिमानी देवता का ही समझना चाहिए भूख से मेरे प्राण निकल जायेंगे या भोजन से मेरे प्राण सन्तुष्ट हो गये, आदि वाक्यो से स्पष्ट है कि प्राण ममता के विषय हैं--अतएव वे अहं प्रतीति के विषय नहीं हो सकते। (७) फिर अपने प्राण का गमनागमन अपने आप अनुभव होता है, अतएव प्राण को जानने वाला आत्मा स्वयं प्राण से भिन्न ही है। अतएव प्राण की आत्मता असंगत है।

मनसोऽप्यान्तरस्य विज्ञानस्य आत्मत्ववादिनो बौद्धस्य मतं दर्शयति—

विज्ञानमात्मेति पर आहुः क्षणिकवादिनः ।
यतो विज्ञानमूलत्वं मनसो गम्यते स्फुटम् ।।६९।।

अन्वय :— परे क्षणिकवादिनः विज्ञानं आत्मा इति आहुः यतः मनसः विज्ञानमूलत्वं स्फुटं गम्यते ।

'विज्ञानमिति' । विज्ञानस्यान्तरत्वे युक्तिमाह —'यत इति' ।।६९।।

अब मन से भी भीतर विज्ञानमय कोश को आत्मा मानने वाले बौद्ध के मत को कहते हैं —

दूसरे क्षणिक वादी बौद्ध लोग बुद्ध के शिष्य यो· ाचार नामक) क्षणिक विज्ञान रूप बुद्धि विज्ञान को ही आत्मा कहते हैं । क्योंकि मन[1] का विज्ञान मूलक होना स्पष्ट ही है ।।६९।।

विशेष १—मन आत्मा नहीं है (१) यह मन वसूले आदि की तरह करण अर्थात् साधन है (२) मन के होने से ही चेतना का होना आवश्यक नहीं है क्योंकि सुषुप्ति आदि के समय भी सामान्य चेतना रहती है अतएव मन जड़ है (३) पहले मेरा मन किसी दूसरे स्थान पर गया था, अब मेरा मन स्थिर है इस प्रकार मन ममता का विषय है, अहं प्रतीति का विषय नहीं, अतएव मन की स्थिरता अथवा अस्थिरता को जानने वाला आत्मा से भिन्न है । (४) मन स्वतन्त्र रूप से भोक्ता नहीं है, चेतनाभास विशिष्ट होने से ही वह भोक्ता है-अतएव भोक्ता होने के कारण उसको आत्मा मानो ऐसा कहना ठीक नहीं, (५) मनुष्यों के बन्ध मोक्ष का कारण बताने वाली श्रुति यह बताती है कि ज्ञान प्राप्ति हो जाने से मन का बाध होने पर मोक्ष और विषय वासनाओं के कारण भूत मोक्ष साधनों का प्रतिबन्ध होने से अध्यास होने पर बन्ध होता है । यह श्रुति मन को आत्मा नहीं बताती । अतएव यह श्रुति मन की आत्मता में प्रमाण नहीं है अपितु बन्ध के साधनों से निवृत्ति और मोक्ष साधन में प्रवृत्ति की बोधक है मनोमय कोश को आत्मा कहने का निराकरण गत पृष्ठ के टिप्पणी में कर चुके हैं अतएव मन की आत्मता असंगत है ।

'विज्ञानमनः' शब्दवाच्यस्यान्तःकरणस्यैकत्वात् कथं मनोविज्ञानयोः कार्यकारणभाव इत्याशङ्क्य, तमुपपादयितुं तयोर्भेदं तावद्दर्शयति—

अहंवृत्तिरिदंवृत्तिरित्यन्तःकरणं द्विधा ।

विज्ञानं स्यादहंवृत्तिरिदंवृत्तिर्मनो भवेत् ॥७०॥

अन्वयः—अहंवृत्तिः इदंवृत्तिः इति अन्तःकरणं द्विधा विज्ञानं अहंवृत्तिः स्यात् मनः इदं वृत्तिः भवेत् ।

'अहंवृत्तिरिति' ॥७०॥

तयोः कार्यकारणभावमाह—

अहंप्रत्ययबीजत्वमिदंवृत्तेरिति स्फुटम् ।

अविदित्वा स्वमात्मानं बाह्यं वेत्ति न तु क्वचित् ॥७१॥

अन्वयः– अहंप्रत्ययबीजत्वं इदंवृत्तः इति स्फुटं स्वं आत्मानं अविदित्वा बाह्यं क्वचित् तु न वेत्ति ।

'अहं प्रत्ययबीजत्वमिति' तदेवोपपादयति—'अविदित्वेति' .अहंवृत्त्युदयाभावे इदंवृत्त्यनुदयादनयोः कार्यकारणभाव इत्यर्थः ॥७१॥

अब विज्ञान और मन का वाच्य अन्तःकरण एक ही है, अतएव मन और विज्ञान का क्रमशः कार्य और कारण कैसे हो सकते हैं, यह शंका करके उनका भेद कहने के लिए रीति को बताते हैं—

अहंवृत्ति और इदंवृत्ति नाम अन्तःकरण के दो भेद हैं। अहंवृत्ति को विज्ञान और इदंवृत्ति को मन कहते हैं। मन और विज्ञान अन्तःकरण नाम से एक होने पर भी वृत्ति भेद से भिन्न-भिन्न है ॥७०॥

अब अहंप्रतीति और इदंप्रतीति विज्ञान मन का कार्य कारण भाव कहते हैं—

इदं (यह है) प्रतीति का बीज (कारण) अहं प्रतीति है। क्योंकि अपनी आत्मा के बिना जाने कदाचित् भी बाह्य विषयों को नहीं जान सकता अर्थात् अहंवृत्ति के पैदा हुए बिना इदंवृत्ति पैदा नहीं हो सकती, इसलिए इन दोनों का कार्य कारण भाव है ॥७१॥

तस्य विज्ञानस्य क्षणिकत्वेऽनुभवं प्रमाणयति—

क्षणे क्षणे जन्मनाशावहंवृत्तेर्मितौ यतः ।
विज्ञानं क्षणिकं तेन स्वप्रकाशं स्वतो मितेः ॥७२॥

अन्वयः - यतः अहंवृत्तेः क्षणे-क्षणे जन्मनाशौ मितौ तेन विज्ञानं क्षणिकं स्वतो मितेः स्वप्रकाशम् ।

'क्षण इति' । क्षणिकत्वमुपपाद्य, स्वप्रकाशत्वमुपपादयति - 'स्वप्रकाशमिति' । स्वेनैव प्रमितत्वादित्यर्थः[1] ॥७२॥

विज्ञानस्यात्मत्वे आगमः प्रमाणमित्याह—

विज्ञानमयकोशोऽयं जीव इत्यागमा जगुः ।
सर्वसंसार एतस्य जन्मनाशसुखादिकः ॥७३॥

अन्वयः—आगमाः विज्ञानमयकोशः अहं जीवः इति जगुः सर्वसंसारः एतस्य जन्मनाश सुखादिकः ।

'विज्ञानमयेति' । 'तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' (तैत्ति० २।२) 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (तैत्ति० २।५।१) इत्यादिवाक्यं विज्ञानस्यात्मत्वप्रतिपादकमिति भावः ॥७३॥

अब विज्ञान क्षणिक (अनित्य) है इसमें अनुभव प्रमाण बताते हैं -

इस अहंवृत्ति का जन्म और विनाश क्षण-क्षण में होते जाते हैं । (यह अहंवृत्ति कभी पैदा होती है और क्षण-क्षण में रहकर फिर मर जाती है) इसलिए अनुभव से विज्ञान क्षणिक सिद्ध हो जाता है और अपने से ही प्रमित होने के कारण यह विज्ञान स्वप्रकाश भी है यह ज्ञान स्वयं अपने आपको जानता है इसलिए स्वयं प्रकाश है ॥७२॥

क्षणिक विज्ञावादी योगाचार विज्ञान को आत्मरूप होने में वेद का प्रमाण देते हैं—

विज्ञानमयकोश यह जीव है, जन्म नाश तथा सुखादि नामक सारा संसार इस विज्ञानमय कहलाने वाला जीव का ही है यह शास्त्रों में बताया है । उस इस आत्मा से अन्य अन्तरात्मा है जो विज्ञानमय है विज्ञान ही यज्ञ का विस्तार करता है ये दो वाक्य विज्ञानमय की आत्मता का प्रतिपादक हैं ॥७३॥

विशेष १—विज्ञानं स्वप्रकाशम् भवितुमर्हति, प्रमाविषयत्वात् इति ।

बौद्धावान्तरभेदस्य शून्यवादिनो मतं दर्शयति —

विज्ञानं[1] क्षणिकं नात्मा विद्युदभ्रनिमेषवत् ।

अन्यस्यानुपलब्धत्वाच्छून्यं माध्यमिका जगुः ॥७४॥

अन्वयः विज्ञानं क्षणिकं आत्मा न विद्युदभ्रनिमेषवत् अन्यस्य अनुपलब्धत्वात् माध्यमिकः शून्यं जगुः ।

"विज्ञानमिति' ॥७४॥

उक्त मत में दोष दिखाते हुए बौद्धों के अवान्तर भेद माध्यमिक शून्यवादी का मत दर्शाते हैं—

बिजली, बादल और आँखों की निमेष इः के समान क्षणिक (क्षण भर में नष्ट हो जाने वाला) विज्ञान आत्मा नहीं है । तथा इसके अतिरिक्त और कुछ न दीखने से शून्य ही माध्यमिक (आत्मा) कहते हैं ॥७४॥

विशेष १—क्षणिक विज्ञानवादी का मत और उसकी असंगति क्षणिक विज्ञानवादी योगाचार बुद्धि को आत्मा मानते हैं, उनका आशय यह है कि बाहर भीतर सब वस्तुएँ विज्ञानाकार हैं और यह विज्ञान बिजली, बादल की तरह क्षण-क्षण में उत्पन्न एवं नष्ट होता है अतएव क्षणिक है तथा अपना एवं दूसरों का प्रकाशक होने से स्वप्रकाश है । एक विज्ञान के नष्ट होते ही दूसरा-दूसरे के नष्ट होने पर तीसरा उत्पन्न होता है । इस प्रकार दीप ज्योति अथवा नदी के प्रवाह की तरह विज्ञान की धारा बनी रहती है । यह धारा आलय विज्ञान धारा और प्रवृत्ति विज्ञान धारा नाम से दो प्रकार की है । अहं आकार वाली प्रथम धारा बुद्धि रूप है और यह घट है यह देह है । इस इदं आकार वाली दूसरी धारा मन आदि बाह्य पदार्थ रूप है । पहले आलय विज्ञान होती है पश्चात् प्रवृत्ति विज्ञान धारा । अतएव दूसरी पहली की कार्य है । यह आलय विज्ञानधारारूप बुद्धि ही आत्मा है इसमें प्रवृत्ति विज्ञान धारा रूप मन आदि के बाध को विचारने से एक रस क्षणिक विज्ञान धारा की स्थिति हो जाती है । वही मोक्ष है—विज्ञानवादी का यह मत असंगत है, क्योंकि रूपादि ज्ञान रूप कार्य के साधन जैसे चक्षु आदि हैं, वैसे ही जो निश्चय रूप कार्य की करण (साधन) बुद्धि है वह आत्मा नहीं हो सकती क्योंकि सब पदार्थों का निश्चय करने वाली बुद्धि को जो जानता है वह आत्मा है और प्रकाश स्वरूप है । सदा प्रकाशित रहता है । भास्य (रूप, और भासक (सूर्यादि प्रकाश) जैसे भिन्न हैं वैसे भास्य बुद्धि से भासक आत्मा भिन्न है । जैसे घटादिक आकार को प्राप्त हुआ दीपादि का प्रकाश मिश्रभाव से भासमान होता हुआ भी वस्तु से भिन्न स्वभाव का है-ऐसे ही ज्ञानस्वरूप आत्मा बुद्धि वृत्तियों के साथ एकाकार हुआ मिश्रित भाव से भाव माना है तो भी वस्तुतः बुद्धि वृत्तियों से भिन्न नित्य और शुद्ध ही है ।

जैसे एक ही ब्राह्मण को पाठक और पाचक आदि क्रियाओं के कारण पाठक, पाचक आदि भिन्न-भिन्न नामो से पुकारते हैं । वैसे ही अपञ्चीकृत भूतों से मिलित सत्त्वगुणों के

तत्र श्रुतिमाह—

असदेवेदमित्यादाविदमेव श्रुतं ततः ।
ज्ञानज्ञेयात्मकं सर्वं जगद्भ्रान्तिप्रकल्पितम् ॥७५॥

अन्वयः असदेवेदं इत्यादौइदं एव श्रुतं ततः सर्वं ज्ञानज्ञेयात्मकं जगद्भ्रान्ति प्रकल्पितं (च) ।
'असदेवेदमितीति' । शून्यस्यैव तद्रूपत्वे[1] प्रतीयमानस्य जगतः का गतिरित्यत आह 'ज्ञानेति' ॥७५॥

उसमें श्रुति का प्रमाण कहते हैं—

यह सम्पूर्ण जगत आरम्भ में असत् ही था इत्यादि श्रुतिवाक्यों में शून्य ही आत्म रूप से था और यह ज्ञान ज्ञेयरूप जगत् प्रतीत होता है यह सब भ्रान्ति से कल्पित है ॥७५॥

अंशों का कार्यभूत अन्तःकरण निश्चय क्रिया के कारण बुद्धि और संकल्प, विकल्प क्रिया के कारण मन कहलाता है। इसलिए अहंआकार वाली आन्तरवृत्ति बुद्धि और इदं आकार वाली बाह्य वृत्ति मनः अन्तःकरण से भिन्न नहीं है। इस प्रकार देह, इन्द्रिय और मन की तरह बुद्धि भी भौतिक होने से अनात्मा ही है। 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च" (क० २।३।२) तूं आत्मा को रथी जान, शरीर को रथ समझ, बुद्धि को सारथि जान और मन को लगाम समझ। "इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः (क० २।३।४) श्रुति युक्ति से बुद्धि अनात्मता (सारथी रूप से) आत्मा से भिन्नता प्रसिद्ध है। आत्मा को क्षणिक मानना भी असंगत है। यदि ज्ञाता आत्मा को क्षणिक मानें तो धन देने वाले आत्मा के नष्ट हो जाने पर वर्ष पीछे धन लेने का कार्य कौन करे? प्रथम क्षण में भोजन करने वाले का दूसरे क्षण में नाश हो जाने से, भोजन के पश्चात् मैं भोजन करने बैठा अब तृप्त हो गया हूँ ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है यह नहीं होनी चाहिए। यदि यह कहा जाय कि प्रत्यभिज्ञा भ्रान्ति से होती है और पूर्व नष्ट हुए आत्मा आदि के संस्कार आदि से दूसरे आत्म देव की उत्पत्ति होती है। इसलिए प्रत्यभिज्ञा सम्भव है, तो यह कहना भी असंगत है। क्योंकि जब विज्ञान-वादी क्षणिक आत्मा को दूसरे क्षण में विनाशी मानता है तो भ्रान्ति के द्रष्टा और अधिष्ठान के न होने से भ्रान्ति ही असम्भव है। समाधान के लोभ में यदि संस्कार मान भी लें तो भी उसका आश्रय तो मानना पड़ेगा, यदि यह आश्रय विज्ञान रूप है तो निर्विशेष सिद्धान्त की हानि होगी, विज्ञान से भिन्न पदार्थ तो है ही नहीं इसलिए संस्कार विज्ञान रूप मानना पड़ेगा और उसमें आत्माश्रय दोष आयेगा, जब आत्मा उत्तर क्षण में रहेगा ही नहीं तो मोक्ष के साधनों में कौन प्रवृत्त होगा मेरी बुद्धि मन्द है या तीव्र है इस रूप में बुद्धि ममता का विषय है बुद्धि की मन्दता तीव्रता जानने वाला बुद्धि से भिन्न है और बुद्धि स्वप्रकाश नहीं किन्तु पर प्रकाश है। इस प्रकार विज्ञानवादी का मत असंगत है।

विशेष 1—आत्मरूपत्वे इत्यर्थः।

तदेतन्मतं दूषयति—

निरधिष्ठानविभ्रान्तेरभावादात्मनोऽस्तिता ।
शून्यस्यापिससाक्षित्वादन्यथा नोक्तिरस्य ते ॥७६॥

अन्वयः—निरधिष्ठानविभ्रान्तेः अभावात् आत्मनः अस्तिता शून्यस्यापि ससाक्षित्वात् अन्यथा अस्य उक्तिः ते न।

'निरधिष्ठानेति'। निःस्वरूपस्य शून्यस्याधिष्ठानत्वायोगान्निरधिष्ठानस्य भ्रमस्यानुपपत्तेर्जगत्कल्पनाधिष्ठानस्यात्मनः सत्ताऽभ्युपगन्तव्या। किंच शून्यवादिनोऽपि शून्यसाक्षित्वेनावश्यमात्माऽभ्युपगन्तव्यः। अन्यथा तस्यानभ्युपगमे अस्य शून्यस्योक्तिः शून्यमित्यभिधानं ते बौद्धस्य तव मते न सिध्येदिति भावः ॥७६॥

अब शून्यवादी के मत में दोष देते हैं –

अधिष्ठान रहित कोई भ्रान्ति नहीं होती और शून्य का भी कोई साक्षी मानना पड़ेगा। इसलिए आत्मा को मानना पड़ेगा, यदि से भिन्न आत्मा को स्वीकार नहीं करोगे तो "यह शून्य है" यह कथन भी सिद्ध नहीं होगा ॥७६॥

वन्ध्या पुत्र की तरह शून्य का तो कोई स्वरूप नहीं है वह भ्रम का अधिष्ठान नहीं बन सकता अधिष्ठान के बिना भ्रम हुआ नहीं करता इसलिए जगत् कल्पना का अधिष्ठान जो आत्मा है उसकी सत्ता माननी चाहिए। और शून्यवादी को भी शून्य का साक्षी आत्मा अवश्य मानना पड़ेगा। अन्यथा (न मानो तो) यह शून्य है यह कथन भी तुम्हारे बौद्ध के मत में सिद्ध न होगा ॥७६॥

विशेष १—बुद्ध के शिष्य माध्यमिक के अनुयायी शून्य को आत्मा मानते हैं। उनके मत का सारांश यह है कि आत्मा से भिन्न सब वस्तुएँ शून्य रूप है सबका निज रूप होने के कारण यह शून्य ही परम तत्त्व है। सुषुप्ति में सब पदार्थों का अभाव होने के कारण मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं हुआ, इस प्रतीति का विषय और विद्वानों की दृष्टि में तुच्छ अज्ञान रूप जो आनन्दमय कोश शेष रहता है वही शून्य रूप आत्मा है, शून्यवादी को पूछते हैं। शून्यवादी का यह मत असंगत है। क्योंकि इस शून्य को (१) यह शून्य साक्षी सहित है (२) या साक्षी रहित है (३) या स्वप्रकाश है ये तीन विकल्प हैं। इनमें प्रथम पक्ष कहें तो जो शून्य का साक्षी है वह शून्य से विलक्षण आत्मा सिद्ध होगा। दूसरे पक्ष में साक्षी रहित शून्य की सिद्धि ही नहीं होगी। तीसरे पक्ष में तो स्वप्रकाश रूप जिस ब्रह्म को हम मानते हैं, ब्रह्म ही शून्य इस "शून्य" अन्य नाम के सिद्धि से शून्य सिद्ध नहीं होगा। यह जगत् पहले असत् ही था यह छा० श्रुति वाक्य पूर्व उत्तर के विरोध के कारण शून्य का प्रतिपादक नहीं है, किन्तु नैयायिक वैशेषिक, बौद्ध आदि वादी प्राक् अभाव आदि को जगत् का कारण मानते हैं उसका अनुवाद करके उस विपरीत ग्रह की निवृत्ति में ही इस श्रुति का तात्पर्य है। इस रीति से शून्यवादी का मत असंगत है।

कस्तर्ह्यात्मेत्यत आह—

अन्यो विज्ञानमयत आनन्दमय आन्तरः ।
अस्तीत्येवोपलब्धव्य इति वैदिकदर्शनम् ॥७७॥

अन्वयः –विज्ञानमयतः अन्यः आन्तरः आनन्दमयः अस्ति इति एव उपलब्धव्यः इति वैदिक दर्शनम् ।

'अन्य इति'। 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' (तैत्ति० २।५) 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन' (कठ० ६।१०) इति च श्रुतिसद्भावात् 'आनन्दमय आत्माऽभ्युपगन्तव्यः' इति वैदिकदर्शनं वैदिकसिद्धान्तः ॥७७॥

एवमात्मस्वरूपे विप्रतिपत्तिं प्रदर्श्य, तत्परिमाणविशेषेऽपि वादिविप्रतिपत्तिं दर्शयति—

अणुर्महान् मध्यमो वेत्येवं तत्रापि वादिनः ।
बहुधा विवदन्ते हि श्रुतियुक्तिसमाश्रयात् ॥७८॥

अन्वयः –तत्रापि अणुः महान् मध्यमः वा इत्येवंवादिनः श्रुतियुक्तिसमाश्रयात् बहुधा विवदन्ते हि ।

'अणुरिति' ॥७८॥

फिर आत्मा क्या वस्तु है इसका उत्तर नैयायिक प्रभाकर और भट्ट के अनुयायी देते हैं –

उस विज्ञानमय से दूसरा इसका अन्तर्वर्ती आत्मा आनन्दमय वह बुद्धि आदि का साक्षी आत्मा है "इस प्रकार ही उपलब्ध किया जाना चाहिए। तथा उसे तत्त्व भाव से भी जानना चाहिए। इन श्रुतियों से आनन्दमय आत्मा है यही वैदिक सिद्धान्त है ॥७७॥

इस प्रकार आत्मा के स्वरूप संशय दिखाकर अब आत्मा के परिणाम के विषय में विभिन्न विचार—उस आनन्दमय कोश का कोई-कोई वादी अणु है, महान् है, या मध्यम है, इस प्रकार इस आत्मा के विषय में भी श्रुति युक्ति के अधार पर वादी आपस में अनेक प्रकार के विवाद करते हैं ॥७८॥

[1]तत्राणुत्ववादिनस्तावद्दर्शयति—

अणुं वदन्त्यान्तराला: सूक्ष्मनाडीप्रचारत: ।
रोम्ण: सहस्रभागेन तुल्यासु प्रचरत्ययम् ॥७६॥

अन्वयः—अन्तराला: अणुं वदन्ति सूक्ष्मनाडीप्रचारत: रोम्ण: सहस्रभागेन तुल्यासु (नाडीषु) अयं प्रचरति ।

'अणुमिति' । अणुत्वाभिधाने हेतुमाह 'सूक्ष्मेति' । तदुपपादयति—'रोम्ण इति' । नाडीष्विति शेष: । सूक्ष्मासु संचारोऽणुत्वमन्तरेण न घटत इत्यभिप्राय: ॥७६॥

अब अणु वादियों के मत को कहते हैं—

सूक्ष्म नाड़ियों में प्रवृत्ति होने से अन्तराल लोग इसे अणु परिमाण बताते हैं यह आत्मा बाल के हजारवें भाग के बराबर सूक्ष्म नाड़ियों में संचार करता है। यह संचार आत्मा के अणु हुए बिना सम्भव नहीं है ॥७६॥

विशेष १—तत्र आत्मन: परिणामविशेष वादिनो—आरम्भवाद: कणभक्षपक्ष: संघातवादस्तु भदन्तपक्ष: । सांख्यादिपक्ष: परिणामवादो, वेदान्तपक्षस्तु विवर्तवाद: । (संक्षेप शा० २।६३) वाद (स्व अभिमत अर्थ का कथन) वैशेषिक, तार्किक, माध्व का आरम्भवाद है। वे मानते हैं कि तन्त्वादि कारण से अत्यन्त भिन्न प्राक् असत् कार्य अपने समवायी और निमित्त कारणों से आरम्भ (उत्पन्न) होता है। सौत्रान्तिक (योगाचार विज्ञानवाद) तथा वैभाषिक घटादि कार्य को परमाणुओं का संघात (समूह) मात्र मानते हैं। उससे वस्त्वन्तर नहीं, यही संघातवाद है। सांख्य तथा योगमत, पूर्वमीमांसक, रामानुजादिमत में घटादिकार्य मृदादि कारण का (प्रकृति का परिणाम) तात्त्विक (तत्त्व के साथ वास्तव में) उपादान समान सत्ताक अन्यथा भाव है। उसे परिणामवाद कहते हैं वेदान्त सिद्धान्त में यह कार्य जगत् ब्रह्म का विवर्त-अतात्त्विक (तत्त्व के बिना भ्रम से) अन्यथाभाव अर्थात् विषम सत्ता अन्यथा-भाव उसे ही विवर्तवाद कहते हैं "भोक्तापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत्तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य: । भावे चोपलब्धे: । (ब्र० सू० २।१।१३-१४।१५)

अणुत्वे किं प्रमाणमित्यत आह—

अणोरणीयानेषोऽणुः सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं त्विति ।
अणुत्वमाहुः श्रुतयः शतशोऽथ सहस्रशः ॥८०॥

अन्वयः—अणोरणीयान् एषः अणुः सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं इति तु शतशः अथ सहस्रशः श्रुतयः अणुत्वं आहुः ।

'अणोरिति' । 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' (श्वे० ३।२०), 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' (मुण्ड० ३।१।६), सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यम्' इत्यादि श्रुतय इत्यर्थः ॥८०॥

श्रुत्यन्तरमुदाहरति—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेय इति चाहापरा श्रुतिः ॥८१॥

अन्वयः – बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागः स जीवः इति विज्ञेयः इति च अपरा श्रुतिः आह ।

'बालाग्रेति' ॥८१॥

अब आत्मा के अणु होने में श्रुति प्रमाण कहते हैं —

अब अणु से भी अणु और महान् से भी महान् आत्मा इस जीव के अन्तःकरण में स्थित है । वह अणु आत्मा जिस (शरीर) में पाँच प्रकार के प्राण प्रविष्ट हैं उस शरीर के भीतर ही विशुद्ध विज्ञान द्वारा जानने योग्य है और सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर नित्य स्वभाव वाला है । इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा के अणुत्व में प्रमाण हैं ॥८०॥

अब अन्य श्रुतियों का प्रमाण देते हैं—

एक बाल से सौ भागों में विभक्त किया हुआ उसमें से एक भाग के सौवें भाग की कल्पना करो तो उतना अणु जीव जानना यह अन्य श्रुति कहती है[1] ॥८१॥

विशेष १—आत्मा के अणु परिणाम वादी जो अन्तराल आदि हैं उनका मत असंगत है । क्योंकि ज्ञाता आत्मा अणु होकर के शरीर के किसी एक देश में स्थित रह सकेगा । अतएव एक साथ शिर और पैर में कष्ट आदि का अनुभव कैसे होगा, यदि यह कहो कि जैसे एक स्थान पर रखे हुए फूल का गन्ध बहुत दूर-दूर तक फैल जाता है, ऐसे ही एक देशस्थ आत्मा का ज्ञान गुण

मध्यमपरिमाणवादिनो मतं दर्शयति—

दिगम्बरा मध्यमत्वमाहुरापादमस्तकम् ।
चैतन्यव्याप्तिसंदृष्टेरानखाग्रश्रुतेरपि ॥८२॥

अन्वयः—दिगम्बराः आपादमस्तकं मध्यमत्वं आहुः चैतन्य व्याप्ति सन् दृष्टेः आनखाग्रश्रुतेः अपि ।

'दिगम्बराइति' । तत्रोपपत्तिमाह—'अपादेति' । 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' (बृ० १।४।७) इति श्रुतिरप्यत्र प्रमाणमित्याह—'आनखाग्रेति' ॥८२॥

अब मध्यम परिणाम वादी के मत को दिखाते हैं—

पाद से लेकर मस्तक पर्यन्त शरीर में चैतनता व्याप्त दिखायी देती है, इसलिए दिगम्बर आत्मा को मध्यम परिमाण कहते हैं और वह यह (व्याकर्ता) इस (शरीर) में नखाग्र पर्यन्त प्रवेश किये हुए है, श्रुति से भी आत्मा मध्यम परिमाण वाला सिद्ध होता है ॥८२॥

भी शरीर भर में व्याप्त रहता है, यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि गुण गुणी को छोड़कर नहीं रहता जैसे नीलादि गुण घट को नहीं छोड़ता, ज्ञान गुण भी आत्मा को कैसे छोड़ेगा, शरीर के एकदेश में छूने से चन्दन की शीतलता का सारे शरीर में व्याप्त होना दृष्टान्त भी ठीक नहीं है । क्योंकि यहाँ एकदेशीय स्पर्श से शरीर में व्याप्त जलांश के घनी भाव का उद्‌बोध होता है, उससे ही सारे शरीर में शीतलता हो जाती है यदि दीपक की तरह प्रकाश मानों तो आत्मा को भी दीपक की तरह सावयव और परप्रकाश्य अतएव विनाशी और दृश्य मानना पड़ेगा, अणु सिद्ध करते-करते आत्मा ही हाथ से जाने लगा, ब्याज के लोभ में मूलधन भी गवाँ बैठे, आत्मा को अणु बताने वाली श्रुतियों का तात्पर्य तो बताना ही है कि स्थूल बुद्धि पुरुषों के लिए आत्मा अणु की तरह दुर्ज्ञेय है । उपनिषदों में अनेक स्थलों पर आत्मा को व्यापक बताया है । इस प्रकार आत्माणुवाद असंगत ही ठहरता है । ब्रह्म सूत्र में भी अणुवाद का खण्डन है । 'तद् गुणसारत्वात्, तु तदव्यपदेशः, प्रज्ञावत् २।३।२९ ब्र० सू०) तु किन्तु तद्‌गुण सारत्वात्-तस्याबुद्धेः गुणा अणुत्वोत्क्रान्तिगत्यागतिसुख दुःखादयः ते सारं प्रधानं यस्य जीवस्य स तद्‌गुणसारः तस्यभावः तत्वं तस्मात् अणुत्वादिव्यपदेशः न स्व भाविकः प्राज्ञवत यथा परमात्मनः संगुणोपासवेषुदहरादे ।

ननु मध्यमपरिमाणत्वे श्रुतिसिद्धो नाडीप्रचारो न घटते इत्याशङ्क्याह—

सूक्ष्मनाडीप्रचारस्तु सूक्ष्मैरवयवैर्भवेत् ।
स्थूलदेहस्य हस्ताभ्यां कञ्चुकप्रतिमोकवत् ॥८३॥

अन्वयः—सूक्ष्मनाडीप्रचारस्तु सूक्ष्मैः अवयवैः भवेत् स्थूलदेहस्य हस्ताभ्यां कञ्चुक प्रतिमोकवत् ।

'सूक्ष्मनाडीति' । ।यथा देहावयवयोर्हस्तयोः कञ्चुकप्रवेशेन देहस्य कञ्चुकप्रवेशस्तद्वदात्मावयवानां सूक्ष्माणां नाडीषु प्रचारेणात्मनोऽपि प्रचार उपचर्यंत इत्यर्थः ॥८३॥

नन्वात्मनो नियतमध्यमपरिमाणत्वे कर्मवशान्न्यूनाधिकशरीरप्रवेशो न घटत इत्याशङ्क्यावयवापायाभ्यामात्मनो नियतमध्यमपरिमाणत्वादेहवदुभयं न विरुध्यत इत्याह—

न्यूनाधिकशरीरेषु प्रवेशोऽपि गमागमैः ।
आत्मांशानां भवेत्तेन मध्यमत्वं विनिश्चितम् ॥८४॥

अन्वयः—न्यूनाधिकशरीरेषु गमागमैः प्रवेशोऽपि आत्मांशानां भवेत् तेन मध्यमत्वम् विनिश्चितम् ।

'न्यूनाधिकेति' । फलितमाह—'तेनेति ॥८४॥

यदि कहो कि मध्यम परिमाण मानने में सूक्ष्म नाड़ियों में प्रवेश न बनेगा इसका उत्तर—

उस आत्मा का सूक्ष्म नाड़ियों में प्रचार तो उस आत्मा के सूक्ष्म अवयवों द्वारा ऐसे ही होता है जैसे कि हाथो से चोली कुर्ते में प्रवेश से स्थूल देह का कुर्ते में प्रवेश माना जाता है ॥८३॥

जैसे स्थूल देह के अवयव जो हस्त उसके कुर्ते में प्रवेश से स्थूल देह का कुर्ते में प्रवेश माना जाता है वैसे ही आत्मा के सूक्ष्म अवयवों का नाड़ियों में संचार होने से यह माना जाता है कि आत्मा नाड़ियों में संचारित (प्रवेश) हो रहा है ॥८३॥

यदि आत्मा को मध्यम परिमाण नियम (निश्चित्) वाला ही मानोगे तो कर्मों के वश से आत्मा का न्यूनाधिक चींटी आदि छोटे और हाथी आदि बड़े शरीर में उसका प्रवेश कैसे होगा, इसका उत्तर मध्यम परिमाणवादी के मत से देते हैं——

(आत्मा को नियत रूप से मध्यम परिमाण मानने पर भी उसका) छोटे बड़े शरीरों में प्रवेश उसके अंशों की घटा बढ़ी या गमनागमन (उत्पत्ति विनाश) से सम्भव है, इसलिए आत्मा का मध्यम परिमाण निश्चित है ॥८४॥

आत्मनः सावयवत्वे घटादिवदनित्यत्वप्रसङ्गं नैतद्दूषयति—

सांशस्य घटवन्नाशो भवत्येव तथा सति ।
कृतनाशाकृताभ्यागमयोः को वारको भवेत् ॥८५॥

अन्वयः—तथा सति सांशस्य घटवन्नाशो भवति एव कृतनाशअकृताभ्यागमयोः वारकः को भवेत् ।

'सांशस्येति' । भवतु, को दोषस्तत्राह -'तथा सतीति' । कृतयोः पुण्यपापयोर्भोगमन्तरेण नाशः कृतनाशः, अकृतयोरकस्मात्फलदातृत्वमकृताभ्यागमः, एतद्दोषद्वयमात्मनोऽनित्यत्वाभ्युपगमे भवेदिति भावः ॥८५॥

अतः परिशेषादात्मनो विभुत्वं सिद्धमित्याह—

तस्मादात्मा महानेव नैवाणुर्नापि मध्यमः ।
आकाशवत्सर्वगतो निरंशः श्रुतिसंमतः ॥८६॥

अन्वयः—तस्मात् आत्मा महान् एव नैव अणुः नापि मध्यमः आकाशवत् सर्वगतः निरंशः श्रुतिसंमतः ।

'तस्मादिति' । तत्र प्रमाणमाह—'आकाशवदिति' । 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' (गौड० ३।३) 'निष्कलं निष्क्रियं' (श्वे० ६।१९) इत्याद्यागमः प्रमाणमित्यर्थः ॥८६॥

आत्मा सावयव मानने में घट आदि की तरह अनित्य होने से नाश हो जायेगा, इसलिए आत्मा विभु है यह मानने वाले नैयायिकों का मत दर्शाते हैं

सावयव वस्तु का घट की तरह नाश होता ही है, अतएव यदि आत्मा का नाश मानोगे तो कृतनाश और अकृताभ्यागम दोषों में कौन हटायेगा । किये गये पाप पुण्यों का भोग के बिना नष्ट हो जाना "कृतनाश" और बिना किये पाप पुण्यों का भोग "अकृताभ्यागम" कहलाता है ॥८५॥

अत परिशेष से आत्मा की विभुता सिद्ध है इस पर कहते हैं——

इससे आत्मा महान् है न अणु है न मध्यम है आकाश के समान सर्वव्यापी नित्य, अवयव रहित क्रिया रहित (स्वमहिमा में स्थित) कूटस्थ शान्त जिसके सब विकारों का अन्त हो गया ऐसा श्रुति मानती है ॥८६॥

विशेष १—प्राप्त हुई वस्तु के निषेध होने पर और अन्य में प्रसंग के अभाव से शेष रहे जो निश्चय उसे परिशेष कहते हैं । जैसे नौ पुरुषों का निषेध करने पर दसवां पुरुष ।

एवमात्मनो विभुत्वं प्रसाध्य, तस्य चिद्रूपं निश्चेतुं तावद्वादिविप्रतिपत्तिं दर्शयति—

इत्युक्त्वा तद्विशेषे तु बहुधा कलहं ययुः ।
अचिद्रूपोऽथ चिद्रूपश्चिदचिद्रूप इत्यपि ॥८७॥

अन्वयः—इत्युक्त्वा तद्विशेषे तु बहुधा अचिद्रूपः अथ चिद्रूपः चिदचिद्रूपः इत्यपि कलहं ययुः ।

'इत्युक्त्वेति' ॥८७॥

अचिद्रूपत्ववादिनो मतं दर्शयति—

प्राभाकरास्तार्किकाश्च प्राहुरस्याचिदात्मताम् ।
आकाशवद्द्रव्यमात्मा शब्दवत्तद्गुणश्चितिः ॥८८॥

अन्वयः—प्राभाकराः तार्किकाश्च अस्य अचिदात्मतां प्राहुः आत्मा आकाशवत् द्रव्यं शब्दवत् तद्गुणः चितिः ।

'प्राभाकरा इति' । तत्प्रक्रियामनुभाषते 'आकाशवद्द्रव्यमिति' । आत्मा द्रव्यं भवितुमर्हति:, गुणवत्त्वात्, आकाशवत्, इति अनुमानं सूचितम् । आत्मनः पृथिव्यादिभ्यो भेदसाधकं विशेषगुणं दर्शयति – 'शब्दवदिति' । आत्मा पृथिव्यादिभ्यो भिद्यते, ज्ञानगुणत्वात्, यत्पृथिव्यादिभ्यो न भिद्यते तत् ज्ञानगुणकमपि न भवति, यथा पृथिव्यादीत्यनुमानं द्रष्टव्यम् ॥८८॥

इस प्रकार आत्मा को विभु सिद्ध करके अब उसकी चित्रूपता का निश्चय करने के लिए पहले वादियों के विविध मत दर्शाते है —

यों आत्मा की विभुता सिद्ध करके उस आत्मा की विशेषता (विलक्षणता) के विषय में "वह जड़ है" चेतन है अथवा जड़ चेतन उभय रूप है आदि अनेक विवाद करते हैं ॥८७॥

अब अचित् रूप वादी प्राभाकर और तार्किकों का मत दिखाते हैं—

प्राभाकर और तार्किक आत्मा को अचेतन और आकाश के समान द्रव्य मानते हैं और उसका शब्द के समान चैतन्य गुण है ॥८८॥

और आत्मा आकाश के समान द्रव्य और शब्द के समान उसका चिति गुण है, इसी से वह पृथिवी आदि से भिन्न है । यहाँ ये दो अनुमान है कि आत्मा द्रव्य होने योग्य है गुणवान् होने से आकाश के समान और आत्मा पृथिवी आदि से भिन्न है क्योंकि उसका गुण ज्ञान है, जो पृथिवी आदि से भिन्न नहीं उसमें ज्ञान गुण भी नहीं जैसे घट, अर्थात् ज्ञान[1] गुण ने ही आत्मा को पृथिवी आदि दूसरे द्रव्यों से भिन्न कर दिया है ॥८८॥

विशेष १—आकाश की तरह आत्मा द्रव्य है-और शब्द की तरह उस आत्मा का गुण चैतन्य है । गुण २४ रूप रसादि इसका आश्रय द्रव्य ६ पृथिवी जल आदि आकाश के गुण ज्ञान आदि गुण यह अर्थ है ।

तस्यैव विशेषगुणान्तराण्याह—

इच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च धर्माधर्मौ सुखासुखे ।

तत्संस्काराश्च तस्यैते गुणाश्चितिवदीरिताः ॥८९॥

अन्वयः—इच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च धर्माधर्मौ सुखासुखे तत् संस्काराश्च तस्य एते गुणाः चितिवत् ईरिताः ।

'इच्छेति' । तत्संस्काराः भावनाः ॥८९॥

एषां गुणानामुत्पत्तिविनाशकारणमाह—

आत्मनो मनसा योगे स्वादृष्टवशतो गुणाः ।

जायन्तेऽथ प्रलीयन्ते सुषुप्तेऽदृष्टसंक्षयात् ॥९०॥

अन्वयः—आत्मनः मनसा योगे स्वादृष्टवशतः गुणाः जायन्ते अथ अदृष्टसंक्षयात् सुषुप्ते प्रलीयन्ते ।

'आत्मन इति' । स्वादृष्टवशत आत्मनो मनसा योगे इत्यन्वयः ॥९०॥

और चिति के समान उस आत्मा के ये भी गुण कहते हैं—

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न धर्माधर्म, सुख, दुःख तथा उनके संस्कार ये आठ चेतना के समान उन आत्मा के गुण हैं ॥८९॥

ज्ञानादि गुणों के उत्पत्ति नाश के कारण को कहते हैं—

जब अपने अदृष्ट के प्रताप से आत्मा का मन के साथ संयोग होता है । पूर्वोक्त गुण उत्पन्न हो जाते हैं और फिर सुषुप्ति में अदृष्ट का क्षय हो जाने पर ये गुण नष्ट हो जाते हैं ॥९०॥

आत्मनोऽचिद्रूपत्वे कथं चेतनत्वाभ्युपगम इत्याशङ्क्य, चितिमत्त्वादित्याह—

चितिमत्त्वाच्चेतनोऽयमिच्छाद्वेषप्रयत्नवान् ।
स्याद्धर्माधर्मयोः कर्ता भोक्ता दुःखादिमत्त्वतः ॥९१॥

अन्वयः—चितिमत्त्वात् इच्छाद्वेषप्रयत्नवान् अयं चेतनः दुःखादिमत्त्वतः धर्माधर्मयोः कर्ता भोक्ता स्यात् ।

'चितिमत्त्वादिति' । आत्मनश्चेतनत्वे हेत्वन्तरमाह—'इच्छेति' । तस्येश्वराद्वैलक्षण्यमाह—'स्यादिति' ॥९१॥

नन्वात्मनो विभुत्वे लोकान्तरगमनादिकं कथं घटेतेत्याशङ्क्यास्मिन् देहे कर्मवशादिच्छाद्युत्पत्तौ सत्यामत्रात्मनोऽवस्थानादिव्यवहार इव कर्मवशाल्लोकान्तरे देहान्तरोत्पत्तौ तदवच्छिन्नात्मप्रदेशे सुखाद्युत्पत्तिवशात्तत्रात्मनो गमनादिकव्यवहार इत्यौपचारिकमात्मनो गमनादिकमित्यभिप्रेत्याह—

यथाऽत्र कर्मवशतः कादाचित्कं सुखादिकम् ।
तथा लोकान्तरे देहे कर्मणेच्छादि जन्यते ॥९२॥

अन्वयः—यथा अत्र कर्मवशतः सुखादिकम् कादाचित्कं तथा लोकान्तरे देहे कर्मणा इच्छादि जन्यते ।

'यथाऽत्र कर्मवशत इति' ॥९२॥

यदि कहो कि आत्मा को अचित् रूप (जड़) मानने में चेतनता न होगी—

पूर्वोक्त चिति गुणवान् होने से यह आत्मा चेतन है और इच्छा द्वेष, प्रयत्न वाला होने से भी चेतन है। यह आत्मा धर्म और अधर्म दोनों का कर्ता और दुःखादि होने से भोक्ता है। ईश्वर और आत्मा में यही भेद है कि ईश्वर धर्म अधर्म आदि का कर्ता या दुःखादि का भोक्ता नहीं है ॥९१॥

यदि कहो कि आत्मा को विभु व्यापक मानेंगे तो लोकान्तर में गमन कैसे करेगा इस शंका का उत्तर देते हैं इस देह में कर्म के वश इच्छा आदि की उत्पत्ति होने पर इस देह में जैसे आत्मा की स्थिति का व्यवहार होता है। उसी प्रकार कर्म के अधीन लोकान्तर में अन्य देह की उत्पत्ति होने पर उसमें आत्मा के प्रवेश से सुख आदि की उत्पत्ति के अधीन व्यापक भी आत्मा गमनागमन के व्यवहार को गौण रूप से मानते हैं—

जैसे देह में कर्मवश कभी-कभी सुख, दुःख आदि होते हैं वैसे ही दूसरे लोकान्तर के देह में कर्म के वश इच्छा आदि उत्पन्न हो जाते हैं ॥९२॥

एवं च सर्वगस्यापि संभवेतां गमागमौ ।
कर्मकाण्डः समग्रोऽत्र प्रमाणमिति तेऽवदन् ।।९३।।

अन्वयः—एवं च सर्वगस्यापि (आत्मनः) गमागमौ संभवेतां अत्र समग्रः कर्मकाण्डः प्रमाणं इति ते अवदन् ।

'एवमिति' । आत्मनः कर्तृत्वादिधर्मवत्त्वे किं प्रमाणमित्यत आह—'कर्मकाण्ड इति' ।।९३।।

ननु 'अन्यो विज्ञानमयात् आनन्दमय आन्तरः (ब्रह्म० ५) इत्यत्रानन्दमयस्यात्मत्वमुक्तम्, इदानीमिच्छादिमानन्यः प्रतिपाद्यतेऽतः पूर्वोत्तरविरोध इत्याशङ्क्याह—

आनन्दमयकोशो यः सुषुप्तौ परिशिष्यते ।
अस्पष्टचित्स आत्मैषां पूर्वकोशोऽस्य ते गुणाः ।।९४।।

अन्वयः—यः आनन्दमयकोशः सुषुप्तौ परिशिष्यते अस्पष्टचित् स आत्मा एषां पूर्वकोशः अस्य ते गुणाः ।

'आनन्दमयेति' । सुषुप्तावस्पष्टचित् स आनन्दमयकोशः परिशिष्यते स पूर्वकोशः श्रौतेषु पञ्च-कोशेषु प्रथम एषां प्राभाकरादीनामात्मा[1] । अस्यात्मनस्ते पूर्वोक्ता ज्ञानानन्दादयो गुणा इत्यर्थः ।।९४।।

इस प्रकार व्यापक आत्मा का भी गमनागमन और आत्मा में कर्तृत्व आदि गुण है । इसमें तो सारा कर्मकाण्ड ही प्रमाण है ऐसा प्राभाकारों और नैयायिकों का कहना है ।।९३।।

यदि कहो कि विज्ञानमय से भिन्न आनन्दमय को आत्मा बताया था ७७वें श्लोक में तुमने, अब इच्छादियुक्त दूसरे को आत्मा बता रहे हो इससे पूर्व और उत्तर का विरोध होगा, इस शंका का उत्तर देते हैं--

सुषुप्ति अवस्था में अस्पष्ट चित् अर्थात् विलीन गुण वाला जो आनन्दमय कोश अवशेष रहता है वह श्रुति में कहे हुए पाँच कोशों में पहला कोश ही इन प्राभाकर नैयायिकों का आत्मा है और उसी आत्मा के ये ज्ञान इच्छा आदि गुण हैं ।।९४।।

विशेष १ –यह नैयायिक और प्राभाकर का मत असंगत है । इससे जो यह सुषुप्ति में ज्ञान के अभाव से आत्म जड़ रूप शेष रहता है ऐसा कहते हैं मैं कुछ नहीं जानता हुआ सुख से सोया था यह जो सुषुप्ति काल में अनुभव किये हुए सुख और अज्ञान की स्मृति होती है इससे बाधित है-जो आत्मा जड़ होगा तो उक्त स्मृति नहीं होनी चाहिए और होती है और श्रुतियों में आत्मा को निर्गुण कहा है । इसलिए इच्छादिक गुण वाला आत्मा नहीं है, किन्तु अन्तःकरण के धर्म इच्छादिक आत्मा में अध्यास करके प्रतीत होते हैं । और इच्छादिकों का अन्तःकरण की

अस्यैवात्मनश्चिदचिद्रूपत्वं भाट्टा वर्णयन्तीत्याह—

गूढं चैतन्यमुत्प्रेक्ष्य जडबोधस्वरूपताम् ।
आत्मनो ब्रुवते भाट्टाश्चिदुत्प्रेक्षोत्थितस्मृतेः ॥९५॥

अन्वयः - गूढं चैतन्यं उत्प्रेक्ष्य जडबोधस्वरूपतां भाट्टाः चिदुत्प्रेक्षोत्थितस्मृतेः आत्मनः ब्रुवते ।

'गूढमिति' । भाट्टा आत्मनो गूढमस्पष्टं चैतन्यमुत्प्रेक्ष्य ऊहित्वा चिज्जडोभयात्मकतां वर्णयन्ति । चैतन्योत्प्रेक्षायां कारणमाह - 'चिदुत्प्रेक्षेति' । उत्थितस्मृतेश्चिदुत्प्रेक्षा भवतीति योजना । सुप्तेरुत्थितस्य जायमानात्स्मरणात्सौषुप्तचैतन्यस्योत्प्रेक्षा भवतीत्यर्थः ॥९५॥

चिदुत्प्रेक्षाप्रकारमेव स्पष्टयति—

जडो भूत्वा तदाऽस्वाप्समिति जाड्यस्मृतिस्तदा ।
विना जाड्यानुभूतिं न कथंचिदुपपद्यते ॥९६॥

अन्वयः—जडो भूत्वा तदा अस्वाप्सं इति जाड्यस्मृतिः तदा बिना जाड्यानुभूतिं न कथंचित् उपपद्यते ।

'जडो भूत्वेति' । तदा सुषुप्तिकाले जडो भूत्वाऽस्वाप्समित्येवंरूपा जाड्यस्मृतिरुत्थितस्य पुरुषस्य जायमाना सुषुप्तिकालीनजाड्यानुभवमन्तरेण अनुपपद्यमान तदानीतनजाड्यानुभवं कल्पयतीति भावः ॥९६॥

इसी आत्मा को भाट्टचित् अचित् रूप कहते हैं—

पूर्व मीमांसा के वार्तिककार भट्ट के अनुयायी आत्मा में गूढ़ चैतन्य (अस्पष्ट चेतनता) की उत्प्रेक्षा (कल्पना) करके आत्मा को जड़ चेतन उभय रूप मानते हैं । आत्मा में स्पष्ट चेतना की कल्पना का कारण है । सुषुप्ति से उठे हुए मनुष्य को स्मरण होता है इससे प्रतीत होता है कि सुषुप्ति में चैतन्य था ॥९५॥

अब चेतन की उत्प्रेक्षा के प्रकार को कहते हैं—

उस सुषुप्ति के समय में जड़ होकर सोया था, यह जो जागे हुए मनुष्य को जड़ता का स्मरण है वह जड़ता के अनुभव ज्ञान बिना नहीं हो सकता है इसलिए पुरुष अजाड्य अर्थात् चैतन्यता के अनुभव की कल्पना करता है ॥९६॥

धर्मता श्रुतियों में प्रसिद्ध है । जाग्रत स्वप्न में अन्तःकरण के होते इच्छादि की प्रतीति होती है और सुषुप्ति में अन्तःकरणके विलय होने से इच्छादिकों का अभाव होता है और इस युक्ति से इच्छादिक अन्तःकरणमें धर्म सिद्ध होते हैं, आत्मा के नहीं और नैयायिकादि आत्मा को विभु और नाना अंगीकार कहते हैं । इससे सर्व आत्मा के सर्व देह सर्व कर्म सर्व भोग और सर्व मन के साथ सम्बन्ध से किस आत्मा के कौन देहादिक हैं यह व्यवस्था दुर्लभ है । इत्यादि अनेक दूषण युक्त होने से नैयायिक और प्राभाकर का मत असंगत है ।

सुषुप्तौ चैतन्यलोपाभावे प्रमाणमाह—

द्रष्टुर्दृष्टेरलोपश्च श्रुतः सुप्तौ ततस्त्वयम् ।
अप्रकाशप्रकाशाभ्यामात्मा खद्योतवद्युतः ॥६७॥

अन्वयः—सुप्तौ द्रष्टुर्दृष्टेरलोपश्च श्रुतः ततस्तु अयं अप्रकाशप्रकाशाभ्यां आत्मा खद्योतवत् युतः भवति ।

द्रष्टुरिति'। 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' (बृ० ४।४।२३) इति श्रुतौ द्रष्टुरात्मनः स्वरूपभूताया दृष्टेर्लोपो न विद्यते, विनाशरहितस्वभावत्वात् अन्यथा लोपवादिनोऽपि निःसाक्षिकस्य वक्तुमशक्यत्वात्सुषुप्तौ चैतन्यलोपाभावः श्रूयते । ततोऽपि कारणादयमात्मा खद्योतवदस्फुरणस्फुरणाभ्यां युक्तो भवतीत्यर्थः ॥६७॥

अस्मिन् भाट्टमते दूषणाभिधानपुरःसरं सांख्यमतमुत्थापयति—

निरंशस्योभयात्मत्वं न कथंचिद् घटिष्यते ।
तेन[1] चिद्रूप एवात्मेत्याहुः सांख्यविवेकिनः ॥६८॥

अन्वय :—निरंशस्य उभयात्मत्वं न कथञ्चित् घटिष्यत तेन चिद्रूप एव आत्मा इति सांख्य विवेकिनः आहुः ।

निरंशस्येति ॥६८॥

अब सुषुप्ति में चैतन्य का लोप नहीं होता इसमें प्रमाण कहते हैं—

द्रष्टा क ज्ञान का श्रुति में लोप का अभाव सुना है इसलिए यह आत्मा स्फुरण और स्फुरण से युक्त खद्योत के समान है ॥६७॥

श्रुति का अर्थ सुषुप्ति में उस द्रष्टा आत्मा की स्वरूप भूता दृष्टि (ज्ञान) का लोप नहीं होता आत्मा के अविनाशी होने के कारण और जो चैतन्य आत्मा का लोप भी मानता है उस वादी के मत में भी साक्षी के बिना लोप तो सिद्ध नहीं कर सकेगा । सुषुप्ति में चैतन्य के लोप का अभाव सुना है । इससे भी यह आत्मा खद्योत की तरह स्फुरण और अस्फुरण दोनों से युक्त है ॥६७॥

अब इस भाट्ट के मत में दूषण करते हुए सांख्यों के मत को कहते हैं —

(प्रकृति और पुरुष) विवेक करने वाले (कपिलमतानुयायी) सांख्य कहते हैं कि निरवयव[2] आत्मा को जड़, चेतन, उभय रूप किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता अतएव वे आत्मा चेतन रूप ही है, ऐसा कहते हैं ॥६८॥

विशेष—(१) आत्मनश्चैतन्यजड़रूपोभयत्वानंगीकारेण इत्यर्थः ।

(२) निरवयव आत्मा को जड़ चेतन उभय रूप मानने वाले पूर्व मीमांसा वार्तिककार भाट्ट आनन्दमयकोश आत्मा है। यह मत असंगत है किससे तेज तिमिर की तरह या "यह मनुष्य

जाड्यस्मृतेस्तर्हि का गतिरित्याशङ्क्याह—

जाड्यांशः प्रकृते रूपं विकारि त्रिगुणं च तत् ।

चितो भोगापवर्गार्थं प्रकृतिः सा प्रवर्तते ॥६६॥

अन्वय : जाड्यांशः प्रकृतेः रूपं तत् त्रिगुणं च विकारि च सा प्रकृतिः चितः भोगाय वर्गार्थं प्रवर्तते ।

'जाड्यांश इति' । तत् प्रकृतिरूपं सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकम् । प्रकृतिकल्पनायां प्रयोजनमाह— 'चित इति' । चितः पुरुषस्येति यावत् ॥६६॥

फिर सुषुप्ति में जडता स्मरण की क्यों होती है इस शंका का उत्तर देते हैं—

जडता का जो अंश है वह प्रकृति का रूप है और विकारी (सत्त्व, रज, तम) इन तीन गुणों वाला है । वह प्रकृति चेतन अर्थात् पुरुष को भोग और मोक्ष दिलाने के लिए प्रवृत्त होती है ॥६६॥

घट है ' की तरह एक ही पदार्थ में दोनों रूप सिद्ध नहीं हो सकते । वे एक ही आत्मा में दोनों अंश मानते हैं, जडांश को गोचर तथा चेतनांश को अगोचर, परन्तु एक ही आत्मा में यह विलक्षणता सम्भव नहीं है । जैसे अकेले दण्ड को देखने से ही दण्डी पुरुष का ज्ञान नहीं हो सकता । दण्ड और पुरुष दोनों को साथ देखने पर दण्डी कहेंगे, ऐसे ही अकेले जडांश के ज्ञान से आत्मा को उभय रूप सिद्ध नहीं कर सकते यदि अंश को भी अनुभव गोचर माने तो जड़ कल्पित होगा । फिर प्रश्न यह है आत्मा के जड़ चेतन अंशों का परस्पर सम्बन्ध (१) संयोग है या (२) तादात्म्य है या (३) विषय विषयी भाव (१) प्रथम पक्ष मानोगे तो आत्मा अनित्य हो जायेगा संयोग सम्बन्ध तो अनित्य पदार्थों का ही होता है । (२) द्वितीय पक्ष चित् और जड़ दोनों अंशों की एकता माननी पड़ेगी और इस प्रकार चेतनांश जड़ और जडांश चेतन हो जायेगा (३) तृतीय पक्ष में घट की तरह दोनों की अनात्मता हो जायेगी, श्रुतियों में आत्मा को विज्ञान घन कहा है अतएव आत्मा को आधा जड़ मानना प्रमाण रहित है । आत्मा की जड़ता की नहीं है । इस प्रकार आत्मा की जड़ चेतन उभयरूपता असंगत सिद्ध होती है ॥६०॥

ननु चितोऽसङ्गत्वेन प्रकृतिपुरुषयोरत्यन्तविविक्तत्वात् प्रकृतिप्रवृत्त्या कथं पुरुषस्य भोगापवर्गा-वित्याशङ्क्य, तयोर्विवेकस्याग्रहणात्पुरुषे भोगापवर्गौ व्यवह्रियेते इत्याह—

असङ्गायाश्चितेर्बन्धमोक्षौ भेदाग्रहान्मतौ ।
बन्धमुक्तिव्यवस्थार्थं पूर्वेषामिव चिद्भिदा ।।१००।।

अन्वय :--असङ्गायाः चितेः भेदाग्रहात् बन्धमोक्षौ मतौ बन्धमुक्तिव्यवस्थार्थम् पूर्वेषामिव चिद्भिदा ।

"असङ्गाया इति" । [तार्किकादिभिरिव सांख्यैरात्मभेदोऽङ्गीक्रियत इत्याह– "बन्ध मुक्तीति" ।।१००।।

प्रकृतिसद्भावे पुरुषस्यासङ्गत्वे च श्रुतिमुदाहरति—

महतः परमव्यक्तमिति प्रकृतिरुच्यते ।
श्रुतावसङ्गता तद्वदसङ्गो हीत्यतः स्फुटा ।।१०१।।

अन्वयः– महतः परं अव्यक्तं इति प्रकृतिः उच्यते श्रुतौ असङ्गता तद्वत् असङ्गो हि इत्यतः स्फुटा ।

'महत इति' ।।१०१।।

शंका – चेतन पुरुष तो असंग है और प्रकृति पुरुष दोनों भिन्न हैं। फिर प्रकृति की प्रवृत्ति से पुरुष को भोग और मोक्ष कैसे हो सकते हैं। इस शंका का उत्तर देते हैं कि प्रकृति और पुरुष दोनों के विवेक ज्ञान ग्रहण करने से पुरुष में भोग और अपवर्ग दोनों ही सिद्ध हो जाते हैं।

असंग चेतन को भी प्रकृति पुरुष के परस्पर भेद के अग्रहण (अज्ञान) से बन्ध और मोक्ष दोनों का व्यवहार पुरुष में माना जाता है (तार्किकों) के समान सांख्य भी वन्ध मुक्ति व्यवस्था के लिए चैतन्य का भेद मानते हैं ।।१००।।

प्रकृति की सत्ता और पुरुष के असंग होने में श्रुति का उदाहरण देते हैं––

'महतः परमव्यक्तम्' इस कठोपनिषद् वाक्य से सिद्ध होता है कि महत् तत्व से अव्यक्त (मूल प्रकृति) पर है। यह पुरुष असंग है 'असङ्गोऽयं पुरुषः' (बृ० ४।३।१५) इस श्रुति से पुरुष की असंगता स्पष्ट है ।।१०१।।

विशेष १—सांख्य मत में प्रधान (प्रकृति) को जगत् का कारण मानकर पुरुष के भोग मोक्ष का हेतु कहा है यह बनता नहीं किससे प्रलय काल में सत्त्वादि गुणों की साम्य अवस्था को प्रधान

एव जीवविषयां वादिविप्रतिपत्तिं प्रदर्श्येश्वरविषयां तां प्रदर्शयितुं ईश्वरस्वरूपं तावत्स्थापयति—

चित्संनिधौ प्रवृत्तायाः प्रकृतेर्हि नियामकम् ।
ईश्वरं ब्रुवते योगाः स जीवेभ्यः परः श्रुतः ॥१०२॥

अन्वयः चित्सन्निधौ प्रवृत्तायाः प्रकृतेः नियामकं हि योगाः ईश्वरं ब्रुवते स जीवेभ्यः परः श्रुतः ।

'चित्संनिधाविति' । ननु प्रकृतिपुरुषातिरिक्तेश्वरकल्पनमप्रमाणमित्याशङ्क्याह—'स जीवेभ्य इति' ॥१०२॥

इस प्रकार जीव के विषय में वादियों के विविध वादों को दिखाकर ईश्वरविषयक विवाद को दिखाने के लिए प्रथम ईश्वर के स्वरूप की स्थापना योग मत से करते हैं—

योग मत के अनुयायी कहते हैं चेतन आत्मा की सन्निधि में प्रवृत्त होने वाली जो प्रकृति उसके नियामक प्रेरक पुरुष विशेष ही ईश्वर है । शंका-प्रकृति और पुरुष से भिन्न ईश्वर की यह कल्पना प्रमाण रहित है इसका उत्तर "स जीवेभ्यः" क्योंकि वह ईश्वर श्रुति में जीवों से न्यारा बताया गया है ॥१०२॥

कहते हैं । यह जब सृष्टिकाल में साम्य अवस्था को त्यागकर जब जगत् की उत्पत्ति होती है । प्रधान जड़ होने से साम्य अवस्था के त्याग में प्रतीत होता नहीं और चेतन पुरुष असंग होने से उसका प्रधान के साथ सम्बन्ध नहीं है और चेतन के सम्बन्ध के बिना जड़ से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती इसलिए प्रधान से सृष्टि सम्भव नहीं इसलिए प्रधान रूप माया विशिष्ट चेतन अन्तर्यामी ईश्वर है वही जगत् का कर्ता सांख्य मत में विभु चेतन रूप आत्मा के नानापने का अंगीकार है वह निष्फल हैं आत्मा के नानात्व और प्रकृति की नित्यता के अंगीकार करके आत्मा में सजातीय सम्बन्ध और विजातीय सम्बन्ध की प्राप्ति से नाना आत्मा के असंगत का कथन भी व्याघात दोष युक्त है । इस रीति से सांख्य मत असंगत है ।

तामेवेश्वरसद्भावप्रतिपादिकां (श्वे० ६।४।१०) श्रुतिं पठति—

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश इति हि श्रुतिः ।
आरण्यकेऽसंभ्रमेण ह्यन्तर्याम्युपपादितः ।।१०३।।

अन्वयः—प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः गुणेशः इति श्रुतिः हि आरण्यके असंभ्रमेण अन्तर्यामी उपपादितः हि ।

'प्रधानेति' । प्रधानं गुणसाम्यावस्थारूपं. क्षेत्रज्ञा जीवास्तेषां पतिः, गुणाः सत्त्वादयस्तेषामीशो नियामक इत्यर्थः । न केवलमियमेव श्रुतिरीश्वरप्रतिपादिका, अन्तर्यामिब्राह्मणमपीत्याह—'आरण्यक इति ।।१०३।।

तामेव वादिविप्रतिपत्तिं प्रतिजानीते—

अत्रापि कलहायन्ते वादिनः स्वस्वयुक्तिभिः ।
वाक्यान्यपि यथाप्रज्ञं दार्ढ्यायोदाहरन्ति हि ।।१०४।।

अन्वयः—अत्रापि वादिनः स्वस्वयुक्तिभिः कलहायन्ते वाक्यानि अपि यथाप्रज्ञं दार्ढ्याय उदाहरन्ति हि ।

'अत्रापीति' । प्रज्ञामनतिक्रम्य यथाप्रज्ञम् ।।१०४।।

अब ईश्वर की सत्ता की बोधक श्रुति को कहते हैं—(ईश्वर के स्वरूप के विषय में विविध मत)

तीनों गुणों की साम्यावस्था (मिलितावस्था) का नाम प्रधान है । और शरीर रूप क्षेत्र को जानने वाला जीवक्षेत्रज्ञ कहलाते हैं ईश्वर इन दोनों का पति है और सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों का नियामक ईश्वर है । यह श्रुति ईश्वर के होने में प्रमाण है और कुछ यही श्रुति प्रमाण नहीं । किन्तु अन्तर्यामी ब्राह्मण भी प्रमाण है कि आरण्यक (बृहदा० ३।७।२) उपनिषद में स्पष्टरीति से अन्तर्यामी का वर्णन किया है ।।१०३।।

इस अन्तर्यामी के विषय में भी बहुत से वादी कलह करते हैं—

वादी जन ईश्वर के विषय में अपनी-अपनी युक्तियों से विवाद करते हैं और अपने-अपने मत की पुष्टि के लिए अपने-अपने मतानुसार श्रुति वाक्यों का उदाहरण भी देते हैं ।।१०४।।

इदानीं 'पतञ्जलि'नोक्तमीश्वरप्रतिपादकं 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (यो० सू० १।२४) इत्येतत्सूत्रमर्थतः पठति—

क्लेशकर्मविपाकैस्तदाशयैरप्यसंयुतः ।
पुंविशेषो भवेदीशो जीववत्सोऽप्यसङ्गचित् ।।१०५।।

अन्वयः—क्लेशकर्मविपाकैः तदाशयैः अपि असंयुतः पुंविशेषः ईशः भवेत् सोऽपि जीववत् असङ्गचित् ।

'क्लेशेति' । क्लेशा अविद्यादयः पञ्च,कर्माणि 'कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्' (यो० सू० ४।७) इति सूत्रितानि, सतिमूले तद्विपाका जात्यायुर्भोगा इत्युक्ताः कर्मविपाकाः फलविशेषास्तदाशयास्तेषां संस्कारास्तैः क्लेशादिभिरसंस्पृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरो भवति, सोऽपि जीववदसङ्गश्चिद्रूपश्चेत्यर्थः ।।१०५।।

सूत्र का भावार्थ कहते हैं—

क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से रहित पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है । वह ईश्वर भी जीव के समान असङ्गचित्[1] रूप है ।।१०५।।

'अविद्याऽस्मिता-राग-द्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः' । अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं । 'कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषम्' अर्थात् शुक्ल, कृष्ण और शुक्ल कृष्ण उभय रूप इस प्रकार योगी से भिन्न पामर जीवों के कर्मो से, तथा जन्म, आयु एवं भोग रूप फलों से और उन सबों के संस्कारों से भी असम्बद्ध पुरुषविशेष ईश्वर होता है वह ईश्वर भी जीव के समान असङ्ग चैतन्य रूप है ।।१०५।।

विशेष १—सांख्य मत की तरह योग मत भी जीव को असङ्ग स्वप्रकाश कूटस्थ और चेतन रूप माना है यह जीव केवल भोक्ता है, कर्ता नहीं और बुद्धि के धर्म (सुख दुःख के) कारण बुद्धि के साथ अपने अविवेक से उपजनित (निर्लिप्तकूटस्थ) अपना अनुभव रूप ही उसका भोक्तापन है बुद्धि ही कर्ता है । बुद्धि के अविवेक से आत्मा में कर्तापन का व्यवहार होता है । संप्रज्ञात् और असंप्रज्ञात् समाधि की पूर्ण सिद्धि होने पर बुद्धि के विवेक ज्ञान द्वारा अविवेक की निवृत्ति होने पर दुःख का अत्यन्त उच्छेद होता है यही मोक्ष कहलाता है । सांख्य ईश्वर को स्वीकार नहीं करता योग मत में जीव की तरह ईश्वर भी असङ्ग चेतन है ।

नन्वसङ्गचिद्रूपत्वे कथं नियन्तृत्वमित्यत आह—

तथापि पुंविशेषत्वाद्घटतेऽस्य नियन्तृता ।
अव्यवस्थौ बन्धमोक्षावापतेतामिहान्यथा ॥१०६॥

अन्वयः—तथापि पुंविशेषत्वात् अस्य नियन्तृता घटते अन्यथा इह बन्धमोक्षौ अव्यवस्थौ आपतेताम् ।

'तथापीति' ईश्वरस्य नियन्तृत्वानभ्युपगमे दोषमाह—'अव्यवस्थाविति' ॥१०६॥

असङ्गस्येश्वरस्य नियन्तृत्वं निष्प्रमाणकमित्याशङ्क्याह—

भीषाऽस्मादित्येवमादावसङ्गस्य परात्मनः ।
श्रुतं तद्युक्तमप्यस्य क्लेशकर्माद्यसंगमात् ॥१०७॥

अन्वयः—भीषा अस्मात् इत्येवं आदौ असङ्गस्य परात्मनः श्रुतं तत् अस्यापि क्लेशकर्माद्य संगमात् तत् युक्तम् ।

'भीषेति' । तन्नियन्तृत्वं श्रुतिम्[1] । ननु श्रुतमप्ययुक्तं कथमङ्गीक्रियत इत्यत आह 'युक्तमपीति' । जीवधर्मस्य क्लेशादेरभावादुपपन्नं चेत्यर्थः ॥१०७॥

यदि कहो कि असङ्गचित् रूप मानोगे तो यह नियामक न होगा इस शंका का उत्तर देते हैं—

ईश्वर असङ्गचित् रूप होने पर भी ईश्वर को नियामक न मानने में दोष कहते हैं उसमें नियामकता घट सकती है । क्योंकि ईश्वर को नियामक न मानोगे तो बिना व्यवस्था के ही बन्ध मोक्ष हो जायेगा ॥१०६॥

अब असंग ईश्वर को नियामक मानने में प्रमाण देते हैं—

इस परमेश्वर के भय से पवन चलता है इत्यादि श्रुतियों में असङ्ग परमात्मा की नियामकता सुनी है । उसमें जीवादि में पाये जाने वाले क्लेश कर्म आदि का स्पर्श नहीं है । इसलिए नियन्तापन युक्ति भी है ॥१०७॥

विशेष १—'भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' । इति (तै० २।८।१) अर्थात् इस परमात्मा के भय से वायु चलता है । इसी के भय से सूर्य उदय होता है तथा उसी के भय से अग्नि, इन्द्र और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है ।

ननु जीवा अप्यसङ्गचिद्रूपाः क्लेशादिरहिता एव, तथा चेश्वरे को विशेष इत्याशङ्क्य, जीवानां स्वतः क्लेशादिरहितत्वेऽपि बुद्ध्या सह विवेकाग्रहात् क्लेशादिरस्तीति पूर्वोक्तं स्मारयति—

जीवानामप्यसङ्गत्वात्क्लेशादिर्नं ह्यथापि च ।
विवेकाग्रहतः क्लेशकर्मादि प्रागुदीरितम् ।।१०८।।

अन्वयः—जीवानामपि असङ्गत्वात् क्लेशादिर्नं हि अथापि च विवेकाग्रहतः क्लेशकर्मादि प्राक् उदीरितम् ।

'जीवानामिति' ।।१०८।।

तार्किकास्त्वसङ्गस्य नियामकत्वमसहमाना जीवविलक्षणत्वाय ज्ञानादिगुणत्रयं नित्यमङ्गीकुर्वत इत्याह—

नित्यज्ञानप्रयत्नेच्छा गुणानीशस्य मन्वते ।
असङ्गस्य नियन्तृत्वमयुक्तमिति तार्किकाः ।।१०९।।

अन्वयः—नित्यज्ञानप्रयत्नेच्छा ईशस्य गुणान् मन्वते असङ्गस्य नियन्तृत्वं अयुक्तं इति तार्किकाः ।

'नित्येति' ।।१०९।।

शंका-वे जीव भी तो असङ्ग चित् रूप और क्लेश आदि से रहित है। इस प्रकार ईश्वर में क्या विशेषता रही ? जीवात्माओ के स्वतः कलेश आदि से रहित रहने पर भी बुद्धि से विवेकाग्र से क्लेश आदि रहते हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त का स्मरण कराते हैं—

यद्यपि जीवों को भी असङ्ग होने से क्लेश आदि नहीं है। तथापि विवेक के अज्ञान से (प्रकृति और पुरुष के भेद को न समझने) के कारण अर्थात् बुद्धि से पृथक् अपने को न समझकर जीवों को क्लेश आदि होते हैं यह बात पहले ही कह चुके हैं ।।१०८।।

नैयायिक असङ्ग को नियन्ता नहीं मान सकते अतएव वे ईश्वर और जीवों में भेद बताने के लिए ज्ञान, प्रयत्न, इच्छा इन तीनों गुणों को ईश्वर में नित्य मानते हैं यह कहते हैं —

तार्किक लोग ईश्वर के तीन गुणों ज्ञान, प्रयत्न और इच्छा को नित्य मानते हैं। क्योंकि उनके मत में असङ्ग को नियन्ता मानना अयुक्त है ।।१०९।।

नन्विच्छादिगुणकस्य तस्य कथं जीवाद्वैलक्षण्यमित्याशङ्क्य, गुणनां नित्यत्वादेवेति परिहरति—

पुंविशेषत्वमप्यस्य गुणैरेव न चान्यथा ।

सत्यकामः सत्यसंकल्प इत्यादिश्रुतिर्जगौ ॥११०॥

अन्वयः—पुंविशेषत्वं अपि अस्य गुणैरेव अन्यथा च न सत्यकामः सत्यसंकल्पः इत्यादि श्रुतिः जगौ ।

'पुंविशेषत्वमिति' । गुणानां नित्यत्वे प्रमाणमाह 'सत्येति' ॥११०॥

तत्रापि दोषसद्भावात्पक्षान्तरमाह—

नित्यज्ञानादिमत्त्वेऽस्य सृष्टिरेव सदा भवेत् ।

हिरण्यगर्भ ईशोऽतो लिङ्गदेहेन संयुतः ॥१११॥

अन्वय,—नित्य ज्ञानादिमत्त्वे अस्य सदा सृष्टिरेव भवेत् अतः लिङ्गदेहेन संयुतः हिरण्य गर्भः ईशः ।

'नित्येति' । अस्य हिरण्यगर्भस्य । किं रूपमित्यत आह · 'लिङ्गदेहेनेति' । मायोपाधिकः परमात्मा लिङ्गशरीरसमष्ट्यभिमानेन 'हिरण्यगर्भ इत्युच्यते इत्यर्थः ॥१११॥

यदि कहो कि इच्छा आदि गुणों से युक्त वह कैसे जीव से विलक्षण है ऐसी आशंका कर उत्तर में कहते हैं कि ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न ये गुण ईश्वर में नित्य उदित रहते हैं । यही ईश्वर की विलक्षणता जीव से रहती है—

इस ईश्वर को पुरुष विशेष उसके नित्य गुणों के कारण ही मान लिया है अन्यथा नहीं, इसके अतिरिक्त जीव ईश्वर के भिन्न होने का दूसरा कोई कारण नहीं है-श्रुति ने भी ईश्वर के गुणों की नित्यता का वर्णन उसे "सत्यकाम" और सत्य संकल्प रूप ईश्वर है । (सत्यकाम) का अर्थ नित्य इच्छा वाला और (सत्य संकल्प का अर्थ) नित्य ज्ञान आलोचन वाला है ॥११०॥

नैयायिक के मत में दोष दिखाते हुए हिरण्यगर्भोपासक के मत को दिखाते हैं—

ईश्वर को यदि नित्य[1] ज्ञानवान् आदि मानो तो सदा ही सृष्टि रहेगी इससे लिङ्गदेह से युक्त जो हिरण्यगर्भ वही ईश्वर है (समष्टि लिङ्ग शरीर के अभिमानी मायोपाधि परमात्मा को हिरण्यगर्भ कहते हैं) जब उसके लिङ्ग देह (मन में इच्छा होगी तब वह सृष्टि को बनायेगा । इस प्रकार सृष्टि सदा नहीं होगी, कभी-कभी होगी ॥१११॥

विशेष १— यदि ईश्वर के ज्ञानादिकों को नित्य मानोगे तो सदा ही सृष्टि जगत् की उत्पत्ति होगी । श्रुतियों में सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर के ज्ञानादिक की उत्पत्ति कही है । इससे और श्रुति प्रतिपादित अद्वैत सिद्धान्त से विरोध होगा और (सत्य काम) (सत्य संकल्प) इन श्रुतियों में सत्य शब्द का यथार्थ वा प्रलय पर्यन्त स्थायी अर्थ है नित्य अर्थ नहीं है । इसलिए नैयायिकों का मत असङ्गत है ।

हिरण्यगर्भस्येश्वरत्वे किं प्रमाणमित्यत आह—

उद्गीथब्राह्मणे तस्य माहात्म्यमतिविस्तृतम् ।
लिङ्गसत्त्वेऽपि जीवत्वं नास्य कर्माद्यभावतः ॥११२॥

अन्वयः—उद्गीथब्राह्मणे तस्य अतिविस्तृतं माहात्म्यं लिङ्गसत्त्वेऽपि कर्माद्यभावतः अस्य (हिरण्यगर्भस्य) जीवत्वं न ।

'उद्गीथेति' । ननु लिङ्गशरीरयोगे जीवः स्यादित्याशङ्क्य, अविद्याकामकर्माभावान्न जीव इत्याह—'लिङ्गसत्त्वेऽपीति' ॥११२॥

केवलं लिङ्गशरीरस्य स्थूलदेहं विहायानुपलभ्यमानत्वात्स्थूलशरीरसमष्ट्यभिमानी विराडेवेश्वर इत्याह –

स्थूलदेहं विना लिङ्गदेहो न क्वापि दृश्यते ।
वैराजो देह ईशोऽतः सर्वतो मस्तकादिमान् ॥११३॥

अन्वयः—स्थूलदेहं विना लिङ्ग देहः क्वापि न दृश्यते अतः सर्वतः मस्तकादिमान् ईशः वैराजः देहः ।

'स्थूलदेहं विनेति' ॥११३॥

अब हिरण्य गर्भ को ईश्वर मानने में प्रमाण दिखाते हैं—

उद्गीथ ब्राह्मण में उस हिरण्यगर्भ का माहात्म्य अत्यन्त विस्तार से कहा है शंका—लिङ्ग शरीर होने से जीव होगा, इसका उत्तर वह अविद्या काम कर्म के अभाव में लिङ्ग देह के सम्बन्ध से भी जीव नहीं हो सकता ॥११२॥

स्थूल शरीर को छोड़कर केवल लिङ्ग शरीर का रहना नहीं देखा जाता है, इसलिए समष्टि स्थूल शरीर अभिमानी विराट् ही ईश्वर है, यह विराट् को ईश्वर मानने वालों का कथन है—

स्थूल देह के बिना लिङ्ग शरीर अकेला कहीं नहीं देखने में आया है। इस कारण सब ओर मस्तक आदि अङ्गोंवाला विराट् पुरुष का देह ही ईश्वर है ॥११३॥

तत्सद्भावे प्रमाणमाह—

सहस्रशीर्षेत्येवं च विश्वतश्चक्षुरित्यपि ।

श्रुतमित्याहुरनिशं विश्वरूपस्य चिन्तकाः ॥११४॥

अन्वयः - सहस्रशीर्षा इत्येवं च विश्वतः चक्षुः इत्यपि श्रुतं इति अनिशं विश्वरूपस्य चिन्तकाः आहुः ।

'सहस्रशीर्षेतीति' । श्रुतं वाक्यमिति शेषः । विश्वरूपस्य चिन्तकाः विराडुपासकाः ॥११४॥

अत्रापि दोषदृष्ट्या देवतान्तरमालम्बवत इत्याह—

सर्वतः पाणिपादत्वे कृम्यादेरपि चेशता ।

ततश्चतुर्मुखो देव एवेशो नेतरः पुमान् ॥११५॥

अन्वयः—सर्वतः पाणिपादत्वे कृम्यादेरपि च ईशता (स्यात्) ततः चतुर्मुखः एव देवः इतरः पुमान् न ।

'सर्वत इति' ॥११५॥

अब विराट् ईश्वर होने में प्रमाण कहते हैं—

निरन्तर विराट् रूप के उपासक कहते हैं-'सहस्रशीर्षा (यजुर्वेद) विश्वतश्चक्षुरूप विश्व तस्मात्० (श्वे० ३।३) अर्थात् वह हजारों सिर वाला है, सब ओर उसके चक्षु है । इत्यादि श्रुति वाक्यों से ईश्वर के विराट् स्वरूप की सत्ता का समर्थन किया है ॥११४॥

विराट् के ईश्वर भाव में दोष दिखाते हुए ब्रह्मा के ईश्वर भाव का प्रतिपादन करते हैं—

यदि इस प्रकार सब ओर हाथ पैर वाले को ईश्वर मानें तो (सब ओर अनेक हाथ पैर वाले) कीट आदि भी ईश्वर हो जायेंगे । इसलिए चर्तुर्मुख ब्रह्मा, देवता ही ईश्वर है । दूसरा पुरुष ईश्वर नहीं है ॥११५॥

एवं कैरुच्यत इत्यत आह—

> पुत्रार्थं तमुपासीना एवमाहुः प्रजापतिः ।
> प्रजा असृजतेत्यादिश्रुतिं चोदाहरन्त्यमी ॥११६॥

अन्वय—पुत्रार्थं तं उपासीना एवं आहुः प्रजापतिः प्रजा असृजत इत्यादि श्रुतिं च अमी उदाहरन्ति ।

'पुत्रार्थमिति' । 'प्रजापतिः प्रजा असृजत' इत्यादिवाक्यं तत्र प्रमाणमाहुरित्याह—'प्रजापतिरिति' ॥११६॥

भागवतमतमाह—

> विष्णोर्नाभेः समुद्भूतो वेधाः कमलजस्ततः ।
> विष्णुरेवेश इत्याहुर्लोके भागवता जनाः ॥११७॥

अन्वयः—ततः कमलजः वेधाः विष्णोः नाभेः समुद्भूतः विष्णुः एव ईशः इति भागवता जनाः लोके आहुः ।

'विष्णोरिति' ॥११७॥

शैवानां मतमाह—

> शिवस्य पादावन्वेष्टुं शार्ङ्ग्यशक्तस्ततः शिवः ।
> ईशो न विष्णुरित्याहुः शैवा आगममानिनः ॥११८॥

अन्वयः—शिवस्य पादौ अन्वेष्टुं शार्ङ्गी अशक्तः ततः शिवः ईशः विष्णुः न इति आगम मानिनः शैवाः आहुः ।

'शिवस्येति' ॥११८॥

ब्रह्मा ही ईश्वर है, इस प्रकार कौन कहते हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

यह बात पुत्र के लिए ब्रह्मा के उपासकों ने कही है-ये पुत्रार्थी लोग अपने मत की पुष्टि में श्रुति के वाक्य का उदाहरण देते हैं कि प्रजापति ब्रह्मा ने सम्पूर्ण प्रजाओं को रचा ॥११६॥

अब भागवत का मत कहते हैं—

विष्णु की नाभि से उत्पन्न हुआ जो कमल उससे ब्रह्मा उत्पन्न हुआ । इसलिए विष्णु ही ईश्वर है यह जगत् में वैष्णव जन हैं वे कहते हैं ॥११७॥

अब शैवों का मत कहते हैं—

शिव के दोनों चरणों को अन्वेषण (ढूंढने) में विष्णु असमर्थ रहे । इसलिए शिव ही ईश्वर है विष्णु नहीं, ऐसा शैव शास्त्र विशेष को मानने वाले शैव लोग कहते हैं ॥११८॥

गाणपत्यमतमाह—

पुरत्रयं सादयितुं विघ्नेशं सोऽप्यपूजयत् ।
विनायकं प्राहुरीशं गाणपत्यमते रताः ॥११६॥

अन्वयः—पुरत्रयं सादयितुं सोऽपि विघ्नेशं अपूजयत् गाणपत्यमते रताः ईशः विनायकं प्राहुः । 'पुरत्रयमिति' ॥११६॥

उक्तन्यायमन्यत्राप्यतिदिशति—

एवमन्ये स्वस्वपक्षाभिमानेनान्यथान्यथा ।
मन्त्रार्थवादकल्पादीनाश्रित्य प्रतिपेदिरे ॥१२०॥

अन्वयः—एवं अन्ये स्वस्वपक्षाभिमानेन मन्त्रार्थवादकल्पादीन् आश्रित्य अन्यथा प्रतिपेदिरे ।

'एवमिति'। अन्ये भैरवमैरालाद्युपासकाः। अन्यथान्यथावर्णने कारणमाह—'स्वस्वेति' । तत्र तत्र प्रमाणानि सन्तीति दर्शयति—'मन्त्रेति' ॥१२०॥

अब गाणपत्यों का मत कहते हैं—

तीनों पुरों को जीतने के लिए शिव जी ने गणेश जी का पूजन किया था इससे विनायक (गणेश) ही ईश्वर हैं, यह गाणपत्य मत में जो रत (आसक्त) जन कहते हैं ॥११६॥

उक्त न्याय को अन्यत्र भी अतिदेश करते हैं—

इस प्रकार और भी भैरव, मैराल आदि के उपासक भी अपने-अपने पक्ष का अभिमान करके अन्यथा २ वर्णन करते हुए मन्त्रों के अर्थ वादों को मानकर ईश्वर को भिन्न-भिन्न मानते हुए अपनी-अपनी बुद्धि से अनेक ईश्वर मानते हैं ॥१२०॥

एवं कति मतानीत्याशङ्क्य, असंख्यानीत्याह—

अन्तर्यामिणमारभ्य स्थावरान्तेशवादिनः ।
सन्त्यश्वत्थार्कवंशादेः कुलदैवतदर्शनात् ॥१२१॥

अन्वयः—अन्तर्यामिणं आरभ्य स्थावरान्त ईशवादिनः अश्वत्थ अर्कवंशादे कुलदैवतदर्शनात् सन्ति ।

'अन्तर्यामिणामिति' । स्थावरेशवादो न क्वापि दृष्टचर इत्याशङ्क्याह –अश्वत्थार्केति ॥१२०॥

नन्वेवं मतभेदे कस्योपादेयत्वं, कस्य वा हेयत्वमित्याकाङ्क्षायामाह—

तत्त्वनिश्चयकामेन न्यायागमविचारिणाम् ।
एकैव प्रतिपत्तिः स्यात्साप्यत्र स्फुटमुच्यते ॥१२२॥

अन्वयः—तत्त्वनिश्चयकामेन न्यायागमविचारिणां एकैव प्रतिपत्तिः स्यात् साऽपि अत्र स्फुटं उच्यते ।

'तत्त्वनिश्चयेति' । तत्त्वनिश्चयकामेन तत्त्वनिश्चयेच्छया न्यायागमयोर्विचारणशीलानां पुरुषाण प्रतिपत्तिरेकैव स्यात् । सा कीदृशीत्यत आह –'साप्यत्रे'ति ॥ ।२२॥

कितने मत हैं ? ईश्वर के सम्बन्ध में असंख्य मत है—

अन्तर्यामी से लेकर स्थावर पर्यन्त को ईश्वर मानने वाले (इस संसार में) विद्यमान हैं—क्योंकि पीपल, आक तथा बांस आदि को भी कुल देवता देखते हैं इसलिए किसी-किसी के मत में स्थावर भी ईश्वर है ॥१२१॥

शंका –इस प्रकार मतों के भिन्न-भिन्न होने पर कौन स्वीकार करने योग्य है । और कौन नहीं शंका का उत्तर —

तत्त्व (ईश्वर के यथार्थ स्वरूप के निश्चय की इच्छा लेकर जो लोग न्याय (युक्ति) और शास्त्र के विचार में जिनका शील है । ऐसे पुरुषों को एक ही ईश्वर की निर्णय (प्रतिपत्ति) ज्ञान सम्भव है । अब उसी निर्णय को यहाँ स्पष्ट रूप से कहते हैं ॥१२२॥

तामेव प्रतिपत्तिं दर्शयितुं तदनुकूलां श्रुतिं पठति—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
अस्यावयवभूस्तैतु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥१२३॥

अन्वयः—प्रकृतिं तु मायां विद्यात् महेश्वरं तु मायिनं विद्यात् अस्य अवयवभूतैः तु इदं सर्वं जगत् व्याप्तं ॥

'मायांत्विति'। मायामेव प्रकृतिं जगदुपादानकारणं विद्यात् जानीयात्। मायिनं तु मायोपाधिकमन्तर्यामिणमेव महेश्वरं मायाधिष्ठातारं निमित्तकारणं जानीयात्। अस्य मायिनो महेश्वरस्याऽवयवभूतैरंशरूपैश्चरात्मकैर्जीवैः कृत्स्नमिदं जगद्व्याप्तमित्यस्याः श्रुतेरर्थः ॥१२३॥

एतच्छ्रुत्यनुसारेणेश्वरविषयो निर्णयो युक्त इत्याह—

इति श्रुत्यनुसारेण न्याय्यो निर्णय ईश्वरे ।
तथा सत्यविरोधः स्यात्स्थावरान्तेशवादिनाम् ॥२४॥

अन्वयः—इति श्रुत्यनुसारेण ईश्वरे निर्णयः न्याय्यः तथा सति स्थावरान्तेशवादिनां अविरोधः स्यात्।

'इतीति'। कुतो युक्त इत्याशङ्क्य, सर्वत्राविरुद्धत्वादित्याह—'तथेति'। सर्वस्यापीश्वरत्वाभ्युपगमान्न केनापि विरोध इति भावः ॥१२४॥

माया को ही प्रकृति (जगत् का उपादानकारण[1]) जानो और मायी (मायोपाधि अन्तर्यामी) को ही महेश्वर (मायाधिष्ठाता जगत् का निमित्त कारण) जानो इस मायोपाधिक ईश्वर के अवयव भूत। चराचर स्थावर जंगमरूप जीवों से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है ॥१२३॥

इस श्रुति के अनुसार ईश्वर के विषय का निर्णय युक्ति युक्त है—

इस श्रुति के अनुसार ही ईश्वर के विषय में निर्णय करना उचित है। ऐसा होने पर अर्थात् स्थावर जंगमादि रूप सारे जगत् को (अन्तर्यामी से लेकर स्थावर पर्यन्त को) ईश्वर मान लेने वालों का किसी भी वादी से विरोध नहीं होता ॥१२४॥

विशेष १ - 'तदैक्षत बहुस्यांप्रजायेय" श्रुति से तदक्षत निमित्त कारण. बहुस्यांप्रजायेय, जगत् का उपादान कारण प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात् (ब्र० सू० १।४।२३) प्रकृति उपादान कारणम् च निमित्त कारणम् ।

ननु जगत्प्रकृतिभूताया मायायाः किं रूपमित्यत आह—

माया चेयं तमोरूपा तापनीये तदीरणात् ।
अनुभूतिं तत्र मानं प्रतिजज्ञे श्रुतिः स्वयम् ॥१२५॥

अन्वय :—इयं च माया तमोरूप तापनीये तदीरणात् तत्र मानं श्रुतिः स्वयं अनुभूतिं प्रतिजज्ञे ।

'माया चेयमिति' । कुत इत्यत आह—'तापनीय इति' । माया च तमोरूपेति तापनीयोपनिषदि तमोरूपत्वस्याभिधानादित्यर्थः । मायायास्तमोरूपत्वे किं प्रमाणमित्याकाङ्क्षायां 'अनुभूतेः' (नृ० उ० ता० ९) इति श्रुतेरेवात्रानुभवः प्रमाणमिति प्रतिजानीत इत्याह—'अनुभूतिमिति' ॥१२५॥

तत्र मायायास्तमोरूपत्वे कोऽसावनुभव इत्याकाङ्क्षायां तदेतज्जडं मोहात्मकमिति श्रुतिरेवात्रानुभवं स्पष्टयतीत्याह—

जडं मोहात्मकं तच्चेत्यनुभावयति श्रुतिः ।
आबालगोपं स्पष्टत्वादानन्त्यं तस्य साऽब्रवीत् ॥१२६॥

अन्वय :—जडं मोहात्मकं तच्च इति श्रुतिः अनुभावयति आबालगोपं स्पष्टत्वात् तस्य स आनन्त्यं अब्रवीत् ।

'जडमिति' । 'अनन्तम्' (तै० ब्रह्म० १) इति श्रुत्या सर्वानुभवसिद्धत्वमुच्यत इत्याह—आबालेति । जडं मोहं च प्रकृतेः कार्यमिति आबालगोपालादीनां सर्वेषामनुभव इत्यर्थः ॥१२६॥

अब जगत् की उपादान प्रकृति जो माया उसके स्वरूप को कहते हैं—

नृसिंह तापनीय उपनिषद् में ऐसा बताया गया है, इसलिए वह माया (जगत् उपादान कारण) तम अर्थात् अज्ञानरूप[1] है श्रुति ने स्वयं माया को तमो रूप सिद्ध करने के लिए अनुभव को प्रमाण माना है ॥१२५॥

अब माया के तमोरूप होने में अनुभव कहते हैं कि माया का कार्य वह जड़ रूप और मोह स्वरूप है यह श्रुति ही अनुभव कराती है—

यह बात बालक गोप आदि सबको स्पष्ट है कि प्रकृति का कार्य जड़ मोह रूप है और उसी श्रुति ने उस जड़ मोह रूप को अनन्त कहा है ॥१२६॥

विशेष—(१) सत् असत् विलक्षण अनादि भावरूप ज्ञानविरोध लोक में भी ऐन्द्रजालिक के मन्त्र औषध आदि के द्वारा देखने वाले पुरुषों के अज्ञान के क्षुब्ध होने से ही उस, उस आकार में ऐन्द्रजालिक के दर्शन से माया अज्ञान ही है । एक ही अज्ञान दुर्घट को सम्पादन करता है । अज्ञान जब असम्भव को सम्भव बना देता है तब उसे माया कहते हैं । जब कहीं अज्ञान ब्रह्मात्म के स्वरूप को ढकता है ज्ञान ही है विरोधी जिसका ऐसा है इसलिए अज्ञान कहलाता है इसलिए माया अज्ञान से भिन्न नहीं है ।

'जड' शब्दस्यार्थमाह—

अचिदात्मघटादीनां यत्स्वरूपं जडं हि तत् ।
यत्र कुण्ठीभवेद्बुद्धिः स मोह इति लौकिकाः ॥१२७॥

अन्वय :—अचिदात्मघटादीनां यत् स्वरूपं तत् हि जडं यत्र बुद्धिः कुण्ठीभवेत् स मोहः इति लौकिकाः ।

'अचिदात्मेति । 'मोह' शब्दार्थमाह–यत्रेति ॥१२७॥

उक्तप्रकारेण सर्वानुभवसिद्धत्वलक्षणमानन्त्यं सिद्धमित्याह—

इत्थं लौकिकदृष्ट्यैतत्सर्वैरप्यनुभूयते ।
युक्तिदृष्ट्यात्वनिर्वाच्यं नासदासीदिति श्रुतेः ॥१२८॥

अन्वय :—इत्थं लौकिकदृष्ट्या एतत् सर्वैरपि अनुभूयते श्रुतिदृष्ट्या तु नासदासीत इति श्रुतेः ।

'इत्थमिति' । एतत् जाड्यमोहलक्षणतमोरूपत्वम् । नन्वेवं मायायाः सर्वानुभवसिद्धत्वे घटादिवत् ज्ञानेनानिवर्त्यत्वं स्यादित्याशङ्क्याह—युक्तीति । 'तु' शब्दः शङ्काव्यावृत्यर्थः । अनिर्वाच्यं सत्त्वेनासत्त्वेन वा निर्वक्तुमशक्यम् । तत्र किं प्रमाणमित्यत आह नासदिति ॥१२८॥

अब जड और मोह शब्द का अर्थ कहते हैं—

अचेतन घट आदि का जो स्वरूप है वह जड ही है और जहाँ जाकर बुद्धि कुण्ठित हो जाती है वह मोह है ऐसा लोग कहते हैं ॥१२७॥

पूर्वोक्त प्रकार से सबके अनुभव से सिद्ध रूप आनन्त्य को कहते हैं—

इस प्रकार लोक दृष्टि से इसको सब जड़ जानते हैं, और युक्ति से तो अनिर्वचनीय है और श्रुति में यह कहा है कि न सत् न असत् रूप, माया का नहीं है ॥१२८॥

इस प्रकार माया जड मोह स्वरूप तमो रूपतालोक दृष्टि से सिद्ध हुई, शंका करो कि इस प्रकार माया को सबके अनुभव से सिद्ध मानोगे तो उसकी ज्ञान से निवृत्ति न होगी इसका उत्तर-युक्ति की दृष्टि से देखो तो माया का रूप अनिर्वाच्य है । न सत् न असत् कह सकते हैं क्योंकि श्रुति में कहा है न सत् हुआ न असत् हुआ ॥१२८॥

अस्याः श्रुतेरभिप्रायमाह—

नासदासीद्विभातत्वान्नो सदासीच्च बाधनात् ।
विद्यादृष्ट्या श्रुतं तुच्छं तस्य नित्यनिवृत्तितः ॥१२९॥

अन्वय :—नासदासीत् विभातत्वात् नो सदासीच्च बाधनात् विद्या दृष्ट्या तस्य नित्यनिवृत्तितः श्रुतं तुच्छं ।

'नासदासीदिति' । बाधनात् 'नेह नानाऽस्ति किंचन' (बृ० ४।४।१९) इति श्रुत्या निषेधादित्यर्थः । सदसद्रूपत्वं तु विरुद्धत्वादयुक्तम्' इति श्रुत्योपेक्षितम् । एवं युक्तिदृष्ट्या अनिर्वचनीयत्वं प्रदर्श्य 'तुच्छमिदं रूपमस्य' (नृ० उ० ता० ९) इति श्रुतिविद्वदनुभवेन तस्यास्तुच्छत्वं दर्शयतीत्याह—विद्येति । तुच्छत्वे हेतुमाह तस्येति ॥१२९॥

अब इस श्रुति का अभिप्राय कहते हैं—

सबको प्रतीत होने से यह माया असत् भी नहीं, और बाध होने से सत् भी नहीं कह सकते और निवृत्ति होने से ज्ञान दृष्टि से देखो तो माया तुच्छ है ॥१२९॥

जगत् के प्रकाशमान होने से तो माया असत् रूप नहीं है, और यहाँ किंचित् भी नाना (माया) नहीं है। इस श्रुति से माया का बाध "निषेध" देखते हैं । सत् असत् तथा उभय रूप होना भी तो तम प्रकाश की तरह विरुद्ध होने से अयुक्त है, इसलिए श्रुति ने उसकी उपेक्षा कर दी है। इस प्रकार युक्ति से उसकी अनिवर्चनीयता दिखलाकर कहते हैं कि ज्ञान की दृष्टि से श्रुति में उसे तुच्छ कहा है (वह यह माया का रूप तुच्छ है) ज्ञानियों ने अनुभव से उस माया की तुच्छता ही ज्ञान[1] दृष्टि से सुनी है। क्योंकि वह ज्ञान से सदैव निवृत्ति होती है ॥१२९॥

विशेष—(१) निवृत्ति का अर्थ बाध है। यह बाध विषय और विषयी रूप से दो प्रकार का है। जिस बाध का प्रकाश होता है, वह विषय और प्रकाश करने वाले बाध का नाम विषयी होता है। जैसे रज्जू में सर्प का त्रिकाल व्यापी व्यावहारिक अभाव है। वैसी ही अधिष्ठान ब्रह्म में अविद्या उसके कार्य जगत् का त्रिकाल व्यापी पारमार्थिक अभाव है यह विषय रूप बाध है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस निश्चय रूप तत्त्व ज्ञान के पश्चात् के क्षण में होने वाली मुझमें तीनों कालों में अविद्या और प्रपञ्च नहीं है। इस आकार वाली वृत्ति विषयी रूप बाध है। क्योंकि यह पूर्व सिद्ध अविद्यादि के अभाव को प्रकाशित करती है। यदि विषय रूपी बाध को न मानें तो विषयी रूप बाध से निश्चय भी भ्रम में बदल जायेगा। क्योंकि मैं और की बुद्धि हो जायेगी, इसलिए विषय रूप बाध को अवश्य स्वीकार करना पड़ता है।

उपपादितमर्थमुपसंहरति—

तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा ।

ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः ॥१३०॥

अन्वय :– तुच्छा अनिर्वचनीया च वास्तवी च इति असौ त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः माया त्रिधा ज्ञेया ।

'तुच्छेति' । श्रौतबोधेन तुच्छा कालत्रयेऽप्यसती, यौक्तिकबोधेनानिर्वचनीया, लौकिकबोधेन वास्तवी चेत्येवं त्रिधा माया ज्ञेयेत्यर्थः ॥१३०॥

'अस्य सत्त्वमसत्त्वं च दर्शयति' (नृ० उ० ता० ९) इति श्रुतेरर्थं अस्याः कृत्यमाह—

अस्य सत्त्वमसत्त्वं च जगतो दर्शयत्यसौ ।

प्रसारणाच्च संकोचाद्यथा चित्रपटस्तथा ॥१३१॥

अन्वय :– अस्य जगतः सत्त्वं असत्त्वं च असौ दर्शयति यथा प्रसारणाच्च संकोचाच्च चित्रपटः तथा ।

'अस्येति' । एकस्या एव मायाया जगत्सत्त्वासत्त्वप्रदर्शकत्वे दृष्टान्तमाह-'प्रसारणादिति ॥१३१॥

उपपादित अर्थ का उपसंहार करते हैं—

श्रुति के बोध से देखो तो वह माया तुच्छ है, अर्थात् तीनों कालों में असत् है और युक्ति से देखो तो अनिर्वचनीय है। (सत् असत् से भिन्न) और लोकप्रसिद्ध बोध से देखो तो (वास्तवी) सत्य है इस प्रकार श्रुति, युक्ति जगत् के बोधों से माया, तुच्छ अनिर्वचनीय, वास्तवी तीन प्रकार की है। अर्थात् बोधों (ज्ञानों) के भेद से माया के भेद प्रतीत होते हैं ॥१३०॥

यह माया ही इस जगत् के सत्त्व और असत्त्व को दिखाती है। इस माया के कार्य को दिखाते हैं—

जैसे चित्रपट फैलाने और लपेटने पर क्रमशः चित्र को सत् और असत् रूप में दिखाता है। वैसे ही यह एक ही माया कभी जगत् को सत् और कभी असत् प्रकट करती है ॥१३१॥

'स्वतन्त्रास्वतन्त्रत्वेन' (नृ० उ० ता० ९) इति श्रुत्या मायायाः स्वातन्त्र्यास्वातन्त्र्ये दर्शिते तत्रोभयत्रोपपत्तिमाह्—

अस्वतन्त्रा हि माया स्यादप्रतीतेर्विना चितिम् ।
स्वतन्त्राऽपि तथैव स्यादसङ्गस्यान्यथाकृतेः ।।१३२।।

अन्वय : माया हि अस्वतन्त्रा स्यात् विना चितिं अप्रतीतेः स्वतन्त्रापि तथैव असङ्गस्य अन्यथा कृतेः स्यात् ।

'अस्वतन्त्रेति'। स्वभासकचैतन्यं विहाय न प्रकाशते इति अस्वतन्त्रा, असङ्गस्यात्मनोऽन्यथाकरणात् स्वतन्त्राऽपीत्यर्थः ।।१३२।।

अन्यथाकरणमेव स्पष्टयति—

कूटस्थासङ्गमात्मानं जगत्त्वेन करोति सा ।
चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे ।।१३३।।

अन्वय :—कूटस्थासङ्गम् आत्मानं जगत्त्वेन सा करोति चिदाभासस्वरूपेण जीवेशौ अपि निर्ममे ।

'कूटस्थासङ्गमिति'। 'जीवेशावाभासेन करोति' (नृ० उ० ८) इति श्रुत्युक्तं जीवेश्वरविभागं च करोतीत्याह्—'चिदाभासेति' ।।१३३।।

इस श्रुति से वह माया स्वतन्त्र भी है और अस्वतन्त्र भी है यह कहते हैं—

चेतन की सत्ता के विना माया प्रतीत नहीं हो सकती, इससे तो अस्वतन्त्र (पराधीन) है चेतन आत्मा माया के सम्बन्ध से रहित असंग को भी अन्यथा (जीव) बना देती है। इससे स्वतन्त्र (पराधीन) भी कही जा सकती है ।।१३२।।

अब आत्मा के अन्यथा करने को ही वर्णन करते हैं—

वह माया निर्विकार असंग आत्मा को अहंकारादि प्रपञ्चमय जगत् बना देती है और उसी माया ने चिदाभास रूप से जीव का निर्माण किया है। 'जीवेशावाभसेन' यह श्रुति उक्त जीव ईश्वर विभाग भी माया का किया हुआ है। (असंग आत्मा का यह सब अन्यथा करण ही है) ।।१३३।।

नन्वात्मनोऽन्यथाकरणे कूटस्थत्वहानिः स्यादित्याशङ्क्याह—

कूटस्थमनुपद्रुत्य करोति जगदादिकम् ।

दुर्घटैकविधायिन्यां मायायां का चमत्कृतिः ॥१३४॥

अन्वय :– कूटस्थं अनुपद्रुत्य जगदादिकं करोति दुर्घटैकविधायिन्यां मायायां का चमत्कृतिः ।

'कूटस्थमिति' । ननु कूटस्थत्वाविघातेन जगदादिस्वरूपत्वापादनं दुर्घटमित्याशङ्क्य, मायायां दुर्घटैकविधायित्वान्नेदमाश्चर्यकारणमित्याह–'दुर्घटेति' । अन्यथा मायात्वमेव भज्येतेति भावः ॥१३४॥

मायाया दुर्घटकारित्वस्वभावत्वे दृष्टान्तमाह—

द्रवत्वमुदके वह्नावौष्ण्यं काठिन्यमश्मनि ।

मायाया दुर्घटत्वं च स्वतः सिध्यति नान्यतः ॥१३५॥

अन्वय :– उदके द्रवत्वं वह्नौ औष्ण्यं अश्मनि काठिन्यं मायायाः दुर्घटत्वं च स्वतः सिध्यति अन्यतः न ।

'द्रवत्वमिति' । उदकादीनां द्रवत्वादि यथा स्वाभाविकं तद्वन्मायाया दुर्घटकारित्वमित्यर्थः ॥१३५॥

यदि कहो कि असंग आत्मा के अन्यथा करने से कूटस्थ न रहेगा, इस शंका का उत्तर देते हैं —

वह माया कूटस्थ में किसी प्रकार का भी उपद्रव नहीं करती (कूटस्थ को जैसे का तैसा ही बना रहने देती है) फिर भी उसको जगदादि बना डालती है । शंका कूटस्थता के विघात किये बिना जगत् की रचना असंभव है इसका उत्तर दुर्घट कार्य को करने वाली माया के लिए कोई चमत्कार नहीं । अन्यथा उसका मायात्व ही नष्ट हो जायेगा । यह माया का ही चमत्कार हैं कि कूटस्थ को बिना बिगाड़े जगत् को रच सके ॥१३४॥

अब माया के दुर्घट करने रूप स्वभाव को दृष्टान्त से कहते हैं—

जल में द्रवत्व (बहना) अग्नि में उष्णता, पत्थर में कठोरता आदि स्वभाव से प्रतीत होते हैं । वैसे ही माया में स्वतः ही दुर्घटकारिता स्वभाव से ही है किसी और कारण से नहीं ॥१३५॥

ननु मायाया दुर्घटकारित्वमाश्चर्यैककारणं न भवतीत्युक्तमनुपपन्नं, लोके मायायाश्चमत्कारहेतुत्व-दर्शनादित्याशङ्क्य, मायायाः प्रयोक्तृत्वसाक्षात्कारपर्यन्तमेवास्या आश्चर्यकारणत्वं नोपरिष्टादित्याह—

न वेत्ति लोको यावत्तां साक्षात्तावच्चमत्कृतिम् ।
धत्ते मनसि पश्चात्तु मायैषेत्युपशाम्यति ॥१३६॥

अन्वय :—लोकः यावत् तां साक्षात् न वेत्ति तावत् चमत्कृतिं मनसि धत्ते पश्चात् तु मायैव इति उपशाम्यति ।

'न वेत्तीति' ॥१३६॥

किंच, जगत्सत्यत्ववादिनो नैयायिकादीन्प्रत्येवंविधानि चोद्यानि कर्तव्यानि, न मायावादिनं प्रतीत्याह—

प्रसरन्ति हि चोद्यानि जगद्वस्तुत्ववादिषु ।
न चोदनीयं मायायां तस्याश्चोद्यैकरूपतः ॥१३७॥

अन्वय :—जगद् वस्तुत्ववादिषु चोद्यानि हि न प्रसरन्ति तस्याः चोद्यैकरूपतः मायायां चोदनीयं न ।

'प्रसरन्तीति' १३७॥

शंका—१३४वें श्लोक में जो कहा गया कि माया में दुर्घट करना कोई आश्चर्य का कारण नहीं यह सिद्ध नहीं होता लोक में माया को चमत्कार का हेतु देखते हैं, ऐसी आशंका कर उत्तर देते हैं कि माया के प्रयोक्तृत्व का साक्षात्कार पर्यन्त ही आश्चर्य की कारणता बनी रहती है माया का ज्ञान हो जाने पर आश्चर्य के कारणता की निवृत्ति हो जाती है—

जब तक यह लोक उस माया के प्रयोक्तृत्व का साक्षात्कार नहीं करता तभी तक वह अपने मन में आश्चर्य करता है। (मायावी का ज्ञान होने के पश्चात्) यह माया है इस प्रकार आश्चर्य (शान्त) निवृत्त हो जाता है ॥१३६॥

जगत् को सत्य मानने वाले नैयायिकों से ही ऐसे चोद्य (तर्क) पूछो—मायावादियों से नहीं इसी को कहते हैं।

इस प्रकार के प्रश्न तो जगत् को सत्य मानने वाले नैयायिकों के प्रति प्रसरित होते हैं माया के विषय में प्रश्न नहीं करना चाहिए। क्योंकि वह माया तो स्वयं चोद्य स्वरूप है इस पर प्रश्न करने से क्या मिलेगा ? ॥१३७॥

मायावादिनं प्रति चोद्यकरणेऽतिप्रसङ्गमाह—

चोद्येऽपि यदि चोद्यं स्यात्त्वच्चोद्ये चोद्यते मया ।

परिहार्यं ततश्चोद्यं न पुनः प्रतिचोद्यताम् ॥१३८॥

अन्वय :—चोद्येऽपि यदि चोद्यं स्यात् त्वच्चोद्ये मया चोद्यते ततः चोद्यं परिहार्यं प्रतिचोद्यता पुनः न ।

'चोद्येऽपीति' । तर्हि किं कर्तव्यमित्यत आह—'परिहार्यमिति' ॥१३८॥

उक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति—

विस्मयैकशरीराया मायायाश्चोद्यरूपतः ।

अन्वेष्यः परिहारोऽस्या बुद्धिमद्भिः प्रयत्नतः ॥१३९॥

अन्वयः—विस्मयैकशरीरायाः मायायाः चोद्यरूपतः अस्याः परिहारः प्रयत्नतः बुद्धिमद्भिः अन्वेष्यः ।

'विस्मयेति' ॥१३९॥

माया वादी के प्रति तर्क करने में दोष कहते हैं—

यदि आक्षेप योग्य बात पर भी आक्षेप करते जाओगे तो मुझे फिर तुम्हारे कथन पर आक्षेप करना पड़ेगा । इस प्रकार आक्षप प्रत्यक्षों का परिणाम क्या होगा, कुछ भी नहीं, इसलिए चाहिए यह कि किसी प्रकार आक्षेप (या प्रश्न) का निवारण (समाधान) हो पुनः प्रत्याक्षेप या परिप्रश्न करना उचित नहीं है ॥१३८॥

इसी अर्थ को विस्तार से कहते हैं —

विस्मय रूप (आश्चर्य रूप) शरीर वाली माया आक्षेप या प्रश्न योग्य है-उसके (परिहार) निवृत्ति का उपाय बुद्धिमानों को प्रयत्न से ढूढ़ना चाहिए ॥१३९॥

मायात्वनिश्चये तत्परिहारान्वेषणमुचितम्, स एव नेदानीं सिद्ध इति शङ्कते—

मायात्वमेव निश्चेयमिति चेत्तर्हि निश्चिनु ।
लोकप्रसिद्धमायाया लक्षणं यत्तदीक्ष्यताम् ॥१४०॥

अन्वयः—मायात्वं एव निश्चेयं इति चेत् तर्हि निश्चिनु लोकप्रसिद्धमायाया यत् लक्षणं तत् ईक्ष्यताम् ।

'मायात्वमिति' । मायालक्षणसद्भावान्मायात्वं निश्चीयतामित्यभिप्रायेणाह—'तर्हीति' । किं लक्षणमित्यत आह—'लोकेति' ॥१४०॥

तस्या अपि किं लक्षणमित्यत आह—

न[1] निरूपयितुं शक्या विस्पष्टं भासते च या ।
सा मायेतीन्द्रजालादौ लोकाः संप्रतिपेदिरे ॥१४१॥

अन्वयः—निरूपयितुं न शक्या या च विस्पष्टं भासते सा माया इति इन्द्रजालादौ लोकाः सम्प्रतिपेदिरे ।

'न निरूपयितुमिति' ॥१४१॥

जब मायात्व का निश्चय हो जाय तभी तो माया निवृत्ति का उपाय ढूढ़ना उचित है, इस प्रश्न और उसके समाधान का वर्णन करते हैं—

प्रथम तो माया के स्वरूप का ही निश्चय नहीं इस अभिप्राय से कहते हैं-यदि मायात्व का निश्चय करना है तो निश्चय करो जगत् में प्रसिद्ध माया (इन्द्रजाल रूप) के लक्षण इसमें पाये जाते हैं ॥१४०॥

इन्द्रजाल रूप लौकिक माया का लक्षण बताते हैं—

जिसका निरूपण न हो सकता हो फिर भी स्पष्ट भासती हो वह माया है । इन्द्रजालदि में लोग माया को ऐसा समझते हैं ॥१४१॥

विशेष १—लोका यथेन्द्रजालादौ संदिग्धा भवन्ति, तथैव माया निरूपयितुमशक्या इत्याशयः ।

दृष्टान्ते सिद्धं लक्षणं वार्ष्टान्तिके योजयति—

स्पष्टं भाति जगच्चेदमशक्यं तन्निरूपणम् ।
मायामयं जगत्तस्मादीक्षस्वापक्षपाततः ॥१४२॥

अन्वयः—स्पष्टं भाति जगत् च इदं अशक्यं तत् निरूपणं तस्मात् मायामयं अपक्षपाततः ईक्षस्व ।

'स्पष्टमिति' ॥१४२॥

जगतोऽशक्यनिरूपणत्वं कथमित्याशङ्क्य, तद्दर्शयति –

निरूपयितुमारब्धे निखिलैरपि पण्डितैः ।
अज्ञानं पुरतस्तेषां भाति कक्षासु कासुचित् ॥१४३॥

अन्वयः—निखिलैः पण्डितैः अपि (जगत्) निरूपयितुमारब्धे तेषां पुरतः कासुचित् कक्षासु अज्ञानं भाति ।

'निरूपयितुमिति' १४३॥

अशक्यनिरूपणत्वमेवोदाहरणेन स्पष्टयति—

देहेन्द्रियादयो भावा वीर्येणोत्पादिताः कथम् ।
कथं वा तत्र चैतन्यमित्युक्ते ते किमुत्तरम् ॥१४४॥

अन्वयः—देहेन्द्रियादयः भावाः वीर्येण कथं उत्पादिताः कथं वा तत्र चैतन्यं इत्युक्ते ते किं उत्तरं (अस्ति)।

'देहेन्द्रियादय इति' ॥१४४॥

दृष्टान्त में सिद्ध लक्षण को दार्ष्टान्त में घटाते हैं—

यह जगत् स्पष्ट दिखाई दे रहा है, इसका निरूपण कर सकना अशक्य है, इस कारण पक्षपात छोड़कर इस जगत् को मायामय समझ लो ॥१४२॥

अब जगत् के निरूपण का अशक्यत्व दिखते हैं—

संसार के सब पण्डित भी जब इसका निरूपण करने लगते हैं, तो कुछ कक्षा चलने पर (कुछ सीढ़ियाँ पार करने पर) उसके सन्मुख अज्ञान दिखाई देने लगता है। वे कहने लगते हैं कि इसे हम नहीं जानते ॥१४३॥

जगत् का निरूपण करना अशक्य है इस बात को उदाहरण से स्पष्ट करते हैं—

देह इन्द्रिय आदि भाव पदार्थों को माता, पिता का रज, वीर्य कैसे पैदा कर देता है और उस देह में चेतनता कैसे हो जाती है, ऐसा कोई प्रश्न करे तो तुम्हारे मत में क्या उत्तर है ॥१४४॥

स्वभाववादी शङ्कते—

वीर्यस्यैष स्वभावश्चेत्कथं तद्विदितं त्वया ।

अन्वयव्यतिरेकौ यौ भग्नौ तौ वन्ध्यवीर्यतः ॥१४५॥

अन्वयः—वीर्यस्यैष स्वभावश्चेत् तत्त्वया कथं विदितं अन्वयव्यतिरेकौ यौ तौ वन्ध्यवीर्यतः भग्नौ।

'वीर्यस्येति'। सिद्धान्ती पृच्छति—'कथं तदिति'। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां जानामीत्याशङ्क्य. व्याप्त्यभावान्मैवमित्याह—'अन्वयेति'। वन्ध्यस्ववीर्यतः वन्ध्यायां च तत्र वीर्यस्य व्यर्थत्वात् व्याप्तिर्न घटते, यत्र यत्र वीर्यं तत्र तत्र देहादिकमिति नान्वयोऽपि ॥१४५॥

एवं पुनः पुनः पृष्टे सति 'किमपि न जानामि' इत्येवोत्तरं देयमिति फलितमाह—

न जानामि किमप्येतदित्यन्ते शरणं तव ।

अत एव महान्तोऽस्य प्रवदन्तीन्द्रजालताम् ॥१४६॥

अन्वयः—न जानामि एतत् किं इति अन्ते तव शरणं अत एव महान्तः अस्यइन्द्रजालतां प्रवदन्ति ।

'न जानामीति' ॥१४६॥

स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति मानने वाले (चार्वाक आदि) की शंका का समाधान—

यदि शंका करो कि इस (जगदुत्पत्ति) को वीर्य का स्वभाव मानो तो बताओ तुमने यह स्वभाव कैसे जाना यदि कहो की अन्वय व्यतिरेक से पहचानता हूँ तो तुम्हारे अन्वय व्यतिरेक तो वन्ध्या स्त्री में वीर्य व्यर्थ हो जाते हैं ॥१४५॥

यदि कहो अन्वय व्यतिरेक से जानते हैं इस शंका का उत्तर वन्ध्या स्त्री में पड़ा वीर्य या वीर्य स्वय वन्ध्य होता है वह व्यर्थ जाता है। अतएव जहाँ जहाँ वीर्य है वहाँ-वहाँ देहादि होते हैं यह व्याप्ति नहीं घटती और व्याप्ति के अभाव में, "वीर्य हो तो देहादि हों" यह अन्वय नहीं घटता। फिर स्वेदज "जूँ" आदि और उद्भिज वृक्ष आदि की उत्पत्ति में वीर्य कारण नहीं होता इसलिए वीर्य न होने से देहादि भी नहीं होते यह व्यतिरेक भी नहीं घटता ॥१४५॥

इस प्रकार बारम्बार प्रश्न करने में अन्त में तुम्हारा यही उत्तर होगा कि मैं नहीं जान सकता—

इस विषय में मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ। इस प्रकार अज्ञान ही अन्त में तुम्हारी शरण है अर्थात् अज्ञान को किसी भी प्रकार से मानना ही पड़ेगा। इसलिए महान् पुरुषों ने इस माया को केवल इन्द्र जाल कहा है ॥१४६॥

उक्तानिर्वचनीयत्वे वृद्धसंमतिं दर्शयति —

एतस्मात्किमिवेन्द्रजालमपरं यद्गर्भवासस्थितं
रेतश्चेतति हस्तमस्तकपदप्रोद्भूतनानाङ्कुरम् ।
पर्यायेण शिशुत्वयौवनजरावेषैरनेकैर्वृतं
पश्यत्यत्ति शृणोति जिघ्रति तथा गच्छत्यथागच्छति ॥१४७॥

अन्वयः — एतस्मात् अपरं यत् गर्भवावासस्थितं रेतः चेतति हस्तमस्तकपदप्रोद्भूतनानाङ्कुरं पर्यायेण शिशुत्वयौवनजरावेषैः अनेकैः वृतं पश्यति अत्ति शृणोति जिघ्रति तथा गच्छति अथ आगच्छति, एतस्मात् अपरं इन्द्रजालं किमिव ।

न केवलं देहस्यैव दुर्निरूपत्वं, किन्तु वटवृक्षादेरपीत्याह—

देहवद्वटधानादौ सुविचार्य विलोक्यताम् ।
क्व धानाः[1] कुत्र वा वृक्षस्तस्मान्मायेति निश्चिनु ॥१४८॥

अन्वयः :—वटधानादौ देहवत् सुविचार्य विलोक्यतां क्व धानाः कुत्र वा वृक्षाः तस्मात् मायेति निश्चिनु ।

'देहवदिति' ॥१४८॥

पूर्वोक्त माया के अनिवर्चनीय होने में वृद्धजनों की सम्मति दिखाते हैं—

इस संसार में इससे बड़ा इन्द्रजाल और क्या होगा ? गर्भ में है वास जिसका ऐसा वीर्य चेतन होता (चेष्टा करता) है और उसमें हाथ, मस्तक, चरण आदि अंकुर पैदा होते हैं और वही वीर्य क्रम से (समय भेद से) बालक, यौवन, जरा आदि अनेक वेषों से युक्त होकर देखता है, खाता है, सुनता है, सूंघता है गमन आगमन करता है । ऐसे ही दूसरी क्रियाएँ भी करता है ॥१॥

केवल देह ही अनिर्वचनीय नहीं किन्तु वट वृक्ष आदि में भी ऐसे ही है—

देह के समान वट बीज अन्न आदि में भी भले प्रकार विचार कर देखो कहाँ तो सूक्ष्म सा बीज है, कहाँ विशाल वृक्ष, यह सब देखकर निश्चय कर लो कि यह सब माया है ॥१४८॥

विशेष—(१) धानाबीजं—न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति (छा० ६।१२।१) इससे सामने वाले वट वृक्ष से एक वट का फल ले आ ।

नन्वस्माभिर्निर्वक्तुमशक्यत्वेऽपि 'उदयना' दिभिराचार्यैर्निरुच्यत इत्याशङ्क्याह –

निरुक्तावभिमानं ये दधते तार्किकादयः ।

हर्षमिश्रादिभिस्ते तु खण्डनादौ सुशिक्षिताः ॥१४९॥

अन्वय : – ये तार्किकादयः निरुक्तौ अभिमानं दधते हर्षमिश्रादिभिः ते तु खण्डनादौ सुशिक्षिताः । 'निरुक्ताविति' ॥१४९॥

उक्तार्थे सांप्रदायिकानां वाक्यं संवादयति –

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केषु योजयेत् ।

अचिन्त्यरचनारूपं मनसापि जगत्खलु ॥१५०॥

अन्वय :—अचिन्त्या खलु ये भावाः न तान् तर्केषु योजयेत् अचिन्त्यरचनारूपं मनसापि खलु जगत् अस्ति ।

'अचिन्त्या इति' ॥१५०॥

शंका करो कि हम माया का निरूपण नहीं कर सकते तो उदयनाचार्य आदि निरूपण कर सकते हैं इसका उत्तर देते हैं—

जो बड़े-बड़े तार्किक आदि इस संसार की निरुक्ति (कथन) का अभिमान रखते हैं अर्थात् माया को सत्य कहते हैं । उनको श्री हर्ष मिश्र आदिकों ने खण्डन आदि ग्रन्थों में भले प्रकार शिक्षा दी है। उनका खण्डन रूप दण्ड दिया है ॥१४९॥

अब इस विषय में साम्प्रदायिकों के वेदान्ताचार्यों के वाक्य प्रमाण रूप से उपस्थित करते हैं –

वेदान्ताचार्यों ने कहा है कि जो भाव (पदार्थ) अचिन्त्य हैं उनको कल्पना रूप तर्क से नहीं कसना चाहिए । क्योंकि यह जगत् ऐसा ही है कि उसकी रचना का चिन्तन मन से भी सम्भव नहीं है ॥१५०॥

ननु भवत्येवं जगतोऽचिन्त्यरचनात्वं, मायायां किमायातमित्यत आह—

अचिन्त्यरचनाशक्तिबीजं मायेति निश्चिनु ।
मायाबीजं तदेवैकं सुषुप्तावनुभूयते ॥१५१॥

अन्वय :—अचिन्त्यरचनाशक्तिबीजं मायेति निश्चिनु तदेव एकं मायाबीजं सुषुप्तौ अनुभूयते ।

'अचिन्त्यरचनेति' । अचिन्त्यरचनाशक्तिमत् यद्बीजं कारणं सैव मायेत्यर्थः । नन्वेवंविधं कारणं क्व दृष्टमित्यत आह —'मायेति' ॥१५१॥

कथं तस्य जगद्बीजत्वमित्यत आह--

जाग्रत्स्वप्नजगत्तत्र लीनं बीज इव द्रुमः ।
तस्मादशेषजगतो वासनास्तत्र संस्थिताः ॥१५२॥

अन्वय : —जाग्रत्स्वप्नजगत् तत्र बीजे द्रुम इव लीनं तस्मात् अशेष जगतः तत्र वासनाः संस्थिताः ।

'जाग्रदिति' । ततः किमित्यत आह—'तस्मादिति' यतो जगत्कारणं माया अतोऽशेषजगद्वासनास्तत्र[१] मायायां तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥१५२॥

शंका जगत् की रचना अचिन्त्य हो तो हो माया से इसका क्या सम्बन्ध इसका उत्तर देते हैं—

अचिन्त्य रचना की शक्ति का बीज (कारण) माया हैं । यह समझ लेना चाहिए । जिस कारण की रचना शक्ति का विचार भी न किया जा सके उसे माया समझ लेना चाहिए । इसी एक माया रूपी कारण का अनुभव सुषुप्ति के समय हुआ करता है ॥१५१॥

यह माया जगत् का बीज कैसे है ? उस रीति को कहते हैं—

जाग्रत और स्वप्न नाम का जगत् उस सुषुप्ति कालीन माया बीज में छोटे से बीज में जैसे वृक्ष छिपा रहता है-जिससे जगत् का कारण माया है इसलिए सब जगत् की वासनाएँ (ज्ञानजन्य संस्कार) उस माया में स्थित रहती है ॥१५२॥

विशेष—सुषुप्तावनुभूयमाने जाग्रत्स्वप्नरूपजगतः बीजे ।

ततोऽपि किं तत्राह—

या बुद्धिवासनास्तासु चैतन्यं प्रतिबिम्बति ।
मेघाकाशवदस्पष्टचिदाभासोऽनुमीयताम् ॥१५३॥

अन्वयः—या बुद्धिवासनाः तासु चैतन्यं प्रतिबिम्बति मेघाकाशवत् अस्पष्ट चिदाभासःअनुमीयतां ।

'या बुद्धीति' । ननु तासु प्रतिबिम्बोऽस्ति चेत्कुतो नानुभूयत इत्याशङ्क्याऽस्पष्टत्वादित्याह— 'मेघेति' । तर्हि कुतस्तत्सिद्धिरित्यत आह 'अनुमीयतामिति ॥१५३॥

ननु मेघांशोदकस्यास्पष्टाकाशप्रतिबिम्बवत्त्वेऽपि तज्जातीयस्य घटोदकस्य स्पष्टाकाशप्रतिबिम्बवतः सद्भावान्मेघाकाशानुमानं घटते, इह तथाविधदृष्टान्ताभावात्कथमनुमानोदय इत्याशङ्क्यात्रापि तथा विधदृष्टान्त संपादनायाह—

साभासमेव तद्बीजं धीरूपेण प्ररोहति ।
अतो बुद्धौ चिदाभासो विस्पष्टं प्रतिभासते ॥१५४॥

अन्वय :—तद्बीजं साभासं एव धीरूपेण प्ररोहति अतः बुद्धौ चिदाभासः विस्पष्टं प्रतिभासते ।

'साभासमिति' । चिदाभासविशिष्टं देवाज्ञानं बुद्धिरूपेण परिणममानं विस्पष्टचिदाभास वद्भवतीति भावः । एवं चेदनुमानमत्र सूचितं भवति—विमता बुद्धिवासनाश्चित्प्रतिबिम्बवत्यो भवितुमर्हन्ति, बुद्ध्यवस्थाविशेषत्वात्, बुद्धिवृत्तिवदिति ।१५४॥

इससे क्या सिद्ध हुआ ? यह बताते हैं -

(उस माया में) जो (जाग्रत्-स्वप्न रूप जगत् के ज्ञान रूप) बुद्धि की (अपने उपादान सत्त्व गुण रूप से) वासना है । शंका बुद्धि की वासनाओं में प्रतिबिम्ब है अनुभव क्यों नहीं होता उसे दृष्टान्त से कहते हैं । वह चिदाभास मेघाकाश के समान अस्पष्ट है । अतएव उसको अनुमान प्रमाण से मान लो ॥१५३॥

शंका हो कि मेघ के अंश जल में आकाश का अस्पष्ट प्रतिबिम्ब हो, परन्तु उसका सजातीय जो घट का जल है उसमें तो आकाश का प्रतिबिम्ब स्पष्ट है । इसलिए मेघ के आकाश का अनुमान घट सकता है । (यहाँ वासना गत चिदाभास में) कोई ऐसा दृष्टान्त है नहीं, इससे कैसे अनुमान हो सकता है इसका उत्तर यहाँ भी वैसा ही दृष्टान्त हो सकता है -

चिदाभास से युक्त वह (माया रूप) बीज (अज्ञान बुद्धि रूप से परिणत हो जाता है, इसलिए वह चिदाभास बुद्धि में स्पष्ट प्रतीत होने लगता है ॥ ५४॥

चिदाभास सहित जो माया का बीज है वही बुद्धि से जमता है अर्थात् चिदाभास विशिष्ट अज्ञान ही बुद्धि रूप से परिणाम को प्राप्त हुआ स्पष्ट चिदाभास के तुल्य होता है इसलिए यहाँ यह अनुमान है कि विवाद की आस्पद विषय बुद्धि की वासनाएँ चेतन प्रतिबि ब वाली होने योग्य है । बुद्धि की अवस्था होने, बुद्धि के वृत्ति के समान ॥१५४॥

एवं जीवेश्वरयोर्मायिकत्वं श्रुत्युक्तमुपपादितमुपसंहरति—

माथाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतौ श्रुतम् ।
मेघाकाशजलाकाशाविव तौ सुव्यवस्थितौ ।।१५५।।

अन्वय :—मायाभासेन जीवेशौ करोति इति श्रुतौ श्रुतं मेघाकाशजलाकाशौ इव तौ सुव्यवस्थितौ ।

'मायाभासेनेति' । ननु जीवेशेयोर्मायिकत्वे समाने कथमवान्तरभेदसिद्धिरित्याशङ्क्यास्पष्टस्पष्टो-पाधिमत्त्वेन मेघाकाशजलाकाशयोरिव तत्सिद्धिरित्याह—'मेघाकाशेति' ।।१५५।।

इस प्रकार श्रुति में कही जीव ईश्वर की मायिकता का उपादान आरम्भ कर उसका उपसंहार करते हैं—

यह माया आभास के द्वारा जीव और ईश्वर को बना देती है, यह श्रुति में कहा गया है ।

शंका—(मूल प्रकृति अपने में चेतन का आभास करके जीव और ईश्वर को बनाती है । इस प्रकार जीव और ईश्वर का मायिकपना श्रुति से सिद्ध है) फिर इनमें अवान्तर भेद कैसा है यह बताते हैं । ये दोनों जीव और ईश्वर मेघाकाश और जलाकाश की तरह सुव्यवस्थित हैं । (यद्यपि दोनों मायिक है' परन्तु अज्ञानावृत वासना रूप अस्पष्ट और बुद्धि रूप स्पष्ट उपाधि वाले होने से मेघाकाश जलाकाश की तरह इन दोनों का अवान्तर भेद स्पष्ट हो रहा है ।।१५५।।

विशेष १—यहाँ मायिक का अर्थ यह नहीं है कि जीव और ईश्वर माया का कार्य है किन्तु यह अर्थ है कि माया कीसिद्धि के आधीन अपनी सिद्धि वाले जीव और ईश्वर है यह अर्थ है । इसी प्रकार माया जीव ईश्वर को बनाती है का अर्थ भी यही है कि माया अपनी सिद्धि से इनकी सिद्धि को दर्शाती है यदि जीव ईश्वर को माया का कार्य मानो तो छः अनादि पदार्थों में उनकी गणना कैसे सम्भव है—जीवेशो विशुद्धाचित् तथा जीवेशयो भिदा । अविद्यातच्चितोयोगात षडास्माकमनादयः (१) जीव (२ ईश्वर ३ शुद्ध चैतन्य (४) जीव-ईश्वर का भेद (५) अविद्या और शुद्ध चैतन्य का सम्बन्ध ये छः वस्तु स्वरूप से अनादि है-इस वार्तिककार का उक्त सिद्धान्त के विरोध से और माया आभास से जीव-ईश्वर को बनाती है-इस श्रुतिगत (बनाती है) इस पद का भी माया अपनी सिद्धि के अधीन जीव-ईश्वर की सिद्धि को दिखाती है यह ही अर्थ है ।

ईशस्य मेघाकाशसाम्यं स्फुटीकरोति—

मेघवद्वर्तते माया मेघस्थिततुषारवत् ।
धीवासनाश्चिदाभासस्तुषारस्थखवत्स्थितः ॥१५६॥

अन्वयः—मेघवत् माया वर्तते मेघस्थिततुषारवत् धीवासनाः चिदाभासः तुषारस्थखवत्स्थितः ।
'मेघवदिति' ॥१५६॥

माया प्रतिबिम्बस्येश्वरत्वे किं प्रमाणमित्याशङ्क्य, श्रुतिरेवेत्याह—

मायाधीनाश्चिदाभासः श्रुतौ मायी महेश्वरः ।
अन्तर्यामी च सर्वज्ञो जगद्योनिः स एव हि ॥१५७॥

अन्वयः—मायाधीनाश्चिदाभासः श्रुतौ मायी महेश्वरः स एव हि अन्तर्यामी सर्वज्ञः जगद्योनिः च ।

'मायाधीन इति' । न केवलमीश्वरत्वमस्य श्रुतं, अपि त्वन्तर्यामित्वादिकमपि धर्मजातं श्रुतमस्तीत्याह—'अन्तर्यामीति' ॥१५७॥

अब ईश्वर को मेघाकाश की तुल्यता को स्पष्टीकरण करते हैं—

मेघ के समान माया बर्तती है और मेघ की स्थित तुषारों (सूक्ष्म जल बिन्दुओं) के समान बुद्धि की वासनाएँ हैं । उन उन तुषारों में स्थित आकाश (आकाश के प्रतिबिम्ब) के समान चिदाभास है वही ईश्वर है ॥१५६॥

अब माया प्रतिबिम्ब के ईश्वर होने में श्रुति प्रमाण कहते हैं—

चिदाभास (शुद्ध सत्व-प्रधान प्रकृति का अंश) माया के अधीन होता है. श्रुतियों से सुना है कि वह महेश्वर मायी अर्थात् माया का अधीश्वर है । वह मायागत प्रतिबिम्ब ईश्वर है । वही ईश्वर अन्तर्यामी सर्वज्ञ और जगत् का कारण है ॥१५७॥

विशेष १—एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्यामी एषयोनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् (मा० ६) यह सब का ईश्वर है यह सर्वज्ञ है यह अन्तर्यामी है यह समस्त जीवों की उत्पत्ति तथा लय स्थान होने के कारण यह सब का कारण भी है ।

ननु धीवासनाप्रतिबिम्बस्येश्वरत्वादिकं कथं श्रुतिसिद्धमित्याशङ्क्य, तदुपपादिकां (नृ० उ० ता० १।१) श्रुतिं दर्शयति—

सौषुप्तमानन्दमयं प्रक्रम्यैवं श्रुतिर्जगौ ।
एष सर्वेश्वर इति सोऽयं वेदोक्त ईश्वरः ॥१५८॥

अन्वयः—सौषुप्तमानन्दमयं प्रक्रम्य एवं श्रुतिर्जगौ एषः सर्वेश्वरः इति सोऽयं वेदोक्तः ईश्वरः ।

'सौषुप्तमिति' । सुषुप्तस्थान 'एकीभूतः प्रज्ञानघन एव' (नृ० पू० ता० ४।१) इत्यादिका श्रुतिः धीवासनाप्रतिबिम्बरूपस्यानन्दमयस्येश्वरत्वादिकं प्रतिपादयतीत्यर्थः ॥१५८॥

अब बुद्धि की वासना में प्रतिबिम्ब ईश्वर होना श्रुति से सिद्ध है यह वर्णन करने वाली श्रुति को कहते हैं—

सुषुप्ति समय के आनन्दमय कोश के विषय में श्रुति ने सुषुप्ति के समय एक रूप प्रज्ञानघन ही है । यह श्रुति आरम्भ से धी वासना में प्रतिबिम्ब आनन्दमय[1] को ईश्वर कहती है वह सर्वेश्वर है, वही वेदोक्त ईश्वर है ॥१५८॥

विशेष १—विज्ञानमय जीव ही सुषुप्तिकाल में सूक्ष्म रूप से विलीन होकर आनन्दमय कहलाता है यदि उसको ईश्वर मानें तो जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओं में अन्तःकरण की विलीन अवस्था रूप आनन्दमय कोश का अभाव होने से ईश्वर का भी अभाव मानना होगा और अनन्त पुरुषों की सुषुप्ति में ईश्वर भी अनन्त मानने पड़ेंगे । तथा आनन्दमय तो उन पाँच कोशों में से है । जिनको सभी ग्रन्थकारों ने जीव के पाँच कोश बताये हैं । अतएव आनन्दमय कोश को ईश्वर नहीं माना जा सकता, फिर यहाँ आनन्दमय कोश को ईश्वर क्यों बताया है । इसका समाधान यह है कि माण्डूक्य उपनिषद् में आनन्दमय कोश को सर्वज्ञ और सर्वेश्वर केवल उन लोगों के लिए बताया है जो मन्द बुद्धि हैं और महावाक्यों के विचार से तत्त्व साक्षात्कार के अयोग्य हैं । उन्हें प्रणव चिन्तन बताया है और जीव तथा ईश्वर में अभेद चिन्तन के लिए आनन्दमय को ईश्वर बताया है । यहाँ आनन्दमय को ईश्वर बताने का विद्यारण्य स्वामी का भी अभिप्राय जीव ईश्वर के अभेद चिन्तन को बताना मात्र ही है ।

नन्वानन्दमयस्य सर्वज्ञत्वादिकमनुभवविरुद्धमित्याशङ्क्याह—

सर्वज्ञत्वादिके तस्य नैव विप्रतिपद्यताम्।
श्रौतार्थस्यावितर्क्यत्वान्मायायां सर्वसंभवात् ॥१५६॥

अन्वयः—सर्वज्ञत्वादिके तस्य नैव विप्रतिपद्यतां श्रौतार्थस्यावितर्क्यत्वात् मायायां सर्वं सम्भवात्।

'सर्वज्ञत्वादिक इति'। कुत इत्यत आह—'श्रौतेति'। इतोऽपि न विप्रतिपत्तिः कार्येत्याह—'मायायामिति' ॥१५६॥

नन्वनुकूलयुक्त्यभावे श्रुतिरपि ग्रावप्लववाक्यवदर्थवादः स्यादित्याशङ्क्य, श्रुतिप्रामाण्यसिद्धये सर्वेश्वरत्वादिकमुपपादयति—

अयं यत्सृजते विश्वं तदन्यथयितुं पुमान्।
न कोऽपि शक्तस्तेनायं सर्वेश्वर इतीरितः ॥१६०॥

अन्वयः—अयं यत् विश्वं सृजते तत् कोऽपि पुमान् अन्यथयितुं न शक्तः तेन अयं सर्वेश्वरः इति ईरितः।

'अयमिति'। अयमानन्दमयो यज्जाग्रदादि विश्वं सृजति, तन्न केनाप्यन्यथाकर्तुं शक्यते, अतोऽयं 'सर्वेश्वर' इत्यर्थः ॥१६०॥

शंका—वह आनन्दमय सर्वज्ञ नहीं हो सकता इसका उत्तर—

उस आनन्दमय के सर्वज्ञता आदि गुणों में शंका नहीं करनी चाहिए। (चाहे वह सर्व साधारण के अनुभव में नहीं आते) क्योंकि श्रुति की बतायी बात में तर्क नहीं करना चाहिए। और माया में सब कुछ करने की सामर्थ्य है। एन्द्रजालिक माया की तरह वह अघटित[1] पदार्थ को भी रचने में समर्थ है ॥१५६॥

यदि शंका हो कि अनुकूल युक्ति के अभाव में श्रुति भी पत्थर नौका है। इस वाक्य के समान अर्थवाद हो जायेगी। श्रुति की प्रमाणता को सिद्ध करने के लिए आनन्दमय कोश के सर्वेश्वरता आदि गुणों को युक्ति और हेतु से सिद्ध करते हैं—

यह आनन्दमय जिस जाग्रदादि रूप जगत् की रचना करता है। उस जगत् को कोई भी उलटने (बदलने में) समर्थ नहीं है। यही कारण है कि ईस को 'सर्वेश्वर कहा' गया है ॥१६०॥

विशेष १ –अद्वैतवादिनां तु अघटितघटनाऽवभासमानचतुरमायामहिम्ना स्वप्ने यथा दर्शनम् सर्वमुपपन्नम्। विचार्यमाणे सर्वं अयुक्तम्। (ब्र० सू० रत्न पु० २।१।१८)।

इदानीं सर्वज्ञत्वमुपपादयति—

अशेषप्राणिबुद्धीनां वासनास्तत्र संस्थिताः ।
ताभिः क्रोडीकृतं सर्वं तेन सर्वज्ञ ईरितः ॥१६१॥

अन्वय : अशेषप्राणिबुद्धीनां तत्र वासनाः संस्थिताः ताभिः सर्वं क्रोडीकृतं तेन ईश्वरः सर्वज्ञः ।

'अशेषेति' । तत्र सौषुप्तेऽज्ञाने कारणभूते कार्यभूतानां सर्वप्राणिबुद्धीना वासना निवसन्ति, ताभिश्च वासनाभिः सर्वं जगत् क्रोडीकृतं विषयीकृतं, तेन सर्वबुद्धिवासनावदज्ञानोपाधिकत्वेन 'सर्वज्ञ' उच्यत इत्यर्थः ॥१६१॥

ननु यदि सर्वज्ञत्वमस्ति तर्हि तत् कुतो नानुभूयत इत्याशङ्क्य, तदुपाधीनां वासनानां परोक्षत्वान्नानुभव इत्याह—

वासनानां परोक्षत्वात्सर्वज्ञत्वं नहीक्ष्यते ।
सर्वबुद्धिषु तद्दृष्ट्वा वासनास्वनुमीयताम् ॥१६२॥

अन्वय :—वासनानां परोक्षत्वात् सर्वज्ञत्वं न हि ईक्ष्यते तत् सर्व बुद्धिषु दृष्ट्वा वासनासु अनुमीयतां ।

'वासनानामिति' । कथं तर्हि तदवगम इत्याशङ्क्याह 'सर्वबुद्धिष्विति' सर्वबुद्धिनिष्ठं सर्वज्ञत्वं स्वकारणभूतवासनागतसर्वज्ञत्वपुरःसरं भवितुमर्हति, कार्यनिष्ठधर्मविशेषत्वात् पटगतरूपादिवदित्यर्थः ॥१६२॥

अब ईश्वर की सर्वज्ञता का प्रतिपादन करते हैं—

उस कारण रूप सुषुप्ति कालीन अज्ञान में कार्य रूप जो सम्पूर्ण प्राणियों की बुद्धि उनकी वासना स्थित है और उन वासनाओं ने सारे जगत् को अपना विषय बनाया हुआ है । इस कारण उन सब बुद्धियों की वासनाओं से युक्त अज्ञानोपाधिवाला होने से यह आनन्दमय 'सर्वज्ञ' कहलाता है ॥१६१॥

यदि कहो कि वह सर्वज्ञ है तो जाना क्यों नहीं जाता उत्तर उसकी उपाधि रूप वासनाओं को प्रत्यक्ष होने से उसकी सर्वज्ञता नहीं दीखती उपाधि रूप वासनाओं के (परोक्ष) प्रकट न होने से सर्वज्ञता नहीं दिखाई देती, किन्तु सम्पूर्ण बुद्धियों में सर्वज्ञता को देखकर वासनाओं में उस सर्वज्ञता का अनुमान कर लेना चाहिए ॥१६२॥

सम्पूर्ण बुद्धियों में सर्वज्ञता को देखकर बुद्धि कारणभूत वासनाओं में उस सर्वज्ञता का अनुमान कर लेना चाहिये । यहाँ अनुमान इस प्रकार होगा–सब बुद्धियों में (उनको मिलाकर उन सब में। स्थित सर्वज्ञता, अपने कारण रूप वासना में विद्यमान सर्वज्ञता पूर्वक होनी चाहिए क्योंकि वह कार्य रूप सर्वबुद्धियों में स्थित धर्म विशेष है, तन्तुओं के वस्त्र में विद्यमान रूप आदि की तरह ॥१६२॥

सर्वज्ञत्वमुपपाद्य 'एषोऽन्तर्यामी' (छा० ३·६. नृ० उ० १।१)इति श्रुत्युक्तमन्तर्यामित्वमुपपादयति –

विज्ञानमयमुख्येषु कोशेष्वन्यत्र चैव हि ।
अन्तस्तिष्ठन्यमयति तेनान्तर्यामितां व्रजेत् ॥१६३॥

अन्वय : विज्ञानमयमुख्येषु कोशेषु अन्यत्र चैव हि अन्तःतिष्ठन् यमयति तेन अन्तर्यामितां व्रजेत् ।

'विज्ञानेति' । अन्यत्र पृथिव्यादौ तिष्ठन् यमयति यतस्तेनेत्यन्वयः ॥१६३॥

अस्मिन्नर्थेऽन्तर्यामिब्राह्मणं कृत्स्नं प्रमाणमिति दर्शयितुं तदेकदेशभूतं 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' (छा० ३।७ २२) इत्यादिवाक्यमर्थतोऽनुक्रामति –

बुद्धौ तिष्ठन्नान्तरोऽस्या धियानीक्ष्यश्च धीवपुः ।
धियमन्तर्यमयतीत्येवं वेदेन घोषितम् ॥१६४॥

अन्वय : अस्याः बुद्धौ तिष्ठन् आन्तरः धीवपुः धियानीक्ष्यश्चधियमन्तर् यमयति इत्येवं वेदेन घोषितं ।

'बुद्धाविति' ॥१६४॥

अब सर्वज्ञ को कहकर अन्तर्यामी रूप वर्णन करते हैं—

विज्ञानमय आदि चार कोशों और पृथिवी आदि भूतों के भीतर बैठकर इनको प्रेरित करता है। (या नियम में रखता है) इसी से वह अन्तर्यामी (अन्दर रहकर नियमन करने वाला) कहलाता है ॥१६३॥

इस अर्थ में सम्पूर्ण अन्तर्यामी ब्राह्मण प्रमाण देते हैं—

जो विज्ञानमय कोश रूप बुद्धि में स्थित हुआ वह अन्तर्यामी विज्ञान के भीतर है। जिसे विज्ञान नहीं जानता विज्ञान जिसका शरीर है जो भीतर रहकर विज्ञान का नियमन करता है। वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत परमेश्वर है यह वेद ने कहा है ॥१६४॥

इदानीमन्तर्यामिब्राह्मणस्य प्रतिपर्यायव्याख्याने ग्रन्थबाहुल्यभयाद्व्याख्यानस्य सर्वपर्यायसंचारित्व-सिद्धये 'यः सर्वेषु भूतेषु' इति पर्यायं व्याचक्षाणो 'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्' (बृ० ३।७।२२) इत्यस्यार्थं दृष्टान्तेनाह—

तन्तुः पटे स्थितो यद्वदुपादानतया तथा ।
सर्वोपादानरूपत्वात्सर्वत्रायमवस्थितः ॥१६५॥

अन्वयः—यद्वत् तन्तुः पटे उपादानतया स्थितः तथा सर्वोपादनरूपत्वात् अयं सर्वत्र अवस्थितः । 'तन्तुरिति' ॥१६५॥

ननूपादानतया सर्वत्रायमवस्थितश्चेत् किमिति सर्वत्र नोपलभ्येतेत्याशङ्क्य, सर्वान्तरत्वादित्याह—

पटादप्यान्तरस्तन्तुस्तन्तोरप्यंशुरान्तरः ।
आन्तरत्वस्य विश्रान्तिर्यत्रासावनुमीयताम् ॥१६६॥

अन्वयः—पटादपि तन्तुः आन्तरः तन्तोः अपि अंशुः आन्तरः यत्र आन्तरत्वस्य विश्रान्तिः असौ अनुमीयताम् ।

'पटादपीति'। अत्रेदमनुमानम् आन्तरत्वतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं तारतम्यत्वात्, अणुत्वतारतम्यवदिति ॥१६६॥

अब अन्तर्यामी ब्राह्मण के सब पर्यायों की व्याख्या से तो ग्रन्थ बढ़ने का भय है, इससे व्याख्यान से सब पर्यायों में संचार की सिद्धि के लिए जो समस्त भूतों में स्थित रहने वाला समस्त भूतों के भीतर है इस पर्याय की व्याख्या करते हूए इसका अर्थ दृष्टान्त से कहते हैं—

जैसे उपादान रूप से तन्तु (सूत) वस्त्र में स्थित है। इसी प्रकार सब का उपादान होने से यह अन्तर्यामी ईश्वर भी सर्वत्र स्थित है। 'यः सर्वेषु भूतेषु' इस श्रुति वाक्य में कही है ॥१६५॥

यदि कहो उपादान रूप से वह सर्वत्र स्थित है तो सर्वत्र प्रतीत क्यों नहीं होता इसका उत्तर देते हैं सब के भीतर है—

पट से भी भीतर तन्तु होता है और तन्तु के भीतर अंशु (सूक्ष्म तन्तु होता है) इस प्रकार जहाँ आन्तरपने की समाप्ति हो जाय, वहाँ इस ईश्वर को अनुमान से जान लेना चाहिए, अर्थात् सबके भीतर होने से ही वह सर्वत्र उपलब्ध नहीं होता ॥१६६॥

यह अनुमान इस प्रकार होगा, आन्तरता का तारतम्य (न्यूनाधिक भाव) कहीं तो समाप्त होगा क्योंकि वह तारतम्य है- जैसे अणुत्व का तारतम्य है ॥१६६॥

नन्वान्तरत्वेऽप्यंशवादिवदन्तर्यामिणो दर्शनं किं न स्यादित्याशङ्क्य, तेषामिव बाह्यत्वाभावान्न दृश्यत इत्याभिप्रायेणाह—

द्वित्र्यान्तरत्वकक्षाणां दर्शनेऽप्ययमान्तरः ।
न वीक्ष्यते ततो युक्तिश्रुतिभ्यामेव निर्णयः ॥१६७॥

अन्वयः—द्वित्र्यान्तरत्वकक्षाणां दर्शनेपि अयमान्तरः न वीक्ष्यते ततः युक्तिश्रुतिभ्यामेवः निर्णय ।

'द्वित्र्यान्तरत्वेति' । कुतस्तर्हि तन्निर्णय इत्यत आह 'तत इति' । अचेतनस्य चेतनाधिष्ठानमन्तरेण प्रवृत्त्यनुपपत्तिर्युक्तिः । श्रुतिस्तूदाहृतैव ।।१६७।।

'यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्' (बृ० ३।७।१६) इत्यस्यार्थमाह—

पटरूपेण संस्थानात्पटस्तन्तोर्वपुर्यथा ।
सर्वरूपेण संस्थानात्सर्वमस्य वपुस्तथा ।।१६८।।

अन्वयः—पटरूपेण संस्थानात् यथा तन्तोः वपुः पट सर्वरूपेण संस्थानात् तथा अस्य सर्वं वपुः ।

'पटरूपेणेति' । पटरूपेणावस्थितस्य तन्तोः पटः शरीरं यथा, एवं सर्वरूपेणावस्थितस्य सर्वशरीरमित्यर्थः ।।१६८।।

सबसे भीतर होने पर भी सूक्ष्म तन्तुओं की तरह अन्तर्यामी दिखना चाहिए । फिर क्यों दर्शन नहीं होता इसका समाधान करते हैं--

आन्तरता की दो तीन अवस्थाओं के तो दर्शन बाह्य पटादि पदार्थों में हो जाते हैं । उसमें बाह्य तो होता नहीं वह अन्तर्यामी सब का सब आन्तर है वह बाह्य नहीं, इस कारण इसके सद्भाव का निर्णय युक्ति और श्रुति के सहारे ही करना पड़ता है कोई भी अचेतन अधिष्ठता के बिना प्रवृत्त नहीं हुआ करता यह तो उसकी सिद्धि में युक्ति है, श्रुति का उदाहरण पहले १६४वें श्लोक में दे चुके हैं ।।१६७।।

इस वाक्य का अर्थ कहते हैं --

जैसे (तन्तुओं का) पट रूप हो जाने पर वह पट तन्तु का शरीर माना है । वैसे वह अन्तर्यामी सर्वरूप (समस्त जगत् रूप) में स्थित हो जाता है । इसलिए यह सब जगत ही उसका शरीर माना जाता है ।।१६८।।

'यः सर्वाणि भूतान्यान्तरो यमयति' (बृ० ३।७।१५) इति वाक्यस्य तात्पर्यं सदृष्टान्तमाह श्लोकद्वयेन—

तन्तोः संकोचविस्तारचलनादौ पटो यथा ।
अवश्यमेव भवति न स्वातन्त्र्यं पटे मनाक् ॥१६९॥

अन्वयः—तन्तोः संकोचविस्तारचलनादौ यथा पटः अवश्यमेव भवति पटे मनाक् स्वातन्त्र्यं न । 'तन्तोरिति' १६९॥

तथाऽन्तर्याम्ययं यत्र यया वासनया यथा ।
विक्रियेत तथाऽवश्यं भवत्येव न संशयः ॥१७०॥

अन्वयः—तथा अयं अन्तर्यामी यत्र यया वासनया यथा विक्रियेत तथा अवश्यं भवति एव संशयः न ।

'तथेति' । तन्तुसंकोचादिना पटसंकोचादिर्यथा भवति, एवं पृथिव्यादिषूपादानत्वेन स्थितोऽन्तर्यामी यथा यया वासनया यथा घटादिकार्यरूपेण विक्रियेत तथा तत्कार्यजातमवश्यं भवतीति भावः ॥१७०॥

जो सब भूतों के अन्तर होकर नियामक है इस वाक्य का तात्पर्य दृष्टान्त सहित दो श्लोकों से कहते हैं—

जैसे तन्तु को सिकोड़ने फैलाने या हिलाने डुलाने पर वस्त्र भी क्रमशः अवश्य सिकुड़ता, फैलता और हिलता, डुलता है । पट में लेश मात्र भी स्वतन्त्रता नहीं है ॥१६९॥

जैसे तन्तु के संकोच आदि से पट का संकोच आदि होता है ठीक उसी प्रकार (पृथिवी आदि में उपादान रूप से रहने वाला) यह अन्तर्यामी जिस जिस वासना से घट रूप कार्य में विकृत हो जाता है वह वह कार्य अवश्य होकर रहते हैं । इसमें कोई संदेह नहीं है ॥१७०॥

एवमन्तर्यामिप्रतिपादिकं श्रुतिमुपन्यस्य, स्मृतिमप्युपन्यस्यति—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
भ्रामयन्त्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥१७१॥

अन्वयः—हे अर्जुन ! ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया भ्रामयन् ।

'ईश्वर इति' ॥१७१॥

अब अन्तर्यामी की बोधक श्रुति को कहकर स्मृति को कहते हैं—

यह श्लोक गीता के १८वें अध्याय का ६१वाँ श्लोक है । हे अर्जुन ! ईश्वर[1] सभी प्राणियों के हृदय देश में स्थित है । वह यन्त्रारूढ़ सब भूतों को अपनी माया के प्रताप से घुमाता रहता है ॥१७१॥

विशेष १—यहाँ ईश्वर एक वचन है अतएव भगवान् के इस वाक्य से ईश्वर एक सिद्ध होता है । इससे ईश्वर रूप अन्तर्यामी नानात्ववादी विष्णु स्वामी का मत निरस्त हो जाता है हृद्देश में जो एक वचन है, वह तो जाति का निर्देशक है क्योंकि अन्य प्रमाणों और लोकानुभव के आधार पर हृदय तो अनेक है ही यों भी शरीर-शरीर में पृथक्-पृथक् ईश्वर मानने में एक ही प्रजा के विभिन्न राजाओं की भाँति एक ब्रह्माण्ड के अनेक नियन्ता होने से विभिन्न इच्छाओं के होने पर जगत् में अव्यवस्था फैल जायेगी । यदि यह कहो कि जैसे एक राजा के अनेक सेवक होते हैं । वैसे ही एक ब्रह्म रूप महेश्वर के अंश भूत नाना नियन्ता मान लेंगे, वह भी सिद्ध नहीं होता । क्योंकि वह एक महेश्वर सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान है या नहीं यदि नहीं है तब तो वह अनीश्वर जीव होगा और यदि है तो वह अकेले में ही सब सामर्थ्य है, तब अंश भूत नाना अन्तर्यामी स्वीकार करना निष्फल ही होगा, वाचस्पति मिश्र ने ईश्वर में नानात्व केवल इसलिए माना है कि अध्यारोप समझकर अपवाद द्वारा मुमुक्षुओं को अद्वैत बोध कराया जा सके । वस्तुतः यह भी ईश्वर का नानात्व स्वीकार नहीं करता ।

'सर्वं भूतानाम्' इति पदस्यार्थमाह—

सर्वभूतानि विज्ञानमयास्ते हृदये स्थिताः ।
तदुपादानभूतेशस्तत्र विक्रियते खलु ॥१७२॥

अन्वयः—सर्वभूतानि विज्ञानमयाः ते हृदये स्थिताः तत्र उपादानभूतेशः तत्र खलु विक्रियते ।

'सर्वभूतानीति' । ते च हृदयपुण्डरीके स्थिताः । ननु तेषां कुतो हृदवस्थानमित्याशङ्क्य, हृदन्तर्यामिणो विज्ञानमयाकारेण परिणामादित्याह—'तदुपादानेति' ।१७२॥

'यन्त्रारूढानि' इत्यत्र 'यन्त्रारोह' शब्दयोरर्थमाह—

देहादिपञ्जरं यन्त्रं तदारोहोऽभिमानिता ।
विहितप्रतिषिद्धेषु प्रवृत्तिर्भ्रमणं भवेत् ॥१७३॥

अन्वयः—देहादिपञ्जरं यन्त्रं तदारोहः अभिमानिता विहितप्रतिषिद्धेषु प्रवृत्तिः भ्रमणं भवेत् ।

'देहादीति' । 'भ्रामयन्' इति पदे प्रकृत्यर्थमाह— 'विहितेति' १७३॥

गीता के सर्वभूतानि इस पद के अर्थ को कहते हैं—

वे हृदय में स्थित है शंका—हृदय में स्थित है सर्वभूतानि पद का अर्थ विज्ञानमय है । वे सब विज्ञानमय कोश रूप जीव के हृदय कमल में स्थित हैं उनका उपादान कारण ईश्वर हृदय में ही विकार को पैदा हुआ करता है ॥१७२॥

अब यन्त्रारूढ़ शब्द का अर्थ लिखते हैं—

देह आदि का यह पिञ्जरा 'यन्त्र' है । इसमें अभिमान कर बैठना ही इस पर "आरोहण" करना है । इसके पश्चात् देहभिमानी का विहित (शुभ) और प्रतिषिद्ध (अशुभ) कर्मों में प्रवृत हो जाना ही उसका भ्रमण कहलाता है ॥१७३॥

विशेष १—धात्वर्थम् भ्रमु अनवस्थाने इति धातुः एवं च प्रवृत्तावनवस्थानत्वम् ।

इदानीं णिच्प्रत्ययमायापदयोरर्थमाह--

विज्ञानमयरूपेण तत्प्रवृत्तिस्वरूपतः ।
स्वशक्त्येशो विक्रियते मायया भ्रामणं हि तत् ॥१७४॥

अन्वयः--विज्ञानमयरूपेण तत्प्रवृत्तिस्वरूपतः स्वशक्त्या ईशो विक्रियते तत् मायया: भ्रामणं हि ।

'विज्ञानमयेति' ॥१७४॥

श्रौतस्य 'यमयति' इति पदास्याप्यमेवार्थं इत्याह--

अन्तर्यमयतीत्युक्त्याऽयमेवार्थः श्रुतौ श्रुतः ।
पृथिव्यादिषु सर्वत्र न्यायोऽयं योज्यतां धिया ॥१७५॥

अन्वयः--अन्तर्यमयति इति उक्त्या अयमेवार्थः श्रुतौ श्रुतः पृथिव्यादिषु सर्वत्र अयं न्याय धिया योज्यतां ।

'अन्तर्यमयतीति' उक्तव्याख्यानं पर्यायान्तरेष्वतिदिशति--'पृथिव्यादिष्विति ॥१७५॥

अब भ्रमण (घुमाना) और माया पदों के अर्थ कहते हैं--

ईश्वर अपनी माया शक्ति से प्रभावित होकर विज्ञानमय की प्रवृत्ति के रूप में विकृत हुआ करता है वही ईश्वर का अपनी शक्ति से अपने आप विकृत होते रहना ही उसका माया से भ्रामण (घुमाना) कहलाता है ॥१७४॥

श्रुतियों के "यमयति" पद का भी यही अर्थ है--

जो पृथिवी में रहने वाला पृथिवी के भीतर पृथिवी का नियमन करता हुआ वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है । इस श्रुति वाक्य में यही बात कही गयी है और यही नियमन पद में वर्णित न्याय अपनी बुद्धि से सब पर्यायों में लगा लेना ॥१७५॥

प्रवृत्तिजातस्य सर्वेश्वराधीनत्वे वचनान्तरमुदाहरति—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥१७६॥

धर्मं जानामि मे प्रवृत्तिः च न, अधर्मं जानामि में निवृत्तिः च न, हृदि स्थितेन केनापि देवेन यथा नियुक्तः अस्मि तथा करोमि ।

'जानामि धर्ममिति' ॥१७६॥

ननु प्रवृत्तेरीश्वराधीनत्वे पुरुषप्रयत्नो व्यर्थः स्यादित्याशङ्क्य, पुरुषप्रयत्नस्यापीश्वररूपत्वान्मैवमिति परिहरति—

नार्थः पुरुषकारेणेत्येवं मा शङ्क्यतां यतः ।
ईशः पुरुषकारस्य रूपेणापि विवर्तते ॥१७७॥

अन्वयः- अर्थः पुरुषकारेण न इति एवं मा शङ्क्यतां यतः ईशः पुरुषकारस्य रूपेणापि विवर्तते ।

'नार्थ इति' । अर्थः प्रयोजनम् । पुरुषकारः पुरुषप्रयत्नः ॥१७७॥

अब सम्पूर्ण प्रवृति सर्वेश्वर के आधीन ही है इससे एक दूसरे शास्त्र का प्रमाण उपस्थित करते हैं—

मैं धर्म को जानता हूँ, परन्तु मेरी प्रवृत्ति धर्म में नहीं है और मैं अधर्म को भी जानता हूँ, मेरी अधर्म से निवृत्ति नहीं है । इससे यह निश्चय होता है कि हृदय में स्थित कोई देव (अन्तर्यामी) जैसी-जैसी प्रेरणा करता है । वैसा-वैसा मैं करता रहता हूँ ॥१७६॥

शंका—यदि जीव की प्रवृत्ति ईश्वराधीन ही मानो तो मनुष्य का प्रयत्न व्यर्थ हो जायेगा, पुरुष प्रयत्न भी ईश्वर रूप है इसका उत्तर देते हैं—

पुरुषार्थ का कुछ भी प्रयोजन नहीं रहेगा, ऐसी शंका मत करो, क्योंकि पुरुषार्थ रूप से भी ईश्वर ही विवर्त रूप को प्राप्त होता है । अर्थात् पुरुषार्थ भी ईश्वर रूप है । रज्जू में सर्प के समान अतात्त्विक (झूठ) तत्त्व के बिना भ्रम से अन्यथा भाव को विवर्त कहते हैं ॥१७७॥

ननु पुरुषप्रयत्नस्यापीश्वररूपत्वे यमयति भ्रामयतीति प्रतिपादितमन्तर्यामिप्रेरणं वृथा स्यादित्याशङ्क्य, तद्बोधेन स्वात्मासङ्गत्वज्ञानलक्षणफलस्य सत्वान्मैवमिति परिहरति --

ईदृग्बोधेनेश्वरस्य प्रवृत्तिर्मैव वार्यताम् ।
तथापीशस्य बोधेन स्वात्मासङ्गत्वधीजनिः ॥१७८॥

अन्वयः --ईश्वरस्य ईदृग्बोधेन प्रवृत्तिः मैव वार्यतां तथापि ईशस्य बोधेन स्वात्मासङ्गत्व धी जनिः (अस्ति) ।

'ईदृगिति' । ईदृग्बोधेनेशस्य पुरुषकारादिरूपेणाप्यवस्थानज्ञानेन प्रवृत्तिः अन्तर्यामिरूपेण प्रेरणा ॥१७८॥

आत्मनोऽसङ्गत्वज्ञानेनापि किं प्रयोजनमित्यत आह --

तावता मुक्तिरित्याहुः श्रुतयः स्मृतयस्तथा ।
श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे इत्यपीश्वरभाषितम् ॥१७९॥

अन्वयः --तावता मुक्तिः इति श्रुतयः तथा स्मृतयः तथा आहुः श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे इत्यपि ईश्वर भाषितं ।

'तावतेति' । श्रुतिस्मृत्युदितस्यानतिलङ्घनीयत्वे स्मृतिं दर्शयति -'श्रुतिस्मृती इति' ॥१७९॥

शंका पुरुष के प्रयत्न भी ईश्वर मानोगे तो (नियमन करता है) घुमाता है इन शब्दों से कही जो अन्तर्यामी की प्रेरणा का निरूपण १६४ से १७६ श्लोक तक किया है । व्यर्थ हो जायेगा इस शंका का उत्तर देते हैं--ईश्वर का बोध होने से अपनी आत्मा (साक्षी) की असंगता का ज्ञान हो जायेगा—

ईश्वर ही पुरुषार्थ का रूप धारण कर लेता है ऐसा बोध हो जाने पर ईश्वर की अन्तर्यामी रूप से प्रेरणा व्यर्थ होगी । ऐसा मानकर उसका निषेध नहीं करना चाहिए । क्योंकि उस रूप में भी ईश्वर का बोध हो जाने पर अपनी आत्मा (साक्षी) की होने का ज्ञान होने से ईश्वर की प्रेरणा बन सकती है ॥१७८॥

अब आत्मा की असंगता के ज्ञान का फल कहते हैं —

तावता उतने से अर्थात् आत्मा की असंगता के ज्ञान से ही मुक्ति हो जाती है । यह बात श्रुतियों और स्मृतियों ने कही है । तथा श्रुति स्मृति ये दोनों मेरी ही आज्ञाएँ हैं । यह भी ईश्वर ने कहा है । इसलिए श्रुति और स्मृति के कथन का उल्लंघन नहीं किया जा सकता ॥१७९॥

श्रुत्यापीश्वरस्य भीतिहेतुत्वमुक्तमित्याह—

आज्ञाया भीतिहेतुत्वं भीषाऽस्मादिति हि श्रुतम् ।
सर्वेश्वरत्वमेतत्स्यादन्तर्यामित्वतः पृथक् ॥१८०॥

अन्वयः—आज्ञाया भीतिहेतुत्वं भीषाऽस्मात् इति हि श्रुतम् सर्वेश्वरत्वं एततस्यात् अन्तर्यामित्वतः पृथक् ।

'आज्ञाया इति' । ईश्वरस्य भीतिहेतुत्वं किमर्थमुक्तमित्याशङ्क्य, सर्वेश्वरत्वस्यान्तर्यामित्वतः पार्थक्यसिद्धय इति मत्वाह—'सर्वेश्वरत्वमिति' ॥१८०॥

बहिरन्तश्चेश्वर एव नियामक इत्यत्र (बृ० ३।८।९) श्रुतिद्वयमाह—

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासन इति श्रुतिः ।
अन्तःप्रविष्टः शास्ताऽयं जनानामिति च श्रुतिः ॥१८१॥

अन्वयः—एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासन इति श्रुतिः अन्तःप्रवृष्टः अयं शास्ता जनानां इति च श्रुतिः ।

'एतस्येति' १८१॥

श्रुति ने भी ईश्वर को भय का कारण बताया है यह दर्शाते हैं—

उस ईश्वर की आज्ञा भीति का कारण है यह बात इस सर्वेश्वर के भय से वायु चलता है । इसी के भय से सूर्य उदय होता है । तथा इसी के भय से अग्नि, इन्द्र, और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है । तै० २।८।१ इस श्रुति में उसको भीति का कारण मानने का प्रयोजन है वह यह है कि इससे उसकी सर्वेश्वरता अन्तर्यामी से भिन्न हैं यह सिद्ध हो जाता है-जिसकी डर से वायु चलता है वह सर्वेश्वर है और शरीरों के भीतर रहते हुए नियम में रखने की शक्ति ही उसकी अन्तर्यामिता है ॥१८०॥

इस प्रकार बाहर भीतर वही ईश्वर नियामक है इसको दो श्रुतियों से प्रमाणित करते हैं—

'एतस्य अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याश्चन्द्रमसो विधृते तिष्ठतः' (बृ० ३।८।९) अर्थात् हे गार्गि इस अक्षर ब्रह्म के नियन्तृत्व में प्रशासन में सूर्य चन्द्रमा विशेष रूप से धारण किये हुए स्थित हैं । यह श्रुति ईश्वर को सर्वेश्वर कहती है "अन्तः[1] प्रविष्ट" इस श्रुति से जो उसको अन्तर्यामी बतलाती है अर्थात् ये दोनों श्रुतियाँ यही प्रतिपादन करती हैं कि बाहर और भीतर वही एक ईश्वर नियामक है ॥१८१॥

विशेष १ – हमारा स्वामी हमारे अन्दर बैठा हुआ है जब हम बुरा काम करते हैं, वह अन्दर से घृणा, भय, संकोच की आवाज आती है जब अच्छा काम करते हैं तब प्रेम, निर्भय, उत्साह आदि स्मृति होती है ।

क्रमप्राप्तस्यैष योनिरित्यर्थमाह—

जगद्योनिर्भवेदेष प्रभवाप्ययकृत्त्वतः ।
आविर्भावतिरोभावावुत्पत्तिप्रलयौ मतौ ॥१८२॥

अन्वयः—एष जगद्योनिर्भवेत् प्रभवाप्ययकृत्त्वतः आविर्भावतिरोभावौ उत्पत्तिप्रलयौ मतौ ।

'जगद्योनिरिति' । प्रतिज्ञातार्थे 'प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्' (नृ० पू० ता० ३।१) इति वाक्यं हेतुत्वेन योजयति –'प्रभवेति' प्रभावाप्ययावुपत्तिप्रलयौ तत्कर्तृत्वाज्जगद्योनिरित्यर्थः । 'उत्पत्तिप्रलय' शब्दयोर्विवक्षितमर्थमाह –'आविर्भावेति' । उत्पत्तिप्रलयावाविर्भावतिरोभावौ मताविति योजना ॥१८२॥

आविर्भावकारित्वं सदृष्टान्तमुपपादयति—

आविर्भावयति स्वस्मिन्विलीनं सकलं जगत् ।
प्राणिकर्मवशादेष पटो यद्वत्प्रसारितः ॥१८३॥

अन्वयः—आविर्भावयति स्वस्मिन् विलीनं सकलं जगत् प्राणिकर्मवशात् एष यद्वत् प्रसारितः पटः ।

'आविर्भावयतीति' । यथा संकुचितश्चित्रपटः स्वस्य प्रसारणेन स्वनिष्ठानि चित्राण्याविर्भावयति एवमीशोऽपीत्यर्थः ॥१८३॥

अब ईश्वर जगत् का योनि है इस श्रुति का अर्थ कहते हैं—

उत्पत्ति और विनाश दोनों का कर्ता होने के कारण यह ईश्वर जगत् योनि (कारण) कहाता है यहाँ उत्पत्ति और प्रलय के अर्थ आविर्भाव तिरोभाव है ॥१८२॥

ईश्वर जगत् का आविर्भाव करता है उत्पत्ति का कारण है इसमें दृष्टान्त उपस्थित करते हैं—

जैसे कि फैलाया हुआ चित्रपट होता है (समेटे हुए चित्रपट को फैलाने पर नाना विध चित्र प्रकट हो जाते हैं) ऐसे ही यह ईश्वर अपने में विलीन हुए समस्त जगत् को, प्राणियों के कर्मों के अनुसार आविर्भूत कर दिया करता है ॥१८३॥

तस्यैव प्रलयकारणत्वं दर्शयति—

पुनस्तिरोभावयति स्वात्मन्येवाखिलं जगत् ।
प्राणिकर्मक्षयवशात्संकोचितपटो यथा ।।१८४।।

अन्वयः—स्वात्मनि एव अखिलं जगत् पुनः तिरोभावयति यथा प्राणिकर्मक्षयवशात् संकोचितपटः ।

'पुनरिति' । स एव पटः संकुचितः चित्राणि यथा तिरोभावयति तद्वदित्यर्थः ।।१८४।।

आविर्भावतिरोभावयोर्दृष्टान्तान्तराणि दर्शयति –

रात्रिघस्त्रौ सुप्तिबोधावुन्मीलननिमीलने ।
तूष्णींभावमनोराज्ये इव सृष्टिलयाविमौ ।।१८५।।

अन्वयः – रात्रिघस्त्रौ सुप्तिबोधौ उन्मीलननिमीलने तूष्णींभावमनोराज्ये इव इमौ सृष्टि प्रलयौ स्तः ।

'रात्रिघस्त्राविति' । घस्त्रोऽह्नः ।।१८५।।

अब उस ईश्वर की प्रलय के हेतु दृष्टान्त देते हैं—

वही फैलाया पट जैसे समेट लेने पर चित्रों को अपने भीतर छिपा लेता है, वैसे ही प्राणियों के (भोगदायी) कर्मों के क्षीण होने पर यह ईश्वर सारे जगत् को फिर से अपने भीतर ही छिपा लेता है ।।१८४।।

अब आविर्भाव तिरोभाव के अन्य भी दृष्टान्तों को कहते हैं—

ये सृष्टि और प्रलय परस्पर ठीक ऐसे हैं जैसे दिन (घस्त्रः) रात या जाग्रत सुषुप्ति अवस्थाएँ या आँख खोलना या बन्द करना अथवा निर्विकल्पत्व रहना (चुपचाप) रहना और मनोराज्य करना अर्थात् सविकल्प मन ।।१८५।।

नन्वीश्वरस्य जगद्योनित्वं किं आरम्भकत्वेन, किं वा तदाकारपरिणामित्वेन ? नाद्यः अद्वितीयस्यारम्भकत्वायोगात्। न द्वितीयः निरवयवस्य परिणामासंभवादित्याशङ्क्य, विवर्तवादाश्रयणान्नायं दोष इति परिहरति—

आविर्भाव तिरोभावशक्तिमत्त्वेन हेतुना।
आरम्भपरिणामादिचोद्यानां नात्र संभवः ॥१८६॥

अन्वय : आविर्भावतिरोभावशक्तिमत्वेन हेतुना आरम्भपरिणामादिचोद्यानां अत्र सम्भवः न।

'आविर्भावेति' ॥१८६॥

प्रश्न यह है कि ईश्वर को जगत् का योनि (कारण) कहते हो, वह क्या उसका (आरम्भ) रचना करता है इसलिए कहते हो अथवा वह स्वयं जगदाकार में परिणत हो जाता है इसलिए कहते हो—

आविर्भाव और तिरोभाव दोनों शक्तियों माया रूप सामर्थ्य का आश्रय होने 'न आद्यः अद्वितीयस्यारम्भकत्वायोगात्'। अद्वितीय आरम्भ नहीं हो सकता 'न द्वितीयः निरवयवस्य परिणामासम्भवात्। इत्याशङ्क्य' निरवयव का परिणाम नहीं हो सकता इसका उत्तर यह है 'विवर्तवादाश्रयणान्नायं दोष इति परिहरति' यहाँ सिद्धान्त में आरम्भवाद परिणामवाद आदि शब्द से (स्वभाववाद) विकल्पों की सम्भावना नहीं है। यह ईश्वर अद्वितीय और निरवयव[1] दोनों का आरम्भ करना असम्भव है। अतएव यहाँ तो एकमात्र विवर्तवाद ही निष्कंटक मार्ग है ॥१८६॥

विशेष १ अनेक कारण रूप अवयवों के संयोग से अत्यन्त भिन्न आरम्भ करके अवयवीय रूप कार्य द्रव्य समवाय सम्बन्ध से समवेत (युक्त) हुआ उत्पन्न होता है यह आरम्भवाद है इसी को (असत् कार्य वाद भी कहते हैं) जैसे कापल रूप अवयवों के संयोग से उनसे अत्यन्त भिन्न घट कार्य उत्पन्न होता है यहाँ उपादान कारण अपने स्वरूप को छोड़ता नहीं है और उपादान से भिन्न कार्य की उत्पत्ति होती है अथवा जैसे क्रिया द्वारा दो या तीन अणुओं का संयोग होने पर द्वयणुक त्र्यणुक आदि उत्पन्न होते हैं अथवा तन्तुओं से पट उत्पन्न होता है।

इन सब में कार्य और कारण परस्पर अत्यन्त भिन्न होते हैं परन्तु यह आरम्भवाद ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति के विषय में नहीं घटता, क्योंकि ब्रह्म तो अद्वितीय निरवयव है। उससे भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं ब्रह्म की अद्वितीयता उपनिषदों से सिद्ध है ही। यदि यहाँ आरम्भवाद को मान लें तो यह दोष आयेगा। कि उत्पत्ति के पश्चात् भी कारण ज्यों का त्यों रहता है और इस प्रकार एक ही कारण से अनेक कार्यों की उत्पति होनी चाहिए। अतएव नैयायिक माध्व आरम्भवाद (असत् कार्यवाद) असंगत है* 'रचनानुपपत्तेः च न अ नुमानम् (ब्र० सू० २।२।१) इससे परिणामवाद का खण्डन, अब परिणामवाद को कहते हैं उपादान समसत्ता अन्यथाभावपरिणामः' उपादान के कारण के समान सत्ता वाला ऐसा जो उस उपादान का अन्यथा भाव है वह परिणाम है। यहाँ परिणाम कार्य और परिणामी कारण में

नन्वेक एवेश्वरः कथं चेतनाचेतनजगदुपादानं भविष्यतीत्याशङ्क्य, उपाधिप्राधान्ये नाचेतनोपादानं चित्प्राधान्येन चेतनोपादानं च भविष्यतीत्याह –

अचेतनानां हेतुः स्याज्जाड्यांशेनेश्वरस्तथा ।
चिदाभासांशतस्त्वेष जीवानां कारणं भवेत् ॥१८७॥

अन्वयः—अचेतनानां हेतुः स्यात् जाड्यांशेन ईश्वरः तथा चिदाभासं तस्त्वेष जीवानां कारणं भवेत् ।

'अचेतनानामिति' ॥१८७॥

यदि कहो कि एक ही ईश्वर चेतन जगत् और अचेतन जगत् दोनों का उपादान कैसे हो सकता है इस शंका का उत्तर देते हैं—कि उपाधि की प्रधानता से जड़ काउपादान कारण और चित् रूप की प्रधानता से चेतन का उपादान कारण ईश्वर एक होता हुआ भी दोनों हो जाता है । अब कहते हैं—

ईश्वर अचेतनों का तो जड़ता रूप उपाधि की प्रधानता से कारण है और चेतन जीवों का चिदाभासांश की प्रधानता के कारण है । इस प्रकार एक ही ईश्वर जड़ चेतन दोनों प्रकार के पदार्थों का उपादान कारण हो सकता है ॥१८७॥

अभेद मानना पड़ता है जैसे दुग्ध का दही परिणाम है । दुग्ध की भी व्यावहारिक सत्ता है तथा दधि की भी व्यावहारिक सत्ता है और मिट्टी का घड़ा अन्तःकरण और वृत्ति तथा प्रकृति और महतत्त्व आदि परस्पर अभिन्न है यह सांख्यवादियों का मत । तथा कर्म परिणामवादी पूर्व मीमांसक । तथा (रामानुजादि ब्रह्म परिणामवादी) कुछ उपासक इसी रूप से जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानते हैं । इनका भी मत असंगत है 'ईक्षते अशब्दम्' १।१।५ ब्र० सू० में सूत्रकार तथा भाष्यकार ने जड़ प्रधान को* जगत् का केवल कारण नहीं प्रबल युक्तियों से खण्डन किया है । यदि चेतन को परिणामि मानोगे तो चेतन विनाशी मानना पड़ेगा । अन्तःकरण अज्ञान रूप उपादान कारण की अपेक्षा से तो परिणाम अधिष्ठान चैतन्य की अपेक्षा विवर्त है परिणाम की असिद्धि का विरोध नहीं । परिणामवाद असंगत है । अब विवर्तवाद को कहते हैं उपादान विषमसत्ताकअन्यथाभावविवर्तः । उपादान कारण से विषम सत्ता वाला ऐसा जो उस उपादान का अन्यथा भाव है वह विवर्त जो सर्प है वह रज्जू 'आवच्छिन्न चैतन्य का विवर्त है । चैतन्य की पारमार्थिक सत्ता और कल्पित सर्प की प्रातिभाषित सत्ता रज्जू की व्यावहारिक सत्ता है जैसे सीप मे चाँदी की और स्वर्ण में आभूषण की उत्पत्ति होती है वेदान्त इसी विवर्तवाद को स्वीकार करता है । सत्चित्आनन्दअद्वैतअधिष्ठानचैतन्यविपरित-रूपेण असत्जड़दुःखद्वैतरूपेण वर्तते इति विवर्तं । कृपणधीः परिणाममुदीक्षते, क्षपित-कल्मषधीस्तु विवर्ततताम् । स्थिरमतिः पुरुषः पुनरीक्षते, व्यपगतद्वितयं परमं पदम् ॥ २।८६॥ प्रपञ्चासक्त व्यक्ति अपने को वस्तुतः कर्ता भोक्ता प्रमाता तथा प्रपञ्च को (ब्रह्म का परिणाम) मानता है निष्पाप विवेकी पुरुष (प्रपञ्च को ब्रह्म का) विवर्त मानता है और स्थिर मति पुरुष अद्वितीय शुद्ध परम पद को देखता है ।

ननु मायाविन ईश्वरस्य जगत्कारणत्वप्रतिपादनमनुपपन्नं, 'सुरेश्वराचार्यैः' परमात्मन एव तदभिधानादिति शङ्कते द्वाभ्याम्—

तमःप्रधानः क्षेत्राणां चित्प्रधानश्चिदात्मनाम् ।
परः कारणतामेति भावनाज्ञानकर्मभिः ॥१८८॥
इति वार्तिककारेण जडचेतनहेतुता ।
परमात्मन एवोक्ता नेश्वरस्येति चेच्छृणु ॥१८९॥

अन्वयः—चिदात्मनां क्षेत्राणां तमःप्रधानः चित् प्रधानः परः भावनाज्ञानकर्मभिः कारणतामेति । इति वार्तिक कारेण जडचेतनहेतुता परमात्मनः एव उक्ताः ईश्वरस्य न इति चेत् शृणु ।

'तमःप्रधान इति' । तमःप्रधानः तमोगुणप्रधानमायोपाधिकः क्षेत्राणां शरीरादीनां भावनाज्ञान-कर्मभिः भावना संस्कारः, ज्ञानं देवताध्यानादि, कर्म पुण्यापुण्यलक्षणं तैर्निमित्तभूतैरित्यर्थः ॥१८८।१८९॥

'त्वं'पदार्थ इव 'तत्'पदार्थेऽप्याधिष्ठानारोपयोरन्योन्याध्यासस्य विवक्षितत्वान्नैवमिति परिहरति –

अन्योन्याध्यासमत्रापि जीवकूटस्थयोरिव ।
ईश्वरब्रह्मणोः सिद्धं कृत्वा ब्रूते सुरेश्वरः ॥१९०॥

अन्वयः—अत्रापि जीवकूटस्थयोरिव अन्योन्याध्यासं ईश्वरब्राह्मणोः सिद्धं कृत्वा सुरेश्वरः ब्रूते । 'अन्योन्याध्यासमिति' ॥१९०॥

मायागत ईश्वर जगत् का कारण नहीं हो सकता क्योंकि सुरेश्वराचार्य ने परमात्मा को ही जगत् का कारण कहा है यह शंका दो श्लोकों में करते हैं—

तमो गुण प्रधान माया रूप उपाधि वाला परमेश्वर तब वह क्षेत्रों देहों का करण होता है । जब चित् प्रधान होता है तब चिदात्मा रूप जीवों का कारण भावना (संस्कार) ज्ञान (देवता ध्यान और कर्मों (पुण्यापुण्य के) कारण वह परमात्मा को ही सुरेश्वराचार्य ने माना जड़चेतन का कारण ईश्वर को नहीं, यदि यह कहो तो इसका समाधान सुनो ॥१८८।१८९॥

जैसे त्वं पदार्थ के अर्थ जीव और कूटस्थ में अधिष्ठान आरोप का अन्योन्याध्यास मानते हैं । वैसे ही त्वं पद के अर्थ ईश्वर और ब्रह्म का भी अन्योन्याध्यास सुरेश्वराचार्य को विवक्षित है । इसलिए उन्होंने परमात्मा को जड़ और चेतन का उपादान कारण कहा है ।

उक्त शंका का समाधान—

जिस प्रकार जीव और कूटस्थ का अन्योन्याध्यास कहा है वैसे ही यहाँ भी ईश्वर और ब्रह्म के अन्योन्याध्यास को सिद्ध मानकर सुरेश्वराचार्य पूर्वांश का उत्तर देते हैं ॥१९०॥

ननु 'सुरेश्वराचार्यैरीश्वरब्रह्मणोरन्योन्याध्यासः सिद्धवत्कृत्य व्यवहृत इति कुतोऽवगम्यत इत्याशङ्क्य, श्रुत्यर्थपर्यालोचनवशादिति दर्शयितुं (तै० २।१।१) श्रुतिमर्थतः पठति—

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म तस्मात्समुत्थिताः ।

खंवाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहा इति श्रुतिः ।१६१।।

अन्वयः—यद् ब्रह्म सत्यं ज्ञानं अनन्तं तस्मात् समुत्थिताः खंवायुअग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहाः इति श्रुतिः ।

'सत्यमिति' ।।१६१।।

भवत्वेषा श्रुतिः अनया कथमन्योन्याध्यासावगतिरित्यत आह—

आपातदृष्टितस्तत्र ब्रह्मणो भाति हेतुता ।

हेतोश्च सत्यता तस्मादन्योन्याध्यास इष्यते ।।१६२।।

अन्वयः—तत्र आपातदृष्टितः ब्रह्मणः हेतुता भाति हेतोश्च सत्यता तस्मात् अन्योन्याध्यासः इष्यते ।

'आपातेति' । तत्र तस्यां श्रुतौ सत्यादिलक्षणस्य निर्गुणब्रह्मणो जगत्कारणत्वं जगत्कारणस्य मायाधीनचिदाभासस्य च सत्यत्वमापाततः प्रतीयमानमन्योन्याध्यासमन्तरेण न घटत इति भावः ।।१६२।।

अब जिस श्रुति के बल से सुरेश्वराचार्य ने ईश्वर और ब्रह्म का अन्योन्याध्यास सिद्ध किया उस श्रुति के अर्थ को पढ़ते हैं —

सत्य, ज्ञान तथा अनन्त ब्रह्म से ही आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, औषधि, अन्न और देह ये सब उत्पन्न हुए हैं ।।१६१।।

यदि कहो कि इस श्रुति से अन्योन्याध्यास कैसे जाना गया, यह बताते हैं—

इस श्रुति में आपात दृष्टि से (सरसरी नजर से) श्रुति ने ब्रह्म को हेतुता कही है और हेतु सत्य है इससे अन्योन्याध्यास इष्ट है ।।१६२।।

इस श्रुति में सत्य, ज्ञान आदि रूप निर्गुण ब्रह्म को जगत् की कारणता कही है और जगत् के कारण मायाधीन चिदाभास सत्य आपात से भासमान होता है ये दोनों बातें अन्योन्याध्यास के बिना नहीं घट सकती, इसलिए अन्योन्याध्यास स्वीकार करना पड़ता है ।।१६२।।

एवमन्योन्याध्याससिद्धमीश्वरब्रह्मणोरेकत्वं पूर्वत्रोदाहृतं घट्टितपटदृष्टान्तस्मरणेन द्रढयति—

अन्योन्याध्यासरूपोऽसावन्नलिप्तपटो यथा ।
घट्टितेनैकतामेति तद्वद्भ्रान्त्यैकतां गतः ॥१६३॥

अन्वयः—अन्योन्याध्यासरूपः असौ यथा अन्नलिप्तपटः घट्टितेन एकतां ऐति तद्वत् भ्रान्त्यैकतां गतः ।

'अन्योन्येति' ॥१६३॥

भ्रान्त्यैकत्वापत्तौ दृष्टान्तमभिधाय आपातदर्शिनां भेदाप्रतीतौ पूर्वोक्तमेव दृष्टान्तान्तरं दर्शयति—

मेघाकाशमहाकाशौ विविच्येते न पामरैः ।
तद्वद्ब्रह्मेशयोरैक्यं पश्यन्त्यापातदर्शिनः ॥१६४॥

अन्वयः—मेघाकाशमहाकाशौपामरैः न विविच्येते तद्वत् ब्रह्मेशयोः ऐक्यं आपातदर्शिनः पश्यन्ति ।

'मेघाकाशेति' । तद्वत् ब्रह्मेशयोरैक्यं पश्यन्ति, न भेदमित्यर्थः ॥१६३॥

इस प्रकार अन्योन्याध्यास से सिद्ध ईश्वर और ब्रह्म की एकता को पूर्वोक्त घटित पट के दृष्टान्त का स्मरण करवाकर दृढ़ करते हैं—

जैसे मांड़ लगा वस्त्र घोटने से एकीभूत (गफ) हो जाता है। इसी प्रकार अन्योन्याध्यास रूप यह ईश्वर भी भ्रान्ति के कारण ब्रह्म के साथ एक हो गया है ।।१६३।।

अब भ्रान्ति से एकता में प्रतीति दृष्टान्त को देकर अब अविचार दर्शियों को जो एकता प्रतीत होती है, उसमें अन्य दृष्टान्त देते हैं—

जैसे अल्प बुद्धि लोग मेघाकाश और महाकाश में भेद नहीं कर पाते (पृथक्-पृथक् नहीं जान सकते)। इसी प्रकार आपातदर्शी (स्थूल विचारक लोग) ब्रह्म और ईश्वर को एक समझते हैं, अर्थात् भ्रान्त मनुष्य ब्रह्म और ईश्वर को पृथक्-पृथक् नहीं देखते ।।१६४।।

कुतस्तर्हि ब्रह्मेशयोर्भेदावगतिरित्यत आह—

उपक्रमादिभिर्लिङ्गैस्तात्पर्यस्य विचारणात् ।
असङ्गं ब्रह्म मायावी सृजत्येष महेश्वरः ॥१६५॥

अन्वयः—उपक्रमादिभिः लिङ्गैः तात्पर्यस्य विचारणात् ब्रह्म असङ्गं, मायावी महेश्वरः एष सृजति ।

'उपक्रमेति' । उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये' । इत्युक्तैः षड्विधैर्लिङ्गैः श्रुतितात्पर्यावधारणे सति ब्रह्मासङ्गं मायावी स्रष्टेत्यवगम्यत इति शेषः ॥१६५॥

श्रुतावुपक्रमोपसंहारैकरूप्यप्रदर्शनेनोक्तं ब्रह्मणोऽसङ्गत्वं स्पष्टयति—

सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्युपक्रम्योपसंहृतम् ।
यतो वाचो निवर्तन्त इत्यसङ्गत्वनिर्णयः ॥१६६॥

अन्वयः—सत्यं ज्ञानं अनन्तं च इति उपक्रम्य उपसंहृतं यतः वाचः निवर्तन्ते इति असङ्गत्व निर्णयः ।

'सत्यमिति' । अतोऽसङ्गत्वनिर्णयो भवतीति शेषः ॥१६६॥

अब किससे ब्रह्म और ईश्वर के भेद की प्रतीति होती है यह बताते हैं—

इन छः लिङ्गों से श्रुति के तात्पर्य का विचार और निश्चय कर लिया जाता है। असंग निर्विकार शुद्ध ब्रह्म जगत् का कारण नहीं अनिर्वचनीय माया उपहित ब्रह्म ही जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण है आवरण शक्ति विशिष्ट माया रूप उपाधि की प्रधानता करके जगत् का उपादान और ज्ञान शक्ति विशिष्ट माया उपहित अपने स्वरूप की प्रधानता से ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है ॥१५५॥

अब श्रुति में उपक्रम (आरम्भ) औरउपसंहार (समाप्ति) से कहीं जो ब्रह्म की असंगता उसको स्पष्ट करते हैं—

सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म (तै० २।१) इस वाक्य से आरम्भ करके जिस परमात्मा को प्राप्त न होकर वाणी भी निवृत्ति को प्राप्त हो जाती है, इस वाक्य से उपसंहार किया, इससे निश्चय होता है कि ब्रह्म की असंगता सिद्ध है ॥१६६॥

मायाविन ईश्वरस्य स्रष्टृत्वप्रतिपादिकां श्रुतिमर्थतो दर्शयति—

मायी सृजति विश्वं सन्निरुद्धस्तत्र मायया ।
अन्य इत्यपरा ब्रूते श्रुतिस्तेनेश्वरः सृजेत् ॥१९७॥

अन्वयः—मायी तत्र मायया सन्निरुद्धः अन्यं विश्वं सृजति इतिः अपरा श्रुतिः ब्रूते तेन ईश्वरः सृजेत ।

'मायीति' । 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिश्चान्यो मायया संनिरुद्धः' (श्वे० ४।१०) इति श्रुतिरीश्वरस्य स्रष्टृत्वं जीवस्य तत्र जगति बद्धत्वं च दर्शयतीति भावः ॥१९७॥

एवमानन्दमयस्येश्वरस्य जगत्कारणत्वं प्रतिपाद्य, तस्माज्जगदुत्पत्तिप्रकारमाह—

आनन्दमय ईशोऽयं बहु स्यामित्यवैक्षत ।
हिरण्यगर्भरूपोऽभूत्सुप्तिः स्वप्नो यथा भवेत् ॥१९८॥

अन्वयः—अयं ईशः आनन्दमयः बहु स्याम् इति अवैक्षत हिरण्यगर्भरूपः अभूत् यथा सुप्तिः स्वप्नः भवेत ।

'आनन्दमय इति' । ईक्षित्वा च हिरण्यगर्भरूपोऽभूदित्यन्यः । तत्र दृष्टान्तमाह—'सुप्तिरिति' ॥१९८॥

अब जिस श्रुति से मायावी ईश्वर से जगत् की रचना प्रतीत होती है उस श्रुति को दिखाते हैं—

अस्मात् अक्षर ब्रह्म से माया शक्ति के द्वारा प्रपञ्च को उत्पन्न करता है । अपनी माया से कल्पित हुए उस भूतादि प्रपञ्च में यह अविद्या से जीव होकर बँध गया है । इससे सिद्ध होता है, इस जगत् का स्रष्टा ईश्वर है शुद्ध ब्रह्म नहीं ॥१९७॥

इस प्रकार आनन्दमय ईश्वर को जगत् का उपादान कारण कहकर अब ईश्वर से ही जगत् की उत्पत्ति का प्रकार बताते हैं—

जब उस आनन्दमय ईश्वर ने (ईक्षित्र) मैं अब बहुत हो जाऊँ, यह ज्ञान दृष्टि रूप विचार किया तब वह हिरण्यगर्भ रूप (समष्टि सूक्ष्म प्रपञ्च) हो गया । यह ऐसे ही हुआ जैसे सुषुप्ति गाढ़ निद्रा ही स्वप्न बन जाता है ॥१९८॥

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः (तै० २।१) इत्यादौ क्रमेण सृष्टिश्रवणात् 'इदं सर्वमसृजत' (तै० २।६) इति युगपच्छ्रवणाच्च कस्योपादेयत्वं कस्य वा हेयत्वमित्याकाङ्क्षायां श्रुतियुक्त्युपेतत्वादुभयं ग्राह्यमित्याह—

क्रमेण युगपद्वैषा सृष्टिर्ज्ञेया यथाश्रुति ।
द्विविधश्रुतिसद्भावाद्द्विविधिस्वप्नदर्शनात् ।।१९९।।

अन्वयः—क्रमेण युगपत् एषा सृष्टिः यथाश्रुति ज्ञेया द्विविधश्रुतिसद्भावात् द्विविधस्वप्न दर्शनात् ।

'क्रमेणेति' । एषा जगत्सृष्टिर्द्विविधश्रुतिसद्भावात् क्रमेण युगपद्वा यथाश्रुति ज्ञेयेति योजना । तत्रोपपत्तिः 'द्विविधस्वप्नदर्शनादिति' । लोके क्रमयुक्तस्य चाक्रमयुक्तस्य च स्वप्नपदार्थजातस्य दर्शनादिति भावः ।।१९९।।

उस इस आत्मा से ही आकाश उत्पन्न हुआ, इसमें क्रम से सृष्टि रचना का वर्णन हुआ और दूसरे मंत्र में यह जो कुछ है इस सब की रचना की इसमें एक साथ रचना बतायी है दोनों में से कौन सा ग्राह्य और कौन सा त्यागने योग्य है । श्रुति और युक्ति दोनों ग्रहण करने योग्य है, यह कहते हैं—

यह जगत् की सृष्टि दोनों प्रकार की श्रुतियों के मिलने से श्रुतियों के अनुसार[1] क्रम से या युगपत् सृष्टि दोनों प्रकार की है । लोक में स्वप्न पदार्थ दो प्रकार के देखे जाते हैं किसी स्वप्न में पदार्थ क्रमशः उत्पन्न होते हैं । किसी में सब के सब पदार्थ एक साथ उत्पन्न हो जाते हैं ।। १९९।।

विशेष १—(१) यहाँ क्रम सृष्टि शब्द से (सृष्टि दृष्टिवाद) व्यवहारिक पक्ष कहते हैं (२) युगपत् (एक काल में) अक्रम सृष्टि शब्द से दृष्टि सृष्टिवाद कहा है । ३। कितने ग्रन्थ कर्ताओं ने स्थूल बुद्धि वाले पुरुषों के बोध अर्थ (सृष्टि, दृष्टिवाद) माना है । प्रथम सृष्टि विद्यमान है और पीछे प्रत्यक्षादि प्रमाणों के सम्बन्ध से दृष्टि (ज्ञान) होता है । यह सृष्टि दृष्टिवाद शब्द का अर्थ है । इस पक्ष में घटादिक अनात्म वस्तुओं की चेतन की तरह अज्ञात सत्ता है और शुक्ति रजतादिकों की ज्ञात सत्ता है । घटादिक अनात्मपदार्थ व्यवहारिक सत्ता वाले हैं और शुक्ति रजतादिक प्रातिभासिक सत्ता वाले है । घटादिक अनात्म पदार्थ प्रमाण के विषय है । इसलिए गुरु शास्त्रादिक भी व्यावहारिक हैं—

(२) दृष्टि सृष्टि पक्ष में अनात्म पदार्थों की ज्ञात सत्ता ही है और शुक्ति रजतादि की तरह सर्व अनात्म पदार्थ प्रातिभासित होने से साक्षी भास्य हैं प्रमाण के विषय नहीं है

हिरण्यगर्भस्य स्वरूपं निरूपयति—

सूत्रात्मा सूक्ष्मदेहाख्यः सर्वजीवघनात्मकः ।
सर्वाहंमानधारित्वात्क्रियाज्ञानादिशक्तिमान् ॥२००॥

अन्वयः—सूत्रात्मा सूक्ष्मदेहाख्यः सर्वजीवघनात्मकः सर्वाहंमानधारित्वात् क्रियाज्ञानादि शक्तिमान् ।

'सूत्रात्मेति' । सूत्रात्मा पटे सूत्रमिव जगत्यनुस्यूत आत्मा स्वरूपं यस्य स सूक्ष्मदेह इत्याख्या यस्य तथाविधः सर्वजीवघनात्मकः सर्वेषां जीवानां लिङ्गशरीरोपाधिकानां घनात्मकः समष्टिस्वरूपः । तत्र हेतुः—'सर्वाहंमानेति । सर्वेषु व्याष्टिलिङ्गशरीरेषु अहंमानवत्त्वानिति भावः । इच्छाज्ञानक्रियाशक्तिमांश्च ॥२००॥

अब हिरण्यगर्भ के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

वह सूत्रात्मा (जैसे वस्त्र में सूत्र अनुस्यूत है वैसे ही जगत् में अनुस्यूतात्मा हिरण्यगर्भ) सूक्ष्म देह नाम से पुकारा जाता है और वह सब (व्यष्टि लिङ्ग शरीरों) में अहंभाव (मैं हूँ इस भाव) को धारण करता है । इसलिए (लिङ्ग शरीरोपाधि वाले) सब जीवों का (घनात्मक) समष्टि रूप है और इस सूत्रात्मा में इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये तीन शक्तियाँ हैं ॥२००॥

और इनमें प्रमाणता की प्रतीति भ्रान्ति रूप है और पदार्थ का दर्शन ही उत्पत्ति है और अदर्शन नाश है और सो यह देवदत्त है इत्यादि प्रत्यभिज्ञा भी नहीं है और दीप ज्योति के प्रवाह और स्वप्न पदार्थ के प्रत्यभिज्ञान की तरह भ्रान्ति रूप है । गुरु शास्त्रादिक भी प्रातिभासिक हैं । इस दृष्टि सृष्टि वाद के भेद हैं (१) दृष्टि (ज्ञान स्वरूप) ही सृष्टि है । ज्ञान से भिन्न सृष्टि नहीं है यह सिद्धान्त मुक्तावली आदि ग्रन्थों में लिखा है और (२) दूसरी दृष्टि (ज्ञान) के समय में ही सृष्टि होती है । ज्ञान से प्रथम अनात्म वस्तु नहीं है ऐसे आकर ग्रन्थों में प्रतिपादन किया है । यह सर्व अद्वैत शास्त्र में सम्मत है । इस रीति से सृष्टि दृष्टिवाद और दृष्टि सृष्टिवाद दोनों श्रुति के अनुसार प्रतिपादन किये गये हैं इनमें व्यावहारिक सुवर्ण आदि पदार्थों से कुण्डलादि कार्य सिद्ध होते हैं । प्रातिभासिकों से नहीं और अधिष्ठान के ज्ञान से बाध (सत् असत् से विलक्षण) बाध योग्यता रूप अनिर्वचनीयपना और अपने अधिष्ठान में पारमार्थिक अभाव रूपता है व्यावहारिक प्रातिभासिक दोनों में तुल्य है इससे व्यवहारिक पक्ष के मानने से भी हानि नहीं है । ऐसे अधिकारी के भेद से दोनों पक्षों का श्रुति और अद्वैत ग्रन्थों में ग्रहण किया है ।

यः स्वात्मनीदं निजमाययार्पितं क्वचिद्विभातं क्व च तत्तिरोहितम् । अविद्धदृक् साक्ष्युभय तदीक्षते स आत्ममूलोऽवतु मां परात्परः । (भागवत० ८।३।४)

हिरण्यगर्भावस्थायां जगत्प्रतीतौ दृष्टान्तमाह—

प्रत्यूषे वा प्रदोषे वा मग्नो मन्दे तमस्ययम् ।
लोको भाति यथा तद्वदस्पष्टं जगदीक्ष्यते ॥२०१॥

अन्वयः—प्रत्यूषे वा प्रदोषे वा अयं लोकः मन्दे तमसि मग्नः यथा भाति तद्वत् अस्पष्टं जगत् ईक्ष्यते ।

'प्रत्यूष इति' । प्रत्यूष उषः कालः ॥२०१॥

एवं लोकप्रसिद्धदृष्टान्तमभिधाय, 'यथा धौतः' (प्र० ६।२) इति पूर्वोक्तश्लोकेऽभिहितं लाञ्छितं पटं दृष्टान्तयति—

सर्वतो लाञ्छितो मष्या यथा स्याद्घट्टितः पटः ।
सूक्ष्माकारैस्तथेशस्य वपुः सर्वत्र लाञ्छितम् ॥२०२॥

अन्वयः – सर्वतः मष्या लाञ्छितः घट्टितः पटः यथा स्यात् तथा सूक्ष्माकारैः ईशस्य वपुः सर्वत्र लाञ्छितं ।

'सर्वत इति' । यथा घट्टितः पटो मषीमयैराकारविशेषैर्लाञ्छितो भवति, तथा मायिन ईश्वरस्य वपुः अपञ्चीकृतभूतकार्यैर्लिङ्गशरीरैर्लाञ्छितमित्यर्थः ॥२०२॥

अब हिरण्यगर्भ अवस्था में जगत् की प्रतीति में दृष्टान्त को कहते हैं—

जैसे प्रातःकाल या सायंकाल में यह जगत् मन्द अन्धेरे में डूबा धुँधला-धूँधला दीखता है वैसे ही हिरण्यगर्भ में जगत् अस्पष्ट रूप से दीखा करता है ॥२०१॥

इस प्रकार लोक प्रसिद्ध दृष्टान्त को कहकर "यथा धौत" इस पूर्वोक्त २वें श्लोक में कहे लाञ्छित पट का दृष्टान्त देते हैं—

जैसे मांड़ी दिये घुटा वस्त्र पर स्याही के भिन्न-भिन्न आकार सब अवयवों में लाञ्छित होता है, इसी प्रकार ईश्वर का शरीर भी अपञ्चीकृत भूतों का कार्य जो लिङ्गशरीरों से लाञ्छित रहता है ॥२०२॥

बुद्धयारोहाय वैभवात् दृष्टान्तान्तरमाह —

सस्यं वा शाकजातं वा सर्वतोऽङ्कुरितं यथा ।

कोमलं तद्वदेवैष पेलवो जगदङ्कुरः ॥२०३॥

अन्वयः—सस्यं वा शाकजातं वा सर्वतः अङ्कुरितं यथा कोमलं तद्वत् एव एष जगदङ्कुरः पेलवः ।

'सस्यं वेति' ॥२०३॥

एवं सूत्रात्मस्वरूपं विशदीकृत्य, तस्यैवावस्याभेदं पञ्चीकृतभूतकार्योपाधिकं विराजं दृष्टान्तत्रयेण विशदयति—

आतपाभातलोको वा पटो वा वर्णपूरितः ।

सस्यं वा फलितं यद्वत्तथा स्पष्टवपुर्विराट् ॥२०४॥

अन्वयः—आतपाभातलोको वा वर्णपूरितः पटो वा फलितं सस्यं वा यद्वत् तथा विराट् स्पष्टवपुः ।

'आतपेति' । सूर्योदयानन्तरमातपेन प्रकाशितो लोक आतपाभातलोकः ॥२०४॥

अब बुद्धि में स्थिरता के लिए हिरण्यगर्भ के रूप को दृष्टान्त से कहते हैं —

जैसे सस्य (खेती) या शाक के पौधे चारों ओर से कोमल अंकुरों में उगते हैं । वैसे ही (यह हिरण्यगर्भ नाम का) जगदंकुर कोमल होता है ॥२०३॥

इस प्रकार सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) के स्वरूप को समझाकर उसकी ही अवस्था भेद जो पञ्चीकृत भूतों के कार्यों की उपाधि वाले विराट् के स्वरूप को तीन दृष्टान्तों से स्पष्ट दिखाते हैं —

जैसे सूर्योदय के अनन्तर धूप से प्रकाशित होने वाला जगत् अथवा रंग भरा कपड़ा या फलों से लदा वृक्ष होता है, ये तीनों दृष्टान्त स्पष्ट प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार स्पष्ट जो ईश्वर का शरीर उसको ही विराट् कहते हैं ॥२०४॥

तत्सद्भावे प्रमाणमाह

विश्वरूपाध्याय एष उक्तः सूक्तेऽपि पौरुषे ।
धात्रादिस्तम्बपर्यन्तानेतस्यावयवान्विदुः ॥२०५॥

अन्वयः—विश्वरूपाध्याय एष पौरुषे सूक्तेऽपि उक्तः धात्रादिस्तम्बपर्यन्तान् एतस्य अवयवान् विदुः ।

'विश्वरूपेति' । विश्वरूपाध्यायादौ कीदृग्रूपमुदितमित्याकाङ्क्षायां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तजगद्रूपमुदितमित्याह--'धात्रादीति' ॥२०५॥

एतावता प्रकृते किमायातमित्याशङ्क्याऽन्तर्यामिप्रभृतिकुद्दालकादिपर्यन्तं वस्तुजातं प्रत्येकमीश्वरत्वेन पूज्यतामित्याह —

ईशसूत्रविराड्वेधोविष्णुरुद्रेन्द्रवह्नयः ।
विघ्नभैरवमैरालमारिकायक्षराक्षसाः ॥२०६॥
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा गवाश्वमृगपक्षिणः ।
अश्वत्थवटचूताद्या यवव्रीहितृणादयः ॥२०७॥
जलपाषाणमृत्काष्ठवास्याकुद्दालकादयः ।
ईश्वराः सर्व एवैते पूजिताः फलदायिनः ॥२०८॥

अन्वयः—ईशसूत्रविराटवेधोविष्णुरुद्रेन्द्रवह्नयः विघ्नभैरवमैरालमारिकयक्षराक्षसाः । विप्रक्षत्रियविट्शूद्राः गवाश्वमृगपक्षिणः अश्वत्थवटचूताद्याः यवव्रीहितृणादयः । जलपाषाणमृतकाष्ठवास्याकुद्दालकादयः ईश्वराः सर्वं एवैते पूजिताः फलदायिनः ।

'ईशेत्यादिना' श्लोकत्रयेण ॥२०६-२०८॥

अब विराट् की सत्ता में प्रमाण उपस्थित करते हैं—

रूद्री के विश्व रूप अध्याय में पुरुष सूक्त में भी इस विराट् का वर्णन किया है। यह बताया है कि ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब (सूक्ष्मतम की विशेष) समग्र चराचर जगत् इस विराट् के अवयव हैं ॥२०५॥

सबका अभिप्राय यह है कि अन्तर्यामी से लेकर कुद्दाल तक सब ही पदार्थ ईश्वर भाव से पूज्य हैं आगे तीन श्लोकों में यही बात कही गयी है--

ईश अन्तर्यामी) सूत्र (हिरण्यगर्भ) विराट् ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, अग्नि, विघ्न (गणेश) भैरव मैराल, मारिका (देवी विशेष) यक्ष, राक्षस, विप्र, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, गाय, घोड़ा, मृग, पक्षी, पीपल, वट, आम आदि वृक्ष जौ, धान, तिनके आदि जल, पत्थर, मिट्टी, लकड़ी, विसौला और कुद्दालक (कुल्हाड़ी) आदि ये सब के सब ईश्वर हैं, मनुष्य इनको ईश्वर जानकर ही पूजे, जो कोई इनकी पूजा करता है उसको ये फल देते ही हैं ॥ ६-७-८॥

'ते यथा यथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतिः तत्तत्पूजातस्तत्फलसद्भावे प्रमाणमित्याह—

यथा यथोपासते तं फलमीयुस्तथा तथा ।
फलोत्कर्षापकर्षौ तु पूज्यपूजानुसारतः ॥२०९॥

अन्वयः – यथा यथा तं उपासते तथा तथा फलं ईयुः फलोत्कर्षापकर्षौ तु पूज्यपूजानुसारतः ।

'यथा यथेति' । ननु सर्वेषामीश्वरत्वे फलवैषम्यं कुत इत्याशङ्क्य, पूज्यानामधिष्ठनानां पूजानामर्चादीनां च सात्त्विकादिभेदेन वैषम्यमित्याह – 'फलोत्कर्षेति' ॥२०९॥

सांसारिकफलसिद्धिरेवं भवतु, मुक्तिः कस्योपासनाद्भवतीत्याशङ्क्य, ज्ञानव्यतिरेकेण केनापि न भवतीत्याह—

मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा ।
स्वप्रबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा ॥२१०॥

अन्वयः—मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव अन्यथा च न स्वप्रबोधं बिना यथा स्वस्वप्नः नैव हीयते ।

'मुक्तिरिति' । तत्र दृष्टान्तमाह –'स्वप्रबोधमिति' स्वजागरणमन्तरेण स्वानिद्राकल्पितस्वप्नो यथा न निवर्तते तथा ब्रह्मतत्त्वज्ञानमन्तरेण तदज्ञानकल्पितः स्वसंसारो न निवर्तत इति भावः ॥२१०॥

उस ईश्वर की जैसी-जैसी उपासना करते हैं वैसा ही फल मिलता है यह श्रुति बताती है इसी बात को कहते हैं—

शंका—जब सब ईश्वर ही है तब फल की विषमता का क्या कारण है-कहते हैं कि पूज्य (अधिष्ठान देवता) और पूजा (अर्चा) के सात्त्विक आदि भेदों के कारण पूज्य और पूजा के अनुसार ही फल की न्यूनाधिकता होती है ॥२०९॥

यदि कहो कि संसार के फल की सिद्धि इस प्रकार हो तो हो मुक्ति किसकी उपासना से होती है इस शंका का उत्तर कहते हैं—

मुक्ति तो ब्रह्म तत्त्व के ज्ञान से ही होती है । दृष्टान्त कहते हैं—जैसे अपने जागने के बिना अपनी निद्रा में कल्पित स्वप्न का निराकरण नहीं होता इसी प्रकार ब्रह्मतत्त्व ज्ञान के बिना अज्ञान से कल्पना किये संसार की निवृत्ति नहीं होती ॥२१०॥

ननु द्वैतनिवृत्तिलक्षणाया मुक्तेः स्वप्नदृष्टान्तेन तत्त्वबोधसाध्यत्वाभिधानमनुपपन्नम्, निवर्त्यस्य द्वैतस्य स्वप्नतुल्यत्वाभावादित्याशङ्क्यान्यथाग्रहणरूपत्वेन स्वप्नतुल्यत्वमस्त्येव. 'अयमप्येतत्सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रम् (नृ० उ० १) इति श्रुत्याऽभिहितत्वान्मैवमित्याह -

अद्वितीयब्रह्मतत्त्वे स्वप्नोऽयमखिलं जगत् ।
ईशजीवादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम् ॥२११॥

अन्वयः ईशजीवादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकं अखिलं जगत् अद्वितीयब्रह्म तत्त्वे स्वप्नः ।

अद्वितीयेति । ईशजीवादिरूपेण वर्तमानं चेतनाचेतनात्मकं यदखिलं जगदस्त्ययमद्वितीयब्रह्मतत्त्वे स्वप्न इति योजना ॥२११॥

नन्वीशजीवयोर्ब्रह्माभिन्नयोः कथं जगदन्तः पातित्वमित्याशङ्क्य, तयोर्मायाकल्पितत्वेन जगदन्तः पातित्वमित्याह—

आनन्दमयविज्ञानमयावीश्वरजीवकौ ।
मायया कल्पितावेतौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम् ॥२१२॥

अन्वयः - आनन्दमयविज्ञानमयौ ईश्वरजीवकौ एतौ मायया कल्पितौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितं ।

'आनन्दमयेति' ॥२१२॥

शंका करो कि तुमने जो द्वैतनिवृत्ति रूप मुक्ति को स्वप्न के दृष्टान्त से तत्त्वबोध से साध्य (उत्पन्न) कहा वह ठीक नहीं है क्योंकि निवृत्ति के योग्य द्वैत स्वप्न के तुल्य नहीं हो सकता इस शंका के उत्तर में अन्यथा ज्ञान रूप होने से स्वप्न के तुल्य जगत् को जो श्रुति में कहा है उसका वर्णन करते हैं--

ईश्वर जीव आदि रूप से जो जड़ चेतन स्वरूप समस्त जगत् है वह अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व में एक बड़ा स्वप्न ही है[1] ॥२११॥

यदि कहो जीव और ईश्वर तो ब्रह्म से अभिन्न हैं, फिर वे जगत् के अन्तर्गत कैसे कहा उत्तर्ये दोनों माया कल्पित होने से इनके जगत् के अन्तर्गतत्वं का वर्णन करते हैं—

ईश्वर और जीव क्रम से जो आनन्दमय और विज्ञानमय हैं वे दोनों माया से कल्पित हैं और इन दोनों ने सम्पूर्ण जगत् की कल्पना की है ॥२१२॥

विशेष १—यह जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति तीनों माया मात्र हैं ।

'ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम्' इत्युक्तं, तत्र केन कियत् कल्पितमित्याकङ्क्षायामाह —

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता ।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ॥२१३॥

अन्वयः—ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिः ईशेन कल्पिता जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारः जीवकल्पितः ।

ईक्षणादीति' । 'स ईक्षत लोकन्नु सृजा' (ऐ० ४।१।२) इत्यादिकया 'एतया द्वारा प्रापद्यत' (ऐ० ४।३।१२) इत्यन्तया श्रुत्या प्रतिपादिता सृष्टिरीश्वरकर्तृका । 'तस्य त्रय आवसथाः' (ऐ० ४।३।१२) इत्यादिकया 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यत्' (ऐ० ४।३।१३) इत्यन्तया श्रुत्या प्रतिपादितः संसारो जीवकर्तृक इत्यर्थः ॥२१३॥

ननु ब्रह्मण एव पारमार्थिकत्वे वादिनां जीवेश्वरतत्त्वविषया विप्रतिपत्तिः कुत इत्याशङ्क्य, श्रुतिसिद्धतत्त्वज्ञानशून्यत्वादित्याह —

अद्वितीयं ब्रह्मतत्त्वमसङ्गं तन्न जानते ।
जीवेशयोर्मायिकयोर्वृथैव कलहं ययुः ॥२१४॥

अन्वयः अद्वितीयं ब्रह्मतत्त्वं असङ्गं तन्न जानते जीवेशयोः मायिकयोः वृथैव कलहं ययुः ।

'अद्वितीयमिति' ॥२१४॥

ईश्वर और जीव में से किसने कितना जगत् बनाया है यह बताते हैं—

उस सृष्टिकर्ता आत्मा ने यह सोचा कि लोकों की रचना करूँ । 'एतया द्वारा प्रापद्यत' मूर्धा आदि के इस छिद्रभूत द्वारा जीव रूप से शरीर में प्रविष्ट हुआ । इस प्रवेश तक बताने वाली श्रुति से प्रतिपादित सृष्टि तो ईश्वर ने रची है और तस्य इस चिदाभासरूप जीव के जाग्रत (नेत्र) स्वप्न (कण्ठ) सुषुप्ति (हृदय) इस प्रकार इसके तीन (आवसथ) वासस्थान और तीन स्वप्न हैं से लेकर उस चिदाभास ने आत्मारूप से ब्रह्म को परिपूर्ण आकाश के समान अपने आत्मा के स्वरूप को ही इस ब्रह्म रूप से देखा, इस श्रुति तक वर्णित जाग्रत से लेकर विमोक्षपर्यन्त संसार जीव का बनाया हुआ है ॥२१३॥

यदि कहो जब परमार्थ स्वरूप से ब्रह्म ही सत्य है तो जीव और ईश्वर के विषय में वादी विवाद क्यों करते हैं यह शंका है उत्तर श्रुति सिद्ध तत्त्व ज्ञान से शून्य होने से—

उस अद्वितीय और असंग ब्रह्म तत्त्व को नहीं जानते इसलिए माया कल्पित जीव और ईश्वर के विषय में वे व्यर्थ ही विवाद करते हैं ॥२१४॥

जीवेश्वरविषयाया वादिविप्रतिपत्तेः अज्ञानमूलत्वे तथाविधतत्त्वेन ते बोधनीया इत्याशङ्क्य, वृथाश्रमत्वान्नेत्याह—

ज्ञात्वा सदा तत्त्वनिष्ठाननुमोदामहे वयम् ।
अनुशोचाम एवान्यान्न भ्रान्तैर्विवदामहे ।।२१५।।

अन्वयः—ज्ञात्वा सदा तत्त्वनिष्ठान् अनुमोदामहे वयं अनुशोचाम एवान्यान्न भ्रान्तैः विवदामहे ।

'ज्ञात्वेति' ।।२१५।।

कदाचित् कहो कि यदि जीव और ईश्वर के विवाद में अज्ञान मूल है उन अज्ञानियों को तत्त्व-बोध से समझाते क्यों नहीं—

तत्त्व[1]निष्ठों मुक्त पुरुषों को देख हम मुदिता वृत्ति से स्वयं आनन्द को प्राप्त होते हैं, अन्य जिज्ञासु[2] और विषयी[3] पुरुषों को देखकर हमें उनके प्रति अनुशोच (पश्चात्ताप) के कारण करुणा और मैत्री उत्पन्न होती है । परन्तु जो भ्रान्त (पामर[4]) हैं उनके साथ हम विवाद में नहीं पड़ते ।।२१५।।

विशेष १—मुक्त तत्त्वनिष्ठ ।तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् (१।१।७) कूटस्थ ब्रह्म का अभेद ज्ञान स्थूल-सूक्ष्म कारण शरीरों से भिन्न जो अपना परमार्थस्वरूप ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान जिसको है वह मुक्त है ।

२—जिज्ञासु (१) उत्तम (२) मध्यम (३) कनिष्ठ भेद से तीन जिज्ञासु तीन प्रकार के हैं (१) उत्तम तीव्र जिज्ञासा से युक्त साधनचतुष्टय सम्पन्नउत्तम संस्कारों से सत् शास्त्र का श्रवण करता है मन्द बोध से सम्पन्न उत्तम जिज्ञासु (२) मन्द जिज्ञासा से वेदान्त श्रवण में प्रवृत्त होने से मध्यम जिज्ञासु (३) मन्द जिज्ञासा से निष्काम कर्म उपासन में प्रवृत्त होने से कनिष्ठ जिज्ञासु है ।

३—विषयी तीन प्रकार के हैं (१) उत्तम विषयी जो वैकुण्ठ या ब्रह्मलोकादि की इच्छा से सकाम उपासना में प्रवृत्त हुआ है वह उत्तम विषयी (२) जो स्वर्ग लोक की इच्छा से सकाम कर्म में प्रवृत्त है वह मध्यम विषयी (३) जो इस लोक में राज्यादि भोगों की इच्छा से पुण्य कर्म में प्रवृत्त हुए है वे कनिष्ठ विषयी हैं ।

४—पामर तीन प्रकार के होते हैं (१) उत्तम पामार वे जो शास्त्रज्ञ होते हुए भी शास्त्र में श्रद्धा के अभाव के कारण इस लोक के भोगों में आसक्त हैं वे उत्तम पामर हैं (२) मध्यम पामर वे हैं जो शास्त्र को जानते भी नहीं और शास्त्रों के वाक्यों में विश्वास भी नहीं रखते अतः स्वेच्छाचारी हैं लोक भोगों में आसक्त (३) कनिष्ठ पामर वे हैं सर्वथा शास्त्र संस्कार रहित होने से इस लोक के ही भोगों में आसक्त है वह कनिष्ठ पामार है वहिर्मुख है अतएव भ्रान्त है ।

ईश्वरे जीवे च भ्रान्त्या विप्रतिपन्नान् वादिनो विभज्य दर्शयति—

तृणार्चकादियोगान्ता ईश्वरे भ्रान्तिमाश्रिताः ।
लोकायतादिसांख्यान्ता जीवे विभ्रान्तिमाश्रिताः ॥२१६॥

अन्वय :—तृणार्चकादियोगान्ता ईश्वरे भ्रान्ति आश्रिताः लोकायतादिसांख्यान्ता जीवे विभ्रान्ति आश्रिताः ।

'तृणेति' ॥२१६॥

कुतो भ्रान्तत्वं तेषामित्यत आह—

अद्वितीयब्रह्मतत्त्वं न जानन्ति यदा तदा ।
भ्रान्ता एवाखिलास्तेषां क्व मुक्तिः क्वेह वा सुखम् ॥२१७॥

अन्वय :—अद्वितीयं ब्रह्म त्वं यदा न जानन्ति तदा अखिला भ्रान्ताः एव तेषां क्व मुक्तिः इह वा क्व सुखं ।

'अद्वितीयेति' । ततः किं तत्राह—'तेषामिति' । परिगृहीतपक्षप्रतिपादमाभिनिवेशेन चित्त-विश्रान्त्यभावान्नैहिकमपि सुखं तेषामित्याह—'क्वेह वेति' २१७॥

अब जो ईश्वर और जीव के सम्बन्ध में जो भ्रान्तियाँ वादियों को है उसको पृथक्-पृथक् करके दिखाते हैं—

तृण, ईंट, पत्थर आदि के पूजकों से लेकर योग पर्यन्त वादियों को ईश्वर के विषय में भ्रान्ति है और लोकायत (चार्वाक) से लेकर सांख्यवादियों तक जो "जीव" के विषय में भ्रान्ति है ॥२१६॥

अब उनके भ्रान्त होने में हेतु को कहते हैं—

जब वे अद्वितीय ब्रह्म तत्त्व को नहीं जानते तो वे सब भ्रान्त ही हैं। उनकी मुक्ति कहाँ और उनको इस लोक में भी सुख कहाँ ? जिस पक्ष को वे ग्रहण कर लेते हैं उसके प्रतिपादन में हठ करते हैं। अतएव उनका चित्त स्थिर नहीं होता, फिर इस लोक में भी सुख कहाँ मिल सकता है ॥२१७॥

ननु तेषां ब्रह्मविद्याभावेऽपि इतरविद्याप्रयुक्त उत्तमाधमभावो दृश्यते, उत्तमत्वप्रयुक्तं सुखं केषांचित्स्यादित्याशङ्क्य, तस्य मुमुक्षुभिरनादरणीयत्वं दृष्टान्तेनाह—

उत्तमाधमभावश्चेत्तेषां स्यादस्तु तेन किम् ।
स्वप्नस्थराज्यभिक्षाभ्यां न बुद्धः स्पृश्यते खलु ।।२१८।।

अन्वय :—उत्तमाधमभावश्चेत् तेषां स्यात् अस्तु तेन किं स्वप्नस्थराज्यभिक्षाभ्यां बुद्धः खलु न स्पृश्यते ।

'उत्तमाधमेति' ।।२१८।।

जीवेश्वरवादयोर्मुक्तिहेतुत्वाभावान्न मुमुक्षुभिस्तत्र मतिर्निवेशनीयेत्युपसंहरति—

तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः ।
कार्या किन्तु ब्रह्मतत्त्वं विचार्य बुध्यतां च तत् ।।२१९।।

अन्वय :—तस्मात् मुमुक्षुभिः जीवेशवादयोः मतिः नैव कार्या किन्तु ब्रह्मतत्त्वं विचार्य तत् च बुध्यतां ।

'तस्मादिति' तर्हि 'किं' कर्तव्यमित्याशङ्क्य, श्रुतिविचारेण ब्रह्मबोध एव कर्तव्य इत्याह— 'किंत्विति' ।।२१९।।

यदि कहो कि उनमें ब्रह्म विद्या के न होने पर भी उनमें अन्य विद्याओं के कारण ऊँच, नीच भाव तो देखने में आते ही हैं। इसलिए उनमें उत्तमता का सुख तो कुछ वादियों को होगा ही इस शंका का उत्तर—मुमुक्षु उस सुख का आदर नहीं करते हैं, दृष्टान्त से कहते हैं—

यदि उन वादियों में ऊँच, नीच भाव हो तो इससे मुमुक्षु को क्या लाभ ? स्वप्न में मिले राज्य और भिक्षा से बुद्ध (जगा) हुआ मनुष्य को किञ्चित् भी फल नहीं होता है ।।२१८।।

जीव और ईश्वर वादों में मुक्ति का अभाव कारण है, इसी कारण मुमुक्षु जनों को उसमें मति नहीं जोड़नी चाहिए। इस प्रकार उपसंहार करते हैं—

इससे जीव ईश्वर का विवाद मुक्ति हेतु नहीं है। इससे मुमुक्षु इसमें बुद्धि को न लगावे। किन्तु श्रुतियों के अनुसार ब्रह्म तत्त्व का ही विचार करे उसको ही जानने का प्रयत्न करे ।।२१९।।

ननु ब्रह्मतत्त्वनिश्चयाय तयोः स्वरूपं हेयत्वेन ज्ञातव्यमित्याशङ्क्य, तथात्वे जीवेशवादयोरेव बुद्धिर्न परिसमापनीयेत्याह—

पूर्वपक्षतया तौ चेत्तत्त्वनिश्चयहेतुताम् ।
प्राप्नुतोऽस्तु निमज्जस्व तयोर्नैतावताऽवशः ॥२२०॥

अन्वय :—एतावता पूर्वपक्षतया तौ चेत् तत्त्वनिश्चयाय हेतुतां प्राप्नुतः अस्तु तयो. अवशः न निमज्जस्व ।

'पूर्वपक्षतयेति' । एतावता पूर्वपक्षतया तत्त्वनिर्णयहेतुत्वसंभवेन तयोर्जीवेशवादयोरेवावशो विवेकज्ञानशून्यो न निमज्जस्वेति योजना ॥२२०॥

ननु सांख्ययोगशास्त्रोक्तयोर्जीवेशयोः शुद्धचिद्रूपत्वेन भवद्भिरप्युपादेयत्वान्न तयोः पूर्वपक्षत्वमिति शङ्कते—

असङ्गचिद्विभुर्जीवः सांख्योक्तस्तादृगीश्वरः ।
योगोक्तस्तत्त्वमोरर्थौ शुद्धौ ताविति चेच्छृणु ॥२२१॥

अन्वय :—असङ्गचित् विभुर्जीवः सांख्योक्तः तादृक् ईश्वरः योगोक्तः तत्त्वमोः अर्थौ शुद्धौ तौ इति चेत् शृणु ।

'असङ्गचिदिति' सांख्योयोगशास्त्रोक्तयोर्जीवेशयोः शुद्धचिद्रूपत्वेऽपि तयोर्वास्तवभेदस्य तैरङ्गीकारान्नायमस्मत्सिद्धान्त इत्याह—'शृण्विति' ॥२२१॥

ब्रह्म तत्त्व का निश्चय करने के लिए जीव और ईश्वर के स्वरूप को त्यागने के लिए बुद्धि से जानना चाहिए इसका उत्तर यह है—त्यागने की योग्यता की बुद्धि से जीव और ईश्वर का विवाद में बुद्धि समाप्त नहीं करनी इसको कहते हैं—

यदि जीव एव ईश्वर के विवाद पूर्वपक्ष के रूप में तत्त्वनिश्चय के कारण हो तो पूर्वपक्ष में अवश्य (विवेक शून्य) होकर उन वादों में ही डूबकर अलं बुद्धि को मत करो ॥२२०॥

अब सांख्य और योगशास्त्र में कहे जीव ईश्वर शुद्ध चेतन रूप है उनको आप अद्वैतवादी भी मानते हो इससे जीव ईश्वर पूर्व पक्ष नहीं हो सकते यह शंका करते हैं—

सांख्य का बताया जीव असंग चेतन और व्यापक है और वैसा ही ईश्वर योग ने बताया है। वे ही शुद्ध जीव और ईश्वर तत् और त्वं. पदों के अर्थ हैं फिर उन्हें पूर्व पक्ष क्यों कहते हो इसका उत्तर सुनो ॥२२१॥

न तत्त्वबोरुभावर्थावस्मत्सिद्धान्ततां गतौ ।
अद्वैतबोधनायैव सा कक्षा काचिदिष्यते ॥२२२॥

अन्वय :—न तत्त्वमोः उभौ अर्थौ अस्मत्सिद्धान्ततां गतौ अद्वैतबोधनाय एव सा काचित् कक्षा इष्यते ।

नतत्त्वमोरिति' । तत्त्वं पदयोरुभावर्थावस्मत्सिद्धान्ततत्वं न गतावित्ति योजना । ननु 'कूटस्थ-ब्रह्म' शब्दाभ्यां शुद्धौ तत्त्वंपदार्थौ भवद्भिरपि भिन्नौ निरूपितावित्याशङ्क्याह – अद्वैत-बोधनायैवेति' । लोकप्रसिद्धभेदनिरासद्वारा तदैक्यप्रतिपादनायैव तौ भेदेनानूदितौ, ननु तयोर्भेदः प्रतिपाद्यत इति भावः ॥२२२॥

तर्हि पदार्थशोधनं किमर्थमित्यत आह -

अनादिमायया भ्रान्ता जीवेशौ सुविलक्षणौ ।
मन्यन्ते तद्व्युदासाय केवलं शोधनं तयोः ॥२२३॥

अन्वय :—सुविलक्षणौ जीवेशौ अनादिमायया भ्रान्ताः मन्यन्ते तद्व्युदासाय तयोः केवलं शोधनं (करिष्यते) ।

'अनादीति' । अत्र 'माया' शब्देन स्वाश्रयव्यामोहिका अविद्या लक्ष्यते । तया विपरीतज्ञानप्राप्ताः कर्तृत्वादिमत्वं जीवस्य, सर्वज्ञत्वादिगुणयोगित्वं चेश्वरस्य पारमार्थिकं मन्यन्ते, अतस्तन्निवृत्त्यर्थमेव शोधनं क्रियत इत्यर्थः ॥२२३॥

तत् और त्वं के (उनके) वे दोनों अर्थ हमारे सिद्धान्त तक नहीं पहुंचे । [वे इन दोनों में वास्तविक भेद मानते हैं, हम उस भेद को तात्त्विक रूप से स्वीकार नहीं करते ।] हमने यदि कहीं कूटस्थ और ब्रह्म शब्दों से त्वं तत् को बतलाया भी है तो अद्वैत बोध के लिए वह भी कोई कक्षा (मार्ग) अवस्था कहीं कहीं अवलम्बन किया गया है । लोक प्रसिद्ध भेद का निषेध करके (१) कूटस्थ ब्रह्म की 'ऐक्य प्रति-पादन के लिए ब्रह्म कूटस्थ तत्-त्वम् की एकाग्रता करने के लिए उन दोनों पदों के अर्थ अलग-अलग समझाये गये हैं । उनमें कोई भेद का प्रतिपादन नहीं किया गया है ॥२२२॥

तब तत्-त्वं, पदों के अर्थों का शोधन क्यों किया—बताते हैं—

जो अपने आश्रय को व्यामोह की प्राप्ति न करावे वह माया जो अपने आश्रय को मोह में डाले वह अनादि अविद्या है अविद्या से विपरीत ज्ञानी बने लोग भ्रमसे जीव और ईश्वर को अत्यंत भिन्न समझते हैं, वे जीव को कर्त्ता भोक्ता अकल्पज्ञादि और ईश्वर को सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् वास्तविक सत्य मानते हैं। जीव के कर्ता, भोक्ता ईश्वर की सर्वज्ञादि गुण इस भेद की निवृत्ति के द्वारा उनके खण्डन के लिए ही तत्-त्वं पदों के अर्थों का शोधन किया गया है । (यहाँ माया से अविद्या को लेते हैं) ॥२२३॥

पदार्थशोधनप्रकारमेव दिदर्शयिषुस्तदुपायत्वेन पूर्वोक्तदृष्टान्तं स्मारयति –

अत एवात्र दृष्टान्तो योग्यः प्राक् सम्यगीरितः ।

घटाकाशमहाकाशजलाकाशाभ्रखात्मकः ॥२२४॥

अन्वय :—अत एव अत्र योग्यः दृष्टान्तः प्राक् सम्यक् ईरितः घटाकाशमहाकाशजलाकाशाभ्रखात्मकः ।

'अत एवेति' । यतः पदार्थशोधनं कर्तव्यमत एवेत्यर्थः ॥२२४॥

पदार्थशोधनप्रकारमाह—

जलाभ्रोपाध्यधीने ते जलाकाशाभ्रखे तयोः ।

आधारौ तु घटाकाशमहाकाशौ सुनिर्मलौ ॥२२५॥

अन्वय : जलाभ्रोपाध्यधीने ते जलाकाशभ्रखे तयोः आधारौ तु सुनिर्मलौ घटाकाशमहाकाशौ ।

'जलाभ्रेति' । ये जलाकाशाभ्रखे ते जलाभ्रोपाध्यधीनत्वादपारमार्थिके, तयोराधारभूतौ घटाकाश महाकाशौ सुनिर्मलौ । जलाद्युपाधिनिरपेक्षाकाशमात्ररूपावित्यर्थः ॥२२५॥

पदार्थ शोधन के दिखाने की इच्छा से उसके उपाय रूप पूर्वोक्त १८वें श्लोक के दृष्टान्त का स्मरण कराते हैं -

इस विषय में योग्य दृष्टान्त पहले १८वें श्लोक में भले प्रकार से कह आये हैं। हमें तत्-त्वं, पदों का शोधन करना है उनका शुद्ध रूप दिखाना है। हमने घटाकाश, महाकाश, जलाकाश और मेघाकाश को पहले कह दिया है ॥२२४॥

अब पदार्थ शोधन के प्रकार को कहते हैं—

जो जलाकाश और मेघाकाश तो क्रमशः जल और मेघरूप उपाधियों के अधीन है। इसलिए वे दोनों अपारमार्थिक (अनित्य) है उन दोनों आकाशों का आधार जो घटाकाश एवं महाकाश है, सुनिर्मल है, वे जल मेघ उपाधि से रहित होने से केवल आकाश ही आकाश है ॥२२५॥

दार्ष्टान्तिकमाह—

एवमानन्दविज्ञानमयौ मायाधियोर्वशौ ।
तदधिष्ठानकूटस्थब्रह्मणी तु सुनिर्मले ॥२२६॥

अन्वय :—एवं आनन्दविज्ञानमयौ मायाधियोः वशौ तदधिष्ठानकूटस्थब्रह्मणी तु सुनिर्मले ।

'एवमिति' ॥२२६॥

ननु पदार्थद्वयशोधनकक्षोपयोगित्वेनापि सांख्ययोगमतद्वयमङ्गीकार्यमिति चेदल्पमिदमुच्यते, इतरेषामपि शास्त्राणां तत्तत्कक्षोपयोगित्वेनास्माभिरभ्युपेयत्वादित्याह—

एतत्कक्षोपयोगेन सांख्ययोगौ मतौ यदि ।
देहोऽन्नमयकक्षत्वादात्मत्वेनाभ्युपेयताम् ॥२२७॥

अन्वय :—एतत्कक्षोपयोगेन सांख्ययोगौ मतौ यदि देहः अन्नमयकक्षत्वात् आत्मत्वेन अभ्युपेयतां ।

'एतदिति' ॥२२७॥

अब पूर्वोक्त दृष्टान्त को दार्ष्टान्तिक में भी घटाते हैं—

ऐसे ही आनन्दमय ईश्वर और विज्ञानमय जीव तो क्रमशः माया और बुद्धिरूप उपाधियों के वशवर्ती हैं और उनके अधिष्ठान कूटस्थ और ब्रह्म सर्वथा निर्मल है ॥२२६॥

परन्तु पदार्थ द्वय शोधन में उपयोगी होते हुए भी सांख्य योगमत मानने योग्य नहीं है। इतर शास्त्रों का भी तत्-तत् कक्षा उपयोगी होने के कारण हम लोगों ने स्वीकार किया है। इस पर कहते हैं—

यदि दोनों पदार्थों के शोधन की दिशा में कुछ उपयोगी हो जाने से सांख्य और योग मत को मान लें तो चार्वाकादिकों के शास्त्रों को भी हम मानते हैं। तत्-तत् मार्ग के उपयोगी वर्णन किए अनेक आत्मा हो जायेंगे अन्नमय कोश की शोधन दशा में देह भी आत्मा हो जायेगा ॥२२७॥

पं० ४४

कुतस्तर्हि सांख्ययोगयोर्वेदान्तविरोधित्वमित्याशङ्क्य, जीवभेदजगत्सत्यत्वेश्वरताटस्थ्यलक्षणेंऽशे इत्याह—

आत्मभेदो जगत् सत्यमीशोऽन्य इति चेत्त्रयम् ।
त्यज्यते तैस्तदा सांख्ययोगवेदान्तसंमतिः ।।२२८।।

अन्वय :– आत्मभेदः जगत् सत्यं ईशः अन्यः इति चेत् त्रयं तैः त्यज्यते तदा सांख्ययोगवेदान्त संमतिः ।

'आत्मभेद इति' ।।२२८।।

ननु जीवस्यासङ्गत्वज्ञानादेव मुक्तिसिद्धेः किमद्वैतबोधेनेत्याशङ्क्य, अद्वैतज्ञानमन्तरेणासङ्गत्वादिकं न संभाव्यत इत्यभिसंधिं हृदि निधायोत्तरमाह—

जीवोऽसङ्गत्वमात्रेण कृतार्थं इति चेत्तदा ।
स्रक्चन्दनादिनित्यत्वमात्रेणापि कृतार्थता ।।२२९।।

अन्वय :—जीवोऽसङ्गत्व मात्रेण कृतार्थः इति चेत् तदा स्रक्चन्दनादिनित्यत्वमात्रेणापि कृतार्थता ।

'जीव इति' ।।२२९।।

जिससे सांख्ययोग वेदान्त के विरोधी हैं, उसको कहते हैं—वे जीव भेद जगत्, सत्य ईश्वर तटस्थ है अर्थात् (जीव जगत् से भिन्न है । ये अंश में ही है इस प्रकार कहते हैं—

आत्मा भिन्न-भिन्न अनेक है जगत सत्य है (ये दोनों मत सांख्य योग दोनों के हैं) और ईश्वर जीव एवं जगत् से भिन्न है (यह योग का मत है) वेदान्त एक अद्वैत ब्रह्म को मानते हैं । यदि इन मतों को जब सांख्य योगवादी छोड़ दें तब वेदान्त के साथ उनकी यह मति सम्भव है ।।२२८।।

यदि कहो जीव को असंग मानने से ही मुक्ति हो जायेगी, तब अद्वैत बोध से क्या लाभ ? इस शंका का उत्तर —अद्वैत ज्ञान के बिना असङ्गता का होना भी असंभव है इस गूढ़ अभिसंधि को हृदय में रखकर उत्तर देते हैं—

जीव असंग मात्र से ही कृतार्थ हो जायेगा तो माला, चन्दन आदि को भी नित्य मानकर कृतार्थ हो जायेगा । अर्थात् अनित्य को नित्य मान लेने से कृत-कृत्य नहीं हो सकता है ।।२२९।।

अभिसंधिमाविष्करोति—

यथा स्रगादिनित्यत्वं दुःसंपाद्यं तथात्मनः ।
असङ्गत्वं न संभाव्यं जीवतोर्जगदीशयोः ॥२३०॥

अन्वय :—यथा स्रगादिनित्यत्वं दुःसंपाद्यं तथा आत्मनः जीवतोः जगदीशयोः असङ्गत्वं न संभाव्यं ।

'यथेति' । जीवितोर्विशेष्यविशेषणाकारेण भासमानयोः ॥२३०॥

असंभवमेव स्पष्टयति—

अवश्यं प्रकृतिः सङ्गं पुरेवापादयेत्तथा ।
नियच्छत्येतमीशोऽपि कोऽस्य मोक्षस्तथा सति ॥२३१॥

अन्वय :—अवश्यं प्रकृतिः सङ्गः पुरे आपादयेत् तथा एतं ईशोपि नियच्छति तथा सति अस्य मोक्षः कः ।

'अवश्यमिति' । फलितमाह—'कोऽस्येति' ॥२३१॥

इसी के अभिप्राय को स्पष्ट करते हैं—

जैसे स्रग् आदि की नित्यता दुःख से सम्पादन (सिद्ध) करना कठिन है असंभव है इसी प्रकार जब तक जगत् और ईश्वर ये दोनों जीवित हैं अर्थात् विशेषण विशेष्य भाव से भासते (प्रतीत होते हैं) तब तक आत्मा की असंगता का भी ज्ञान होना असंभव है ॥२३०॥

इस असंभावना की स्पष्टता यह है जीव ईश्वर के रहने आत्मा की असंगता असंभव है—

यदि प्रकृति पूर्व के समान उसमें संग को पैदा कर देगी और ईश्वर भी उस पर अपना शासन पूर्ववत् रखेगा जीव को ईश्वर की प्रेरणा भी बनी रहेगी, इस प्रकार संग प्रेरणा के बने रहने इस जीव का मोक्ष ही क्या होगा ॥२३१॥

सङ्गनियमनयोरविवेककार्यत्वात् विवेकज्ञानेनचाविवेक निवृतौ कुतः पुनः सङ्गादुत्पत्तिरिति शङ्कते—

अविवेककृतः सङ्गो नियमश्चेति चेत्तदा ।
बलादापतितो मायावादः सांख्यस्य दुर्मतेः ॥२३२॥

अन्वयः—सङ्गः अविवेककृतः नियमश्चेति चेत्तदा बलात् आपतितः दुर्मतेः सांख्यस्य मायावादः ।

'अविवेकेति' । एवं सति अपसिद्धान्तापात इति परिहरति—'बलादिति' । अयं भावः—अविवेको नाम किं विवेकाभावः, किं वा तदन्यः उत तद्विरोधः ? नाद्यः अभावमात्रस्य भावकार्यजनकत्वायोगात् । न द्वितीयः विवेकादन्यस्य घटादेः सङ्गहेतुत्वादर्शनात् । तृतीये[1] तु तस्य भावरूपाज्ञानत्वमेवेति मायावाद-प्रसङ्ग इति ॥२३२॥

संग (अध्यास) नियमन (प्रेरणा) दोनों अविवेक के कार्य हैं-जब विवेक ज्ञान से अविवेक की निवृत्ति हो जाती है फिर संग आदि की उत्पत्ति क्यों होगी इस शंका का उत्तर—

दुर्मति सांख्यवादी को न चाहता हुआ भी बलात् मायावादी हो गया तात्पर्य यह है-अविवेक को विवेक का अभाव रूप या विवेक से अन्य रूप या विवेक विरोधी भाव रूप इन तीन रूपों में से किस रूप को मानोगे । वह अभाव रूप तो वह सिद्ध नहीं हो सकेगा । क्योंकि अभाव मात्र (अविवेक) से भाव रूप कार्य जनक संग या नियमन की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी । न द्वितीय ही, विवेक से भिन्न अन्य विवेक भी यह सिद्ध नहीं होगा, विवेक से भिन्न दूसरा कोई घटादि संग का हेतु नहीं देखा गया, तृतीय में उसे भाव रूप अज्ञान मानो तो उसी को मायावाद कहा जायेगा ॥२३२॥

विशेष १—अविवेकविरोधित्वे त्वविवेकस्य इत्यर्थः ।

अद्वैताभ्युपगमे बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्तेरात्मभेदोऽङ्गीकर्तव्य इति चोदयति—

बन्धमोक्षव्यवस्थार्थमात्मनानात्वमिष्यताम् ।
इति चेन्न यतो माया व्यवस्थापयितुं क्षमा ॥२३३॥

अन्वयः— बन्धमोक्षव्यवस्थार्थं आत्मनानात्वं ईष्यतां इति चेन्न यतः माया व्यवस्थापयितुं क्षमा ।

'बन्धमोक्षेति'। एकस्याप्यात्मनो मायया बन्धमोक्षव्यवस्थोपपत्तेर्मैवमिति परिहरति—"न यत इति" ॥२३३॥

मायापि कथं व्यवस्थापयेदित्याशङ्क्य, तस्य दुर्घटकारित्वस्वाभाव्यादित्याह—

दुर्घटं घटयामीति विरुद्धं किं न पश्यसि ।
वास्तवौ बन्धमोक्षौ तु श्रुतिर्न सहतेतराम् ॥२३४॥

अन्वयः—दुर्घटं घटयामीति विरुद्धं किं न पश्यसि वास्तवौ बन्धमोक्षौ तु श्रुतिः न सहतेराम् ।

'दुर्घटमिति'। बन्धस्याविद्यकत्वेऽपि मोक्षो वास्तवोऽभ्युपेतव्य इत्याशङ्क्य, श्रुतिविरोधान्मैवमित्याह—'वास्तवाविति'। न सहतेतराम्, अतितरां नैव सहत इत्यर्थः। बन्धमिव मोक्षमपि वास्तवं न सहत इति भावः ॥२३४॥

शंका–(अद्वैत मानने से) बन्ध मोक्ष की व्यवस्था की सिद्धि के लिए आत्माओं को भिन्न-भिन्न मानना चाहिए, इस शंका का उत्तर—

(अद्वैत मानने से) बन्ध मोक्ष की व्यवस्था नहीं बनती इसलिए आत्माओं को नाना मानना चाहिए। ऐसा कहना उचित नहीं क्योंकि माया से बन्ध मोक्ष की व्यवस्था सम्भव है आत्मा एक होने पर भी माया बन्ध मोक्ष को व्यवस्थित कर लेगी।

माया बन्ध मोक्ष की व्यवस्था कैसे कर सकती है। दुर्घट करने का उसका स्वभाव है—

जो बात दुर्घट है (असम्भव है) उसे मैं कर देती हूँ उसके इस विरोधि स्वभाव को क्या तुम नहीं देखते।

बन्ध अविद्या का कार्य है तो मोक्ष वास्तविक मानना होगा यह शंका मत करो श्रुतियों से विरोध होगा। सच्चे बन्ध और मोक्ष को श्रुति सहती ही नहीं। श्रुति बन्ध की तरह मोक्ष को भी सत्य (वास्तविक) नहीं मानती ॥२३४॥

मोक्षादेर्वास्तवत्वप्रतिषेधिकां श्रुतिं पठति—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥२३५॥

अन्वयः—न निरोधः न च उत्पत्तिः न बद्धः न च साधकः न मुमुक्षुः न वै मुक्तः इत्येषा परमार्थता ।

'न निरोध इति' निरोधो नाशः, उत्पत्तिर्देहसंबन्धः, बद्धः सुखदुःखादिधर्मवान्, साधकः श्रवणाद्यनुष्ठाता, मुमुक्षुः साधनचतुष्टयसंपन्नः, मुक्तः निवृत्ताविद्यः, इत्येतत्सर्वं वस्तुनो नास्तीत्यर्थः ॥२३५॥

एवं जीवेश्वरादिभेदस्य मायामयत्वमुपपादितमुपसंहरति—

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि ॥२३६॥

अन्वयः—मायाख्यायाः कामधेनोः उभौ जीवेश्वरौ वत्सौ यथेच्छं द्वैतं पिबतां तत्त्वं तु अद्वैतं एव हि ।

'मायाख्याया इति ॥२३६॥

मोक्ष आदि वास्तव नहीं इसमें श्रुति को पढ़ते हैं—

इस आत्मा का न कभी नाश होता है न कभी उत्पन्न होता है। (देह के सम्बन्ध में आता है) न इसका बन्धन (सुख दुःखादि सम्बन्ध) होता है न वह कभी साधक (श्रवण मनन आदि साधनों का कर्ता) होता है न मुमुक्षु (साधन चतुष्टय सम्पन्न) बनता है और न कभी मुक्त (अविद्या रहित) भी नहीं होता यही परमार्थ है कि इनमें से कोई भी बात वस्तुतः नहीं होती ॥२३५॥

इस प्रकार मायामय जीव ईश्वर के भेद का प्रतिपादन कर इस विषय की समाप्ति करते हैं—

माया नाम की कामधेनु के जीव और ईश्वर दोनों बछड़े हैं वे द्वैत रूप द्वैत को भले ही यथेच्छ पीते रहें (द्वैत में मग्न रहें) पर तत्त्व तो अद्वैत ही है सिद्धान्त तो अद्वैत ही है ॥२३६॥

ननु जीवेश्वरयोर्मायिकत्वेन तद्भेदस्य मिथ्यात्वेऽपि कूटस्थब्रह्मणोः पारमार्थिकत्वेन तद्भेदोऽपि पारमार्थिकः स्यात् इत्याशङ्क्य, भेदप्रयोजकस्य स्वरूपवैलक्षण्यस्याभावान्मैवमिति परिहरति—

कूटस्थब्रह्मणोर्भेदो नाममात्रादृते नहि ।
घटाकाशमहाकाशौ वियुज्येते नहि क्वचित् ॥२३७॥

अन्वयः—कूटस्थब्रह्मणोः भेदः नाममात्रादृते न हि घटाकाशमहाकाशौ क्वचित् नहि वियुज्येते ।

'कूटस्थेति'। नाममात्रभेदप्रतीतावपि वस्तुतो भेदभावे दृष्टान्तं स्पूर्वोक्तं स्मारयति-'घटाकाशेति' ॥२३७॥

एवं भेदस्य मिथ्यात्वसमर्थनेन किं फलमित्याह—

यदद्वैतं श्रुतं सृष्टेः प्राक् तदेवाद्य चोपरि ।
मुक्तावपि वृथा माया भ्रामयत्यखिलाञ्जनान् ॥२३८॥

अन्वयः—यदद्वैतं प्राक् सृष्टेः श्रुतं तदेवाद्य च उपरि मुक्तावपि वृथा माया अखिलान् जनान् भ्रामयति ।

'यदद्वैतमिति'। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इति श्रुतौ यदद्वितीयं ब्रह्म प्रतिपादितं, तदेव कालत्रयेऽप्यबाध्यत्वेन वास्तवं न भेद इति भावः। कुतस्तर्हि सर्वैर्भेदाभिनिवेशः क्रियते इत्यत आह —'वृथा मायेति तत्त्वज्ञानरहितत्वादभिनिवेशं कुर्वन्तीति भावः ॥२३८॥

यदि कहो कि जीव और ईश्वर तो मायिक है उनका भेद मिथ्या रहे परन्तु कूटस्थ और ब्रह्म तो पारमार्थिक है उनका भेद भी पारमार्थिक होना चाहिए इस शंका का उत्तर—

कूटस्थ और ब्रह्म का भेद तो नाममात्र के बिना नहीं है। इनका भेद तो कहने मात्र को ही है। जैसे घटाकाश और महाकाश दोनों एक दूसरे से कभी पृथक् नहीं होते इनमें जैसे नाममात्र का ही भेद है ॥२३७॥

अब पूर्वोक्त प्रकार से भेद को मिथ्या सिद्ध करने का फल कहते हैं —

हे सोम्य आरम्भ से वह एक मात्र अद्वितीय सत् ही था इस श्रुति से पूर्व विद्यमान जिस अद्वितीय ब्रह्म का प्रतिपादन किया है, अब सृष्टिकाल में भी और पीछे प्रलयकाल में भी तथा मुक्ति में भी रहेगा। इस प्रकार त्रिकाल बाधित होने से वह वास्तविक है ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। फिर सब हठात् भेद को क्यों मानते हैं। माया ने सब को व्यर्थ ही भ्रम में डाल रखा है, तत्त्व ज्ञान से रहित होने के कारण लोग हठात् भेद ही मानते रहते हैं ॥२३८॥

ननु प्रपञ्चस्य मायामयत्वं तत्त्वस्याद्वितीयत्वं च ये वर्णयन्ति तेऽपि संसारवन्तो दृश्यन्ते, अतस्तत्त्वज्ञानेन किं प्रयोजनमिति शङ्कते—

ये वदन्तीत्थमेतेऽपि भ्राम्यन्तेऽविद्ययाऽत्र किम् ।

न यथापूर्वमेतेषामत्र भ्रान्तेरदर्शनात् ॥२३९॥

अन्वय :—ये इत्थं वदन्ति एतेऽपि अविद्यया अत्र किं न भ्राम्यन्ते एतेषां यथापूर्वं अत्र भ्रान्तेः अदर्शनात् ।

'ये वदन्तीति' । कर्मवशात्केषांचिद्व्यवहारे सत्यपि पूर्ववदभिनिवेशाभावान्नैवमिति परिहरति—'न यथेति' ॥२३९॥

ज्ञानिनां भ्रान्त्यभावं दर्शयितुं अज्ञानिनां निश्चयं तावदाह—

ऐहिकामुष्मिकः सर्वः संसारो वास्तवस्ततः ।

न भाति नास्ति चाद्वैतमित्यज्ञानिविनिश्चयः ॥२४०॥

अन्वय :—ऐहिकामुस्मिकः सर्वः संसारः वास्तवः ततः न भाति अद्वैतं च नास्ति इति अज्ञान विनिश्चयः ।

'ऐहिकेति' । इह लोके भव ऐहिकः पुत्रकलत्रादिपोषणरूपः अमुष्मिन्परलोके भव आमुष्मिकः स्वर्गसुखाद्यनुभवरूपः ॥२४०॥

जो लोग प्रपञ्च को मायामय और तत्त्व की अद्वैतता को मानते हैं वे भी संसारी बने दीखते हैं। फिर तत्त्व ज्ञान का लाभ ही क्या हुआ इन प्रश्नों का उत्तर देते हैं—

जो लोग ऐसे कहते हैं उनको अविद्या क्या नहीं भ्रमाती—उत्तर पहले के समान अज्ञान अवस्था की तरह उनमें व्यवहार में उतना आग्रह नहीं दिखायी पड़ता, प्रारब्ध कर्मवश कितने ही ज्ञानी व्यवहार में फँसे रहें पूर्व के समान नहीं, इससे तत्त्व का ज्ञान सफल है ॥२३९॥

ज्ञानियों को भ्रान्ति का अभाव दिखाने के लिए प्रथम अज्ञानियों के निश्चय को कहते हैं—

इस लोक का स्त्रीपुत्रादिपोषणरूप परलोक का स्वर्गसुख आदि रूप, सम्पूर्ण संसार वास्तविक है अद्वैत नाम की वस्तु न तो प्रतीत होती है और न अद्वैत है यही अज्ञानियों का निश्चय है ॥२४०॥

तत्त्वविनिश्चयस्य ततो वैलक्षण्यं दर्शयति—

ज्ञानिनो विपरीतोऽस्मान्निश्चयः सम्यगीक्ष्यते ।
स्वस्वनिश्चयतो बद्धो मुक्तोऽहं चेति मन्यते ॥२४१॥

अन्वय :—ज्ञानिनः अस्माद् विपरीतः निश्चयः सम्यक् ईक्ष्यते, स्व-स्वनिश्चयतः बद्धः मुक्तः अहं च इति मन्यते ।

'ज्ञानिनामिति' । अद्वैतं पारमार्थिकं भाति च संसारस्त्वपारमार्थिक इति निश्चय इत्यर्थः । ततः किमित्याशङ्क्य, स्वस्वनिश्चयानुसारेण फलं भवतीत्याह–'स्वस्वेति' ॥२४१॥

अद्वैतं भातीत्युक्तिः शास्त्रत एव नानुभवतः, अतो न तन्निश्चय इति शङ्कते—

नाद्वैतमपरोक्षं चेन्न चिद्रूपेण भासनात् ।
अशेषेण न भातं चेद्द्वैतं किं भासतेऽखिलम् ॥२४२॥

अन्वय :- अद्वैतं अपरोक्षं न चेत् न चिद्रूपेण भासनात् अशेषेण न भातं चेत् किं अखिलं द्वैतं भासते ।

'नाद्वैतमिति' । अनुभवागोचरत्वमसिद्धमिति परिहरति—'न चिद्रूपेणेति' । 'घटः स्फुरति, पटः स्फुरति' इति घटादिष्वनुस्यूतस्फुरणरूपेण भानादित्यर्थः । ननु चिद्रूपत्वस्य भानेऽपि तत्कात्स्न्र्येन न प्रतीयत इति शङ्कते 'अशेषेणेति' । साकल्येन भानाभावो द्वैतेऽपि समान इत्याह—'द्वैतं किमिति' ॥२४२॥

अब तत्त्व के निश्चय की उससे विलक्षणता को दिखाते हैं—

ज्ञानियों का निश्चय इससे विपरीत है जो अच्छी प्रकार से दिखायी देता है । उन्हें अद्वैत के पारमार्थिक और संसार के अपारमार्थिक होने का निश्चय होता है । उसका फल यह है कि मनुष्य अपने-अपने निश्चय के अनुसार अपने को बद्ध (मैं बद्ध हूँ) मैं मुक्त हूँ अर्थात् अज्ञानी बद्ध, ज्ञानी मुक्त मानता है ॥२४१॥

अद्वैत प्रतीत होता है यह कथन तो शास्त्र के आधार पर ही तो है अनुभव के आधार पर नहीं अतएव इसको निश्चय क्योंकर कह सकते हैं—

अद्वैत अपरोक्ष (अनुभव का विषय) नहीं है ऐसा मत कहो, घट भासता है, पट भासता है । इत्यादि में घटादियों में अनुस्यूत स्फुरण द्वारा चित् रूप से अद्वैत चेतन तत्त्व की प्रतीति सबको सब पदार्थों में हो रही है ।

शंका-चिद्रूप से प्रतीत होने पर भी सम्पूर्ण रूप से प्रतीत नहीं होता, सम्पूर्ण रूप से नहीं भासता तो भी नहीं कह सकते, द्वैत भी क्या सम्पूर्ण रूप से भासता है । यहाँ घट आदि में व्यापक स्फुरण रूप से अद्वैत भासता है, इससे अद्वैत अपरोक्ष है ॥२४२॥

एवं दोषसाम्यमभिधाय परिहारसाम्यमाह—

दिङ्मात्रेण विभानं तु द्वयोरपि समं खलु ।

द्वैतसिद्धिवदद्वैतसिद्धिस्ते तावता न किम् ।।२४३।।

अन्वयः—दिङ्मात्रेण विभानं तु द्वयोरपि खलु समं द्वैतसिद्धिवत् ते अद्वैतसिद्धिः तावता किं न ।

'दिङ्मात्रेणेति'। दिङ्मात्रेणैकदेशेन, द्वयोर्द्वैताद्वैतयोरित्यर्थः । एतावता कथं परिहारसाम्यमित्याशङ्क्याह—'द्वैतसिद्धिवदिति' । ते तव पक्षे तावता एकदेशप्रतीतिसद्भावेन द्वैतसिद्धिवत् द्वैतनिश्चय इव अद्वैतसिद्धिरद्वैतनिश्चयोऽपि किं न भवति ? किंतु भवत्येवेत्यर्थः ।।२४३।।

पूर्ववादी प्रकारान्तरेणाद्वैतासिद्धिं शङ्कते—

द्वैतेन हीनमद्वैतं द्वैतज्ञाने कथं त्विदम् ।

चिद्भानं त्वविरोध्यस्य द्वैतस्यातोऽसमे उभे ।।२४४।।

अन्वय :—द्वैतेन हीनं अद्वैतं द्वैतज्ञाने तु इदं कथं चिद्भानं तु अस्य द्वैतस्य अविरोधी अतःउभे असमे ।

'द्वैतेनेति'। अद्वैतं द्वैतरहितं तयोः परस्परविरोधात्तथा सति द्वैतप्रतीतावद्वैतं न संभवतीत्यर्थः । ननु तर्हि द्वैतस्याप्यद्वैतविरोधित्वादद्वैते प्रतिभासमाने द्वैतस्यासिद्धिरिति चोद्यं समानमित्याशङ्क्याह पूर्ववादी 'चिद्भानं त्विति' । भवन्मते चिद्रूपप्रतीतेरेवाद्वैतप्रतीतित्वात्तस्याश्च द्वैतविरोधित्वाभावान्नोभयोः साम्यमिति भावः ।।२४४।।

इस प्रकार दोनों पक्ष में दोष की तुल्यता दिखाकर अब परिहार की साम्यता दिखाते हैं—

एक[1] देश का भान हो जाना तो द्वैत अद्वैत दोनों पक्षों में समान है शंका करे कि इतने से साम्यता जैसे तुम द्वैत के किसी एक देश को देखकर सम्पूर्ण द्वैत को सिद्ध मान लेते हो, वैसे ही अद्वैत के एक देश को जानकर सम्पूर्ण अद्वैत का निश्चय क्यों नहीं होगा, होगा ही ।।२४३।।

अब पूर्ववादी अन्य प्रकार से अद्वैत सिद्धि की शंका करता है—

द्वैत से रहित को अद्वैत कहते हैं। वह अद्वैत द्वैत ज्ञान के रहते कैसे हो सकता है और चित् का भान तो उस द्वैत का अविरोधी है। इससे दोनों की तुल्यता नहीं है ।।२४४।।

द्वैत से रहित को अद्वैत कहते हैं। द्वैत और अद्वैत का परस्पर विरोध है। इससे द्वैत की प्रतीति होते रहते यह अद्वैत नहीं हो सकता। यदि कहो कि द्वैत भी ऐसे ही अद्वैत का विरोधी है, इससे अद्वैत के

विशेष—(१) स्थालीपुलाकन्याय जैसे—पकते चावलों में से एक को पका देखकर सबके पक जाने का निश्चय होता है—एक गृहगत आकाश के असंगता के निश्चय करने से सारे ब्रह्माण्डादिगत आकाश के असंगतादिक का निश्चय होता है। इसी तरह शरीर के भीतर स्थित अन्तर्मुख रूप वृत्ति से चेतनता, आनन्दता, अद्वयता, पूर्णता, नित्यमुक्तता, असंगता, आदिक ब्रह्म के विशेषणों से युक्त प्रत्यगात्मा के ग्रहण से और प्रत्यगात्म निष्ठ अविद्या अंश की निवृत्ति करके प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म का स्वयं प्रकाशता का भान सम्भव है—ऐसे एक देश की प्रतीति से अद्वैत का निश्चय होता है।

प्रतीयमानस्यापि द्वैतस्य वास्तवत्वाभावान्न वास्तवाद्वैतविघातित्वमिति परिहरति सिद्धान्ती ।

एवं तर्हि शृणु द्वैतमसन्मायामयत्वतः ।
तेन वास्तवमद्वैतं परिशेषाद्विभासते ॥२४५॥

अन्वय :—एवं तर्हि शृणु द्वैतं असन्मायामयत्वतः तेन वास्तवं अद्वैतं परिशेषात् विभासते ।

'एवमिति' । प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे संप्रत्ययः परिशेषः ॥२४५॥

परिशेषप्रकारमेव दर्शयति—

अचिन्त्यरचनारूपं मायैव सकलं जगत् ।
इति निश्चित्य वस्तुत्वमद्वैते परिशेष्यताम् ॥२४६॥

अन्वयः—अचिन्त्यरचनारूपं सकलं जगत् मायैव इति निश्चित्य अद्वैते वस्तुत्वं परिशेष्यतां ।

'अचिन्त्येति' । न चिन्त्या अचिन्त्या, अचिन्त्या रचना रूपं यस्य तत्तथाविधं सकलं जगत् मायैव मिथ्यैवेत्यनेन प्रकारेणानिर्वचनीयत्वान्मिथ्यात्वं द्वैतस्य निश्चित्य वास्तवमद्वैतं परिशेष्यतामित्यर्थः ॥२४६॥

भान ज्ञान रहते द्वैत का ज्ञान भी सिद्ध न होगा । अतएव तुम्हारी, हमारी शंका तुल्य है । इस शंका का उत्तर पूर्ववादी कहता है आप के चिद्रूप की प्रतीति ही अद्वैत की प्रतीति है वह चिद्रूप प्रतीत द्वैत का विरोधी नहीं हो सकती, इसलिए हम दोनों की शंका एक समान नहीं है ॥२४४॥

अब सिद्धान्ती पूर्व शंका का इस आशय से समाधान करता है कि प्रतीत होता भी द्वैत मिथ्या रूप है इससे वास्तव अद्वैत का नाश नहीं कर सकता—

पूर्वोक्त शंका का उत्तर सुनो—द्वैत असत् है क्योंकि वह मायामय है अतएव परिशेष से वास्तविक अद्वैत ही भासित होता है—

प्राप्त हुई वस्तु के निषेध होने पर और अन्य में प्रसंग के अभाव से शेष रहे वस्तु में जो सत्य का निश्चय उसे परिशेष कहते हैं ॥२४५॥

अब परिशेष के प्रकार को कहते हैं—

चिन्ता करने के अयोग्य है रचना जिसकी ऐसा जगत् माया (मिथ्या ही है) इस प्रकार अनिर्वचनीय होने से द्वैत को मिथ्या निश्चय करके वास्तव (सत्य) अद्वैत का यह परिशेष से समझ लेना चाहिए ॥२४६॥

नन्वेवमद्वैतनिश्चये कृतेऽपि पुनःपुनर्द्वैतसत्यत्वं पूर्ववासनया भातीत्याशङ्क्य, तन्निवृत्तये पुनः पुनर्मिथ्यात्वं विचारयेदित्याह —

पुनर्द्वैतस्य वस्तुत्वं भाति चेत्त्वं तथा पुनः ।
परिशीलय को वात्र प्रयासस्तेन ते वद ॥२४७॥

अन्वयः—पुनः द्वैतस्य वस्तुत्वं भाति चेत् त्वं पुनः तथा परिशीलय अत्र को वा प्रयासः तेन वद ।

'पुनर्द्वैतस्येति' । 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (ब्र० सू० ४।१।१) इति चतुर्थाध्याये आत्मनः श्रवणाद्यावर्तनस्य विहितत्वाद्व्यासेनेति भावः ॥२४७॥

कियन्तं कालमित्थं विचारणीयमित्याशङ्क्य, 'तत्रापरोक्षविद्याप्तौ विचारोऽयं समाप्यते' (प्र० ६।१५) इति विचारकालावधेरुक्तत्वान्नाद्वैतविचारेऽयं खेदो युक्तः, किन्तु द्वैतप्रतिभास एव युक्त इत्याह—

कियन्तं कालमिति चेत्खेदोऽयं द्वैत इष्यताम् ।
अद्वैते तु न युक्तोऽयं सर्वानर्थनिवारणात् ॥२४८॥

अन्वयः—कियन्तं कालं इति चेत् खेदोऽयं द्वैत इष्यतां अद्वैते तु सर्वानर्थनिवारणात् अयं न युक्तः ।

'कियन्तमिति' ॥२४८॥

यदि कहो कि अद्वैत का निश्चय हो जाने पर भी पूर्व वासना से पुनः सच्चा द्वैत प्रतीत होता है । इस शंका का उत्तर द्वैत की निवृत्ति के लिए बार-बार मिथ्या का विचार —

फिर भी द्वैत सत्य दिखायी देता है तो तुम फिर भी उसके मिथ्यात्व का बारम्बार विचार करो, क्योंकि बारम्बार उपदेश को देखते हैं—इससे श्रवण मनन आदि की आवृत्ति करे इस सूत्र से चौथे अध्याय में व्यास ने आवृत्ति कही है इस प्रकार विचार करने में तुम्हारा कौन प्रयास है यह कहो ॥२४७॥

कितने काल तक विचार करना चाहिए ऐसी शंका कर कहते हैं कि 'तत्रापरोक्षविद्याप्तौ विचारोऽयं समाप्यते' अर्थात् अपरोक्ष आत्म ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर यह विचार अपने आप समाप्त हो जायेगा इसलिए यह विचार द्वैत में ही दुःखदायी है अद्वैत में तो दुःखदायी नहीं है—

यह विचार कब तक करें उत्तर—यह कष्ट द्वैत में ही इष्ट है । अद्वैत में तो यह कष्ट करना उचित नहीं है । अद्वैत में सब अनर्थों की निवृत्ति हो जाती है । इसी प्रकरण के १५वें श्लोक में बता आये हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हो जाने पर विचार स्वयं समाप्त हो जाता है ॥२४८॥

नन्वेवमद्वैतात्मतत्त्वापरोक्षज्ञानवत्यपि मयि क्षुत्पिपासानर्थस्य परिदृश्यमानत्वादनर्थनिवारकत्व-मात्मज्ञानस्यासिद्धमिति शङ्कते—

क्षुत्पिपासादयो दृष्टा यथापूर्वं मयीति चेत् ।

मच्छब्दवाच्येऽहंकारे दृश्यन्तां नेति को वदेत् ।।२४९।।

अन्वयः—क्षुत्पिपासादयः यथा पूर्वं मयि दृष्टा इति चेत् मच्छब्दवाच्येऽहंकारे न दृश्यन्तां इति को वदेत् ।

'क्षुत्पिपासादय इति'। मच्छब्दवाच्येऽहंकारे दृश्यन्ते, उत मच्छब्दोपलक्षिते चिदात्मनि ? इति विकल्प्य, आद्यमङ्गीकरोति—'मच्छब्दवाच्य इति'। न द्वितीयः; तस्य असङ्गत्वादविषयत्वाच्चेति बहिरेव द्रष्टव्यम् ।।२४९।।

वस्तुतस्तत्प्रतीत्यभावेऽपि भ्रान्त्या तत्प्रसक्तिः स्यादिति शङ्कते—

चिद्रूपेऽपि प्रसज्येरंस्तादात्म्याध्यासतो यदि ।

माऽध्यासं कुरु किंतु त्वं विवेकं कुरु सर्वदा ।।२५०।।

अन्वयः—चिद्रूपेऽपि तादात्म्याध्यासतः यदि प्रसज्येरन् अध्यासं मा कुरु किन्तु त्वं सर्वदा विवेकं कुरु ।

'चिद्रूपेऽपीति'। एवं तर्ह्यनर्थहेतोरध्यासस्य निवृत्तये सदा विवेकः क्रियतामित्याह—'माऽध्या-समिति' ।।२५०।।

यदि कहो कि अद्वैत आत्मा के अपरोक्ष ज्ञाता भी मुझमें भूख, प्यास आदि दीखते हैं इससे दीखते हुए अनर्थ का निवर्तक आत्म ज्ञान नहीं हो सकता इस शंका को करते हैं—

मुझ ज्ञानी में भी क्षुधा, तृषा आदि पूर्व के समान दीखते हैं तो मत् (मुझमें) शब्द के वाच्य अहंकार में ही है ऐसा मानते हैं ।।२४९।।

वे भूख, प्यास मत् शब्द के अर्थ अहंकार में दिखायी देते हैं या मत् शब्द से उपलक्षित चिदात्मा में इस विकल्प में प्रथम पक्ष को स्वीकार करते हैं। मत् शब्द से वाच्य अहंकार में दीखता है उसमें भी नहीं दिखायी दें यह कौन कहता है, भावार्थ यह है कि 'मैं' के दो अर्थ हैं एक अहंकार दूसरा चिदात्मा। चिदात्मा तो, असंग क्षुधा आदि का अविषय है इससे दूसरा पक्ष श्रेष्ठ नहीं है—प्रथम अहंकार में ही भूख प्यास मानते हैं ।।२४९।।

यह शंका करते हैं कि वस्तुतः भूख, प्यास की प्रतीति न होने पर भी भ्रान्ति से भूख, प्यास की प्रतीति हो जायगी—

यदि तादात्म्य के अध्यास से चित् रूप में भी क्षुधा आदि प्रसंग हो जायेगा तो तुम अध्यास[1] मत करो किन्तु अनर्थ की निवृत्ति के लिए सदैव विवेक को करो ।।२५०।।

विशेष १—मूल अज्ञाननाशेऽपि विपरीतभावनासंस्काररूपेणबाधितानुवृत्तिरूपअद्वैतआत्मनि द्वैतात्मबुद्धि-लक्षण अध्यास।

अनादिवासनावशात्पुनरध्यासागमने तन्निवृत्तये विवेक एवावर्तनीयः नोपायान्तरमित्याह—

झटित्यध्यास आयाति दृढवासनयेति चेत् ।

आवर्तयेद्विवेकं च दृढंवासयितुं सदा ॥२५१॥

अन्वयः—दृढवासनया झटिति अध्यासः आयाति इति चेत् आवर्तयेत् विवेकं च दृढं वासयितुं सदा ।

'झटितीति' ॥२५१॥

ननु विचारेण द्वैतस्य मायामयत्वं युक्त्यैव सिध्यति, नानुभवत इत्याशङ्क्य, अचिन्त्यरचनात्व-लक्षणमिथ्यात्वानुभवस्य स्वसाक्षिकत्वान्मैवमिति परिहरति—

विवेके द्वैतमिथ्यात्वं युक्त्यैवेति न भण्यताम् ।

अचिन्त्यरचनात्वस्यानुभूतिर्हि स्वसाक्षिको ॥२५२॥

अन्वयः—विवेके द्वैतमिथ्यात्वं युक्त्यैव इति न भण्यतां अचिन्त्यरचनात्वस्य स्वसाक्षिकी हि अनुभूतिः ।

'विवेक इति' ॥२५२॥

अनादि वासना बशात् बारम्बार अध्यास होने पर उसके निवारण के लिए विवेक की आवृत्ति करना ही एकमात्र उपाय है इसके लिए उपायान्तर नहीं है । इस विषय में कहते हैं—

यदि अनादिकाल की दृढ़ वासनाओं के कारण गया हुआ अध्यास बार-बार लौटकर आता हो तो विवेक वासनाओं को दृढ़ करने के लिए सदा विवेक की आवृत्ति करनी चाहिए । अध्यास की निवृत्ति के लिए दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥२५१॥

यदि कहो कि विचार से द्वैत की माया रूपता युक्ति से ही सिद्ध हो जायेगी, अनुभव का क्या काम यह ठीक नहीं ? अचिन्त्य रचना लक्षण मिथ्यात्व का अनुभव सर्वसाक्षिक होने के कारण यह प्रश्न नहीं हो सकता है—

क्योंकि अचिन्त्य रचना रूप मिथ्यात्व का अनुभव स्व साक्षिक है उसका साक्षी अपना आत्मा ही है अन्य नहीं हो सकता द्वैत की रचना का चिन्तन भी नहीं हो सकता, यह प्रत्येक का अपना ही अनुभव है ॥२५२॥

नन्वचिन्त्यरचनात्वं मिथ्यात्वपदार्थलक्षणमुक्तं चिदात्मन्यतिव्याप्तमिति शङ्कते ।

चिदप्यचिन्त्यरचना यदि तर्ह्यस्तु नो वयम् ।
चितिं सुचिन्त्यरचनां ब्रूमो नित्यत्वकारणात् ॥२५३॥

अन्वय :—चिदपि अचिन्त्यरचना यदि तर्हि अस्तु वयं सुचिन्त्यरचनां चितिं नित्यत्वकारणात् न ब्रूमः ।

'चिदपीति' । प्रागभावयुक्तत्वे सति अचिन्त्यरचनात्वं मिथ्यात्वलक्षणमिति विवक्षुरचिन्त्यरचनात्वमात्मनोऽङ्गीकरोति—'तर्ह्यस्त्विति' । एवमङ्गीकारेऽपसिद्धान्त इत्याशङ्क्य, परिहरति-'नो वयमिति' । तत्र हेतुमाह 'नित्यत्वेति' । वयं चितिं सुचिन्त्यरचनां नो ब्रूम इति योजना ॥२५३॥

चितेर्नित्यत्वं कुत इत्याशङ्क्य, प्रागभावानुभवाभावादित्याह—

प्रागभावो नानुभूतश्चितेर्नित्या ततश्चितिः ।
द्वैतस्य प्रागभावस्तु चैतन्येनानुभूयते ॥२५४॥

अन्वय :—चितेः प्रागभावः नानुभूतः ततः चितिः नित्या द्वैतस्य प्रागभावस्तु चैतन्येन अनुभूयते ।

'प्रागभाव इति' । यतश्चितेः प्रागभावो नानुभूतस्ततो नित्येति योजना । इदमत्राकूतम् । चितेः प्रागभावोऽस्तीति वदन् प्रष्टव्यः चित्प्रागभावः किं चिताऽनुभूयते, उतान्येन ? नान्येन, तदन्यस्य जडत्वेनानुभवितृत्वानुपपत्तेः । चिताऽनुभूयत इत्यपि पक्षे, किं चिदन्तरेण, उत स्वेनैव ? नाद्यः अद्वैतवादे चिदन्तरस्यैवाभावात्, तत्स्वीकारेऽपि चित्प्रतियोगिकस्य अभावस्य चिद्ग्रहणमन्तरेण ग्रहीतुमशक्यत्वात्, तस्या अपि गृह्यमाणत्वे घटादिवदचित्त्वापत्तेः । नापि द्वितीयः, स्वाभावस्य स्वेन ग्रहीतुमशक्यत्वादिति । ननु द्वैतस्य प्रमात्रादिभेदरूपत्वात् तदभावस्य च तेनैवानुभवितुमशक्यत्वात् तदनुभवित्रन्तराभावाच्च चैतन्यवदेव द्वैतस्यापि नित्यत्वापत्तिरित्याशङ्क्य, अनुभवित्रन्तराभावोऽसिद्ध इति परिहरति—'द्वैतस्येति' । जाग्रदादिद्वैताभावस्य सुषुप्तौ साक्षिणानुभूयमानत्वात् 'तमसः साक्षी सर्वस्य साक्षी' (नृ० उ० २) इति श्रुतेश्चेति भावः ॥२५४॥

यदि कहो अचिन्त्य रचना रूप जो मिथ्या का लक्षण कहा है, वह चिदात्म में भी अतिव्याप्त है । इस शंका को करके समाधान करते हैं -

चित् भी अचिन्त्य रचना रूप हो जायेगा तो हो, जिससे हम चित् को नित्य होने से सुचिन्त्य रचना भी नहीं कहते ॥२५३॥

आत्मा चेतन भी अचिन्त्य रचना रूप है तो हो कारण प्राग् अभाव से युक्त होने पर जो अचिन्त्य रचना रूप हो वह मिथ्या होता है, ऐसे लक्षण का कहने वाला आचार्य आत्मा को भी अचिन्त्य रचना रूपस्वीकार करता है । यदि कहो कि ऐसा कहने पर अपसिद्धान्त होगा यह भी नहीं इस चिति को नित्य होने से प्राग् अभाव से युक्त नहीं चिन्ता करने के योग्य है रचना जिसकी ऐसा नहीं मानते ॥ ५३॥

चिति का नित्यत्व कैसे है, अब प्राग्अभाव के अनुभव के अभाव से चिति की नित्यता कहते हैं—

चिति का प्राग् अभाव किसी के अनुभव में नहीं आया, इससे चिति नित्य है और द्वैत का प्राग् अभाव को तो चैतन्य जान सकता है ।।२५४॥

एवं च प्रागभावयुतत्वे सति अचिन्त्यरचनात्वस्य मिथ्यात्वलक्षणस्य सद्भावात् द्वैतमिथ्यात्वं सिद्धमित्याह—

प्रागभावयुतं द्वैतं रच्यते हि घटादिवत् ।
तथापि रचनाऽचिन्त्या मिथ्या तेनेन्द्रजालवत् ।।२५५।।

अन्वय :—प्रागभावयुतं द्वैतं घटादिवत् हि रच्यते तथापि अचिन्त्या रचना इन्द्रजालवत् तेन मिथ्या ।

'प्रागभावेति' । प्रागभावयुतमिति हेतुगर्भितं विशेषणम् । द्वैतं प्रागभावयुतत्वात् घटादिवद्रच्यते हि तथापि रच्यमानत्वेऽपि तस्य द्वैतस्य रचनाऽचिन्त्या । तेन रच्यमानत्वे सति अचिन्त्यरचनात्वेन ऐन्द्र-जालिकप्रासादवन्मिथ्येत्यर्थः ।।२५५।।

चिति (चेतन) का प्राग् अभाव नहीं देख (अनुभव नहीं किया) इससे चिति नित्य है। यहाँ यह आकूतम आकृत) गुप्त है। जो चेतन (चिति) का प्राग् अभाव मानता है उससे यह पूंछो कि चेतन का प्राग् अभाव को कौन अनुभव करता है। चेतन या अन्य (जड़)। अन्य तो जड़ होने से अनुभव नहीं कर सकता और चेतन जानता (अनुभव) करता है इस पक्ष में भी दूसरे अपने से भिन्न चेतन से, या वह चेतन स्वयं ही चित् प्राग् अभाव जानता है। दूसरे से नहीं कह सकते (अपने से भिन्न चेतन) अद्वैत मत में दूसरे चित् (चेतन) का अभाव है। यदि दूसरा चिति (चेतन) मान भी लें तो भी चेतन के प्रतियोगि[1] ऐसे अभाव का चित् के ज्ञान के बिना (चेतन के अनुभव किये बिना) अनुभव नहीं किया जा सकता उस चित् को भी ग्राह्य (ज्ञान का विषय) घट आदि की तरह चित् भी अनित्य हो जायेगा । द्वितीय भी नहीं चित् का अपने प्राग् अभाव चित् से अर्थात् अपने अभाव को अपने आप कोई अनुभव नहीं कर सकता,[2] यदि शंका करो कि द्वैत प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय आदि रूप होने से उसके अभाव को वही नहीं जान सकता और और उससे अन्य अनुभव का कर्ता है नहीं, इससे चैतन्य के समान द्वैत भी नित्य हो जायेगा वह भी ठीक नहीं दूसरा अनुभव करने वाला है। (द्वैत के प्राग् अभाव को तो चैतन्य अनुभव करता ही है) जाग्रत आदि द्वैत का अभाव साक्षी से जाना जाता है श्रुति में भी कहा है तम (अज्ञान) का साक्षी सब का साक्षी वह है ।।२५४।।

इस प्रकार प्राग् अभाव से युक्त होकर अचिन्त्यरचनारूप मिथ्यात्व का लक्षण घटने से द्वैत की मिथ्यात्व सिद्धि को कहते हैं—

प्राग् अभाव से युक्त होने के कारण द्वैत घट आदि के समान रचा तो जाता ही है, तथापि इसकी रचना अचिन्त्य है किसी की समझ में नहीं आती इसलिए वह इन्द्रजाल के फैलाव के समान मिथ्या है। जो वस्तु रची जाय और उसकी रचना अचिन्त्य हो उसे मिथ्या कहते हैं ।।२५५।।

विशेष - (१) प्रतियोगि —अभाव को चेतन के ग्रहण बिना जानने को आशय है—जिसका अभाव होता है। वह अभाव का प्रतियोगी होता है। प्रतियोगी के साथ-साथ अभाव का ज्ञान होता है यह नियम है। इसलिए चेतन रूप प्रतियोगी की प्रतीति के बिनाचेतन के अभाव कीप्रतीति सम्भव नहीं है और चेतन की प्रतीति का अर्थहै, प्रतीयमान घटादि की तरहउसका जड़ होना ।

(२) अपने अभाव के समय अपने आपकी अविद्यमानता होने से अपने अभाव का अपने आपसे ग्रहण नहीं होता ।

चितिस्तावत्स्वप्रकाशत्वेन नित्याऽपरोक्षा च भासते, चिद्व्यतिरिक्तस्य च मिथ्यात्वं तयैव चितानुभूयत इति दर्शितं, एवं च सति अद्वैतस्यापरोक्षत्वं नास्तीति वदतो व्याघातश्च स्यादित्याह—

चित्प्रत्यक्षा ततोऽन्यस्य मिथ्यात्वं चानुभूयते ।।
नाद्वैतमपरोक्षं चेत्येतन्न व्याहतं कथम् ।।२५६।।

अन्वय :- चित्प्रत्यक्षा ततः अन्यस्य मिथ्यात्वं च अनुभूयते अपरोक्षं अद्वैतं च न इति एतत् कथं न व्याहतं ।

'चित्प्रत्यक्षेति' । चिद्रूपेण भासनादित्यभिहितयुक्तिसमुच्चयार्थश्चशब्दः । अद्वैतमपरोक्षं नेत्येतत्कथं न व्याहतं ? किं तु व्याहतमेव चेति योजना ।।२५६।।

एवं वेदान्तार्थं जानतामपि पुरुषाणां केषांचिदत्र विश्वासः कुतो न जायत इति पृच्छति—

इत्थं ज्ञात्वाऽप्यसंतुष्टाः केचित्कुत इतीर्यताम् ।
चार्वाकादेः प्रबुद्धस्याप्यात्मा देहः कुतो वद ।।२५७।।

अन्वय :—इत्थं ज्ञात्वाऽपि असंतुष्टाः केचित् इति ईर्यतां प्रबुद्धस्य अपि चार्वाकादेः आत्मा देहः कुतः वद ।

'इत्थमिति' । सम्यग्विचारशून्यत्वादिति विवक्षुः प्रतिवन्दीं गृह्णाति—'चार्वाकादेरिति' । 'आदि' शब्देन पामरा गृह्यन्ते । प्रबुद्धस्य ऊहापोहकुशलस्य ।।२५७।।

चिति स्व प्रकाश होने से नित्य और अपरोक्ष होकर भासती है और चित् से भिन्न मिथ्यात्व को भी वही चिति जानती है । यह दिखाया इससे जो अद्वैत नहीं मानता उसके मत में व्याघात दोष को कहते हैं—

चेतन प्रत्यक्ष है और उससे अन्य के मिथ्यात्व का सबको अनुभव है इससे जो अद्वैत अपरोक्ष नहीं यह कहते हैं । उनके वचन में व्याघात दोष कैसे नहीं है व्याघात दोष आता है ।।२५६।।

अब यह पूँछते हैं कि इस प्रकार वेदान्त के अर्थ को जानते हुए किन्हीं-किन्हीं पुरुषों को विश्वास क्यों नहीं होता —

इस प्रकार जानकर भी कुछ मनुष्य क्यों असंन्तुष्ट रहते हैं । सम्यग् विचार नहीं करते यह कहो इसका प्रतिबन्दि उत्तर देते हैं—ऊहापोह में कुशल भी चार्वाक तथा अन्य पामर देह को आत्मा मानते ही चले आते हैं यह क्यों और सन्तोष भी नहीं है ।।२५७।।

प्रतिवन्दीमोचनं शङ्कते—

सम्यग्विचारो नास्त्यस्य धीदोषादिति चेत्तथा ।
असंतुष्टास्तु शास्त्रार्थं न त्वैक्षन्त विशेषतः ॥२५८॥

अन्वय :—धीदोषात् अस्य सम्यग् विचारः नास्ति इति चेत् तथा असंष्टास्तु शस्त्रार्थं विशेषतः तु न ऐक्षन्त ।

'सम्यगिति' । साम्येन समाधत्ते—'तथेति' । धीदोषादित्यनुषज्यते । 'तु' शब्द एव शब्दार्थः ॥२५८॥

इत्थं तत्त्वं[1] विचार्यं, तज्जन्यतत्त्वज्ञानफलं विचारयितुं तत्प्रतिपादिकां श्रुतिं[2] (मुण्ड०२।२)पठति—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
इति श्रौतं फलं दृष्टं नेति चेद् दृष्टमेव तत् ॥२५९॥

अन्वय : -यदा ये अस्य हृदि श्रिताः कामाः सर्वे प्रमुच्यन्ते इति श्रौतं फलं दृष्टं नेति चेत् तद् दृष्टमेव ॥२५९॥

'यदेति' । 'अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' (बृ० ४।४।७) इति अस्य मन्त्रस्योत्तरार्धम् । अस्य मुमुक्षोर्हृदि श्रिता ये कामास्तादात्म्याध्यासमूला इच्छादयः सन्ति, ते सर्वे यदा यस्मिन्काले प्रमुच्यन्ते तत्त्वज्ञानेनाध्यासनिवृत्तौ निवर्तन्ते, अथ तदानीमेव मर्त्यं पूर्वदेहतादात्म्याध्यासेन मरणशीलः पुरुषः अमृतः अध्यासाभावेन तद्रहितो भवति । तत्र हेतुमाह -अत्र ब्रह्म समश्नुते इति । अत्रास्मिन्नेव देहे ब्रह्म सत्यादिलक्षणं समश्नुते सम्यगाप्नोतीत्यस्याः श्रुतेरर्थः । ननु श्रुत्या प्रतिपादितं फलं कामनिवृत्यादिलक्षणं नानुभव सिद्धं, किंतु शाब्दमेवेति शङ्कते—'इति श्रौतमिति' । समनन्तरश्रुतिवाक्यतात्पर्यालोचनया तस्य दृष्टत्वं सिध्यतीत्यभिप्रायेण परिहरति—'दृष्टमेव तदिति' ॥२५९॥

अब प्रतिवन्दी (वादी) मोचन (छूटना) की शंका करते हैं—

यदि कहो कि चार्वाक् आदि को तो बुद्धि दोष के कारण सम्यग् विचार होता ही नहीं दोनों में समान - तो यहाँ भी बुद्धि दोष के कारण असंतुष्ट मनुष्य शास्त्रार्थ को विशेष रूप से नहीं देखते इसलिए उनको सन्तोष नहीं होता ॥२५८॥

इस प्रकार तत्त्व का विचार करने के पश्चात् विचार से उत्पन्न जो तत्त्वज्ञान उसका फल विचार करने के लिए उसकी बोधक श्रुति को कहते हैं—

जब इस मुमुक्षु के हृदय में स्थित सम्पूर्ण इच्छा रूप वासना निवृत्त हो जाती है यह फल केवल श्रुतियों में सुना ही है देखा नहीं है ऐसा मत कहो क्योंकि विद्वान् उस फल को निश्चय से अनुभव करते ही हैं ॥२५९॥

विशेष –(१) ब्रह्मस्वरूपं विचार्य विचारजन्यतत्त्वज्ञानफलं विचारयितुमित्यर्थः ।

(२) भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे (मु० २।२।८)

तस्य दृष्टत्वस्पष्टीकरणाय तद्वाक्यशेषमुदाहृत्य तस्यार्थमाह—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयग्रन्थयस्त्विति ।
कामा ग्रन्थिस्वरूपेण व्याख्याता वाक्यशेषतः ॥२६०॥

अन्वय :—यदा सर्वे हृदयग्रन्थयः तु प्रभिद्यन्ते इति (तदा) ग्रन्थे स्वरूपेण वाक्यशेषतः कामाः व्याख्याताः ।

'यदा सर्वं इति' । अनेन वाक्यशेषेण कामप्रमोकस्य ग्रन्थिभेदत्वेन व्याख्यातत्वात् ग्रन्थिभेदस्य अहंकारचिदात्मनोस्तादात्म्याध्यासनिवृत्तिलक्षणस्यानुभवसिद्धत्वाश्चाप्रत्यक्षतेति भावः । 'वाक्यशेषतः' इत्यनेन वाक्येनेत्यर्थः ।

पूर्वोक्त पूरा वाक्य इस प्रकार है—जब मुमुक्षु के हृदय में स्थित तादात्म्याध्यास के कारण उत्पन्न हुए इच्छादि काम वासना तत्त्व ज्ञान के द्वारा अध्यास छूट जाने पर उसके अनन्तर यह मर्त्य (देह) के साथ तादात्म्याध्यास के कारण मरण स्वभाव, पुरुष अध्यास के अभाव के कारण मरण रहित हो जाता है—उसमें हेतु कहते हैं। वह इस देह में ही सत्य आदि लक्षण वाला ब्रह्म के साथ एक हो जाता है। इस श्रुति में कहा जो फल काम निवृत्ति रूप है वह अनुभव सिद्ध नहीं, किन्तु शब्द से ही सिद्ध है। यह शंका करते हैं—यह श्रुति से सिद्ध फल नहीं देखा ऐसा कहोगे तो यह दृष्ट ही है—क्योंकि इसके अग्रिम श्रुति के तात्पर्य के देखने से वह दृष्ट हो सकता है ॥२५९॥

पूर्वोक्त श्रुति के कामनिवृत्ति रूप तत्वज्ञान का फल को स्पष्ट करने के लिए उस वाक्य शे को कहकर उसके अर्थ को कहते हैं—

जब सब हृदय में स्थित सम्पूर्ण कामना भेदन नाश को प्राप्त होती है तब ब्रह्म रूप हो जाता है, इस वाक्य शेष से कामनाओं को ग्रन्थि स्वरूप कहा गया है अहंकार एवं चिदात्मा के तादात्म्य अध्यास की निवृत्ति रूप ग्रन्थिभेद यह अनुभव से सिद्ध है। इसलिए श्रुति में तत्त्व ज्ञान का जो फल काम निवृति बताया है, वह प्रत्यक्ष ही है ॥२६०॥

ननु लोके 'काम' शब्देनेच्छाभेद एवोच्यते। अतः कथं तस्य ग्रन्थित्वेन व्याख्यानमित्याशङ्क्य, अध्यासमूलस्यैव इच्छाविशेषस्य 'काम' शब्दवाच्यत्वं, नेच्छामात्रस्येत्याह —

अहंकारचिदात्मानावेकीकृत्याविवेकतः ।

इदं मे स्यादिदं मे स्यादितीच्छाः कामशब्दिताः ॥२६१॥

अन्वयः—अहंकारचिदात्मानौ अविवेकितः एकीकृत्य इदं मे स्यात् इदं मे स्यात् इति इच्छा कामशब्दिताः।

'अहंकारेति' ॥२६१॥

नन्वध्यासमूलस्यैव कामस्य त्याज्यत्वे सति इतरोऽभ्युपेतव्यः स्यादित्याशङ्क्य, बाधकत्वाभावादभ्युपेयत एवेत्याह—

अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक्पश्यन्नहंकृतिम् ।

इच्छंस्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रन्थिभेदतः ॥२६२॥

अन्वयः—चिदात्मानं अप्रवेश्य पृथक् अहंकृतिं पश्यन् इच्छन् तु कोटिवस्तूनि ग्रन्थिभेदतः बाधो न।

'अप्रवेश्येति'। अहंकारे चिदात्मानमप्रवेश्य, तादात्म्याध्यासेनानन्तर्भाव्येत्यर्थः ॥२६२॥

लोक में तो काम इच्छा का एक भेद ही है, फिर उसे श्रुति में ग्रन्थि क्यों कहा गया है ? ऐसा प्रश्न उठने पर अध्यासमूलक इच्छा विशेष ही काम शब्द का वाच्यत्व है, केवल इच्छा नहीं है। इस प्रकार समाधान करते हैं—

अहंकार और चिदात्मा को अविवेक (अध्यास के कारण) एक मानकर 'यह भी मुझे मिले" "यह भी मुझे मिले" इत्यादि इच्छाएँ करना ही वही काम शब्द से कहीं जातीं हैं। सब इच्छाओं का नाम काम नहीं। अर्थात् अध्यास के मूल काम को इच्छा कहते हैं ॥२६१॥

यदि कहो कि अध्यास से उत्पन्न काम ही त्यागने योग्य है तो उससे भिन्न काम स्वीकार करने योग्य है इस शंका का उत्तर कहते हैं बाधक के अभाव से वैसा काम तो स्वीकार करने योग्य है—

चिदात्मा को अहंकार में प्रविष्ट न कर (तादात्म्याध्यास से चिदात्मा का अहंकार में अन्तर्भाव न करके) कोई चाहे करोड़ों वस्तुओं की इच्छा करता रहे ग्रन्थि भेद हो जाने के कारण उसके

नन्वध्यासाभावे कामानामनुदय एव स्यादित्याशङ्क्य, आरब्धकर्मवशात्तेषामुत्पत्तिः संभविष्यतीत्याह—

ग्रन्थिभेदेऽपि संभाव्या इच्छाः प्रारब्धदोषतः ।
बुद्ध्वापि पापबाहुल्यादसंतोषो यथा तव ॥२६३॥

अन्वयः—ग्रन्थिभेदेऽपि प्रारब्ध दोषतः इच्छाः संभाव्याः बुद्ध्वापि पापबाहुल्यात् तथा तव असंतोषः ।

'ग्रन्थिभेदेऽपीति' । अत्र दृष्टान्तमाह—'बुद्ध्वापीति' ॥२६३॥

साक्षी आत्मा का मोक्ष का बाध नहीं होता । तात्पर्य यह है कि अध्यास मूलक कामनाएँ ही त्याज्य हैं सब नहीं, जो साधक इतने चतुर हो जाते हैं कि चिदात्मा और अहंकार को कभी मिलने नहीं देते, वे चाहे करोड़ों वस्तुओं की चाह करते रहें । फिर भी उनके साक्षी आत्मा के प्रत्यक्ष होने अथवा बन्ध और मोक्ष में कोई बाधा नहीं पड़ेती[1] ॥२६३॥

यदि अध्यास के अभाव में कामनाओं की उत्पत्ति ही न होगी, यह शंका है । प्रारब्ध कर्म के वश उत्पत्ति हो जाती है उसको कहते हैं—

ग्रन्थि भेद हो जाने पर भी प्रारब्ध दोष के कारण इच्छाओं का होना सम्भव है जैसे आत्म तत्त्व को समझ लेने पर भी पापों की अधिकता से अभी तक तुम्हारा असंतोष बना ही हुआ है प्रारब्ध कर्म की प्रबलता से अध्यासहीन ज्ञानी की भी कामनाएँ बनी है परन्तु निर्वीर्य रहती है ॥२६४॥

विशेष १ –अहंकारस्य तादात्म्यं चिच्छायादेहसाक्षिभिः सहजं कर्मजं भ्रान्तिजन्यं च त्रिविधं क्रमात् (वाक्य सुधा० ८) चिदाभास देह और साक्षी के साथ अहंकार का सहज (स्वाभाविक) कर्मजन्य और भ्रान्ति जन्य क्रम से तीन प्रकार का तादात्म्य अध्यास है । (१) चिदाभास और अहंकार का तादात्म्य अध्यास सहज है सामान्य अहंकार और चिदाभास साथ साथ उत्पन्न और विनष्ट होते हैं (२) वर्तमान देह के साथ अहंकार का तादात्म्य को कर्मज तादात्म्याध्यास कहते हैं । सब मनुष्य जीते जी मैं मनुष्य हूँ यह अनुभव करते हैं । प्रारब्ध कर्म रूप उपाधि के नष्ट होने पर देह के साथ-साथ तादात्म्य भी नष्ट हो जाता है इसलिए देहपात के पश्चात् देह में अहं भाव की प्रतीति नहीं होती । (३) असंग साक्षी चेतन और अहंकार का तादात्म्य भ्रमज तादात्म्याध्यास है अज्ञानकृत पूर्व भ्रान्ति से सिद्ध तत्त्व ज्ञान के द्वारा जब भ्रान्ति हट जाती है । तब तादात्म्य नहीं रहता और तब ज्ञानी को साक्षी में "मैं कर्ता हूँ मैं भोक्ता हूँ" इत्यादि भ्रम भी नष्ट हो जाता है । इन तीनों में से सहज और कर्मज की ज्ञानी में भी कभी ही प्रतीति होती है । फिर अज्ञान और भ्रान्ति की निवृत्ति के भ्रमज तादात्म्य तो ज्ञानी में होता ही नहीं, इसलिए अहंकार के धर्म आभास रूप इच्छादि के कारण पूर्व की भ्रान्ति ज्ञानी के साक्षि स्वरूप का बाध नहीं होता ।

अध्यासाभावेऽहंकारगतेच्छादेरबाधकत्वं दृष्टान्तद्वयप्रदर्शनेन विशदयति—

अहंकारगतेच्छाद्यैर्देहव्याध्यादिभिस्तथा ।
वृक्षादिजन्मनाशैर्वा चिद्रूपात्मनि किं भवेत् ॥२६४॥

अन्वयः—अहंकारगतेच्छाद्यैः तथा देहव्याध्यादिभिः वृक्षादिजन्मनाशैः वा चिद्रूपात्मनि किं भवेत् ।

'अहंकारेति' । यथा देहगत व्याध्यादिभिः अहंकारसाक्षिणो बाधो नास्ति, देहसम्बन्धरहितत्वात्, यथा वृक्षादिगतजन्मादिभिः एवमध्यासनिवृत्तावहंकरगतेच्छादिभिरपीति भावः ॥२६४॥

चिदात्मनोऽसङ्गत्वस्यैकरूपत्वात् पूर्वमपि कामादिबाधो नास्तीति शङ्कते—

ग्रन्थिभेदात्पुराप्येवमिति चेत्तन्न विस्मर ।
अयमेव ग्रन्थिभेदस्तव तेन कृती भवान् ॥२६५॥

अन्वयः—ग्रन्थिभेदात् पुरापि एवमिति चेत्तन्न विस्मर अयमेव ग्रन्थिभेदः तव तेन भवान् कृती।

'ग्रन्थिभेदादति' । एवंविधबोधस्यैव ग्रन्थिभेदत्वेन अस्माभिरभिधीयमानत्वादिदं चोद्यमस्मदनुकूलमित्याह—'तन्न विस्मरेति' ॥२६५॥

अध्यास के अभाव में अहंकार गत इच्छादि में से कोई बाधक नहीं होता इस बात को दो दृष्टान्तों से समझाते हैं—

जैसे देह आदि में हुए रोग आदि से अहंकार के साक्षी आत्मा का बाध नहीं होता, क्योंकि आत्मा का देह से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। अथवा वृक्ष के जन्म आदि के द्वारा देह और अहंकार के साक्षी का बाध नहीं होता। इसी प्रकार अध्यास की निवृत्ति हो जाने पर अहंकार गत इच्छा आदि धर्मों से भी साक्षी आत्मा का बाध नहीं होता ॥२६४॥

चिदात्मा एक रूप होने से असंग है ग्रन्थि भेद से पहले भी तो कामादि से उसका बाध नहीं होगा, इस शंका का वर्णन करते हैं—

ग्रन्थि भेद से पहले भी कामादि से आत्मा का बाध नहीं होता तो ऐसे बोध को हम ग्रन्थि भेद कहते हैं। इससे यह तुम्हारी शंका हमारे अनुकूल इस अभिप्राय से उत्तर देते हैं-यदि यह बोध तुमको हो गया है तो इससे तुम सफल (कृतार्थ) हो जाओगे ॥२६५॥

एवंविधज्ञानाभाव एव ग्रन्थिरित्याह—

नैवं जानन्ति मूढाश्चेत्सोऽयं ग्रन्थिर्न चापरः ।
ग्रन्थितद्भेदमात्रेण वैषम्यं मूढबुद्धयोः ।।२६६।।

अन्वय :—मूढाः एव न जानन्ति चेत् सोऽयं ग्रन्थिःअपरः न, ग्रन्थितद्भेद मात्रेण मूढबुद्धयोः वैषम्यं ।

'नैवमिति' । ननु ज्ञानिनोऽपीच्छाम्युपगमे ज्ञान्यज्ञानिनोः कुतो वैलक्षण्यमित्याशङ्क्य, ग्रन्थिभेदाभेदातिरेकेण न कुतोऽपीत्याह—'ग्रन्थितद्भेदेति ।।२६६।।

कारणान्तराभावमेव विशदयति—

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा देहेन्द्रियमनोधियाम् ।
न किंचिदपि वैषम्यमस्त्यज्ञानिविबुद्धयोः ।।२६७।।

अन्वय :—प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा देहेन्द्रियमनोधियां न किंचिदपि वैषम्यं अज्ञानिविबुद्धयोः अस्ति ।

'प्रवृत्ताविति' ।।२६७।।

ऐसे ज्ञान के अभाव को ही ग्रन्थि (गांठ) कहते हैं—यह दिखाते हैं—

मूर्खों को ऐसा ज्ञान नहीं है सो यह न जानना ही तो ग्रन्थि है, इससे अतिरिक्त ग्रन्थि किसी दूसरे पदार्थ का नाम नहीं है—शंका ज्ञानी की इच्छा आदि मानो तो ज्ञानी और अज्ञानी में विलक्षणता क्या ? उत्तर —ग्रन्थि के भेद मात्र से ही मूढ और ज्ञानी की विषमता (फरक) ग्रन्थिमान् मूढ़ और ग्रन्थि भेदवान् ज्ञानी होता है, यही दोनों की विलक्षणता है । इससे ज्ञानी को इच्छा आदि के होने में कोई भी बाधक नहीं होता ।।२६६।।

अब अन्य कारण के अभाव को प्रकट करते हैं—

देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, इनकी विषयों में प्रवृत्ति या निवृत्ति होने में ज्ञानी और अज्ञानी में कोई अन्तर नहीं है । किन्तु यही ग्रन्थि भेद की विषमता ।।२६७।।

उक्तार्थे दृष्टान्तमाह—

व्रात्य श्रोत्रिययोर्वेदपाठापाठकृता भिदा ।
नाहारादावस्ति भेदः सोऽयं न्यायोऽत्र योज्यताम् ॥२६८॥

अन्वय :—व्रात्यश्रोत्रियोः वेद पाठापाठकृता भिदा आहारादौ भेदः न अस्ति अत्र स अयं न्यायः योज्यतां ।

'व्रात्येति' ॥२६८॥

ज्ञानिनो ग्रन्थिशून्यत्वे गीतावाक्यं (अ० १८।१०) प्रमाणयति—

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ।
उदासीनवदासीन इति ग्रन्थिभिदोच्यते ॥२६९॥

अन्वय :—संवृत्तानि न द्वेष्टि निवृत्तानि न काङ्क्षति उदासीनवदासीनः इति ग्रन्थिभिदा उच्यते ।

'न द्वेष्टीति' संप्रवृत्तानि प्राप्तानि दुःखानि न द्वेष्टि । निवृत्तानि सुखानि न काङ्क्षति, उदासीन वद्वर्तत इत्यर्थः । ग्रन्थिभिदा ग्रन्थिभेदः ॥२६९॥

अब पूर्वोक्त अर्थ में दृष्टान्त को कहते हैं—

व्रात्य[1] और श्रोत्रिय में वेद पाठ करने न करने का ही भेद है खान, पान आदि का कोई भेद नहीं है, इसी न्याय को यहाँ भी लगा लेना चाहिए ॥२६८॥

अब ज्ञानी को ग्रन्थि शून्य होने में गीता का प्रमाण देते हैं—ज्ञानी प्राप्त हुए दुःखों से तो द्वेष नहीं करता और आते हुए सुखों को चाहता नहीं, वह केवल उदासीन की तरह रहने लगता है । इसी को ग्रन्थि भेद कहते हैं ॥२६९॥

विशेष (१) व्रात्य जिसका समय पर संस्कार यज्ञोपवीत वेद पाठ न हुआ हो ।

इदं वाक्यमौदासीन्यविधिपरं. नतु ग्रन्थिभेदे प्रमाणमितिशङ्कते -

औदासीन्यं विधेये चेद्व च्छब्दव्यर्थता तदा ।
न शक्ता अस्य देहाद्या इति चेद्रोग एव सः ॥२७०॥

अन्वय :—विधेयेत् औदासीन्यं चेत् तदा वत्शब्दव्यर्थता अस्य देहाद्या न शक्ता इति चेत् सः रोग एव ।

'औदासीन्यमिति' । विधिपरत्वे वच्छब्दो व्यर्थः स्यादिति परिहरति—'वच्छब्देति' । ज्ञानिदेहादेर कार्यक्षमत्वादप्रवृत्तिः न तु ग्रन्थिभेदादित्याशङ्क्योपहसति—'नशक्ता इति' ॥२७०॥

भवतु, को दोषस्तत्राह—

तत्त्वबोधं क्षयं व्याधिं मन्यन्ते ये महाधियः ।
तेषां प्रज्ञाऽतिविशदा किं तेषां दुःशकं वद ॥२७१॥

अन्वयः—तत्त्वबोधं क्षयं व्याधिं ये महाधियः मन्यन्ते तेषां प्रज्ञा अतिविशदा तेषां किं दुःशकं इति वद ।

'तत्त्वबोधमिति' । दुःशकमसाध्यमित्यर्थः ॥२७१॥

यह वाक्य ज्ञानी की उदासीनता का विधायक है, कुछ ग्रन्थि भेद में प्रमाण नहीं है । ऐसी शंका करो तो —

उदासीनवद् इस पाद में 'वत्' शब्द व्यर्थ हो जायेगा । यदि कहो कि ज्ञानी के देह आदि कार्य करने में असमर्थ हैं । इससे प्रवृत्ति नहीं होती कुछ भेद से नहीं यह शंका करके, हँसते हैं कि यदि ज्ञानी के देह आदि असमर्थ हो जाते हैं, वह कार्य नहीं कर सकते, तब तो वह ज्ञान क्या हुआ एक रोग ही है ॥२७०॥

तत्त्व बोध को रोग मानने में क्या हानि है—

जो बुद्धिमान् मनुष्य तत्त्वबोध को क्षय की व्याधि रोग ही मानते हैं । उनकी बुद्धि अत्यन्त निर्मल है । ऐसे पुरुषों को क्या असाध्य है । तत्त्वबोध को रोग मानना अत्यन्त हास्यास्पद है ॥२७१॥

नन्वस्थाने परिहासोऽयं, ज्ञानिनां प्रवृत्त्यभावस्य पुराणसिद्धत्वादिति शङ्कते—

भरतादेरप्रवृत्तिः पुराणोक्तेति चेत्तदा ।
जक्षन्क्रीडन्रतिं विन्दन्नित्यश्रौषीर्न किंश्रुतिम् ॥२७२॥

अन्वयः—भरतादेः अप्रवृत्तिः पुराणोक्ता इति चेत् तदा जक्षन् क्रीडन् रतिं विन्दन् इति श्रुतिं न अश्रौषीः किं ।

'भरतादेरिति' । श्रुतिमजानानश्चोदयसीति परिहरति—'जक्षन्निति' । 'जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा वयस्यैर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम् (छा० ८।१२।३) इति श्रौतं वाक्यं नाश्रौषीरित्यर्थः । जक्षन् भक्षन् । 'जक्ष भक्ष हसनयोः' इति धातुः । क्रीडन् स्वेच्छया विहरन्, रममाणः स्त्र्यादिभिर्नोपजनं स्मरन्निदं शरीरमित्युपजनं जनानां समीपे वर्तमानमिदं स्वशरीरं न स्मरन्नानुसंदधान इत्यर्थः । श्लोके रतिं विन्दन्निति श्रौतस्य 'रममाण' इति पदस्य व्याख्यानम् ॥२७२॥

ननु तर्हि पुराणस्य का गतिरित्याशङ्क्य, पुराणमप्यौदासीन्यबोधनपरं न प्रवृत्त्यभावपर-मित्यभिप्रेत्याह—

नह्याहारादि संत्यज्य भरताद्याः स्थिताः क्वचित् ।
काष्ठपाषाणवत्किंतु सङ्गभीता उदासते ॥२७३॥

अन्वयः—भरताद्याः न हि आहारादि संत्यज्य क्वचित् स्थिताः किंतु सङ्गभीता काष्ठपाषाणवत् उदासते ।

'नह्याहारादीति' ॥२७३॥

यदि कहो कि यह परिहास अयोग्य है ज्ञानियों की अप्रवृत्ति पुराणों में कही है, यह शंका करते हैं—

इस शंका को इस श्रुति को न जानकर करते हो समाधान-भक्षण करता हुआ अपनी इच्छा से क्रीड़ा करता हुआ और स्त्रियों के संग और यान ज्ञाति और वयस्कों के संग रमता हुआ जनों के संग वर्तमान भी इस शरीर को ज्ञानी स्मरण नहीं करता ज्ञानी को अपनी देह का अनुसन्धान नहीं रहता यह श्रुति क्या आपने नहीं सुनी । रममाण की व्याख्या रति विन्दन से की गयी है ॥२७२॥

फिर पुराण की कथा का क्या अर्थ करोगे ? पुराण तो उदासीनता का ज्ञापन करता है न कि प्रवृत्ति के अभाव का ज्ञापन करता है । इस अभिप्राय को लेकर कहते हैं—

पुराणों का भी ज्ञानी की उदासीनता के बोधन में तात्पर्य है । उनकी कुछ प्रवृत्ति के अभाव में नहीं है भोजन आदि को त्यागकर भरत आदि काष्ठ और पाषाण के समान कभी भी नहीं रहे, किन्तु संग के भय से उदासीन रहे ॥२७३॥

विशेष—ब्रह्म अनेका कारता निषेध किया गया है । निषेध होने से हंसता खेलता आदि धर्मों का संकीर्तन भी दुःख के अभाव कहने के अभिप्राय से है और वह आत्मा में रतिआदि के समान ज्ञानी की स्तुति के लिए है आत्म में रति, क्रीड़ा, मिथुन आदि मुख्य अर्थ में नहीं है, इनका विषय अन्य है चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वात् इति औडुलोमि (ब्र०सू० ४।४।६) ॥२७२॥

सङ्गोऽपि कुतस्त्यज्यत इत्यत आह—

सङ्गी हि बाध्यते लोके निःसङ्गः सुखमश्नुते ।
तेन सङ्गः परित्याज्यः सर्वदा सुखमिच्छता ॥२७४॥

अन्वयः—लोके सङ्गी बाध्यते निःसङ्गः सुखं अश्नुते तेन सङ्गः सर्वदा सुखमिच्छता परित्याज्यः ।

'सङ्गी हीति' ॥२७४॥

ननु तर्हि मानससङ्गस्यैव त्याज्यत्वेऽन्तःसङ्गशून्यानां बहिर्व्यवहरतामज्ञत्वादिकं जनैः कथमुच्यत इत्याशङ्क्य, शास्त्रतात्पर्यज्ञानशून्यत्वादित्याह—

अज्ञात्वा शास्त्रहृदयं मूढो वक्त्यन्यथाऽन्यथा ।
मूर्खाणां निर्णयस्त्वास्तामस्मत्सिद्धान्त उच्यते ॥२७५॥

अन्वयः—शास्त्रहृदयं अज्ञात्वा मूढः अन्यथा वक्ति मूर्खाणां निर्णयस्तु आस्तां अस्मत्सिद्धान्तः उच्यते ।

'अज्ञात्वेति' । अतो मूढव्यवहारो नात्र विचारणीय इत्याह—'मूर्खाणामिति' । तर्हि किमनुसंधेयमित्याकाङ्क्षायां शास्त्रहृदयमित्याह—'अस्मात्सिद्धान्त इति' ॥२७५॥

सङ्ग त्याग का कारण बताते हैं—

लोक में सङ्ग करने वाले बन्धन में फंसे दिखायी देते हैं और निःसङ्ग आनन्द करता देखा गया है । इसलिए जो सदा सुख चाहता है उसे सङ्ग का परित्याग कर देना चाहिए ॥७४॥

यदि यह कहो कि केवल मानस सङ्ग को ही त्याज्य मानोगे तो अन्तःसङ्ग से शून्य और बाहर से व्यवहार में आसक्त मनुष्यों को लोग मूर्ख आदि क्यों कहते हैं ? इसका उत्तर देते हैं– शास्त्र के अभिप्राय को भलाभांति न जानने के कारण अज्ञत्वादिक शब्दों से बोला जाता है । इस प्रकार उत्तर देते हैं—

मूर्ख लोग शास्त्र तात्पर्य के ज्ञान से शून्य हैं । कुछ का कुछ कहते रहते हैं ज्ञानी को मूढ बताते हैं । मूर्खों के निर्णय को रहने दो, मूर्खों के व्यवहार का विचार मत करो, अब हम अपने सिद्धान्त को कहते हैं ॥२७५॥

कोऽसावित्यत आह—

वैराग्यबोधोपरमाः सहायास्ते परस्परम् ।
प्रायेण सह वर्तन्ते वियुज्यन्ते क्वचित्क्वचित्॥२७६॥

अन्वयः—वैराग्यबोधोपरमाः ते परस्परं सहायाः प्रायेण सह वर्तन्ते क्वचित् क्वचित् वियुज्यन्ते ।
'वैराग्येति' ॥२७६॥

वैराग्यादीनामन्योन्यपरिहारेण अवस्थानदर्शनादभेदशङ्कायास्तद्धेत्वादीनां भेदाद्भेदोऽवगन्तव्य इत्याह—

हेतुस्वरूपकार्याणि भिन्नान्येषामसंकरः ।
यथावदवगन्तव्यः शास्त्रार्थं प्रविविच्यता ॥२७७॥

अन्वयः—हेतुस्वरूपकार्याणि एषां भिन्नानि (अतः) असंकरः शास्त्रार्थं प्रविविच्यता यथावत् अवगन्तव्यः ।
'हेतुस्वरूपेति' ॥२७७॥

शास्त्र का सिद्धान्त क्या है बताते हैं—

वैराग्य, बोध और उपरति (शान्ति) ये तीनों परस्पर सहायक होते हैं। ये तीनों प्रायः एक साथ रहते हैं। कहीं-कहीं अलग[1] भी हो जाते हैं ॥२७६॥

यह तीनों यदि साथ ही रहते हैं तो भी कहीं परस्पर अभिन्न तो नहीं है इसको अवस्था हेतु स्वरूप कार्य भेद अभेद को कहते हैं —

इन वैराग्य, बोध उपरम के हेतु, स्वरूप फल (कार्य) भिन्न-भिन्न हैं। (इसलिए ये तीनों एक नहीं है) शास्त्रार्थ का विवेक करने वालों को चाहिए कि यह इनके भेद (असंकर) को भलीभाँति समझ लें ॥२७७॥

विशेष १—(१) शुक और वामदेव की तरह प्रतिबन्ध कर्म से रहित अनुकूल देश कालादियुक्त निवृत्ति वाले पुरुषों में तो ये तीनों प्रायः साथ-साथ ही रहते हैं। (२) और प्रतिबन्ध कर्म सहित और प्रतिकूल देश कालादियुक्त शास्त्रीय एवं लौकिक व्यवहार में प्रवृत्ति रखने वाले पुरुषों में कहीं-कहीं परस्पर वियुक्त अलग भी रहते हैं।

तत्र वैराग्यस्य हेत्वादित्रयं दर्शयति—

दोषदृष्टिर्जिहासा च पुनर्भोगेष्वदीनता ।
असाधारणहेत्वाद्या वैराग्यस्य त्रयोऽप्यमी ॥२७८॥

अन्वयः—दोषदृष्टिः जिहासा च पुनः भोगेषु अदीनता त्रयः अपि अमी वैराग्यस्य असाधारण हेत्वाद्याः ।

'दोषदृष्टिरिति ॥२७८॥

इदानीं तत्त्वबोधस्य कारणादीनि दर्शयति—

श्रवणादित्रयंतद्वत्तत्त्वमिथ्याविवेचनम् ।
पुनर्ग्रन्थेरनुदयो बोधस्यैते त्रयो मताः ॥२७९॥

अन्वय : श्रवणादित्रयं तद्वत् तत्त्वमिथ्याविवेचनं पुनः ग्रन्थेः अनुदयः, एते त्रयः बोधस्य (हेतवः) मताः ।

'श्रवणादीति' । 'आदि' शब्देन मनननिदिध्यासने गृह्यते । 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २।४।५) इत्यात्मदर्शनसाधनत्वेन श्रवणादिविधानाच्छ्रवणादेर्ज्ञानहेतुत्वं तत्त्वमिथ्याविवेचनं कूटस्थाहंकारादेश्च भेदज्ञानं ग्रन्थेरनुदयोऽन्योन्याध्यासानुत्पत्तिः ॥२७९॥

अब वैराग्य के हेतु स्वरूप और फल का वर्णन करते हैं—

विषयों में दोष[1] दृष्टि, उनके त्यागने की इच्छा[2] और भोगों के प्रति दीनता[3] का न रखना, ये तीनों वैराग्य के क्रमशः असाधारण कारण स्वरूप और फल हैं ॥२७८॥

अब तत्त्व बोध के हेतु आदि का वर्णन करते हैं—

श्रवण आदि तीन तत्त्व ज्ञान के हेतु, तत्त्व और मिथ्याज्ञान का विवेक तत्त्व ज्ञान का स्वरूप है। ग्रन्थि का पुनः उदय न होना तत्त्व ज्ञान का फल है।

विशेष—(१) जन्ममरण बुढ़ापा और व्याधि इनके कारण विषयों में दुःख और दोष का बार-बार दर्शन (शास्त्र और अपने अनुभव के आधार पर विचार' करना दोषदृष्टि है। दोषदृष्टि से विवेकी पुण्यशील पुरुष तीव्र वैराग्य मोक्ष की इच्छा और उनकी सिद्धि की ओर प्रवृत्त होता है इस प्रकार दोषदृष्टि वैराग्य का हेतु है। जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्—(गी० १३।८)

(२) त्याग की इच्छा या इच्छारहित होना वैराग्य का स्वरूप है यह अनेक प्रकार का बताया गया है।

(३) अपने प्रयत्न के बिना प्रारब्धवश प्राप्तधनादि विषयों को पुनः इष्ट बुद्धि से ग्रहण न करना ही अदीनता है यही वैराग्य का फल है।

यहाँ श्रवण मनन, निदिध्यासन ये तीन (आत्मा वारे०) इस श्रुति में आत्मा को देखने, सुनने, मनने और निदिध्यासन करने योग्य कहा इनको आत्म दर्शन का साधन बताया ये ज्ञान के हेतु हैं। तत्त्व और मिथ्या के विवेचन का अर्थ कूटस्थ और अहंकारादियों का भेद ज्ञान है। यही तत्त्व ज्ञान है। अन्योन्याध्यास की अनुत्पत्ति ही ग्रन्थि का अनुदय है, यह तत्त्व ज्ञान का फल है[1] ॥२७६॥

विशेष १—(१) जैसे सूर्यदर्शन का साक्षात् हेतु आँख है, ऐसे ही श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के मुख से सुने "तत्त्वमसि" आदि महावाक्य ही साक्षात् ज्ञान के हेतु हैं। परन्तु असंभावना विपरीत भावना प्रतिबन्ध को हटाने वाले होने से श्रवण आदि भी ज्ञान के हेतु है। (२) यद्यपि ब्रह्म आत्मा के अभेद के निश्चय को तत्त्वबोध का स्वरूप कहा है। फिर भी कूटस्थ और अहंकारादि का भेद ज्ञान रूप ग्रन्थिभेद भी उससे भिन्न नहीं है। क्योंकि देहेन्द्रिय आदि से पृथक् मैं स्वप्रकाश असङ्ग साक्षी चिद्रूप ब्रह्म हूँ। और प्रतीयमान भी यह प्रपञ्चमिथ्या है इस प्रकार की संशय और विपरीत भावना से रहित जो दृढ़ निश्चय रूप चित्तवृत्ति है, वह तत्त्व और मिथ्या का विवेचन रूप परिपक्व निष्ठा है—यही ब्रह्म और आत्मा का अभेद निश्चय रूप तत्त्वबोध का स्वरूप है। (३) यों तो तत्त्व बोध का फल मोक्ष अर्थात् जन्मादि कार्य सहित अविद्या की निवृत्ति और परमानन्द स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति है। ग्रन्थि का पुनः अनुदय तत्त्व बोध का फल है—तथापि अविद्या अन्योन्याध्यास की हेतु हैं और अन्योन्याध्यास जन्मादि अनर्थों का हेतु है। अन्योन्याध्यास की निवृत्ति अविद्या की निवृत्ति से ही होती है तथा अविद्या की निवृत्ति कूटस्थ और अहंकारादि के भेद ज्ञान बिना नहीं होती, अतएव अविद्या की निवृत्ति का हेतु ग्रन्थि भेद अर्थात् तत्त्व और मिथ्या का विवेचन ही है। वह अविद्या की निवृत्ति जब तक दृढ़ नहीं होती, तब तक अन्योन्याध्यास रूप ग्रन्थि बार-बार उदय होती रहती है। ग्रन्थि के अनुदय से जन्म आदि अनर्थों की निवृत्ति होती है। बोध रूप राजा, अविद्या उसके कार्य अध्यास और अध्यास का कार्य जन्मादि को एक साथ ही निकालता है। यह कार्य सहित अविद्या की निवृत्ति अधिष्ठान आनन्द रूप ब्रह्म से भिन्न नहीं है। किन्तु अधिष्ठान रूप ही है। इसलिए ग्रन्थि का पुनः अनुदय ही मोक्ष है। वही तत्त्व बोध का फल है।

उपरतेस्तानि दर्शयति—

यमादिर्धीनिरोधश्च व्यवहारस्य संक्षयः ।
स्युर्हेत्वाद्या उपरतेरित्यसंकर ईरितः ॥२८०॥

अन्वयः—यमादिःधीनिरोधश्च व्यवहारस्य संक्षयः स्युः हेत्वाद्याः उपरतेः इति असंकर ईरितः ।

'यमादिरिति' ।'आदि' पदेन नियमादयो गृह्यन्ते । धीनिरोधश्चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणो योगः ॥२८०॥

किमेतेषां समं प्राधान्यमुत नेत्याशङ्क्याह -

तत्त्वबोधः प्रधानं स्यात्साक्षान्मोक्षप्रदत्वतः ।
बोधोपकारिणावेतौ वैराग्योपरमावुभौ ॥२८१॥

अन्वयः—तत्त्वबोधः प्रधानं स्यात् साक्षात् मोक्षप्रदत्वतः एतौ वैराग्योपरमौ उभौ बोधोपकारिणौ ।

'तत्त्वबोध इति' । 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ६।१५, ३।८) इति श्रुतेरित्यर्थः । इतरयोस्तूपकारित्वं 'ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' (मु० १।२।१२) 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्' (बृ० ४।४।२३) इति श्रुतिभ्यामवगम्यते ॥२८१॥

अब उपराम के हेतु स्वरूप फल का वर्णन करते हैं—

यमादि अष्टाङ्गयोग उपरति का हेतु है । बुद्धि अर्थात् चित्तवृत्ति का निरोध रूप योग उपरति का स्वरूप है और लौकिक, वैदिक व्यवहारों का सम्यक् रूप से क्षय या विस्मरण उपरति का फल है—

(१) यहाँ यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान और सविकल्प समाधि ये अष्टाङ्ग योग हैं ये कारण (२)और सविकल्प निर्विकल्प समाधि के फलस्वरूप जो प्रमाण विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति इन पाँच वृत्तियों का निरोध हो जाना है वही उपरति का स्वरूप है । (२) इस प्रकार एक साथ रहने वाले वैराग्य तत्त्वबोध और उपरति इन तीनों का भेद यहाँ दर्शा दियागया है ॥२८०॥

इन तीनों में से कौन मुख्य है यह बताते हैं—

साक्षात् मोक्ष का दाता तत्त्वबोध प्रधान है और ये वैराग्य और उपरम दोनों तत्त्वबोध के उपकारी हैं ॥२८१॥

उस प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म को ही जानकर मृत्यु को पार करता है और मोक्ष का कारण अन्य नहीं है । इस श्रुति से साक्षात् मोक्ष का दाता होने से तत्त्वबोध इन तीनों में प्रधान है और ये दोनों वैराग्य और उपरम तत्त्वबोध के उपकारी है । ब्राह्मण वैराग्य को प्राप्त हो कर्म द्वारा प्राप्त हुए लोकों की परीक्षा कर अकृत (मोक्ष) है । कृत (कर्म) से हमें क्या प्रयोजन । अतः उस नित्य वस्तु ब्रह्म का साक्षात्-कर प्राप्त करने के लिए हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही पास जाना चाहिए । अतः इस प्रकार जानने वाला शास्त्र, दान्त उपरत तितिक्षु और समाहित आत्मा में ही आत्मा को देखता है । श्रुतियों से वैराग्य और उपरति दोनों तत्त्वबोध के साधन (उपकारी) प्रतीत होते हैं ॥२८१॥

'प्रायेण सह वर्तन्ते वियुज्यन्ते क्वचित्क्वचित्' (प्र० ६।७६) इत्युक्तं; तत्र कारणमाह—

त्रयोऽप्यत्यन्तपक्वाश्चेन्महतस्तपसः फलम् ।
दुरितेन क्वचित्किंचित्कदाचित्प्रतिबध्यते ।।२८२।।

अन्वयः त्रयः अपि अत्यन्तपक्वाः चेत् महतः तपसः फलं क्वचित् किञ्चित् कदाचित् दुरितेन प्रतिबध्यते ।

त्रयोऽपीति' । अनेकजन्मार्जितपुण्यपुञ्जपरिपाके त्रयाणां सहभावो भवति अन्यथा तु प्रतिबन्धकपापानुसारेण पुरुषविशेषे कालविशेषेण कस्यचित्प्रतिबन्धो भवतीति भावः ।।२८२।।

तत्रापि तत्त्वज्ञानप्रतिबन्धे मोक्षो नास्तीत्याह—

वैराग्योपरती पूर्णे बोधस्तु प्रतिबध्यते ।
यस्य तस्य न मोक्षोऽस्ति पुण्यलोकस्तपोबलात् ।।२८३।।

अन्वयः वैराग्योपरती पूर्णे बोधस्तु प्रतिबध्यते यस्य तस्य न मोक्षः अस्ति (केवलं) तपोबलात् पुण्यलोकः ।

'वैराग्येति' । तर्हि वैराग्यादिसंपादनं निष्फलमित्याशङ्क्य, 'प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः । शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते (गी० ६।४१) इति भगवद्वचनात्पुण्यलोकप्राप्तिर्भवतीत्याह -'पुण्यलोकस्तपोबलादिति' ।।२८३।।

वैराग्यादि के एक साथ रहने का या न रहने का २७६वें कहा उस कारण का वर्णन करते हैं—

यदि ये तीनों अत्यन्त पक्व हो तो महान् तप का फल है अनेक जन्मों में संचित पुण्य समूह के प्रताप से ये तीनों इकट्ठे हो पाते हैं । अन्यथा तो प्रतिबन्धक पाप के अनुसार किसी पुरुष में तथा काल विशेष में इन तीनों में किसी एक या दो का तिरोभाव रहता है ।।२८२।।

इनमें भी तत्त्वज्ञान के प्रतिबन्ध में मोक्ष नहीं होता है—

जिसको वैराग्य और उपरति तो पूर्ण हों और पापवश बोध का प्रतिबन्ध हो जाय तो उसका मोक्ष नहीं होता, किन्तु तप के बल से पुण्य लोक होता है । वैराग्यादि का सम्पादन व्यर्थ नहीं होता । जिस व्यक्ति को बोध के साधन वैराग्य और उपरति तो प्राप्त है पर तत्त्वबोध नहीं हुआ है । उसे योग भ्रष्ट कहते हैं । योग भ्रष्ट पुरुष पुण्य लोकों में बहुत वर्षों तक निवास कर लौटकर श्री मानों के घर में जन्म लेता है । यह भगवद् वचन है ।।२८३।।

वैराग्योपरत्योस्तु प्रतिबन्धे जीवन्मुक्तिसुखं न सिध्यतीत्याह—

पूर्णे बोधे तदन्यौ द्वौ प्रतिबद्धौ यदा तदा ।
मोक्षो विनिश्चितः किंतु दृष्टदुःखं न नश्यति ॥२८४॥

अन्वयः—यदा बोधे पूर्णे तदन्यौ द्वौ प्रतिबद्धौ तदा मोक्षः विनिश्चितः किंतु दृष्टदुःखं न नश्यति । 'पूर्णबोध इति' ॥२८४॥

इदानीं वैराग्यादीनामवधिं दर्शयति—

ब्रह्मलोकतृणीकारो वैराग्यस्यावधिर्मतः ।
देहात्मवत् परात्मत्वदार्ढ्यें बोधः समाप्यते ॥२८५॥

अन्वयः—ब्रह्मलोकतृणीकारः वैराग्यस्य अवधिः मतः देहात्मवत् परात्मत्वदार्ढ्ये बोधःसमाप्यते । 'ब्रह्मलोकेति' ॥२८५॥

जब तक वैराग्य उपरति न हो तब तक जीवन्मुक्ति का सुख नही मिलता—

बोध पूर्ण हो जाने पर यदि अन्य दोनों वैराग्य और उपरति रुक जावें तो मोक्ष तो निश्चित[1] है । परन्तु विक्षेप रूप दीखते हुए[2] दुःख का नाश नहीं होता अर्थात् जीवन्मुक्ति सुखसिद्ध नहीं होता ॥२८४॥

अब वैराग्य आदिकों की अवधि का वर्णन करते हैं—

ब्रह्मलोक को भी तृण के समान तुच्छ समझ लेना यह वैराग्य की अवधि कही है । अज्ञानी लोग देह को[1] आत्मा जितनी दृढ़ता से समझते हैं उतनी दृढ़ता से परब्रह्म को अपनी आत्मा समझने पर बोध की समाप्ति होती है ॥२८५॥

विशेष १— ज्ञान से बन्ध की कारणभूत अविद्या के निवृत्त हो जाने पर फिर अविद्या की उत्पत्ति होना असंभव होने के कारण मोक्ष तो अवश्य होता है ।

२—किन्तु दृष्ट दुःख क्रम से वासना क्षय मनोनाश के कारण वैराग्य और उपरम के न होने से रज और तमोगुण की अधिकता रहती है और शुद्ध सत्त्व गुण के तिरोहित से इसलिए इस लोक में होने वाले अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थों से जन्य विक्षेप रूप दृष्ट दुःख की निवृत्ति नहीं होती । किन्तु तत्त्वबोध हो जाने के कारण जन्मान्तर के असंभव हो जाता है । इसलिए परलोक सम्बन्धी आगामी दुःख का तो अभाव ही रहता है ।

३ जैसे अज्ञानियों को 'मैं ब्राह्मण, 'मैं क्षत्रिय' 'मैं मनुष्य' 'मैं देवदत्त' नामा हूँ ऐसे देहादि में संशय विपरीत भावना के बिना दृढ़ (आत्मा) अहं बुद्धि होती है । वैसे ही श्रवण मनन रूप ब्रह्म अभ्यास के बल से ब्राह्मणत्वादि (विशिष्टदेहादिक में आत्माबुद्धि का बाध करके ब्रह्म से अभिन्न आत्मा में संशय विपरीत भावना रहित स्वभाव सिद्ध जो दृढ़ आत्म बुद्धि होती है यह बोध की अवधि है ।

सुप्तिवद्विस्मृतिः सीमा भवेदुपरमस्य हि ।
दिशानया विनिश्चेयं तारतम्यमवान्तरम् ॥२८६॥

अन्वयः—सुप्तिवत् ।विस्मृतिः उपरमस्य सीमा हि भवेत् अनया दिशा अवान्तरं तारतम्य विनिश्चेयं ।

'सुप्तिवदिति'। अवान्तरतारतम्यं स्वस्वबुद्धया निश्चेयमित्याह—'दिशेति' ॥२८६॥

ननु तत्त्वबोधवतामपि रागादिमत्त्वेन वैषम्योपलम्भात् ज्ञानस्यापि मुक्तिहेतुत्वं निश्चेतुं न शक्य-मित्याशङ्क्य, रागादेः व्याध्यादिवत्प्रारब्धकर्मफलत्वात् मुक्तिप्रतिबन्धकत्वमसिद्धं, अतो न शास्त्रार्थे विप्रतिपत्तव्यमित्याह—

आरब्धकर्मनानात्वाद्बुद्धानामन्यथाऽन्यथा ।
वर्तनं तेन शास्त्रार्थे भ्रमितव्यं न पण्डितैः ॥२८७॥

अन्वय :—आरब्धकर्मनानात्वात् बुद्धानां अन्यथावर्तनं तेन पण्डितैः शास्त्रार्थे न भ्रमितव्यं ।

'आरब्धकर्मनानात्वादिति' । २८७॥

इनका मध्य का तारतम्य[1] न्यूनाधिक भाव अपनी-अपनी बुद्धि से निश्चय कर लेना चाहिए सुषुप्ति में जैसे विस्मृति हो जाती है यह उपराम की सीमा है-सोने में जैसे विषयों का अभाव रहता है, वैसा ही जाग्रत में समझना चाहिए ॥२८६॥

यदि कहो कि तत्त्व ज्ञानियों को भी राग द्वेष के कारण विषम (उच्च और नीच) होते हैं इससे ज्ञान मुक्ति का निश्चय साधन नहीं हो सकता इस शंका का उत्तर देते हैं कि रागादि भी व्याधि आदि के समान प्रारब्ध कर्म का फल होने से मुक्ति का प्रतिबन्धक है, यह सिद्ध नहीं होता है । अतः शास्त्र के विषय में संशय-विपर्यय नहीं करना चाहिए—

वैसे तत्त्व ज्ञानियों के राग आदि प्रारब्ध कर्म के फल हैं—जैसे आधि व्याधि प्रारब्ध कर्म के फल होते हैं वे मुक्ति के प्रतिबन्धक नहीं हो सकते इससे शास्त्र के अर्थ में पण्डितजनों को भ्रम में न पड़े । प्रारब्ध कर्म नाना प्रकार के हैं ज्ञानी लोगों के आचरण भी विविध होते हैं ॥२८७॥

विशेष (१) तारतम्येन सर्वेषां चतुर्णां सुखमुत्तमम् । तुल्या चतुर्णां मुक्तिः स्यात् दृष्ट सौख्यं विशिष्यते । ब्रह्मविद् आदि चारों को तारताम्यता करके सुख होता है और मुक्ति तो चारों को समान है । मुक्ति में किञ्चित् मात्र भी विशेषता नहीं किन्तु दृष्ट सुख में विशेषता है ।

किं तर्हि प्रतिपत्तव्यमित्यत आह—

स्वस्वकर्मानुसारेण वर्तन्तां ते यथा तथा ।
अविशिष्टः सर्वबोधः समा मुक्तिरिति स्थितिः ॥२८८॥

अन्वय :—स्वस्वकर्मानुसारेण ते यथा तथा वर्तन्तां अवशिष्टः सर्वबोधः मुक्तिः समा इति स्थितिः ।

'स्वस्वेति' सर्वेषां 'ब्रह्माहमस्मि' इति ज्ञानमेकाकारं निरवद्यब्रह्मरूपेणावस्थानं च समानमिति भावः ।२८८॥

प्रकरणस्यास्य तात्पर्यं संक्षिप्य दर्शयति—

जगच्चित्रं स्वचैतन्ये पटे चित्रमिवार्पितम् ।
मायया तदुपेक्ष्यैव चैतन्यं परिशेष्यताम् ॥२८९॥

अन्वय :—स्वचैतन्ये पटे अर्पितं चित्रं इव जगत् चित्रं मायया तदुपेक्ष्यैव चैतन्यं परिशेष्यतां ।

'जगदिति' ॥२८९॥

तब क्या निश्चय करना चाहिए यह बताते हैं—

वे ज्ञानी अपने-अपने कर्मों के अनुसार जैसा व्यवहार करते हैं करें, उन सबको "मैं ब्रह्म हूँ" इस रूप से जो ज्ञान होता है वह सबको एकाकार है । एक जैसा वह निरवद्य (निष्पाप) ब्रह्मरूप से जो मुक्ति है। वह भी सब ज्ञानियों की एक समान है । यही शास्त्र की मर्यादा है । जानने योग्य है ॥२८८॥

अब चित्रदीप प्रकरण के तात्पर्य को संक्षेप से दिखाते हैं—

जगत् रूपी चित्र अपने आत्म स्वरूप चैतन्य में इस प्रकार माया से अर्पित हैं जैसे वस्त्र में खिंचे चित्र की तरह है इससे मायोपाधिक आत्मचैतन्य को उसके शुद्ध रूप से समझ लो ॥२८९॥

ग्रन्थाभ्यासफलमाह—

चित्रदीपमिमं नित्यं येऽनुसंदधते बुधाः ।

पश्यन्तोऽपि जगच्चित्रं ते मुह्यन्ति न पूर्ववत् ॥२९०॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकृतपञ्चदश्यां चित्रदीपः समाप्तः ॥६॥

अन्वय :—इमं चित्रदीपं ये बुधाः नित्यं अनुसंदधते जगत्‌चित्रं पश्यन्तोऽपि ते पूर्ववत् न मुह्यन्ति ।

'चित्रदीपमिति' २९०॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्री भारतीर्थ विद्यारण्यमुनिवर्यकिङ्करेण श्रीरामकृष्णाख्यविदुषा विरचिता चित्रदीपपदयोजना समाप्ता ॥६॥

इस ग्रन्थाभ्यास के फल को दिखाते हैं—

जो शुद्धबुद्धि मुमुक्षु इस चित्रदीप प्रकरण का नित्य निरन्तर विचार करते रहते हैं । वे जगत् रूप चित्र को देखते हुए भी वे इस प्रकार मोह को प्राप्त नहीं होते, जैसे कि पहले होते रहे ॥२९०॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यस्वामिश्रीकरपात्रशिष्य श्रीडॉ०लक्ष्मणचैतन्यब्रह्मचारिविरचितलक्ष्मणचन्द्रिकाख्ये पञ्चदशीहिन्दीव्याख्याने चित्रदीपप्रकरणविवेकाख्यं षष्ठं प्रकरणं समाप्तम् ।
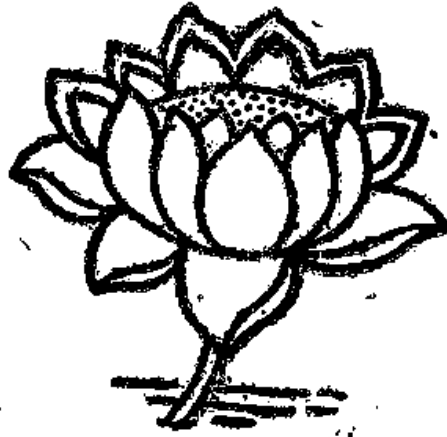
तृप्तिदीपप्रकरणम्

अनुकूल वस्तु के अनुभवरूपभोग की आवृत्ति के लिए जो सुख का उदय होता है, उसी को दीपक की तरह प्रकाश करने वाला आत्म तृप्ति करने वाला है उसी को तृप्तिदीप कहते हैं।

अखण्डानन्दरूपाय शिवाय गुरवे नमः।
शिष्याज्ञानतमोध्वंसपट्वर्केन्द्वग्निमूर्तये ॥१॥
वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन्।
तुमर्थाश्चतुरो देयाद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥२॥
नत्वा श्रीभारतीतीर्थं विद्यारण्यमुनीश्वरौ।
क्रियते तृप्तिदीपस्य व्याख्यानं गुर्वनुग्रहात् ॥३॥

तृप्तिदीपाख्यं प्रकरणमारभमाणः श्रीभारतीतीर्थगुरुस्तस्य श्रुतिव्याख्यानरूपत्वात् तद्व्याख्येयां श्रुतिमादौ पठति—

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥१॥

अन्वय :—पूरुषः अयं अस्मि इति आत्मानं विजानीयात् चेत् किं इच्छन् कस्य कामाय शरीरं अनुसंज्वरेत्।

'आत्मानं चेति' ॥१॥

अखण्ड आनन्दमय शिव स्वरूप सद्गुरू को नमस्कार करते हैं, जो शिष्य के अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करने में समर्थ सूर्य, चन्द्रमा और अग्निरूप हैं ॥१॥

महेश्वर रूप श्री भारतीतीर्थ एवं श्री विद्यारण्य, वेदार्थ के प्रकाश से हृदयगत तम की निवृत्ति करते हुए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चारों पुरुषों को देते हैं ॥२॥

श्री भारतीतीर्थ और विद्यारण्यमुनि को नमस्कार करके मैं सद्गुरु के अनुग्रह से तृप्तिदीप-प्रकरण की व्याख्या करता हूँ ॥३॥

तृप्तिदीप नामक प्रकरण का आरम्भ करते हुए श्री भारतीतीर्थ उस तृप्ति दीप को श्रुति का व्याख्यान रूप होने से व्याख्यान के योग्य श्रुति को आदि में पढ़ते हैं—

यदि जीव आत्मा को जान ले यह आत्मा मैं हूँ, तो किस भोग्य विषय को चाहता हुआ और भोक्ता के किस भोग के लिए शरीर के पीछे दुःख उठाता फिरे ? आत्म ज्ञान से सब कामना शान्त हो जाती हैं ॥१॥

इदानीं चिकीर्षितविचारं तत्फलं च दर्शयति—

अस्याः श्रुतेरभिप्रायः सम्यगत्र विचार्यते ।
जीवन्मुक्तस्य या तृप्तिः सा तेन विशदायते ॥२॥

अन्वयः– अस्याः श्रुतेः अभिप्रायः अत्र सम्यग् विचार्यते जीवन्मुक्तस्य या तृप्तिः सा तेन विशदायते ।

'अस्या इति'। अत्र तृप्तिदीपाख्ये ग्रन्थेऽस्या 'आत्मानं चेत्' (बृ॰ ४।४।१२) इत्यादिकायाः श्रुतेरभिप्रायः तात्पर्यं सम्यक् विचार्यते । तेनाभिप्रायविचारेण जीवन्मुक्तस्य श्रुतिप्रसिद्धा या तृप्ति सा विशदायते स्पष्टीभवति ॥२॥

'पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना । आक्षेपस्य समाधानं व्याख्यानं पञ्चलक्षणम् ।' (पराशर पु॰ अ॰ १८) इति व्याख्यानलक्षणस्योक्तत्वात् 'पुरुष' इति पदस्यार्थमभिधातुं तदुपोद्घातत्वेन सृष्टिं संक्षिप्य दर्शयति—

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः ।
कल्पितावेव जीवेशौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम् ॥३॥

अन्वयः– माया आभासेन जीवेशौ करोति इति श्रुतत्वतः जीवेशौ कल्पितौ एव सर्वं ताभ्यां प्रकल्पितं ।

'मायाभासेनेति'। प्रतिपाद्यमर्थं बुद्धौ संगृह्य तदर्थमर्थान्तरवर्णनमुपोद्घातः । अत्र 'माया' शब्देन चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका जगदुपादानभूता प्रकृतिरुच्यते । सा चो सत्त्वगुणस्य शुद्धयविशुद्धिभ्यां द्विधा भिद्यमाना क्रमेण माया चाविद्या च भवति । तयोः मायाविद्ययोः प्रतिबिम्बितं ब्रह्मचैतन्यमेव ईश्वरो जीवश्चेत्युच्यते तदिदं तत्त्वविवेकाख्ये ग्रन्थे श्रीमद्विद्यारण्यगुरुभिर्निरूपितं (प्र॰ १।१५-१७) 'चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता । तमोरजः सत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा । सत्त्वशुद्धयविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते । मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः । अविद्यावश॰गस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा । सा कारणशरीरं स्यात्प्राज्ञस्तत्राभिमानवान् । इति । इममेवार्थं मनसि निधाय जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति' (नृ॰ उ॰ ता॰ ९) इति श्रुतिरपि प्रवृत्ता। अत जीवेश्वरयोर्मायाकल्पितत्वं अन्यत्कृत्स्नं जगत्ताभ्यामेव कल्पितम् ॥३॥

अब प्रस्तुत प्रकरण में चिकीर्षित विचार एवं उसके फल को दिखाते हैं—

इस तृप्तिदीपप्रकरण में "आत्मानं चेत्" इस श्रुति के अभिप्राय को भली प्रकार विचारा जा रहा है, इस अभिप्राय के विचार से श्रुति में प्रसिद्ध जो जीवन्मुक्ति की तृप्ति है स्पष्ट की जारही है ॥२॥

व्याख्यान के पाँच लक्षण है—पद का छेदन, पदार्थ का कथन, विग्रह, वाक्यों की योजना और शंका का समाधान । श्रुति में आये 'पुरुष' शब्द का अर्थ कहने के लिए उसकी उपोद्घातरूप सृष्टि को संक्षेप में दिखाते हैं—

तत्र केन कियत्कल्पितमित्यत आह—

> ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता ।
> जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ॥४॥

अन्वय :- ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिः ईशेन कल्पिता जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारः जीव कल्पितः ॥४॥

'ईक्षणादीति' । तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छा० ६।२।३ श्रुतमीक्षणादि यस्याः सा ईक्षणादिः । 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य छा० ६।३।२) इति श्रुतः प्रवेशोऽन्तो यस्याः सा प्रवेशान्ता । ईक्षणादिश्चासौ प्रवेशान्ता चेति पश्चात्कर्मधारयः । सेयं सृष्टिरीश्वरेण कल्पिता । जाग्रदादिः यस्य संसारस्य असौ जाग्रदादिः विमोक्षो मुक्तिरन्तो यस्य सः विमोक्षान्तः संसारो जीवेन कल्पितः । तदभिमानित्वात् जीवस्येत्यर्थः । ते जाग्रदादय इत्थं श्रूयन्ते (कैवल्योप० १४)—'स एष मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम् । स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रत्परितृप्तिमेति । स्वप्नेऽपि जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पितविश्वलोके । सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति । पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः । पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम् । जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते । तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥ इति ॥४॥

माया आभास से जीव ईश्वर का निर्माण करती है। श्रुति में यह सुनने से जीव ईश्वर माया के कल्पित ही हैं। अन्य सब जगत् इनका कल्पित है। प्रतिपादन करने योग्य अर्थ को बुद्धि में रखकर उसके लिए अर्थान्तर का जो वर्णन उसको उपोद्घात कहते हैं। जो चिदानन्दमय ब्रह्म के प्रतिबिम्ब से युक्त और सत्त्व रज, तमोगुणरूप जो जगत् का उपादान (प्रकृति) उसे माया कहते हैं। वह प्रकृति सत्त्वगुण की शुद्धि और अशुद्धि से दो प्रकार की हुई माया और अविद्या रूप होती है। अर्थात् विशुद्ध सत्त्व प्रधान को माया और मलिन सत्त्व प्रधान को अविद्या कहते हैं। माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्म को ईश्वर और अविद्या में प्रतिबिम्बित को जीव कहते हैं। यह सब तत्त्व विवेक प्रकरण में (१५।१६।१७) श्लोकों में कह चुके हैं। यही अभिप्राय इस श्रुति में कहा है- कि माया और अविद्या आभास से जीव और ईश्वर को करती है। इससे जीव और ईश्वरमाया से कल्पित हैं और सम्पूर्ण जगत् इन दोनों से कल्पित है ॥३॥

जीव ईश्वर में किसने कितनी सृष्टि रचना की है, उसका वर्णन करते हैं—

ईक्षण आदि प्रवेश पर्यन्त सृष्टि ईश्वर की कल्पित है और जाग्रता आदि मुक्ति पर्यन्त सृष्टि जीव कल्पित है ॥४॥

एवं पुरुषशब्दार्थावबोधोपयोगिनीं सृष्टिमभिधायेदानीं 'पुरुष' शब्दार्थमाह—

भ्रमाधिष्ठानभूतात्मा कूटस्थासङ्गचिद्वपुः ।
अन्योन्याध्यासतोऽसङ्गधीस्थजीवोऽत्र पुरुषः ॥५॥

अन्वयः—कूटस्थासङ्गचिद्वपुःभ्रमाधिष्ठानभूतात्मा असङ्गधीस्थजीवः अत्र अन्योन्याध्यासतःपुरुषः ।

'भ्रमाधिष्ठानेति' । यः कूटस्थासङ्गचिद्वपुरविकार्यसङ्गचित्स्वरूपः भ्रमाधिष्ठानभूतात्मा भ्रमस्य देहेन्द्रियाद्यध्यासस्य अधिष्ठानभूतो अधिष्ठानत्वेन वर्तमानः परमात्मास्ति सोऽसङ्ग एव अन्योन्याध्यासतः अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्य सर्वव्यवहारभाग्भवतीत्याचार्यैर्निरूपितेन तादात्म्याध्यासेन असङ्गधीस्थजीवः स्वेन पारमार्थिकसंबन्धशून्यायां बुद्धौ वर्तमानो जीवः सन् अत्रास्यां श्रुतौ पुरुष इत्युच्यते 'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः' (बृ० २।५।१८) इति श्रुत्या 'पुरुष' शब्दस्य व्युत्पादितत्वात्पुरुषस्यैव च पुरुष एव पुरुषः बुद्ध्यादिकल्पनाधिष्ठानं कूटस्थचैतन्यमेव बुद्धौ प्रतिबिम्बितत्वेन प्राप्तजीवभावं सत्पुरुषशब्देनोच्यत इत्यभिप्रायः ॥५॥

उस ब्रह्मा ने देखा कि मैं एक प्रजा रूप से बहुत होऊँ इस श्रुति में वर्णन किया ईक्षणा (देखना) जिसके आदि में है और (इस जीव रूप आत्मा से नाम रूप प्रकट किए) इस श्रुति में कहा प्रवेश है । अन्त में जिसके ऐसी सृष्टि ईश्वर की कल्पित है और जाग्रत है आदि जिसके और विमोक्ष (मुक्ति) है । अन्त में जिसके ऐसा संसार जीव कल्पित है क्योंकि जीव उसका अभिमानी है ये जाग्रत आदि इस प्रकार शास्त्र में सुने जाते हैं । यह जीव चारों ओर से माया से परिमोहित हुआ, शरीर को मैं मानता हुआ । सब कर्मों को करता है जाग्रत अवस्था में वही जीव स्त्री अन्न पानादि विविध भोगों में तृप्ति अनुभव करता है । स्वप्न में भी यह जीव अपनी माया से कल्पित लोक में सुख-दुःख का भोक्ता बनता है और सुषुप्ति में सबके विलीन होने पर अज्ञान से आवृत हो सुख भोगता है । पुनः जन्मान्तर में किये कर्मों के योग से ही वही जीव स्वप्न या जाग्रत अवस्था में पहुँच जाता है । जो जीव जाग्रदादि तीन अवस्थाओं अथवा शरीर रूप पुरियों में क्रीडा करता है उसी से विचित्र मनोमय जगत् बना है । जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति आदिप्रपञ्च को जो प्रकाश करता है । वह ब्रह्म मैं हूँ ऐसा जानकर सब बन्धनों से मुक्त होता है ॥४॥

इस प्रकार "पुरुष" शब्द के अर्थ के ज्ञान में उपयोगी सृष्टि को कहकर "पुरुष" शब्द का अर्थ कहते हैं—

भ्रम का अधिष्ठान, कूटस्थ, असंग, चिद्वपु जो ब्रह्म है वह अन्योन्याध्यास से असंग बुद्धि में स्थित होकर जीव भाव को प्राप्त होने से पुरुष कहलाता है ॥५॥

जो तत्व कूटस्थ (अविकारी) असंग और चित् स्वरूप है । तथा देह, इन्द्रिय आदि के अध्यासरूप भ्रम का अधिष्ठान रूप परमात्मा है वह यद्यपि असंग भी है तो भी एक दूसरे के स्वरूप को धर्मों को एक दूसरे में मानकर सब व्यवहारों का भागी होता है । इस प्रकार आचार्य निर्दिष्ट (कहे) तादात्म्याध्यास

नन्वत्र 'पुरुष'शब्देन केवलचिदाभासरूपो जीव एव उच्यतां किमनेन कूटस्थचैतन्येन अधिष्ठान-भूतेनेत्याशङ्क्य, तस्य मोक्षाद्यन्वयितृत्वसिद्धये तदपि स्वीकर्तव्यमित्याह—

साधिष्ठानो विमोक्षादौ जीवोऽधिक्रियते न तु ।
केवलो निरधिष्ठानविभ्रान्तेः क्वाप्यसिद्धितः ॥६॥

अन्वयः—अधिष्ठानः जीवः विमोक्षादौ न तु अधिक्रियते केवलः निरधिष्ठानविभ्रान्ते क्वापि असिद्धितः ।

'साधिष्ठान इति'। साधिष्ठानोऽधिष्ठानेन कूटस्थचैतन्येन सहितो जीवः विमोक्षादौ मोक्षमार्गा-दिसाधनानुष्ठाने अधिक्रियते अधिकारी भवति न केवलचिदाभासः । कुत इत्यत आह—'निरधिष्ठानेति'। अधिष्ठानरहितस्यारोप्यस्य लोकेऽदृष्टत्वादिति भावः ॥६॥

इदानीं साधिष्ठानस्यैव तस्य संसाराद्यन्वयितृत्वं श्लोकद्वयेन विभज्य दर्शयति—

अधिष्ठानांशसंयुक्तं भ्रमांशमवलम्बते ।
यदा तदाहं संसारीत्येवं जीवोऽभिमन्यते ॥७॥

अन्वयः—अधिष्ठानांशसंयुक्तं यदा जीवः भ्रमांशमवलम्बते तदा अहं संसारी इति एवं अभिमन्यते ।

'अधिष्ठानांशेति' जीवो यदा अधिष्ठानांशसंयुक्तं कूटस्थसहितं भ्रमांशं चिदाभासोपेतं शरीर-द्वयमवलम्बते स्वस्वरूपत्वेन स्वीकरोति तदाहं संसारीत्येवमभिमन्यते ॥७॥

से असंग बुद्धि में स्थित हो जो जीव पारमार्थिक (सच्चे) सम्बन्ध से शून्य बुद्धि में अपने रूप से रहता हुआ जीव होकर इस श्रुति में पुरुष कहा गया है। वह पुरुष सब पुरियों देहों में शयन करता है। इस श्रुति में वर्णित है और पुरुष को ही पुरुष कहते हैं-बुद्धि आदि की कल्पना का अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य ही बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर जीव बना हुआ पुरुष कहलाता है ॥५॥

यदि कहो कि पुरुष शब्द से केवल चिदाभास रूप जीव को ही क्यों लेते, अधिष्ठानभूत कूटस्थ चैतन्य के ग्रहण का क्या प्रयोजन इस शंका का उत्तर—चिदाभास रूप जीव को मोक्षादि के अन्वयी (सम्बन्धी) होने से कूटस्थ चैतन्य सहित ही होता है—

अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य सहित चिदाभास जीव को मोक्ष-स्वर्ग के साधनों के अनुष्ठान का अधिकारी होता है। केवल चिदाभास को यह अधिकार नहीं होता है। अधिष्ठान के बिना भ्रान्ति (आरोप्यपदार्थ) कहीं देखने में नहीं आता ॥६॥

अब दो श्लोकों से अधिष्ठान सहित जीव का ही संसार में अन्वय है यह दिखाते हैं

जीव जब अधिष्ठान अंश सहित (कूटस्थ सहित) भ्रमांश का चिदाभास सहित दोनों शरीरों को अपने स्वरूप से स्वीकार करता है। तब मैं संसारी हूँ यह अभिमान करता है ॥७॥

भ्रमांशस्य तिरस्काराद्धिष्ठानप्रधानता ।
यदा तदा चिदात्माहमसङ्गोऽस्मीति बुध्यते ॥८॥

अन्वयः--यदा भ्रमांशस्य तिरस्कारात् अधिष्ठानप्रधानता तदा चिदात्मा अहं असङ्गः अस्मि इति बुध्यते ।

यदा पुनर्भ्रमांशस्य देहद्वयसहितस्य चिदाभासस्य तिरस्कारान्मिथ्यात्वज्ञानेन अनादरणात् अधिष्ठानप्रधानता अधिष्ठानभूतस्यैव ।कूटस्थस्य स्वरूपत्वं जीवेन स्वीक्रियते तदा अहं 'चिदात्माऽसङ्गश्चास्मी' ति बुध्यते जानाति ॥८॥

नन्वधिष्ठानचैतन्यस्य जीवस्वरूपत्वस्वीकारे चिदात्माहमसङ्गोऽस्मीति बुध्यते इति यदुक्तं तदनुपपन्नं स्यात्, असङ्गचिद्रूपस्य कूटस्थस्य अहंप्रत्ययविषयत्वाभावादिति शङ्कते—

नासङ्गेऽहंकृतिर्युक्ता कथमस्मीति चेच्छृणु ।
एको मुख्यो द्वावमुख्यावित्यर्थस्त्रिविधोऽहमः ॥९॥

अन्वयः--असङ्गे अहंकृतिर्न युक्ता कथं अस्मि इति चेत् शृणु एकः मुख्यः द्वौ अमुख्यौ इत्यर्थः अहमस्त्रिविधः ।

'नासङ्ग इति' । असङ्गे चिदात्मनि विषये अहंप्रत्ययो न युज्यते यतः, अतः कथमहमस्मीति जानीयात् ? न कथमपीत्यर्थः । मुख्यया वृत्या अहंप्रत्ययविषयत्वाभावेऽपि लक्षणया तदस्तीति विवक्षुः 'अहं' शब्दार्थं तावद्विभजते —'शृण्विति' अहमोऽहंशब्दस्येत्यर्थ ॥९॥

जब फिर वह भ्रमांश दोनों देहों सहित चिदाभास का तिरस्कार कर देता है । मिथ्या समझकर आदर न करके, अधिष्ठान कूटस्थ की प्रधानता स्वस्वरूपता को ही स्वीकार कर लेता है तब, मैं चिदात्मा हूँ असंग हूँ यह जानता है ॥८॥

शंका --अधिष्ठान चैतन्य को जीवरूप मानोगे तो मैं चिदात्मा असंग हूँ यह न बनेगा, असंग चिदात्मा में अहं प्रत्यय (प्रतीति का) विषय नहीं हो सकता इस शंका को करते हैं--

असङ्ग अविषय चिदात्मा में अहंकार का होना ठीक नहीं, इसलिए वह यह क्योंकर जान सकता है कि मैं हूँ किसी प्रकार भी नहीं जान सकते इस प्रश्न का उत्तर सुनो --(एक मुख्य और दो अमुख्य इस प्रकार अहं के तीन अर्थ होते हैं) अर्थात् शब्द की मुख्य वृत्ति से (शक्ति वृत्ति से) चाहे आत्मा अहं प्रत्यय का विषय नहीं है । परन्तु लक्षणावृत्ति से वह अहं प्रत्यय का विषय है ॥९॥

की दृशो मुख्योऽर्थं इत्याकाङ्क्षायां तं दर्शयति—

अन्योन्याध्यासरूपेण कूटस्थाभासयोर्वपुः ।
एकीभूय भवेन्मुख्यस्तत्र मूढैः प्रयुज्यते ॥१०॥

अन्वयः—अन्योन्याध्यासरूपेण कूटस्थाध्यासयोःवपुः मुख्यः एकीभूय भवेत् तत्र मूढैः (अहं शब्दः) प्रयुज्यते ।

'अन्योन्येति' । कूटस्थचिदाभासयोः स्वरूपमन्योन्याध्यासेनैक्य प्राप्तं 'अहं' शब्दस्य वाच्यत्वेन मुख्योऽर्थो भवति । अस्य कुतो मुख्यत्वमित्यत आह—'तत्र मूढैरिति' । 'यतः' इत्यध्याहारः । तत्र तस्मिन्नविविक्तकूटस्थचिदाभासयोः स्वरूपे यतो विवेकज्ञानशून्यैः सर्वैरप्यहंशब्दः प्रयुज्यते, अतोऽस्य मुख्यत्वमित्यर्थः ॥१०॥

इदानीममुख्यौ द्वौ दर्शयति—

पृथगाभासकूटस्थावमुख्यौ तत्र तत्त्ववित् ।
पर्यायेण प्रयुङ्क्तेऽहं शब्दं लोके च वैदिके ॥११॥

अन्वयः—आभास कूटस्थौ अमुख्यौ पृथग् (भवतः) तत्र तत्त्ववित् अहंशब्दः लोके वैदिके च पर्यायेण प्रयुङ्क्ते ।

'पृथगिति' । आभासकूटस्थौ प्रत्येकमहंशब्दार्थत्वेन यदा विवक्षितौ तदा अमुख्यार्थौ भवतः । अनयोरमुख्यत्वे कारणमाह—'तत्र तत्त्वविदिति' । अत्रापि 'यतः' इत्यध्याहारः । तत्त्वविद्यतस्तत्र तयोः कूटस्थचिदाभासयोरहंशब्दं लोके लौकिके वैदिके वैदिकव्यवहारे च पर्यायेण प्रयुङ्क्ते इति योजना । अयं भावः—चिदाभासकूटस्थयोरविविक्तरूपस्य सार्वजनीनव्यवहारविषयत्वात् मुख्यार्थत्वं, विविक्तरूपस्य तु कतिपयजनैः कदाचिदेव व्यवह्रियमाणत्वादमुख्यार्थत्वमिति ॥११॥

अब मुख्य अर्थ को दिखाते हैं—

कूटस्थ और चिदाभास का स्वरूप अन्योन्याऽध्यास से एक हो जाता है । जब वही एक हुआ स्वरूप अहं शब्द का वाच्य अर्थ है । अब इसकी मुख्यता में कारण कहते हैं । जिससे पृथक् विवेक नहीं जिनको उसके मिले-जुले स्वरूप का ज्ञान नहीं, उस कूटस्थ और चिदाभास के स्वरूप में विवेक ज्ञान शून्य संपूर्ण मूढ़ जन अहं शब्द के प्रयोग को करते हैं इससे वह मुख्य है ॥१०।

अब अमुख्य दोनों स्वरूपों को कहते हैं—

आभास और कूटस्थ 'अहं" शब्द के दो पृथक्-पृथक् अमुख्य लक्ष्य अर्थ है । क्योंकि तत्त्वज्ञानी लोग इन दोनों अर्थों में लौकिक तथा वैदिक व्यवहारों में पर्याय से अहं शब्द का प्रयोग करते हैं ॥११॥

'पर्यायेण प्रयुङ्क्ते' इत्युक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति प्रतिपत्तिसौकर्याय श्लोकद्वयेन—

लौकिकव्यवहारेऽहं गच्छामीत्यादिके बुधः ।

विविच्यैव चिदाभासं कूटस्थात्तं विवक्षति ॥१२॥

अन्वयः—लौकिकव्यवहारे अहं गच्छामि इत्यादिके बुधः चिदाभासं विविच्यैव कूटस्थात् तं विवक्षति ।

'लौकिकेति' । बुधो विद्वान् 'अहं गच्छामी' त्यादिलौकिकव्यवहारे कूटस्थाच्चिदाभासं विविच्य, तमेवाहंशब्देन विवक्षति वक्तुमिच्छति ।१२॥

असङ्गोऽहं चिदात्माऽहमिति शास्त्रीयदृष्टितः ।

अहंशब्दं प्रयुङ्क्तेऽयं कूटस्थे केवले बुधः ॥१३॥

अन्वयः—अहं असङ्गः अहं चिदात्मा इति शास्त्रीयदृष्टितः अयं बुधः केवले कूटस्थं अहंशब्दं प्रयुङ्क्ते ।

'असङ्ग इति' अयमेव बुधः शास्त्रीयदृष्टितः वेदान्तश्रवणजनितज्ञानेन केवले चिदाभासाद्विविक्ते कूटस्थे 'असङ्गोऽहं चिदात्माहम्' इति लक्षणया 'अहं' शब्दं प्रयुङ्क्ते । अतो लक्षणया अहंशब्दार्थत्वेन अहंप्रत्ययविषयत्वसंभवात् 'असङ्गोऽहमस्मीति' ज्ञानमुपपद्यत इत्यभिप्रायः ॥१३॥

चिदाभास और कूटस्थ चैतन्य ये दोनों पृथक्-पृथक् अहं शब्द के अर्थ रूप से कहे जाते हैं तब वे दोनों अहंशब्द के गौण अर्थ हो जाते हैं । इन दोनों के अमुख्य होने में कारण कहते हैं—इनमें 'यतः' शब्द का अध्याहार किया जाता है क्योंकि तत्त्ववेत्ता लोग लौकिक व्यवहार और वैदिक व्यवहार में क्रमशः अहंशब्द का प्रयोग करते हैं । आशय यह है कि चिदाभास और कूटस्थ चैतन्य में अविविक्तरूप से सामान्य जन व्यवहार में प्रयोग करते हैं । सामान्य जन के चिदाभास और कूटस्थचैतन्य में अविविक्त रूप से व्यवहार का विषय होने से मुख्य अर्थ है, किन्तु कुछ तत्त्ववेत्ता लोगों द्वारा विवेचित रूप के कभी कदाचन ही व्यवहार का विषय होने से वे उसके अमुख्य अर्थ होते हैं ॥११॥

ज्ञान की सुगमता के लिए ये दो श्लोकों से पर्याय से प्रयोग का वर्णन करते हैं—

बुध शुद्ध बुद्धि ज्ञानवान्, मैं जाता हूँ इत्यादि लौकिक व्यवहारों में चिदाभास को कूटस्थ से पृथक् जानकर ही उसके वल चिदाभास को ही अहं शब्द से कहना चाहता है ॥१२॥

यही विद्वान् शास्त्र को ध्यान में रखकर वेदान्त के श्रवण से उत्पन्न हुआ ज्ञान से चिदाभास से पृथक् जाने हुए केवल कूटस्थ में "मैं असंगत हूँ" 'मैं चिदात्मा हूँ' इस प्रकार लक्षणा से अहं शब्द का प्रयोग करता है । इस प्रकार लक्षणा से चिदात्मा कूटस्थ भी अहं शब्द का अर्थ होने से अहं प्रतीति का विषय हो जाने से मैं असङ्ग हूँ । यह ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥१३।

ननु पृथगाभासकूटस्थौ 'अहं' शब्दस्य अमुख्यार्थावित्युक्तं तयोर्मध्ये कूटस्थः किमज्ञाननिवृत्तयेऽस-ङ्गोऽस्मीति जानाति, किं वा चिदाभास ? न तावत्कूटस्थः, तस्यासङ्गचिद्रूपत्वेन ज्ञानित्वाज्ञानित्वयोरनुपपत्तेः, अतश्चिदाभासस्य ज्ञानित्वादिकं वक्तव्यम् । तथा च सति कूटस्थादन्यश्चिदाभासोऽहं कूटस्थोऽस्मीति न ज्ञातुमर्हतीति शङ्कते—

ज्ञानिताज्ञानिते त्वात्माभासस्यैव न चात्मनः ।

तथा च कथमाभासः कूटस्थोऽस्मीति बुध्यताम् ।।१४।।

अन्वयः ज्ञानिता अज्ञानिता तु आत्माभासस्यैव आत्मनः च न, तथा च कथं आभासः अहं कूटस्थः अस्मि इति बुध्यताम् ।

'ज्ञानिताज्ञानिते इति' ।।१४।।

तस्य कूटस्थान्यत्वमेवासिद्धमिति परिहरति –

नायं दोषश्चिदाभासः कूटस्थैकस्वभाववान् ।

आभासत्वस्य मिथ्यात्वात्कूटस्थत्वावशेषणात् ।।१५।।

अन्वयः—अयं दोषः कूटस्थैकस्वभाववान् न चिदाभासः आभासत्वस्य मिथ्यात्वात् कूटस्थत्वाव शेषणात् ।

'नायमिति' । तत्रोपपत्तिमाह 'आभासत्वस्येति' । यथा दर्पणे प्रतीयमानस्य मुखाभासस्य ग्रीवास्थं मुखमेव तत्त्वं तद्वदिति भावः ।।१५।।

यदि कहो कि चिदाभास और कूटस्थ, पृथक्-पृथक् अहं शब्द के जो अमुख्यार्थ कहे उन दोनों (कूटस्थ चिदाभास के) के मध्य में अज्ञान निवृत्ति के लिए "मैं असंग हूँ" यह कूटस्थ जानता है या चिदाभास जानता है, कूटस्थ को तो नहीं कह सकते वह असंग , चिद्रूप है वह ज्ञानी या अज्ञानी नहीं हो सकता इससे चिदाभास को ही ज्ञानी-अज्ञानी कहना पड़ेगा । कूटस्थ से अन्य चिदाभास को मैं कूटस्थ हूँ, ऐसा ज्ञान होना अयोग्य है यह शंका करते हैं --

ज्ञानी और अज्ञानी तो दोनों ही आत्मा का आभास (छाया) को ही होता है । आत्मा को नहीं ऐसी स्थिति में चिदाभास को मैं कूटस्थ हूँ यह ज्ञान कैसे होगा अर्थात् नहीं होगा । चिदाभास कैसे जाने मैं कूटस्थ हूँ ।।१४।।

उक्त शंका का समाधान वह चिदाभास कूटस्थ से अन्य भी नहीं हो सकता —

चिदाभास को कूटस्थ के संग एक स्वभाव वाला है-वह कूटस्थ से भिन्न तत्त्व नहीं है आभास (छाया) तो मिथ्या है । जैसे दर्पण में (यह आभासवाद की रीति है) प्रतीत हुआ, जो मुख के आभास का वास्तविक रूप (तत्त्व) ग्रीवा पर लगा हुआ मुख ही है । इसी प्रकार आभास मिथ्या है और कूटस्थ ही शेष रहता है ।।१५।।

ननु चिदाभासस्य मिथ्यात्वे तदाश्रितं कूटस्थोऽस्मीति' ज्ञानमपि मिथ्या स्यादिति शङ्कते—

कूटस्थोऽस्मीति१ बोधोऽपि मिथ्या चेन्नेति को वदेत् ।
नहि सत्यतयाभीष्टं रज्जुसर्पविसर्पणम् ॥१६॥

अन्वयः—कूटस्थो अस्मि बोधोऽपि मिथ्या चेत् इति को वदेत् न हि सत्यतयाभीष्टं रज्जुसर्प विसर्पणम् ।

'कूटस्थ इति' । कूटस्थस्वरूपातिरिक्तस्य कृत्स्नस्यापि मिथ्यात्वाभ्युपगमात् तन्मिथ्यामस्माकमिष्टमेवेति परिहरति - नेति को वदेदिति' । उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—'नहीति' । रज्ज्वां कल्पितस्य सर्पस्य गत्यादिकमपि प्रतीयमानं वास्तवं नाङ्गीक्रियते यथा तद्वदिति भावः ॥१६॥

ज्ञानस्य-मिथ्यात्वे-तेन संसारनिवृत्तिर्न स्यादित्याशङ्क्य, निवर्त्यस्य संसारस्यापि तथात्वात्तन्निवृत्तिरुपपद्यते स्वप्नव्याघ्रदर्शनेन निद्रानिवृत्तिवदित्यभिप्रायेणाह—

तादृशेनापि बोधेन संसारो हि निवर्तते ।
यक्षानुरूपो हि बलिरित्याहुर्लौकिका जनाः ॥१७॥

अन्वयः—तादृशेनापि बोधेन संसारो हि निवर्तते यक्षानुरूपो हि बलिः इति लौकिका जना आहुः ।

'तादृशेनेति' । तत्र 'यादृशो यक्षस्तादृशो बलिः' इति लौकिकगाथां संवादयति—

"यक्षेति" ॥१७॥

शंका—चिदाभास को मिथ्या मानोगे तो उसको मैं कूटस्थ हूँ यह ज्ञान भी मिथ्या हो जायेगा—

समाधान—कूटस्थ के स्वरूप से भिन्न सबको मिथ्या होने से यह भी हमको मिथ्या इष्ट है । यह ज्ञान मिथ्या नहीं है यह कौन कहता है । जैसे रज्जू में कल्पित सर्प की गति को भी हम सत्य नहीं मानते-इसी प्रकार मैं कूटस्थ हूँ, यह ज्ञान भी मिथ्या है ॥१६॥

ज्ञान को मिथ्यात्व मान लेने पर उससे संसार की निवृत्ति नहीं होगी, ऐसी आशंका कर संसार का ज्ञान भी तो मिथ्या है, इसलिए मिथ्या ज्ञान से उसकी निवृत्ति का होना घटता है । जैसे स्वप्न में देखे हुए सिंह से निद्रा की निवृत्ति होती है इस अभिप्राय को लेकर कहते हैं—

मिथ्या ज्ञान से भी संसार की निवृत्ति हो जाती है क्योंकि संसार मिथ्या है जैसे यक्ष का देव वैसी उसकी बलि । इस प्रकार सामान्यजन कहते हैं ॥१७॥

विशेष—(१) प्रत्यक् रूपो यः साक्षी अयं।अहमस्मि निरन्तरं भावयेत् भासमानं अन्तःकरणस्फुरणरूप अधिष्ठानस्वरूपं अध्यासनिवर्तिकाम् ।

उपपादितमर्थमुपसंहरति—

तस्मादाभासपुरुषः स कूटस्थो विविच्य तम् ।
कूटस्थोऽस्मीति विज्ञातुमर्हतीत्यभ्यधाच्छ्रुतिः ॥१८॥

अन्वय : तस्मात् आभासपुरुषः स कूटस्थः तं विविच्य कूटस्थः अस्मि इति विज्ञातुं अर्हति इति श्रुतिः अभ्यधात् ।

'तस्मादिति' । यस्मात् कूटस्थ एव चिदाभासस्य निजं स्वरूपं तस्मात् 'पुरुष' शब्दवाच्यः कूटस्थेन सहितश्चिदाभासः तं कूटस्थं मिथ्याभूतात्स्वस्मात् विविच्य, लक्षणया 'कूटस्थोऽहमस्मी' त्यवगन्तुं शक्नोतीत्यभिप्रायेण श्रुतिरस्मीत्युक्तवतीत्यर्थः ॥१८॥

लौकिक जन ऐसा कहते हैं कि जैसा यक्ष वैसी उसकी बलि, जब संसार मिथ्या[1] है तो वह मिथ्या बोध से ही मर जायेगा ॥१७॥

अब उपपादन (आरम्भ) किये अर्थ का उपसंहार करते हैं—

जिससे कूटस्थ ही चिदाभास का अपना स्वरूप है। इसलिए पुरुष शब्द का वाच्य कूटस्थ सहित चिदाभास, उस कूटस्थ को मिथ्या स्वरूप अपने से पृथक् जानकर लक्षणा से मैं कूटस्थ हूँ यह जान सकता है। इसी अभिप्राय से श्रुति में मैं कूटस्थ हूँ (अस्मि) यह पद कहा है ॥१८॥

विशेष—(१) यहाँ यह अभिप्राय है समान सत्ता वाले पदार्थ परस्पर साधक बाधक होते हैं। विषम सत्ता वाले नहीं, जैसे व्यावहारिक अन्न जल से व्यवहारिक क्षुधा या प्यास की निवृत्ति होती है। प्रातिभासिक अन्न, जल से नहीं। व्यावहारिक रजतादिकों से ही व्यावहारिक आभूषण कार्य सिद्ध होते हैं--प्रातिभासिकरजतादिकों से नहीं, वैसे दृष्टिसृष्टिवाद की रीति से प्रातिभासिक, और सृष्टिदृष्टिवाद की रीति से व्यावहारिक रूप मिथ्या संसार की स्वसमान सत्ता वाले मिथ्याज्ञान से ही निवृत्ति होती है। पारमार्थिक से नहीं।

एवं 'पुरुषोऽस्मी' ति पदद्वयप्रयोगाभिप्रायमभिधाय, 'अयम्' इति पदप्रयोगाभिप्रायमाह—

असंदिग्धाविपर्यस्तबोधो देहात्मनीक्ष्यते ।
तद्वदत्रेति निर्णेतुमयमित्यभिधीयते ॥१६॥

अन्वय :- असंदिग्धाविपर्यस्तबोधः देहात्मनि ईक्ष्यते तद्वत् अत्र इति निर्णेतुं अयं इति अभिधीयते ।

'असंदिग्धेति' । लौकिकानां प्रसिद्धे देहरूपे आत्मनि संशयविपर्ययरहितोऽयमस्मीति बोधो यद्वदुपलभ्यते, अत्र प्रत्यगात्मनि विषये तद्वत्तथाविधं ज्ञानं मुक्तिसिद्धये संपाद्यमिति निर्णेतुं 'अयम्' इत्यभिधीयते श्रुत्येति शेषः ॥१६॥

ईदृशस्यैव बोधस्य मोक्षसाधनत्वे च आचार्यवाक्यं संवादयति—

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥२०॥

अन्वय :—देहात्मज्ञानवद् ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकं यस्य आत्मनि एव भवेत् स नेच्छन् अपि मुच्यते ।

'देहात्मेति' । 'अहं मनुष्यः' इति देहात्मविषयो दृढप्रत्ययो यथा, एवं प्रत्यगात्मन्येव 'देह एव आत्मा' इत्येवं देहात्मत्वज्ञानापबाधनेन 'ब्रह्माहमस्मी' ति ज्ञानं यस्य जायते स विद्वान्नेच्छन्नपि मोक्षेच्छारहितोऽपि मुच्यते, संसारहेतोरज्ञानस्य ज्ञानेनापबाधितत्वादिति भावः ॥२०॥

इस प्रकार पुरुष "अस्मि" मैं पुरुष हूँ इन दोनों पदों के प्रयोग का अभिप्राय कहकर "अयम्" इस पद के प्रयोग का अभिप्राय कहते हैं—

जैसे लौकिक मनुष्य प्रसिद्ध देह रूप आत्मा में संशय और विपर्यय से रहित "अयम् अस्मि" यह मैं हूँ यह बोध सबको होता है वैसा ही (संशय और विपर्यय से रहित) दृढ़ ज्ञान मुक्ति के लिए प्रत्यगात्मा में भी यह ज्ञानकर लेना चाहिए, इस बात का निर्णय करने के लिए श्रुति में "अयं" पद कहा है ॥१६॥

इस प्रकार का दृढ़ ज्ञान मोक्ष का साधन है इसको शंकराचार्य के वाक्य का प्रमाण देते हैं—

मैं मनुष्य हूँ यह दृढ़ ज्ञान जैसे देह रूप आत्मा में होता है उसी प्रकार दृढ़ प्रत्यगात्मा में 'देह आत्मा है इस ज्ञान का बाधक" मैं ब्रह्म हूँ। यह ज्ञान जिसको हो जाय, वह मोक्ष की इच्छा से रहित भी वह विद्वान मुक्त हो जाता है, क्योंकि संसार का हेतुभूत अज्ञान तो उसका ज्ञान से निवृत्त ही हो चुका है ॥२०॥

'अयम्' इति पदप्रयोगस्याभिप्रायान्तरं शङ्कते—

अयमित्यपरोक्षत्वमुच्यते चेत्तदुच्यताम् ।
स्वयंप्रकाशचैतन्यमपरोक्षं सदा यतः ॥२१॥

अन्वय : --अयं इति अपरोक्षत्वं उच्यते चेत् उच्यतां स्वयंप्रकाशचैतन्यं यतः सदा अपरोक्षं ।

'अयमिति' । यथा 'अयं घटः' इत्यादिप्रयोगेष्विदमा निर्दिष्टस्य वस्तुन आपरोक्ष्यं दृष्टं' तथाऽयमस्मीत्यत्रापीति भावः । तदप्यस्माकमिष्टमेवेत्याह--'तदुच्यतामिति' । कुत इत्यत आह--'स्वयमिति' । साधनान्तरनिरपेक्षतयाऽवभासमानं चैतन्यं व्यवधायकाभावात् नित्यमपरोक्षमित्यस्माभिः अभ्युपेतत्वादित्यर्थः ॥२१॥

अब 'अयम्' इस पद के प्रयोग में अन्य अभिप्राय से शंका करते हैं—

यह मैं हूँ । इससे ब्रह्म को भी अपरोक्ष कहोगे तो कहो हम मानते हैं, क्योंकि स्वयं प्रकाशमान चैतन्य सदैव अपरोक्ष है ॥२१॥

जैसे यह घट है इत्यादि प्रयोगों में (पदों में) यह शब्द से दिखाई वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई देती है । वैसे ही यह ब्रह्म मैं हूँ, यहाँ भी ब्रह्म प्रत्यक्ष हो जायेगा ऐसा कहोगे तो प्रत्यक्ष हो जाय, यह भी हमको इष्ट ही है । समाधान मान लो स्वयं प्रकाश रूप चैतन्य सदा ही अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) है । उसको प्रकाशित करने के लिए दूसरे साधन की अपेक्षा नहीं है । आवरण कर्ता के अभाव के कारण नित्य अपरोक्ष[1] हैं ॥२१॥

विशेष – (१) यदि चैतन्य का आवरण मानोगे तो प्रकाशक के अभाव के कारण संसार की अप्रतीति ही हो जायेगी--यदि उसका आवरण नहीं है ऐसा मानो तो आचार्यों ने अज्ञानी को "मैं" अज्ञानी हूँ और ब्रह्म को नहीं जानता, इस अनुभव के अनुसार ब्रह्म के आश्रित और ब्रह्म को आच्छादित करने वाला होने के कारणआश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव-केवला० (संक्षे० शा० १।३१९।) जो "स्वाश्रय स्वविषय" बताया है यह कथन सिद्ध नहीं होता इसलिए सामान्य अंश की प्रतीति और विशेष अंश की अप्रतीति स्वीकार करने पर किसी भी प्रकार विरोध नहीं होता ।

नन्वात्मनः स्वप्रकाशचिद्रूपत्वेन नित्यापरोक्षत्वाभ्युपगमे 'अयम्' इति पदप्रयोगस्य अभिप्रायवर्णनाङ्गीकारबलादागतं आत्मनः परोक्षविषयत्वं अपरोक्षविषयत्व पूर्वोक्तं ज्ञानाज्ञानाश्रयविषयत्वं वा अनुपपन्नं स्यादित्याशङ्क्य, दशमे इव सर्वमुपपत्स्यत इत्याह—

परोक्षमपरोक्षं च ज्ञानमज्ञानमित्यदः ।
नित्यापरोक्षरूपेऽपि द्वयं स्याद्दशमे यथा ॥२२॥

अन्वय : परोक्षं अपरोक्षं च ज्ञानं अज्ञानं इति अदः नित्यापरोक्षरूपेऽपि दशमे यथा द्वयं स्यात् ।

'परोक्षमिति' । परोक्षमपरोक्षं चेत्येकं युगलं, ज्ञानमज्ञानमित्यपरं, इदं द्वयं नित्यापरोक्षरूपेऽप्यात्मनि दशमे इव स्यादित्यर्थः ॥२२॥

दृष्टान्तं व्युत्पादयति—

नवसंख्याहृतज्ञानो दशमो विभ्रमात्तदा ।
न वेत्ति दशमोऽस्मीति वीक्षमाणोऽपि तान्नव ॥२३॥

अन्वय :—नवसंख्याहृतज्ञानः दशमः तदा विभ्रमात् तान् नव वीक्षमाणः अपि दशमः अस्मि इति न वेत्ति ।

'नवसंख्येति' । परिगणनीयपुरुषनिष्ठया नवसंख्यया अपहृतविवेकज्ञानो दशमस्तदा तान् परिगणनीयान्नवसंख्याकान्वीक्षमाणोऽपि सम्यक् पश्यन्नपि भ्रान्त्या गणनाकर्तारं स्वात्मानं 'दशमोऽहमस्मी' ति न वेत्तीत्यर्थः ॥२३॥

यदि कहो कि आत्मा को स्वप्रकाश चित् रूप होने से नित्य अपरोक्ष मानोगे तो "अयम्' इस पद के प्रयोग का जो अभिप्राय वर्णन है, उसके बल से आत्मा की परोक्षता और पूर्वोक्त १४वें श्लोक में अपरोक्षता का ज्ञान और अज्ञानता की विषयता न बनेगी यह शंका करके, दशवें पुरुष के समान उपपत्ति (बनना) कहते हैं—

परोक्ष अपरोक्ष ये दोनों और ज्ञान और अज्ञान ये दोनों युगल, नित्य अपरोक्ष रूप आत्मा में भी दशवें पुरुष के समान सिद्ध हो सकते हैं ॥२२॥

अब दशमपुरुष की अज्ञान अवस्था के दृष्टान्त का वर्णन करते हैं—

गिनने योग्य पुरुषों की "नौ" ९ संख्या से जिसका विवेक लुप्त हो गया है, ऐसा वह दशवाँ पुरुष 'नौ' ९ पुरुषों को प्रत्यक्ष देखता हुआ भी भ्रान्ति से गिनने वाला भी अपने आप को नहीं जानता कि मैं दशवाँ हूँ ॥२३॥

एवं दशमेऽज्ञानं प्रदर्श्य, तत्कार्यमावरणं दर्शयति—

न भाति नास्ति दशम इति स्वं दशमं तदा ।
मत्वा वक्ति तदज्ञानकृतमावरणं विदुः ॥२४॥

अन्वय :—न भाति नास्ति दशमः इति तदा स्वं दशमं मत्वा वक्ति यत् अज्ञानकृतं आवरणं बुधाः विदुः ।

'न भातीति' । तदा दशमः स्वं दशमं सन्तं 'दशमो न भाति नास्ती' ति मत्वा वक्ति । अस्य व्यवहारस्य यत्कारणं तदज्ञानकृतं अज्ञानकार्यमावरणं विदुः, बुधा इति शेषः ॥२४॥

अज्ञानस्यैव कार्यविशेषविक्षेपं दर्शयति—

नद्यां ममार दशम इति शोचन्प्ररोदिति ।
अज्ञानकृतविक्षेपं रोदनादिं विदुर्बुधाः ॥२५॥

अन्वय :—दशमः नद्यां ममार इति शोचन् प्ररोदिति अज्ञानकृतविक्षेपं रोदनादिं बुधाः विदुः ।

'नद्यामिति' ॥२५॥

इस प्रकार दशम में पुरुष अज्ञान को दिखाकर अज्ञान के कार्य आवरण को दिखाते हैं—

उस अज्ञान काल में वह दशवाँ स्वयं दशम होते हुए भी अपनी आत्मा को दशम मुझे प्रतीत नहीं होता दशम नहीं है यह मानकर कहता है । इस व्यवहार के कारण को अज्ञान का कार्य आवरण बुद्धिमान् मनुष्य मानते हैं—विद्यमान वस्तु को न जानना ॥२४॥

अब दशम के अज्ञान के ही कार्य विशेष विक्षेप को दिखाते हैं—

नदी में दशवाँ मर गया इस प्रकार शोक करके जो रोता है उस रोदन आदि को बुद्धिमान् अज्ञान का किया हुआ "विक्षेप" कहते हैं ॥२५॥

दशमस्यासत्त्वांशनिवर्तकं परोक्षज्ञानमाह—

न मृतो दशमोऽस्तीति श्रुत्वाऽऽप्तवचनं तदा ।
परोक्षत्वेन दशमं वेत्ति स्वर्गादिलोकवत् ॥२६॥

अन्वय : -तदा आप्तवचनं श्रुत्वा दशमः अस्ति न मृतः इति स्वर्गादिलोकवत् परोक्षत्वेन दशमं वेत्ति ।

'न मृत इति' ॥२६॥

तस्यैवाभानांशनिवर्तकमपरोक्षज्ञानं दर्शयति—

त्वमेव दशमोऽसीति गणयित्वा प्रदर्शितः ।
अपरोक्षतया ज्ञात्वा हृष्यत्येव न रोदिति ॥२७॥

अन्वय : त्वं एव दशमः असीति गणयित्वा प्रदर्शितः अपरोक्षतया ज्ञात्वा हृष्यति एव न रोदिति ।

'त्वमेवेति' । स्वेन परिगणितैर्नवभिः सह स्वात्मानं गणयित्वा 'त्वमेव दशमोऽसीति' प्रदर्शितः 'अहं दशमोऽस्मी' ति अपरोक्षतया ज्ञात्वा हर्षं प्राप्नोति रोदनं त्यजति ।२७॥

अब दशम मनुष्य के असत्व अंश का निवर्तक परोक्ष ज्ञान कहते हैं—

उस समय "दशम मरा नहीं है" इस यथार्थवादी मनुष्य के वचन को सुनकर वह दशम पुरुष परोक्ष रूप (शास्त्र वचन से स्वीकार किए हुए) स्वर्ग आदि लोक के समान दशवाँ होगा यह जानता है, यह परोक्ष ज्ञान है ॥२६॥

अब दशम के ही अभानांश के निवर्तक अपरोक्ष ज्ञान को दिखाते हैं—

तू ही दशवाँ है इस प्रकार नौ पुरुषों को गिनकर उसे दिखाया ऐसे जब आप्त पुरुष दिखाता है । तब मैं दशवाँ हूँ वह अपरोक्ष रूप से जानकर वह हर्षित हो उठता है—फिर रोना छोड़ देता है ॥२७॥

एवं दृष्टान्तभूते दशमे प्रदर्शितमवस्थासप्तकमनूद्य, दार्ष्टान्तिके आत्मन्यपि संयोजनीयमित्याह—

अज्ञानावृत्तिविक्षेपद्विविधज्ञानतृप्तयः ।
शोकापगम इत्येते योजनीयाश्चिदात्मनि ॥२८॥

अन्वय :—अज्ञानावृत्तिविक्षेपद्विविधज्ञानतृप्तयः शोकापगमे इति एते चिदात्मनि योजनीयाः ।

'अज्ञानेति' । अज्ञानं चावृतिश्च विक्षेपश्च द्विविधं ज्ञानं च तृप्तिश्चेति द्वन्द्वः समासः ॥२८॥

तत्रात्मन्यज्ञानादिकं क्रमेण दर्शयति—

संसारासक्तचित्तः संश्चिदाभासः कदाचन ।
स्वयंप्रकाशकूटस्थं स्वतत्त्वं नैव वेत्त्ययम् ॥२९॥

अन्वय :—संसारासक्तःचित्तः सन् चिदाभासः कदाचन स्वयंप्रकाशकूटस्थं स्वतत्त्वं अयं नैव वेत्ति ।

'संसारासक्ते' त्यादिना चतुर्भिः । अयं चिदाभासो विषयसंपादनादिध्यानासक्तचित्तः सन् कदाचन श्रुतिविचारात्पूर्वं कदापि स्वतत्त्वं स्वस्य निजं रूपं स्वप्रकाशचिद्रूपं कूटस्थं प्रत्यगात्मानं नैव वेत्ति न जानाति यत्तदज्ञानम् ॥२९॥

इस प्रकार दृष्टान्त रूप दशवें में दिखायी सातों अवस्थाओं को दार्ष्टान्तिकरूप आत्मा में भी दर्शाते हैं—

अज्ञान, आवरण, विक्षेप (शोक या भ्रान्ति) परोक्षज्ञान, अपरोक्षज्ञान, तृप्ति, शोकअपगम (दूर होना) ये जो सात अवस्थाएँ दृष्टान्त भूत दशवें पुरुष में दिखाई है— वे सातों दार्ष्टान्तिक चिदात्मा में भी लगालो ॥२८॥

अब अज्ञान आदि को क्रम से चिदात्मा में दिखाते हैं—

यह चिदाभास, संसार, विषय संपादन आदि के ध्यान में मस्त होकर श्रुति विचार से पहले स्वरूप स्वप्रकाश चैतन्यरूप कूटस्थ प्रत्यगात्मा को नहीं जानता उसका यह न जानना ही 'अज्ञान' है ॥२९॥

न भाति नास्ति कूटस्थ इति वक्ति प्रसङ्गतः ।
कर्ता भोक्ताऽहमस्मीति विक्षेपं प्रतिपद्यते ॥३०॥

अन्वय :—कूटस्थः नास्ति न भाति इति प्रसङ्गतः वक्ति अहं कर्ता अहं भोक्ता अस्मि इति विक्षेपं प्रतिपद्यते ।

'न भातीति'। चिदात्मविषये प्रसङ्गे जाते 'कूटस्थो नास्ति न भाती'ति मत्वा ब्रूते इदमज्ञानकार्यमावरणं कूटस्थासत्त्वाभानाभिधानवत्कर्तृत्वादिकमात्मन्यारोपयति । अस्यारोपस्य हेतुर्देहद्वययुतश्चिदाभासो विक्षेपः ॥३०॥

अस्ति कूटस्थ इत्यादौ परोक्षं वेत्ति वार्तया ।
पश्चात् कूटस्थ एवास्मीत्येवं वेत्ति विचारतः ॥३१॥

अन्वयः—अस्ति कूटस्थः इत्यादौ वार्तया परोक्षं वेत्ति पश्चात् विचारतः कूटस्थः एव अस्मि इति एवं वेत्ति ।

'अस्ति कूटस्थ इति'। परेण बोधितः 'कूटस्थोऽस्ती'ति जानाति इदं परोक्षज्ञानम् । श्रवणादिपरिपाकवशात् 'कूटस्थोऽहमेवास्मी' ति जानाति इदमपरोक्षज्ञानम् ॥३१॥

चिदात्मा का प्रसंग चलने पर कूटस्थ है ही नहीं और न प्रतीत होता है। यह कहना अज्ञान का किया आवरण है और कूटस्थ की असत्ता तथा अप्रतीति के कथन की तरह ही मैं कर्ता हूँ भोक्ता हूँ, इस प्रकार कर्तृत्व आदि का जो अपने में आरोप करता है उस आरोप का हेतु जो स्थूल सूक्ष्म रूप दोनों देहों से युक्त चिदाभास हैं वही विक्षेप है ॥३०॥

बातचीत में दूसरे ब्रह्मनिष्ठ गुरु से समझाया हुआ कूटस्थ है यह जानता है यही उसका परोक्ष ज्ञान है और फिर श्रवण मननादि के परिपाक के कारण ब्रह्म से अभिन्न प्रत्यगात्म रूप कूटस्थ[1] मैं ही हूँ ऐसा जान लेता है, यही उसका अपरोक्षज्ञान है ॥३१॥

विशेष १—यह त्वं पदार्थ गोचर अपरोक्ष ज्ञान है, इतना ही ज्ञान सब अज्ञानादिक अनर्थ की निवृत्ति का हेतु नहीं है। किन्तु तत्पदार्थ अभिन्न त्वंपदार्थ गोचर मैं ब्रह्म हूँ, यह अपरोक्ष ज्ञान सब अनर्थों की निवृत्ति का हेतु है। तथापि यहाँ मैं ब्रह्म हूं, इस ज्ञान की अपरोक्षता को बताने वाला अर्थ कर्तृत्वादि कार्यरूप अनर्थ का निवारक मैं कूटस्थ हूँ यह अपरोक्ष ज्ञान उदाहरण है।

कर्ता भोक्तेत्येवमादि शोकजातं प्रमुञ्चति ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव तुष्यति ॥३२॥

अन्वय:—कर्ता भोक्ता इति एवं आदि शोकजातं प्रमुञ्चति प्रापणीयं कृत्यं कृतं प्राप्तं इत्येव तुष्यति ।

'कर्तेति' । कूटस्थासङ्गात्मज्ञानान्तरं कर्तृत्वादिशोकजातं त्यजतीति यदयं शोकापगम: । कृत्यं कर्तव्यजातं कृतं निष्पादितं, प्रापणीयं फलजातं प्राप्तं लब्धमिति तुष्यति, इयं तृप्तिरित्यर्थः ॥३२॥

दार्ष्टान्तिकेऽप्युक्तमवस्थासप्तकमनुवदति —

अज्ञानमावृतिस्तद्वद्विक्षेपश्च परोक्षधी: ।
अपरोक्षमति: शोकमोक्षस्तृप्तिर्निरङ्कुशा ॥३३॥

अन्वय:—अज्ञानं आवृति: तद्वत् विक्षेपश्च परोक्षधी: शोकमोक्ष: तृप्ति: निरङ्कुशा अपरोक्षमति: ।

'अज्ञानमिति' ॥३३॥

ननूक्तावस्थासप्तकस्य आत्मधर्मत्वाङ्गीकारे तस्य कूटस्थत्वं व्याहन्येतेत्याशङ्क्य एता: सप्तावस्था: चिदाभासस्यैव, न कूटस्थस्येत्याह—

सप्तावस्था इमा: सन्ति चिदाभासस्य तास्विमौ ।
बन्धमोक्षौ स्थितौ तत्र तिस्रो बन्धकृत: स्मृता: ॥३४॥

अन्वय:—इमा: सप्तावस्था: चिदाभासस्य सन्ति इमौ बन्धमोक्षौ तासु स्थितौ तत्र तिस्र:बन्धकृत: स्मृता: ।

'सप्तावस्था इति' । 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इति न्यायेन चिदाभासस्यैवेत्यवगम्यते, न कूटस्थस्य, सप्तावस्थानामासामत्रोपन्यासो वृथेत्याशङ्क्य, न वृथात्वं बन्धमोक्षकारित्वद्योतनफलत्वादुपन्यासस्येत्यभिप्रायेणाह—'तास्विमाविति' । किमासां सप्तानामप्यविशेषेण बन्धमोक्षकारित्वं ? नेत्याह— 'तत्रेति' । अज्ञानावरणविक्षेपरूपास्तिस्र इत्यर्थः ॥३४॥

कूटस्थ (निर्विकार) असंग आत्मा के ज्ञान के पश्चात् मैं कर्ता भोक्ता हूँ इत्यादि यह शोक नाश है । मैंने करने योग्य को कर लिया है और प्राप्ति के योग्य फल मुझे प्राप्त हो गया है इस प्रकार सन्तोष (हर्ष) उसको हो जाता है यही तृप्ति है ॥३२॥

दार्ष्टान्तिक में भी उक्त सातों अवस्थाओं का अनुवाद करते हैं—

अज्ञान, आवरण विक्षेप, परोक्षज्ञान अपरोक्षज्ञान, शोकनिवृत्ति और निरंकुश तृप्ति ॥३३॥

कोई कहे कि पूर्वोक्त सात अवस्था आत्मा में मानोगे तो कूटस्थ न रहेगा यह शंका करके ये सात अवस्था चिदाभास की हो हैं कूटस्थ की नहीं, यह वर्णन करते हैं

ये सातों अवस्थाएँ चिदाभास की ही हैं कूटस्थ की नहीं हैं, इन सातों अवस्थाओं को यहाँ लिखना वृथा है वह ठीक नहीं, वृथा नहीं है, ये सातों अवस्थाएँ बन्धमोक्ष की कारण हैं इसलिए कहते हैं, इन सातों अवस्थाओं में ही बन्ध और मोक्ष समा जाते हैं पहली तीन अज्ञान, आवरण विक्षेप बन्धन करने वाली हैं । शेष चार मोक्ष की अवस्थाएँ हैं ॥३४॥

आसां बन्धकारित्वदर्शनाय तिसृणामपि स्वरूपं प्रत्येकं कार्यप्रदर्शनेन स्पष्टीचिकीर्षुः अज्ञानस्य स्वरूपं तावद्दर्शयति —

न जानामीत्युदासीनव्यवहारस्य कारणम् ।
विचारप्रागभावेन युक्तमज्ञानमीरितम् ॥३५॥

अन्वयः—उदासीनव्यवहारस्य न जानामि इति कारणं विचारप्रागभावेन युक्तं अज्ञानं ईरितं ।

'न जानामीति' । आत्मतत्त्वविचारप्रागभावसहितं उदासीनव्यवहारस्य कारणं 'न जानामि' इत्यनुभूयमानं अज्ञानमीरितमित्यर्थः ॥३५॥

आवृतिस्वरूपं तत्कार्यं च दर्शयति—

अमार्गेण[1] विचार्याथ नास्ति नो भाति चेत्यसौ ।
विपरीतव्यवहृतिरावृतेः कार्यमिष्यते ॥३६॥

अन्वयः—अथ अमार्गेण विचार्य नास्ति नो भाति च इति असौ विपरीतव्यवहृतिः आवृतेः कार्यं ईष्यते ।

'अमार्गेणति' । शास्त्रोक्तं प्रकारमतिलङ्घ्य, केवलं तर्केण विचार्य, अनन्तरं 'कूटस्थो नास्ति न भाती' त्येवंरूपो विपरीतव्यवहार आवरणकार्यमित्यर्थः ॥३६॥

इनको बन्धकारिता दिखाने के लिए तीनों का स्वरूप प्रत्येक के कार्य को दिखाकर स्पष्ट करने की इच्छा से प्रथम अज्ञान का स्वरूप दिखाते हैं—

जिसके साथ आत्मा के विचार का प्रागभाव लगा हुआ है जो तूष्णीभावरूप उदासीन व्यवहार (कथन और प्रतीति) का कारण है और मैं नहीं जानता इस प्रकार अनुभूत होता है वह अज्ञान है ॥३५॥

अब आवरण के स्वरूप और कार्य को दिखाते हैं—

उसके पश्चात् (शास्त्रोक्त प्रकार को छोड़कर) अमार्ग (केवल तर्क) से विचार करके 'कूटस्थ हैं ही नहीं ' और न प्रतीत होता है ऐसा जो विपरीत व्यवहार करने लगता है, वह आवरण का कार्य माना जाता है ॥३६॥

विशेष १—तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि बृ० ३।९।२६। उस औपनिषद पुरुष को मैं पूछता हूँ । "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्०" तै० ब्रा० ३।१२।९ । वेद को न जानने वाला पुरुष उस परिपूर्ण रूप परमात्मा को नहीं जान सकता । 'वेदहेतुरपि ब्रह्म तद्वेदादेव मीयते," लघु वार्तिक १।१ ।

विक्षेपस्य स्वरूपं तत्कार्यं च दर्शयति—

देहद्वयचिदाभासरूपो विक्षेप ईरितः ।
कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्योऽस्य बन्धकः ॥३७॥

अन्वयः देहद्वयचिदाभासरूपः विक्षेपः बन्धकः ईरितः संसाराख्यः कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः अस्य हेतुः ।

'देहद्वयेति' । स्थूलसूक्ष्माख्यशरीरद्वयसहितश्चिदाभास एव विक्षेपः बन्धको बन्धहेतुः संसाराख्यः कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः अस्य चिदाभासस्य कार्यमिति शेषः । कर्तृत्वादीत्यत्र 'आदि' शब्देन प्रमातृत्वादयो गृह्यन्ते ॥३७॥

ननु सप्तावस्थाः चिदाभासस्य इत्युक्तमनुपपन्नम्, अज्ञानावरणयोर्विक्षेपोत्पत्तेः पुरा स्थितत्वात् चिदाभासस्य च विक्षेपान्तःपातित्वात्तदवस्थात्वानुपपत्तेरित्याशङ्क्याह

अज्ञानमावृतिश्चैते विक्षेपात्प्राक्प्रसिद्ध्यतः ।
यद्यप्यथाप्यवस्थे ते विक्षेपस्यैव नात्मनः ॥३८॥

अन्वयः—अज्ञानं आवृतिश्च एते विक्षेपात् प्राक् प्रसिद्ध्यतः अथ यद्यपि ते विक्षेपस्यैव अवस्थे आत्मानः न ।

'अज्ञानमिति' । अनयोरज्ञानावरणयोर्विक्षेपात्पुरा स्थितत्वेऽपि नात्मावस्थत्वं तस्यासङ्गत्वेन अवस्थावत्वानुपपत्तेः । अतः परिशेषाच्चिदाभासावस्थात्वमेव तयोर्वक्तव्यमिति भावः ॥३८॥

अब विक्षेप के स्वरूप और उसके कार्य को दिखाते हैं—

स्थूल सूक्ष्म दोनों देहों सहित चिदाभास का नाम ही विक्षेप है बन्ध का हेतु, संसार नाम का जो कर्तृत्व भोक्तृत्व-प्रमातृत्व आदि रूप सम्पूर्ण शोक है, वह सब इस चिदाभास का कार्य अर्थात् किया हुआ है ॥३७॥

शंका चिदाभास की जो सात अवस्था कही यह ठीक नहीं, क्योंकि अज्ञान आवरण ये दोनों विक्षेप की उत्पत्ति से पूर्व (पहले) ही स्थित है और चिदाभास विक्षेप के अन्तर्गत है, इसलिए चिदाभास की ये अवस्थाएँ नहीं हो सकती, इसका उत्तर देते हैं—

यद्यपि अज्ञान और आवरण ये दोनों अवस्थाएँ विक्षेप से पूर्व स्थित हैं तो भी आत्मा की अवस्था नहीं हैं । आत्मा असंग हैं आत्मा की कोई अवस्था नहीं होगी—परिशेष से ये अज्ञान आवरण चिदाभास की ही हैं ऐसा मानना चाहिए ॥३८॥

विशेष—(१) अज्ञान आवरणयोः ।

ननु अवस्थावतो विक्षेपस्य तदानीमभावात्तदवस्थात्वाभिधानमनुपपन्नमित्याशङ्क्य, विक्षेपाभावेऽपि तत्संस्कारस्य तदानीं सत्त्वाद्विक्षेपावस्थात्वाभिधानं न विरुध्यत इत्याह—

विक्षेपोत्पत्तितः पूर्वमपि विक्षेपसंस्कृतिः ।
अस्त्येव तदवस्थात्वमविरुद्धं ततस्तयोः ।।३९।।

अन्वय :—विक्षेपोत्पत्तितः पूर्वं अपि विक्षेपसंस्कृतिः अस्ति एव ततः तयोः तदवस्थात्वं अविरुद्धं ।

'विक्षेपेति' । ततः कारणात्तयोस्तदवस्थात्ववर्णनमविरुद्धमिति योजना ।।३९।।

नन्वप्रसिद्धसंस्काराभ्युपगमद्वारा विक्षेपावस्थात्ववर्णनात् वरमधिष्ठानतया प्रसिद्धब्रह्मावस्थात्ववर्णन मित्याशङ्क्य, अतिप्रसङ्गान्मैवमिति परिहरति—

ब्रह्मण्यारोपितत्वेन ब्रह्मावस्थे इमे इति ।
न शङ्कनीयं सर्वासां ब्रह्मण्येवाधिरोपणात् ।।४०।।

अन्वय : ब्रह्मणि आरोपितत्वेन इमे ब्रह्मावस्थे इति न शङ्कनीयं सर्वासां ब्रह्मणि एव अधिरोपणात् ।

'ब्रह्मणीति' ।।४०।।

यदि कहो कि अवस्था वाले विक्षेप का विक्षेप से पूर्व अभाव है इससे उसकी अवस्था कहना ठीक नहीं इस शंका का उत्तर कहते हैं विक्षेप की उत्पत्ति से पूर्व भी विक्षेप का पूर्व संस्कार है विक्षेप की अवस्था कहना विरुद्ध नहीं होता है—

विक्षेपरूप चिदाभास की उत्पत्ति से पूर्व भी उसका संस्कार विद्यमान ही रहता है। अतः उन दोनों को चिदाभास की अवस्था रूप कहना विरोध नहीं है ।।३९।।

विक्षेप उत्पत्ति से पहले भी विक्षेपरूप चिदाभास में सूक्ष्म रूप से संस्कार तो रहता ही है, इसलिए अज्ञान और आवरण दोनों को विक्षेप की अवस्था बताने में कोई विरोध नहीं है ।।३९।।

यदि कहो कि अज्ञान और आवरण को जैसे अप्रसिद्ध संस्कारों को मानकर विक्षेप चिदाभास की अवस्था मानने की अपेक्षा अधिष्ठान रूप में प्रसिद्ध ब्रह्म की अवस्था मानना अधिक अच्छा है यह ठीक नहीं अति प्रसङ्ग से समाधान करते हैं—

ब्रह्म में आरोपित होने से ये अज्ञान और आवरण दोनों ब्रह्म की अवस्था है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि यों तो सभी अवस्थाएँ ब्रह्म में आरोपित हैं ।।४०।।

ननु ब्रह्मण्यारोपितत्वाविशेषेऽपि विक्षेपोत्पत्त्युत्तरकालभाविनीनां संसारित्वाद्यवस्थानां जीवाश्रितत्वेनानुभूयमानत्वाच्च ब्रह्मावस्थात्वमिति शङ्कते --

संसार्यहं विबुद्धोऽहं निःशोकस्तुष्ट इत्यपि ।
जीवगा उत्तरावस्था भान्ति न ब्रह्मगा यदि ॥४१॥

अन्वय :—अहं संसारी अहं विबुद्धः निःशोकः तुष्टः इत्यपि यदि उत्तरावस्थाः जीवगाः भान्ति ब्रह्मगा न ।

'संसारीति' । संसारी कर्तृत्वादिधर्मवान् विबुद्धः तत्त्वशाक्षात्कारवान् निःशोकः शोकरहितः । तुष्टो वक्ष्यमाणकृतकृत्यत्वादिजनितसंतोषवान् 'अहमस्मी' त्युत्तरावस्था जीवगा जीवाश्रिता भान्ति, न ब्रह्माश्रिता इत्यर्थः ।

एवं तर्ह्यज्ञानावरणयोरपि जीवाश्रितत्वेन अनुभूयमानत्वाज्जीवावस्थात्वमेवेति परिहरति—

तर्ह्यज्ञोऽहं ब्रह्मसत्त्वभाने मद्दृष्टितो न हि ।
इति पूर्वे अवस्थे च भासेते जीवगे खलु ॥४२॥

अन्वय :—तर्हि अज्ञोऽहं ब्रह्मसत्त्वभाने मद्दृष्टितो न इति पूर्वे अवस्थे च जीवगे भासेते खलु ।
'तर्ह्यज्ञोऽहमिति' । मद्दृष्टितो ममानुभवेनेत्यर्थः ॥४२॥

यदि कहो कि अविशेष रूप से सबका यद्यपि ब्रह्म में आरोप है तथापि विक्षेप से उत्तर होने वाली संसारी आदि जो अवस्था हैं वे जीव की भी अवस्था जीव के आश्रित ही अनुभव होती हैं— ब्रह्म की अवस्था नहीं हैं यह शंका है—

मैं कर्तृत्व आदि धर्म वाला हूँ । तत्वसाक्षात्कारवान् हूँ कर्तृत्व आदि शोकों से रहित हूँ । तुष्ट हूँ ये उत्तर अवस्था जीव में प्रतीत होती है ब्रह्म में नहीं ।४१॥

ऐसा कहो तो अज्ञान और आवरण भी जीव में ही प्रतीत होते हैं वही अनुभव करते हैं । जीव की ही अवस्था है पूर्वोक्त शंका का समाधान करते हैं

तब तो मैं अज्ञ हूँ, ब्रह्म की सत्ता और प्रतीति मेरे अनुभव से है ही नहीं. ये अज्ञान और आवरण की विक्षेप की पूर्ववर्ती अवस्थाएँ भी तो निश्चित रूप से जीव में ही भासती हैं - इन्हें विक्षेप की ही अवस्थाएं मानना चाहिए ॥४२॥

ननु तर्ह्यज्ञानाश्रयत्वं ब्रह्मणः पूर्वाचार्यैः कथमुक्तमित्याशङ्क्य, तद्विवक्षां दर्शयति—

अज्ञानस्याश्रयो ब्रह्मेत्यधिष्ठानतया जगुः[२] ।
जीवावस्थात्वमज्ञानाभिमानित्वादवादिषम् ॥४३॥

अन्वय —अज्ञानस्याश्रयः ब्रह्म इति अधिष्ठानतया जगुः जीवावस्थात्वं अज्ञानाभिमानित्वात् अवादिषम् ।

'अज्ञानस्येति' । ब्रह्मणोऽज्ञानाधिष्ठानत्वविवक्षया तदाश्रयत्वमुक्तमित्यर्थः । भवद्भिस्तर्हि किं विवक्षया जीवावस्थात्वमुक्तमित्याशङ्क्य, स्वविवक्षां दर्शयति 'जीवावस्थात्वमिति'[१] ॥४३॥

एवं बन्धहेतुभूतमवस्थात्रयं प्रदर्श्य, अवशिष्टास्ववस्थासु मध्ये पूर्वोक्ताज्ञानावरणनिवृत्तिद्वारा मुक्तिहेतुमवस्थाद्वयं दर्शयति—

ज्ञानद्वयेन नष्टेऽस्मिन्नज्ञाने तत्कृतावृतिः ।
न भाति नास्ति चेत्येषा द्विविधापि विनश्यति ॥४४॥

अन्वय : ज्ञानद्वयेन अस्मिन् अज्ञाने नष्टे तत्कृतावृतिः न भाति नास्ति च इति एषा द्विविधापि (कारणाभावात्) नश्यति ।

'ज्ञानद्वयेनेति' । परोक्षत्वापरोक्षत्वलक्षणेन ज्ञानद्वयेन आवरणकारणे अज्ञाने नष्टे सति तत्कृतावृतिः तेनाज्ञानेनोत्पादितं न भाति नास्ति' इति व्यवहारकारणं द्विविधमप्यावरणं कारणा-भावान्नश्यतीति ॥४४॥

यदि कहो कि पूर्व आचार्यों ने अज्ञान का आश्रय ब्रह्म कैसे कहा—यह शंका करके उसकी विवक्षा को दिखाते हैं—

अज्ञान का अधिष्ठान मानकर ही पूर्वाचार्यों ने ब्रह्म अज्ञान का आश्रय है ऐसा कहा। आपने सात अवस्था जीव के आश्रित है क्यों कहा ? इस शंका का उत्तर हमने अज्ञान का अभिमानी होने से उस अज्ञान को जीव की अवस्था कहा है 'अहं अज्ञोऽस्मि" ॥४३॥

इस प्रकार बन्ध की हेतु अज्ञान, आवरण, विक्षेप तीन अवस्थाओं को दिखाकर शेष अवस्थाओं के मध्य में पूर्वोक्त अज्ञान और आवरण की निवृत्ति के द्वारा मुक्ति की हेतु परोक्षज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान दो अवस्थाओं को दिखाते हैं—

परोक्ष एव अपरोक्ष दोनों ज्ञानों से आवरण के कारण भूत अज्ञान के नष्ट हो जाने पर उस अज्ञान से पैदा हुआ कूटस्थ न प्रतीत होता है न है। इस व्यवहार के कारण उन दोनों प्रकार का भी आवरण नष्ट हो जाता है। इस प्रकार परोक्ष ज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान नाम की दोनों अवस्थाएँ मुक्ति की कारण बन जाती हैं ॥४४॥

विशेष—(१) तर्हि अवस्थानां जीवाश्रितत्वे सति ।
(२) आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव, संक्षेपशारीरका प्रोचुः ।१।३१९।

कस्यांशस्य केन निवृत्तिरित्यपेक्षायां उभयं विभज्य दर्शयति—

परोक्षज्ञानतो नश्येदसत्त्वावृतिहेतुता ।
अपरोक्षज्ञाननाश्या ह्यभानावृतिहेतुता ।।४५।।

अन्वय :—परोक्षज्ञानतः असत्त्वावृतिहेतुता नश्येत् अपरोक्षज्ञाननाश्या हि अभानावृति हेतुता ।

'परोक्षज्ञानत इति' । 'कूटस्थोऽस्ति' इत्येवंरूपात्परोक्षज्ञानात् अज्ञानस्यासत्त्वावरण कारणत्वं निवर्तते । 'कूटस्थोऽस्मि' इत्यपरोक्षज्ञानेन तु 'कूटस्थो न भाति' इत्येवंरूपावरणकारणत्वं निवर्तते ।।४५।।

इदानीं ज्ञानस्य फलरूपावस्थाद्वये प्रथमावस्थामाह—

अभानावरणे नष्टे जीवत्वारोपसंक्षयात् ।
कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्यो निवर्तते ।।४६।।

अन्वयः—अभानावरणे नष्टे जीवत्वारोपसंक्षयात् कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्यः निवर्तते ।

'अभानावरण इति' । अभानावरणे निवृत्ते भ्रान्त्या प्रतीयमानस्य जीवत्वस्यापि निवृत्तत्वात्तन्निमित्तकः कर्तृत्वादिलक्षणः संसाराख्यः शोकः सर्वोऽपि निवर्तत इत्यर्थः ।।४६।।

अब जितने अंश की जिससे निवृत्ति होती है उसको पृथक्-पृथक् दिखाते हैं—

कूटस्थ है इस रूप वाले परोक्ष ज्ञान से असत्वापादक (कूटस्थ नहीं है इस रूप वाले) आवरण का कारणपना नष्ट हो जाता है मैं कूटस्थ हूँ इस अपरोक्ष ज्ञान से कूटस्थ नहीं भासता इस अभानापादक रूप आवरण का कारणपना नष्ट हो जाता है ।।४५।।

अब ज्ञान की फल रूप दोनों अवस्थाओं में से प्रथम अवस्था को कहते हैं—

अभानरूप आवरण की निवृत्ति होने पर भ्रान्ति से प्रतीयमान जो जीवभाव आरोप उसकी भी निवृत्ति हो जाती है । उस आरोप के निवृत्त हो जाने पर जीव भाव के कारण बना हुआ, कर्ता भोक्ता प्रमाता रूपी संसार नाम का सब शोक भी नष्ट होता है ।।

एवं शोकापगमरूपामवस्थां प्रदर्श्य निरङ्कुशतृप्तिलक्षणां द्वितीयां दर्शयति—

निवृत्ते सर्वसंसारे नित्यमुक्तत्वभासनात् ।
निरङ्कुशा भवेत्तृप्तिः पुनः शोकासमुद्भवात् ॥४७॥

अन्वयः—सर्वसंसारे निवृत्ते नित्यमुक्तत्वभासनात् पुनः शोकासमुद्भवात् निरङ्कुशा तृप्तिः भवेत् ।

'निवृत्ते सर्वसंसार इति' ॥४७॥

ननु 'आत्मानं चेद्विजानीयात्' (बृ० ४।४।१२) इति मन्त्रव्याख्याने प्रवृत्तत्वात्तद्विहाय मध्येऽज्ञानाद्यवस्थासप्तकनिरूपणं प्रकृतासङ्गतमित्याशङ्क्य, 'आत्मानं चेद्विजानीयात्' (बृ० ४।४।१२) इत्यस्याः श्रुतेस्तात्पर्यनिरूपणशेषत्वेन अभिहितत्वान्न प्रकृतासङ्गतमित्यभिप्रेत्य, श्रुतितात्पर्यमाह—

अपरोक्षज्ञानशोकनिवृत्त्याख्ये उभे इमे ।
अवस्थे जीवगे ब्रूत आत्मानं चेदिति श्रुतिः ॥४८॥

अन्वयः—इमे उभे अपरोक्षज्ञानशोकनिवृत्त्याख्ये अवस्थे जीवगे ब्रूत आत्मानं चेत् इति श्रुतिः ।

'अपरोक्षज्ञानेति । चिदाभासनिष्ठं यदवस्थासप्तकमस्ति तत्रापरोक्षज्ञानशोकनिवृत्तिलक्षणमवस्थाद्वयं प्रतिपादयितुमयं मन्त्रः प्रवृत्त इत्यभिप्रायः ॥४८॥

इस प्रकार शोकापगम रूप अवस्था को दिखा करके निरङ्कुश तृप्ति रूप दूसरी अवस्था को दिखाते हैं—

समस्त संसार के निवृत्त हो जाने पर आत्मा के नित्य मुक्त होने की प्रतीति होने लगती है अतएव पुनः शोक उत्पन्न नहीं होता और निर्मर्यादित तृप्ति हो जाती है ॥४७॥

यदि कहो कि आत्मा को मनुष्य जाने-इस मन्त्र के व्याख्यान में प्रवृत्त होकर फिर उसको छोड़कर मध्य में अज्ञान आदि सात अवस्थाओं का वर्णन प्रकरण विरुद्ध है । इस शंका को करके पूर्वोक्त श्रुति के तात्पर्य का जो निरूपण उसके शेष रूप से अवस्थाओं का वर्णन किया है इससे प्रकरण विरुद्ध नहीं, इस अभिप्राय से पूर्वोक्त श्रुति के तात्पर्य (अभिप्राय) को कहते हैं—

अपरोक्ष ज्ञान, शोक निवृत्ति ये दो अवस्था जीव की हैं, यह बात आत्मानं चेत् यह श्रुति कहती है ॥४८॥

अपरोक्ष ज्ञान और शोक निवृत्ति रूप जो अवस्था पूर्वोक्त चिदाभास की सातों अवस्था के मध्य में हैं उनमें से ये दोनों जीव की अवस्था हैं यह बात कहने के लिए (आत्मानं चेत् विजानीयत्) यदि आत्मा को जाने यह मन्त्र प्रवृत्त हुआ है अर्थात् आत्म ज्ञानोपयोगी होने से पूर्व अवस्थाओं का वर्णन प्रकरण विरुद्ध नहीं है ॥४८॥

'अयमित्यपरोक्षत्वम्' इत्यत्र 'अयम्' इति पदेनात्मनोऽपरोक्षत्वमुच्यत इत्युक्तं, तथा सति अपरोक्ष ज्ञानविषयत्वमेव स्यान्न परोक्षज्ञानविषयत्वमित्याशङ्क्य तदुपपादनाय अपरोक्षज्ञानं विभजते—

अयमित्यपरोक्षत्वमुक्तं तद्द्विविधं भवेत् ।
विषयस्वप्रकाशत्वाद्धियाप्येवं तदीक्षणात् ॥४९॥

अन्वयः—अयं इति अपरोक्षत्वं उक्तं तदद्विविधं भवेत् विषयस्वप्रकाशत्वात् धियापि एवं तदीक्षणात् ।

'अयमितीति' । द्वैविध्ये कारणमाह—'विषयेति' । विषयस्य चिद्रूपस्यात्मनः स्वप्रकाशत्वात्स्वव्यवहारसाधनान्तरनिरपेक्षत्वात्, धिया बुद्ध्या एवं स्वप्रकाशत्वेन तदीक्षणात्तस्य विषयस्य आत्मनोऽवलोकनाच्चेत्यर्थः ॥४९॥

भवतु द्वैविध्यं, एतावता परोक्षज्ञानविषयत्वे किमायातमित्याशङ्क्य, विषयस्वप्रकाशत्वं परोक्षज्ञानविषयत्वविरोधि न भवतीत्याह

परोक्षज्ञानकालेऽपि विषयस्वप्रकाशता ।
समा ब्रह्म स्वप्रकाशमस्तीत्येवं विबोधनात् ॥५०॥

अन्वयः परोक्षज्ञानकालेऽपि विषयस्वप्रकाशता समा स्वप्रकाशं ब्रह्म अस्ति इति विबोधनात् ।

'परोक्षज्ञानेति' । अपरोक्षज्ञानकाल इव परोक्षज्ञानकालेऽपि विषयस्य ब्रह्मणः स्वप्रकाशताऽस्त्येव । तत्रोपपत्तिमाह —'ब्रह्म स्वप्रकाशमिति' ॥५०॥

अयम् (यह आत्मा मैं हूँ) इस पद से आत्मा को अपरोक्ष २१वें श्लोक में कहा था, इसलिए अपरोक्ष ज्ञान का विषय आत्मा होगा, परोक्ष का नहीं, इस शंका का उत्तर—यह बताने के लिए अपरोक्ष ज्ञान के भेद बताते हैं—

"अयं" इस पद से जो आत्मा को अपरोक्ष ज्ञान कहा वह दो प्रकार का होता है । एक तो विषय चिद्रूप जो आत्मा स्वप्रकाश होने से अपनी प्रतीति के लिए किसी दूसरे साधन की अपेक्षा नहीं रखता, द्वितीय यह कि बुद्धि से भी उसका वह रूप स्वप्रकाशत्व देख लिया गया है । अर्थात् विषय (यहाँ आत्मा) विषयी (यहाँ बुद्धि वृत्ति) के भेद से अपरोक्ष दो प्रकार का है ॥४९॥

कहो कि अपरोक्ष ज्ञान दो प्रकार का हो तो हो, इससे वह परोक्ष ज्ञान का विषय कैसे हो गया। इस शंका का उत्तर—विषय स्वप्रकाशत्व है परोक्ष ज्ञान का विरोधी नहीं है—

परोक्ष ज्ञान के काल में भी ब्रह्म नामक विषयस्वप्रकाश ही रहता है अर्थात् परोक्षज्ञान विषयता का विरोधी स्वप्रकाशत्व नहीं होगा, क्योंकि अपरोक्ष ज्ञान के समान परोक्ष ज्ञान में भी ब्रह्म स्वप्रकाश है यह ज्ञात होता है ॥५०॥

प्रत्यगभिन्नब्रह्मगोचरस्य ज्ञानस्य कुतः परोक्षत्वमित्याशङ्क्य, प्रत्यगंशाग्रहणादित्याह—

अहं ब्रह्मेत्यनुल्लिख्य ब्रह्मास्तीत्येवमुल्लिखेत् ।
परोक्षज्ञानमेतन्न भ्रान्तं बाधानिरूपणात् ॥५१॥

अन्वयः—अहं ब्रह्म इत्यनुल्लिख्य ब्रह्म अस्तीति एवं उल्लिखेत् एतत् परोक्षज्ञानं बाधा निरूपणात् भ्रान्तं न ।

'अहं ब्रह्मेति' । नन्विदं भ्रान्तमित्याशङ्क्य, अस्य भ्रान्तत्वं किं बाध्यत्वात्, उत व्यक्त्यनुल्लेखात्, अथवा आपरोक्ष्येणग्रहणयोग्यस्य पारोक्ष्येण ग्रहणात्, यद्वा अंशाग्रहणात् ? इति चतुर्धा विकल्प्य, प्रथमं प्रत्याह 'एतदिति' ॥५१॥

हेतुं विवृणोति—

ब्रह्म नास्तीति मानं चेत्स्याद्बाध्येत तदा ध्रुवम् ।
न चैवं प्रबलं मानं पश्यामोऽतो न बाध्यते ॥५२॥

अन्वय :—ब्रह्म नास्तीति मानं चेत् स्यात् तदा ध्रुवम् बाध्येत एवं प्रबलं मानं न च पश्यामः अतः न बाध्यते ।

'ब्रह्म नास्तीति' ॥५२॥

यदि कहो प्रत्यक् आत्मा से अभिन्न जो ब्रह्म वह है विषय जिसका ऐसा ज्ञान परोक्ष कैसे हो सकता है यह शंका करके उत्तर-प्रत्यक् अंश के अग्रहण से परोक्षत्व का वर्णन करते हैं—

जिसमें "मैं ब्रह्म हूँ" यह कथन तो न हो केवल ब्रह्म है यह उल्लेख हो, वह परोक्षज्ञान है, वह भ्रान्तवाद नहीं है ब्रह्म का त्रिकाल में भी बाध का निरूपण नहीं कर सकते, ब्रह्म है इस ज्ञान की बाधा कभी नहीं होती ॥५१॥

जिसमें मैं ब्रह्म हूँ यह उल्लेख न हों ब्रह्म है यह उल्लेख हो वह परोक्षज्ञान होता है शंका करो वह भ्रम है क्या वह परोक्षज्ञान बाध योग्य होने ? (१) या ब्रह्म के आकार का प्रत्यक्ष न होने से (२) या अपरोक्ष रूप से जानने योग्य विषय ब्रह्म का परोक्षरूप से ग्रहण करने से (३) या प्रत्यक् अंश का ग्रहण न होने से (४) इन चार विकल्पों में से प्रथम विकल्प का विचार यहाँ आरम्भ हुआ । एतत् = ब्रह्म है यह ज्ञान भ्रम नहीं है । ब्रह्म का त्रिकाल में बाध नहीं होता ॥५१॥

इसमें हेतु को कहते हैं—

ब्रह्म नहीं है ऐसा सिद्ध करने वाला प्रमाण होता तो निश्चय ही परोक्षज्ञान का बाध हो जाता ऐसा प्रबल प्रमाण हम नहीं देखते, इसलिए ब्रह्म है --इस परोक्ष ज्ञान की बाधा नहीं होती ॥५२॥

द्वितीयमतिप्रसङ्गेन दूषयति—

व्यक्त्यनुल्लेखमात्रेण भ्रमत्वे स्वर्गधीरपि ।
भ्रान्तिः स्याद्व्यक्त्यनुल्लेखात्सामान्योल्लेखदर्शनात् ।

अन्वय :—व्यक्त्यनुल्लेखमात्रेण भ्रमत्वे स्वर्गधीरपि भ्रान्तिः स्यात् व्यक्त्यनुल्लेखात् सामान्योल्लेख दर्शनात् ।

'व्यक्तीति' । 'अयं स्वर्ग' इत्येवमाकारेण ग्रहणाभावात् किंतु 'स्वर्गोऽस्ति' इत्येवं सामान्याकारेण प्रतीतेः स्वर्गबुद्धेरपि भ्रमत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः ।।५३।।

तृतीयं निराकरोति—

अपरोक्षत्वयोग्यस्य न परोक्षमतिर्भ्रमः ।
परोक्षमित्यनुल्लेखादर्थात्पारोक्ष्यसंभवात् ।।५४।।

अन्वयः—अपरोक्षत्वयोग्यस्य परोक्षमतिर्भ्रमः न परोक्षं इत्यनुल्लेखात् अर्थात् पारोक्ष्यसंभवात् ।

'अपरोक्षत्वेति' । अपरोक्षत्वेन ग्रहणयोग्यस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मविषयस्य परोक्षज्ञानस्य भ्रमत्वं न संभवति । कुत इत्यत आह 'परोक्षमिति' । ब्रह्म परोक्षमित्येवमाकारेण ग्रहणाभावात् कुतस्तर्हि तस्य परोक्षत्वमित्याशङ्क्याह —'अर्थादिति' । 'इदं ब्रह्म' इत्येवं व्यक्त्युल्लेखाभावसामर्थ्यात्परोक्षत्वसिद्धिरिति भावः ।।५४।।

अब दूसरे पक्ष में दोष देते हैं कि—

यदि ब्रह्म की व्यक्ति (आकार) के अविषय करने मात्र से परोक्ष ज्ञान को भ्रान्त मानोगे तो स्वर्ग है इस प्रकार ज्ञान नहीं व्यक्ति का अग्रहण हेतु से किन्तु स्वर्ग है यह सामान्याकार बुद्धि होती है यह ज्ञान भी भ्रम कहलायेगा ।।५३।।

अब तृतीय विकल्प का निराकरण करते हैं

प्रत्यक्ष से जानने योग्य (प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्म) पहले परोक्ष से जान लेना भ्रम नहीं है, ब्रह्म परोक्ष है इस आकार से ज्ञान का अभाव है उसकी परोक्षता प्रतीत होती है इसका उत्तर- यह ब्रह्म है इस प्रकार व्यक्ति (ब्रह्म) के आकार का ज्ञान नहीं है इतने से ही ब्रह्म में परोक्षत्व की सिद्धि है ।।५४।।

चरममाशङ्कते—

अंशागृहीतेर्भ्रान्तिश्चेद्घटज्ञानं भ्रमो भवेत् ।
निरंशस्या सांशत्वं व्यावर्त्यांशविभेदतः ॥५५॥

अन्वय :– अंशागृहीतेः भ्रान्तिः चेत् घटज्ञानं भ्रमः भवेत् व्यावर्त्यांशविभेदतः निरंशस्यापि सांशत्वं (भविष्यति) ।

'अंशेति' । ब्रह्मांशग्रहणेऽपि प्रत्यगंशाग्रहणाद् भ्रमत्वमित्यर्थः । एवं तर्हि घटादिज्ञानस्यापि भ्रमत्वप्रसङ्ग इति परिहरति 'घटज्ञानमिति, आन्तरावयवानामग्रहणादिति भावः । ननु घटस्य सावयवत्वादंश ग्रहणेऽपि अंशाग्रहणं संभवति ब्रह्मणस्तु निरंशत्वात्कथमंशग्रहणसंभव इत्याशङ्क्य, व्यावर्त्यांशोपाधिनिमित्तकं सांशत्वं तस्य भविष्यतीत्याह – निरंशस्येति' ॥५५॥

कौ तौ व्यावर्त्यौ अंशौ ? इत्याकाङ्क्षायामाह—

असत्त्वांशो निवर्तेत परोक्षज्ञानतस्तथा ।
अभानांशनिवृत्तिः स्यादपरोक्षधिया कृता ॥५६॥

अन्वय : – परोक्षज्ञानतः असत्वांशो निवर्तेत तथा अपरोक्षधिया कृता अभानांशनिवृत्तिः स्यात् ।
'असत्त्वांश इति' ॥५६॥

अब चतुर्थ विकल्प के विषय में शंका और समाधान—

अंश के अज्ञान में भ्रम मानोगे तो घट ज्ञान भ्रम हो जायेगा और निरवयव भी निषेध के योग्य उपाधि के भेदन से सावयव हो जायेगा ॥५५॥

ब्रह्म अंश के अग्रहण में प्रत्यक अंश के अग्रहण से भ्रम मानोगे तो घट का ज्ञान भी ऐसे ही भ्रम हो जायेगा ? समाधान—घट के बहुत से मध्य के अवयवों का अग्रहण है यदि कहो कि घट तो सावयव पदार्थ है उसके एक अंश के ग्रहण के साथ-साथ कुछ अंशों का अग्रहण सम्भव है ब्रह्म तो निरवयव है उसके किसी एक अंश का ग्रहण किसी का अग्रहण सम्भव नहीं है, इसका उत्तर—यद्यपि ब्रह्म निरवयव है परन्तु व्यावर्त्य (निषेध) के योग्य अंशों (उपाधि के द्वारा) निरवयव सावयव मान लिया गया है निषेध के योग्य अंशों के निषेध होने से ब्रह्म ही शेष रहता है ॥५५॥

अब व्यावर्त्य अंशों को दिखाते हैं—

परोक्ष ज्ञान से तो असद्भावोपसम्पादक अज्ञानांश (असत्तारूप अंश की) निवृत्ति होती है और अपरोक्ष ज्ञान से अप्रतीति के सम्पादक अज्ञानांश (अभानांश) की निवृत्ति होती है ॥५६॥

अपरोक्षत्वेन ग्रहणयोग्यविषयं परोक्षज्ञानं भ्रमो न भवतीत्येतद्दृष्टान्तप्रदर्शनेनापि द्रढयति—

दशमोऽस्तीति विभ्रान्तं परोक्षज्ञानमीक्ष्यते ।
ब्रह्मास्तीत्यपि तद्वत्स्यादज्ञानावरणं समम् ॥५७॥

अन्वयः—दशमः अस्तीति परोक्षज्ञानं विभ्रान्तं ईक्षते तद्वत् ब्रह्मास्तीत्यपि समं अज्ञानावरणं स्यात् ॥५७॥

'दशम इति'। 'दशमोऽस्ति' इत्याप्तवाक्यजन्यं परोक्षज्ञानमभ्रान्तं यथा ब्रह्मास्ती'ति वाक्यजन्यज्ञानमपि तद्वदभ्रान्तं स्यात्। अज्ञानकृतस्य असत्त्वावरणांशस्य समत्वादिति भावः ॥५७॥

ननु वाक्यात्परोक्षज्ञानमुत्पद्यते चेत् अपरोक्षज्ञानं कुतो जायत इत्याशङ्क्य, विचारसहिताद्वाक्यादेवेत्याह—

आत्मा ब्रह्मे ति वाक्यार्थे निःशेषेण विचारिते ।
व्यक्तिरुल्लिख्यते यद्वद्दशमस्त्वमसीत्यतः ॥५८॥

अन्वयः - आत्मा ब्रह्मेति वाक्यार्थे निःशेषेण विचारिते यद्वद् दशमस्त्वमसीति अतः व्यक्तिः उल्लिख्यते ।

'आत्मेति'। 'अयमात्मा[1] ब्रह्म' (बृ० २।५।१९) इति महावाक्यार्थे सम्यग्विचार्यमाणे पूर्वमस्तीति परोक्षतयाऽवगतस्य ब्रह्मणः प्रत्यगभिन्नत्वं साक्षात्क्रियते। तत्र दृष्टान्तः—'यद्वदिति'। 'दशमस्त्वमसि' इत्यतो वाक्यात्स्वात्मनि दशमत्वं यथा साक्षात्क्रियते तद्वदित्यर्थः ॥५८॥

अपरोक्षता से ग्रहण योग्य है विषय है जिसका ऐसा परोक्षज्ञान भ्रम नहीं होता, इस बात को दृष्टान्त दिखाकर दृढ़ करते हैं—

दशवां है इस आप्त पुरुष के वाक्य से पैदा हुआ यह परोक्ष ज्ञान जैसे भ्रम नहीं है इसी प्रकार "ब्रह्म' है इस वाक्य से पैदा हुआ ज्ञान भी भ्रम नहीं है। अज्ञान से किया असत्व अंश का आवरण दोनों में समान है ॥५७॥

यदि कहो कि वाक्य से परोक्ष ज्ञान होता है तो अपरोक्ष ज्ञान किससे होता है, विचार सहित वाक्य से यह बताते हैं——

यह आत्मा ब्रह्म है, इस महावाक्य के सम्पूर्ण अर्थ का भली तरह विचार करने पर प्रथम

विशेष –(१) उत्तम अधिकारी को श्रवणादिक ज्ञान के साधन है और मध्यम अधिकारी को निर्गुण ब्रह्म का अहंग्रह उपासना ही ज्ञान का साधन है। यह सब अद्वैत ग्रन्थों का सिद्धान्त है। परन्तु दोनों स्थलों में वृत्ति का प्रवाह रूप प्रसंख्यान ही ज्ञान का करण रूप प्रमाण है — जैसे मध्यम अधिकारी को निर्गुणब्रह्माकार निरन्तर वृत्तिरूप उपासना कर्तव्य है, वही प्रसंख्यान है। वैसे ही उत्तम अधिकारी को भी श्रवण मनन के पीछे निदिध्यासनरूप प्रसंख्यान है, वही ब्रह्म साक्षात् कारण करण (असाधारण कारण है)।

विचारसहकृतेन वाक्येन अपरोक्षज्ञानोत्पत्तिप्रकारं सदृष्टान्तमाह—

दशमः क इति प्रश्ने त्वमेवेति निराकृते।
गणयित्वा स्वेन सह स्वमेव दशमं स्मरेत् ॥५९॥

अन्वयः—दशमः क इति प्रश्ने त्वमेवेति निराकृते स्वेन सह गणयित्वा स्वं एव दशमं स्मरेत् ।

'दशम इति' त्वयाऽस्तीति निरूपितो दशमः कः ? इति प्रश्ने कृते, तस्य 'त्वमेव' इति परिहारेऽभिहिते स्वात्मना सह इतरान्नव गणयित्वा 'अहं दशमोऽस्मि' इति स्वमेव दशमं स्मरेदित्यर्थः ॥५९॥

ब्रह्म है, परोक्ष रूप से जाना तो ब्रह्म है वहीं अन्तरात्मा से अभिन्न (एक) प्रत्यक्ष[1] हो जाता है। अब इसमें दृष्टान्त कहते हैं—जैसे दसवाँ तू है । इस वाक्य[3] से अपने आप में दशमपना प्रत्यक्ष हो जाता है ॥५८॥

विचार सहित वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान के प्रकार को दृष्टान्त से समझाते हैं—

तुम में से दशवाँ है इस वाक्य से बताया, दशवाँ कौन सा है इस प्रश्न के उत्तर में तू ही दशम है ऐसे आप्त पुरुष द्वारा कहने पर अपने सहित दूसरे नौ पुरुषों को गिनकर स्मरण कर अपने आप को ही दशम मान लेता है। इस प्रकार विचार सहित वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥५९॥

---

(२) वेदान्त महावाक्यरूप शब्द ही ब्रह्म के साक्षात्कार का कारण है तथा निदिध्यासन रूप प्रसंख्यान से जन्य एकाग्रमन उसका सहकारी है—संक्षेप शा० के मत में महावाक्य ही अपरोक्ष ज्ञान का हेतु है । किन्तु अन्य वेदान्तग्रन्थकार विचार सहित महावाक्य को अपरोक्षज्ञान का हेतु मानते हैं। इस प्रकार प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मगोचर प्रमाण ज्ञान का करण महावाक्य रूप शब्द प्रमाण है और उस प्रमाण से अपरोक्षज्ञान की उत्पत्ति होती है यह कहना उचित है।

(३) दशम का ज्ञान शब्द प्रमाण जन्य है नेत्र और मन उसके सहकारी हैं क्योंकि दशम शरीर रूप है, वह नेत्र से अतिरिक्त दूसरी किसी इन्द्रिय से तो प्रत्यक्ष हो सकता नहीं। पर आँख मींच कर बैठे पुरुष को भी "तू दशम" दशम है इस वाक्य को सुनकर दशम का ज्ञान हो जाता है। अतएव दशम का ज्ञान आँख से भी नहीं होता। मन में तो बाह्य पदार्थ के ज्ञान का सामर्थ्य ही नहीं है। आन्तर पदार्थों के ज्ञान का सामर्थ्य है। दशम का ज्ञान शब्द प्रमाण जन्य है नेत्र, मन सहकारी है।

अस्य 'दशमोऽस्मि' इति ज्ञानस्य विचारसहितवाक्यजनितत्वात् न विपर्ययादिरूपतेत्याह—

दशमोऽस्मीति वाक्योत्था न धीरस्य विहन्यते ।
आदिमध्यावसानेषु न नवत्वस्य संशयः ॥६०॥

अन्वयः—दशमोस्मीति वाक्योत्था धीः अस्य न विहन्यते आदिमध्यावसानेषु नवत्वस्य संशयः न ।

'दशम इति' । अस्य दशमस्य 'त्वमेव दशमोऽसि' इति वाक्यात्परिगणनादिलक्षणविचारसहिता दुत्पन्नः 'अहं दशमोऽस्मि' इति बुद्धिर्न विहन्यते न केनापि ज्ञानेन बाध्यते । परिगणनक्रियायां च नवानामादिमध्यावसानेषु परिगणनेऽपि 'अहं दशमो न वा ?' इति संशयश्च न भवेत्, अतः सा दृढापरोक्षरूपेत्यर्थः ॥६०॥

एतत्सर्वं दार्ष्टान्तिके योजयति—

सदेवेत्यादिवाक्येन ब्रह्मसत्त्वं परोक्षतः ।
गृहीत्वा तत्त्वमस्यादिवाक्याद्व्यक्तिं समुल्लिखेत् ॥६१॥

अन्वयः—'सदेव'इत्यादिवाक्येन ब्रह्मसत्त्वं परोक्षतः गृहीत्वा 'तत्त्वमसीति' इत्यादि वाक्यात् व्यक्तिं समुल्लिखेत् ।

'सदेवेत्यादिति' । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इत्यादिवाक्येन ब्रह्मसद्भावं प्रथमं निश्चित्य, तस्य जीवरूपेण प्रवेशादियुक्तिपर्यालोचनया प्रत्यग्रूपत्वं संभाव्य, 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।२) इत्यादिवाक्येन अद्वितीयब्रह्मरूपमात्मानं 'अहं ब्रह्मास्मी'ति साक्षात्कुर्यात् ॥६१॥

फिर मैं दशवाँ हूँ इस ज्ञान को विचार सहित वाक्य से उत्पन्न होने से विपरीत भावना आदि से खण्डित नहीं होता—

इस दशम पुरुष का तू ही दशम है इस गिनती रूप विचार सहित इस वाक्य से पैदा हुई जो मैं दशवाँ हूँ यह बुद्धि वह किसी ज्ञान से भी नष्ट नहीं होता और गिनती करने में नौ मनुष्यों के आदि मध्य अन्त में गिनने पर भी मैं दशवाँ हूँ या नहीं यह संशय उसको नहीं होता है । इससे वह अपरोक्ष बुद्धि दृढ़ है ॥६०॥

इस पूर्वोक्त सबको दार्ष्टान्तिक में दिखाते हैं—

यह जगत् पहले एक ही अद्वितीय सत् था इत्यादि वाक्य से पहले ब्रह्म की सत्ता का (सत् भाव) का परोक्ष ज्ञान से निश्चय करके और फिर जीव रूप से प्रवेश आदि युक्तियों के पर्यालोचन द्वारा उसके प्रत्यक् रूप की सम्भावना करके तत्त्वमसि आदि महावाक्यों से अद्वितीय ब्रह्म रूप आत्मा को 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसे साक्षात् जाने ॥६१॥

आदिमध्यावसानेषु स्वस्य ब्रह्मत्वधीरियम् ।
नैव व्यभिचरेत्तस्मादापरोक्ष्यं प्रतिष्ठितम् ॥६२॥

अन्वयः—इयं स्वस्य ब्रह्मत्वधीः (कोशानां) आदिमध्यावसानेषु नैव व्यभिचरेत् तस्मात् आपरोक्ष्यं प्रतिष्ठितम् ।

'आदिमध्येति' । अत इयमात्मनो ब्रह्मत्वबुद्धिः पञ्चानां कोशानामादिमध्यावसानेष्वात्मनो व्यवहारेऽपि नैवान्यथा भवति, अतोऽस्या बुद्धेरपरोक्षज्ञानत्वं सुस्थितमित्यर्थः ॥६२॥

नन्वेवं प्रथमतः केवलं वाक्यात्परोक्षज्ञानमुत्पद्यते, पश्चात् विचारसहितादपरोक्षज्ञानमित्येतत्कुतोऽवगम्यत इत्याशङ्क्य, 'तैत्तिरीयका'दिश्रुत्यर्थपर्यालोचनयेत्याह—

जन्मादिकारणत्वाख्यलक्षणेन भृगुः पुरा ।
पारोक्ष्येण गृहीत्वाथ विचाराद्व्यक्तिमैक्षत ॥६३॥

अन्वयः—भृगुः पुरा जन्मादिकारणत्वाख्यलक्षणेन पारोक्ष्येण गृहीत्वा अथ विचारात् व्यक्तिंऐक्षत ।

'जन्मादीति' । भृगुनामकः कश्चिदृषिः पुरा "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति" (तै० ३।१) इति वाक्यश्रुतेन जगज्जन्मादिकारणत्वाख्यलक्षणेन जगत्कारणं ब्रह्म परोक्षतयाऽवगत्य, अन्नमयादिपञ्चकोशविचाराद्व्यक्तिं प्रत्यगात्मरूपं ब्रह्म दृष्टवानित्यर्थः ॥६३॥

यह अपनी आत्मा की ब्रह्म बुद्धि पूर्वोक्त (पांचों कोशों के) आदि मध्य और अन्त में कहीं भी आत्मा का व्यवहार होने पर विपरीत नहीं होती अर्थात् अन्यथा नहीं होती, इसलिए इस बुद्धि की अपरोक्षता निश्चित स्थित है ।।६२।।

इस प्रकार प्रथम वाक्य से परोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, और पश्चात् विचार सहित वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान होता है, इसको तैत्तिरीय आदि श्रुति से दिखाते हैं—

पहले समय में भृगु ऋषि, जन्म आदि के कारण रूप लक्षण से परोक्ष ज्ञान से ब्रह्म को जानकर विचार से ब्रह्म का साक्षात्कार किया ।।६३।।

जिससे निश्चय ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर जिसके आश्रय से ये जीवित रहते हैं और अन्त में विनाशोन्मुख हो करके जिसमें लीन हो जाते हैं । उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा कर, वही ब्रह्म हैं । इस वाक्य से सुने जगत् के कारण आदि लक्षण से जगत् के कारण ब्रह्म को परोक्षरूप से जानकर फिर विचार से व्यक्ति अन्नमयादि पांचों कोशों के विचार से प्रत्यगात्म रूपी ब्रह्म का साक्षात्कार किया था ।।६३।।

नन्वस्मिन्प्रकरणे त्वं ब्रह्मासी' त्येवमाद्युपदेशवाक्याभावात्कथं भृगोरात्मसाक्षात्कार इत्याशङ्क्य, आत्मसाक्षात्कारहेतुविचारयोग्यस्थलप्रदर्शनादित्याह—

यद्यपि त्वमसीत्यत्र वाक्यं नोचे भृगोः पिता ।
तथाप्यन्नं प्राणमिति विचार्यं स्थलमुक्तवान् ॥६४॥

अन्वयः - यद्यपि भृगोः पिता त्वमसीत्यत्र वाक्यं नोचे तथापि अन्नं प्राणं इति विचार्यं स्थलं उक्तवान् । 'यद्यपीति' ॥६४॥

नन्वन्नमयादिकोशेषु विचारितेषु प्रतीचः साक्षात्कारो भवतु, ब्रह्मणस्तु कथमित्याशङ्क्य, प्रतीच एव ब्रह्मत्वात्पञ्चकोशविचारेण आनन्दात्मव्यक्तिं साक्षात्कृत्य 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तै० ३।६) इत्येवं ब्रह्मलक्षणमपि प्रतीच्येव योजितवानित्याह—

अन्नप्राणादिकोशेषु सुविचार्य पुनः पुनः ।
आनन्दव्यक्तिमीक्षित्वा ब्रह्मलक्ष्माप्ययूयुजत् ॥६५॥

अन्वयः—अन्नप्राणादिकोशेषु पुनः पुनः सुविचार्यआनन्द व्यक्तिं ईक्षित्वा ब्रह्मलक्ष्मापि अयूयुजत् । 'अन्नप्राणादीति' ॥६५॥

परन्तु इस प्रकरण में तू ब्रह्म है इत्यादि उपदेश वाक्य नहीं है इससे भृगु को कैसे ब्रह्म साक्षात्कार हुआ यह शंका कर उत्तर देते हैं—कि आत्म साक्षात्कार का हेतु विचार करने योग्य स्थल का उपदेश वरुण ऋषि ने किया था इसी कारण भृगु को आत्म बोध हुआ ऐसा कहते हैं—

यद्यपि इस प्रकरण में भृगु के पिता ने 'तू ही ब्रह्म है' ऐसा कोई उपदेश नहीं दिया तथापि—'अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचं इति (तै० ३।१) शरीर, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन और वाक् ये ब्रह्म की उपलब्धि के द्वार हैं । आत्म साक्षात्कार के हेतु विचार के योग्य स्थलों का निर्देश कर दिया था ॥६४॥

यदि कहो कि अन्नमय आदि कोशों के विचार से तो प्रत्यक् (जीव) का साक्षात्कार सम्भव है । फिर ब्रह्म का साक्षात्कार कैसे हुआ इस शंका का उत्तर कहते हैं । प्रत्यक् (जीव) ही ब्रह्म है पञ्चकोशों के विचार से आनन्द रूप आत्म व्यक्ति को जानकर आनन्द से ही ये भूत पैदा होते हैं और पैदा होकर आनन्द से जीते हैं और आनन्द में ही प्रलय होकर प्रवेश करते हैं । इस प्रकार के जो ब्रह्म के लक्षण उनको प्रत्यक् (जीव) में भी भृगु ने लगा लिया था—

अन्नमय, प्राणमय आदि कोशों में बारम्बार भली भाँति विचार कर आनन्द रूप प्रत्यगात्मा को देखकर ब्रह्म के लक्षण को भी प्रत्यगात्मा में घटाया था ॥६५॥

ननु ब्रह्मलक्षणस्य आनन्दात्मरूपेण प्रतीचि योजनं न घटेत, ब्रह्मणस्तटस्थत्वेन प्रतीचो भिन्नत्वादित्याशङ्क्य, न भेदः। सत्यादिलक्षणस्य ब्रह्मणः प्रत्यग्रूपेण अवस्थानश्रवणादित्याह—

सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्येवं ब्रह्मस्वलक्षणम्।
उक्त्वा गुहाहितत्वेन कोशेष्वेतत्प्रदर्शितम् ॥६६।

अन्वय : सत्यं ज्ञानं अनन्तं च इति एवं ब्रह्मस्वलक्षणं उक्त्वा गुहाहितत्वेन कोशेषु एतत् प्रदर्शितं।

'सत्यमिति'। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्येवं ब्रह्मस्वलक्षणं ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणमभिप्राय, 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' (तै० २।१) इत्यनेन वाक्येन पञ्चकोशगुहान्तः स्थितत्वेन तस्यैव प्रत्यग्रूपत्वमभिहितमित्यर्थः ॥६६॥

यदि कहो कि आनन्दात्म रूप ब्रह्म का लक्षण प्रत्यक् में नहीं मिलता, क्योंकि तटस्थ ब्रह्म प्रत्यक् से भिन्न है ऐसी आशंका कर उत्तर देते हैं—प्रत्यगात्मा ब्रह्म में भेद नहीं है। सत्यादि लक्षण ब्रह्मप्रत्यक् रूप से अवस्थान होना सुना जाता है इस प्रकार कहते हैं—

सत्य, ज्ञान, अनन्त, रूप, ब्रह्म के लक्षणों को कहकर पञ्चकोश रूप गुहाओं में स्थित प्रत्यक् को ही ब्रह्म रूप दिखाया है ॥६६॥

सत्य ज्ञान, अनन्त रूप जो ब्रह्म के[1] स्वरूप का लक्षण[2] है उसका वर्णन करके जो परम आकाश रूप गुहा में स्थित ब्रह्म को जानता है इस वाक्य से पञ्चकोश रूप गुहा के मध्य में स्थित उस ब्रह्म को ही प्रत्यक् रूप कहा है ॥६६॥

विशेष –(१) साधारण एकवर्ति) धर्म को लक्षण कहते हैं। सजातीयविजातीयेभ्यो हि व्यावर्तकं लक्षणं सजातीयों और विजातीयों से लक्ष्यका भेद करने वाला लक्षण कहलाता है। सजातीय जल आदि चारों भूतों से पृथ्वी का भेद विजातीय आत्मा आदि से भी पृथ्वी का भेद करता है।

(२) (१) असम्भव (२) अव्याप्ति (३) अतिव्याप्ति इन तीन दोषों से रहित धर्म को असाधारण धर्म कहते हैं, वह लक्षण दो प्रकार का है (१) तटस्थ (२) स्वरूपलक्षण (१) तद्भिन्नत्वे सति तद्बोधकत्वम्० उसके स्वरूप से पृथक् होता हुआ उसका बोधक काक-युक्त देवदत्त का घर है। कदाचित् हुआ व्यावर्तक अन्यों से भेद कराने वाला यही उपलक्षण भी है। यतो वाइमानि भू० यह तटस्थ लक्षण जन्माद्यस्य यतः (१।१।२ ब्र० सू०) जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय की कारणता और उससे उपलक्षित सर्वज्ञता आदिक युक्त ब्रह्म में कदाचित् अज्ञान दशा में वर्तता हुआ माया उसके कार्यों से ब्रह्म का व्यावर्तक

एवं 'तैत्तिरीय' श्रुतिपर्यालोचनया भृगोः परोक्षज्ञानपूर्वकविचारजन्यत्वं साक्षात्कारस्य दर्शयित्वा 'छान्दोग्य' श्रुतिपर्यालोचनेनापि तद्दर्शयति--

पारोक्ष्येण विबुध्येन्द्रो य आत्मेत्यादिलक्षणात् ।
अपरोक्षीकर्तुमिच्छंश्चतुर्वारं गुरुं ययौ ॥६७॥

अन्वय :--इन्द्रः यः आत्माइत्यादिलक्षणात् पारोक्ष्येण विबुध्य अपरोक्षीकर्तुं इच्छन् गुरुं (ब्रह्माणं) चतुर्वारं ययौ ।

'पारोक्ष्येणेति' । इन्द्रः 'य आत्माऽपहतपाप्मा[1] विजरो विमृत्युर्विशोकः' (छा० ८।७।१) इत्यादि-वाक्यप्रतिपादितेन लक्षणेनात्मानं परोक्षतयाऽवगत्य विचाराच्छरीरत्रयनिराकरणेन तत्साक्षात्करणाय गुरुं ब्रह्माणं चतुर्वारमुपसन्न इति छान्दोग्योपनिषदि अष्टमाध्याये श्रूयते ॥६७॥

इस प्रकार तैत्तिरीय श्रुति के देखने से भृगु को परोक्षज्ञानद्वारा विचार से साक्षात्कार को दिखाकर छान्दोग्य की श्रुति से भी साक्षात्कार को दिखाते हैं—

इन्द्र आत्मा इत्यादि लक्षणों से परोक्षरूप से ब्रह्म को जानकर अपरोक्ष करने के लिए चार बार ब्रह्मा के समीप गये ॥६७॥

"देवराज इन्द्र जो आत्मा पाप रहित जरा मृत्यु शोक इनसे हीन" इत्यादि वाक्य से आत्मा को परोक्ष रूप से जानकर विचार से तीनों शरीरों के निराकरण द्वारा ब्रह्म को साक्षात् करने के लिए चार बार ब्रह्मा रूप गुरु के पास गया था ॥६७॥

इसे वह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है (२) स्वरूप लक्षण स्वरूपं सद् व्यावर्तकम् यथा पृथिव्याः पृथिवीत्वम्--स्वरूप होता हुआ अन्य पदार्थों से भेद करने वाला जैसे पृथिवी का पृथिवीत्व है । सर्वदावर्तता हुआ रहे व्यावर्तक होता है--यह स्वरूप लक्षण है । जैसे श्वेत रंग युक्त देवदत्त का गृह--इसमें श्वेत रंग युक्त लक्षण है अन्य नील, पीत, लालयुक्त गृहों से देवदत्त के गृह का व्यावर्तक इसी प्रकार 'सत्यं ज्ञानमनन्तंब्रह्म के स्वरूप होने से सब काल में रहते हैं । अन्य-असत्-जड-दुःख परिच्छिन्न (यही तो दुःख रूप है) । प्रपञ्च से व्यावर्तक है यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है ।

विशेष--(१) कर्म और उसके आश्रय स्थूल-सूक्ष्म शरीरों के संग से रहित --अपहृत पाप्मा है ।

इदानीं 'ऐतरेय' श्रुतावपि तद्दर्शयति —

आत्मा वा इदमित्यादौ परोक्षं ब्रह्म लक्षितम् ।
अध्यारोपापवादाभ्यां प्रज्ञानं ब्रह्म दर्शितम् ॥६८॥

अन्वय :—आत्मा वा इदं इत्यादौ परोक्षं ब्रह्म लक्षितं अध्यारोपापवादाभ्यां प्रज्ञानं ब्रह्म दर्शितम् ।

'आत्मा वा इति'। आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्' (ऐ० १।१।१) इत्यनेन वाक्येन ब्रह्मणो लक्षणमभिधाय, स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति' (ऐ० ४।१।२) इत्युपक्रम्य' तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथः' (ऐ० ४।३।१२) इत्यनेन परमात्मनि जगदध्या-रोपणप्रकारमभिधाय 'स जातो भूतान्यभिव्यैक्षत किमिहान्यं वावदिषत्' (ऐ० ४।३।१२) इति तस्यारोपि-तस्य अपवादमभिधाय 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यदिदमदर्शमिति' (ऐ० ४।३।१२) इति प्रत्यगात्मनो ब्रह्मस्वरूपत्वमभिहितम् । पुनश्च 'पुरुषे ह वा' (ऐ० ५।४।१) इत्यादिना ज्ञानसाधनवैराग्यजननाय गर्भवासादिदुःखं प्रदर्श्य 'कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे' (ऐ० ६।५।१) इत्यादिना विचारेण 'तत्त्वं' पदार्थ-परिशोधनपुरःसरं 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐ० ६।५।३) इति प्रज्ञानरूपस्यात्मनो ब्रह्मत्वं दर्शितमित्यर्थः ॥६८॥

अब ऐतरेय श्रुति से भी यही दिखाते हैं —

आत्मा 'वैइदं०' इत्यादि श्रुति में परोक्ष ब्रह्म दिखाया, फिर अध्यारोप और अपवाद से प्रज्ञानं ब्रह्म दिखाया है ॥६८॥

पहले यह जगत् एकमात्र आत्मा ही था । उसके सिवा और कोई सक्रिय वस्तु नहीं थी। (ऐ० १।१।१) इस वाक्य से ब्रह्म का लक्षण वर्णन किया है, फिर उसने यह सोचा कि लोकों की रचना करूँ, इसको आरम्भ करके, उस ईश्वर के यह आवसथ (नेत्र) यह आवसथ (कण्ठ) यह आवसथ (हृदय) इस प्रकार उसके तीन आवसथ (वासस्थान) और स्वप्न हैं । इस वाक्य से परमात्मा में जगत् के अध्यारोप के प्रकार को बताकर शरीर में प्रवेश करके जीव रूप से) उत्पन्न हुए उस परमेश्वर ने भूतों को (तादात्म्य भाव से) ग्रहण किया । इस वाक्य से आरोप का निषेध कहकर (और गुरु कृपा से बोध होने पर) यहाँ 'मेरे सिवा' अन्य कौन है ऐसा कहा और मैंने इसे (अपने आत्मस्वरूप को देख लिया) इस प्रकार उसने इस पुरुष को ही पूर्णतम ब्रह्म रूप से देखा । इस प्रकार प्रत्यगात्मा को ब्रह्म रूप से कहा है । फिर भी सबसे पहले यह पुरुष शरीर में ही गर्भरूप से रहता है । इत्यादि वाक्य से ज्ञान के साधन वैराग्य को उत्पन्न करने के लिए गर्भवास आदि दुःखों को दिखा करके हम जिसकी उपासना करते हैं । वह यह आत्मा कौन है इत्यादि वाक्य से विचार के द्वारा तत् त्वं पदार्थों का शोधन करते हुए अतः प्रज्ञान ही ब्रह्म है इस श्रुति से प्रज्ञान रूप आत्मा को ब्रह्मता दिखायी है ॥६८॥

उक्तन्यायमितरासु श्रुतिष्वप्यतिदिशति—

अवान्तरेण वाक्येन परोक्षा ब्रह्मधीर्भवेत् ।
सर्वत्रैव महावाक्यविचारादपरोक्षधीः ॥६६॥

अन्वयः– अवान्तरेण वाक्येन परोक्षब्रह्मधीः भवेत् सर्वत्र व महावाक्यविचारात् अपरोक्ष धीः (भवेत्) ।
'अवान्तरेणेति । सर्वत्र सर्वासु श्रुतिष्वित्यर्थः ॥६६॥

ननु महावाक्यविचारस्य अपरोक्षज्ञानजनकत्वं स्वकपोलकल्पितमित्याशङ्क्य, वाक्यवृत्तौ आचार्यैस्तथा प्रतिपादितत्वान्मैवमित्याह—

ब्रह्मापरोक्ष्यसिद्ध्यर्थं महावाक्यमितीरितम् ।
वाक्यवृत्तावतो ब्रह्मापरोक्ष्ये विमतिर्नहि ॥७०॥

अन्वयः—ब्रह्मापरोक्ष्यसिद्ध्यर्थं इति महावाक्यं ईरितम् वाक्यवृत्तौ ब्रह्मापरोक्ष्ये अतः विमतिर्नहि ।
'ब्रह्मापरोक्ष्ये इति । अतो वाक्याद् ब्रह्मपरोक्षज्ञाने विप्रतिपत्तिर्नास्तीत्यर्थः ॥७०॥

अन्य श्रुतियों में भी इसी न्यास को दिखाते हैं—

इस प्रकार सभी श्रुतियों में अवान्तर (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म) वाक्य से तो ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान होता है और महावाक्यों के विचार से तो सर्वत्र ही अपरोक्ष[1] ज्ञान होता है ॥६६॥

यदि कहो महावाक्य के विचार से अपरोक्ष ज्ञान होता है यह अपने कपोल से कल्पित है ऐसी आशंका कर उत्तर देते हैं कि वाक्य वृत्ति में आचार्य शंकर ने 'महावाक्यों के विचार से अपरोक्ष ब्रह्म ज्ञान उत्पन्न होता है' यह प्रतिपादन किया है, अतः ऐसी शंका मत करो, इस पर कहते हैं

वाक्य वृत्ति ग्रन्थ में आचार्य ने यह कहा है कि ब्रह्म की अपरोक्षता की सिद्धि के लिए जो यह महावाक्य कहा है। इससे महावाक्य से पैदाहुए अपरोक्ष ज्ञान में विवाद नहीं होता यह निर्विवाद है ॥७०॥

विशेष १—(१) अभिज्ञा और (२) प्रत्यभिज्ञा के भेद से दो प्रकार की है (१) प्रत्यक्ष ज्ञान की सामग्री से जन्य ज्ञान अभिज्ञा प्रत्यक्ष है (२) और संस्कारसहित प्रत्यक्ष ज्ञान की सामग्री से जन्य ज्ञान प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष है इनमें से प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान बाह्य आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है। इनमें बाह्य प्रत्यक्ष ज्ञान-शब्दज्ञान, स्पर्शज्ञान, रूपज्ञान, रसज्ञान, गन्धज्ञान के भेद से बाह्य प्रत्यक्ष प्रमा पांच ज्ञानेन्द्रियों ये हैं और आभ्यन्तर प्रत्यक्ष ज्ञान (आत्म गोचर और अनात्म गोचर सुख दुःखदि) भेद से दो प्रकार का है। इनमें आत्म गोचर प्रमा भी विशिष्टात्म (मैं जीव कर्ता भोक्ता आदि रूप) गोचर और शुद्धात्म गोचर प्रत्यक्ष ज्ञान भी त्वं पदार्थ गोचर, तत् पदार्थ गोचर, तत् पदार्थ से अभिन्न त्वं पदार्थ गोचर, भेद से तीन प्रकार का अर्थात् अहं ब्रह्मास्मि यह प्रत्यक्ष ज्ञान शुद्ध आत्म विषयक है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान का संक्षेप से लक्षण सहित भेद दिखलाया।

वाक्यवृत्तौ उपपादनप्रकारं दर्शयति—

आलम्बनतया भाति योऽस्मत्प्रत्ययशब्दयोः ।
अन्तःकरणसंभिन्नबोधः स त्वंपदाभिधः ॥७१॥

अन्वयः- यः अस्मत्प्रत्ययशब्दयोः आलम्बनतया भाति अन्तःकरणसंभिन्नबोधः स त्वं पदाभिधः ।

'आलम्बनतयेति । योऽन्तःकरणसंभिन्नबोधः अन्तःकणोपाधिकश्चिदात्मा अस्मत्प्रत्ययशब्दयोः अहमिति ज्ञानस्य अहमिति शब्दस्य चालम्बनतया विषयत्वेन भाति, स तथाविधो बोधः त्वंपदाभिधः 'त्वम्' इति पदमभिधा वाचकं यस्य स त्वंपदाभिधः, त्वंपदवाच्य इत्यर्थः ॥७१॥

अब वाक्य वृत्ति के कथन का प्रकार वर्णन करते हैं—

जो अन्तःकरणोपाधि बोध (चिदात्मा) में इस ज्ञान और अहं इस शब्द के विषय रूप में प्रतीत होता है वह बोध त्वं पद का वाच्य (अर्थ) है ॥७१॥

विशेष १ -- जैसे घट यह वृत्ति और शब्द घट, और शब्द का विषय घट । वहाँ घट यह वृत्ति अन्तःकरण में स्थित है और घट यह शब्द वाणी में स्थित है और घट विषय पृथ्वी में स्थित है यह तीनों भिन्न हैं । वैसे अहं यह वृत्ति और अहं इस शब्द का विषय अन्तःकरण विशिष्ट चेतन रूप जीव है और वहाँ.अहं यह वृत्ति अन्तःकरण में स्थित है और अहं शब्द यह वाणी में स्थित है और इन दोनों का विषय अन्तःकरण विशिष्ट चेतन स्वमहिमा में स्थित है इससे अहं वृत्ति अहं शब्द से न्यारा है । यद्यपि अहं वृत्ति को अन्तःकरण के अन्तर्गत होने से भिन्नता सम्भव नहीं । तथापि घटत्व और घटाकाशत्व रूप धर्म से और घटाकाश भेद की तरह अन्तः-करण और जीव का भेद व्यवहार होता है इसी से अहं वृत्ति का जीव से भेद है और अहं शब्द का लक्ष्यार्थ अहं वृत्ति का प्रकाशक कूटस्थ चैतन्य तो अहं वृत्ति से सर्वदा भिन्न है । यह अर्थ प्रसंग से बताया ।

एवं 'त्वं' पदवाच्यार्थमभिधाय, 'तत्' पदवाच्यार्थमाह—

मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः ।
पारोक्ष्यशबलः सत्याद्यात्मकस्तत्पदाभिधः ।।७२।।

अन्वयः—सर्वज्ञत्वादिलक्षणः मायोपाधि जगद्योनिः पारोक्ष्यशबलः सत्याद्यात्मकः तत् पदाभिधः (स्यात् ।

,मायोपाधिरिति' । पारोक्ष्यशबलः परोक्षत्वधर्मविशिष्ट इत्यर्थं । एवं तटस्थलक्षणमभिधाय, स्वरूपलक्षणमाह –'सत्याद्यात्मक इति' । सत्यमादिर्येषां ज्ञानादीनां ते सत्यादयः आत्मा स्वरूपं यस्य स तथाविधः 'तत्' पदाभिधः 'तत्' पदमभिधा वाचकं यस्य सः तत्पदाभिधः, तत्पदवाच्य इत्यर्थः ।।७२।।

एवं पदार्थाविभिधाय, वाक्यार्थबोधनाय लक्षणावृत्तिराश्रयणीयेत्याह—

प्रत्यक्त्वपरोक्षतैकस्य सद्वितीयत्वपूर्णता ।
विरुध्येते यतस्तस्माल्लक्षणा संप्रवर्तते ।।७३।।

अन्वयः—प्रत्यक्परोक्षता सद्वितीयत्वपूर्णता यतः एकस्य विरुध्येते तस्मात् लक्षणा संप्रवर्तते ।

'प्रत्यक्परोक्षतेति' । प्रत्यक्परोक्षत्वे सद्वितीयत्वेन सहिता पूर्णतेति मध्यमपदलोपी समासः । सद्वितीयत्वपूर्णत्वे चैकस्य वस्तुनो यतो विरुध्येते अतो लक्षणावृत्तिराश्रयणीयेत्यर्थः ।।७३।।

अब त्वं पद के वाच्य अर्थ को कहकर तत् पद के अर्थ को कहते हैं—

माया उपाधि वाला जगत का कारण (निमित्त और उपादान) सर्वज्ञ आदि लक्षण वाला परोक्षतारूपधर्मविशिष्ट (इन तटस्थ लक्षणों वाला) और जो सत्य आदि स्वरूप वाला, अर्थात् सत् चित् आनन्द वाला है (यह स्वरूप लक्षण है , वह तत् पद का वाच्यार्थ है ।।७२।।

इस प्रकार पदों के अर्थों को कहकर वाक्यार्थ बोध के लिए लक्षणावृत्ति का आश्रयण आवश्यक है इस पर कहते हैं—

एक ही वस्तु 'प्रत्यक" भी तथा 'परोक्ष' भी हो वही वस्तु सद्वितीय (परिच्छिन्न) भी हो तथा पूर्ण भी हो ये दोनों बातें, क्योंकि विरुद्ध है । इसलिए वाक्य का अभिप्राय स्पष्ट करने के लिए लक्षणावृत्ति का आश्रय लेना पड़ता है ।।७३।।

विशेष—सत्यानन्दरूपश्चिदात्मा माया साक्षी - जो परब्रह्मसत्य रूप है आनन्द रूप है तथा चिदात्मा स्वरूप है ,यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण हुआ । माया का साक्षी कहने से ब्रह्म का तटस्थ लक्षण हुआ ।

सा च कीदृशी इत्यत आह—

तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा ।
सोऽयमित्यादिवाक्यस्थपदयोरिव नापरा ॥७४॥

अन्वयः—तत्त्वमस्यादिवाक्येषु भागलक्षणा लक्षणा सोऽयं इत्यादि वाक्यस्थपदयोः इव अपरा न ।

'तत्त्वमस्यादीति' । भागलक्षणा भागत्यागलक्षणेत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः—'सोऽयमिति' । 'सोऽयं देवदत्त' इति वाक्यस्थयोः 'सोऽयम्' इति पदयोर्यथा जहदजहल्लक्षणावृत्तिराश्रिता नापरा, न जहल्लक्षणा, नाप्यजहल्लक्षणा, तद्वदत्रापीत्यर्थः ॥७४॥

ननु 'गामानय' इत्यादिवाक्येषु लक्षणावृत्या विनापि वाक्यार्थबोधो दृश्यते, तद्वदत्रापि किं न स्यादित्याशङ्क्याह—

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र संमतः ।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः ॥७५॥

अन्वय : संसर्गोवा विशिष्टो वा वाक्यार्थः अत्र संमतः न (किंतु) अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थः विदुषां मतः ।

'संसर्ग इति' । लोके 'गामानय' इत्यादौ पदैः स्मारितानां आकाङ्क्षादिमतां गवादिपदार्थानामन्वयो वाक्यार्थत्वेनाङ्गीकृतः यथा 'नीलं महत्सुगन्ध्युत्पलम्' इत्यादौ नीलत्वादिविशिष्टस्योत्पलस्य वाक्यार्थत्वं स्वीकृतम्, नैवमत्र महावाक्येषु संसर्गविशिष्टयोरन्यतरस्य वाक्यार्थत्वमभ्युपगम्यते, किंतु अखण्डैकरसत्वेन स्वगतादिभेदशून्यवस्तुमात्ररूपेण वाक्यार्थो विद्वद्भिरभ्युपेयते. अतो लक्षणा आश्रयणीयेत्यर्थः ॥७५॥

वह लक्षणा यहाँ किस प्रकार की है यह बताते हैं—

तत्त्वमसि आदि महावाक्यों में भाग त्याग लक्षणा मानी गयी है । दृष्टान्त सोऽयं देवदत्त इत्यादि वाक्यों में स्थित पदों के समान जहद-जहत् लक्षणा होती हैं और न जहत् लक्षणा न अजहत् लक्षणा होती हैं । वैसे ही तत् त्वं आदि वाक्यों में भी भाग त्याग लक्षणा ही है ॥७४॥

यदि कहो कि गाम् आनय' (गौ को ले आ) इत्यादि वाक्यों में लक्षणावृत्ति के बिना भी जैसे वाक्यार्थ बोध को देखते हैं । वैसे ही ''तत्त्वमसि' वाक्य में भी लक्षणा के बिना ही बोध क्यों नहीं होता ?

यहाँ संसर्ग व विशिष्ट वाक्यार्थ संमत नहीं, किन्तु बुद्धिमानों ने अखण्ड एकरस ब्रह्मवाक्य का अर्थ माना है, इससे लक्षणा माननी चाहिए ॥७५॥

जैसे गौ को ले आ, इत्यादि वाक्यों में गौ आदि पदों से स्मरण कराये जो आकांक्षा[1] योग्यता आदि वाले गौ आदि पदार्थ हैं उनका परस्पर अन्वय (सम्बन्ध) हो जाना वाक्यार्थ[2] माना है। जैसे नील तथा बहुत सुगन्धित वाला कमल इत्यादि वाक्यों में नीलपन आदि धर्म विशिष्ट कमल ही यह वाक्यार्थ माना जाता है। इस प्रकरण में यहाँ 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में संसर्ग और विशिष्ट में से किसी को भी वाक्यार्थ नहीं माना गया। किन्तु अखण्ड[3] एक रस (स्वगत आदि त्रिविध भेद रहित वस्तु मात्र रूप) को ही बुद्धिमान मनुष्य वाक्य का अर्थ मानते हैं। इसलिए लक्षणा का आश्रय लेना पड़ता है ॥७५॥

विशेष—(१) आकांक्षा (१) योग्यता (२) सन्निधिमत् (३) तात्पर्य (४) पद समुदाय वाक्यम् इनके बिना वाक्यार्थ बोध नहीं होता अन्यथानुपपत्तिः आकांक्षा = जिस पद के बिना अन्वय नहीं हो उस पद का जो उस पद के साथ समीपता है वह आकांक्षा, "वाक्यर्थाऽबाध योग्यता" वाक्य के अर्थ का जो प्रमाणान्तर करके अबाध उसको योग्यता कहते हैं। "पदानां अविलम्बोच्चारणम् सन्निधिः पदों का जो विलम्ब से रहित उच्चारण है वह सन्निधि है। तात्पर्य के दो भेद (१) वक्तृ तात्पर्य (२) शब्द तात्पर्य, यहाँ शब्द तात्पर्य लेना है। तदर्थ प्रतीतिजननयोग्यत्वं शब्द तात्पर्यम् उस शब्द में जो जिस जिसका वाक्यार्थ बोध को उत्पन्न करने की योग्यता है वह शब्द तात्पर्य और शक्ति (५) (अभिधा) लक्षणा (६) व्यञ्जना (७) (वृत्ति विशेष) इन सात का जब ज्ञान होता है तब शब्द से अर्थ जाना जाता है। लौकिक वाक्यों के तात्पर्य का ज्ञान प्रसंगादि से होते हैं। वैदिक तात्पर्य का ज्ञान उपक्रम, उपसंहारादि षड्विध लिङ्ग से होते हैं लौकिक वाक्यों के अर्थ में पुरुष की इच्छा की तरह होते हैं। वैदिक वाक्यों के अर्थमें ईश्वर की इच्छा रूपतात्पर्य है।

(२) लौकिक वैदिक शब्दों का जैसा संसर्ग (सम्बन्ध) रूप वाक्यार्थ (गौ को ले आ) आदि वाक्यों में होता है। वैसा महावाक्यों का अर्थ सम्भव नहीं है। क्योंकि तत् त्वम् असि में यदि तत् का सम्बन्धी त्वं को मानोगे तो पुरुष की असंगता नहीं बनेगी। फिर "नीला बहुत सुगन्ध वाला कमल" इस वाक्य में जैसे नील रंग विशिष्ट बहुत सुगन्ध वाला कमल है। यह वाक्यार्थ विशिष्ट रूप है। वैसा भी महावाक्य का अर्थ सम्भव नहीं है। क्योंकि यदि त्वं पदार्थ विशिष्ट त्वं पदार्थ विशेषण वाला तत् पदार्थ है या तत् पदार्थ विशिष्ट त्वं पदार्थ है ऐसे महावाक्य का अर्थ अङ्गीकार करने से एक ही को सर्वज्ञतादि और अल्पज्ञतादि धर्मयुक्तता मानना पड़ेगा प्रत्यक्षतादि प्रमाणोंसे विरुद्ध हैं. फिर श्रुतियों में ब्रह्मको सर्व धर्म रहित निर्गुण, चेतन रूप, सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद रहितसिद्ध किया है।

(३) अतएव लक्षणा से अखण्ड एक रसता रूप ही महावाक्य का अर्थ विद्वानों ने स्वीकार किया है—तदनन्यत्वमारंभणशब्दादिभ्यः (ब्र० सू० २।१।१४) कारण ब्रह्म से कार्य जगत् की पृथक् सत्ता नहीं। तत् तु समन्वयात् १।१।४। तदेतत् प्रेयः पुत्रात्प्रेयः ० १।४।८। एषह्येवानन्दयाति (तै० २।७)।

अखण्डैकरसं वाक्यार्थं दर्शयति -

प्रत्यग्बोधो य आभाति सोऽद्वयानन्दलक्षणः ।
अद्वयानन्दरूपश्च प्रत्यग्बोधैकलक्षणः ॥७६॥

अन्वय :—यः प्रत्यक्बोधः सः अद्वयानन्दलक्षणः आभाति प्रत्यक्बोधैकलक्षणः आनन्दरूपश्च (प्रत्यगात्मैव) ॥७६॥

'प्रत्यग्बोध इति' य प्रत्यग्बोधः सर्वान्तरश्चिदात्मा आभाति बुद्ध्यादिसाक्षित्वेन स्फुरति सोऽद्वयानन्दलक्षणः अद्वितीय आनन्दरूपः परमात्मेत्यर्थः । अद्वयानन्दरूपश्च तथाविध परमात्मा प्रत्यग्बोधैकलक्षणश्चिदेकरसः प्रत्यगात्मैवेत्यर्थः ॥७६॥

एवमखण्डार्थबोधेन किं स्यादित्यत आह --

इत्थमन्योन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिर्यदा भवेत् ।
अब्रह्मत्वं त्वमर्थस्य व्यावर्तेत तदैव हि ॥७७॥

अन्वय :—इत्थं यदा अन्योन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिः भवेत् तदैव हि त्वमर्थस्य अब्रह्मत्वं व्यावर्तेत ।

"इत्थमिति' ॥७७॥

अब अखण्ड एक रस वाक्य का अर्थ दिखाते हैं---

अल्पज्ञत्व सर्वज्ञत्व आदि दोनों के विरुद्ध अंशों को छोड़कर भागलक्षणा से चित् एक आत्मा का ज्ञान होता है—जो प्रत्यक् बोध सबके मध्य में चिदात्मा भासता है। अपनी बुद्धि आदि का साक्षी होकर प्रतीत हो रहा है। वह अद्वितीय रूप परमात्मा है और जो अद्वितीय आनन्द रूप परमात्मा बताया गया है। यह चित् एक रस प्रत्यक् आत्मा ही है ॥७६॥

अब अखण्डार्थ बोध के फल को दिखाते हैं—

इस प्रकार जब परस्पर तादात्म्य का ज्ञान हो जाता है एकता हो जाती है, उसी समय त्वं पद के अर्थ की अब्रह्मता (ब्रह्म भेद) ब्रह्म परोक्ष है निवृत्त हो जाती है—अर्थात् ब्रह्म हो जाता है ॥७७॥

तदर्थस्य च पारोक्ष्यं यद्येवं किं ततः शृणु ।
पूर्णानन्दैकरूपेण प्रत्यग्बोधोऽवतिष्ठते ॥७८॥

अन्वयः—तदर्थस्य च पारोक्ष्यं यदि एवं ततः किं इति शृणु पूर्णानन्दैकरूपेण प्रत्यग्बोधो अवतिष्ठते ।

'तदर्थस्येति' । त्वमर्थस्य प्रत्यगात्मनोऽब्रह्मत्वं भ्रान्तिसिद्धाऽब्रह्मरूपता तदर्थस्य ब्रह्मणश्च पारोक्ष्यं परोक्षज्ञानैकविषयत्वं च निवर्तते । ततोऽपि किमिति पृच्छति—'यद्येवमिति' । उत्तरमाह—'शृण्विति' ॥७८॥

ननु 'समयबलेन सम्यक्परोक्षानुभवसाधनमागमः' इत्यागमलक्षणम्, अतो वाक्यस्यापरोक्षज्ञान-जनकत्वं कथमुच्यत इत्याशङ्क्य, सिद्धान्तपरिज्ञानशून्योऽयमिति मनसि निधायोपहसति—

एवं सति महावाक्यात्परोक्षज्ञानमोर्यते ।
यैस्तेषां शास्त्रसिद्धान्तविज्ञानं शोभतेतराम् ॥७९॥

अन्वयः—एवं सति महावाक्यात् परोक्षज्ञानं ईर्यते यैः शास्त्रसिद्धान्तविज्ञानं तेषां शोभतेतराम् ।

'एवं सतीति' । एवं वदन्तः सिद्धान्तरहस्य ते न जानन्तीत्यर्थः ॥७९॥

त्वं पद के अर्थ प्रत्यक् आत्मा को अब्रह्मत्व है भ्रम से जो अब्रह्मता आ गयी थी और तत् पद के अर्थ में जो परोक्षता आ गयी थी (ब्रह्म जो परोक्ष ज्ञान का विषय हो गया था) वह उसी क्षण निवृत्ति हो जाती है इससे क्या होगा, इस आशय से पूँछते हैं, उत्तर सुनो कि जो अब तक प्रत्यक् बोध था वही अब पूर्ण आनन्द एक रूप बन जाता है ॥७८॥

यदि कहो कि समय (आगम) केवल सम्यक् (अच्छी तरह) परोक्षानुभव का साधन शास्त्र है, यह आगम का लक्षण है । इससे वाक्य अपरोक्ष ज्ञान का जनक कैसे होगा । इस शंका का उत्तर देते हैं—यह सिद्धान्त ज्ञान से शून्य है मन में रखकर हँसी करते हैं—

जो महावाक्य से परोक्षज्ञान ही होता है उनका शास्त्र सिद्धान्तों का ज्ञान तो भली प्रकार शोभित है अर्थात् वे शास्त्र सिद्धान्त को नहीं जानते ॥७९॥

ननु सिद्धान्तस्तावत्तिष्ठतु, वाक्यस्य परोक्षज्ञानजनकत्वं त्वनुमानसिद्धमिति शङ्कते—

आस्तां शास्त्रस्य सिद्धान्तो युक्त्या वाक्यात् परोक्षधीः ।
स्वर्गादिवाक्यवन्नैवं दशमे व्यभिचारतः ॥८०॥

अन्वयः—शास्त्रस्य सिद्धान्तः आस्तां युक्त्या वाक्यात् परोक्षधीः स्वर्गादिवाक्यवत् नैवं दशमे व्यभिचारतः

'आस्तामिति' । 'विमतं वाक्यं परोक्षज्ञानजनकं भवितुमर्हति, वाक्यत्वात् स्वर्गादिप्रतिपादकवाक्यवत्' इत्यनुमानेन परोक्षज्ञानजनकत्वं सिद्धमित्यर्थः । अनैकान्तिकोऽयं हेतुरिति परिहरति 'नैवमिति' । 'दशमस्त्वमसि' इति वाक्ये वाक्यत्वे सति अपरोक्षज्ञानजनकत्वस्योपलम्भादिति भावः ॥८०॥

किं च त्वंपदार्थस्य जीवस्य अपरोक्षत्वाभावप्रसङ्गादपि न महावाक्यं परोक्षज्ञानजनकमित्यङ्गीकार्यमित्याह—

स्वतोऽपरोक्षजीवस्य ब्रह्मत्वमभिवाञ्छतः ।
नश्येत्सिद्धापरोक्षत्वमिति युक्तिर्महत्यहो ॥८१॥

अन्वयः—स्वतो अपरोक्षजीवस्य ब्रह्मत्वं अभिवाञ्छतः सिद्धापरोक्षत्वं नश्येत् इति महती युक्तिः अहो । 'स्वत इति' ॥८१॥

यदि कहो शास्त्र का सिद्धान्त रहे वाक्य से परोक्ष ज्ञान हो जायेगा, यह भी ठीक नहीं -

शास्त्र के सिद्धान्त को जाने दो युक्ति से (अनुमान से) स्वर्गादिवाक्य की तरह वाक्य से परोक्ष ज्ञान होना सिद्ध होता है । यहाँ अनुमान इस प्रकार होगा विवाद का विषय वाक्य परोक्ष ज्ञान का जनक होने योग्य है । वाक्य होने से स्वर्ग आदि वाक्य के समान परोक्ष ज्ञान का जनक है । यह हेतु व्यभिचारी है इस अभिप्राय से परिहार करते हैं 'तू दशम' है यह भी वाक्य है और अपरोक्ष ज्ञान का जनक है । इससे यह नहीं कह सकते कि जहाँ-जहाँ वाक्यत्व हो वहाँ-वहाँ परोक्ष ज्ञान की जनकता हो अतएव हेतु अनैकान्तिक है ॥८०॥

त्वं पद के अर्थ जीवात्मा के लिए अपरोक्षत्व के अभाव का प्रसंग न उपस्थित हो इसलिए क्या आपने महावाक्य को परोक्ष ज्ञान का जनक माना है । इसका समाधान करते है —

और त्वं पदार्थ का अर्थ जीव स्वयं अपरोक्ष है, ब्रह्मत्व की इच्छा करते हुए उसका स्वतः सिद्ध अपरोक्षता भी नष्ट हो जायेगा, इससे तुम्हारी यह युक्ति आश्चर्य की जनक महती (बड़ी भारी हैं) अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान के जनक महावाक्य को परोक्ष ज्ञान का जनक कहना असंगत है ॥८१॥

विशेष १—शब्द का यह स्वभाव है-अन्तराय सहित (व्यवहित) वस्तु का शब्द से परोक्ष ज्ञान ही होता है, अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता । जैसे स्वर्गादिक का धर्म और अधर्म का शास्त्र रूप शब्द से परोक्ष ज्ञान ही होता है और अन्तरायरहित वस्तु का शब्द से परोक्ष और अपरोक्ष दोनों प्रकार के ज्ञान होते हैं । इस रीति से वस्तु के बोधक बाक्य से परोक्ष ज्ञान होता है जैसे दशम है या विस्मरण हुआ कण्ठ का भूषण और तू है यह है ऐसे वस्तु के बोधक, बाक्य से अपरोक्ष ज्ञान होता है । अन्तराय रहित वस्तु का परोक्ष और अपरोक्ष दोनों प्रकार का ज्ञान होता है ।

इष्टापत्तिरित्याशङ्क्याह—

बृद्धिमिष्टवतो मूलमपि नष्टमितीदृशम् ।

लौकिकं वचनं सार्थं संपन्नं त्वत्प्रसादतः ॥८२॥

अन्वयः—बृद्धिमिष्टवतः मूलमपि नष्टं इति ईदृशं लौकिक वचनं त्वत् प्रसादतः सार्थं संपन्नं ।

'बृद्धिमिति' ॥८२॥

ननु सोपाधिकत्वाज्जीवस्यापरोक्षत्वं युक्तं, ब्रह्मणस्तु निरुपाधिकत्वात्तन्न युज्यते इति शङ्कते—

अन्तःकरणसंभिन्नबोधो जीवोऽपरोक्षताम् ।

अर्हत्युपाधिसद्भावान्न तु ब्रह्मानुपाधितः ॥८३॥

अन्वय अन्तःकरणसंभिन्नबोधः जीवः अपरोक्षताम् अर्हति उपाधिसद्भावात् ब्रह्मानुपाधितः तु न ।

'अन्तःकरणेति' ॥८३॥

ब्रह्मणो निरुपाधिकत्वमसिद्धमिति परिहरति—

नैवं ब्रह्मत्वबोधस्य सोपाधिविषयत्वतः ।

यावद्विदेहकैवल्यमुपाधेरनिवारणात् ॥८४॥

अन्वयः—सोपाधिविषयत्वतः ब्रह्मत्वबोधस्य नैवं यावद्विदेहकैवल्यं उपाधेः अनिवारणात् ।

'नैवं ब्रह्मेति' । जीवस्य ब्रह्मरूपताज्ञानं यदस्ति तस्य सोपाधिकवस्तुविषयत्वात्तद्विषयस्य ब्रह्मणोऽपि सोपाधिकत्व ज्ञानस्य सोपाधिकविषयत्वं च ज्ञेयस्य सोपाधिकत्वमन्तरेण न घटते इति भावः । तदेव कुत इत्यत आह—'यावदिति' ॥८४॥

यदि कहो हि हम इसको इष्ट ही मानेंगे तो ठीक नहीं—

ब्याज चाहने वाले का मूल धन भी नष्ट हो गया, यह लौकिक कथन तो तुम्हारी ही कृपा से सार्थक हुआ ॥८२॥

सोपाधिक होने से जीव की अपरोक्षता युक्तिपूर्वक घटती भी है, किन्तु परम ब्रह्म तो उपाधि शून्य होने से उसकी अपरोक्षता सिद्ध नहीं होती है, इस प्रकार शंका करते हैं—

यदि कहो कि अन्तःकरण से मिश्रित बोध, जिसे जीव कहते हैं अन्तःकरण उपाधि होने से प्रत्यक्ष होने योग्य है। परन्तु निरुपाधिक होने से ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान कैसे हो सकेगा ॥८३॥

ब्रह्म भी निरुपाधिक नहीं हो सकता इस आशय से शंका समाधान करते हैं

जीव को जो ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान है वह भी सोपाधिक वस्तु विषय है इसलिए उसके ज्ञान का विषय जो ब्रह्म है वह भी सोपाधिक ही है क्योंकि ज्ञान को सोपाधिविषयता ज्ञेय की सोपाधि के बिना नहीं घटती (अर्थात् उपाधि के बिना ज्ञेय का ज्ञान नहीं होता) जब तक किसी की विदेहमुक्ति नहीं होती तब तक उपाधि का निवारण नहीं होता ॥८४॥

ननु तर्हि जीवब्रह्मणोर्विलक्षणमुपाधिद्वयं वक्तव्यमित्याशङ्क्याह—

अन्तःकरणसाहित्यराहित्याभ्यां विशिष्यते ।
उपाधिर्जीवभावस्य ब्रह्मतायाश्च नान्यथा ॥८५॥

अन्वयः—अन्तःकरणसाहित्यराहित्याभ्यां जीवभावस्य उपाधिः ब्रह्मतायाश्च विशिष्यते अन्यथा न ।

'अन्तःकरणेति' । जीवभावब्रह्मभावयोरन्तःकरणसाहित्यराहित्ये एवोपाधी इत्यर्थः ॥८५॥

नन्वन्तःकरणसंबन्धस्य भावरूपत्वादुपाधित्वस्तु, नाभावरूपस्य तद्राहित्यस्य तदुचितमित्याशङ्क्य, 'यावत्कार्यमवस्थायिभेदहेतोरुपाधिता', इत्युक्तोपाधिलक्षणस्य साहित्यराहित्ययोरुभयोरपि सत्त्वादुचितमेवोपाधित्वमित्यभिप्रायेण परिहरति—

यथा विधिरुपाधिः स्यात्प्रतिषेधस्तथा न किम् ।
सुवर्णलोहभेदेन शृङ्खलात्वं न भिद्यते ॥८६॥

अन्वयः विधिः यथा उपाधिः स्यात् तथा प्रतिषेधः किम् न (उपाधिः) स्यात् सुवर्णलोहभेदेन शृङ्खलात्वं न भिद्यते ।

'यथेति' । विधिर्भावरूपोऽन्तःकरणसंबन्धो यथा उपाधिः स्यात्तथा प्रतिषेधोऽभावरूपोऽन्तःकरण वियोगो न किं, उपाधिर्न स्यात्किम् ? स्यादेवेत्यार्थः । तथापि भावाभावरूपत्वलक्षणमवान्तरवैलक्षण्यं दृश्यत एवेत्याशङ्क्य, तस्य अकिंचित्करत्वेनानादरणीयत्वमित्यभिप्रेत्य, दृष्टान्तमाह 'सुवर्णेति । पुरुषप्रचारनिरोधकत्वांशेऽनुपयुक्तं सुवर्णत्वलोहत्वादिवैलक्षण्यं यद्वदनादरणीयं तद्वदित्यर्थः ॥८६॥

शंका हो क्या जीव और ब्रह्म की दो विभिन्न उपाधि करनी चाहिए—

जीवभाव और ब्रह्मभाव की उपाधियाँ क्रमशः अन्तःकरण साहित्य और अन्तःकरण का राहित्य ही है अन्तःकरण सहित तत्त्व को जीव और अन्तःकरण से रहित हुए तत्त्व को ब्रह्म कहते हैं ॥८५॥

शंका–भावरूप अन्तःकरण का सम्बन्ध उपाधि रहे, अभाव रूप अन्तःकरण साहित्य को उपाधि मानना अनुचित है इसका उत्तर देते हैं—अद्वैत सिद्धि में मधुसूदन स्वामी ने उपाधि का लक्षण कार्य की अवधि पर्यन्त टिकने वाले भेद की हेतु उसको उपाधि कहते हैं यह उपाधि का लक्षण अन्तःकरण साहित्य और अन्तःकरण राहित्य दोनों में है इससे दोनों ही उपाधि है इस अभिप्राय से उक्त शंका का समाधान करते हैं—

जिस प्रकार विधि (भावरूप) अन्तःकरण का सम्बन्ध उपाधि है वैसे ही अभाव रूप अन्तःकरण वियोग भी उपाधि क्यों न होगी अवश्य होगी । शंका-तो भी भाव और अभाव रूप विलक्षणता तो थोड़ा सा अवान्तर भेद दिखायी देता है । वह विलक्षणता अकिञ्चित्कर है स्वीकार करने योग्य नहीं है, इस अभिप्राय से दृष्टान्त कहते हैं । जैसे सोने और लोहे की शृंखला में भेद नहीं होता, परन्तु पुरुष के गमन की निरोधकता दोनों में समान है ॥८६॥

विधेरिव निषेधस्यापि ब्रह्मबोधोपायत्वेन ब्रह्मोपाधित्वं द्रढयितुं विधिनिषेधयोरुभयोरपि ब्रह्मबोधोपायत्वमाचार्यैर्निरूपितमिति दर्शयति—

अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद्विधिमुखेन च ।
वेदान्तानां प्रवृत्तिः स्याद् द्विधेत्याचार्यभाषितम् ॥८७॥

अन्वयः—अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षात् विधिमुखेन च वेदान्तानां द्विधा प्रवृत्तिः स्यात् इति आचार्यभाषितम् ।

'अतदिति' । 'तत्' शब्देन ब्रह्माभिधीयते, 'अतत्' शब्देन तदतिरिक्तमज्ञानादि 'नेति नेती' त्यादिव्यावृत्तिनिरसनम्, न तत् अतत् तस्य प्रपञ्चस्य व्यावृत्तिनिरसनं तदेव रूपं उपायस्तेन साक्षात् विधिमुखेन च विधिविधानं साक्षाद्वाचकशब्दप्रयोगः 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' (तै० २।१।१) इत्येवमादिरूपः, तेन च विधिमुखेन तद्द्वारेणापीत्यर्थः । वेदान्तानामुपनिषदां प्रवृत्तिः प्रवर्तनं प्रतिपादनं ब्रह्मणीति शेषः ॥८७॥

विधि के समान निषेध भी ब्रह्मबोध का उपाय है इससे निषेध ब्रह्म की उपाधि हैं यह दृढ़ करने के लिए विधि निषेध दोनों को जो ब्रह्मबोध का उपाय आचार्यों ने कहा है उसको दिखाते हैं—

एक ब्रह्म से भिन्न के निषेध मुख से दूसरे साक्षात् विधि मुख से दो प्रकार से वेदान्तों (उपनिषदों की प्रवृत्ति ब्रह्म प्रतिपादन की शैली है यह आचार्यों ने कहा है ॥७८॥

तत् शब्द से ब्रह्म और अतत् शब्द से ब्रह्म से भिन्न अज्ञान आदि प्रपञ्च लिया जाता है। न इति इत्यादि श्रुतियों से जो अतत् की व्यावृत्ति प्रपञ्चनिरसन (त्याग) रूप उपाय से और साक्षात् विधि मुख से सत्य रूप, ज्ञानआनन्दरूप ब्रह्म है इन वाचक शब्दों का प्रयोग किया यह दूसरा उपाय है ॥७८॥

ननु वेदान्तानामतद्व्यावृत्त्या ब्रह्मबोधकत्वाङ्गीकारे 'अहं' शब्दार्थस्य कूटस्थस्यापि त्यागप्रसङ्गात् 'अहं ब्रह्मास्मि' इति सामानाधिकरण्येन ज्ञानं नोदेतुमर्हतीति शङ्कते—

अहमर्थपरित्यागादहं ब्रह्मेति धीः कुतः ।
नैवमंशस्य हि त्यागो भागलक्षणयोदितः ॥८८॥

अन्वयः—अहंअर्थपरित्यागाद् 'अहं ब्रह्म' इतिधीः कुतः एवं अंशस्य त्यागः हि भागलक्षणया न उदितः।

'अहमर्थेति' । अहं' शब्दार्थस्य सर्वस्यात्यक्तत्वान्नैवमिति परिहरति 'नैवमिति' । हि यस्मात्कारणात् भागलक्षणया जहदजहल्लक्षणया अंशस्य 'अहं' शब्दार्थैकदेशस्य जडांशस्य ईरितः, न कूटस्थस्य । अतः 'अहं ब्रह्मास्मि' इति ज्ञानमुपपद्यत इत्यर्थः ॥८८॥

अंशत्यागेन बोधनप्रकारमभिनीय दर्शयति —

अन्तःकरणसंत्यागादवशिष्टे चिदात्मनि ।
अहं ब्रह्मेति वाक्येन ब्रह्मत्वं साक्षिणोक्ष्यते ॥८९॥

अन्वय :—अन्तःकरणसंत्यागात् अवशिष्टे चिदात्मनि 'अहं ब्रह्म' इति वाक्येन साक्षिणि ब्रह्मत्वं ईक्ष्यते ।

'अन्तःकरणेति' ॥८९॥

शंका अतत् के निषेध रूप से वेदान्तों को ब्रह्म का बोधक मानोगे तो अहं शब्द के अर्थ कूटस्थ का भी त्याग हो जायेगा तो अहम् (मैं) ब्रह्म हूँ यह बुद्धि कर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) यह दोनों की सामानाधिकरणता (एक अर्थ) न होगी इस शंका को करके उत्तर देते हैं —

शंका अहं शब्द के अर्थ कूटस्थ के निषेध से "अहं ब्रह्मास्मि" यह ज्ञान कैसे होगा ऐसा मत कहो भाग लक्षणा से जड़ अंश का त्याग कहा है ॥८८॥

अहं शब्द के सारे अर्थ का त्याग नहीं है समाधान करते हैं भाग त्याग लक्षणा से (सोऽयं देवदत्तः) स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो (छा० ६।८।७) केवल अहं शब्द का अंश (एक देश) जो जड़ रूप अंश उसका त्याग कहा है । कूटस्थ का नहीं, इससे मैं ब्रह्म हूँ यह ज्ञान हो सकता है ॥८८॥

अब अंश के त्याग से बोध के प्रकार को दिखाते हैं—

अन्तःकरण विशिष्ट[1] चेतन जीव में से जाड्यांश अन्तःकरण रूप उपाधि को छोड़ देने पर शेष रहे चिदात्मा रूप साक्षी में "अहं ब्रह्मास्मि" इस वाक्य से मुमुक्षु पुरुष साक्षी में ब्रह्म को देखता है ॥८९॥

विशेष—(१) विशिष्ट का अर्थ बद्धजीव हो जाना लोप को प्राप्त हो जाना है ।

ननु केवलस्य प्रत्यगात्मनः स्वप्रकाशत्वाद्बुद्धिवृत्तिविषयत्वं न घटते इत्याशङ्क्याह—

स्वप्रकाशोऽपि साक्ष्येव धीवृत्त्या व्याप्यतेऽन्यवत् ।
फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्‌भिर्निवारितम् ।।९०।।

अन्वय.—स्वप्रकाशः अपि साक्षी एव धीवृत्त्या अन्यवत् व्याप्यते अस्य शास्त्र कृद्‌भिः फलव्याप्यत्वमेव निवारितम् ।

'स्वप्रकाश इति' । अन्यवत् घटादिवदित्यर्थः । 'स्वप्रकाशोऽहम्' इत्येवं बुद्धिवृत्तिसंभवादिति भावः । तर्हि अपसिद्धान्तापात इत्याशङ्क्य, पूर्वाचार्यैरपि वृत्तिव्याप्यत्वस्याङ्गीकृतत्वान्नायमपसिद्धान्त इति परिहरति 'फलव्याप्यत्वमिति' । फलं वृत्तिप्रतिबिम्बितचिदाभासः तद्‌व्याप्यत्वमेव अस्य प्रत्यगात्मनो निराकृतं स्वस्यैव स्फुरणरूपत्वादिति भावः ।।९० ।

आत्मनि फलव्याप्त्यभावं दर्शयितुं अनात्मनो वृत्त्या फलेन च व्याप्यत्वं दर्शयति—

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम् ।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् ।।९१।।

अन्वयः—बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वौ अपि घटं व्याप्नुतः तत्र धिया अज्ञानं नश्येत् आभासेन घटः स्फुरेत् ।

'बुद्धितदिति' । उभयव्याप्तेः प्रयोजनमाह--'तत्रेति' । तत्र तयोर्बुद्धिचिदाभासयोर्मध्ये धिया बुद्धिवृत्त्या प्रमाणभूतया अज्ञानं नश्यति, ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधात् । आभासेन चिदाभासेन घटः स्फुरेत् जडत्वेन स्वतः स्फुरणायोगादिति भावः ।।९१।।

शंका प्रत्यक् आत्मा को स्वप्रकाश होने से बुद्धिवृत्ति की विषयता न होगी अर्थात् बुद्धि का विषय न होगा, इस शंका के उत्तर को कहते हैं—

स्वयं प्रकाश भी साक्षी अन्य घटादि के समान बुद्धि वृत्तियों से व्याप्त होता है । मैं स्वप्रकाश हूँ इस प्रकार की बुद्धिवृत्ति सम्भव है इस प्रत्यगात्मा की फलव्यापकता का ही शास्त्रकारों ने निषेध किया है ।।९०।।

यह साक्षी स्वप्रकाश है, तो भी अन्य घटादियों के समान "मैं स्व प्रकाश हूँ" इस प्रकार की बुद्धि वृत्तियों में व्याप्त होता है मैं स्वप्रकाश हूँ ऐसीं बुद्धि की वृत्ति हो सकती है शंका करो सिद्धान्त का भंग होगा, उत्तर देते हैं-शास्त्रकार पहले आचार्यों ने फल जो वृत्ति के प्रतिबिम्बित चिदाभास उसकी ही इस प्रत्यगात्मा को व्याप्यता का निराकरण (निषेध) किया है । वह प्रत्यगात्मा स्वयं स्फुरण रूप (प्रकाश रूप. है । इसमें बुद्धि वृत्ति की व्याप्यता का निषेध नहीं किया गया है ।।९०।।

आत्मा में फल व्याप्ति का अभाव दिखाने के लिए अनात्म घटादि की वृत्ति और फल की व्याप्ति दिखाते हैं—

(घट प्रतीति के समय) बुद्धि और बुद्धि में पड़ा चिदाभास ये दोनों घट को व्याप्त किया करते हैं, पहुँचते हैं-उन दोनों के मध्य में बुद्धि की वृत्ति से तो अज्ञाननाश होता है और चिदाभास से घट की स्फूर्ति होती है । जड़रूप घट का स्वतः स्फुरण नहीं हो सकता ।।९१।।

इदानीमात्मनि ततो वैलक्षण्यं दर्शयति—

ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ।
स्वयंस्फुरणरूपत्वान्नाभास उपयुज्यते ।।९२।।

अन्वयः—ब्रह्मणि अज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिः अपेक्षिता स्वयंस्फुरणरूपत्वात् आभसः न उपयुज्यते ।

'ब्रह्मणीति' । प्रत्यग्ब्रह्मणोरेकत्वस्य अज्ञानेनावृतत्वात्तस्य अज्ञानस्य निवृत्तये वाक्यजन्यया 'अहं ब्रह्मास्मी' त्येवमाकारया धीवृत्या व्याप्तिरपेक्ष्यते स्वस्यैव स्फुरणरूपत्वात्, तत्स्फुरणाय चिदाभासो नापेक्ष्यते, अतो युज्यमानोऽपि चिदाभासो नोपयुज्यत इत्यर्थः ।।९२।।

उक्तमर्थं दृष्टान्तप्रदर्शनेन विशदयति

चक्षुर्दीपावपेक्ष्येते घटादेर्दर्शने यथा ।
न दीपदर्शने किंतु चक्षुरेकमपेक्ष्यते ।।९३।।

अन्वयः—यथा घटादेः दर्शने चक्षुःदीपौ अपेक्ष्येते किन्तु दीपदर्शने चक्षु एकं तथा न अपेक्ष्यते ।

'चक्षुरिति' । अन्धकारावृतघटादिदर्शने चक्षुर्दीपौ उभावपि अपेक्ष्येते, दीपप्रदर्शने तु तथा न, किंतु एकं चक्षुरेवापेक्ष्यते यथा, तथा ब्रह्मण्यज्ञाननाशायेति पूर्वेण संबन्धः ।।९३।।

अब आत्मा में अनात्मा घट आदि की अपेक्षा विलक्षणता को दिखाते हैं--

प्रत्यगात्मा और ब्रह्म की एकता को अज्ञान ने आवृत्त किया हुआ था। उस अज्ञान को नष्ट करने के लिए वृत्तिद्वारा ब्रह्म की व्याप्ति अपेक्षित होती है। महावाक्यों से पैदा हुई "मैं ब्रह्म हूँ" इस रूप की बुद्धिवृत्ति द्वारा ब्रह्म की विषयता अपेक्षित होती है। परन्तु आत्मा के स्वयं स्फुरण रूप होने के कारण उसका स्फुरण कराने के लिए चिदाभास की अपेक्षा नहीं रहती अतएव चिदाभास भले ही ब्रह्म से युक्त भी हो जाता हो तो भी प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म के स्फुरण में उसका कोई उपयोग नहीं होता ।।९२।।

पूर्वोक्त अर्थ को दृष्टान्त दिखाकर स्पष्ट करते हैं—

जैसे अंधेरे में रखे घटादि को देखने के लिए आँख और दीपक दोनों चाहिए और दीपक के देखने में दोनों की अपेक्षा नहीं किन्तु एक चक्षु की ही अपेक्षा है। वैसे ही ब्रह्म के प्रति अज्ञान की निवृत्ति के लिए बुद्धि के वृत्ति की अपेक्षा है चिदाभास की नहीं ।।९३।।

ननु बुद्धितद्वृत्तीनां चिदाभासवैशिष्ट्यस्वाभाव्यात् घटादिष्विव ब्रह्मण्यपि, फलव्याप्तिर्बलाद्भवेदित्याशङ्क्याह—

स्थितोऽप्यसौ चिदाभासो ब्रह्मण्येकीभवेत् परम् ।
न तु ब्रह्मण्यतिशयं फलं कुर्याद्घटादिवत् ॥९४॥

अन्वयः— असौ चिदाभासः स्थितोऽपि ब्रह्मणि परम् एकीभवेत् ब्रह्मणि तु घटादिवत् अतिशयं फलं न कुर्यात् ।

'स्थितोऽपीति'। यद्यपि घटाद्याकारवृत्तिवद्ब्रह्मगोचरवृत्तावपि चिदाभासोऽस्ति, तथापि नासौ ब्रह्मणो भेदेन भासते किंतु प्रचण्डातपमध्यवर्तिप्रदीपप्रभावत्तेनैकीभूत इव भवति, अतः स्फुरणलक्षणातिशयजनको न ब्रह्मणीत्यर्थः ॥९४॥

ननु ब्रह्मणि फलव्याप्तिर्नास्ति, वृत्तिव्याप्तिस्तु विद्यत इत्युक्तं, तत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्य, आगमः प्रमाणमित्याह—

अप्रमेयमनादिं चेत्यत्र श्रुत्येदमीरितम् ।
मनसैवेदमाप्तव्यमिति धीव्याप्यता श्रुता ॥९५॥

अन्वयः अप्रमेयं अनादिं च इत्यत्र इदं श्रुत्या ईरितं मनसैवेदम् व्याप्तं इति धीव्याप्यता (वृत्तिव्याप्यता) श्रुता ।

'अप्रमेयमिति'। निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितम् । अप्रमेयमनादिं च यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः । (अमृ० वि० ९) इत्यत्रास्मिन्मन्त्रे श्रुत्याऽमृतबिन्दूपनिषदा' 'अप्रमेय' शब्देन इदं फलव्याप्तिराहित्यमुक्तम्, मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन' (बृ० ४।४।१९) इति कठवल्लयां धीव्याप्यता श्रुता, वृत्तिव्याप्यत्वं श्रुतमित्यर्थः ॥९५॥

यदि कहो बुद्धि और उसकी वृत्तियाँ चिदाभास से विशिष्ट स्वभाव वाली है, इसलिए घटादि के समान ब्रह्म में भी बलात् फल व्याप्ति हो जायेगी इसका उत्तर देते हैं—

यद्यपि घटाकार वृत्ति की तरह ब्रह्म विषयक वृत्तियों में भी चिदाभास विद्यमान है, तथापि वह चिदाभास ब्रह्म से पृथक् नहीं भासता (ब्रह्म के साथ एक होकर रहता है) किन्तु प्रचण्ड रवि एवं दीपक के प्रकाश की तरह उसे मिल-जुल जाता है, इसलिए वह चिदाभास ब्रह्म में घटादि की तरह स्फुरण रूप अधिक फल उत्पन्न नहीं करता ॥९४॥

अब ब्रह्म में फल व्याप्ति नहीं है वृत्ति व्याप्ति है इसमें वेद को प्रमाण देते हैं—

जो निर्विकल्प अनन्त, हेतु दृष्टान्त से वर्जित, अप्रमेय अनादि है उसको जानकर मुक्त होता है, इस अमृत बिन्दु उपनिषद् के मन्त्र में अप्रमेय शब्द से फल व्याप्ति रहित कहा है और मन से ही यह ब्रह्म प्राप्त होने योग्य हैं । इस जगत् में किञ्चित् भी नाना नहीं है । इस मंत्र से कठवल्ली में २।४।१० । बुद्धि वृत्ति व्याप्यता (श्रुति में) कही है ॥९५॥

'आत्मानं चेद्विजानीयात् (बृ० ४।४।१२) इति मन्त्रेणापरोक्षज्ञानं शोकनिवृत्त्याख्यं जीवगतमवस्थाद्वयं अभिधीयते इत्युक्तं 'अपरोक्षज्ञानशोकनिवृत्त्याख्ये उभे इमे । अवस्थे जीवगे ब्रूते आत्मानं चेदिति श्रुतिः' (प्र० ७।४८) इत्यनेन श्लोकेन. तत्र कियतांशेन अपरोक्षज्ञानमुच्यते ? इत्याकाङ्क्षायामाह—

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति वाक्यतः ।
ब्रह्मात्मव्यक्तिमुल्लिख्य यो बोधः सोऽभिधीयते ।।९६।।

अन्वयः—'अयं अस्मी'ति वाक्यतः आत्मानं विजानीयात् चेत् ब्रह्मात्मव्यक्तिमुल्लिख्य यो बोधः स अभिधीयते ।

'आत्मानमिति' । ब्रह्मात्मव्यक्तिं सत्यादिलक्षणब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मस्वरूपमुल्लिख्य विषयीकृत्य यो बोधो जायते 'ब्रह्माहमस्मी'ति सोऽभिधीयते अनेन वाक्येनेत्यर्थः ।।९६।।

ननु तर्हि पूर्वोक्तरीत्या सकृद्वाक्यविचारादेव अपरोक्षज्ञानसिद्धेः 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (ब्र० सू० ४।१।१) इत्यादौ विहितं श्रवणाद्यावर्तनमनुष्ठेयं स्यादित्याशङ्क्य, ज्ञानदार्ढ्याय तदावर्तनानुष्ठानस्य आचार्यैरभिहितत्वादनुष्ठेयमेवेत्याह —

अस्तु बोधोऽपरोक्षोऽत्र महावाक्यात्तथाप्यसौ ।
न दृढः श्रवणादीन माचार्यैः पुनरीरणात् ।।९७।।

अन्वयः—अत्र महावाक्यात् अपरोक्षः बोधः अस्तु तथापि असौ न दृढः आचार्यैः पुनः श्रवणादीनां ईरणात् ।

'अस्तु बोध इति' । अत्र ब्रह्मात्मविषये महावाक्यात् सकृच्छ्रुतात्तद्विचारसहितादपरोक्षबोधोऽस्तु । भवत्वेवं, तथापि नासौ दृढः, अतः श्रवणाद्यावर्तनीयं श्रीमच्छंकराचार्यैः पुनर्वाक्यार्थज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमपि श्रवणाद्यावर्तनाभिधानादित्यर्थः । ज्ञानदार्ढ्याय इत्येतदर्थाल्लभ्यते ।।९७।।

'आत्मानं चेद्विजानीयात्' इस मन्त्र से अपरोक्ष ज्ञान शोक निवृत्ति रूप जीव की जो दो अवस्थाएँ पहले कह आये हैं ४८वें श्लोक में इन दोनोंमें कितने अंशसे अपरोक्ष ज्ञान कहा जाता है इसका वर्णन करते हैं-

यह आत्मा मैं हूँ इस प्रकार यदि आत्मा को जाने इस वाक्य से, सत्य आदि हैं लक्षण जिसके ऐसे ब्रह्म से अभिन्न प्रत्यगात्मा के स्वरूप को विषय करके जो बोध होता है "मैं ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान होता है—इस श्रुति वाक्य से वह कहा जाता है ।।९६।।

यदि कहो पूर्वोक्त रीति के अनुसार एक बार ही महावाक्यों के विचार से अपरोक्ष ज्ञान हो जायेगा । इससे बारंबार गुरु के उपदेश से श्रवण-मनन आदि की आवृत्ति होती है । इत्यादिकों में कहा जो विहित श्रवण आदि का आवर्तन वहन करना चाहिए इस शंका का उत्तर देते हैं—ज्ञान की दृढ़ता के लिए श्रवण आदि का अनुष्ठान आचार्य ने कहा है—

महावाक्यों से एक बार सुनकर विचार करने पर ब्रह्मात्म के विषय में अपरोक्ष ज्ञान तो जाता है, तथापि वह बोध दृढ़ नहीं हो सकता, इसलिए श्री शङ्कराचार्य जी ने वाक्यार्थ ज्ञानोत्पत्ति के पश्चात् भी ज्ञान की दृढ़ता के लिए श्रवण आदि की आवृत्ति का करना कहा है ।।९७।।

आचार्यैः केन वाक्येन अभिहितमित्याशङ्क्य, तद्वाक्यं पठति—

अहंब्रह्मेति वाक्यार्थबोधो यावद्दृढीभवेत् ।
शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम् ॥९८॥

अन्वय :—अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थबोधः यावद्दृढीभवेत् शमादिसहितः तावत् श्रवणादिकं अभ्यसेत् ।

'अहं ब्रह्मेति' ॥९८॥

ननु वाक्यप्रमाणजनितज्ञानस्य अदार्ढ्यं कुत इत्याशङ्क्याह—

बाढं सन्ति ह्यदार्ढ्यस्य हेतवः श्रुत्यनेकता ।
असंभाव्यत्वमर्थस्य विपरीता च भावना ॥९९॥

अन्वय :—हि बाढं सन्ति अदार्ढ्यस्य हेतवः श्रुत्यनेकता अर्थस्य असंभाव्यत्वं विपरीता भावना च ।

'बाढमिति' । हि यस्मात् कारणाच्छ्रुत्यनेकता श्रुतीनां नानात्वमेको हेतुः अर्थस्याप्यखण्डैकरसस्य अद्वितीयब्रह्मरूपस्य अलौकिकत्वेन असंभावितत्वमपरः विपरीतभावना च पुनः कर्तृत्वाभिमानरूपस्तृतीय इत्येवंविधा अदार्ढ्यस्य हेतवो बाढं सन्ति सर्वथा विद्यन्ते, अतोऽपरोक्षानुभवदार्ढ्याय श्रवणादिकमावर्तनीय-मिति भावः ॥९९॥

अब शङ्कराचार्य के वाक्य को लिखते हैं—

जब तक "मैं ब्रह्म हूँ" इस वाक्यार्थ का ज्ञान दृढ़ न हो तब तक शमादि से युक्त रहकर श्रवण-मनन आदि का अभ्यास करें ॥९८॥

यदि कहो कि वाक्य प्रमाणों से जनित ज्ञान की अदृढ़ता किससे होती है यह शंका करके कहते हैं—

ज्ञान की अदृढ़ता के हेतु श्रुतियों का भेद अनेकता) और अर्थ की असंभावना और विपरीत भावना शब्द प्रमाण से उत्पन्न होने वाले ज्ञान की अदृढ़ता के ये तीन कारण सर्वथा हैं ही ।

यह बात सत्य है श्रुतियों की अनेकता के हेतु किसी श्रुति में कोई हेतु प्रमाणगत संशय का जनक यह प्रथम हेतु, अद्वितीय ब्रह्म रूप अर्थ अखण्डैकरस अलौकिक होने से असंभावना, (दूसरा हेतु) प्रमेयगत संशय की विषयता है । कर्तृत्व आदि का अभिमान रूप ही विपरीत भावना है जो अदृढ़ता का तीसरा हेतु है । इससे अपरोक्षानुभव की दृढ़ता के लिए श्रवण आदि की आवृत्ति करने योग्य है ॥९९॥

एवं त्रिविधान् अदार्ढ्यहेतूनुपन्यस्य श्रुतिनानात्वप्रयुक्तादार्ढ्यनिवृत्तये श्रवणावृत्तिः कार्येत्याह—

शाखाभेदात्कामभेदाच्छ्रुतं कर्मान्यथाऽन्यथा ।
एवमत्रापि मा शङ्कीत्यतः श्रवणमाचरेत् ॥१००॥

अन्वय :—यथा शाखाभेदात् कामभेदात् कर्म अन्यथा अन्यथा श्रुतं एवं अत्रापि मा शङ्की अतःश्रवणमाचरेत् ।

'शाखेति' । यथा[1] शाखाभेदात्कर्मभेदः श्रूयते 'यदृचैव होत्रं क्रियते यजुषाध्वर्यवं साम्नोद्गीथं' इति । यथा वा कामभेदात् कारीर्या वृष्टिकामो यजेत शतकृष्णलमायुष्कामः' इत्यादिकर्मभेदः[2] श्रुतः, एवमुपनिषत्स्वपि प्रतिपाद्यतत्त्वस्य भेदशङ्कायां तन्निवारणाय श्रवणं पुनः पुनः कर्तव्यमित्यर्थः ॥१००॥

इस प्रकार तीन अदृढ़ता के हेतुओं को दिखाकर श्रुतियों के नाना होने से उत्पन्न हुई अदृढ़ता की निवृत्ति के लिए श्रवण आदि की पुनः आवृत्ति आवश्यक है, इसका वर्णन करते हैं—

जैसे शाखा भेद से कर्म का भेद सुना है, होता का कर्म ऋक्वेद से और अध्वर्यव का यजुर्वेद से और उद्गीथ का सामवेद से कर्म करता है । वृष्टि की इच्छा से कारीरी यज्ञ करे (प्रजा से लेकर किया गया या वृक्ष के अंकुर रूप करीरों का होम होता है) आयु की इच्छा से शतकृष्णलयाग (सोने के १०० पासों का दान) किया जाता है । इस प्रकार यहाँ उपनिषदों में भी प्रतिपाद्य ब्रह्मतत्त्व में शंका नहीं, करो इससे बार-बार श्रवण मनन आदि करना चाहिए ॥१००॥

विशेष—(१) यथा शाखादिभेदात् कर्मभेदों वर्तते । एवं संविद्भेदो न वर्तते ज्ञानस्य एकत्वात् ।

(२) ऋक् वेद की (२१) शाखा है । यजुर्वेद की (१०६) शाखा है और अथर्ववेद की (५०) शाखा है । सामवेद की (१००) शाखा हैं—जैसे वृक्ष का अधिपति अपने-अपने पुत्रों को वृक्ष की शाखा का विभाग कर देते हैं । वैसे ही मन्द पुरुष वालों को देखकर व्यास भगवान ने एक वेद के ऋग्-यजु-साम-अथर्व भेद से चार प्रकार का किया । उन शाखाओं के अभिमानी ब्राह्मणों के कर्मों का भेद है । उन एक-एक शाखा की एक-एक उपनिषद् है—यह मुक्तिकोपनिषद् में लिखा है । सब मिलकर (११८०) शाखा है उपनिषद् है । इनमें (८४०) कर्म की बोधक है (२३२) ध्येयबोधक उपासना काण्ड १०८ ज्ञेय ब्रह्म की प्रतिपादक है । ब्रह्म सूत्र पदार्थ निर्णायक ५३५ सूत्र है । इसी को ब्रह्म मीमांसा और उत्तरमीमांसा कहते हैं—इसके चार अध्याय हैं—एक अध्याय में चार-चार पाद हैं । श्री शङ्कराचार्य ने शारीरिक भाष्य लिखा है ।

किं तच्छ्रवणमित्याकाङ्क्षायां तल्लक्षणमाह—

वेदान्तानामशेषाणामादिमध्यावसानतः ।
ब्रह्मात्मन्येव तात्पर्यमिति धीः श्रवणं भवेत् ॥१०१॥

अन्वय :—अशेषाणां वेदान्तानां आदिमध्यावसानतः ब्रह्मात्मनि एव तात्पर्यं इति धीः श्रवणं भवेत् ।

'वेदान्तानामिति' । सर्वासामप्युपनिषदामुपक्रमोपसंहारादिपर्यालोचनायां ब्रह्मरूपे प्रत्यगात्मन्येव तात्पर्यमिदं पारम्पर्येण पर्यवसानमित्येवंरूपो निश्चयः श्रवणमित्यर्थः ॥१०१॥

एवंविधं श्रवणं कुत्र निरूपितमित्यत आह—

समन्वयाध्याय एतत् सूक्तं धीस्वास्थ्यकारिभिः ।
तर्कैः संभावनार्थस्य द्वितीयाध्याय ईरिता ॥१०२॥

अन्वयः—धीस्वास्थ्यकारिभिः एतत् समन्वयाध्याये सूक्तं सम्भावनार्थस्य तर्कैः द्वितीयाध्याये ईरिता ।

'समन्वयाध्याय इति' । एतच्छ्रवणं समन्वयाध्याये सुष्ठूक्तं व्यासादिभिरिति शेषः । अर्थासंभावना-निवृत्तिहेतुर्मननं तु द्वितीयाध्याये निरूपितमित्याह—धीस्वास्थ्येति । प्रमेयगतानुपपत्तिपरिहारद्वारा बुद्धिस्वास्थ्यकारिभिस्तर्कैः युक्तिशब्दाभिधेयैरर्थस्य संभावनासंभावितत्वानुसंधानं मननं द्वितीयाध्याये निरूपितमित्यर्थः ॥१०२॥

अब श्रवण आदि का लक्षण कहते हैं—

सम्पूर्ण उपनिषदों का आदि, मध्य, और अन्त कहीं से भी उपक्रम, उपसंहार की एकता (१) अभ्यास (२) अपूर्वता (३) फल (४) अर्थवाद (५) और उपपत्ति (६) के देखने से ब्रह्म रूप प्रत्यगात्मा में ही तात्पर्य है । इस निश्चयात्मक बुद्धि को श्रवण कहते हैं ॥१०१॥

यह श्रवण मनन का निरूपण कहाँ किया गया है इस पर कहते हैं—

व्यास मुनि आनन्द गिरि आदि ने प्रथम समन्वयाध्याय में इस श्रवण का भली तरह वर्णन किया है और तर्कों से अर्थ की सम्भावितता अनुसंधान रूप मनन का दूसरे अध्याय में निरूपण किया है । प्रमेयगत संदेहों को मिटाकर बुद्धि की स्वस्वरूप में एकाग्रता उत्पन्न करना ही (धी स्वरूप है) जिससे ब्रह्मात्मा की एकता रूप अर्थ की सम्भावना का अनुसंधान मनन, दूसरे अध्याय में निरूपण किया है ॥१०२॥

इदानीं विपरीतभावनां तन्निवृत्त्युपायं च दर्शयति—

बहुजन्मदृढाभ्यासाद्देहादिष्वात्मधीः क्षणात् ।
पुनः पुनरुदेत्येवं जगत्सत्यत्वधीरपि ॥१०३॥

अन्वयः बहुजन्मदृढाभ्यासात् देहादिषु क्षणात् आत्मधीः पुनः पुनः उदेति इति एवं जगत् सत्यत्वधीरपि (उदेति) ।

'बहुजन्मेति' ॥१०३॥

विपरीता भावनेयमैकाग्र्यात्सा निवर्तते ।
तत्त्वोपदेशात्प्रागेव भवत्येतदुपासनात् ॥१०४॥

अन्वयः -विपरीता इयं भावना ऐकाग्र्यात् सा निवर्तते तत्त्वोपदेशात् प्रागेव एतत् उपासनात् भवति ।

'विपरीतेति' । विपरीतभावनानिवर्तकं यदैकाग्र्यं तत्कुतो जायत इत्याशङ्क्याह—'तत्त्वेति' । एतदैकाग्र्यं ब्रह्मोपदेशात्प्रागेव सगुणब्रह्मोपासनाद्भवति भवेदित्यर्थः ॥१०४॥

अब विपरीत भावना और उसकी निवृत्ति के उपाय को दिखाते हैं -

बहुत जन्मों से दृढ़ अभ्यास के कारण क्षण-क्षण में देह आदि में आत्म बुद्धि उदित होती है और इसी प्रकार जगत् को सत्य समझने का विचार भी पुनः-पुनः उत्पन्न हुआ करता है यह विपरीत भावना है ॥१०३॥

अब विपरीत भावना की निवर्तक एकाग्रता को कहते हैं यह विपरीत भावना (जगत् के सत्यत्व बुद्धि) चित्त की एकग्राता से निवृत्त होती है और वह एकाग्रता ब्रह्म तत्व के उपदेश से पहले भी सगुण ब्रह्म की उपासना से प्राप्त हो जाती है ॥१०४॥

नन्वेतत्कुतोऽवगतमित्याशङ्क्य, उपासनाविचारस्य वेदान्तशास्त्रे कृतत्वादित्याह्—

उपास्तयोऽत एवात्र ब्रह्मशास्त्रेऽपि चिन्तिताः ।

प्रागनभ्यासिनः पश्चाद्ब्रह्माभ्यासेन यद्भवेत् ॥१०५॥

अन्वयः—अत्र ब्रह्मशास्त्रेऽपि उपास्तयो अतएव चिन्तिताः प्राक् अनभ्यासिनः पश्चात् ब्रह्माभ्यासेन तद्भवेत् ।

'उपास्तय इति' । अकृतोपास्तिकस्य कुतस्तज्जन्मेत्यतआह—'प्रागिति' १०५॥

ब्रह्माभ्यासश्च कीदृश इत्याकाङ्क्षायामाह्—

तच्चिन्तनं[1] तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।

एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥१०६॥

अन्वयः - तच्चिन्तनं तत्कथनं अन्योन्यं तत्प्रबोधनम् एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं बुधाः विदुः ।

'तच्चिन्तनमिति' ॥१०६॥

एकाग्रता सगुण उपासना से होती है कैसे जाना, अब वेदान्तशास्त्र में किये उपासना विचार का वर्णन करते हैं—

इसलिए (कि विपरीत भावना की निवर्तक एकाग्रता उपासना से होती है) इस ब्रह्म शास्त्र में भी उपासना का विचार किया है और जिसने पहले उपासना नहीं की उसको भी पीछे ब्रह्म के अभ्यास से चित्त की एकाग्रता हो जाती है ॥१०५॥

अब ब्रह्म के अभ्यास को कहते हैं—

ब्रह्म का ही चिन्तन, ब्रह्म का ही कथन और परस्पर उस ब्रह्म का ही समझना, इस प्रकार एक मात्र ब्रह्म में ही तत्पर रहना बुद्धिमान् मनुष्यों ने इसको ही ब्रह्म का अभ्यास कहा है ॥१०६॥

विशेष १—दो प्रकार के मनुष्य होते हैं एक तो निर्गुण ब्रह्म तत्त्व का उपदेश आज तक नहीं सुना, उसको सगुण ब्रह्म की उपासना से चित्त की एकाग्रता प्राप्त हो जाती है । दूसरा जिन्होंने निर्गुण ब्रह्म का उपदेश सुना है । प्रथम सगुण ब्रह्म की उपासना नहीं की उसको चित्त की एकाग्रता ब्रह्म अभ्यास से होती है ।

एतदेकपरत्वं विशदयितुं (बृ०४।४।२०) श्रुतिमाह—

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥१०७॥

अन्वयः—धीरः तमेव विज्ञाय ब्राह्मणः प्रज्ञां कुर्वीत नानुध्यायात् बहून् शब्दान् तत् वाचः विग्लापनं हि ।

'तमेवेति'। धीरो ब्रह्मचर्यादिसाधनसंपन्नः ब्राह्मणो ब्रह्म भवितुमिच्छुर्मुमुक्षु तमेव प्रत्यग्रूपं परमात्मानमेव विज्ञाय संशयाद्यभावो यथा भवति तथा ज्ञात्वा, प्रज्ञां ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानसंततिरूपमैकाग्र्यं कुर्वीत संपादयेत् । अनात्मगोचरान्बहून् शब्दान्नानुध्यायान्नानुस्मरेत् । ध्यानेनाभिधानमप्युपलक्ष्यते, नाभिदध्याच्च, अन्यथा शब्दध्यानेन वाग्विग्लापनानुपपत्तेः। कुत इत्यत आह 'वाच इति' हि यस्मात्तदभिधानं । अनेन स्मरणमप्युपलक्ष्यते । वाच' इति मनसोऽप्युपलक्षणम् । विग्लापनं विग्लापयतीति विग्लापनं श्रमहेतुः । अयमभिप्रायः -इतरशब्दानुसंधाने मनसः श्रमो भवति, तदभिधाने तु वाच इति ॥१०७॥

एक मात्र ब्रह्म के प्रति तत्परता को (एकाकार) दिखाने के लिए बृ० श्रुति को कहते हैं—

धीर ब्राह्मण उसी ब्रह्म को जानकर प्रज्ञा का सम्पादन करें और वाणी को श्रम देने वाली बहुत से शब्दों का स्मरण न करें ॥१०७॥

ब्रह्मचर्यादि साधनों के सम्पन्न धीर ब्राह्मण ब्रह्म होने की इच्छा वाला मुमुक्षु मनुष्य उस प्रत्यक् रूप परमात्मा को जानकर संशय आदि रहित समझकर, प्रज्ञा ब्रह्म आत्मा की एकता का जो ज्ञान की एक धारा रूप को सम्पादित करें । (निदिध्यासन करें) आत्मा से भिन्न का जिसमें वर्णन हो ऐसे बहुत शब्दों का स्मरण न करें वह स्मरण और ध्यान वाणी का श्रम है । अन्य शब्दों से वाणी का श्रम मन का भी वृथा परिश्रम है ॥१०७॥

एवमैकाग्र्यप्रतिपादिकां श्रुतिमभिधाय (गी० ९।२२) स्मृतिमप्याह—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥१०८॥

अन्वयः—ये जनाः अनन्याश्चिन्तयन्तः मां परि उपासते नित्याभियुक्तानां तेषां अहं योगक्षेमं वहामि ।

'अनन्या इति' ये जनाः अनन्या 'अहं ब्रह्मास्मी' तिज्ञानेन मदभिन्नाः सन्तस्तथैव मां चिन्तयन्तः पर्युपासते परितः सर्वेष्वपि कालेषु उपासते, मद्रूपा एव वर्तन्ते, तेषां नित्याभियुक्तानां सदा मच्चित्तानां तेषां अहं तदात्मत्वेन अनुसंधीयमानोऽहं योगक्षेमं अलब्धप्रापणलब्धपरिरक्षणरूपौ योगक्षेमौ वहामि, संपादयामीत्यर्थः ॥१०८॥

उदाहृतयोः श्रुतिस्मृत्योस्तात्पर्यमाह—

इति श्रुतिस्मृती नित्यमात्मन्येकाग्रतां धियः ।
विधत्तो विपरीताया भावनायाः क्षयाय हि ॥१०९॥

अन्वयः—इति श्रुतिस्मृती नित्यं आत्मनि एकाग्रतां धियः विधत्तः विपरीतायाः भावनायाः क्षयाय हि ।

इतीति' । एते श्रुतिस्मृती विपरीतभावनानिवृत्तये आत्मनि सदा चित्तैकाग्र्यं प्रतिपादयत इत्यर्थः ॥१०९॥

अब एकाग्रता की बोधक श्रुति को कहकर स्मृति को कहते हैं—

जो जन अनन्य होकर मेरी चिन्ता से उपासना करते हैं। नित्य मुझमें लगे हुए हैं उनको मैं योगक्षेम देता हूँ ।१०८॥

जो मनुष्य (साधन चतुष्टय सम्पन्न , अनन्य होकर "मैं ब्रह्म हूँ" इस ज्ञान से मुझसे अभिन्न (एक रूप) हुए मुझमें ही चित्त लगाये रहते हैं। (अपने आत्म रूप से विचार्यमाण) मैं स्वयं उनके योगक्षेम अलब्ध की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा रूप योगक्षेम का सम्पादन करता हूँ ॥१०८॥

अब पूर्वोक्त श्रुतिस्मृतियों के तात्पर्य को कहते हैं—

पूर्वोक्त श्रुति और स्मृतियाँ विपरीत भावना की निवृत्ति के लिए बुद्धि की एकाग्रता के आत्मा में (निरन्तर समाहित चित्त) अर्थात् सदा ही आत्माकार बुद्धि इनसे बनी रहती है ॥१०९॥

ननु देहाद्यात्मत्वबुद्धेः जगत्सत्यत्वबुद्धेश्च कुतो विपरीतभावनात्वमित्याशङ्क्य, तल्लक्षणयोगादिति दर्शयितुं तस्या लक्षणमाह—

यद्यथा वर्तते तस्य तत्त्वं हित्वाऽन्यथात्वधीः ।
विपरीता भावना स्यात्पित्रादावरिधीर्यथा ॥११०॥

अन्वय : यत् यथा वर्तते तस्य तत्त्वं हित्वा अन्यथात्वधीः पित्रादौ अरिधीः यथा विपरीता भावना स्यात् ।

'यद्यथेति' यद्वस्तु शुक्त्यादि यथा येन शुक्त्यादिरूपेण वर्तते तस्य तत्त्वं शुक्त्यादिरूपत्वं परित्यज्यान्यथात्वधीरन्यथात्वस्य रजतादिरूपत्वस्य धीर्ज्ञानं विपरीतभावना स्यात् । अतस्मिंस्तद्बुद्धिरिति यावत् । तामुदाहरति —'पित्रादाविति' ॥११०॥

उक्तलक्षणं प्रकृते योजयति—

आत्मा देहादिभिन्नोऽयं मिथ्या चेदं जगत्तयोः ।
देहाद्यात्मत्वसत्यत्वधीर्विपर्ययभावना ॥१११॥

अन्वय :—अयं आत्मा देहादिभिन्नः इदं जगत् मिथ्या, तयोः (आत्म जगतोः) देहादिआत्मत्व सत्यत्वधीः विपर्ययभावना ।

'आत्मेति' अयमात्मा वस्तुतो देहादिभ्यो भिन्नः इदं जगच्च मिथ्या, एवं सत्यपि तयोः आत्मजगतोर्यथाक्रमं देहादिरूपत्वबुद्धिः सत्यत्वबुद्धिश्च या विपरीतभावनेत्यर्थः ॥१११॥

अब देह में आत्म बुद्धि और जगत् में सत्यत्व बुद्धि को विपरीत भावना दिखाने के लिए, विपरीत भावना का लक्षण कहते हैं—

जो शुक्ति आदि वस्तु जिस शुक्ति आदि रूप से रहती हैं, उसके तत्त्व (पदार्थ) शुक्ति आदि रूप को छोड़कर अन्यथात्वबुद्धि रजत आदि जो बुद्धि (ज्ञान है) वही विपरीत भावना है। (अतत् को तत् समझ लेना) जैसे किसी दुष्टपुत्र की अपने पिता में शत्रु बुद्धि हो जाना ॥११०॥

अब पूर्वोक्त लक्षण को प्रसंग में घटाते हैं—

यह आत्मा वस्तुतः (परमार्थ से) देह आदि से भिन्न है और यह संसार मिथ्या है, ऐसा होने पर भी देह में आत्मबुद्धि और जगत् में सत्यत्वबुद्धि है अर्थात् देह को आत्मा और जगत् को जो सत्य समझता है वही विपरीत भावना है ॥१११॥

पूर्वम् 'ऐकाग्र्यात्सा निवर्तते' (प्र० ७।१०४) इति सामान्येनोक्तमर्थं विशेषाकारेणाह—

तत्त्वभावनया नश्येत् साऽतो देहातिरिक्तताम् ।
आत्मनो भावयेत्तद्वन्मिथ्यात्वं जगतोऽनिशम् ।।११२।।

अन्वय : तत्त्वभावनया सा नश्येत् अतः आत्मनः देहातिरिक्ततां भावयेत् तद्वत् मिथ्यात्वं अनिशम् जगतः (भावयेत्) ।

'तत्त्वभावनयेति' सा देहाद्यात्मत्वजगत्सत्यत्वधीरूपा विपरीता भावना तत्त्वभावनया आत्मनो देहातिरिक्तत्वस्य जगतो मिथ्यात्वस्य च भावनया निरन्तरध्यानेन नश्येत् । अत आत्मनो देहाद्यतिरिक्तत्वं देहादेः जगतो मिथ्यात्वं च सदा भावयेदित्युक्तम् ।।११२।।

तत्र जपादाविव नियमापेक्षाऽस्ति वा न वेति पृच्छति—

किं मन्त्रजपवन्मूर्तिध्यानवद्वात्मभेदधीः ।
जगन्मिथ्यात्वधीश्चात्र व्यावर्त्या स्यादुतान्यथा ।।११३।।

अन्वय :—किं मन्त्रजपवत् मूर्तिध्यानवत् आत्मभेदधीः जगन्मिथ्यात्वधीश्च अत्र व्यावर्त्या स्यात् उत अन्यथा ।

'किं मन्त्रजपवदिति' । आत्मभेदधीरात्मनो देहादिभ्यो विभिन्नज्ञानं जगतो मिथ्यात्वानुसंधानं च मन्त्रजपवत् देवताध्यानादिवत् किं नियमेनानुष्ठातव्यं, उत लौकिकव्यवहारवन्नियममन्तरेणापि कर्तुं शक्यत इति ।।११३।।

पहले १०४वें श्लोक में एकाग्रता से वह निवृत्त होती है इस सामान्य रूप से कहे अर्थ का विशेष रूप से वर्णन करते हैं—

वह देह में आत्मा की और जगत् में सत्यत्व की बुद्धि रूप विपरीत भावना तत्त्व की भावना से अर्थात् देह से भिन्न आत्मा और मिथ्यारूप जगत् के ज्ञान से (सर्वदा ध्यान से) नष्ट होती है । इससे आत्मा को देह से भिन्न और देह आदि जगत् को मिथ्यात्व की रात-दिन भावना किया करें ।।११२।।

तत्र (आत्मा देहादि से भिन्न जगत् मिथ्यात्वभावना) जप आदि के समान ध्यान का कोई नियम है या नहीं अब यह पूंछते हैं —

क्या आत्मा के देह आदि से भिन्न होने के ज्ञान को और जगत् के मिथ्यात्व के अनुसंधान को मन्त्र जप की तरह अथवा देवता के ध्यान की तरह नियम से करना चाहिए । या नियम के बिना भी (लौकिक व्यवहार की तरह) किया जा सकता है ।।११३।।

दृष्टफलकत्वान्नात्र नियमः कश्चिदस्तीत्याह—

अन्यथेति विजानीहि दृष्टार्थत्वेन भुक्तिवत् ।
बुभुक्षुर्जपवद्भुङ्क्ते न कश्चिन्नियतः क्वचित् ॥११४॥

अन्वय :—अन्यथा इति विजानीहि दृष्टार्थत्वेन भुक्तिवत् बुभुक्षुः जपवत् भुङ्क्ते कश्चित् क्वचित् नियतः न ।

'अन्यथेति' । अन्यथा, नियमं विनेत्यर्थः । तत्र हेतुमाह 'दृष्टार्थेऽपि' भोजने नियमाः श्रुतिस्मृत्योरुपलभ्यन्त इत्याशङ्क्याह -'बुभुक्षुरिति' । क्षुदपनयनाय भोक्तुमिच्छन्पुरुषो जपं कुर्वाण इव न नियमेन भुङ्क्ते, अपितु यथा क्षुद्बाधोपशान्तिः स्यात्तथा भोजनं करोतीत्यर्थः ॥११४॥

एतदेव प्रपञ्चयति —

अश्नाति वा न वाऽश्नाति भुङ्क्ते वा स्वेच्छयाऽन्यथा ।
येन केन प्रकारेण क्षुधामपनिनीषति ॥११५॥

अन्वय :—अश्नाति वा न वाश्नाति अन्यथा स्वेच्छया भुङ्क्ते वा येन केन प्रकारेण क्षुधां अपनीनीषति ।

'अश्नातीति' । अश्नाति वाऽन्ने सति कदाचिद्भुङ्क्ते न वाऽश्नाति, तस्मिन्नसति क्षुद्बाधाविस्मारकद्यूतादिचेष्टयाऽनश्नन्नेव कालं नयति. अन्यथा वा तिष्ठन् गच्छन् शयानो वा स्वेच्छया भुङ्क्ते एवं येन केन प्रकारेण तात्कालिकीं क्षुद्बाधामपनेतुमिच्छति । अत्रायमभिसंधिः - -क्षुद्बाधानिवृत्तिलक्षणदृष्टफलाय भोजनमेव कार्यं, नियमास्तु परलोकहेतव इति ॥११५॥

अब प्रत्यक्ष फल वाला होने से यहाँ कोई नियम नहीं इसका वर्णन करते हैं—

अन्य प्रकार से है किसी नियम के बिना करना चाहिए । क्योंकि यह विषय तो प्रत्यक्ष फलवान् है । दृष्टान्त कहते हैं —यदि कहो कि दृष्टार्थ भोजन में भी नियम श्रुति और स्मृतियों में मिलते हैं । इस शंका का उत्तर —जैसे भोजनार्थी कोई भी पुरुष जप करने वाले की तरह नियम से नहीं खाता, किन्तु जिस प्रकार क्षुधा की पीड़ा शान्त हो जाय वैसे ही वह भोजन करता है ॥११४॥

अब पूर्वोक्त को ही विस्तार से कहते हैं—

भूखा मनुष्य (अन्न हो तो कभी) खाता है, और अन्न नहीं है तो नहीं खाता है । क्षुधा के भुला देने वाले द्यूत आदि खेल से काल को बिताता है । अपनी इच्छा से अन्यथा जिस किसी प्रकार बैठा हुआ चलता फिरता, गमन करता हुआ, सोता हुआ उस समय भी किसी भी प्रकार से भूख को मिटा देना चाहता है । गूढ़ अभिप्राय यह है कि भोजन भूख की निवृत्ति रूप दृष्ट फल के लिए ही है और भोजन के नियम परलोक के लिए होते हैं ॥११५॥

जपादौ भोजनाद्वैलक्षण्यं दर्शयति—

नियमेन जपं कुर्यादकृतौ प्रत्यवायतः ।
अन्यथाकरणेऽनर्थः स्वरवर्णविपर्ययात् ॥११६॥

अन्वय :—नियमेन जपं कुर्यात् अकृतौ प्रत्यवायतः अन्यथाकरणेस्वरवर्णविपर्ययात् अनर्थः ।

'नियमेनेति' । तत्र हेतुमाह —'अकृताविति' । भवत्वेवमकरणे प्रत्यवायश्च, अन्यथाकरणे तु स नास्तीयाशङ्क्याह —'अन्यथेति' । मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह । स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' (पा० शि० ५२) इत्युक्तत्वादिति भावः ॥११६॥

ननु क्षुधाया दृष्टबाधाहेतुत्वात्तन्निवृत्त्येऽनियमेनापि भोक्तव्यमेव विपरीतभावनायास्तु तथात्वाभावात्तन्निवर्तकं ध्यानं अदृष्टफलाय नियमेनानुष्ठेयमित्याशङ्क्याह—

क्षुधेव दृष्टबाधाकृद्विपरीता च भावना ।
जेया केनाप्युपायेन नास्त्यत्रानुष्ठितेः क्रमः ॥११७॥

अन्वयः—दृष्टबाधाकृत् क्षुधा इव भावना च विपरीता केनाप्युपायेन जेया अत्र अनुष्ठितेः क्रमः नास्ति ।

'क्षुधेवेति' । विपरीतभावनाया दुःखहेतुत्वस्यानुभवसिद्धत्वादिति भावः ॥११७॥

अब जप आदि में भोजन से विलक्षणता को दिखाते हैं—

नियम से जप करे, न करने में दोष है और अन्यथा करने में स्वर वर्ण के विपर्यय से अनर्थ होता है ॥११६॥

नियम से जप को करें नियम से न करने में शास्त्र में दोष कहा है और अन्यथा करने में स्वर वर्ण विपर्यय से अनर्थ होता है. कहा है उदात्त-अनुदात्त स्वरित आदि स्वर अक्षर से हीन मन्त्र अशुद्ध, उच्चारण के कारण वाञ्छित अर्थ को नहीं बताता इसलिए वाणी रूप वज्र बनकर यजमान को नष्ट कर देता है । जैसे इन्द्र का शत्रु वृत्रासुर स्वर के अपराध से मारा गया अभिप्राय यह है कि शास्त्रोक्त विधि के बिना किया गया जप अनर्थकारी होता है । (इन्द्रशत्रो विवर्धस्व इस मन्त्र में होता द्वारा "इन्द्र का शत्रु" इस षष्ठी तत्पुरुष के स्थान पर 'इन्द्र ही शत्रु" इस कर्म धारय का स्वर उच्चारण करने से इन्द्र की वृद्धि हुई वृत्रासुर की नहीं ॥११६॥

यदि कहो क्षुधा दृष्टबाधा का हेतु है उसकी निवृत्ति के लिए अनियम से भी भोजन रहे, विपरीत भावना तो दृष्टबाधा का हेतु नहीं उसका निवर्तक ध्यान अदृष्ट फल के लिए नियम से करना चाहिए इस शंका का उत्तर—

क्षुधा के समान विपरीत भावना भी प्रत्यक्ष दुःख देने वाली है यह बात अनुभव सिद्ध है ही । उसको जिस किसी प्रकार जीतना है । अतएव उसके जीतने में अनुष्ठान का कोई निश्चित नियम नहीं हो सकता ॥११७॥

तर्हि स उपायः प्रदर्शनीय इत्याशङ्क्य, पूर्वमेव प्रदर्शित इत्याह—

उपायः पूर्वमेवोक्तस्तच्चिन्ताकथनादिकः ।
एतदेकपरत्वेऽपि निर्बन्धो ध्यानवन्न हि ॥११८॥

अन्वय : -उपायः तच्चिन्ताकथनादिकः पूर्वमेवोक्तः एतत् एकपरत्वेऽपि ध्यानवत् निर्बन्धः न हि ।

'उपाय इति' । ननु जपवत्प्राङ्मुखत्वादिनियमो मा भूत्, ध्यानवदेतदेकपरत्वलक्षणैकाग्रतानिर्बंधोऽस्तीत्याशङ्क्याह—'एतदिति' ।११८॥

ननु ध्यानस्य ध्येयचिन्तामात्रात्मकत्वात्तत्र को निर्बन्ध इत्याशङ्क्य, ध्याने निर्बन्धं दर्शयितुं ध्यानस्वरूपं तावदाह—

मूर्तिप्रत्ययसान्तत्यमन्यानन्तरितं धियः ।
ध्यानं तत्रातिनिर्बन्धो मनसश्चञ्चलात्मनः ॥११९॥

अन्वयः -धियः मूर्तिप्रत्ययसान्तत्यं अन्यानन्तरितं ध्यानं चञ्चलात्मनः मनसः तत्र अतिनिर्बंधः ।

'मूर्तीति' । धियो बुद्धेः संबन्धिनां देवतादिमूर्तिगोचराणां प्रत्ययानां यत्सान्तत्यमविच्छिन्नतया वर्तमानत्वं तदन्यानन्तरितमन्येन विजातीयप्रत्ययेनाव्यवहितं सत् ध्यानमित्युच्यते । एवं ध्यानस्वरूपं निरूप्य, तत्र निर्बन्धं दर्शयति -'तत्रेति' । सदा पर्यटनशीलस्य करितुरगादेरेकत्र स्तम्भादौ बन्धने यथोपरोधो भवति तद्वदिति भावः ॥११९॥

तब तो वह निवृत्ति का उपाय दिखाने योग्य है ऐसी आशङ्का कर कहते हैं कि इसका तो पूर्व में भी विवेचन कर दिया है ·

विपरीत भावना का निवर्तक उपाय ब्रह्म की ही चिन्ता, उसी का कथनादि पहले ही १०६वें श्लोक में कह दिया है—जप की तरह 'पूर्वाभिमुख बैठने आदि का नियम तो है ही नहीं, मूर्ति आदि के ध्यान की तरह कोई कठिन नियम नहीं है, इस शंका का उत्तर —उसमें ब्रह्म के एक परता (एकाग्रता) होने पर भी ध्यान के समान भी कोई (निर्बन्ध) नियम का बन्धन नहीं है ॥११८॥

अब ध्यान करने योग्य की चिन्ता रूप ध्यान में निर्बन्ध दिखाने के लिए ध्यान का स्वरूप कहते हैं—

बुद्धि का जो देवता आदि की मूर्तियों का विषय करने वाली प्रतीति उसका सान्तत्य (निरन्तर रहना) उसकी विजातीय प्रतीति के व्यवधान से रहित प्रवाह बहना है-वह ध्यान कहलाता है । इस ध्यान में ही चञ्चलात्मा मन का पूरा-पूरा बन्धन होता है । सदा घूमते रहने वाले हाथी घोड़े आदि को किसी स्तम्भ में बांध कर जैसे उपरोध (घेर लिया जाता है) ऐसे ही मन का ॥११९॥

मनसश्चाञ्चल्यादौ गीतावाक्यं (६।३४) प्रमाणयति—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद्दृढम् ।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।१२०।।

अन्वयः—हे कृष्ण मनः हि चञ्चलं प्रमाथि बलवद् दृढम् अहं तस्य निग्रहं वायोः इव सुदुष्करम् मन्ये ।

'चञ्चलंहीति' । प्रमाथि प्रमथनशीलं पुरुषस्य व्याकुलत्वकारणं बलवत्समर्थमनिग्राह्यमित्यर्थः । दृढं सत्यसति वा विषये लग्नम् तत उद्धर्तुमशक्यमित्यर्थः अतस्तस्य मनसो निग्रहो वायोर्निग्रह इव सुदुष्करः ।।१२०।।

मनसो दुर्निग्रहत्वे वासिष्ठवाक्यमपि प्रमाणयति—

अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि ।

अपि वह्न्यशनात्साधो ! विषमश्चित्तनिग्रहः ।।१२१।।

अन्वयः—अब्धिपनात् महतः अपि सुमेरून्मूलनाद् अपि महतः वह्न्यशनात् अपि महतः साधो चित्त निग्रहः विषमः ।

'अपीति' ।।१२१।।

अब मन की चञ्चलता में गीता वाक्य प्रमाण देते हैं—

हे कृष्ण ! यह मन चञ्चल है और प्रमाथि, पुरुष की व्याकुलता का कारण और बलवान् निग्रह के अयोग्य, समर्थ है और दृढ़ है सत् एवं असत् में आसक्त है, इसलिए मैं उसका निग्रह वायु के निग्रह के समान अति कठिन मानता हूँ ।।१२०।।

अब मन के निग्रह की कठिनता में वसिष्ठ वाक्य प्रमाण देते हैं—

हे राम महान् समुद्र को पीने सुमेरु पर्वत को उखाड़ने से और अग्नि के भक्षण से भी विषम (कठिन) है मन को वश में करना ।।१२१।।

प्रकृते ततो वैषम्यं दर्शयति –

कथनादौ न निर्बन्धः शृङ्खलाबद्धदेहवत् ।
किंत्वनन्तेतिहासाद्यैर्विनोदो नाट्यवद्धियः ॥१२२॥

अन्वय :– शृङ्खलाबद्धदेहवत् यथा निर्बन्धः न तथा कथनादौ किंतु अनन्तेतिहासाद्यैः धियः नाट्यवत् विनोदः ।

'कथनादाविति' । शृङ्खलाबद्धदेहस्य यथा निर्बन्धः, न तथा कथनादावित्यर्थः । आदि'– शब्देन तच्चिन्तनादिकं गृह्यते । न केवलं निर्बन्धाभावश्च, प्रत्युत धियो विनोद इत्याह 'किंत्विति' । इतिहासः पूर्वेषां कथा आद्या तेषां लौकिककथानुकूलयुक्तिदृष्टान्तप्रदर्शनादीनां ते अनन्ता असंख्याताश्च ते इतिहासाद्याश्च इत्यनन्तेतिहासाद्यास्तैर्धियः बुद्धेः विनोदः क्रीडाविषयो भवति । तत्र दृष्टान्तः– 'नाट्यवदिति' । नृत्यक्रियानिरीक्षणमिवेत्यर्थः ॥१२२॥

ननु कथादिभिरपि तदेकपरत्वविघातः स्यादित्याशङ्क्याह–––

चिदेवात्मा जगन्मिथ्येत्यत्र पर्यवसानतः ।
निदिध्यासनविक्षेपो नेतिहासादिभिर्भवेत् ॥१२३॥

अन्वय : आत्मा चित् एव जगत् मिथ्या इत्यत्र पर्यवसानतः निदिध्यासन विक्षेपः इतिहासदिभिर्न भवेत् ।

'चिदेवेति' । इतिहासादीनामात्मा चिन्मात्ररूपो न देहादिरूपः, जगच्च मिथ्येत्येतस्मिन्नर्थे पर्यवसानात् न तैरेतदेकपरत्वशब्दाभिधेयस्य निदिध्यासनस्य विक्षेप इत्यर्थः ॥१२३॥

अब प्रकृत (विपरीत भावना निवर्तक) निदिध्यासन में ब्रह्माभ्यास के कथन और चिन्तन आदि में निर्बन्ध नहीं, किन्तु अनन्त इतिहास है आदि में जिसके ऐसे जो लौकिक कथा अनुकूल युक्ति दृष्टान्त आदि हैं उनसे नृत्य क्रिया दर्शन के समान बुद्धि का ऐसा ही बिनोद होता है, जैसा कि किसी नाटक को देखने से होता है ॥१२२॥

यदि कहो कि कथा आदि से भी ब्रह्म में एक परता का विधान (भंग) हो जायेगा——

इतिहास आदिकों का केवल मात्र यही तात्पर्य है––आत्मा चेतनमात्र है देहादि रूप नहीं है और जगत् मिथ्या है इसमें ही पर्यवसान (समाप्ति) होने से निदिध्यासन का विक्षेप (नाश) इतिहास आदियों से नहीं होता ॥१२३॥

नन्वितिहासानामङ्गीकारे कृष्यादेरपि प्रसक्तिः स्यादित्याशङ्क्याह—

कृषिवाणिज्यसेवादौ काव्यतर्कादिकेषु च ।
विक्षिप्यते प्रवृत्त्या धीस्तैस्तत्त्वस्मृत्यसंभवात् ॥१२४॥

अन्वय :—कृषिवाणिज्यसेवादौ काव्यतर्कादिकेषु च प्रवृत्त्या धीः विक्षिप्यते तैः तत्त्वस्मृत्यसंभवात् ।

'कृषीति' । १२४॥

ननु कृष्यादीनां तत्त्वानुसंधानविघातित्वेन त्याज्यत्वे भोजनादेरपि तथात्वात्तदपि त्याज्यमेवेत्याशङ्क्याह—

अनुसंदधतैवात्र भोजनादौ प्रवर्तितुम् ।
शक्यतेऽत्यन्तविक्षेपाभावादाशु पुनः स्मृतेः ॥१२५॥

अन्वय :– अनुसंदधतैव अत्र भोजनादौ प्रवर्तितुम् शक्यतेऽत्यन्तविक्षेपाभावात् आशु पुनः स्मृतेः ।

'अनुसंदधतैवेति' । कुत इत्यत आह —'अत्यन्तेति' । विक्षेपाभावोऽपि कुत इत्यत आह—'आशु पुनः स्मृतेरिति' ॥१२५॥

यदि कहो कि मुमुक्षु को इतिहास आदि का स्वीकार करोगे तो कृषि आदि के भी स्वीकार का प्रसंग हो जायेगा इसका उत्तर—

खेती, व्यापार, नौकरी, काव्य, तथा तर्कादि में प्रवृत्ति हो जाने के कारण बुद्धि का विक्षेप होता है । क्योंकि उनसे (उनको करते हुए) आत्म तत्त्व का स्मरण नहीं होता ॥१२४॥

शंका – तत्त्व स्मृति के विघातक त्यागने योग्य हैं तो ज्ञानी को भोजन आदि भी त्यागने योग्य हो जायेंगे

ब्रह्म विचार का अनुसंधान (तत्त्व स्मरण) करता हुआ साधक भोजन आदि में प्रवृत्त हो ही सकता है क्योंकि भोजनादि में प्रवृत्ति से अत्यन्त विक्षेप नहीं होता, भोजन के अनन्तर फिर शीघ्र ही ब्रह्म तत्त्व का स्मरण होने से सर्वथा विक्षेप का अभाव है ॥१२५॥

ननु तदानीं विक्षेपाभावेऽपि तत्त्वविस्मृतिसद्भावात् पुरुषार्थहानिः स्यादित्याशङ्क्याह—

तत्त्वविस्मृतिमात्रान्नानर्थः किंतु विपर्ययात् ।
विपर्येतुं न कालोऽस्ति झटिति स्मरतः क्वचित् ॥१२६॥

अन्वय : तत्त्वविस्मृतिमात्रात्नानर्थः किंतु विपर्ययात् विपर्येतुं कालः नास्ति क्वचित् झटिति स्मरतः (कालः नास्ति) ।

'तत्त्वविस्मृतीति' । कुतस्तर्ह्यनर्थ इत्यत आह—'किंतु विपर्ययादिति' । विस्मरणे सति विपर्ययोऽपि स्यादित्याशङ्क्याह—'विपर्येतुमिति' ॥१२६॥

ननु भोजनादिषु प्रवृत्तस्येव तर्काद्यभ्यासप्रवृत्तस्यापि तत्त्वस्मरणं किं न स्यादित्याशङ्क्याह—

तत्त्वस्मृतेरवसरो नास्त्यन्याभ्यासशालिनः ।
प्रत्युताभ्याससघातित्वाद्बलात्तत्त्वमुपेक्ष्यते ॥१२७॥

अन्वय :—अन्याभ्यासशालिनः तत्त्वस्मृतेः अवसरो नास्ति प्रत्युत घातित्वात् बलात्तत्त्वमुपेक्ष्यते ।

तत्त्वस्मृतेरिति' । न केवलं तत्त्वानुसंधानावसराभाव एव, किंतु काव्यतर्काद्यभ्यासस्य तत्त्वाभ्यास विरोधित्वात्तदानीं स्मृतमपि तत्त्वं बलादुपेक्ष्यत इत्याह—

'प्रत्युतेति' ॥१२७॥

शंका—उस समय विक्षेप का अभाव होने पर भी तत्त्व का विस्मरण होने पर मोक्ष की हानि हो जायेगी, इसका उत्तर देते हैं—

केवल तत्त्व (चिदात्मा रूप तत्त्व की देहादिक से भिन्नता और जगत् का मिथ्यापन) की विस्मृति से अनर्थ (पुरुष की हानि) नहीं होती, हाँ विपरीत ज्ञान से अनर्थ होता है। भोजनादि के समय तो झट से स्मरण करने वाले मुमुक्षु को विपर्यय होने का अवसर ही नही मिलता है ॥१२६॥

शंका जब भोजन आदि में प्रवृत्त मनुष्य के समान तर्क आदि के अभ्यास में प्रवृत्त मनुष्य को भी तत्त्व स्मरण क्यों नहीं हो सकता है इसका समाधान करते हैं —

न्याय शास्त्र आदि अन्य का अभ्यास करने वाले पुरुष को तत्त्व के स्मरण का अवसर ही नहीं मिलता, प्रत्युत काव्य तर्क आदि का अभ्यास तत्त्वाभ्यास का विरोधी है इससे स्मरण किए तत्त्व भी बलात् विस्मृत हो जाता है ॥१२७॥

तत्त्वानुसंधानविरोधिवाग्व्यवहारस्य त्याज्यत्वे प्रमाणत्वेन 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः' (मु० २।२।५) इति श्रुतिवाक्यमर्थतः पठति—

तमेवैकं विजानीथ ह्यन्या वाचो विमुञ्चथ ।
इति श्रुतं तथाऽन्यत्र वाचो विग्लापनं त्विति ॥१२८॥

अन्वय :—तमेवैकं विजानीथ ह्यन्या वाचो विमुञ्चथ इति श्रुतं तथा अन्यत्र तु वाचः विग्लापनं इति ।

'तमेवेति' । 'नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्' (बृ० ४।४।२१, शाट्या०) इत्येतदपि वाक्यं श्रूयत इत्याह— 'तथेति' ।१२८॥

ननु तत्त्वानुसंधानातिरिक्तमाहारादि यथा न त्यज्यते, एवमितरशास्त्राद्यभ्यासोऽपि क्रियतामित्याग्रहं कुर्वाणं प्रत्याह—

आहारादि त्यजन्नैव जीवेच्छास्त्रान्तरं त्यजन् ।
किं न जीवसि येनैवं करोष्यत्र दुराग्रहम् ॥१२९॥

अन्वय :—आहारादि त्यजन् नैव जीवेत् शास्त्रान्तरं त्यजन् किं न जीवसि येनैव अत्र दुराग्रहं करोषि ।

'आहारादीति' ॥१२९॥

शंका तत्त्व के स्मरण से भिन्न भोजन आदि को जैसे नहीं त्यागते, वैसे ही अन्य शास्त्रों के अभ्यास को भी आग्रह करना निर्मूल है——

आहारादि को छोड़ने से तो मनुष्य जीता नहीं, तो क्या अन्य शास्त्रों के छोड़ने सेभी मनुष्य नहीं जीता ? (अर्थात् मर जाता है) जो अन्य शास्त्रों क अभ्यास में ऐसा दुराग्रह (हठ) करता है ॥१२९॥

अब तत्त्व स्मरण के विरोधी तर्कादिवाक्व्यवहार के त्याग में प्रमाण श्रुति के अर्थ को पढ़ते हैं —

उसी एक आत्मा को जानो और अन्य वाणियों को छोड़ दो क्योंकि वह आत्मा अमृत का सेतु है। बहुत शब्दों का स्मरण न करें क्योंकि वाणी का परिश्रम है इन वाक्यों का भावार्थ दिया गया है। और वैसे ही अन्य श्रुति में कहा है ॥१२८॥

ननु तर्हि जनकादीनां तत्त्वविदामपि कथं राज्यपरिपालनादौ प्रवृत्तिरिति शङ्कते—

जनकादेः कथं राज्यमिति चेद्दृढबोधतः ।
तथा तवापि चेत्तर्कं पठ यद्वा कृषिं कुरु ।।१३०।।

अन्वय : दृढबोधतः जनकादेः राज्यं कथमिति चेत् तथा तवापि तर्कः चेत् पठ यद्वा कृषिं कुरु ।

'जनकादेरिति' । दृढापरोक्षज्ञानित्वात्तेषां सा न बाधिकेत्यभिप्रायेण परिहरति । तर्हि ममापि दृढबोधोऽस्तीति वदन्तं प्रत्याह –'तथेति' ।।१३०।।

ननु तत्वविदः संसारासारतां जानन्तः कुतस्तत्र प्रवर्तिष्यन्ते इत्याशङ्क्य, प्रारब्धस्यावश्यंभावि-फलत्वाद्भोगेन तत्तत्क्षयाय प्रवृत्तिरित्याह—

मिथ्यात्ववासनादार्ढ्ये प्रारब्धक्षयकाङ्क्षया ।
अक्लिश्यन्तः प्रवर्तन्ते स्वस्वकर्मानुसारतः ।।१३१।।

अन्वय : मिथ्यात्ववासनादार्ढ्ये प्रारब्धक्षयकाङ्क्षया स्व-स्व कर्मानुसारतः अक्लिश्यन्तः प्रवर्तन्ते ।

'मिथ्यात्वेति' ।।१३१।।

शंका तत्त्व के ज्ञानी भी जनक आदिकों की किस प्रकार राज्यादि में प्रवृत्ति हुई उत्तर—

उत्तर यह है कि दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान से यह प्रवृत्ति है । यदि वैसा ही अपरोक्ष ज्ञान आप को है तो तर्क शास्त्र पढ़ या खेतीकर अर्थात् जनक आदि के समान तर्क का पढ़ना और खेती का करना तुम्हारे भी तत्त्व ज्ञान में बाधक न होगा । १३०।।

संसार को असार जानते हुए भी तत्त्व ज्ञानी जनक आदि क्यों संसार में प्रवृत्त होते हैं इस शंका का उत्तर कहते हैं—

संसार के मिथ्यापन की वासना के दृढ़ हो जाने पर भी अवश्य हो जाने वाले है फल जिसका ऐसे प्रारब्ध कर्म के भोग द्वारा क्षय की इच्छा से क्लेश को प्राप्त न होते हुए अपने-अपने कर्म के अनुसार जनक आदि संसार में प्रवृत्त होते हैं ।।१३१।।

तर्ह्यनाचारेऽपि प्रवृत्तिः स्यादित्याशङ्क्याह -

अतिप्रसङ्गो मा शङ्क्यः स्वकर्मवशवर्तिनाम् ।
अस्तु वा केन शक्येत कर्म वारयितुं वद ॥१३२॥

अन्वय :—स्वकर्मवशवर्तिनाम् अतिप्रसङ्गो माशङ्क्यः अस्तु वा केन कर्म वारयितु शक्येत वद ।

'अतिप्रसङ्ग इति' । प्रारब्धवशादेवातिप्रसङ्गोऽपि स्यादित्याशङ्क्याङ्गीकरोति– अस्त्विति' ॥१३१॥

ननु ज्ञान्यज्ञानिनोः प्रारब्धकर्मण्यवश्यभोक्तव्यतया समाने तयोः कुतो वैलक्षण्यसिद्धिरित्याशङ्क्याह—

ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चात्र समे प्रारब्धकर्मणी ।
न क्लेशो ज्ञानिनो धैर्यान्मूढः क्लिश्यत्यधैर्यतः ॥१३३॥

अन्वय :—ज्ञानिनः अज्ञानिनश्च प्रारब्धकर्मणी अत्र समे, ज्ञानिनः धैर्यात् क्लेशो न, अधैर्यतः मूढः क्लिश्यति ।

'ज्ञानिन इति' ॥१३३॥

यों तो ज्ञानी लोगों की अनाचार में भी प्रवृत्ति हो जायेगी—

शंका—यों तो अपने-अपने कर्म के वशवर्ती होकर ज्ञानी लोग भी अति प्रसंग (मर्यादा का उल्लंघन) करेंगे (समाधान) उसी प्रारब्ध कर्म के बल से अति प्रसंग भी रहे (हो तो हो) तीव्र प्रारब्ध[1] को कौन रोक सकता है तुम कहो ॥१३५॥

ज्ञानी और अज्ञानी में प्रारब्ध कर्म का भोग समान है फिर दोनों में विलक्षणता को कहते हैं—

ज्ञानी और अज्ञानी दोनों के प्रारब्ध कर्म संसार में समान हैं । भेद इतना ही है कि ज्ञानी को धैर्य के कारण दुःख नहीं होता और अज्ञानी अधीरता के कारण दुःख मानता है ॥१३३॥

विशेष—(१) प्रारब्ध के वश से कोई विरल अघोर मन्त्र के जप में पुरुष की प्रवृत्ति होती है—विष भक्षण आदि द्वारा अपने मरण में भी किन्हीं की प्रवृत्ति होती है तीव्र कर्म का निवारक कौन है वैसे ही सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मानन्द में निमग्न ज्ञानी की लोक निन्दित दुराचार में प्रवृत्ति होनी अति प्रसङ्ग है ।

तत्र दृष्टान्तमाह—

मार्गे गन्त्रोर्द्वयोः श्रान्तौ समायामप्यदूरताम् ।
जानन् धैर्याद् द्रुतं गच्छेदन्यस्तिष्ठति दीनधीः ॥१३४॥

अन्वय :—मार्गे द्वयोः गन्त्रोः श्रान्तौ समायां अपि अदूरताम् जानन् धैर्यात् द्रुतं गच्छेत् अन्यः दीनधीः तिष्ठति ।

'मार्गे इति' ॥१३४॥

इत्थमुपपादितं 'आत्मानं चेत्' (बृ० ४।४।१२) इति मन्त्रस्य पूर्वार्धार्थमनुवदन् फलप्रदर्शनपर-मुत्तरार्धमवतारयति—

साक्षात्कृतात्मधीः सम्यगविपर्ययबाधितः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥१३५॥

अन्वय :—साक्षात्कृतात्मधीः सम्यग् अविपर्ययबाधितः कस्य कामाय शरीरं अनुसंज्वरेत् ॥

'साक्षादिति' । सम्यक् साक्षात्कृतात्मधीः साक्षात्कृतः आत्मा यया सा साक्षात्कृतात्मा, तादृशी धीर्यस्य सः साक्षात्कृतात्मधीः 'अविपर्ययबाधितः विपर्ययेण देहाद्यात्मत्वबुद्धया बाधितो न भवतीत्यविपर्यय-बाधितः । उभयं हेतुगर्भितं विशेषणम् ॥१३५॥

इसमें दृष्टान्त कहते हैं—

मार्ग में चलने वाले दो मनुष्यों की थकावट समान होने पर भी उनमें से गन्तव्य स्थान की समीपता को जानने वाला मनुष्य तो धीरता से शीघ्र चलता है और दूसरा समीपता को न जानने वाला दीन बुद्धि हो वहीं बैठ जाता है ॥१३४॥

इस प्रकार सिद्ध किये आत्मानं चेत् इस मन्त्र के पूर्वार्ध के भावभूत अपरोक्ष ज्ञान को दुहराते हुए शोक निवृत्ति रूप फल का विधान करने वाले उत्तरार्ध का अर्थ कहते हैं——

आत्मा का भली प्रकार साक्षात्कार करने वाली बुद्धि वाला और देहादि में आत्म भाव की बुद्धि रूप विपर्यय से बाधित न होने वाला इन्हीं दोनों कारणों से (उपर्युक्त दोनों विशेषण कारण का भी संकेत करने से हेतु गर्भ विशेषण है, किस भोग्य की इच्छा करके और किस भोक्ता के भोग के लिए शरीर के कारण दुःख उठाये । अर्थात् उसकी सम्पूर्ण कामना पूर्ण हो जाती है ॥१३५॥

अस्य मन्त्रार्थस्य तात्पर्यमाह—

जगन्मिथ्यात्वधीभावादाक्षिप्तौ काम्यकामुकौ ।

तयोरभावे संतापः शाम्येन्निःस्नेहदीपवत् ॥१३६॥

अन्वय :—काम्यकामुकौ आक्षिप्तौ जगन्मिथ्यात्वधीभावात् तयोः अभावे संतापः निःस्नेहदीपवत् शाम्येत् ।

'जगन्मिथ्येति' । काम्यं च कामुकश्च काम्यकामुकौ, तावाक्षिप्तौ निरस्तौ । तन्निराकरणे कारणमाह—'जगन्मिथ्यात्वेति' । ततः किमित्यत आह—'तयोरिति' । तयोः काम्यकामुकयोरभावे संतापः कामनानिमित्तकः कारणाभावान्निःस्नेहदीपवच्छाम्येदित्यर्थः ॥१३६॥

काम्याभावात्कामनाभावः क्व दृष्ट इत्याशङ्क्याह—

गन्धर्वपत्तने किंचिन्नैन्द्रजालिकनिर्मितम् ।

जानन् कामयते किंतु जिहासति हसन्निदम् ॥१३७॥

अन्वय :—गन्धर्वपत्तने किंचित् ऐन्द्रजालिकनिर्मितम् जानन् न कामयते किंतु हसन् इदं जिहासति ।

'गन्धर्वेति' । मायाविनिर्मिते पत्तने स्थितं वस्तु किंचिदपि 'इदमैन्द्रजालिकनिर्मितम्' इति जानन् न कामयते । न केवलं कामनाभावः, प्रत्युत 'इदमनृतम्' इति हसन् जिहासति परित्यक्तुमिच्छति ॥१३७॥

१३५ श्लोक में वर्णित इसी मन्त्र के उत्तरार्ध का तात्पर्य कहते हैं—

जगत् के मिथ्या होने की बुद्धि उत्पन्न हो जाने के कारण कामना के योग्य विषय और कामुक पुरुष इन दोनों का ही निराकरण हो गया तब उन काम्य और कामुक दोनों के अभाव में कामनाओं से पैदा हुआ संताप कारण के अभाव से तैल रहित दीपक के समान शान्त हो जाता है । अर्थात् कामनाओं की हृदय में उत्पत्ति नहीं होती ॥१३६॥

काम्य (भोग्य) के अभाव से कामना के अभाव का दृष्टान्त देते हैं—

माया से रचे गन्धर्व नगर में स्थित किसी भी वस्तु को "यह इन्द्र जाल के ज्ञाता का रचा है" । ऐसा जानता हुआ पुरुष कामना नहीं करता अपि तु हँसता हुआ उसका त्याग करना चाहता है ॥१३७॥

दार्ष्टान्तिके योजयति—

आपातरमणीयेषु भोगेष्वेवं विचारवान् ।
नानुरज्यति किंत्वेतान्दोषदृष्ट्या जिहासति ॥१३८॥

अन्वयः—विचारवान् एवं आपातरमणीयेषु भोगेषु न अनुरज्यति किंतु एतान् दोषदृष्ट्या जिहासति ।

'आपातेति' । एवमापातरमणीयेषु प्रतीतिमात्ररम्येषु भोगेषु भज्यन्त इति भोगाः विषयाः स्रक्चन्दनवनितादयस्तेषु एवं विचारवान् आपातरमणीयत्वानुसंधानवान् नानुरज्यति नासक्तिं करोति, किंतु दोषदर्शनेनैतान् परित्यक्तुमिच्छति ॥१३८॥

के ते विषयदोषा इत्यत आह —

अर्थानामर्जने क्लेशस्तथैव परिपालने ।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान्क्लेशकारिणः ॥१३९॥

अन्वयः— अर्थानां अर्जने क्लेशः तथैव परिपालने नाशे दुःखं व्यये दुःखं क्लेशकारिणः अर्थान् धिक् ।
'अर्थानामिति' ॥१३९॥

एवं विषयाणां दुःखहेतुत्वं प्रदर्श्याऽशोभनत्वं क्वचिद्दर्शयति

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे ।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम् ॥१४०॥

अन्वयः: मांसपाञ्चालिकायास्तु अङ्गपञ्जरे यन्त्रलोले स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः शोभनं किमिव ।

'मांसेत्यादि' श्लोकद्वयेन स्नायवः शिराश्च अस्थीनि प्रसिद्धानि, ग्रन्थयो मांसनिचयरूपनितम्ब-स्तनादयः एतैश्च सहिते मांसपाञ्चालिकायाः पुत्तलिकाया योषितो यन्त्रलोले यन्त्रवच्चञ्चलशीले अङ्ग-पञ्जरे अङ्गान्येव पञ्जरं नीडं तस्मिञ्शरीरे किं शोभनमिव ? न किमपीत्यर्थः ॥१४०॥

अब पूर्वोक्त दृष्टान्त को दार्ष्टीतिक में घटाते हैं

इसी प्रकार प्रतीतिमात्र से रमणीय भोगों में स्रक्चन्दन आदि विषयों में उनकी आपात रमणीयता को समझने वाला विचारवान् मनुष्य आसक्ति नहीं करता, किन्तु बन्धन आदि दोषों के देखने से उनको त्यागना चाहता है ॥१३८॥

वह कौन विषय के दोष हैं ? उन्हीं विषयों को दिखाते हैं —

धन आदि अर्थों के संचय में दुःख होता है। उनकी रक्षा में क्लेश है और नाश (न मिलने में) दुःख है और खर्च में दुःख है। इससे क्लेशकारी अर्थों को धिक्कार है। १३९॥

इस प्रकार विषयों को दुःख हेतु दिखाकर कहीं-कहीं विषय की अशोभानताको दो श्लोकों सेदिखाते हैं —

नाड़ियों और मांस के लोथड़े, हड्डियों मांस की पुतली स्त्री के यन्त्र के समान चञ्चल, शरीर रूप पिंजरे शोभावाली स्त्री भला क्या वस्तु है कुछ भी नहीं ॥१४०॥

एवमादिषु शास्त्रेषु दोषाः सम्यक्प्रपञ्चिताः ।
विमृशन्ननिशं तानि कथं दुःखेषु मज्जति ॥१४१॥

अन्वय :—एव मादिषुशास्त्रेषु दोषाः सम्यक् प्रपञ्चिताः तानि अनिशं निमृशन् दुःखेषु कथं मज्जति ।

'एवमादिष्विति' । 'आदि' शब्देन' 'त्वङ्मांसरक्तबाष्पाम्बु पृथक् कृत्वा विलोचने । समालोकय रम्यं चेत्किं मुधा परिमुह्यसि ।' (याज्ञ० उप० ६) इत्येवमादयो गृह्यन्ते ॥१४१॥

विषयदोषदर्शने सति भोगेच्छाऽभावे युक्तिसहितं दृष्टान्तमाह—

क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं ह्यत्तुमिच्छति ।
मिष्टान्नध्वस्ततृड् जानन्नामूढस्तज्जिघत्सति ॥१४२॥

अन्वय :—क्षुधया पीड्यमानोऽपि विषं हि अत्तुं नेच्छति मिष्टान्नध्वस्ततृड् जानन् अमूढः तत् जिघत्सति ।

'क्षुधयेति' । स्वयममूढः विवेकी मिष्टान्नभोजनेन ध्वस्ता विनष्टा तृट् तृष्णा आकाङ्क्षा यस्य स तथोक्तः 'इदं विषम्' इत्येवं जानन् तद्विषं न जिघत्सति, नात्तुमिच्छतीत्यर्थः ॥१४२॥

आदि शब्द से त्वचा, माँस, रक्त, अश्रुजल आदि को पृथक् करके देखो क्या रमणीय वस्तु है, अर्थात् कुछ भी नहीं, तो क्यों वृथा मोह को प्राप्त होता है । इन दोषों को शास्त्र में अच्छा प्रकार दिखाया है । इन दोषों का रात-दिन विचारता हुआ साधक दुःखों में कैसे फंसेगा ॥१४१॥

अब विषय के दोष देखने पर भोग के इच्छा की अभाव में युक्ति सहित दृष्टान्त को कहते हैं—

स्वयं अमूढ़ (विवेकी) और मिष्टान्न के भक्षण से नष्ट हो गयी है, तृष्णा आकांक्षा जिसकी, और यह विषय है ऐसा जानता हुआ । मनुष्य विष के भोजन की इच्छा अर्थात् क्षुधा से पीड़ित भी मनुष्य विष का भक्षण करना नहीं चाहता है ॥१४२॥

ननु प्रारब्धकर्मणः प्रबलत्वाज्ज्ञानिनोऽपीच्छा भवेदित्याशङ्क्य, सत्यामपीच्छायां प्रीतिपुरःसरं न भुङ्क्ते इत्याह—

प्रारब्धकर्मप्राबल्याद् भोगेष्विच्छा भवेद्यदि ।
क्लिश्यन्नेव तदाप्येष भुङ्क्ते विष्टिगृहीतवत् ॥१४३॥

अन्वयः—प्रारब्धकर्मप्राबल्यात् यदि भोगेषु इच्छा भवेद् क्लिश्यन्नेव तदापि एष विष्टिगृहीतवत् भुङ्क्ते ।

'प्रारब्धेति' ॥१४३॥

कथमेतदवगम्येत इत्याशङ्क्य, लोकदर्शनादित्याह—

भुञ्जाना वा अपि बुधाः श्रद्धावन्तः कुटुम्बिनः ।
नाद्यापि कर्म नश्छिन्नमिति क्लिश्यन्ति संततम् ॥१४४॥

अन्वयः—भुञ्जाना वा अपि बुधाः श्रद्धावन्तः कुटुम्बिनः नाद्यापि कर्म नश्छिन्नंइति संततम् क्लिश्यन्ति ।

'भुञ्जाना इति' ॥१४४॥

ननु तत्त्वविदो संसारनिमित्तकस्तापोऽनुपपन्नः, ज्ञानवैयर्थ्यापातादित्याशङ्क्याह—

नायं क्लेशोऽत्र संसारतापः किंतु विरक्तता ।
भ्रान्तिज्ञाननिदानो हि तापः संसारिकः स्मृतः ॥१४५॥

अन्वयः–अत्र अयं क्लेशः संसारतापः न किंतु विरक्तता भ्रान्तिज्ञाननिदानो हि तापः संसारिकःस्मृतः ।

'नायमिति' । अयं क्लेशः 'नाद्यापि कर्म नः छिन्नम्' इत्येवमनुतापात्मकः संसारतापो न भवति । किन्त्वत्र संसारे विरक्तता आसक्तिरहितता । तापकत्वाभावेयुक्तिमाह—'भ्रान्तीति' । हि यस्मात्कारणात् सांसारिकस्तापो भ्रान्तिज्ञाननिदानः भ्रान्तिज्ञानकरणकः स्मृतः, पूर्वाचार्यैः अयं तु विवेकज्ञानमूलत्वान्न तथाविध इत्यर्थः ॥१४५॥

शंका—ज्ञानी की भी प्रारब्धकर्म की प्रबलता से भोग में इच्छा होती है—

यदि प्रारब्धकर्म की प्रबलता से ज्ञानी को भोगों की इच्छा हो भी जाय तो बेगार में पकड़े हुए पुरुष की तरह क्लेश मानता हुआ वह इन विषयों को भोगता है ॥१४३॥

यह क्लेश की बात लोक में दिखाई पड़ती है—

लोक में देखते हैं कि जो श्रद्धालु गृहस्थ ज्ञानी होते हैं वे भोगों को भोगते हुए भी "आज तक भी हमारे कर्मों का नाश नहीं हुआ" । यह सोचकर दुःखी होते रहते हैं ॥१४४॥

शंका—तत्त्व के ज्ञाताओं को भी संसार का दुःख मानोगे तो तत्त्वज्ञान होना ही व्यर्थ हो जायेगा, इसका उत्तर देते हैं—

आज तक भी हमारा कर्मों का नाश नहीं हुआ यह पश्चत्ताप रूप संसार का ताप नहीं होता, किन्तु इस संसार के प्रति विरक्तता है । ताप के अभाव में युक्ति कहते हैं क्योंकि संसार का ताप तो भ्रान्ति ज्ञान का निदान (हेतु) पूर्वाचार्यों ने कहा है यह ज्ञान विवेक ज्ञान से उत्पन्न है । भ्रान्ति ज्ञान का हेतु नहीं है ॥१४५॥

अयं क्लेशो विवेकमूलः अविवेकमूलो वेति कुतोऽवगम्यत इत्याशङ्क्य, कामनिवर्तकत्वाद्विवेकमूल् इत्याह—

विवेकेन परिक्लिश्यन्नल्पभोगेन तृप्यति ।

अन्यथाऽनन्तभोगेऽपि नैव तृप्यति कर्हिचित् ॥१४६॥

अन्वयः—विवेकेन परिक्लिश्यन् अल्पभोगेन तृप्यति अन्यथा अनन्तभोगेऽपि कर्हिचित् नैव तृप्यति ।

'विवेकेनेति' ॥१४६॥

विवेकिन इवाविवेकिनोऽपि भोगेनैव तृप्तिः स्यादतो विवेकोऽप्रयोजक इत्याशङ्क्य, भोगस्य तृप्तिहेतुत्वाभावप्रतिपादिकां श्रुतिं (नार० परि० ३।३७) पठति—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।

हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥१४७॥

अन्वयः—कामः कामानां उपभोगेन न जातु शाम्यति कृष्णवर्त्मा हविषा इव भूयः एव अभिवर्धते ।

'न जातु काम इति' ॥१४७॥

पूर्व क्लेश जो विवेक से उत्पन्न होता है, कामनाओं का निवर्तक है, इस कारण विवेक मूलक है—

विवेक से क्लेश को प्राप्त हुआ (ज्ञानी) तो थोड़े ही भोग से तृप्त (सन्तुष्ट) हो जाता है। अन्यथा जिसका क्लेश विवेक जन्य नही होता, वह अनन्त भोग भोगने पर भी तृप्त नहीं होता ॥१४६॥

यदि विवेकी की तरह अविवेकी भी हो तो भोगों से तृप्त हो सकता है फिर विवेक व्यर्थ ही होगा भोग से तृप्ति के अभाव में श्रुति का प्रमाण देते हैं—

विषयों के भोगने से कभी भी इच्छा शान्त नहीं होती, किन्तु घृत आदि हवि से अग्नि के समान अधिकाधिक बढ़ता है ॥१४७॥

विवेकमूलस्य भोगस्य तृप्तिहेतुत्वमनुभवसिद्धमित्याह—

परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये ।
विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम् ॥१४८॥

अन्वयः—परिज्ञाय उपभुक्तो हि भोगः तुष्टये भवति विज्ञाय सेवितः चोरः मैत्रीं एति चोरताम् न ।

'परिज्ञायेति' । अयं भोग एतावान्, एवं प्रयाससाध्य इत्येवमनुभवपूर्वश्चेदलंबुद्धिहेतुर्हि दृश्यत इत्यर्थः । ननु तृष्णाहेतोः भोगस्य विवेकसाहचर्यमात्रेण कथं तुष्टिकरत्वमित्याशङ्क्य, सहचारिविशेष-वशाद्विपरीतकार्यकारित्वं लौकिके दृष्टमित्याह— विज्ञायेति' । 'अयं चोरः' इति ज्ञात्वा तेन सह वर्तमानस्य न चोरो भवति, किंतु मित्रतामेतीत्यर्थः ॥१४८॥

ननु कामनास्वरसत्वान्मनसः कथं स्वल्पभोगेन तृप्तिः स्यादित्याशङ्क्य, निदिध्यासनेन गृहीतस्य अतथात्वाङ्कत्येव तृप्तिरित्याह—

मनसो निगृहीतस्य लीलाभोगोऽल्पकोऽपि यः ।
तमेवालब्धविस्तारं क्लिष्टत्वाद्बहु मन्यते ॥१४९॥

अन्वयः—मनसः निगृहीतस्य अल्पकः अपि यः लीलाभोगः तमेव अलब्धविस्तारं क्लिष्टत्वात् बहुमन्यते ।

'मनस इति' । निगृहीतस्य योगाभ्यासेन वशीकृतस्य मनसोऽल्पकोऽपि लीलाभोगः लीलानुभवो योऽस्ति - अलब्धविस्तारमप्राप्तबाहुल्यं तमेव भोगंक्लिष्टत्वाद्दोषयुक्तत्वाद्बहुमन्यते, अधिकत्वेन जानातीत्यर्थः ॥१४९॥

अब विवेक मूलक भोग तृप्ति का हेतु है यह अनुभव सिद्ध हैं—

जानकर किया भोग सन्तोष को इस प्रकार पैदा करता है जैसे जानकर सेवित चोर मित्रता को पैदा करता है । चोरता को नहीं, अर्थात् अपनी चोरी नहीं करता ॥१४८॥

यह भोग इतना है और इतने परिश्रम से मिलता है यह जानकर भोगा हुआ भोग सन्तोष उत्पन्न करता है । यदि कहो कि तृष्णा का हेतु भोग विवेक से सहचार से कैसे सन्तोष का जनक है । उत्तर - विवेक रूप सहचारी की महिमा से भोगमें सन्तोष को करता है तृष्णा को नहीं, विपरीत कार्यका होना लोक में देखा है । जैसे यह चोर है यह जानकर सेवित चोर उसका मित्र हो जाता है चोर नहीं रहता ॥१४८॥

शंका - कामनाओं से स्वरस (अधीन, रागी) मन का छोड़े भोग से कैसे तृप्ति होगी, उत्तर निदिध्यासन से वशीभूत (निगृहीत) थोड़े से भोग से तृप्त हो जाता है —

योगाभ्यास[1] से वश में किये मन को जो थोड़ा-सा भी लीला भोग मिल जाता है, वह उसी संक्षिप्त भोग को, भोगों के क्लेश युक्त होने के कारण बहुत मानता है ॥१४९॥

विशेष १—जैसे रात्रि में मनुष्यों का आना-जाना बन्द कम हो जाता है । वैसे ही निदिध्यासन से परिपाक हुए अन्तःकरण के धर्म रूप से उत्पन्न कामादियों का विक्षेप अल्प ही होता है । कामादि का उपादान मन शिथिल पड़ जाता है, ज्ञानवान् का मन अल्प भोग से ही सन्तुष्ट हो जाता है ।

निगृहीतस्यापि मनसः स्वल्पेनापि भोगेन तृप्तिर्भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह—

बद्धमुक्तो महीपालो ग्राममात्रेण तुष्यति ।
परैर्न बद्धो नाक्रान्तो न राष्ट्रं बहु मन्यते ॥१५०॥

अन्वयः – बद्धमुक्तो महीपालः ग्राममात्रेण तुष्यति परैः न बद्धः न क्रान्तः राष्ट्रं बहु न मन्यते। 'बद्धमुक्तइति' ॥१५०॥

ननु 'प्रारब्धकर्मप्राबल्याद्भोगेष्विच्छा भवेद्यदि' (प्र०७।१४३) इत्यत्र 'कर्मवशादिच्छा भवेत् इत्युक्तं तदनुपपन्नम्, इच्छाविघातिनि विवेकज्ञाने सति तदुत्पत्त्यसंभवादिति शङ्कते—

विवेके जाग्रति सति दोषदर्शनलक्षणे ।
कथमारब्धकर्मापि भोगेच्छां जनयिष्यति ॥१५१॥

अन्वय :— दोषदर्शनलक्षणे विवेके जाग्रति सति आरब्धकर्मापि भोगेच्छां कथं जनयिष्यति। 'विवेके इति' ॥१५१॥

दोषदर्शने सत्यपि इच्छाजन्म संभविष्यति, प्रारब्धस्य नानाप्रकारकत्वादिति परिहरति—

नैष दोषो यतोऽनेकविधं प्रारब्धमीक्ष्यते ।
इच्छाऽनिच्छा परेच्छा च प्रारब्धं त्रिविधं स्मृतम् ॥१५२॥

अन्वय :—नैष दोषः यतः प्रारब्धं अनेकविधं ईक्षते इच्छाजनकं अनिच्छाभोगप्रदं परेच्छाभोग प्रदं च त्रिविधं प्रारब्धं स्मृतम् ।

'नैषेति' । नाना प्रकारत्वमेव दर्शयति—'इच्छेति' । इच्छाजनकं अनिच्छाया भोगप्रदं परेच्छया भोगप्रदं चेति त्रिविधमित्यर्थः ॥१५२॥

अब वशीभूत मन को स्वल्प भोग से तृप्ति में दृष्टान्त देते हैं —

बन्दी बनाकर छोड़ा गया राजा एक ग्राम से ही सन्तुष्ट हो जाता है । यदि शत्रुओं से बँधा (कैदी) न हो और न आक्रान्त (दबाया) हो तो वह राष्ट्र (देश) को भी थोड़ा समझता है ॥१५०।

यह शंका है पीछे १४३ वें श्लोक में प्रारब्ध कर्म वश इच्छा हो यह ठीक नहीं, इच्छा के नाशक विवेक ज्ञान के होने पर प्रारब्ध कर्म से इच्छा होगी सो ठीक नहीं —

दोषों को देखने वाला बिबेक ज्ञान के जागते हुए प्रारब्ध कर्म भी भोग की इच्छा को कैसे उत्पन्न करेगा, विवेक ज्ञान तो इच्छा का विरोधी है ॥१५१॥

दोषों के देखने पर भी इच्छा का जन्म प्रारब्ध कर्म के भेद से दिखाते हैं —

यह शंका ठीक नहीं क्यों कि प्रारब्ध कर्म अनेक प्रकार का दिखाते हैं । एक इच्छा जनक दूसरा बिना इच्छा के, भोग का दाता और तीसरा परायी इच्छा से भोग का दाता, इस प्रकार प्रारब्ध तीन प्रकार का कहा है ॥१५२॥

इच्छाप्रारब्धं दर्शयति—

अपथ्यसेविनश्चोरा राजदाररता अपि ।
जानन्त एव स्वानर्थमिच्छन्त्यारब्धकर्मतः ॥१५३॥

अन्वयः—अपथ्यसेविनः चोराः राजदाररता अपि स्वानर्थं जानन्तः एव आरब्ध कर्मतः इच्छन्ति । 'अपथ्येति' ॥१५३॥

अपथ्यसेवादीच्छायाः प्रारब्धफलत्वं कुतोऽवगम्यत इत्याशङ्क्य, अपरिहार्यत्वादित्यभिप्रेत्याह —

न चात्रैतद्वारयितुमीश्वरेणापि शक्यते ।
यत ईश्वर एवाह गीतायामर्जुनं प्रति ॥१५४॥

अन्वयः - अत्र एतत् वारयितुं ईश्वरेणापि च न शक्यते यतःईश्वर एव गीतायां अर्जुनं प्रति आह । 'न चेति' । अत्राऽस्मिन् लोके अपथ्यादीच्छन्ति इत्येतत् कुत इत्यत आह 'यत इति ॥१५४॥

गीतावाक्यं (अ०३।३३) पठति —

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥१५५॥

अन्वयः—ज्ञानवान् अपि स्वस्याः प्रकृतेः सदृशं चेष्टते भूतानि प्रकृतिं यान्ति निग्रहः किं करिष्यति ।

'सदृशमिति' विवेकज्ञानवानपि पुरुषः स्वस्याः स्वकीयायाः प्रकृतेः सदृशमनुरूपं चेष्टते । प्रकृतिर्नाम पूर्वकृतधर्माधर्मादिसंस्कारो वर्तमानजन्मादावभिव्यक्तः ज्ञानवानपि, किं पुनर्मूर्खः ? तस्मात्प्रकृतिं यान्ति भूतानि, निग्रहः प्रवृत्तिनिवृत्योर्निरोधो मयाऽन्येन वा कृतः किं किरिष्यति ? न किमपीत्यर्थः ॥१५५॥

अब इच्छा के जनक प्रारब्ध को दिखाते हैं —

अपथ्य से सेवन करने वाले रोगी, चोर, राजाओं की स्त्रियों में अनुरक्ति करने वाले लोग अपने-अपने अनर्थों को जानते हुए भी, अपने प्रारब्ध कर्म के प्रभाव में आकर उन उन अनर्थों को चाहते हैं, यह इच्छा जनक प्रारब्ध इच्छा प्रारब्ध है ॥१५३॥

अब अपथ्य सेवा आदि की इच्छा को प्रारब्ध का ही फल है कैसे जाना । निवारण न होने से ही कहते हैं—

इस लोक में अपथ्य सेवन आदि को ईश्वर भी रोक नहीं सकता, निवारण न होने से ही प्रतीत होता है कि प्रारब्ध का फल है, ईश्वर (श्री कृष्ण) ने ही गीता में अर्जुन से कहा था ॥१५४॥

अब उसी गीता वाक्य को पढ़ते हैं —

विवेक ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है । प्रकृति का अर्थ (पूर्व जन्म में सञ्चित जो धर्म अधर्म का संस्कार जो वर्तमान जन्म में प्रकट होता है, उसे प्रकृति कहते हैं) इससे सब प्राणी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार चलते हैं । यदि मैं या कोई दूसरा प्रवृत्ति या निवृत्ति के निरोध का प्रयत्न करे तो उससे क्या लाभ होगा कुछ भी नहीं ॥१५५॥

तीव्रप्रारब्धस्यापरिहार्यत्वे वचनान्तरसंमतिमाह—

अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि ।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नल-राम-युधिष्ठिराः ॥१५६॥

अन्वय :—अवश्यंभाविभावानां यदि प्रतीकारो भवेत् तदा नलरामयुधिष्ठिराः दुःखैः न लिप्येरन् ।

'अवश्यमिति' । अवश्यंभाविनाः भावानां दुःखादीनामित्यर्थः ॥१५६।

प्रारब्धस्यापरिहार्यत्वे तत्परिहारासमर्थस्येश्वरस्य अनीश्वरत्वप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह—

न चेश्वरत्वमीशस्य हीयते तावता यतः ।
अवश्यंभाविताऽप्येषामीश्वरेणैव निर्मिता ॥१५७॥

अन्वय : ईशस्य ईश्वरत्वं च तावता न हीयते यतः एषां अवश्यंभावितापि ईश्वरेणैव निर्मिता ।

'न चेश्वरत्वमिति । कुत इत्यत आह—'यतः अवश्यमिति' । यत. कारणादेषा दुःखादीनामवश्यंभावितापि ईश्वरेणैव निर्मिता, अतो नानीश्वरत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥१५७॥

अब तीव्र (बली) प्रारब्ध के अनिवारण में वचनान्तर की संमति को कहते हैं—

अवश्य होने वाले जो दुःख आदि भाव हैं, उनका यदि प्रतीकार (न होना) होता तो नल, रामचन्द्र और युधिष्ठिर ये समर्थ राजा दुःखों से लिप्त न होते अर्थात् दुःखों का प्रतीकार करके सुखों को ही भोगते ॥१५६॥

यदि कहो कि प्रारब्ध को निवारण के अयोग्य मानोगे तो उसके परिहार में असमर्थ ईश्वर भी अनीश्वर हो जायेगा इस शंका का उत्तर—

प्रारब्ध के निवारण न करने मात्र से ईश्वर की ईश्वरता में हानि नहीं होती क्योंकि यह प्रारब्ध कर्म का फल दुःख आदि का अवश्य होना भी ईश्वर ने ही रचा है ॥१५७॥

एवं सप्रपञ्चमिच्छाप्रारब्धमभिधाय, अनिच्छाप्रारब्धं वक्तुमारभते—

प्रश्नोत्तराभ्यामेवैतद्गम्यतेऽर्जुनकृष्णयोः ।

अनिच्छापूर्वकं चास्ति प्रारब्धमिति तच्छृणु ॥१५८॥

अन्वय :—एतत् अर्जुन—कृष्णयोः प्रश्नोत्तराभ्यां गम्यते प्रारब्धं अनिच्छापूर्वकं चास्ति इति तत् शृणु ।

प्रश्नोत्तराभ्यामिति' । अनिच्छापूर्वकं च प्रारब्धमस्तीत्येतदर्जुनकृष्णयोः प्रश्नोत्तराभ्यामेव गम्यते ज्ञायत इति योजना । तदभिधानाय शिष्यमभिमुखी करोति-'तच्छृण्विति' १५८॥

तत्रार्जुनस्य प्रश्नं (गी० ३।३६) तावद्दर्शयति—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय ! बलादिव नियोजितः ॥१५९॥

अन्वय :—अथ 'कथं पूरुषः केन प्रयुक्तः हे वार्ष्णेय अनिच्छन्नपि बलात् नियोजितः इव पापं चरति ।

'अथ केनेति' । हे वार्ष्णेय वृष्णिसंबन्धिन् ! अयं पुरुषः केन प्रयुक्तः प्रेरितः अनिच्छन्निच्छाम-कुर्वन्नपि राज्ञा बलान्नियोजित इव पापं चरति आचरतीति ॥१५९॥

इस प्रकार विस्तार से इच्छा प्रारम्भ को कहकर, अनिच्छा प्रारम्भ कहने का आरम्भ करते हैं—

यह अर्जुन कृष्ण के प्रश्न और उत्तर से भी जाना जाता है, अनिच्छा पूर्वक भी प्रारब्ध है—हे शिष्य उसको तुम सुनो ॥१५८॥

प्रथम अर्जुन के प्रश्न को दिखाते हैं—

हे वृष्णि कुल में उत्पन्न श्रीकृष्णचन्द्र जी ! यह पुरुष किसकी प्रेरणा से न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुए के समान पापकर्म कर बैठता है ॥१५९॥

श्रीकृष्णस्योत्तरमाह—(गी० ३।३७)

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥१६०॥

अन्वय :—एष कामः एष क्रोधः रजोगुणसमुद्भवः महाशनः महापाप्मा एनं इह वैरिणं विद्धि ।

'काम इति'। एष पुरुषप्रवर्तको रजोगुणासमुद्भव उत्पत्तिर्यस्य सः रजोगुणसमुद्भवः कामः, एष प्रसिद्धोऽयं कामः कदाचित्क्रोधरूपेणापि परिणमते ततः क्रोधः । स पुनः कीदृश ? महाशनः महदशनं विषय-जातं यस्य स महाशनः । महापाप्मा महतः पापस्य हेतुत्वादुपचारान्महापाप्मत्वमस्य । अत इह संसारे एनं कामक्रोधरूपिणं वैरिणं विद्धि । अयमभिप्रायः प्रारब्धवशादुद्रिक्तरजोगुणकार्ययोः कामक्रोधयोरन्यतरस्यैव पुरुषप्रवर्तकत्वं न प्रवृत्तिरिच्छाया इति ॥१६०।

नन्वत्र कामक्रोधयोरेव पुरुषप्रवर्तकत्वमुपलभ्यते, नानिच्छाप्रारब्धस्येत्याशङ्कय, तस्यैव प्रवर्तकत्व प्रतिपादकं तद्वाक्यं (गी० १८।६०) पठति —

स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥१६१॥

अन्वय :—हे कौन्तेय स्वभावजेन स्वेन कर्मणा निबद्धः यत् मोहात् कर्तुं नेच्छसि तत् अवशोऽपि करिष्यसि ।

स्वभावजेनेति' हे कौन्तेय ! स्वेनैवानुष्ठितेन अत एव स्वकीयेन प्रारब्धेन कर्मणा निबद्धः सन् यत्कर्तुं नेच्छसि तदपि मोहादविवेकतः अवशः परवशः करिष्यसीति । अतोऽनिच्छाप्रारब्धमस्तीत्यभ्युपगन्त-व्यमिति भावः ॥१६१॥

अब श्रीकृष्ण के उत्तर को कहते हैं –

पुरुष का यह प्रवर्तक रजोगुण से उत्पन्न जगत् में प्रसिद्ध "काम" है । यही काम क्रोध में बदल जाता है । इसकी विषयों की भूख बहुत बड़ी है, वह बड़े-बड़े पापों का कारण होने से बड़ा पापी है । अत एव इस संसार में इस काम को (जो कभी-कभी क्रोध का रूप धारण कर लेता है) यह अपना महान् शत्रु समझो, अभिप्राय यह है कि जब प्रारब्ध कर्मवश रजोगुण बढ़ता है, उसका कार्य काम या क्रोध उत्पन्न हो जाता है । यह पुरुष को पाप में प्रवृत्त कर देता है । यहाँ प्रवृत्ति का मूल कारण इच्छा नहीं है । इसलिए इसको अनिच्छा प्रारब्ध कहा है ॥१६०॥

शंका यहाँ काम क्रोध को ही पुरुष प्रवृत्ति का जनक देखते हैं । अनिच्छा प्रारब्ध नहीं, यह शंका करके अनिच्छा प्रारब्ध की ही प्रवृत्ति का बोधक जो वचन उनको पढ़ते हैं —

हे अर्जुन ! अपने आप किए हुए अपने प्रारब्ध से बँधा हुआ तुम जिस युद्ध आदि कर्म को नहीं भी करना चाहते । उसको भी अविवेक रूप मोह से परवश हुआ करेगा ही, इससे यह है कि अनिच्छा प्रारब्ध को भी मानना पड़ता है ॥१६१॥

इदानीं परेच्छाप्रारब्धमस्तीत्याह—

नानिच्छन्तो न चेच्छन्तः परदाक्षिण्यसंयुताः ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥१६२॥

अन्वय :—अनिच्छन्तो न इच्छन्तः च न परदाक्षिण्यसंयुताः यत् मोहात् कर्तुं नेच्छसि तत् अवशोऽपि करिष्यसि ।

'नानिच्छन्त इति' । अनिच्छन्तोऽपि न भजन्ति, इच्छन्तोऽपि न भजन्ति, किंतु परदाक्षिण्यसंयुताः सन्तः तत्प्रीत्यर्थमेव सुखदुःखे अनुभवन्ति । अत एतत्सुखादिभोगहेतुभूतं परेच्छापूर्वकं प्रारब्धं प्रसिद्ध-मित्यर्थः । अत एव दोषदर्शने सत्यपि प्रारब्धस्य अपरिहार्यत्वात्तस्येच्छाजनकत्वं न निवारयितुं शक्नोतीति भावः ॥१६२॥

ननु तत्त्वविदोऽपीच्छाङ्गीकारे 'किमिच्छन्' (शाट्या० २२) इति श्रुतिविरोध इति शङ्कते—

कथं तर्हि किमिच्छन्नित्येवमिच्छा निषिध्यते ।
नेच्छानिषेधः किंत्विच्छाबाधो भर्जितबीजवत् ॥१६३॥

अन्वय :—किं इच्छन् कथं तर्हि एवं इच्छा निषिध्यते इच्छानिषेधः न किंतु भर्जितबीजवत् इच्छाबाधः ।

'कथं तर्हीति' । 'किमिच्छन्' इत्यनेन वाक्येन कथमिच्छाभावो वर्णित इत्यर्थः । नानेन इच्छा-भावोऽभिधीयते, किंतु सत्या अपि तस्याः समर्थप्रवृत्तिजनकत्वं नास्तीति बोध्यत इति परिहरति—'नेच्छा-निषेध इति' । स्वरूपेण सत्या अपि तस्याः सामर्थ्यराहित्ये दृष्टान्तमाह—'भर्जितेति' ॥१६३॥

अब परेच्छा प्रारब्ध को दिखाते हैं—

न तो अनिच्छा से ही और न इच्छा से ही, अपितु दूसरों की प्रसन्नता के विचार में फँस कर ही कुछ लोग सुख दुःख भोगते हैं । इससे यह सुख आदि भोग का हेतु रूप प्रारब्ध पर इच्छा पूर्वक प्रसिद्ध है । इसी से दोषों के देखने पर भी प्रारब्ध निवारण के अयोग्य है इसी से वह इच्छा का जनक है इसका निवारण कोई नहीं कर सकता ॥१६२॥

अब तत्त्व ज्ञानी को भी इच्छा स्वीकार करोगे तो "किमिच्छन्" इस श्रुति के विरोध की शंका करते हैं—

शंका—तो फिर किस विषय की इच्छा करता हुआ अपने शरीर को दुःख दे, इस श्रुति वाक्य से इच्छा निषेध का वर्णन क्यों है । समाधान - यहाँ इच्छा का निषेध नहीं किया इच्छा का बाध कहा है अर्थात् यह कहा है कि इच्छा के होते हुए भी वह समर्थ प्रवत्ति की जनक नहीं रहती दृष्टान्त कहते हैं—जैसे स्वरूप से विद्यमान भी भूना हुआ बीज, उत्पन्न करने की शक्ति से रहित होता है ॥२६३॥

संक्षेपेणोक्तमर्थं प्रपञ्चयति—

भर्जितानि तु बीजानि सन्त्यकार्यकराणि च ।
विद्वदिच्छा तथेष्टव्याऽसत्त्वबोधान्न कार्यकृत् ॥१६४॥

अन्वय :—भर्जितानि तु बीजानि कार्यकराणि च न सन्ति तथा विद्वद्इच्छा एष्टव्या असत्त्वबोधात् कार्यकृत् न ।

'भर्जितानीति' । यथा भर्जितानि बीजानि स्वयं स्वरूपेण विद्यमानान्यपि नाङ्कुरादिकार्यकराणि भवन्ति, तथा विद्विदिच्छा स्वयं विद्यमानाऽपीष्यमाणपदार्थस्यासत्त्वज्ञानेन बाधितत्वान्न व्यसनादिकार्यक्षमेत्यर्थः ॥१६४॥

ननु तर्हि विदुष इच्छैव नाङ्गीकर्तव्या, फलाभावादित्याशङ्क्य, 'फलाभावोऽसिद्धो भोगलक्षणफलसद्भावादिति सदृष्टान्तमाह—

दग्धबीजमरोहेऽपि भक्षणायोपयुज्यते ।
विद्वदिच्छाप्यल्पभोगं[२] कुर्यान्न व्यसनं बहु ॥१६५॥

अन्वयः दग्धबीजं अरोहेऽपि भक्षणाय उपयुज्यते विद्वदिच्छापि अल्पभोगं कुर्यात् बहु व्यसनं न ।

'दग्धबीजमिति' । दग्धं भर्जितमिति यावत् । व्यसनं विपदादिरूपं बहुविधम् । 'व्यसनं विपदि भ्रंशे दोषे कामजकोपजे, इत्यभिधानात् ॥१६५॥

संक्षेप में कहे गये पूर्वोक्त अर्थ का विस्तार से वर्णन करते हैं—

जैसे भुने हुए बीज स्वरूपतः अपने शरीर से विद्यमान रहते हुए भी अंकुरोत्पत्ति आदि कार्य नहीं करते । ऐसे ही ज्ञानी की इच्छा स्वयं विद्यमान रहती हुई भी इच्छा के विषयभूत इन पदार्थों को मिथ्या समझ लेने से बाधित होकर व्यसन[१] आदि दुःखकार्य उत्पन्न करने में समर्थ नहीं रहती ॥१६४॥

यदि कहो कि फल के अभाव से ज्ञानी की इच्छा ही नहीं माननी चाहिए यह शंका करके, भोग रूप फल के होने से फल के अभाव की असिद्धि और दृष्टान्त को कहते है—

जैसे भुना हुआ बीज न जमने पर भी खाने के काम में आ जाता है । वैसे ही विवेकी इच्छा भी थोड़ा-सा भोग तो देती ही है ! वह बहुत से व्यसन उत्पन्न नहीं करती । व्यसन विपदि आदि अधिक व्यसन को नहीं करती । आपद, भ्रंश दश प्रकार के कामजदोष और आठ प्रकार के क्रोध जन्य दोष ये १८ व्यसन कहलाते हैं ॥१६५॥

विशेष (१) प्रथम कामज मृगया दिन का सोना—जुगार (अनेक बार भोजन करना । चुगली करना । जार कर्म । नृत्य करना । गायन करना । वृथा फिरना । मदिरापानादि, दूसरा क्रोध जन्य दोष दुष्टकर्म, बिना बिचारे शीघ्र जुल्म करना, मत्सर, द्वेष, कपट, गाली देना । इत्यादि अनेक प्रकार व्यसन आदि दुःख कहे जाते हैं ।

(२) महाभारते आदिपर्वे जरत्कार्वादिवत् यत्किञ्चिदुपभोगमेव, तु न भरतादिवत् जन्मान्तरापादकतादात्म्याध्यासाधानम् ।

ननु कर्मैव भोगद्वारा व्यसनमपि जनयेदित्याशङ्क्याह—

भोगेन चरितार्थत्वात्प्रारब्धं कर्म हीयते ।
भोक्तव्यसत्यताभ्रान्त्या व्यसनं तत्र जायते ॥१६६॥

अन्वय :—प्रारब्धं कर्म भोगेन चरितार्थत्वात् हीयते भोक्तव्यसत्यता भ्रान्त्या तत्र व्यसनं जायते ।

'भोगेनेति' । प्रारब्धकर्मणो भोगमात्रहेतुत्वान्न व्यसनजनकत्वमित्यर्थः । कुतस्तर्हि व्यसन-जन्मेत्यत आह – 'भोक्तव्येति' । तत्र तस्मिन्विषये ॥१६६॥

व्यसनहेतुं भ्रमं दर्शयति—

मा विनश्यत्वयं भोगो वर्धतामुत्तरोत्तरम् ।
मा विघ्नाः प्रतिबध्नन्तु धन्योऽस्म्यस्मादिति भ्रमः ॥१६७॥

अन्वय :- अयं भोगः मा विनश्यतु उत्तरोत्तरं वर्धतां विघ्नाः मा प्रतिबध्नन्तु अस्मात् अहं धन्यः अस्मि इति भ्रमः ।

'मा विनश्यत्विति' । अयं भोगो मा विनश्यतु, एष उत्तरोत्तरं वर्धतां, विघ्नाश्चैनं मा प्रतिबध्नन्तु अस्य प्रतिबन्धं मा कुर्वन्तु, अस्मादेव भोगात् अहं धन्यः कृतार्थोऽस्मीत्येवंरूपो भ्रमो भवति, ततश्च व्यसन-मित्यर्थः ॥१६७॥

कदाचित् कहो कि कर्म ही भोग के द्वारा व्यसन को भी उत्पन्न कर देगा, यह ठीक नहीं-

प्रारब्धकर्म तो भोग से चरितार्थ हो जाने के कारण भोग देते ही नष्ट हो जाता है, फिर व्यसन की उत्पत्ति कैसे, परन्तु भोक्तव्यपदार्थों के सत्य होने की भ्रान्ति से विषय में व्यसन उत्पन्न हो जाता है ॥१६६॥

अब दुःख के हेतु व्यसन को दिखाते हैं

यह भोग कभी नष्ट न हो किन्तु आगे-आगे बढ़ता जाय विघ्न इस भोग में रुकावट न डाले, मैं इस भोग से ही धन्य हूँ । कृतार्थ हूँ । अज्ञानी का भ्रम इस रूप का होता है इस भ्रम से ही व्यसन (दुःख) होता है ॥१६७॥

प्रसङ्गाद्भ्रमस्य परिहारोपायमाह—

यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयं बोधो भ्रमनिवर्तकः ॥१६८॥

अन्वय :—यदभावि तद्भावि न भावि चेत् न तदन्यथा इति चिन्ताविषघ्नोऽयं बोधः भ्रम निवर्तकः ।

'यदभावीति' । यद्भवितुमयोग्यं तन्न भवेदेव, भवितुं, योग्यं चेत्तदन्यथा न भवेदेव इत्येवंरूपः चिन्ताविषघ्नः 'इदं मे श्रेयः कदा भविष्यति, इदमनिष्टं कदा निवर्तिष्यते ?' इत्येवमादिचिन्तैव विषमिव स्वसंसृष्टपुरुषस्य नाशहेतुत्वाद्विषं इदं चिन्ताविषं हन्तीति चिन्ताविषघ्नः, एवंभूतो यो बोधः सोऽय भ्रम-निवर्तकः, पूर्वोक्तभ्रमस्य निवर्तक इत्यर्थः ॥१६८॥

ननु विद्वदविदुषोरुभयोरपि भोगित्वाविशेषे एकस्य व्यसनम् अपरस्य तु तन्नेत्येतत्कुत इत्या-शङ्क्य, विपरीतज्ञानसत्त्वासत्त्वाभ्यां तत्सिद्धिरित्याह —

समेऽपि भोगे व्यसनं भ्रान्तो गच्छेन्न बुद्धवान् ।
अशक्यार्थस्य संकल्पाद् भ्रान्तस्य व्यसनं बहु ॥१६९॥

अन्वय :—भोगे समेऽपि भ्रान्तः व्यसनं गच्छेत् न बुद्धवान् अशक्यार्थस्य संकल्पात् भ्रान्तस्य बहु व्यसनं ।

'समेऽपीति' । बुद्धवाञ्ज्ञानवान्, ज्ञानीत्यर्थः । भ्रान्तेः कथं व्यसनहेतुत्वमित्यत आह— 'अशक्यार्थस्येति' ॥१६९॥

प्रसङ्ग से उक्त भ्रम के निवारण का उपाय कहते हैं—

जो नहीं होगा, वह कभी नहीं होगा और जो होना है वह कभी टलेगा नहीं, इस प्रकार का चिन्तारूप विष को नष्ट कर देने वाला बोध ही इस पूर्वोक्त भ्रम (दुःख) को हटा देता है । (मेरा कल्याण कब होगा, अनिष्ट कब दूर होगा आदि चिन्ताएँ विष की भाँति चिन्ता करने वाले को मारने वाली होती है, उन्हें ही यहाँ चिन्ता विष कहा है ।) ॥१६८॥

ज्ञानी और अज्ञानी समान रूप से भोगों के भोगी हैं एक भ्रान्त दुःख में फँसता है, दूसरे के दुःख के न होने में हेतु को कहते हैं—

भोग के समान होने पर भी भ्रान्त मनुष्य व्यसन में फँसता है, दुःख को प्राप्त होता है, ज्ञानी नहीं, क्योंकि भ्रान्त पुरुष अशक्य (करने को अयोग्य) पदार्थ के संकल्प से भ्रान्त मनुष्य को उससे उसको बहुत दुःख होता है । इसलिए भ्रान्ति ही दुःख का हेतु है, वह ज्ञानी को नहीं होती ॥१६९॥

विवेकिनस्तदभावं दर्शयति—

मायामयत्वं भोगस्य बुद्ध्वाऽऽस्थामुपसंहरन् ।
भुञ्जानोऽपि न संकल्पं कुरुते व्यसनं कुतः ॥१७०॥

अन्वय : मायामयत्वं भोगस्य बुद्ध्वा आस्थामुपसंहरन् भुञ्जानोऽपि न संकल्पं कुरुते व्यसनं कुतः ।

'मायामयत्वमिति' ॥१७०॥

ननु मायामयत्वबोधे सत्यपि भोगस्य तदनींतनसुखहेतुत्वात्कुत आस्थोपसंहारं इत्याशङ्क्य, बहुविधदोषदर्शनादित्याह—

स्वप्नेन्द्रजालसदृशमचिन्त्यरचनात्मकम् ।
दृष्टनष्टं जगत्पश्यन्कथं तत्रानुरज्यति ॥१७१॥

अन्वय :—स्वप्नेन्द्रजाल सदृशं अचिन्त्य रचनात्मकं दृष्ट नष्टं जगत् पश्यन् तत्र कथं अनुरज्यति ।

'स्वप्नेन्द्रेति' ॥१७१॥

अब विवेकी को दुःख का अभाव दिखाते हैं —

विवेकी पुरुष भोगों को मायामय (मिथ्या) जानकर उनके प्रति अपनी आस्था (आसक्ति) का उपसंहार (समाप्ति) करता हुआ भोगों को भोगता हुआ भी वह संकल्प (असंभव कल्पनाएँ) नहीं करता इससे उसको दुःख किस प्रकार हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता ॥१७०॥

शंका— भोगों के, मायामय है, यह ज्ञान होने पर भी तत्काल सुख का हेतु समझता ही है । फिर उससे आसक्ति कैसे हट सकती है ?

अनेक दोषों के देखने से—इस जगत् को स्वप्न[1] और इन्द्रजाल के समान और अचिन्त्य (अनिर्वचनीय) जो बुद्धि में न आवे रचना रूप और जो देखते ही नष्ट हो जाने वाला, जानकर दोषदर्शी, विवेकी, ज्ञानी कैसे जगत् में अनुराग (प्रीति) को करेगा अर्थात् नहीं करेगा ॥१७१॥

विशेष —(१) स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं । यथा तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः । (मा० का० द्वै० ३१) ।

ननूक्तस्वप्नेन्द्रजालसादृश्यादिज्ञाने सत्यासक्तिभावो न भवेत्, तदेव कुतो जायत इत्याशङ्क्य, तज्जन्मोपायमाह—

स्वस्वप्नमापरोक्ष्येण दृष्ट्वा पश्यन्स्वजागरम्
चिन्तयेदप्रमत्तः सन्नुभावनुदिनं मुहुः ।।१७२।।
चिरं तयोः सर्वसाम्यमनुसंधाय जागरे ।
सत्यत्वबुद्धिं संत्यज्य नानुरज्यति पूर्ववत् ।।१७३।।

अन्वय :—स्वस्वप्नमापरोक्ष्येण दृष्ट्वा स्वजागरं पश्यन् अप्रमत्तः सन् उभौ (स्वप्नजगरो) अनुदिनं मुहुः चिन्तयेत् तयोः चिरं सर्वं साम्यं जागरे अनुसंधाय सत्यत्वबुद्धिं संत्यज्य पूर्ववत् नानुरज्यति ।

'स्वस्वप्नमिति' श्लोकद्वयेन । स्वकीयस्वप्नमपरोक्षतया दृष्ट्वा स्वकीयं च जागरमनुभवन् स्वप्नजागरावुभावपि अप्रमत्तः सन्मुहुश्चिन्तयेत् स्वप्नतुल्योऽयं जागर इति । एवं तयोः स्वप्नजागरयोः सर्वसाम्यं तात्कालिकभोगहेतुत्वपरिणतिविरसत्वविनाशित्वादिलक्षणं चिरमनुसंधाय, जागरेऽपि सत्यत्व-बुद्धिं परित्यज्य, जाग्रद्वस्तुष्वपि पूर्ववत् जगत्सत्यत्वज्ञानदशायामिव नानुरज्यति, अनुरक्तो न भवतीत्यर्थः ।।१७२।७३।।

शंका करो कि यदि जगत् में स्वप्न इन्द्रजाल के सदृश तुल्यता हो तो आसक्ति भी न होगी; अतः इन्द्र जालतुल्य जगत् कैसे हो सकता है यह शका करके आसक्ति के जन्म का उपाय दो श्लोकों से कहते हैं—

अपने स्वप्न को अपरोक्ष (साक्षि प्रत्यक्ष से) देखकर तथा अपने जागरण को भी (पीछे से) अनुभव करे. फिर सावधान होकर स्वप्न और जागरण दोनों को प्रतिदिन (प्रतिक्षण) बारंबार सोचा करे कि यह जागरण स्वप्न के तुल्य है ।

इस प्रकार चिरकाल तक इन दोनों स्वप्न और जाग्रत की सब प्रकार से तुल्यता को स्मरण करके अर्थात् तत्काल भोग के हेतु परिणाम में विरस और विनाशी होने से दोनों समान हैं यह जानकर (मन में दृढ़ करके) जाग्रत को भी जब सत्य समझना छोड़ देता है । पहले के समान (जबकि वह जगत् को सत्य समझता था तब की तरह) जाग्रत वस्तुओं में भी अनुरक्त नहीं होता है ।।१७२-१७३।।

ननु प्रपञ्चगोचरस्य मिथ्यात्वज्ञानस्य विषयसत्यत्वोपजीविनो भोगस्य च परस्पर-विरोधान्मिथ्यात्वज्ञाने सति कथं भोगसिद्धिरित्याशङ्क्य, भोगस्य विषयसत्यत्वापेक्षाभावान्न विरोध इति परिहरति—

इन्द्रजालमिदं द्वैतमचिन्त्यरचनात्वतः ।

इत्यविस्मरतो हानिः का वा प्रारब्धभोगतः ॥१७४॥

अन्वयः—इदं द्वैतं इन्द्रजालं अचिन्त्यरचनात्वतः इति अविस्मरतः प्रारब्धभोगतः का वा हानिः ।

'इन्द्रजालमिति' । इदं द्वैतं भोग्यजातं अचिन्त्यरचनात्वादिन्द्रजालवन्मिथ्येति युक्त्याऽनुसंधाय अविस्मरतो विदुषः प्रारब्धभोगतः प्रारब्धकर्मफलयोः सुखदुःखयोरनुभवेन मिथ्यात्वानुसंधानस्य का वा हानिः, 'वा' शब्दान्मिथ्यात्वानुसंधानेन वा भोगस्य का हानिः ? विभिन्न विषयत्वादिति भावः ॥१७४॥

विभिन्नविषयत्वमेव दर्शयति—

निर्बन्धस्तत्त्वविद्याया इन्द्रजालत्वसंस्मृतौ ।

प्रारब्धस्याग्रहो भोगे जीवस्य सुखदुःखयोः ॥१७५॥

अन्वय : तत्त्वविद्यायाः इन्द्रजालत्वं संस्मृतौ निर्बन्धः प्रारब्धस्य भोगे अग्रहः जीवस्य सुख दुःखयोः अग्रहः ।

'निर्बन्ध इति' । तत्त्वविद्याया जगत्तत्त्वगोचरस्य ज्ञानस्य इन्द्रजालवज्जगतो मिथ्यात्वानुसंधाने निर्बन्धः, नतु भोगापलापे । प्रारब्धकर्मणश्च जीवस्य सुख-दुःखयोः प्रदाने आग्रहः, नतु भोगसत्यत्वापादाने इति भावः ॥१७५॥

शंका—इस प्रकार प्रपञ्च के मिथ्यात्व ज्ञान का और विषयों की सत्यता से होने वाले भोग का परस्पर विरोध है । इससे मिथ्या समझ कर भोग कैसे होगा, इस शंका को दूर करते हैं—भोग में विषय के सत्य होने की अपेक्षा अभाव को दिखाते हैं विरोध नहीं—

यह द्वैत (समस्त भोग्य पदार्थ) अनिर्वचनीय होने के कारण इन्द्रजाल तुल्य मिथ्या है । क्योंकि जगत् रचना चिन्ता के अयोग्य है इस युक्ति से अनुसधान करके बुद्धिमान् (ज्ञानी) के प्रारब्ध कर्म से मिले भोग से मिथ्या ज्ञान की और मिथ्या ज्ञान से प्रारब्ध भोग की क्या हानि, अर्थात् भोग और मिथ्यात्वानु-सन्धान दोनों के लक्ष्य भिन्न-भिन्न हैं ॥१७४॥

अब भिन्न-भिन्न दोनो के विषयों का भेद दिखाते हैं

तत्त्व ज्ञान का तो इतना आग्रह है कि यह स्मरण रहे कि संसार इन्द्रजाल की तरह मिथ्या है, भोग के दूर करने में नहीं । प्रारब्ध कर्म का लक्ष्य तो जीव को सुख-दुःख का भोग देने में है । भोग विषय की सित्यता सिद्ध करना प्रारब्ध कर्म का लक्ष्य नहीं है ॥१७५॥

एवं विभिन्न विषयत्वं प्रदर्श्य, प्रयोगमाह--

विद्यारब्धे विरुध्येते न भिन्नविषयत्वतः ।
जानद्भिरप्यैन्द्रजालविनोदो दृश्यते खलु ॥१७६

अन्वय :—विद्यारब्धे भिन्नविषयत्वतः न विरुध्येते ऐन्द्रजालविनोदः जानद्भिरपि दृश्यते खलु ।

'विद्येति' । 'विद्याप्रारब्धकर्मणी परस्परं न विरुध्येते, विभिन्नविषयत्वात्, संप्रतिपन्नरूपरसज्ञान-वदित्यर्थः । भोग्यमिथ्यात्वाज्ञानं भोगबाधकं न भवतीत्येतत् क्व दृष्टमित्याशङ्क्याह 'जानद्भिरिति' । ऐन्द्रजालविनोद इन्द्रजालसंबन्धिचमत्कारविशेषः जानद्भिरपीन्द्रजालं जानद्भिरप्यवलोक्यत इति प्रसिद्ध-मित्यर्थः ॥१७६॥

इस प्रकार भिन्न विषय को दिखाकर अनुमान को कहते हैं—

विद्या और प्रारब्ध कर्म का परस्पर विरोध नहीं है क्योंकि दोनों के विषय पृथक् पृथक् हैं अनुभव किये भिन्न विषय वाले रूप ज्ञान और रसज्ञान[1] की तरह अब भोग्य पदार्थ को मिथ्यात्व ज्ञानभोग का बाधक नहीं होता, कहाँ देखा दृष्टान्त कहते हैं—इन्द्रजाल सम्बन्धी चमत्कार को जानते हुए भी लोग देखते हैं, यह लोक प्रसिद्ध है ॥१७६॥

विशेष—(१) जैसे खांड का रूप सफेद है और रस मधुर है, इन दोनों के ज्ञान भिन्न वस्तु (गुण रूप) विषय करने वाले होने से परस्पर विरोध होता नहीं । ऐसे ही मिथ्यात्व ज्ञान का विषय (लक्ष्य) तो मिथ्यात्व का न भूलना है और प्रारब्ध का विषय (लक्ष्य) सुख-दुःख देना है दोनों में कोई परस्पर विरोध नहीं है । किन्तु ज्ञान निष्काम कर्म करने से उत्पन्न है और प्रारब्ध देहादि की स्थिति का हेतु सकाम कर्म ही है । अतएव दोनों का भतीजे और पिता का भाई (चाचा) का सम्बन्ध होने से परस्पर स्नेह ही मानना चाहिए ।

किञ्च, विद्याप्रारब्धकर्मणोर्विरोधोऽस्तीति वदन् प्रष्टव्यः —किं प्रारब्धकर्म विद्याविरोधीत्युच्यते, उत विद्या प्रारब्धकर्मविरोधिनी ? इति नाद्य इत्याह—

जगत्सत्यत्वमापाद्य प्रारब्धो भोजयेद्यदि ।
तदा विरोधि विद्याया भोगमात्रान्न सत्यता ॥१७७॥

अन्वय : —प्रारब्धं जगत् सत्यत्वमापाद्य यदि भोजयेत् तदा विरोधि विद्याया भोगमात्रात् न सत्यता ।

'जगदिति'। प्रारब्धं कर्म जगतो भोग्यजातस्य सत्यत्वमबाध्यत्वमापाद्य, यदि भोजयेज्जीवस्य सुखदुःखे दद्यात्तदा विद्याविषयस्य मिथ्यात्वस्य अपहाराद्विद्याया विरोधि स्यात् नच तथा करोति, किंतु भोगमेव प्रयच्छति, अतो न विद्याविरोधि प्रारब्धमिति भावः । भोगबलादेव भोग्यस्य सत्यत्वमपि स्यादित्याशङ्क्याह –'भोगमात्रादिति' । विमतं जगत् सत्यं, भोग्यत्वादित्यत्र दृष्टान्ताभाव इति भावः ॥१७७॥

जो विद्या और प्रारब्ध कर्म का विरोध करता है। उससे यह पूंछने योग्य है कि प्रारब्ध कर्म विद्या का विरोधी है। या विद्या प्रारब्ध की विरोधिनी है उनमें प्रथम ठीक नहीं, इसका वर्णन करते हैं—

जगत्सत्य बनाकर यदि प्रारब्ध कर्म सुख-दुःख दे तो विद्या का विरोधी हो ऐसा नहीं है और भोग मात्र से विषय सत्य नहीं हुआ, करता है ॥१७७॥

यदि प्रारब्ध[1] कर्म जगत् के भोग्य विषयों की सत्यता का प्रतिपादन करके ही जीव को सुख-दुःख देता है ऐसा माना जाय तो विद्या का विषय जो मिथ्यात्व उसके नष्ट होने से विद्या का विरोधी माना जायेगा, परन्तु यह ऐसा नहीं करता, किन्तु भोग को ही प्रारब्ध कर्म देता हैं, इससे विद्या का विरोधी नहीं है। शंका —भोग मात्र से ही विषय सत्य हो जायेगा यह भी ठीक नहीं, क्योंकि भोग मात्र से सत्यता नहीं होती है। विवाद का विषय जगत् सत्य है भोग्य होने से इस अनुमान में कोई दृष्टान्त नहीं है ॥१७७॥

विशेष —(१) आरब्धस्य फले ह्येते भोगो ज्ञानं च कर्मणः ।
अविरोधस्तयोर्युक्तो वैधर्म्यं चेतरस्य तु । (उप सा० ४१४)

भोग और ज्ञान ये दोनों ही प्रारब्ध कर्म के फल हैं। अतः इनमें विरोध न होना उचित ही है, किन्तु अन्य (संचित-क्रियमाण ? कर्मों का ज्ञान से विरोध है।

ननु मिथ्यापदार्थैर्भोगो भवतीत्यत्रापि दृष्टान्तो नास्तीत्याशङ्क्याह—

अनूनो जायते भोगः कल्पितैः स्वप्नवस्तुभिः ।

जाग्रद्वस्तुभिरप्येवमसत्यैर्भोग इष्यताम् ॥१७८॥

अन्वयः —कल्पितैः स्वप्नवस्तुभिः अनूनभोगः जायते जाग्रद्वस्तुभिः अपि एवं असत्यैः भोगइष्यताम् ।

'अनून इति' ॥१७८॥

यदि विद्याऽपह्नुवीत जगत्प्रारब्धघातिनी ।

तदा स्यान्न तु मायात्वबोधेन तदपह्नवः ॥१७९॥

अन्वय : यदि विद्या अपह्नुवीत जगत् प्रारब्धघातिनी तदा स्यात् मायात्वबोधेन तदपह्नवः तु न स्यात् ।

'यदि विद्येति' । विद्या यदि जगद्भोग्यजातमपह्नुवीत नेदं रजतमिति निषेधकज्ञानवत् प्रतीयमानस्य भोग्यस्य स्वरूपं विलापयेत् तदा प्रारब्धकर्मभोगस्य सुखदुःखानुभवस्य साधनापहारेण प्रारब्धकर्मविघातिनी स्यात्, नच तत्करोति, किंतु मिथ्यात्वमेव बोधयति, अतो न प्रारब्धकर्मविरोधिनीति भावः । ननु मिथ्यात्वबोधनादेव स्वरूपमपि विलापयेदित्याशङ्क्याह—'न तु मायेति' । इन्द्रजालादौ स्वरूपविलापनमन्तरेणापि मिथ्यात्वज्ञानदर्शनादिति भावः ॥१७९॥

शंका मिथ्या पदार्थों से भोग होता है इसमें भी कोई दृष्टान्त नहीं है इस शंका को करके कहते हैं —

जैसे कल्पना मात्र स्वप्न की वस्तुओं से जैसा अनून (पूर्ण) भोग होता है इसी प्रकार जाग्रत अवस्था की असत्य वस्तुओं से भी भोग होता है ऐसा स्वीकार कर लो ॥१७८॥

नापि द्वितीय इत्याह—

विद्या प्रारब्ध की विरोधिनी है यह भी नहीं कह सकते —

विद्या (ज्ञान) जगत् का निषेध अपह्नव करे तो प्रारब्ध को नष्ट कर सकती है, यह होता नहीं और माया ज्ञान से जगत् का निषेध नहीं होता ॥१७९ ।

यदि विद्या भोग्य समूह रूप जगत् का यह शुक्ति है रजत नहीं इसके समान अपह्नव बाध) करे यह निषेधक ज्ञान की तरह प्रतीयमान भोग्य पदार्थों के स्वरूप को छिपा दे तब प्रारब्ध को नष्ट करने वाली कही जा सकती है। क्योंकि प्रारब्ध कम के भोग सुख दुःख का अनुभव के साधनभूत जगत् के स्वरूप को नष्ट नहीं करती इसलिए वह प्रारब्ध कर्म विरोधिनी भी नहीं है। किन्तु मिथ्या बोधन करती है। यदि कहो कि जगत् को माया (मिथ्या) समझ लेने से जगत् का स्वरूप विलय (विनाश) हो जायेगा यह शंका ठीक नहीं है। इन्द्रजाल आदि में भी स्वरूप के विलापन (नाश) हुए बिना ही मिथ्यात्व ज्ञान देखते हैं ॥१७९॥

एतदेव प्रपञ्चयति—

अनपह्नुत्य लोकास्तदिन्द्रजालमिदं त्विति ।
जानन्त्येवानपह्नुत्य भोगं मायात्वधीस्तथा ॥१८०॥

अन्वयः— लोकाः तत् इदं इन्द्रजालं तु अनपह्नुत्यइति अपन्हुत्यभोगं तथा मायात्वधीः जानन्ति एव ।

'अनपह्नुत्येति' । लोका जनास्तदिन्द्रजालस्वरूपमनपह्नुत्यानिरस्य 'इदमिन्द्रजालम्' इति जानन्त्येव यथा, तथा भोगं भोग्यमनपह्नुत्याविलाप्य मायात्वधीः । जगन्मिथ्यात्वज्ञानं भवतीत्यर्थः ॥१८०॥

'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिश्रुतिः द्रष्टृवदर्शनदृश्याभावं बोधयति, अतो विद्योत्पद्यमाना जगद्विलापयेदेव; एवं सति विदुषो भोगश्च कथं स्यादिति श्रुत्यवष्टम्भेन शङ्कते श्लोकद्वयेन—

यत्र त्वस्य जगत्स्वात्मा पश्येत्कस्तत्र केन कम् ।
किं जिघ्रेत्किं वदेद्वेति श्रुतौ तु बहु घोषितम् ॥१८१॥

अन्वय :—यत्र तु जगत् अस्य स्वात्मा तत्र कः केन कं पश्येत् किं जिघ्रेत् किम् वदेत् इति श्रुतौ तु बहु घोषितम् ।

'यत्र त्वित्यादिना' । यत्र यस्यां विद्यावस्थायां कृत्स्नं जगदस्य विदुषः स्वात्मैवाभूत् 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६, नृ० उ० ५।१) इति ज्ञानेन स्वरूपमेव भवति, तत्र तस्यां दशायां को द्रष्टा, केन साधनेन चक्षुषा किं दृश्यं रूपजातं पश्येत्, एवं घ्राणलक्षणेन किं कुसुमादिकं जिघ्रेत्, किं वाक्यं केन वागिन्द्रियेण वा वदेत् । एवमितरेन्द्रियव्यापाराभावद्योतनाय 'वा' शब्दः । इत्येवंप्रकारेण श्रुतौ बहुवारमभिहितमित्यर्थः ॥१८१॥

उसका ही विस्तार से वर्णन करते हैं—

जैसे लौकिक (जन) इस इन्द्रजाल के स्वरूप को न हटाकर भी तो जान लेते हैं यह इन्द्रजाल है । ऐसे ही भोग्य पदार्थ को नष्ट किये बिना भी जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान हो जाता है ॥१८ ॥

अब दो श्लोकों से यह शंका करते हैं कि जब इस ज्ञानी को सम्पूर्ण जगत् आत्म रूप ही हो जाता है । उस दशा में कौन देखने वाला किस नेत्र आदि के द्वारा किसे देखे । इस प्रकार श्रुति में कहा द्रष्टा-दर्शन दृश्य रूप जगत् के अभाव का बोधन करता है इससे पैदा हुई विद्या जगत् का विलय अवश्य करेगी । ऐसा होने पर विद्वान् को भोग कैसे होगा –

जिस अवस्था में इस ज्ञानी को सम्पूर्ण जगत् आत्मा रूप ही हो जाता है । 'यह सब आत्मा ही है, इस ज्ञान से अपना स्वरूप ही हो जाता है उस दशा में कौन देखने वाला किस नेत्र आदि इन्द्रिय से किस देखने योग्य जगत् को देखें । इसी प्रकार किस घ्राण रूप इन्द्रिय से किस पुष्प आदि को सूँघे और किस वचन को किस वाक् इन्द्रिय से कहें इस प्रकार इतर इन्द्रियों के व्यापार के अभाव के द्योतन के लिए "वा" शब्द है । इस प्रकार श्रुति में बहुत बार कहा है ॥१८१॥

ततः किमित्यत आह—

तेन द्वैतमपह्नुत्य विद्योदेति न चान्यथा ।

तथा च विदुषो भोगः कथं स्यादिति चेच्छृणु ॥१८२॥

अन्वय :—तेन द्वैतं अपह्नुत्य विद्या उदेति अन्यथा च न तथा च विदुषः भोगः कथं स्यात्इति चेत् शृणु ।

'तेन द्वैतमिति' । 'स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि' (ब्र० सू० ४।४।१६) इत्यस्मिन्सूत्रे । यत्र त्वस्येत्युदाहृतायाः श्रुतेः सुप्तिमोक्षयोरन्यतरापेक्षयोरन्यतरविषयत्वेन व्याख्यातत्वान्न विद्यया जगदपह्नव इति परिहरति—'शृण्विति' ॥१८२॥

सुषुप्तिविषया मुक्तिविषया वा श्रुतिस्त्विति ।

उक्तं स्वाप्ययसंपत्त्योरिति सूत्रे ह्यतिस्फुटम् ॥१८३॥

अन्वय :—श्रुतिः सुषुप्तिविषया मुक्तिविषया वा इति तु उक्तं स्वाप्ययसंपत्त्योः इति सूत्रे हि अतिस्फुटम् ।

स्वाप्ययः सुषुप्तिः, संपत्तिर्मुक्तिरित्यर्थः ॥१८३॥

श्रुति ने सम्पूर्ण द्वैत का तत्त्व ज्ञान से अभाव दिखाया इससे क्या सिद्ध होने वाला है—

इससे यह सिद्ध होता है कि द्वैत का अपह्नव निषेध) करके ही विद्या उत्पन्न होती है—ऐसी अवस्था में विद्वान् को भोग कैसे होगा इस शंका का उत्तर देते हैं सुनो—॥१८२॥

'स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि' इस ब्रह्म सूत्र में 'यत्र त्वस्य' को उद्धृत कर स्पष्ट कहा है कि 'स्वाप्यय' सुषुप्ति अथवा मुक्ति किसी एक की अपेक्षा से विशेष ज्ञान का अभाव दिखाया है। यह श्रुति विद्या से जगत् के निरस्त हो जाने का विवेचन नहीं करती है ॥१८२॥

उक्त श्रुति वाक्य तो सुषुप्ति अथवा मुक्ति के विषय में है 'स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि' अर्थात् सुषुप्ति अथवा मुक्ति इन दोनों में किसी एक की अपेक्षा विशेष ज्ञान का अभाव श्रुतियों में दिखाया गया है। इस प्रकार सूत्र रूप में सुस्पष्ट रूप से व्यासमुनि ने कहा है ॥१८३॥

अस्याः श्रुतेः सुषुप्त्यादिविषयत्वानङ्गीकारे बाधकमाह—

अन्यथा याज्ञवल्क्यादेराचार्यत्वं न संभवेत् ।
द्वैतदृष्टावविद्वत्ता द्वैतादृष्टौ न वाग्वदेत् ॥१८४॥

अन्वय :—अन्यथा याज्ञवल्क्यादेः आचार्यत्वं न संभवेत् द्वैतदृष्टौ अविद्वता द्वैतादृष्टौ वाग् न वदेत् ।

'अन्यथेति' । तत्रोपपत्तिमाह 'द्वैतेति' । याज्ञवल्क्यादिर्यदि द्वैतं पश्येत्तर्हि तदाऽद्वैतज्ञानाभावान्नाचार्यो भवेत् । अथ द्वैतं न पश्यति तर्हि बोध्यशिष्याद्यनुपलम्भावाचार्यवाक् शिष्यं प्रति बोधनाय न प्रवर्तेत, अतो विद्यासंप्रदायोच्छेदप्रसङ्ग इति भावः ॥१८४।

ननु याज्ञवल्क्यादीनामाचार्यत्वदशायां विद्यमानस्य ज्ञानस्य विद्यात्वमस्त्येव, तथापि तस्य नापरोक्षविद्यात्वं द्वैतप्रतीतिसद्भावात्. निर्विकल्पकसमाधौ तु द्वैतदर्शनाभावात्सैवापरोक्षविद्येति शङ्कते—

निर्विकल्पसमाधौ तु द्वैतादर्शनहेतुतः ।
सैवापरोक्षविद्येति चेत्सुषुप्तिस्तथा न किम् ॥१८५॥

अन्वयः—द्वैतादर्शनहेतुतः निर्विकल्पसमाधौ तु सैवापरोक्षविद्येति चेत् सुषुप्तिः तथा न किम् ।

'निर्विकल्पेति' । द्वैताप्रतीतेरप्यतिप्रसङ्गापादकत्वान्नैवमिति परिहरति—'सुषुप्तिस्तथा न किमिति' ॥१८५॥

अब पूर्वोक्त श्रुति को सुषुप्ति और मुक्ति के विषय न मानने में बाधक (दोष) कहते हैं—

अन्यथा याज्ञवल्क्य आदि ब्रह्म विद्या के आचार्य न हो सकेंगे । यदि मानो द्वैत को देख रहे हैं तो अद्वैत ज्ञान के न होने से आचार्य नहीं होंगे, और यदि कहो कि द्वैत को नहीं देख रहे हैं तो बोध के योग्य शिष्यों की भी प्रतीति नहीं होगी तो फिर उपदेश के लिए वाणी कैसे प्रवृत्त होगी, इससे विद्या की सम्प्रदाय का भी नाश हो जायेगा ॥१८४॥

शंका · याज्ञवल्क्य आदि आचार्यों का ज्ञान आचार्यत्व की दशा में विद्या (ज्ञान) भले ही हो परन्तु उनकी अपरोक्ष ज्ञान नहीं है, क्योंकि उस समय द्वैत की प्रतीति हो रही होती है । हाँ निर्विकल्प समाधि में द्वैत की प्रतीति न होने के कारण वह विद्या अपरोक्ष ज्ञान है इस शंका को करके समाधान —

द्वैत की अप्रतीति से ही अपरोक्ष विद्या मानोगे, अतिव्याप्ति होने से यह ठीक नहीं, समाध न करते हैं । सुषुप्ति भी अपरोक्ष विद्या हो जायेगी द्वैतादर्शन हेतु से ॥१८५॥

अतिप्रसङ्गपरिहारं शङ्कते—

आत्मतत्त्वं न जानाति सुप्तौ यदि तदा त्वया ।
आत्मधीरेव विद्येति वाच्यं न द्वैतविस्मृतिः ॥१८६॥

अन्वयः—आत्मतत्त्वं सुप्तौ न जानाति यदि तदा त्वया आत्मधीरेव विद्या इति वाच्यं द्वैत विस्मृतिः न ।

'आत्मतत्त्वमिति' । सुप्तौ द्वैतदर्शनाभावेऽपि आत्मगोचरज्ञानाभावान्न विद्यात्वं तस्या इत्यर्थः । तर्हि प्राप्तं विवेकज्ञानस्यैव विद्यात्वं, न द्वैतदर्शनाभावस्येत्याह—'तदेति' ॥१८६॥

ननु द्वैतादर्शनात्मज्ञानयोर्मिलितयोरेव विद्यात्वं, नैकैकस्येति शङ्कते

उभयं मिलितं विद्या यदि तर्हि घटादयः ।
अर्धविद्याभाजिनः स्युः सकलद्वैतविस्मृतेः ॥१८७॥

अन्वयः उभयं मिलितं विद्या यदि तर्हि घटादयः अर्धविद्याभाजिनः सकलद्वैतविस्मृतेः स्युः ।

'उभयमिति' । द्वैतविस्मृतेरपि विद्यांशत्वाङ्गीकारे जडस्याप्यर्धविद्यात्वप्रसङ्ग इति परिहरति—'तर्हि घटादय इति । अत्रोपपत्तिमाह—'सकलेति' ॥१८७॥

अब अति प्रसङ्ग अति व्याप्ति दोष के परिहार का शंका करते हैं—

(वादी) सुषुप्ति में द्वैत दर्शन तो नहीं है, पर आत्मतत्त्व का ज्ञान भी तो नहीं है । इससे सुषुप्ति को अपरोक्ष ज्ञान नहीं कहते (सिद्धान्ती) तब तो यह कहो कि आत्म के विवेक ज्ञान को ही विद्या कहना चाहिए । द्वैत जगत् दर्शन के अभाव का नाम विद्या नहीं है ।।१८६॥

शंका द्वैत के दर्शन का अभाव तथा आत्म ज्ञान ये दोनों मिले हुए विद्या हैं एक नहीं—

द्वैत की विस्मृति को भी विद्या का अंश मानने से जड़ रूप घट आदि भी अर्ध विद्या के भागी हो जायेंगे यह समाधान है उनको सम्पूर्ण द्वैत की पूरी विस्मृति है ॥१८७॥

अस्मिन्नेव पक्षे समाधिमतां पुरुषाणां अर्धविद्यावत्त्वमपि न स्यादिति सोपहासमाह–

मशकध्वनिमुख्यानां विक्षेपाणां बहुत्वतः ।
तव विद्या तथा न स्याद्घटादीनां यथा दृढा ॥१८८॥

अन्वयः—मशकध्वनिमुख्यानां बहुत्वतः विक्षेपाणां तव विद्या तथा न स्यात् यथा घटादीनां दृढा ।

'मशकध्वनीति' । घटादीनां यथा द्वैतविस्मरणं दृढं तथा तव समाधौ द्वैतविस्मरणं न संभवति, मशकध्वन्यादीनामनेकेषां विक्षेपाणां सद्भावादित्यर्थः ॥१८८॥

ननु आत्मज्ञानस्यैव विद्यात्वं, न द्वैतविस्मृतेरिति शङ्कते--

आत्मधीरेव विद्येति यदि तर्हि सुखी भव ।
दुष्टचित्तं निरुन्ध्याच्चेन्निरुन्द्धि त्वं यथासुखम् ॥१८९॥

अन्वयः—आत्मधीरेव विद्या इति यदि तर्हि सुखी भव दुष्टचित्तं निरुन्ध्यात् चेत् त्वं यथा सुखम् निरुन्धि ।

'आत्मधीरेवेति' । तदस्माकमिष्टमित्यभिप्रायेण आशीर्वादयति—'तर्हि सुखी भवेति' । नन्वात्मधीरेव विद्या, सा न दुष्टचित्ते संभवति, अतश्चित्तदोषपरिहाराय चित्तवृत्तिनिरोधः कार्य इति शङ्कामनुभाषते —'दुष्टचित्तमिति' । तदङ्गीकरोति—निरुन्द्धि त्वमिति' ॥१८९॥

अब इसी पक्ष में समाधि में स्थित मनुष्यों को आधी विद्या भी न होगी, यह बात हसी से कहते हैं—

जितनी दृढ़ द्वैत विस्मृति घटादिकों की है उतनी दृढ़ द्वैत विस्मृति समाधिस्थ पुरुषों की भ न होगी, क्योंकि समाधिस्थ पुरुष को भी मच्छर आदि के बहुत से शब्द रूप होते रहते हैं । इससे समाधि में स्थित आपको भी वैसी विद्या न होगी जैसी घट आदि को होती है ॥१८८॥

यदि आत्म ज्ञान को ही विद्या मानो ? और द्वैत का विस्मरण विद्या नहीं है, इस प्रकार शंका करते हैं—

(वादी) तब तो आत्मज्ञान को ही विद्या मानो (सिद्धान्ती) तो वह हमको इष्ट है, इससे तुम भी उसके मानने से सुखी होओ । (वादी) आत्मज्ञान विद्या है मान लिया परन्तु विक्षेपादि से दुष्ट चित्त में आत्मज्ञान हो ही नहीं सकता, इससे चित्त के दोष निवृत्ति के लिए चित्तवृत्तिका निरोध करना चाहिए । (सिद्धान्ती) यह ठीक है—तुमको दुष्ट चित्त को रोकना है तो सुख से रोको (निरोध करो) ॥१८९॥

तदिष्टमेष्टव्यमायामयत्वस्य समीक्षणात् ।
इच्छन्नप्यज्ञवन्नेच्छेत्किमिच्छन्निति हि श्रुतम् ॥१९०॥

अन्वयः—ईष्ट व्यमायामयत्वस्य समीक्षणात् तदिष्टं इच्छा अपि अज्ञवत् नेच्छेत् श्रुतम् हि किं इच्छन् इति ।

'तदिष्टमिति । अस्माकमपीति शेषः । कुत इत्यत आह—'एष्टव्येति' चित्तदोषापगमे सति अद्वितीयात्मज्ञानाय इष्यमाणं 'जगन्मायामयत्वं सम्यगीक्ष्यते यतः अत इष्टमित्यर्थः । एवं 'किमिच्छन्' (शाट्या० २१ इति मन्त्रांशेनाभिप्रेतमर्थमुपपादितमुपसंहरति-'इच्छन्निति' । इच्छन्नपि अयं अज्ञवन्नेच्छेत्, अतः किमिच्छन्निति श्रुतमिति योजना ॥१९०॥

एवमभिप्रायवर्णने कारणमाह –

रागो लिङ्गमबोधस्य सन्तु रागादयो बुधे ।
इति शास्त्रद्वयं सार्थमेवं सत्यविरोधतः ॥१९१॥

अन्वयः —अबोधस्य रागः लिङ्गं रागादयः बुधे सन्तु इति शास्त्र द्वयं सार्थं एवं सति अविरोधतः ।

'रागो लिङ्गमिति' । 'रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु' । कुतः शाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः । इति तत्त्वविदो रागनिषेधपरं शास्त्रम्. 'शास्त्रार्थस्य समाप्तत्वान्मुक्तिः स्यात्तावता मितेः । रागादयः सन्तु कामं न तद्भावोऽपराध्यते' । इति तस्यैव रागाङ्गीकारपरं च शास्त्रम् । एवं च सति तत्त्वविदो दृढरागाभावे सति शास्त्रद्वयं सार्थमर्थवद्भवति । अविरोधतः रागनिषेधपरस्य शास्त्रस्य दृढराग-विषयत्वात्तदभ्युपगमपरस्य शास्त्रस्य रागाभासविषयत्वादिति भावः ॥१९१॥

चित्त का रोकना हमको भी इष्ट है । क्योंकि चित्त दोषों के दूर होने पर ही अद्वितीय आत्म ज्ञान के लिए अभीष्ट जगत् का मायामय रूप (मिथ्यात्व) वह भली प्रकार दिखाई पड़ता है इसलिए "इच्छा करता हुआ भी इस मन्त्र के अंश से कहा उपसंहार करते हैं—और इच्छा करता हुआ भी यह अज्ञ (मूर्ख वा जड़) के समान इच्छा नहीं करता, इससे श्रुति में "किं इच्छन्, कस्य कामाय" क्या इच्छा करता हुआ, किसकी कामना के लिए शरीर को दुःख दे यह सुना है ॥१९०॥

इस प्रकार अभिप्राय वर्णन में कारण कहते हैं –

ऐसा होने पर ही अर्थात् तत्त्व ज्ञानी को दृढ़ राग नहीं होता । इसलिए "राग अबोधस्य

लिङ्गम्[1]" और "बुधे रागादयः सन्तु" ये दोनों शास्त्र वचन परस्पर अविरोधी सिद्ध हो सकते हैं।

चित्त की विहार भूमि रूप विषयों में राग प्रीति का होना ही अज्ञान का चिह्न है जिस वृक्ष की खोह में आग लगी हो उसमें हरियाली कहाँ से आवेगी। इस वचन से ज्ञानी में राग का निषेध शास्त्र हैं। दूसरा वचन है शास्त्र के[2] अर्थ को समाप्त कर लेने के कारण असङ्ग अद्वितीय आत्मा के ज्ञान मात्र से भी ज्ञानी की मुक्ति हो ही जायेगी और मन के धर्म रागादि चाहे जितने रहें उनके होने से कोई हानि नहीं। यह ज्ञानी को ही राग के अङ्गीकार का बोधक शास्त्र है। इन दोनों वचनों में से पहला वचन तो दृढ़ राग का निषेध करता है और दूसरा अदृढ़ राग[3] रूप रागाभास को ज्ञानी में होना स्वीकार करता है इस प्रकार दोनों का विरोध दूर हो जाता है ॥१८१॥

विशेष १ — जैसे धुआँ अग्नि का लिङ्ग है। वैसे ही विषयों अनुराग का होना अज्ञान का चिह्न है। अनुमान इस प्रकार होगा। यह पुरुष अज्ञानी है, रागवान होने से, अन्य अज्ञानी की तरह।

२— शास्ति जीवं प्रति हितमुपदिशतीति शास्त्रं वेदः तस्य योऽर्थः जीवब्रह्मैक्यलक्षणम्। अज्ञात ज्ञापकत्वं शास्त्रत्वम्।

३— स्थूल अन्तःकरण रूप उपादान का सम्बन्ध भी हो और अनुकूल पदार्थ रूप निमित्त के सम्बन्ध से निरन्तर राग न हो उसे अदृढ़ राग कहते हैं। यही ज्ञानी का लक्षण है, इस लक्षण को अच्छी तरह समझने के लिए निम्नलिखित सन्दर्भ ध्यान देने योग्य है।

क) अन्तःकरण का सम्बन्ध होते हुए भी अज्ञानी में राग का अभाव नहीं है। (ख) सुषुप्ति में राग का अभाव है पर अन्तःकरण का सम्बन्ध नहीं। (ग) फिर सुषुप्ति में राग के अभाव के साथ-साथ सूक्ष्म (संस्कार रूप) अन्तःकरण का सम्बन्ध है। स्थूल अन्तःकरण सम्बन्ध नहीं है। (घ) कभी उद्योग के समय अज्ञानी को भी स्थूल अन्तःकरण के सम्बन्ध के साथ-साथ राग का अभाव है। परन्तु वहां अनुकूल पदार्थ की स्मृति या सन्निधि नहीं है। (ङ) स्थूल अन्तःकरण के और अनुकूल वस्तु के सम्बन्ध के साथ-साथ कभी अविचार दशा में राग ज्ञानी को भी हो जाता है। परन्तु वह निरन्तर नहीं होता। (च) स्थूल अन्तःकरण के और अनुकूल पदार्थ का सम्बन्ध होते हुए राग का अभाव तो उपासकादि शुद्ध चित्त वाले अज्ञानियों में भी दिखायी देता है परन्तु उनमें राग का अभाव बाहर से स्थूल राग का होता है। भीतर के सूक्ष्म राग का नहीं होता है। अतएव ऊपर जो अदृढ़ राग रूप रागाभास बताया है वही ज्ञानी का निर्दोष लक्षण है संक्षेप में दृढ़ राग के अभाव वाला ज्ञानी होता है। अविद्या लेश बाधितानुवृत्ति रहने पर भी मुक्तावस्था में पूर्व अवस्था से वैलक्षण्य है। रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते। (गी० २।५९) अज्ञानी को राग नहीं जाता परन्तु इस स्थिति प्रज्ञ का परमात्मा का साक्षात्कार होने पर मैं वही हूँ उसका राग भी निवृत्त हो जाता है।

एवं 'किमिच्छन्' इत्यंशस्याभिप्रायमुपवर्ण्य, 'कस्य कामाय' इत्यंशस्याभिप्रायमाह—

जगन्मिथ्यात्ववत्स्वात्मासङ्गत्वस्य समीक्षणात् ।
कस्य कामायेति वचो भोक्त्रभावविवक्षया ॥१६२॥

अन्वय :—जगन्मिथ्यात्ववत् स्वात्मासङ्गत्वस्य समीक्षणात् कस्य कामाय इति वचः भोक्त्रभाव विवक्षया ।

'जगदिति' । यथा जगन्मिथ्यात्वबोधेन वास्तवकाम्याभावविवक्षया 'किमिच्छन्' इत्युक्तम्, एवमात्मनोऽसङ्गत्वबोधेन वास्तवभोक्तृत्वाभावविवक्षया' कस्य कामाय' (बृ० ४।४।१२) इति श्रुत्याभिहितमित्यर्थः ॥१६२॥

नन्वात्मनो भोक्तृत्वप्रतिषेधस्तत्प्रसक्तिपूर्वको वक्तव्यः, सा तु न विद्यते असङ्गत्वादात्मन इत्याशङ्क्य, तस्याः स्वानुभवसिद्धत्वान्मैवमित्यभिप्रेत्य, तदनुवादिकां श्रुतिमर्थतोऽनुक्रामति—

पतिजायादिकं सर्वं तत्तद्भोगाय नेच्छति ।
किन्त्वात्मभोगार्थमिति श्रुतावुद्घोषितं बहु ॥१६३॥

अन्वय :—पतिजायादिकः सर्वं तत्तद् भोगाय नेच्छति किन्तु आत्मभोगार्थं इति श्रुतौ ब उद्घोषितं ।

'पतिजायेति' । 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति' (बृ० ४।५।६) इत्यारभ्य 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' (बृ० ४।५।६) इत्यन्तेन वाक्यसंदर्भेण पतिजायादिकस्य प्रपञ्चस्यात्मनो भोगसाधनत्वं प्रतिपाद्यते, तत् आत्मनो भोक्तृत्वप्रसक्तिरित्यर्थः ॥१६३॥

इस प्रकार 'किसकी इच्छा करता हुआ' इस अंश के अभिप्राय का वर्णन करके किसकी कामना के लिए शरीर को दुःख दे इस अंश का अभिप्राय कहते हैं—

जैसे जगत् के मिथ्या ज्ञान से वास्तविक काम्य भोग्य के अभाव की विवक्षा से 'किमिच्छन्' यह मन्त्र कहा इसी प्रकार आत्मा को असंग जानकर वास्तविक (यथार्थ) भोक्ता के अभाव की विवक्षा से "कस्य कामाय' यह वाक्य श्रुति में कहा गया है ॥१६२॥

शंका – आत्मा भोक्ता नहीं है यह तो तभी कहोगे जबकि उसमें आसक्ति होना सम्भव हो, आत्मा असंग है, फिर आसक्ति कहाँ से होगी इसके उत्तर में कहते हैं । आत्मा से आसक्ति का होना अनुभव सिद्ध है इस अभिप्राय से आसक्ति की बोधक श्रुति के अर्थ को पढ़ते हैं :—

पति, स्त्री आदि सबकी, जो प्राणी इच्छा करता है, वह पति जाया आदि के भोग के लिए नहीं करता यहाँ से आरम्भ करके किन्तु अपने भोग के लिए करता है यहाँ तक यह बात श्रुति में खूब घोषणा पूर्वक याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी से कही है । पति, स्त्री आदि सारा जगत् आत्मा का ही भोग साधन है इससे आत्मा भोक्ता है, यह बात सिद्ध होती है ॥१६३॥

एवमात्मनो भोक्तृत्वं प्रदर्श्य, तदपवादाय भोक्तारं विकल्पयति—

किं कूटस्थश्चिदाभासोऽथ वा किं वोभयात्मकः ।

भोक्ता तत्र न कूटस्थोऽसङ्गत्वाद्भोक्तृतां व्रजेत् ॥१८४॥

अन्वय :—किं कूटस्थश्चिदाभासो अथवा किं वोभयात्मकः भोक्ता तत्र न कूटस्थः असङ्गत्वात् भोक्तृतां व्रजेत् ।

किं कूटस्थ इति' । किं कूटस्थस्य भोक्तृत्वं, उत चिदाभासस्य किं वोभयात्मकस्य ? इति विकल्पार्थः । तत्र प्रथमं प्रत्याह—'भोक्ता तत्रेति' ॥१८४॥

असङ्गत्वमस्तु, भोक्तृत्वमप्यस्तु, को दोष इत्याशङ्क्याह—

सुखदुःखाभिमानाख्यो विकारो भोग उच्यते ।

कूटस्थश्च विकारी चेत्येतन्न व्याहतं कथम् ॥१८५॥

अन्वय : सुखदुःखाभिमानाख्यः विकारः भोग उच्यते कूटस्थश्च विकारी च इति एतत् व्याहतं वचः न ।

'सुखेति' । सुखित्वदुःखित्वाभिमानलक्षणो विकारो भोगः, सोऽप्रसङ्गस्य कूटस्थस्य न युज्यते । कूटस्थत्वविकारित्वयोरेकत्र समावेशायोगादित्यर्थः ॥१८५॥

इस प्रकार आत्मा को भोक्ता दिखाकर उसके निषेध के लिए भोक्ता में विकल्प की शंका करते हैं—

क्या भोक्ता कूटस्थ है अथवा चिदाभास रूप जीवात्मा है या दोनों ही भोक्ता है । इन तीनों विकल्पों में से प्रथम कूटस्थ तो असंग[1] होने से भोक्ता बन नहीं सकता ॥१८४॥

शंका—कूटस्थ असंग, व, भोक्ता दोनों रूप रहे क्या दोष है यह ठीक नहीं—

सुख दुःख के विकार रूप अभिमान को भोग कहते हैं इससे कूटस्थ है साथ ही विकारी है । यह कथन परस्पर व्याहृत (विरुद्ध) न होगा । अवश्य होगा फिर असंग कूटस्थ सुखी-दुःखी ये दोनों धर्म एक में नहीं रह सकते ॥१८५॥

विशेष १- असङ्गो ह्ययं पुरुषः इति श्रुतेः ।

ननु तर्हि विकारिणश्चिदाभासस्य भोक्तृत्वं स्यादित्याशङ्क्य, विकारित्वेऽपि निरधिष्ठानस्य तस्यैवासिद्धेर्मैवमिति परिहरति—

विकारिबुद्ध्यधीनत्वादाभासे विकृतावपि ।
निरधिष्ठानविभ्रान्तिः केवला न हि तिष्ठति ॥१६६॥

अन्वयः—विकारिबुध्यधीनत्वात् विकृतावपि आभासे केवला निरधिष्ठानविभ्रान्तिः न हि तिष्ठति ।

'विकारीति' । चिदाभासस्य विकारिबुद्ध्युपाध्यधीनत्वात् स्वस्मिन् विकारे संभवत्यपि तस्य आरोपितस्य आरोपितस्वरूपत्वेन अधिष्ठानभूतं कूटस्थं विहाय स्वातन्त्र्येणावस्थानासंभवात्केवलचिदाभासस्यापि भोक्तृत्वं न संभवतीति भावः ॥१६६॥

तस्मात्तृतीयः पक्षः परिशिष्यत इत्याह—

उभयात्मक एवातो लोके भोक्ता निगद्यते ।
तादृगात्मानमारभ्य कूटस्थः शेषितः श्रुतौ ॥१६७॥

अन्वयः—अतः लोके उभयात्मक एव भोक्ता निगद्यते तादृगात्मानमारभ्य श्रुतौ कूटस्थः शेषितः ।

'उभयात्मक इति' । यत एकैकस्य भोक्तृत्वं न संभवति अत उभयात्मकः साधिष्ठानचिदाभास एव लोके व्यवहारदशायां भोक्तेत्यभिधीयते, परमार्थतस्तूभयात्मकत्वमेव न घटत इति भावः । ननु 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४।३।१५) इत्यादौ असङ्गत्वस्येव 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४।३।७) इत्यादौ बुद्धिसाक्षित्वस्यापि श्रवणादुभयात्मकं भोक्तृत्वरूपमपि पारमार्थिकमेव स्यात्, न लोकव्यवहारमात्रसिद्धमित्याशङ्क्य, श्रुतेस्तत्र तात्पर्याभावान्मैवमित्याह 'तादृगिति' । तादृगात्मानं बुद्ध्युपाधिकं भोक्तारमात्मानमारभ्य अनूद्य कूटस्थः बुद्ध्यादिकल्पनाधिष्ठानभूतश्चिदात्मा शेषितः बुद्ध्याद्यनात्मनिरसनेन परिशेषितः श्रुतौ बृहदारण्यकादावित्यर्थः ॥१६७॥

शंका—अच्छा तो विकारी रूप चिदाभास भोक्ता मान लो यह ठीक नहीं चिदाभास भी विकारी अधिष्ठान रूप बोध के अधीन है समाधान करते है—

चिदाभास में विकारी बुद्धि रूप उपाधि के अधीन होने से ही विकारी हैं । चिदाभास में विकार होने पर भी आरोप किये (मान हुए) विकार के अधिष्ठान भूत कूटस्थ को छोड़कर स्वतन्त्र रूप से चिदाभास की स्थिति का असम्भव है । इससे केवल चिदाभास भी भोक्ता नहीं हो सकता, क्योंकि अधिष्ठान के बिना भ्रम कहीं नहीं होता है इससे निरपेक्ष दोनों भोक्ता नहीं कह सकते ॥१६६॥

इसलिए अन्त में तीसरा पक्ष ही कूटस्थ-चिदाभास दोनों ही भोक्ता हैं । यह शेष रहता है—

लोक में व्यवहार में उभयात्मक साधिष्ठान चिदाभास ही भोक्ता हैं । यह कहा जाता है । उसी आत्मा से आरम्भ करके श्रुति मे कूटस्थ ही सत्य रूप होने से शेष रक्खा है.।

तत्र बृहदारण्यकवाक्यार्थं तावत्संक्षिप्य दर्शयति—

आत्मा कतम इत्युक्ते याज्ञवल्क्यो विबोधयन् ।
विज्ञानमयमारभ्यासङ्गं तं पर्यशेषयत् ॥१९८॥

अन्वयः—आत्मा कतमः इत्युक्ते याज्ञवल्क्यः विबोधयन् विज्ञानमयं आरभ्य असङ्गं तं पर्यशेषयत् ।

'आत्मेति' । जनकेन 'कतम आत्मा' (बृ० ४।३।७) इत्येवमात्मनि पृष्टे सति याज्ञवल्क्यस्तं विबोधयन् योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४।३।७) इत्यादिना विज्ञानमयमुपक्रम्य 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४।३।१५) इत्यसङ्गं कूटस्थं परिशेषितवानित्यर्थः ॥१९८॥

एक-एक भोक्ता नहीं हो सकता इससे कूटस्थ रूप अधिष्ठान सहित चिदाभास लोक में (व्यवहार दशामें) भोक्ता कहा गया है. परमार्थिक दृष्टि से तो उभय रूप भी नहीं धट सकता। यदि कहो कि "यह पुरुष असंग रूप है इत्यादि में असंग के और यह जो प्राणों के भीतर विज्ञानमय (जीवात्मा) हैं इत्यादि में बुद्धि साक्षी के सुनने से भोक्ता के दोनों स्वरूप रूप पारमार्थिक (सत्य हैं। लोक व्यवहार से ही सिद्ध नहीं तो भी यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि पूर्वोक्त श्रुति का वह अभिप्राय नहीं उक्त शंका का निवारण करते हैं-बुद्धि है उपाधि जिसकी ऐसे भोक्ता आत्मा से आरम्भ कर अन्त में बुद्धि आदि की कल्पना का अधिष्ठान रूप चिदात्मा कूटस्थ को ही शेष रखा है तथा बुद्धि आदि अनात्मा पदार्थों का निषेध कर बृहदारण्यक आदि श्रुति में कूटस्थ को ही सत्य मानकर शेष रक्खा है ॥१९७॥

उसमें बृहदारण्यक के वाक्य को संक्षेप में दिखाते हैं—

जब राजा जनक ने आत्मा कौन है यह प्रश्न पूंछा तब याज्ञवल्क्य ने उनको विबोधन करते (समजाते) हुए यह जो प्राणों में "विज्ञानमय ज्योति स्वरूप पुरुष है, वह है इस वाक्य में विज्ञानमय को आत्मा बताना आरम्भ करके, सब का खण्डन करके अन्त में यह असंग ही आत्मा है कहकर असंग कूटस्थ को ही परिशेष से आत्मा बताया है अन्य सब को मिथ्या कहा है ॥१९८॥

एवं 'बृहदारण्यके' असङ्गात्मपरिशेषप्रकारं प्रदर्श्य, 'ऐतरेयादि' श्रुत्यन्तरेष्वपि तद्दर्शयति—

कोऽयमात्मेत्येवमादौ सर्वत्रात्मविचारतः ।
उभयात्मकमारभ्य कूटस्थः शेष्यते श्रुतौ ॥१९९॥

अन्वयः—कोऽयं आत्मा इत्येवमादौ सर्वत्रात्मविचारतः उभयात्मकमारभ्य श्रुतौ कूटस्थः शेष्यते ।

'कोऽयमात्मेति' । 'वयमुपास्महे कतर स आत्मा' (ऐ० ४।३।१) इत्येवमादौ आत्मविचारेणान्तःकरणोपाधिकमात्मानमारभ्य प्रज्ञानमात्रात्मकः कूटस्थः परिशेषितः । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । एवमुक्तश्रुतिपर्यालोचनायामुभयात्मकस्य भोक्तुर्मिथ्यात्वं पारमार्थिकस्यासङ्गस्य कूटस्थस्य अभोक्तृत्वं च सिद्धम् ॥१९९॥

ननूक्तरीत्या भोक्तुर्मिथ्यात्वे प्राणिनां तस्मिन्सत्यत्वबुद्धिः कुतो जायते इत्याशङ्कयाह—

कूटस्थसत्यतां स्वस्मिन्नध्यस्यात्माऽविवेकतः ।
तात्त्विकीं भोक्तृतां मत्वा न कदाचिज्जिहासति ॥२००॥

अन्वयः—कूटस्थसत्यतां स्वस्मिन् अध्यस्य आत्मा विवेकतः तात्त्विकीं भोक्तृतां मत्वा न कदाचिद् जिहासति ।

'कूटस्थेति' । आत्मा लोकप्रसिद्धो भोक्ताऽविवेकतः स्वस्य कूटस्थाद्विवेकज्ञानाभावेन कूटस्थनिष्ठं सत्यत्वं आत्मन्यध्यस्य तद्द्वारा स्वनिष्ठस्य भोक्तृत्वस्यापि सत्यतां मत्वा योगं कदाचिदपि न हातुमिच्छति ॥२००॥

इस प्रकार बृहदारण्यक के असंग आत्मा के प्रकार को दिखाकर ऐतेरेय आदि श्रुतियों में भी कहे प्रकार को दिखाते हैं—

जिसकी हम उपासन करते हैं, वह यह आत्मा कौन है इत्यादि वचनों में सर्वत्र आत्मा का विचार करते हुए उभयात्मक अन्तःकरणोपाधिक आत्मा से आरम्भ करके अन्त में प्रज्ञानमात्र कूटस्थ को ही श्रुति में शेष रखा है । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना । अर्थात् युक्ति और श्रुतियों का सार यह है कि उभयात्म भोक्ता तो मिथ्या है और पारमार्थिक असंग कूटस्थ भोक्ता नहीं है ॥१९९॥

शंका पूर्वोक्त रीति से भोक्ता के मिथ्यात्व होने पर, उसमें प्राणियों की सत्य बुद्धि क्यों हो जाती है । इसका उत्तर देते हैं—

आत्मा जो लोक व्यवहार में भोक्ता के नाम से प्रसिद्ध हैं । वह अज्ञान (अविवेक) से मैं कूटस्थ से भिन्न हूँ इस विवेक ज्ञान के अभाव से अपने कूटस्थ रूप में निष्ठ सत्यता का अपने आप में अध्यास करके उस सत्यता के द्वारा अपने भोक्तापन को भी सत्य मानकर कभी भी भोगों को नहीं छोड़ना चाहता ॥२००॥

ननु तर्हि 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' (बृ० २।४।५) इत्यात्मशेषत्वं भोग्यस्य कथं प्रतिपाद्यत इत्याशङ्क्य न कूटस्थात्मशेषत्वं प्रतिपाद्यते, किंतु लोकप्रसिद्धोभयात्मक भोक्तृशेषत्वमेव श्रुत्याऽनूद्यत इत्याह—

भोक्ता स्वस्यैव भोगाय पतिजायादिमिच्छति ।
एष लौकिकवृत्तान्तः श्रुत्या सम्यगनूदितः ॥२०१॥

अन्वयः—भोक्ता स्वस्यैव भोगाय पतिजायादि इच्छति एष लौकिकवृत्तान्तः श्रुत्या सम्यक् अनूदितः ।

'भोक्तेति' । लोके यो भोक्ता सः स्वस्यैव भोगाय पतिजायादिभोगोपकरणमिच्छतीत्ययं लौकिक-वृत्तान्तः श्रुत्या सम्यगनूदितः नार्थान्तरं प्रतिपाद्यत इत्यर्थः ॥२०१॥

अनुवाद किमर्थमित्याशङ्क्य, भोक्तर्येव प्रेम्णो विधानायेत्याह—

भोग्यानां भोक्तृशेषत्वान्मा भोग्येष्वनुरज्यताम् ।
भोक्तर्येव प्रधानेऽतोऽनुरागं तं विधित्सति ॥२०२॥

अन्वय :—भोग्यानां भोक्तृशेषत्वात् भोग्येषु मा अनुरज्यतां अतः प्रधाने भोक्तरि एव तं अनुरागं विधित्सति

'भोग्यानामिति' भोग्यानां पतिजायादीनां भोक्तुः स्वस्य भोगोपकरणत्वाद्भोग्येष्वनुरागो न कर्तव्यः, किंतु प्रधानभूते भोक्तर्येवानुरागः कर्तव्य इति विधानायेत्यर्थः ॥२०२॥

यदि कहो कि अपने ही प्रयोजन के लिए सब प्रिय होते हैं । भोग को आत्मा का शेष कैसे प्रतिपादन नहीं करते हो यह शंका ठीक नहीं, हम कूटस्थ आत्मा का शेष प्रतिपादन नहीं करते, किन्तु लोक प्रसिद्ध उभयात्मक रूप जो भोक्ता उसका शेष प्रतिपादन करना ही इस श्रुति से सुना जाता है—

लोक प्रसिद्ध जो भोक्ता है वह भी अपने भोग के लिए पति, जाया आदि भोग सामग्री को चाहता है । अन्य के लिए नहीं, इस लौकिक वृत्तान्त का ही उक्त श्रुति ने अनुवाद कर दिया है, किसी दूसरी अलौकिक बात का प्रतिपादन यहाँ नहीं किया गया है ॥२०१॥

शंका इस अनुवाद का क्या प्रयोजन है ? अब भोक्ता में ही प्रेम के लिए अनुवाद को कहते हैं -

पति, पत्नी आदि सब जो भोग की वस्तु हैं वे भोक्ता के ही उपकरण साधन हैं इससे भोगों में अनुराग नहीं करना, किन्तु प्रधानरूप भोक्ता में ही अनुराग करना चाहिए इस विधान को ही श्रुति कहना चाहती हैं ॥२०२॥

भोग्येषु प्रेमत्यागपुरःसरं आत्मप्रेमकर्तव्यतायां दृष्टान्तत्वेनेश्वरे प्रेमप्रार्थनापुरःसरं पुराणवचनमुदाहरति—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्माऽपसर्पतु ॥२०३॥

अन्वय :—अविवेकानां विषयेषु अनपायिनी या प्रीतिः त्वां अनुस्मरतः सा मे हृदयात् मा अपसर्पतु ।

'या प्रीतिरिति' । अविवेकिनामात्मज्ञानशून्यानां विषयेष्वनपायिनी दृढ़ा या प्रीतिरस्ति, हे माप लक्ष्मीपते ! सा प्रीतिस्त्वामनुस्मरतस्त्वां सदा चिन्तयतो मे हृदयान्मनसः सर्पतु अपगच्छतु, मम मनो विषयेष्वासक्तिं परित्यज्य त्वय्येव सदा तिष्ठत्वित्यर्थः । यद्वा अविवेकिनां विषयेषु दृढ़ा यादृशी प्रीतिरस्ति सा तादृशी विषयेषु विद्यमाना प्रीतिः त्वामनुस्मरतो मे हृदयान्मा अपसर्पतु मा अपगच्छतु, सदा तिष्ठत्वित्यर्थः ॥२०३॥

भवत्वेवं पुराणे, श्रुतौ किमायातमित्यत आह—

इति न्यायेन सर्वस्माद् भोग्यजाताद्विरक्तधीः ।
उपसंहृत्य तां प्रीतिं भोक्तर्येनं बुभुत्सते ॥२०४॥

अन्वय :—इति न्यायेन सर्वस्माद् भोग्यजातात् विरक्तधीः तां प्रीतिं भोक्तरि उपसंहृत्य एनं बुभुत्सते ।

'इति न्यायेनेति' । इत्यनेन पुराणोक्तन्यायेन सर्वस्माद्भोग्यजातात्पतिजायादिलक्षणात् विरक्तधीः विरक्ता धीर्यस्यासौ विरक्तधीः पुरुषः तां भोग्यगोचरां प्रीतिं भोक्तर्यात्मन्युपसंहृत्य एनमात्मानं बुभुत्सते बोद्धुमिच्छति ॥२०४॥

अब भोग्य विषयों में त्याग पूर्वक आत्मा में प्रेम करने में दृष्टान्त से ईश्वर में प्रेम की प्रार्थना पूर्वक पुराण के वचन को कहते हैं—

अविवेकी (आत्म ज्ञान से शून्य) मनुष्यों को जैसी दृढ़ प्रीति विषयों मे होती है—हे लक्ष्मीपते ! वह प्रीति आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदय से चली आय, मेरा मन विषयों में आसक्ति को छोड़कर, आप में ही टिके—अथवा अविवेकियों की जैसी दृढ़प्रीति विषयों में है वैसी प्रीति आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदय से मत जाय सदा आपमें ही प्रीति बनी रहे ॥२०३॥

पुराणों में भले ही हों, इससे श्रुति में क्या हुआ ? इस पर कहते हैं—

इस पुराणोक्त न्याय से सम्पूर्ण पति जाया आदि भोग्य मात्र से विरक्त है बुद्धि जिसकी ऐसा मनुष्य उस प्रीति का भोक्ता में उपसंहार करके इस आत्मा के जानने की इच्छा करता है ॥२०५॥

एवमात्मन्येव प्रेमोपसंहारे फलितं सदृष्टान्तमाह—

स्रक्चन्दनवधूवस्त्रसुवर्णादिषु पामरः ।
अप्रमत्तो यथा तद्वन्न प्रमाद्यति भोक्तरि ॥२०५॥

अन्वय :—पामरः स्रक्चन्दनवधूवस्त्रसुवर्णादिषु यथा अप्रमत्तः तद्वत् भोक्तरि न प्रमाद्यति ।

'स्रक्चन्दनेति' । पामरः पृथग्जनः स्रगादिविषये यथाऽप्रमत्तः सावधानो भवति, एवं मुमुक्षुरप्यात्मविषये न प्रमाद्यत्यनवधानं न करोति, किंतु तच्चिन्तयैव तिष्ठतीत्यर्थः ॥२०५॥

अनवधानाभावमेव बहुभिर्दृष्टान्तैः स्पष्टयति—

काव्यनाटकतर्कादिमभ्यस्यति निरन्तरम् ।
विजिगीषुर्यथा तद्वन्मुमुक्षुः स्वं विचारयेत् ॥२०६॥

अन्वय :—काव्यनाटकतर्कादिं निरन्तरम् अभ्यस्यति यथा विजिगीषुः तद्वत् मुमुक्षुः स्वं विचारयेत् ।

'काव्येति' । यथा विजिगीषुः प्रतिवादिजयकाम इह लोके प्रधानः पुरुषो निरन्तरं काव्यादीनभ्यस्यति, एवं मुमुक्षुरपि सदा स्वात्मानं विचारयेत् ॥२०६॥

इस प्रकार आत्मा में ही सकल प्रेम भोग के उपसंहार से जो फलित हुआ उसको दृष्टान्त पूर्वक कहते हैं—

जैसे पामर (अविवेकी) मनुष्य, माला, चन्दन, स्त्री वस्त्र, सुवर्ण आदि भोग्य पदार्थों की उपेक्षा नहीं करता, उसके अर्जन रक्षणादि में सदा सावधान रहता है । इसी प्रकार मुमुक्षु भी भोक्तारूप आत्मा में कभी प्रमाद नहीं करता, किन्तु सदा आत्मा का चिन्तन करता रहता है ॥२०५॥

अब आत्मा के प्रति सावधानी को ही बहुत से दृष्टान्तों से स्पष्ट करते हैं—

जैसे शास्त्रार्थ में प्रतिवादी को जीतना चाहने वाला मनुष्य इस लोक में, निरन्तर काव्य, नाटक, न्यायशास्त्र आदि का अभ्यास करता रहता है, इसी प्रकार मुमुक्षु भी सदैव अपने आत्मा का विचार करे ॥२०६॥

जपयागोपासनादि कुरुते श्रद्धया यथा ।
स्वर्गादिवाञ्छया तद्वच्छ्रद्दध्यात्स्वे मुमुक्षया ॥२०७॥

अन्वय :—जपयागोपासनादि यथा स्वर्गादिवाञ्छया श्रद्धया कुरुते तद्वत् मुमुक्षया स्वे श्रद्दध्यात् ।

'जपेति' । यथा वैदिकश्च स्वर्गाद्यर्थी तत्तत्साधनानि जपादीनि श्रद्धापुरःसरमनुतिष्ठति तथा मुमुक्षुरपि मोक्षेच्छया स्वे श्रौते आत्मनि विश्वासं कुर्यात् ॥२०७॥

चित्तैकाग्र्यं यथा योगी महायासेन साधयेत् ।
अणिमादिप्रेप्सयैवं विविच्यात्स्वं मुमुक्षया ॥२०८॥

अन्वय :—योगी यथा महायासेन चित्तैकाग्र्यं साधयेत् अणिमादिप्रेप्सया एवं स्वं मुमुक्षया विविच्यात् ।

'चित्तैकाग्र्यमिति' । योगी योगाभ्यासवानणिमाद्यैश्वर्यलाभेच्छया महायासेन चित्तैकाग्र्यं यथा संपादयेत्तद्वदयमध्यात्मानं सदा विविच्यात्, देहादिभ्यो विविच्य जानीयादित्यर्थः ॥२०८॥

नन्वेवमेतेषां सदाऽभ्यासेन किं फलमित्यत आह —

कौशलानि विवर्धन्ते तेषामभ्यासपाटवात् ।
यथा तद्वद्विवेकोऽस्याप्यभ्यासाद्विशदायते ॥२०९॥

अन्वय : यथा तेषां अभ्यास पाटवात् कौशलानि विवर्धन्ते तद्वत् अस्यापि अभ्यासात् विवेकः विशदायते ।

'कौशलानीति' । यथा तेषां काव्याद्यभ्यासवतां अभ्यासपाटवेन तस्मिन् तस्मिन्विषये कौशलानि विवर्धन्ते, एवमस्यापि मुमुक्षोरभ्यासाद्विवेको देहादिभ्य आत्मनो भेदज्ञानं विशदायते स्पष्टं भवति ॥२०९॥

जैसे स्वर्ग आदि की कामना वाला, जप, यज्ञ, उपासना आदि में वैसे ही मुक्ति की इच्छा से अपने श्रुति प्रतिपादित अद्वैत आत्मा में विश्वास करे विश्वास से आत्मा का विचार करे ॥२०७॥

जिस प्रकार योगी योगाभ्यास से अणिमा आदि सिद्धियों की इच्छा से बड़े परिश्रम से, चित्त की एकाग्रता को सिद्ध करता है वैसे ही मोक्ष की इच्छा से अपनी आत्मा को देह आदि से पृथक् करके जाने ॥२०८॥

शंका - अभ्यास से इनको क्या फल होता है कहते हैं —

जैसे उन शास्त्राभ्यासी सकामी और योगी पुरुषों की अभ्यास के पाटव की (चतुरता) दृढ़ता से अपने-अपने विषय में कुशलता बढ़ जाती है वैसे ही अभ्यास से मुमुक्षु भी देहादि से आत्मा का भेद ज्ञान रूप, विवेक विशद स्पष्ट) खूब मज जाता है ॥२०९॥

विवेकवैशद्यस्य फलमाह—

विविञ्चता भोक्तृतत्त्वं जाग्रदादिष्वसङ्गता ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां साक्षिण्यध्यवसीयते ॥२१०॥

अन्वयः—भोक्तृतत्त्वं विविंचता अन्वयव्यतिरेकाभ्यां जाग्रदादिषु असङ्गता साक्षिणि अध्यवसीयते ।

'विविंचतेति' । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां भोक्तृतत्त्वं भोक्तुः पारमार्थिकस्वरूपं विविञ्चता भोग्येभ्यो जडजातेभ्यो भेदेन जानता पुरुषेण जाग्रदादिषु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिष्ववस्थासु, साक्षिण्यसङ्गताऽध्यवसीयते, निश्चीयत इत्यर्थः ॥२१०॥

अन्वयव्यतिरेकौ दर्शयति—

यत्र यद्दृश्यते द्रष्ट्रा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
तत्रैव तन्नेतरत्रेत्यनुभूतिर्हि संमता ॥२११॥

अन्वयः—यत्र जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु द्रष्टा यद् दृश्यते तत्रैव नेतरत्रेति अनुभूतिः हि तत् संमता ।

'यत्रेति' । जाग्रदादिषु मध्ये यत्र यस्मिन्स्थाने जाग्रति स्वप्ने सुषुप्तौ वा यत् स्थूलं सूक्ष्ममानन्दश्चेति त्रिविधं भोग्यं द्रष्ट्रा साक्षिणा दृश्यते अनुभूयते तत् दृश्यं तत्रैव तस्यामेवावस्थायां तिष्ठति, इतरत्र न इतरस्यामवस्थायां नास्तिः, द्रष्टा तु सर्वत्रानुगततया वर्तत इत्यनुभवः सर्वसंमतः हि प्रसिद्धमेतदित्यर्थः ॥२११॥

अब विवेक की स्पष्टता का फल कहते हैं—

पूर्वोक्त अन्वय, व्यतिरेक से भोक्ता के पारमार्थिक स्वरूप तत्त्व का विवेचन करने वाले अर्थात् जड़ पदार्थ भोग्यों से भोक्ता को पृथक् निश्चय करने वाले मुमुक्षु को जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में जो साक्षी (कूटस्थ) की असंगता है उसका निश्चय हो जाता है । अर्थात् साक्षी को असंग जान लेता है ॥२१०॥

अब अन्वय व्यतिरेक को दिखाते हैं—

जाग्रत् आदि अवस्थाओं में से जिस अवस्था में जो स्थूल-सूक्ष्म और आनन्द रूप तीन प्रकार के भोग्य पदार्थ को जो साक्षी होकर देखता है जानता है । वह दृश्य भोग्य उस ही एक अवस्था में रहता है, दूसरी अवस्था में वह दृश्य दिखायी नहीं पड़ता । पर उन तीनों में अनुगत उनका द्रष्टा सबसे पृथक् रहता है । यह अनुभव सबको सम्मत है ॥२११॥

न केवलमनुभवः, आगमोऽपीत्यभिप्रायेण 'स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४।३।१५) 'स वा एष एतस्मिन् संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति' (बृ० ३।४। ५) इत्यादिवाक्यद्वयमर्थतः पठति —

स यत्तत्रेक्षते किंचित्तेनानन्वागतो भवेत् ।

दृष्ट्वैव पुण्यं पापं चेत्येवं श्रुतिषु डिण्डिमः ।।२१२।।

अन्वयः स तत्र यत् ईक्षते किंचित् तेन अन्वागतो भवेत् पुण्यं पापं च दृष्ट्वैव च इत्येवं श्रुतिषु डिण्डिमः ।

'स यदिति' । स आत्मा तत्र तस्यामवस्थायां यत्किंचिद्भोग्यमीक्षते पश्यति तेन दृश्येनानन्वागतो भवेदनुसृत्य गतो न भवेत् किंतु स्वयमेवावस्थान्तरं गच्छतीतीत्यर्थः । पुण्यं पुण्यफलं सुखम् पापं, तत्फलं दुःखं च दृष्ट्वैव, अनादायैवेत्यर्थः ।।२१२।

भोक्तृतत्त्वविवेचनपराणि श्रुत्यन्तराणि दर्शयति—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते ।

तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ।।२१३।।

अन्वयः –जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि प्रपञ्चं यत्]प्रकाशते तद् ब्रह्माहं इति ज्ञात्वा सर्वबन्धैःप्रमुच्यते ।

'जाग्रदिति' । यत्सत्यज्ञानानन्दलक्षणं ब्रह्म साक्षिरूपेणावस्थितं तज्जाग्रदादिप्रपञ्चं प्रकाशते प्रकाशयति तद्ब्रह्माहमस्मि न बुद्धिचिदाभासाद्यहमस्मीति ज्ञात्वा श्रुत्यनुभवाभ्यां निश्चित्य, सर्वबन्धैः प्रमातृत्वकर्तृत्वादिभिः प्रमुच्यते प्रकर्षेण सर्वात्मना मुच्यते ।।२१३।।

अब अनुभव को दिखाकर साक्षी की असंगता में श्रुति प्रमाण उपस्थित करते हैं। वह यह आत्मा इस सुषुप्ति में रमण और विहार कर पुण्य और पाप को केवल देखकर जैसे आया था और जहाँ से आया था पुनः स्वप्न अवस्था को ही लौट जाता है। वहाँ वहाँ वह जो कुछ देखता है उससे असम्बद्ध रहता है। क्योंकि यह पुरुष असंग है—

वह आत्मा उस स्वप्न अवस्था में जिस भोग्य को देखता है उसके साथ अनुगत नहीं होता है। उससे सम्बद्ध नहीं होता किन्तु उन दृश्यों को उसी अवस्था में छोड़कर अकेला ही दूसरी अवस्था में पहुँच जाता है। पुण्य अर्थात् पुण्य के फल सुख को या पाप के फल दुःख को केवल देखकर ही साथ में लिए बिना चला जाता है। श्रुति में यह बात डंके की चोट पर कही गयी है ।।२१२।।

अब भोक्ता के तत्व का विवेक जिनसे हो ऐसी अन्य श्रुतियों को दिखाते हैं -

जो सत्य, ज्ञान आनन्द रूप ब्रह्म साक्षिरूप से स्थित होकर जाग्रदादि रूप, जगत् रूप, जगत् को प्रकाशित करता है, वही ब्रह्म रूप मैं हूँ और बुद्धिचिदाभास रूप नहीं हूँ। यह जानकर श्रुति और अनुभव से निश्चय करके प्रमाता कर्ता भोक्ता आदि समस्त बन्धनों से पूरी तरह छूट जाता है ।।२१३।।

एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥२१४॥

अन्वयः—जाग्रतस्वप्नसुषुप्तिषु एक एवात्मा मन्तव्यः स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ।

'एक इति' जाग्रदादिष्ववस्थासु एक एवात्मा मन्तव्यः एवं विवेकज्ञानेन स्थानत्रयव्यतीतस्य अवस्थात्रयाद्विविक्तस्यात्मनः पुनर्जन्म न विद्यते, एतच्छरीरपातानन्तरं शरीरान्तरप्राप्तिर्नास्तीत्यर्थः ॥२१४॥

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ॥२१५॥

अन्वयः—त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद् भवेत् तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रः अहं सदाशिवः ।

'त्रिष्विति' । त्रिषु धामसु त्रिष्ववस्थानेषु यद्भोग्यं स्थूलविविक्तानन्दस्वरूपं यश्च भोक्ता विश्व-तैजसप्राज्ञरूपो यश्च भोगस्तदनुभवरूपश्चेति ये विद्यन्ते तेभ्यः स्थानादिभ्यो विलक्षणो यश्चिन्मात्ररूपः साक्षी सदाशिवः निरतिशयानन्दरूपत्वेन सर्वदा शोभमानः परमात्माऽस्ति सोऽहमस्मीत्यर्थः ॥२१५॥

जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में एक ही आत्मा मानना इस प्रकार के विवेक ज्ञान से तीनों अवस्थाओं से विविक्त (पृथक्) पहचान लेने वाले आत्मा का इस देह से छूटने पर दूसरा जन्म (शरीरान्तर प्राप्ति) नहीं होती ॥२१४॥

जाग्रत् आदि तीनों धामों में जो स्थूल-सूक्ष्म, आनन्द रूप तीन प्रकार का भोग्य है, और जो विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ नाम से भोक्ता हैं उनमें जो भोग होते हैं । उन धाम आदि सबसे विलक्षण जो एक चिन्मात्र सदा कल्याण स्वरूप निरतिशय आनन्दरूप होने से सर्वदा शोभमान साक्षी परमात्मा है वही आत्मा मैं हूँ ॥२१५॥

एवं विवेकेनात्मतत्त्वेऽसङ्गे निश्चिते सति भोक्तृत्वं कस्येत्यत आह—

एवं विवेचिते तत्त्वे विज्ञानमयशब्दितः ।
चिदाभासो विकारी यो भोक्तृत्वं तस्य शिष्यते ॥२१६॥

अन्वयः—एवं विज्ञानमयशब्दितः तत्त्वे विवेचिते यः विकारी चिदाभासः तस्य भोक्तृत्वं शिष्यते ।

'एवमिति' । यो 'विज्ञान'शब्देन अभिधीयमानश्चिदाभासस्तस्य विकारित्वाद्भोक्तृत्वमित्यर्थः ॥२१६॥

ननु चिदाभासस्य भोक्तृत्वाङ्गीकारे 'कस्य कामाय' (बृ० ४।४।१२ इति वचो भोक्त्रभाव विवक्षयेति पूर्वोक्तं व्याहन्येतेत्याशङ्क्य, तस्य वचनस्य पारमार्थिकभोक्त्रभावपरत्वमभिप्रेत्य भोक्तुश्चिदाभासस्य मिथ्यात्वं साधयति—

मायिकोऽयं चिदाभासः श्रुतेरनुभवादपि ।
इन्द्रजालं जगत्प्रोक्तं तदन्तःपात्ययं यतः ॥२१७॥

अन्वय :—अयं चिदाभासः मायिकः श्रुतेः अनुभवादपि इन्द्रजालं जगत् प्रोक्तं यतः अयं तदन्तःपाती ।

'मायिक इति' । अयं चिदाभासो मायिको मृषात्मकः श्रुतेः 'जीवेशावाभासेनकरोति' (नृ० उ० ता० ९ इति श्रुतेः अनुभवादपि द्रष्ट्रादित्रितयमध्यवर्तित्वेन अनुभूयमानत्वादपीत्यर्थः । तदेवोपपादयति – 'इन्द्रजालमिति' । इन्द्रजालवन्मिथ्याभूते जगत्यन्तर्भूतत्वादस्यापि मिथ्यात्वं तद्वदनुभूयते, विद्वद्भिरितिशेषः । यस्माज्जगदन्तःपाती इत्यतो मृषेतियोजना ॥२१७॥

इस प्रकार विवेक द्वारा आत्म तत्त्व असंग है ऐसा तो निश्चय हो गया फिर भोक्ता कौन है -

इस प्रकार आत्म तत्त्व की विवेचना करके जब आत्मा को असंग जान लिया जाता है । तब विज्ञानमय कहाने वाला और विकारी चिदाभास ही भोक्ता रह जाता है ॥२१६॥

यदि कहो कि चिदाभास को भोक्ता मानोगे तो किसकी कामना के लिए शरीर को दुःख दे, यह वचन भोक्ता के अभाव की विवक्षा के लिए है । यह जो पूर्वोक्त १९वें श्लोक में कहा है वह असंगत हो गया, यह शंका करके और इस वचन को पारमार्थिक भोक्ता के अभाव का बोधक स्वीकार करके चिदाभास रूप भोक्ता को मिथ्या सिद्ध करते हैं -

यह चिदाभास मायिक (मिथ्या) है । क्योंकि 'माया' आभास से जीव और ईश्वर को करती है । यह श्रुति है और अनुभव भी है कि यह चिदाभास द्रष्टा-दर्शन दृश्यों के मध्य में है उसको ही दिखाते हैं । इस जगत् को इन्द्रजाल कहते हैं और जगत् के मध्य में यह चिदाभास है, अर्थात् इन्द्रजाल के समान मिथ्या है । जगत् के अन्तर्गत होने से चिदाभास भी मिथ्या है यह विद्वानों का अनुभव है ॥२१७॥

अस्य जगत इव विनाशित्वानुभवादपि मृषात्वमित्याह—

विलयोऽप्यस्य सुप्त्यादौ साक्षिणा ह्यनुभूयते ।
एतादृशं स्वस्वभावं विविनक्ति पुनः पुनः ॥२१८॥

अन्वय :—सुप्त्यादौ अस्य विलयः अपि साक्षिणा हि अनुभूयते एतादृशं स्वस्वभावं पुनः पुनः विविनक्ति ।

'विलयोऽपीति' । मूर्च्छादिरादिशब्दार्थः । भवतु मृषात्वं, ततः किमित्यत आह—'एतादृशमिति' । यदा कूटस्थाद्विवेचितश्चिदाभासो मायिको ज्ञातस्तदा स्वस्वभावं स्वतत्त्वमेतादृशं मृषात्मकं पुनः पुनः विविनक्ति कूटस्थाद्विविच्य जानाति ॥२१८॥

ततोऽपि किमित्यत आह—

विविच्यनाशं निश्चित्य पुनर्भोगं न वाञ्छति ।
मुमूर्षुः शायितो भूमौ विवाहं कोऽभिवाञ्छति ॥२१९॥

अन्वय—विविच्यनाशं निश्चित्य पुनर्भोगं न वाञ्छति मुमूर्षुः भूमौ शायितः कः विवाहं अभिवाञ्छति ।

'विविच्येति' । स्वविनाशनिश्चये भोगेच्छाऽभावे दृष्टान्तमाह मुमूर्षुरिति ॥२१९॥

और जगत् के समान चिदाभास विनाशी (मिथ्या) है यह भी अनुभव दिखाते हैं—

इसलिए इस चिदाभास का विलय (नाश) को भी सुषुप्ति मूर्च्छा आदि में साक्षी द्वारा अनुभूत होता है । यह चिदाभास भी एतादृश (मिथ्या) अपने स्वभाव को बारम्बार विवेक से जानता है अर्थात् कूटस्थ से पृथक् जब चिदाभास को जाना तब मिथ्यात्व रूप अपने तत्त्व को कूटस्थ से पृथक् जानता है ॥२१८॥

इस प्रकार मिथ्यात्व ज्ञान के निश्चय से क्या मिलेगा ? इस पर कहते हैं—

विवेचन करते-करते अपने नाश का निश्चय हो जाने पर वह भोगों की इच्छा करना छोड़ देता है । जिस मुमूर्षु को (मरने योग्य खाट से उतार कर भूमि पर सुला दिया गया हो क्या वह अपने विवाह की इच्छा करता है, अर्थात् कोई भी नहीं करता है ॥२१९॥

किंच पूर्ववदहं भोक्तेति व्यवहर्तुमपि लज्जत इत्याह—

जिह्रेति व्यवहर्तुं च भोक्ताहऽमिति पूर्ववत् ।
छिन्ननास इव ह्रीतः क्लिश्यन्नारब्धमश्नुते ॥२२०॥

अन्वय : जिह्रेति व्यवहर्तुं च भोक्ताहऽमिति पूर्ववत् छिन्ननासः ह्रीतः इव क्लिश्यन् आरब्धं अश्नुते ।

'जिह्रेतीति' । तर्हि ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं प्रारब्धावसानपर्यन्तं कथं व्यवहरतीत्यत आह - 'छिन्नेति' । ह्रीतो लज्जितः क्लिश्यन् 'नेदानीमपि कर्म क्षीयते' इति क्लेशमनुभवन् प्रारब्धमश्नुते, प्रारब्धकर्मफलं भुङ्क्ते इत्यर्थः ॥२२०॥

इदानीं ज्ञानानन्तरं साक्षिणो भोक्तृत्वाभावः कैमुतिकन्यायसिद्ध इत्याह-—

यदा स्वस्यापि भोक्तृत्वं मन्तुं जिह्रेत्ययं तदा ।
साक्षिण्यारोपयेदेतदिति कैव कथा वृथा ॥२२१॥

अन्वय : अयं स्वस्यापि भोक्तृत्वं मन्तुं यदा जिह्रेति तदा एतत् साक्षिणि आरोपयेत् इति वृथा कथा एव का ।

'यदेति' । अयं चिदाभासः स्वस्यापि भोक्तृत्वं मन्तुं 'अहं भोक्ता' इति ज्ञातुं जिह्रेति विलज्जते यदा तदा, एतत्स्वगतभोक्तृत्वं साक्षिण्यसङ्गे आरोपयेदिति वृथाऽर्थशून्या कथा कैव ? न कापीत्यर्थः ॥२२१॥

और पूर्व के समान मैं भोक्ता हूँ ऐसा व्यवहार करने में भी लज्जित होता है ।

यदि कहो कि ज्ञान की उत्पत्ति के अनन्तर प्रारब्ध की समाप्ति पर्यन्त कैसे व्यवहार करता है कहते हैं । छिन्न है नासिका जिसकी ऐसे (नकटे) पुरुष के समान लज्जित होकर 'अभी तक मेरा प्रारब्ध कर्म नष्ट नहीं हुआ' इस बात से क्लेश (दुःख) को प्राप्त होता हुआ प्रारब्ध कर्म के फल को भोगता है ॥२२०॥

अब ज्ञान के अनन्तर साक्षी भोक्ता नहीं है, यह कैमुतिक[1] न्याय से सिद्ध को कहते हैं—

जब यह चिदाभास अपने को भी भोक्ता मानने में अर्थात् मैं भोक्ता हूँ । यह कहने से लज्जित होता है । तब अपने भोक्तापन को भी असंग साक्षी में आरोप (मानना) करता है । ऐसी व्यर्थ (अर्थ से शून्य) कथा कौन है, कोई भी नहीं क्योंकि आरोप मिथ्या होता है ॥२२१॥

विशेष १ — जैसे तप्त तैल में स्थित आकाश के प्रतिबिम्ब को भी जब ताप सम्बन्ध नहीं है तो तब आकाश में ताप का सम्बन्ध कहाँ से होगा । वैसे यहाँ भी चिदाभास में भी जब वास्तव ज्वर नहीं है । तब कूटस्थ में ज्वर कहाँ से होगा । इस आकार वाला कैमुतिक न्याय है ।

उक्तमर्थं श्रुत्यारूढं करोति—

इत्यभिप्रेत्य भोक्तारमाक्षिपत्यविशङ्कया ।
कस्य कामायेति ततः शरीरानुज्वरो न हि ॥२२२॥

अन्वय :—इति भोक्तारं अभिप्रेत्य अविशङ्कया आक्षिपति कस्याकामाय इति ततः शरीरानुज्वरो न हि ।

'इतीति ।' 'कस्य कामाय' (बृ० ४।४।१२) इति श्रुतिरित्यर्थः । कूटस्थस्य चिदाभासस्य वा पारमार्थिकभोक्तृत्वाभावमभिप्रेत्य अविशङ्कया शङ्कारहित्येन भोक्तारमाक्षिपति निराकरोति । भवत्येवं भोक्त्राक्षेपः, ततः किमित्यत आह—'तत इति' । न हि ज्वरो ज्वरणं संतापः ॥२२२॥

तत्त्वविदः ! शरीरानुज्वराभावं दर्शयितुं शरीरभेदं तत्र तत्र ज्वरसद्भावं च दर्शयति—

स्थूलं सूक्ष्मं कारणं च शरीरं त्रिविधं स्मृतम् ।
अवश्यं त्रिविधोऽस्त्येव तत्र तत्रोचितो ज्वरा ॥२२३॥

अन्वयः—शरीरं त्रिविधं स्मृतं स्थूलं सूक्ष्मं कारणं च अवश्यं त्रिविधम् अस्ति एव तत्र तत्र उचितः ज्वरः ।

'स्थूलमिति' ॥२२३॥

अब पूर्वोक्त अर्थ को श्रुति के (आरूढ़) अनुकूल करते हैं—

'किसकी कामना के लिए' यह पूर्वोक्त श्रुति इसी अभिप्राय से अर्थात् कूटस्थ या चिदाभास में कोई-कोई भी पारमार्थिक भोक्ता के अभाव के तात्पर्य से शंका को छोड़कर भोक्ता का निषेध करती है, भोक्ता का निषेध हो इससे क्या इसी कारण तत्त्व ज्ञान हो जाने पर ज्ञानी को शरीर का संताप नहीं होता ॥२२२॥

अब आत्म तत्त्व ज्ञानी को शरीर और शरीर का ज्वर का अभाव दिखाने के लिए शरीर के भेद उनमें ज्वर के सम्भव को दिखाते हैं—

स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन भेदों में से तीन प्रकार का शरीर है उन, उस शरीर में उचित ज्वर भी अवश्य (अवत्न से) सर्वत्र संताप हुआ करता है ॥२२३॥

विशेष १:- यत्रे भिबाल्यकौमारयौवनैः । स्वयं शीर्यते इति शरीरम् ।

तत्र स्थूलशरीरे ज्वरांस्तावदाह—

वातपित्तश्लेष्मजन्यव्याधयः कोटिशस्तनौ ।
दुर्गन्धित्वकुरूपत्वदाहभङ्गादयस्तथा ॥२२४॥

अन्वयः—वातपित्तश्लेष्मजन्यव्याधयः तनौ कोटिशः दुर्गन्धित्वकुरूपत्वदाहभङ्गादयः तथा ।

'वातेति' ॥२२४॥

सूक्ष्मशरीरे ज्वरान्दर्शयति—

कामक्रोधादयः शान्तिदान्त्याद्या लिङ्गदेहगाः ।
ज्वरा द्वयेऽपि बाधन्ते प्राप्त्याऽप्राप्त्या नरं क्रमात् ॥२२५॥

अन्वयः—कामक्रोधादयः शान्तिदान्त्याद्या लिङ्गदेहगाः प्राप्त्याऽप्राप्त्या नरं क्रमात् द्वयेऽपि ज्वराः बाधन्ते ।

'कामेति । कामशान्त्यादीनां च ज्वरत्वमुपपादयति—'द्वयेऽपीति' । द्वयेऽपि द्विविधा अपि क्रमेण प्राप्त्यप्राप्तिभ्यां नरं बाधन्ते. अतो ज्वरसाम्याज्ज्वरा इत्युच्यन्त इत्यर्थः ॥२२५॥

अब स्थूल शरीर के ज्वरों को कहते हैं—

स्थूल शरीर में (होने वाले) वात, पित्त और कफ से उत्पन्न होने वाले करोड़ों रोग और दुर्गन्धि, कुरूपता. जलन देह में चोट आदि अनेक ज्वर उपद्रव) होते हैं ॥२२४॥

अब सूक्ष्म शरीर में ज्वरों को दिखाते हैं -

काम, क्रोध आदि और शम, दम आदि लिङ्ग देह में होते हैं । ये दोनों प्रकार के भी ज्वर प्राप्त होने न होने से मनुष्य को क्रमशः बाधते, दुःखी[1] करते हैं। इसी से ज्वर के तुल्य होने से ज्वर कहलाते हैं ॥२२५॥

विशेष १—जैसे अज्ञानी पुरुष को मेरा काम, क्रोधादि नष्ट नहीं हुए । अन्तःकरण में रहते हुए दुःख देते हैं । वैसे ही मेरे मन निग्रह रूप सज्जन पुरुष की तरह शान्ति, दान्ति आदि नहीं आयी । उसे सन्तप्त करते हैं । इसलिए दोनों ज्वरों के समान रूप से ज्वर कहा है । तत्त्व ज्ञानी पुरुष तो गीता १४।२२ के अनुसार गुणातीत है - प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव । न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति । प्रकाश (सत्त्व गुण का कार्य) और प्रवृत्ति (रजोगुण का कार्य) और मोह (तमोगुण का कार्य) ये तीनों प्रवृत्त (उद्भूत) होवें तो उनसे द्वेष नहीं करता और निवृत्त होनें पर उनकी इच्छा नहीं करता यह गीता में कहा है । उक्त स्वसंवेद्यलक्षण से गुणातीत होने से तीन सात्त्विकादि वृत्तियों की अनात्मता सम्यग् देखता हुआ आत्मा की अनुकूलता और प्रतिकूलता के आरोप करके उनसे भय को प्राप्त नहीं होता और उनकी इच्छा भी नहीं करता, इससे आत्म ज्ञानवान् तो देहों के ज्वर से ज्वर को प्राप्त नहीं होता है ।

कारणशरीरगतो ज्वरः 'छन्दोग्य' श्रुतावुक्त इत्याह—

स्वं परं च न वेत्त्यात्मा विनष्ट इव कारणे।
आगामिदुःखबीजं चेत्येतदिन्द्रेण दर्शितम् ॥२२६॥

अन्वयः—स्वं परं च न वेत्ति आत्मा विनष्ट इव कारणे आगामिदुःखबीजं च इति एतत् इन्द्रेण दर्शितं।

स्वं परमिति'। 'नाहं खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामि' (छा० ८।११।१-२) इति वाक्येन स्वपरज्ञानशून्यत्वमज्ञानेन नष्टप्रायत्वं परेद्युरागामिदुःखबीज च इन्द्रेण शिष्येण गुरोः प्रजापतेः पुरतो निवेदितमित्यर्थः ॥२२६॥

एवं त्रिष्वपि देहेषु ज्वरानभिधाय, तेषामपरिहार्यत्वमाह—

एते ज्वराः शरीरेषु त्रिषु स्वाभाविका मताः।
वियोगे तु ज्वरैस्तानि शरीराण्येव नासते ॥२२७॥

अन्वयः—एते ज्वराः त्रिषु शरीरेषु स्वाभाविकाः मताः वियोगे तु ज्वरैः तानि शरीराणि एव नासते (नैव भवति)।

'एत इति'। त्रिष्वपि शरीरेषु प्रतीयमाना एते ज्वराः शरीरैः सहोत्पन्नत्वेन स्वाभाविकाः संमताः। स्वाभाविकत्वं व्यतिरेकमुखेन द्रढयति—वियोगे तिवति यत. कारणादेभिज्वरैस्तेषां शरीराणां वियोगे सति तानि शरीराणि नासते एव नैव भवन्ति, अतः स्वाभाविका इत्यर्थः ॥२२७॥

अब कारण शरीर ज्वरः छान्दोग्य श्रुति में कहा है—

कारण शरीर में (पहुंचने पर) आत्मा अपने आप को और दूसरे को नहीं जानता (वह अज्ञान) विनष्ट हुआ सा हो जाता है वह अवस्था आगामी दुखों का कारण भी होती है, इन्द्र शिष्य ने प्रजापति गुरु को ऐसा बतलाया निवेदन किया है यही कारणशरीर का ज्वर है। यह वर्णन छा० श्रुति में आया है। कारणशरीर में तो निश्चय ही इसे यह भी ज्ञान नहीं होता कि "यह मैं हूँ" और यह इन अन्य भूतों को ही जानता है, यह विनाश को प्राप्त सा हो जाता है इसमें भोगने योग्य विषय को नहीं देखता हूँ ॥२२६॥

इस प्रकार तीनों देहों में ज्वरों को कहकर उनकी निवृत्ति के अभाव को कहते हैं—

तीनों शरीरों में प्रतीत हुए ये ज्वर स्वभाव से रहते हैं—अर्थात् शरीर के सङ्ग उत्पन्न होने से स्वाभाविक माने जाते हैं। अब स्वाभाविक होने को ही व्यतिरेक (निषेध) मुख से दृढ़ करते हैं। जिस कारण से जब ज्वरों से इन शरीरों का वियोग होता है अर्थात् दुःखों का अभाव होता है तब वे शरीर ही नहीं रहते इसके स्वाभाविक हैं (शरीर के संग ही हैं) ॥२२७॥

तत्र दृष्टान्तमाह—

तन्तोर्वियुज्येत पटो बालेभ्यः कम्बलो यथा ।
मृदो घटस्तथा देहो ज्वरेभ्योऽपीति दृश्यताम् ॥२२८॥

अन्वयः—यथा तन्तोः पटः बालेभ्यः कम्बलः मृदः घटः वियुज्येत तथा देहः ज्वरेभ्यः अपि इति दृश्यतां ।

'तन्तोरिति' ॥२२८॥

इदानीं कूटस्थे ज्वराभावं कैमुतिकन्यायेन[1] दिदर्शयिषुश्चिदाभासे तावत् ज्वराभावं दर्शयति—

चिदाभासे स्वतः कोऽपि ज्वरो नास्ति यतश्चितः ।
प्रकाशैकस्वभावत्वमेव दृष्टं न चेतरत् ॥२२९॥

अन्वयः—चिदाभासे स्वतः कोऽपि ज्वरः नास्ति यतः चितः प्रकाशैकस्वभावत्वमेव दृष्टं इतरत् च न ।

'चिदाभास इति' । चिदाभासे स्वतः शरीरत्रयगतज्वरसंबन्धमन्तरेण न कोऽपि ज्वरो विद्यते । कुत इत्यत आह—'यत इति' । चितः प्रकाशैकस्वभावस्य विद्वदनुभवसिद्धत्वात्प्रतिबिम्बस्य चिदाभासस्य तथात्वमेष्टव्यमिति भावः ॥२२९॥

अब वियोग में दृष्टान्त को कहते हैं—

जैसे तन्तुओं से वियुक्त (पृथक्) होने पर वस्त्र, बालों से वियुक्त होने पर कम्बल और मिट्टी से पृथक् होने पर घड़ा नहीं रहता वैसे ही ज्वरों से वियुक्त होने पर देह भी नहीं रहते, यह बात स्पष्ट है ॥२२८॥

अब कूटस्थ में कैमुतिक न्याय से ज्वराभाव दिखाने के अभिलाषी आचार्य प्रथम चिदाभास में ज्वर का अभाव दिखाते हैं –

चिदाभास में स्वतः (तीनों शरीरों से विद्यमान सम्बन्ध के बिना) कोई ज्वर नहीं होता क्योंकि जिससे प्रकाश है एक स्वभाव जिसका ऐसे चित् को विद्वानों ने अनुभव किया है । ऐसे ही प्रतिबिम्ब चिदाभास भी समझना चाहिए । अन्य रूप में नहीं देखा ॥२२९॥

विशेष १ कैमुतिक न्याय इसी प्रकरण के २२१वें श्लोक में है ।

यदर्थं चिदाभासे ज्वराभाव उपपादितस्तदिदानीं दर्शयति—

चिदाभासेऽप्यसंभाव्या ज्वराः साक्षिणि का कथा ।
एवमप्येकतां मेने चिदाभासो ह्यविद्यया ॥२३०॥

अन्वयः—चिदाभासेऽपि असंभाव्याः ज्वराः साक्षिणि का कथा एवमपि अविद्यया हि चिदाभासो एकतां मेने ।

'चिदाभासेऽपीति' । यदर्थं चिदाभासेऽपि ज्वरा न संभाव्यन्ते तदा न साक्षिणि संभवन्तीति किमु वक्तव्यमिति भावः । ननु तर्हि 'ज्वरामी'त्यनुभवस्य का गतिरित्यत आह—'एवमप्येकतामिति' ॥२३०॥

एकतां मेने' इति संक्षेपेणोक्तमर्थं प्रपञ्चयति—

साक्षिसत्यत्वमध्यस्य स्वेनोपेते वपुस्त्रये ।
तत्सर्वं वास्तवं स्वस्य स्वरूपमिति मन्यते ॥२३१॥

अन्वय :—साक्षिसत्यत्वमध्यस्य स्वेनोपेते वपुस्त्रये तत् सर्वं स्वस्य वास्तवं स्वरूपं इति मन्यते ।

'साक्षीति' । चिदाभासः स्वेन सहिते शरीरत्रये साक्षिगतं सत्यत्वमध्यस्य तत्सर्वं ज्वरवच्छरीरत्रयं स्वस्य वास्तवं रूपमिति मन्यत इत्यर्थः ॥२३१॥

अब जिसके लिए चिदाभास में ज्वर का अभाव कहा उसको अब दिखाते हैं—

जिसके लिए चिदाभास में भी ज्वरों का होना असंभव है तब साक्षी में ज्वरों के होने की तो बात ही क्या अर्थात् साक्षी में नहीं हो सकते, तब मेरे शरीर में दुःख है इस अनुभव की क्या गति होगी, उत्तर ऐसा होने पर भी चिदाभास अपनी अविद्या के कारण उन शरीरों से एकता को मान लेता है और इस प्रकार शरीरों के ज्वरों से अपने आप को सन्तप्त मान बैठता है ॥२३०॥

संक्षेप से कही एकता का विस्तार से वर्णन करते हैं—

चिदाभास अपने सहित तीनों शरीरों में साक्षी की सत्यता का अध्यास करके उन ज्वर सहित तीनों शरीरों को अपना वास्तविक रूप समझ बैठता है ॥२३१॥

एवं भ्रान्तिज्ञाने सति किं भवतीत्याह—

> एतस्मिन्भ्रान्तिकालेऽयं शरीरेषु ज्वरत्स्वथ ।
>
> स्वयमेव ज्वरामीति मन्यते हि कुटुम्बिवत् ॥२३२॥

अन्वय :—एतस्मिन् भ्रान्तिकाले अयं शरीरेषु ज्वरत्सु अथ स्वयमेव ज्वरामि इति कुटुम्बिवत् मन्यते हि ।

'एतस्मिन्निति' । अयं चिदाभासः अस्यां भ्रान्तिवेलायां शरीरनिष्ठं ज्वरं स्वात्मन्यारोपयतीत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तमाह—'कुटुम्बिवदिति' ॥२३२॥

दृष्टान्तं विशदयति—

> पुत्रदारेषु तप्यत्सु तपामीति वृथा यथा ।
>
> मन्यते पुरुषस्तद्वदाभासोऽप्यभिमन्यते ॥२३३॥

अन्वय :—पुत्रदारेषु तप्यत्सु तपामि इति यथा वृथा मन्यते पुरुषः तद्वत् आभासोऽपि अभिमन्यते ।

'पुत्रदारेष्विति' ॥२३३॥

अब पूर्व भ्रम ज्ञान के फल को दिखाते हैं—

यह चिदाभास इस पूर्वोक्त भ्रान्ति के समय में जब शरीरों को दुःख होता है । तब उस ज्वर को अपने आप में आरोप कर मैं ही दुःखी हो रहा हूँ । ऐसा समझता रहता है । यह दृष्टान्त है—जैसे पुत्र स्त्री आदि के दुःख में कुटुम्बी मनुष्य अपने को ही दुःखी समझता है ॥२३२॥

अब दृष्टान्त को स्पष्ट रीति से दिखाते हैं—

जैसे गृहस्थ मनुष्य पुत्र, स्त्री आदि के दुःखी होने पर मैं दुःखी हूँ ऐसा व्यर्थ में ही मानने लगता है । इसी प्रकार चिदाभास भी अपने में शरीरों के दुःखों को व्यर्थ ही समझने लगता है ॥२३३॥

एवमविवेकदशायां चिदाभासस्य भ्रान्त्या ज्वरं प्रदर्श्य, विवेकदशायां तदभावं दर्शयति—

विविच्य भ्रान्तिमुज्झित्वा स्वमप्यगणयन् सदा ।
चिन्तयन्साक्षिणं कस्माच्छरीरमनुसंज्वरेत् ॥२३४॥

अन्वयः--विविच्य भ्रान्तिं उज्झित्वा स्वं अपि सदा अगणयन् साक्षिणं चिन्तयन् शरीरं कस्मात् अनुसंज्वरेत् ।

'विविच्येति' । चिदाभासः कूटस्थं स्वात्मानं शरीराणि च विविच्य भेदेन ज्ञात्वा तत्सर्वं वास्तवं स्वस्य रूपमिति मन्यत इत्युक्तां भ्रान्तिं परित्यज्य, स्वस्याभावरूपत्वज्ञानेन स्वस्मिन्नप्यादरमकुर्वन् स्वस्य निजं रूपं ज्वरादिरहितं साक्षिणं सदा चिन्तयन् कस्मात् शरीरमनुसंज्वरेत् ज्वरवच्छरीरमनुसृत्य स्वयं कस्मात्संज्वरेत् ? न संज्वरेदेवेत्यर्थः ॥२३४।

भ्रान्तिज्ञानतत्त्वज्ञानयोः ज्वरतदभावकारणत्वं दृष्टान्तप्रदर्शनेन स्पष्टयति —

अयथावस्तुसर्पादिज्ञानं हेतुः पलायने ।
रज्जुज्ञानेऽहिधीध्वस्तौ कृतमप्यनुशोचति ॥२३५॥

अन्वयः —अयथावस्तु सर्पादिज्ञानं पलायने हेतुः रज्जुज्ञाने अहिधीध्वस्तौ कृतं अपि अनुशोचति ।

'अयथेति' । रज्ज्वादौ कल्पितस्य सर्पादेः ज्ञानं पलायने कारणं भवति । 'आदि' शब्देन स्थाणौ कल्पितश्चोरो गृह्यते । रज्ज्वादिज्ञानेन सर्पादिबुद्धिनिवृत्तौ तदपि पलायनमनुशोचति, 'वृथा कृतं मया' इत्यनुतप्यत इत्यर्थः ॥२३५॥

इस प्रकार अज्ञान दशा में चिदाभास को भ्रान्ति से ज्वर को दिखाकर विवेक (ज्ञान) अवस्था में ज्वर के अभाव को दिखाते हैं—

चिदाभास पूर्व भ्रान्ति को छोड़कर कूटस्थ अपनी आत्मा और तीनों शरीरो इन दोनों को पृथक् पृथक् जानकर अपने को आभास रूप जानने से (अभाव रूप ज्ञान से) अपने आपको कुछ न गिनता हुआ अपने निज रूप आत्मा को ज्वर आदि रहित साक्षी का ही विचार करता हुआ किस कारण से ज्वर वाले शरीर के पीछे क्यों दुःखी होता फिरेगा । इस स्थिति में फिर दुःखी नहीं होता ॥२३४॥

अब भ्रान्ति ज्ञान ज्वर का और तत्त्व ज्ञान ज्वर के अभाव का कारण है, यह बात दृष्टान्त से दिखाते हैं—

अयथार्थ वस्तु रज्जू आदि में कल्पित सर्प का ज्ञान मनुष्य के भागने में कारण होता है । आदि शब्द से स्थाणु में कल्पित चोर समझना परन्तु रज्जू के ज्ञान होने पर सर्प आदि की बुद्धि निवृत हो जाने पर तब अपने किये पलायन (भागने) आदि पर सोचता है कि मैंने वृथा पलायन किया यह तो रज्जू है सर्प नहीं । (अर्थात् तत्त्व ज्ञान के पश्चात् दुःख तो होता ही नहीं, पिछले किये दुःख का पश्चाताप भी होने लगता है) ॥२३५॥

'साक्षिणं सदा चिन्तयन्' (प्र० ७।२३४) इत्युक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति —

मिथ्याभियोगदोषस्य प्रायश्चित्तप्रसिद्धये ।
क्षमापयन्निवात्मानं साक्षिणं शरणं गतः ॥२३६॥

अन्वय : मिथ्याभियोगदोषस्य प्रायश्चित्तप्रसिद्धये आत्मानं क्षमापयन् इव साक्षिणं शरणं गतः ।

'मिथ्येति' । यथा लोके मिथ्याभियोगकर्ता तद्दोषस्य प्रायश्चित्तसिद्ध्यर्थं मिथ्याभियुक्तं पुनः पुनः क्षमापयति, एवमयं चिदाभासोऽपि साक्षिण्यसङ्गात्मनि भोक्तृत्वाद्यारोपलक्षणमिथ्याभियोगदोष-प्रायश्चित्तार्थं साक्षिणमात्मानं क्षमापयन्निव शरणं गतः ॥२३६॥

तत्रैव दृष्टान्तान्तरमाह—

आवृत्तपापनुत्त्यर्थं स्नानाद्यावर्त्यते यथा ।
आवर्तयन्निव ध्यानं सदा साक्षिपरायणः ॥२३७॥

अन्वय :—यथा आवृत्तपापनुत्त्यर्थं स्नानादि आवर्त्यते ध्यानं आवर्तयन् इव सदा साक्षिपरायणः (भवति) ।

'आवृत्तेति' । यथा पापकारिणा पुरुषेण कृतपापानुत्त्यर्थं अभ्यस्तपापापनोदाय विहितं स्नानादिकं प्रायश्चित्तमावर्त्यते पुनः पुनरनुष्ठीयते तथाऽयमपि चिरं साक्षिणि संसारित्वाद्यारोपणदोषपरिहाराय ध्यानं परिवर्तयन्निव सदा साक्षिपरायणो भवति ॥२३७॥

अब साक्षी की सदैव चिन्तन करे इस पूर्व उक्त अर्थ को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं —

जैसे लोक में कोई झूठा अभियोग (दोष) लगाने वाला मनुष्य उस दोष के प्रायश्चित्त के लिए जिसको दोष लगाया था उससे बार-बार क्षमा माँगता है अर्थात् मेरे अपराध को क्षमा करो यह कहता है इसी प्रकार यह चिदाभास भी साक्षी असंग आत्मा में कर्ता भोक्ता प्रमाता आदि का आरोप रूप जो मिथ्या अभियोग रूप दोष उसके प्रायश्चित्त के लिए साक्षी रूप आत्मा की शरण क्षमा करने वाले के पास गया अर्थात् मैं सत् चित् आनन्द हूँ ऐसे कहने लगता है ॥२३६॥

साक्षिपरायणता को दूसरे दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं ।

जैसे पाप करने वाला पुरुष आवृत (अभ्यास किये) पाप के दूर करने के लिए शास्त्रों में विहित स्नान, दान, जप आदि की आवृत्ति करता है । वैसे ही यह चिदाभास भी देर तक किये साक्षी आत्मा में आरोप किये संसारित्व आदि दोषों की शान्ति के लिए बार-बार ध्यान करता हुआ सा सदा सक्षि परायण रहने लगता है ॥२३७॥

एवं साक्षिपरत्वं दृष्टान्तैरुपवर्ण्य, स्वगुणप्रख्याने लज्जालुत्वं सदृष्टान्तमाह—

उपस्थकुष्ठिनी वेश्या विलासेषु विलज्जते ।

जानतोऽग्रे तथाभासः स्वप्रख्यातौ विलज्जते ॥२३८॥

अन्वयः—उपस्थकुष्ठिनी वेश्या विलासेषु विलज्जते अग्रे तथाभासः जानतः स्वप्रख्यातौ विलज्जते ।

'उपस्थकुष्ठिनीति' ॥२३८॥

इदानीं शरीरत्रयाद्विवेचितस्य चिदाभासस्य पुनस्तैः सह तादात्म्यभ्रमाभावे दृष्टान्तमाह—

गृहीतो ब्राह्मणो म्लेच्छैः प्रायश्चित्तं चरन्पुनः ।

म्लेच्छैः संकीर्यते नैव तथा भासः शरीरकैः ॥२३९॥

अन्वयः—म्लेच्छैः गृहीतः ब्राह्मणः पुनः प्रायाश्चित्तं चरन म्लेच्छैः संकीर्यंत नैव तथा भासः शरीरकैः ।

'गृहीत इति' २३९॥

इस प्रकार दृष्टान्तों से साक्षी में तत्परता का वर्णन करके चिदाभास अपने गुणों के कथन में लज्जित होता है इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं—

जिसकी उपस्थ (योनि) कोढ़ रोग वाली वेश्या जैसे जानते हुए के आगे विलासों (भोगों) में लज्जा मानती है वैसे ही यह चिदाभास ज्ञानी के सन्मुख (साक्षी) के आगे अपने गुणों के वर्णन में लज्जित होता है । अर्थात् वह अपने आपको मैं कहने में लज्जा का अनुभव करता है ॥२३८॥

अब तीनों शरीरों से पृथक् किये चिदाभास का फिर उन शरीरों के संग तादात्म्य (एकता) भ्रम के अभाव में दृष्टान्त कहते हैं—

जैसे म्लेच्छों से ग्रहण किया (मिलाया) ब्राह्मण जैसे प्रायश्चित्त करने के पश्चात् फिर म्लेच्छों से नहीं मिलता, इसी प्रकार चिदाभास उक्त प्रायश्चित्त करने के पश्चात् फिर से शरीरों के साथ तादात्म्याध्यास या संकरता को प्राप्त नहीं होता ॥२३९॥

न केवलं स्वापराधनिवृत्तये साक्ष्यनुसरणं, किंतु महत्प्रयोजनसिद्धयर्थमपीति सिंहावलोकनन्यायेन सदृष्टान्तमाह—

यौवराज्ये स्थितो राजपुत्रः साम्राज्यवाञ्छया ।
राजानुकारी भवति तथा साक्ष्यनुकार्ययम् ॥२४०॥

अन्वयः--साम्राज्यवाञ्छया यौवराज्ये स्थित राजपुत्र राजानुकारी भवति तथा अयं साक्षी अनुकारी ।

'यौवराज्य इति' । राजानुकारी भवति, राजेव प्रजारञ्जनादिगुणवान् भवतीत्यर्थः ॥२४०॥

चिदाभास केवल अपराध की निवृत्ति के लिए ही साक्षी की शरण में जाता है नहीं किन्तु एक महान् प्रयोजन के लिए भी है । इसको सिंहावलोकनन्याय[1] दृष्टान्त से समझाते हैं—

जैसे युवराज पदवी पर स्थित राजा का पुत्र साम्राज्य (चक्रवर्ती होने) की इच्छा से राजा का अनुसरण किया करता है अर्थात् राजा के समान प्रजा का अनुरञ्जन करता है-वैसे ही यह चिदाभास ब्रह्म भाव रूप आत्मा साम्राज्य की इच्छा से सदा साक्षी का अनुसरण (तत्परता) करने लगता है ॥२४०॥

विशेष १ – सिंह जैसे अपने स्थान से कूदकर बीच की भूमि को उल्लंघन कर पीछे अपने स्थान को देखता है या सिंह सीधा गया पीछे से कोई आवाज आने से फिर पीछे चल पड़ता है । इसी प्रकार जहाँ प्रकृत अर्थ को छोड़कर बीच में और अर्थ का कथन कर पीछे प्रकृत अर्थ का अनुसंधान करें । यहाँ चिदाभास को साक्षी का अनुसरण (तत्परता) प्रकृत है उसको छोड़कर बीच में दो श्लोकों से और अर्थ का कथन कर फिर साक्षी के अनुसरण रूप प्रकृत अर्थ के कथन से सिंहावलोकन न्याय है ।

ननु युवराजस्य राजानुसरणे साम्राज्यफलं दृश्यते, नैवं साक्ष्यनुसरणे अतस्तदनुसरणे, कथं प्रवर्तत इत्याशङ्क्याह—

यो ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवत्येव इति श्रुतिः ।
श्रुत्वा तदेकचित्तः सन् ब्रह्म वेत्ति न चेतरत् ॥२४१॥

अन्वयः यो ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति एवं इति श्रुतिः तत् एकचित्तः श्रुत्वा सन् ब्रह्मवेत्ति न चेतरत् ।

'य इति' । 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति, नास्याब्रह्मवित्कुले भवति, तरति शोकं, तरति पाप्मानं. गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति, (मु० ३।२।९) इति श्रुतौ ब्रह्मभावादिरूपस्य फलस्य श्रूयमाणत्वात्तत्फलवाञ्छया साक्ष्यनुसरणे प्रवर्तनं युक्तमित्यर्थः ॥२४१॥

शंका—युवराज को तो राजा के अनुसरण में साम्राज्य का फल दिखायी देता है ऐसे ही साक्षी के अनुसरण में फल को नहीं देखते इससे चिदाभास साक्षी के अनुसरण में क्यों प्रवृत्त होता है उत्तर—

जो ब्रह्म को जाने वह ब्रह्म होता है इस श्रुति को सुनकर ब्रह्म में एकचित्त चिदाभास ब्रह्म को जानता है अन्य को नहीं ।

जो कोई उस पर ब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म हो ही जाता है। उसके कुल में कोई अब्रह्मवित् नहीं होता वह शोक को तर जाता है । पाप को पार कर लेता है । और हृदय ग्रन्थि (वासना) से विमुक्त होकर अमरत्व प्राप्त कर लेता है । इस श्रुति में कहे ब्रह्म होने रूप फल को सुनकर साक्षी में एकचित्त होकर ब्रह्म को जानता है । अन्य कोई नहीं इससे इस फल की इच्छा के लिए साक्षी का अनुसरण का फल ब्रह्म ज्ञान है ॥२४१॥

ननु ब्रह्मज्ञानेन ब्रह्मभावप्राप्तौ चिदाभासत्वमेव विनश्येत्, अतः स्वविनाशाय कथं प्रवर्तेत इत्याशङ्क्याह—

देवत्वकामा ह्यग्न्यादौ प्रविशन्ति यथा तथा ।

साक्षित्वेनावशेषाय स्वविनाशं स वाञ्छति ।।२४२।।

अन्वयः—देवत्वकामा हि यथा अग्न्यादौ प्रविशन्ति तथा साक्षित्वेनावशेषाय स्वस्वविनाशं वाञ्छति ।

'देवत्वकामा इति' । यथा लोके देवत्वप्राप्तिकामा मनुष्याः भृग्वग्निप्रयागगङ्गाप्रवेशादौ प्रवर्तन्ते, एवं साक्षिरूपेण अवस्थानलक्षणस्य अधिकफलस्य विद्यमानत्वाच्चिदाभासत्वापगमहेतौ ब्रह्मज्ञानेऽपि प्रवृत्तिर्घटत एवेत्यर्थः ।।२४२।।

ब्रह्म ज्ञान से ब्रह्म चिदाभास होने पर चिदाभास नष्ट हो जायगा तो कैसे अपने नाश में चिदाभास प्रवृत्त होता है, इस शंका का उत्तर—

जैसे लोक में देवता होने की कामना वाले मनुष्य के भृगुपतन-अग्नि प्रयाग गंगा प्रवेश[1] आदि में निप्रवेश होते हैं । इसी प्रकार साक्षी रूप में स्थित रूप अधिक फल की प्राप्ति के लिए चिदाभास अपने विनाश[2] तक को भी चाहने लगता है ब्रह्म ज्ञान में प्रवृत्त होता है ।।२४२।।

विशेष १ अत्र कुमारिलभट्टाचार्यकृतस्तुषाग्निप्रवेशः शंकरविजये द्रष्टव्यः ।

२—शंका देवभाव को चाहने वाले पुरुष अग्नि आदि में प्रविष्ट हो स्थूल देह का विनाश ही करना चाहते हैं, वे अपने जीवत्व का नाश नहीं चाहते इसलिए उनको तो देवत्व की प्राप्ति सम्भव है । परन्तु चिदाभास अपने विनाश को चाहता है तो फिर उसके नष्ट हो जाने पर ब्रह्म प्राप्ति किसको होगी । समाधान द्वैत विवेक में ११वें चित्रदीप २३वें तृप्तिदीप में ४वें श्लोक में कूटस्थ विशिष्ट बुद्धिगत प्रतिबिम्ब रूप चिदाभास को ही जीव कहा है उसको ही बन्धमोक्षादिक में अधिकार है । इसलिए ब्रह्म ज्ञान द्वारा बुद्धि सहित चिदाभास और जीवत्व के विनाश हो जाने पर भी अवशेष कूटस्थ को ब्रह्मभाव की प्राप्ति सम्भव है और कहीं विशेषण के धर्म का विशिष्ट में व्यवहार होता है । इस शास्त्र में उक्त नियम से अन्तःकरण सहित चिदाभास विशेषण के नाश से साभास अन्तःकरण विशिष्ट चेतन रूप जीव के नाश का व्यवहार होता है और कूटस्थ रूप विशेष्य को ब्रह्म भाव की प्राप्ति करके साभास विशिष्ट चेतन रूप जीव को ब्रह्म भाव की प्राप्ति का व्यवहार होता है इसलिए यहाँ कोई भी असम्भव नहीं है ।

ननु तत्त्वज्ञानेनाभासत्वमपगच्छति चेत्कथं तत्त्वविदो जीवत्वव्यवहार इत्याशङ्क्य, प्रारब्ध-कर्मक्षयपर्यन्तं तदुपपत्तिं सदृष्टान्तमाह—

यावत्स्वदेहदाहं स नरत्वं नैव मुञ्चति ।
यावदारब्धदेहं स्यान्नाभासत्वविमोचनम् ॥२४३॥

अन्वयः—यावत् स्वदेहदाहं स नरत्वं नैव मुञ्चति आरब्धदेहं यावत् स्यात् आभासत्वविमोचनम् ।

'यावदिति' । यथाऽग्न्यादौ प्रविष्टः पुरुषः दाहादिना स्वदेहनाशपर्यन्तं नरत्वं नरव्यवहारयोग्यत्वं नैव मुञ्चति, एवं प्रारब्धकर्मक्षयपर्यन्तं चिदाभासत्वव्यवहारो न निवर्तत इत्यर्थः ॥२४३॥

ननु भोक्तृत्वादिभ्रमोपादानस्याज्ञानस्य निवृत्तत्वात्कथं पुनर्भोगानुवृत्तिः कथं वा मर्त्योऽहमिति विपरीतप्रतीतिरित्याशङ्क्य, दृष्टान्तप्रदर्शनेन एतत्संभावयति –

रज्जु[1]ज्ञानेऽपि कम्पादिः शनैरेवोपशाम्यति ।
पुनर्मंदान्धकारे सा रज्जुः क्षिप्तोरगी भवेत् ॥२४४॥

अन्वयः—रज्जुज्ञानेऽपि कम्पादिः शनैः एव उपशाम्यति पुनः मंदान्धकारे सा रज्जुः क्षिप्ता उरगी भवेत् ।

'रज्जुज्ञान इति' ॥२४४॥

शंका— जब तत्त्वज्ञान से आभासत्व दूर हो गया तो तत्त्वज्ञानी को यह जीव है यह व्यवहार कैसे होता है प्रारब्ध कर्म का क्षय तक जीवत्व हो सकता है

जैसे अग्नि आदि में प्रविष्ट मनुष्य जब तक दाह आदि से अपने देह के विनाश हो जाने तक मनुष्यत्व भाव को नहीं छोड़ता । इसी प्रकार जब तक प्रारब्ध कर्म का क्षय नहीं होता तब तक चिदाभास रूप की निवृत्ति नहीं होती है ॥२४३॥

जब भोक्ता आदि रूप भ्रम का उपादान कारण जो अज्ञान उसके निवृत्त हो जाने से फिर कैसे भोगों में प्रवृत्ति और फिर से "मैं मनुष्य हूँ" यह विपरीत ज्ञान (प्रतीति) कैसे होने लगती है इसका समाधान दृष्टान्त से कहते हैं —(अविद्या बाधितानुवृत्ति में यह प्रमाण है) ।

जैसे रज्जू का ज्ञान होने पर भी सर्प से पैदा हुए कपकपी आदि की शान्ति शनैः-शनैः ही होती है ओर फिर भी मन्द अन्धकार में फेंकी हुई वह रज्जू फिर भी सर्पिणी प्रतीत होने लगती है । इस प्रकार तत्त्व ज्ञान होने पर भी भोगों में प्रवृत्ति और मनुष्य हूँ यह ज्ञान हो सकते हैं ॥२४४॥

विशेष १ -जीवन्मुक्तिस्तावदास्ते प्रतीते द्वैतच्छाया तत्र चास्ति प्रतीतेः । द्वैतच्छाया रक्षणास्ति लेशस्तस्मिन्नर्थे स्वानुभूतिः प्रमाणम् । संक्षेप शा० ४।४३ जीवन्मुक्तिता है उसकी प्रतीति होती है उस जीवन्मुक्ति में द्वैताभास भी है उसकी भी प्रतीति होती है. द्वैत का आभास लेश प्रतीति के आधार पर सिद्ध होता है उक्त अर्थ में अपना अनुभव ही प्रमाण है ।

शाष्टान्तिके योजयति—

एवमारब्धभोगोऽपि शनैः शाम्यति नो हठात् ।
भोगकाले कदाचित्तु मर्त्योऽहमिति भासते ॥२४५॥

अन्वयः—एवं आरब्धभोगोऽपि शनैः शाम्यति हठात् न भोगकाले कदाचित् तु मर्त्योऽहं इति भासते ।

'एवमिति' ॥२४५॥

ननु पुनर्मर्त्यत्वबुद्ध्युदये तेन तत्त्वज्ञानं बाध्येतेत्याशङ्क्याह—

नैतावताऽपराधेन तत्त्वज्ञानं विनश्यति ।
जीवन्मुक्तिव्रतं नेदं किंतु वस्तुस्थितिः खलु ॥२४६॥

अन्वय :—एतावतापराधेन तत्त्वज्ञानं न विनश्यति इदं जीवन्मुक्तिव्रतं न किंतु खलु वस्तुस्थितः ।

'नैतावतेति' । कदाचिदहं मर्त्य इत्येवंविधज्ञानोदयमात्रेण आगमप्रमाणजनिततत्त्वज्ञानं न बाध्यते । कुत इत्यत आह—'जीवन्मुक्तीति' । इदं मर्त्यत्वबुद्ध्यपाकरणलक्षणं जीवन्मुक्तिव्रतं नियमेनानुष्ठेयं न भवति, किंतु सम्यग्ज्ञानेन भ्रान्तिज्ञाननिवृत्तिरित्ययं वस्तुस्वभावः, अतः कदाचिन्मर्त्यत्वबुद्ध्युदयेऽपि पुनस्तत्त्वज्ञानान्तरेण तस्या एव बाध्यत्वमिति भावः ॥२४६॥

इसी प्रकार प्रारब्ध का भोग भी शनैः-शनैः (धीरे-धीरे) ही निवृत्त होता है वह जबर्दस्ती नहीं हटता भोग के समय में कदाचित् (कभी-कभी) मैं मनुष्य हूँ ऐसी प्रतीति होने लगती है । यह प्रतीति तत्त्व ज्ञान होते ही नष्ट नहीं हो जाती ॥२४५॥

शंका – फिर मैं मनुष्य हूँ ऐसी बुद्धि होगी तो उससे तत्त्वज्ञान का बाध हो जायगा ।

कदाचित् (कभी-कभी) हुए "मैं मनुष्य हूँ" इस प्रतीत रूप छोटे से अपराध से आगम (शास्त्र) रूप प्रमाण से पैदा हुआ तत्त्वज्ञान नष्ट नहीं होता क्योंकि और यह मनुष्य बुद्धि का हटा देना रूप जो जीवन्मुक्ति का व्रत है, वह नियम से करने योग्य नहीं है । किन्तु सम्यक् (यथार्थ) ज्ञान से भ्रान्ति ज्ञान की निवृत्ति मात्र है यह वस्तु की स्थिति (स्वभाव) है इससे कदाचित् मनुष्य बुद्धि उदय होने

भवतु रज्जुसर्पादिस्थले विपरीतज्ञाननिवृत्तावपि तत्कार्यकम्पाद्यनुवृत्तिः, प्रकृतदृष्टान्ते दशमे 'दशमस्त्वमसि' इति वाक्यविचारजन्यज्ञानेन भ्रमनिवृत्तौ तत्कार्यानुवृत्तिर्नोपलभ्यत इत्याशङ्क्याह—

दशमोऽपि शिरस्ताडं रुदन्बुद्ध्वा न रोदिति।
शिरोव्रणस्तु मासेन शनैः शाम्यति नो तदा ॥२४७॥

अन्वयः—दशमोऽपि शिरस्ताडं रुदन् बुद्ध्वा न रोदिति नः शिरोव्रणस्तु तदा शनैः मासेन शाम्यति।

'दशोऽपीति'। 'दशमोऽस्मीति' ज्ञानोदये सति शिरस्ताडनपूर्वकं रोदनमात्र निवर्तते, ताडनजन्य-व्रणस्तु अनुवर्तत एवेत्यर्थः ॥२४७॥

पर भी तत्त्वज्ञान से मर्त्य बुद्धि का ही बाध होता है। मर्त्य बुद्धि में तत्त्वज्ञान का बाध नहीं होता[1] ॥२४६॥

यदि कहो कि रज्जू सर्प आदि स्थल में विपरीत ज्ञान की निवृत्ति होने पर भी उसके कार्य कंप आदि की अनुवृत्ति रहे. प्रकरण "दशवाँ तू है" इस दृष्टान्त में इस वाक्य के विचार से उत्पन्न ज्ञान से भ्रम की निवृत्ति होने पर उसके कार्य की अनुवृत्ति नहीं देखते इस शंका पर कहते हैं

दशवाँ मनुष्य भी दशवाँ मैं हूँ यह जानकर अज्ञान दशा में शिर को पीटकर रो रहा था उस प्रकार नहीं रोता है परन्तु शिर के ताड़ने से पैदा हुआ सिर का घाव तो महीने भर में शनैः-शनैः शान्त होता है उसी समय अच्छा नहीं होता अर्थात् भ्रम का कार्य शिर का व्रण बना रहता है ॥२४७॥

विशेष १ जैसे रज्जू के ज्ञान से सर्प भ्रान्ति का बाध होने पर भी सर्प ज्ञान जन्य कम्प आदि की विलम्ब से निवृत्ति होती है। वैसे ही प्रत्यक् अभिन्न अधिष्ठान ब्रह्म के ज्ञान से अहंकार आदि जगत् भ्रान्ति का बाध होने पर भी प्रारब्ध कर्म का भोग प्रारब्ध के अन्त में ही निवृत्त होता है। किसी दूसरे साधन से निवृत्त नहीं होता है तथा च मन्द अन्धकार में फेंकी रज्जू में जैसे फि सर्प की प्रतीति होने लगती हैं। वैसे ही भोग काल में कभी-कभी "मैं मनुष्य हूँ" ऐसी प्रतीति होने लगती है। इसको बाधितानुवृत्ति कहते हैं। यहाँ मिथ्यात्वनिश्चयबाध और प्रपञ्च बाधित है उस बाधित का प्रारब्ध पर्यन्त स्थित रहना ही बाधितानुवृत्ति है।

यद्यपि उपादान अज्ञान के हट जाने पर उसके कार्य (प्रपञ्च) की स्थिति अयुक्त है तथापि जैसे गौ को व्याघ्र समझकर गाय पर फेंका बाण का वेग, पीछे गाय के पहचान लेने और पश्चाताप से धनुष सहित शेष सब बाणों को नष्ट कर देने पर भी शान्त नहीं होता, वह बाण जहाँ तक जा सकता है वहाँ जाकर ही रुकता है। ऐसे ही अज्ञान और क्रियमाण तथा सञ्चित कर्मों का तत्त्वज्ञान से नाश कर देने पर भी मुक्त बाण स्थानीय प्रारब्ध कर्म के वेग रूप कार्य की अनुवृत्ति होती है।

ननु ज्ञानोत्तरकालेऽपि संसारानुवृत्तौ जीवन्मुक्तेः कुतः पुरुषार्थतेत्याशङ्क्य, मुक्तिलाभजन्य-हर्षस्य तद्दुःखाच्छादकस्य सत्त्वात्पुरुषार्थतेति दृष्टान्तपूर्वकमाह—

दशमामृतिलाभेन जातो हर्षो व्रणव्यथाम् ।
तिरोधत्ते मुक्तिलाभस्तथा प्रारब्धदुःखिताम् ॥२४८॥

अन्वयः दशमामृतिलाभेन जातः हर्षः व्रणव्यथाम् तिरोधत्ते तथा प्रारब्धदुःखिताम् मुक्तिलाभः ।

'दशमेति' २४८॥

'जीवन्मुक्तिव्रतं नेदम्' प्र० ७।२४६) इत्युक्तं, तत्र व्रतत्वाभावे किमायातमित्यत आह—

व्रताभावाद्यदाऽध्यासस्तदा भूयो विविच्यताम् ।
रससेवी दिने भुङ्क्ते भूयो भूयो यथा तथा ॥२४९॥

अन्वयः—व्रताभावात् यदाऽध्यासः तदा भूयो विविच्यताम् रससेवी दिने यथा भूयो भूयो भुङ्क्ते तथा ।

'व्रताभावादिति' । पुनः पुनर्विचारकरणे दृष्टान्तमाह—'रससेवीति' । यथा रससेवी नरः एकस्मिन्नेव दिने क्षुद्बाधापरिहाराय पुनः पुनर्भुङ्क्ते तद्वदध्यासनिवृत्तये पुनः पुनर्विवेकः क्रियतामित्यर्थः ॥२४९॥

शंका तत्त्वज्ञान के पश्चात भी यदि संसार की अनुवृत्ति होती है तब तो जीवन्मुक्ति के लिए पुरुषार्थ भी क्यों करे ? मुक्ति लाभ से उत्पन्न हर्ष दुःख का आच्छादक होने से पुरुषार्थता बन सकेगी इसे दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—

जैसे दशम के न मरने के लाभ को सुनकर उत्पन्न हुआ हर्ष घाव के दुःख को भुला देता है। इसी प्रकार मुक्ति का लाभ भी प्रारब्ध से मिलने वाली दुःख की स्थिति को छिपा देता है इसलिए संसार की अनुवृत्ति चाहे हो तो भी जीवन्मुक्ति के लिए पुरुषार्थ करना लाभदायक तो है ही ॥२४८॥

जीवन्मुक्ति व्रत नहीं है इसलिए –

जीवन्मुक्ति व्रत[1] के अभाव से जब अध्यास हो तब ऐसे बारम्बार विवेक करे दृष्टान्त कहते हैं। जैसे पारा सोना भस्म आदि रसों का औषधिरूप से सेवन करने वाला मनुष्य एक ही दिन में क्षुधा की पीड़ा को हटाने के लिए बार-बार भोजन करता है। इसी प्रकार अध्यास की निवृत्ति के लिए जीवन्मुक्त ज्ञानी को बार-बार देहादि से अपना भेद ज्ञान रूप विवेक करना चाहिए ॥२४९॥

विशेष —१ जैसे एकादशी का व्रत अन्न कण के भक्षण से भंग हो जाता है वैसे ही जीवन्मुक्ति व्रत कदाचित् अध्यास की उत्पत्ति से भंग नहीं होता। हाँ ज्ञानी को अध्यास जन्य दृष्ट दुःख रूप विक्षेप की निवृत्ति के लिए बार-बार ब्रह्म विचार करना चाहिए। जो भूत भविष्य

ज्ञानेनानिवर्त्यस्य प्रारब्धकर्मफलस्य केन तर्हि निवृत्तिरित्याशङ्क्य, ताडनजन्यव्रणस्य औषधेनेव भोगेनैव निवृत्तिरित्याह —

शमयत्यौषधेनायं दशमः स्वं व्रणं यथा ।
भोगेन शमयित्वैतत्प्रारब्धं मुच्यते तथा ॥२५०॥

अन्वय : यथा अयं दशमः स्वं व्रणं औषधेन शमयति तथा एतत् प्रारब्धं शमयित्वा भोगेन मुच्यते ।

'शमयतीति' ॥२५०॥

यदि कहो कि ज्ञान से भी न हटने वाला जो प्रारब्ध कर्म फल, उसकी किससे निवृत्ति होती है यह शंका करके उत्तर देते हैं कि ताडनजन्यव्रण की निवृत्ति औषध से सम्भव है इस प्रकार भोग से ही प्रारब्ध क्षय होता है—

जिस प्रकार दशवाँ मनुष्य औषधि से शिर के घाव को अच्छा कर लेता है । ऐसे ही यह तत्त्व ज्ञानी भी भोग से प्रारब्ध को शान्त करके मुक्त होता है ॥२५०॥

और वर्तमान रूप तीन प्रकार का प्रतिबन्धक है संशय और विपरीत भावना ज्ञान की उत्पत्ति में प्रतिबन्ध नहीं, किन्तु माता-पिता की सेवा में आसक्त रोगी पुत्र के रोग की तरह ज्ञान के फल में या सफल दृढ़ज्ञान में प्रतिबन्ध हैं और ज्ञान उत्पत्ति के पीछे प्रारब्ध पर्यन्त अदृष्ट अविद्या की विक्षेप शक्ति जन्य जो अध्यास रूप विक्षेप है वह ज्ञान के फल जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति प्रतिबन्धक नहीं । किन्तु जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द में प्रतिबन्ध है । इससे अध्यास के न रहने रूप व्रत के अभाव हुए भी जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द के लिए बारम्बार ब्रह्म विचार कर्तव्य है ।

विशेष १ प्रारब्ध निमित्त से उत्पन्न शरीररूपी व्रण है औषधि लेप के स्थान पर अन्न, जल को व्रण के प्रक्षालन की तरह देखना और वस्त्र को व्रण के पट्टी की जगह देखना, इस प्रकार अन्न, जल, वस्त्र आदि द्वारा प्रारब्ध की निवृत्ति करके ही ज्ञानी विदेह मुक्त होता है ।

अपरोक्षज्ञानशोकनिवृत्त्याख्ये उभे इमे अवस्थे जीवगे ब्रूते 'आत्मानं चेत्' (बृ० ४।४।१२) इति श्रुतिरित्यनेन श्लोकेन । 'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः । किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्' (बृ० ४।४।१२) इत्यस्मिन्मन्त्रे परोक्षज्ञानशोकनिवृत्त्याख्ये जीवावस्थे द्वे अभिहिते इत्युक्तम्, इदानीं तदभिधानसूचितां जीवस्य सप्तमीं तृप्तिलक्षणामवस्थां वृत्तानुकीर्तनपूर्वकं वक्तुमारभते- –

किमिच्छन्निति वाक्योक्तः शोकमोक्ष उदीरितः ।
आभासस्य ह्यवस्थैषा षष्ठी तृप्तिस्तु सप्तमी ॥२५१॥

अन्वय : –किम् इच्छन् इति वाक्योक्तः शोकमोक्षः उदीरितः अभासस्य एषा षष्ठी अवस्था हि तृप्तिस्तु सप्तमी ।

'किमिच्छन्निति' । किमिच्छन्' इत्युत्तरार्धेनाभिहितो यः शोकमोक्षः स एतावता ग्रन्थसंदर्भेणोदीरितोऽभिहितः । एषा अज्ञानमावृतिस्तद्वद्विक्षेपश्च परोक्षधीः । अपरोक्षमतिः शोकमोक्षस्तृप्तिर्निरङ्कुशा, (प्र० ७।३३। इत्यनेन श्लोकेनाभिहितासु सप्तसु जीवावस्थासु षष्ठीत्याह –'आभासस्येति' । सप्तमी व्याख्यायत इति शेषः ॥२५१॥

अपरोक्ष ज्ञान और शोक निवृत्ति ये दोनों अवस्था जीव की हैं । आत्मानं चेत् यह श्रुति कहती है कि यदि पुरुष आत्मा को मैं यह आत्मा हूँ इस प्रकार विशेष रूप से जान जाय तो फिर क्या इच्छा करता हुआ और किस कामना से शरीर के पीछे दुःखी हो इस मन्त्र में पूर्वोक्त दोनों अवस्था जीव की है यह पहले कह आये । अब उन अवस्थाओं के कथन से सूचित की जो जीव की तृप्ति रूप सातवीं अवस्था है उसका वृत्तान्त पूर्वक वर्णन करते हैं ।

क्या इच्छा करता हुआ शरीर को दुःख दे इस श्लोक में कहा शोक का मोक्ष या त्याग, पूर्वोक्त ग्रन्थ से जो वर्णन किया है वह चिदाभास की छठी अवस्था है और सातवीं तृप्ति अवस्था का अब वर्णन करते हैं ॥२५१॥

क्या इच्छा करता हुआ इस पहले आधे वाक्य से कहा जो शोक का मोक्ष (त्याग) वह इतने पूर्वोक्त ग्रन्थ के समूह से कहा-अज्ञान, आवरण, विक्षेप परोक्षज्ञान, अपरोक्षज्ञान, शोकमोक्ष और निरंकुश तृप्ति इस श्लोक में कही सातों जीव की अवस्थाओं में यह शोकनिवृत्तिरूप शोकमोक्ष, जीव की छठी अवस्था है सप्तमी तृप्ति अवस्था का अब वर्णन करते हैं ॥२५१॥

अपरोक्षज्ञानजन्यायास्तृप्तेर्निरङ्कुशत्वं प्रतियोगिप्रदर्शनपुरःसरं प्रतिजानीते—

साङ्कुशा विषयैस्तृप्तिरियं तृप्तिर्निरङ्कुशा ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव तृप्यति ॥२५२॥

अन्वय :--इयं विषयैस्तृप्तिः साङ्कुशा (अन्या) तृप्तिः निरङ्कुशा कृत्यं कृतं प्रापणीयं प्राप्तं इत्येव तृप्यति ।

'साङ्कुशेति' । विषयलाभजन्यायास्तृप्तेर्विषयान्तरकामनया कुण्ठितत्वात्साङ्कुशत्वं, अस्यास्तु तदभावान्निरङ्कुशत्वम् । तदेव दर्शयति —'कृतमिति' ॥२५२॥

कृतकृत्यत्वमेवोपपादयति —

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये ।
बहु कृत्यं पुराऽस्याभूत्तत्सर्वमधुना कृतम् ॥२५३॥

अन्वयः –ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्धयै मुक्तेश्च सिद्धये पुरा अस्य बहु कृत्यं अभूत् तत् सर्वं अधुना कृतम् ।

'ऐहिकेति' । अस्य विदुषस्तत्त्वज्ञानोदयात्पूर्वमिह लोके इष्टप्राप्तये अनिष्टनिवृत्तये च कृषिवाणिज्यादिकं स्वर्गादिसिद्धये यागोपासनादिकं, मोक्षसाधनज्ञानसिद्धये श्रवणादिकं चेति बहुविधं कर्तव्यमासीत् । इदानीं तु सांसारिकफलेच्छाभावाद्ब्रह्मानन्दसाक्षात्कारस्य सिद्धत्वाच्च तत्सर्वं कृषियागश्रवणादिकं कृतं कृतप्रायमभूत्, अतःपरमनुष्ठेयत्वाभावादित्यर्थः ॥२५३॥

अपरोक्षज्ञान से उत्पन्न जो तृप्ति उसको निरंकुश रूप का प्रतियोगी (साङ्कुश) को दिखाकर वर्णन करते हैं—

विषयों के लाभ से जो तृप्ति होती है । वह अंकुश सहित है । दूसरे विषय की कामना से कुण्ठित होने के कारण परिमित तृप्ति है । आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान से जो तृप्ति होती है निरंकुश है (अपरिमित है) इस तृप्ति में इस प्रकार मुमुक्षु तृप्त होता है मैंने करने के योग्य सब कर लिया, प्राप्त होने योग्य (ब्रह्म) मुझे प्राप्त हो गया अर्थात् करने व प्राप्त होने योग्य कुछ भी शेष नहीं रहा ॥२५२॥

अब कृत कृत्यता का ही वर्णन करते हैं कि –

इस लोक में और परलोक और मुक्ति की सिद्धि के लिए ज्ञानी को ज्ञान से पूर्व बहुत कृत्य रहा वह सब अब कर लिया ॥२५३॥

इस विद्वान् (ज्ञानी) को तत्त्वज्ञान होने से पहले इस लोक की इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति के लिए कृषि वाणिज्य आदि और स्वर्ग आदि की सिद्धि के लिए यज्ञ, उपासना आदि और मोक्ष के साधन ज्ञान की सिद्धि के लिए श्रवण, मनन आदि बहुत प्रकार का कृत्य रहा । वह सब अब ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान होने पर कर लिया । अब सांसारिक फल की इच्छा के अभाव से ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार हो जाने के कारण वह सब कृषि वाणिज्य आदि प्रायः कृत्य सा ही है । कारण उसके करने का फल नहीं है । अब कुछ करना शेष नहीं रहा ॥२५३॥

एवं कृतकृत्यत्वमुपपाद्य, तत्फलभूतां तृप्तिं दर्शयति—

तदेत्कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् ।
अनुसंदधदेवायमेवं तृप्यति नित्यशः ॥२५४॥

अन्वयः—तदेतत् प्रतियोगिपुरस्सरं कृतकृत्यत्वं एवं अनुसंदधदेव अयं नित्यशः तृप्यति ।

'तदेतदिति' । प्रतियोगिपुरःसरं प्रतियोग्यनुसंधानपूर्वकं यथा भवति तथा एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण सर्वदा तृप्यति ॥२५४॥

तदेवानुसंधानं प्रपञ्चयति—

दुःखिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया ।
परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया ॥२५५॥

अन्वयः—दुःखिनो अज्ञाः पुत्राद्यपेक्षया कामं संसरन्तु परमानन्दपूर्णोऽहं इच्छया किम् संसरामि ।

'दुःखिनोऽज्ञा इत्यादिना' । 'कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः' (प्र० १४।५८) इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । तत्र तावदैहिकसुखार्थिभ्यो वैलक्षण्यं स्वस्य दर्शयति—'दुःखिन इति ॥२५५॥

इस तृप्ति के स्मरण को विस्तार से दिखाते हैं—

आगे २८१वें श्लोक में कहेंगे । इस लोक सुखार्थि से विलक्षण ज्ञानी को दिखाते हैं । दुःखी और अज्ञानी मनुष्य पुत्र आदि की अपेक्षा से संसारिक व्यवहार में चाहे फंसे रहें, परन्तु परमानन्द से पूर्ण मैं किसकी इच्छा से संसार को प्राप्त होऊँ अर्थात् निरपेक्ष मेरा संसार से कुछ प्रयोजन नहीं है ॥२५५॥

इस प्रकार कृत कृत्यता को कहकर उसका फल जो तृप्ति उसका वर्णन करते हैं—

इस प्रकार यह ज्ञानी इस अपनी ब्रह्मभाव रूपी कृतकृत्यता को और कृतकृत्यता विरोधी बातों के साथ-साथ उसका अनुसंधान (स्मरण) करता हुआ यह चिदाभास आगे कहे प्रकार से नित्य तृप्त रहने लगता है ।२५४॥

स्वर्गाद्यर्थं कर्मानुष्ठातृभ्यो वैलक्षण्यमाह —

अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः ।
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥२५६॥

अन्वयः—परलोकयियासवः कर्माणि अनुतिष्ठन्तु सर्वलोकात्मकः किं कथं कस्मात् अनुतिष्ठामि ।

'अनुतिष्ठन्त्विति' ॥२५६॥

ननु स्वार्थप्रवृत्यभावेऽपि परार्थप्रवृत्तिः किं न स्यादित्याशङ्क्याधिकाराभावात् साऽपि नास्तीत्याह—

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा ।
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥२५७॥

अन्वयः— ते शास्त्राणि व्याचक्षतां वेदान् वा अध्यापयन्तु ये अत्र अधिकारिणः मे तु अक्रियत्वत. अधिकारो न ।

'व्याचक्षतामिति' ॥२५७॥

स्वर्गादि कर्मानुष्ठान से ज्ञानी की विलक्षणता को कहते हैं—

परलोक जाने की इच्छा वाले पुरुष भले ही यज्ञ उपासना शुभ कर्म करें, परन्तु सर्वलोक स्वरूप मैं क्यों किसी कर्म को किस प्रकार करूँ कैसे करूँ, अर्थात् परलोकार्थ कर्म भी मेरा कर्तव्य नहीं ॥२५६॥

शंका अपने लिए प्रवृत्ति के न होने पर भी दूसरों के लिए ज्ञानी की प्रवृत्ति होगी, अधिकार के अभाव से प्रवृत्ति सम्भव नहीं

जो आचार्य परार्थ के अधिकारी हैं वे भले ही शास्त्रों की व्याख्या करें या वेद को पढ़ावे, मैं तो अत्र क्रिया रहित हूँ इस कारण मेरा उन कर्मों में अधिकार ही नहीं है, अर्थात् वाणी के व्यापार का अकर्ता हूँ ॥२५७॥

ननु स्वदेहभरणार्थं भिक्षाहरणादिकं परलोकार्थंस्नानदिकं च भवता क्रियमाणमुपलभ्यते, अतोऽक्रियत्वमसिद्धमित्याशङ्क्य तदपि स्वदृष्ट्या नैवास्ति किंत्वन्यैरेव कल्पितमित्याह—

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोति च ।

द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्ति किं मे स्यादन्यकल्पनात् ॥२५८॥

अन्वयः निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च द्रष्टारः कल्पयन्ति चेत् अन्यकल्पनात् मे किं स्यात् ।

'निद्रेति' ॥२५८॥

अन्यकल्पनयापि बाधोऽस्तीत्याशङ्क्य, तदभावे दृष्टान्तमाह—

गुञ्जापुञ्जादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना ।

नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥२५९॥

अन्वयः—गुञ्जापुञ्जादि अन्यारोपितवह्निना न दह्येत अन्यारोपितसंसारधर्मान् एवं अहं न भजे ।

'गुञ्जापुञ्जेति' ॥२५९॥

यदि कहो कि अपने देह के पोषणार्थं भिक्षा लाना और परलोकार्थं स्नान आदि का करना आप में देखते हैं, इससे क्रिया रहित रूप कैसे आप में घट सकता है इस शंका पर कहते हैं कि वह सब भी तत्त्वज्ञान की दृष्टि से नहीं है किन्तु इसमें दूसरों की कल्पना मात्र है –

क्योंकि निद्रा, भिक्षा स्नान, शौच आदि कर्मों को मैं चिदाभास न तो चाहता हूँ न करता ही हूँ। यदि देखने वाले मुझमें कल्पना करें, अन्यों की कल्पना से मुझे क्या बने या बिगड़ेगा, वह मेरी बाधक नहीं ॥२५८॥

यदि कहो कि अन्य की कल्पना से भी बाध होता है उत्तर बाध के अभाव में दृष्टान्त कहते हैं—

गुञ्जा (लाल घुंघची) समूह को कोई अग्नि समझे तो उस अग्नि से दाह उत्पन्न नहीं करती ऐसे दूसरे पुरुषों से आरोपित जो संसार के धर्म हैं उनको मैं भी नहीं अपनाता (भजता) ॥२५९॥

ननु फलान्तरेच्छाभावे कर्मानुष्ठानं मा भूत्, तत्त्वसाक्षात्काराय श्रवणादिकं कर्तव्यमेवेत्याशङ्क्य, अज्ञानाद्यभाववच्छ्रवणादिकर्तृत्वमपि नास्तीत्याह -

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम् ।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ।।२६०।।

अन्वय : अज्ञाततत्त्वाः शृण्वन्तु जानन् कस्मात् शृणोम्यहम् संशयापन्ना मन्यन्तां असंशयः अहं न मन्ये ।

'शृण्वान्त्विति' । अज्ञाततत्त्वाः, अज्ञातं ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणं तत्त्वं यैस्ते तथाभूताः श्रवणं कुर्वन्तु । तत्त्वमित्थमन्यथा वेति संशयवन्तो मननं कुर्वन्तु मम तदुभयाभावान्नोभयत्र प्रवृत्तिरित्यर्थः ।।२६०।।

या भूतां श्रवणमनने, विपर्ययनिरासार्थं निदिध्यासनं कर्तव्यमित्याशङ्क्य, देहादावात्मत्वबुद्धिलक्षणस्य विपर्ययस्याभावात्तदपि नानुष्ठेयमित्याह—

विपर्यस्तो निदिध्यासेत्किं ध्यानमविपर्ययात् ।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद् भजाम्यहम् ।।२६१।।

अन्वयः—विपर्यस्तः निदिध्यासेत् अविपर्ययात् ध्यानं किं देहात्मत्वविपर्यासं अहं कदाचिद् न भजामि ।

'विपर्यस्त इति' ।।२६१।।

यदि कहो कि अन्य फलों की इच्छा के अभाव से कर्मों का अनुष्ठान मत हो, तत्त्व ज्ञान के लिए श्रवण मननादि करने ही पड़ेंगे अज्ञान आदि के अभाव में श्रवणादि का भी कर्तव्य नहीं है—

अज्ञात है तत्त्व जिसको वे सुनें मैं जानता हूँ क्यों सुनूं और संशय से युक्त मनुष्य मनन करे असंशय मैं क्यों मनन करूँ ।।२६०।।

नहीं जाना है तत्त्व ब्रह्म और आत्मा की एकता रूप जिन्होने, ऐसा अज्ञानी मुमुक्षु भले ही श्रवण करें । मैं तत्त्व ज्ञानी श्रवण क्यों करूँ और तत्त्व ऐसा है या अन्य प्रकार का है । ऐसे संशय से युक्त पुरुष मनन करें । संशय से रहित मैं क्या मनन करूँ । मेरे में अज्ञान का अभाव है श्रवण मनन दोनों का कर्ता भी मैं नहीं हो सकता ।।२६०।।

यदि कहो कि श्रवण, मनन मत हो, विपरीत ज्ञान की निवृत्ति के लिए निदिध्यासन तो ज्ञानी को अवश्य अपेक्षित है, ऐसी आशङ्का कर कहते हैं कि ज्ञानी को देहादि वस्तुओं में आत्मबुद्धिरूप विपर्यय नहीं है । अतः निदिध्यासन का अनुष्ठान नहीं करता है—

जिसको विपरीत ज्ञान हो वह निदिध्यासन करे विपरीत ज्ञान के अभाव में मुझे (चिदाभास) ध्यान की क्या आवश्यकता है देहेन्द्रिय आत्मा है यह जो विपरीत ज्ञान, का अभाव होने से उसको मैं कदाचित् भी नहीं भजता हूँ । अर्थात् मुझे कभी भी नहीं होता है ।।२६१।।

ननु विपर्ययाभावे 'अहं मनुष्य' इति व्यवहारः कथं घटत इत्याशङ्क्य, वासनावशाद्भवतीत्याह—

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम् ।

विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ॥२६२॥

अन्वय :—अहं मनुष्यः इत्यादि व्यवहारः अमुं विनापि विपर्यासं चिराभ्यस्त वासनातः अवकल्पते ।

'अहमिति' ॥२६२॥

तर्ह्यस्य व्यवहारस्य निवृत्तिसिद्धये ध्यानं संपाद्यमित्याशङ्क्य, प्रारब्धक्षयमन्तरेणास्य निवृत्तिर्नास्तीत्याह —

प्रारब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते ।

कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ॥२६३॥

अन्वय :—प्रारब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते कर्माक्षये तु असौ ध्यान सहस्रतः नैव शाम्येत् ।

'प्रारब्धेति' ॥२६३॥

शंका—विपरीत ज्ञान के अभाव में "मैं मनुष्य हूँ" यह व्यवहार कैसे होगा, वासनाओं से होगा इस प्रकार कहते हैं—

मैं मनुष्य हूँ इत्यादि यह व्यवहार तो इस विपरीत ज्ञान के बिना भी अनादिकाल से है अभ्यास जिसका ऐसी वासना से चलता ही रहता है ॥२६२॥

यदि कहो कि इस व्यवहार की निवृत्ति के लिए ध्यान करना चाहिए ऐसी आशङ्काकर उत्तर देते हैं कि प्रारब्ध कर्मक्षय के बिना व्यवहार निवृत्ति नहीं होती है—

प्रारब्ध कर्म के क्षीण होने पर ही व्यवहार निवृत्त होता है और प्रारब्ध कर्म के क्षय बिना तो यह सहस्र प्रकार के ध्यान से भी व्यवहार शान्त (निवृत्त नहीं होता) ॥२६३॥

ननु प्रारब्धनिमित्तकस्यापि व्यवहारस्य विरलत्वाय ध्यानं कर्तव्यमेवेत्याशङ्क्य, व्यवहारस्य अबाधकत्वदर्शनात्तन्निवृत्तये ध्यानमननुष्ठेयमित्याह—

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्ध्यानमस्तु ते ।
आबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन्ध्यायाम्यहं कुतः ॥२६४॥

अन्वय :—व्यवहृतेः इष्टं विरलत्वं चेत् ते ध्यानं अस्तु अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन् अहं कुतः ध्यायामि ।

'विरलत्वमिति' ॥२६४॥

ध्यानस्य अकर्तव्यत्वेऽपि विक्षेपपरिहाराय समाधिः कर्तव्य इत्याशङ्क्य, विक्षेपसमाधायोर्मनोधर्मत्वान्न विक्षेपनिवारकेऽपि समाधौ ममाधिकार इत्याह—

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥२६५॥

अन्वय :—यस्मात् मे विक्षेपः नास्ति ततो मम न समाधिः विक्षेपः समाधिः वा विकारिणः मनसः स्यात् ।

'विक्षेप इति' ॥२६५॥

यदि कहो कि प्रारब्ध से उत्पन्न व्यवहार की विरलता (कमी) के लिए ध्यान करने योग्य है ऐसी आशङ्का कर कहते हैं कि व्यवहार तत्त्वज्ञान में बाधक नहीं है उसकी निवृत्ति के लिए ध्यान का अनुष्ठान अनावश्यक है—

व्यवहार को कम करने के लिए यदि ध्यान करना है तो ध्यान करो अर्थात् ध्यान से व्यवहार निवृत्ति तुम्हारे मत में रहे । मैं तो व्यवहार को अबाधक (हानि न कर्ता), देखता हुआ मैं क्यों ध्यान करूँ अर्थात् मेरी दृष्टि में ज्ञानी का व्यवहार बाधक नहीं ॥२६४॥

शंका—ध्यान का करना न होने पर भी विक्षेप की निवृत्ति के लिए समाधि तो करनी ही चाहिए ऐसी आशङ्काकर कहते हैं कि विक्षेप और समाधान ये दोनों ही मन के धर्म होने से विक्षेप को निवारण करने वाली समाधि में भी मेरा अधिकार नहीं है --

जिससे मुझे विक्षेप नहीं है इससे समाधि भी मुझे नहीं है । क्योंकि विक्षेप और समाधि ये दोनों विकारी मन को होते हैं इससे विक्षेप की निवर्तक समाधि में भी मेरा अधिकार नहीं है ॥२६५॥

ननु तथापि समाधिफलमनुभवः संपादनीय इत्याशङ्क्य, तस्य मत्स्वरूपत्वान्न संपाद्यत इत्याह—

नित्यानुभवरूपस्य को मे वाऽनुभवः पृथक् ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः ॥२६६॥

अन्वयः—नित्यानुभवरूपस्य मे पृथक् अनुभवःकः कृत्यं कृतं प्रापणीयं प्राप्तं इत्येव निश्चयः ।
'नित्येति' । उपपादितं कृतकृत्यत्वं निगमयति—'कृतं कृत्यमिति' ॥२६६॥

यदि कहो कि समाधि का फल अनुभव तो करना चाहिए—वह अनुभव (ज्ञान) मेरा स्वरूप है इसलिए उसे संपादन करने की आवश्यकता नहीं है—

उत्पत्ति विनाश रहित मुझ नित्य अनुभव (ज्ञान) रूप जो मैं हूँ उस मुझसे पृथक् अनुभव कौन-सा है अर्थात् कोई भी नहीं इसे कृत्यं (करने योग्य) कृतं (कर लिया) और प्राप्त होने योग्य प्राप्त हो गया यह निश्चय जो मेरा है वह सिद्ध हुआ ।[1] ॥२६६॥

विशेष १ – गीता ३।१७ शंकरानन्दी टीका में है । विद्वान् यजते, इति श्रुतेः, ज्ञानी जीवन्मुक्त, को कर्म करना चाहिए । इस प्रश्न के उत्तर में दो पक्ष सम्भव हैं—(१) स्वार्थ के लिए अथवा (२) परार्थ के लिए । स्वार्थ पक्ष के भी दो पक्ष हैं (१) इह लोक सम्बन्धी फल के लिए अथवा (२) परलोक सम्बन्धी फल के लिए । इस लोक सम्बन्धी फल के भी तीन विकल्प हैं (१) शरीर रक्षार्थः (२) पुत्र शिष्यादि परिग्रह की रक्षार्थ अथवा (३) विलासार्थ, (१) शरीर रक्षार्थ ज्ञानी विद्वान् कर्म नहीं करता भागवत् २।२। सिद्धेऽन्यथार्थेन यतेत० के अनुसार शरीर रक्षा तो प्रारब्ध के अधीन हैं (२ परिग्रह की रक्षार्थ भी ज्ञानी कर्म नहीं कर सकता एवं वै तमात्मानं विदित्वा बृ० ३।४।१। के अनुसार वह तो पुत्र, वित्त और लोक इन तीनों एषणाओं से ऊपर उठ चुका होता है और (३) विलासार्थ भी ज्ञानी कर्म नहीं कर सकता । अब परलोक सम्बन्धी फल में भी तीन पक्ष सम्भव हैं । (१) स्वर्ग (२) अपवर्ग (३) आत्मशुद्धिः (१ स्वर्ग के लिए वह क्यों कर्म करेगा उसके तो यहाँ ही सब काम नष्ट हो चुके हैं—पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलियन्ति कामा० मु० ३।२।२। (२) वह जीवन्मुक्त है तो मोक्ष के लिए भी वह कर्म न करेगा 'न कर्मणा न प्रजया कैव० उ० ३। अब (३) आत्म शुद्धि के भी तीन पक्ष सम्भव हैं १) शरीर शुद्धि (२) चित्त शुद्धि (३) और आत्मा की शुद्धि । इनमें (१) शरीर शुद्धि तो कर्म से सम्भव नहीं है "कलेवरं मूत्रपुरीषभाजनम्" शरीर में मूत्र, पुरीष, मांस अस्थियाँ जो हैं (२) ज्ञान तो शुद्ध चित्त वाले को ही होता है । यतयः शुद्ध सत्त्वा० मु० उ० ३।२।६। तो चित्त शुद्धि की विद्वान् को आवश्यकता ही नहीं है (३) आत्मशुद्धि की तो कल्पना भी नहीं हो सकती - "अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्० ई० उ० ८। शुद्ध निरवयव, अविषय, आत्मा की शुद्धि की दो कल्पना भी नहीं हो सकती । अब यदि परार्थ (लोकार्थ)

एवं सर्वत्र कर्तृत्वानभ्युपगमेऽनियतवृत्तित्वं प्रसज्येतेत्याशङ्क्य, प्रारब्धवशात्प्राप्तमनियतवृत्तित्व मङ्गीकरोति—

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वाऽन्यथापि वा ।
ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ॥२६७॥

अन्वय :—व्यवहारः लौकिको वा शास्त्रीयो वा अन्यथापि वा अकर्तुः अलेपस्य मम यथारब्धं प्रवर्तताम् ।

'व्यवहार इति' । लौकिको भिक्षाहारादिः, शास्त्रीयो जपसमाध्यादिः, अन्यथापि वा प्रतिषिद्धहिंसादिर्वा व्यवहारः कर्तृत्वभोक्तृत्वरहितस्य मम प्रारब्धं कर्मानतिक्रम्य प्रवर्ततामित्यर्थः ॥२६७॥

यदि कहो कि सब कर्मों में आत्मा को कर्ता न मानोगे सब व्यवहारों में नियम न रहेगा यही हो अन्य न हो इस शंका का उतर प्रारब्ध कर्म के अनुसार अनियत वृत्ति को स्वीकार करते हैं -

लौकिक शास्त्रोक्त भोजन आदि और शास्त्रोक्त जप, समाधि आदि अन्यथा हिंसा आदि प्रतिसिद्ध अन्य व्यवहार भी हैं वह कर्ता भोक्त आदि से रहित मेरा (जो मैं हूँ) प्रारब्ध के अनुसार चलता है तो चले क्योंकि तीव्र प्रारब्ध भोग के बिना निवृत्त नहीं होता ॥२६७॥

कर्म माने तो वह अपरोक्ष ज्ञानी है या परोक्ष ज्ञानी है, सन्यासी है या गृहस्थ है (१) इनमें से अपरोक्ष ज्ञानी संन्यासी निरभिमान और सब कर्मों का उनके साधनों का त्याग किये होता है। प्रवृत्ति के छः कारणों का सन्ध्या स्नानं जपो होम स्वाध्यायो देवतार्चनम्, वैश्वदेवं तथानित्यं षट् कर्माणि दिने दिने। ब्रह्मात्मा की एकता को जानने वाले में सर्वथा कर्मों का अभाव हो जाता है (२) अपरोक्ष ज्ञानी गृहस्थ को जब ब्रह्मात्म की एकता का ज्ञान उत्पन्न हो जायेगा तो वह याज्ञवल्क्य आदि की तरह तीन एषणाओं से ऊपर उठ जायेगा प्राणोह्येष० मु० ३।१।४। यह श्रुति प्रमाण हैं। अपरोक्ष ज्ञानी को लोक संग्रहार्थ कर्म करना पड़ता है। यह मानना भी उचित नहीं, क्योंकि ऐसा ज्ञानी सिद्ध होगा या साधक सिद्ध की दृष्टि में तो सारा संसार ही मुक्त है वह संग्रह किसके लिए करेगा ? साधक मुमुक्षु को लोक संग्रहार्थ कर्म करना चाहिए ऐसा कोई श्रुति विधान नहीं है। किन्तु यही कहा है कि मुमुक्षु को ब्रह्मनिष्ठा करना चाहिए। उसे तो समाधि से ही अवकाश नहीं मिल सकता। इसलिए आभासरूप आत्मज्ञानवान् परोक्ष ज्ञानी ही लोक संग्रहार्थ कर्म करता है या ब्रह्मा के रचे व्यास, अगस्त्य, पराशर, वशिष्ठ, शङ्कराचार्य आदि महापुरुष अधिकारी निग्रह, अनुग्रह करने में समर्थ है लोक संग्रह कर्म करता है—सिद्ध साधक मुमुक्षु नहीं।

एवं वस्तुतत्त्वमभिधाय प्रौढवादेनाह[1]---

अथवा[2] कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया ।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं का मम क्षतिः ॥२६८॥

अन्वयः---अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया शास्त्रीयेणैव मार्गेण अहं वर्ते मम का क्षतिः । 'अथवेति' । लोकानुग्रहकाम्यया प्राण्यनुग्रहेच्छयेत्यर्थः ॥२६८॥

शास्त्रीय एव मार्गे प्रवर्तनाङ्गीकारे तर्हि तदभिमानप्रयुक्तो विकारः स्यादित्याशङ्क्याह—

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ।
तारं जपतु वाक्तद्वत् पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥२६९॥
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम् ।
साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥२७०॥

अन्वयः---वपुः देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां तारं वाक् जपतु तद्वत् आमस्तकम् आम्नायं पठतु । विष्णुं ध्यायतु यद्वा धीः ब्रह्मानन्दे विलीयताम् अहं साक्षी किंचिदपि अत्र न कुर्वे नापि कारये । 'देवार्चनेत्यादिना' श्लोक द्वयेन-- तारं प्रणवम् । आम्नायमस्तकं वेदान्तशास्त्रम् ॥२६९-२७०॥

इस प्रकार वस्तु तत्त्व को कहकर प्रौढ़िवाद को कहते हैं । अर्थात् फिर भी शास्त्रोक्त मार्ग से व्यवहार श्रेष्ठ है---

अथवा कृतकृत्य भी मैं प्राणियों पर कृपा करने की इच्छा से शास्त्रीय मार्ग से ही चलता हूँ तो मेरी इससे कोई हानि नहीं है ॥२६८॥

यदि कहो कि शास्त्रीय मार्ग से प्रवृत्ति मानोगे तो उसके अभिमान से ही विकार हो जायेगा इस शंका का उत्तर---

शरीर देवापूजा स्नान, शौच, भिक्षा आदि में प्रवृत्त हो, वाणी ओंकार को जपे अथवा वेदान्त शास्त्र उपनिषद् समूह, प्रस्थानत्रय भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र ध्यान करे या ब्रह्मानन्द में विलीन हो जाय इन सब का साक्षि स्वरूप में न कुछ करता हूँ न करवाता हूँ । अतएव शास्त्रीय मार्ग पर चलने का अभिमान और उसके विकार मुझे नहीं हो सकता ॥२६९-२७०॥

विशेष १-- ज्ञानी विद्वान् का वास्तव में नियम रहित होने पर भी शास्त्र के अनुसार सदाचार प्राप्त होने पर भी सदाचार का निरूपण करके यहाँ अपनी उत्कृष्टता का कथन किया है वह प्रौढ़िवाद है ।

२---सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत । कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् । (गीता ३।२५) ।

फलितमाह—

एवं च कलहः कुत्र संभवेत्कर्मिणो मम ।
विभिन्नविषयत्वेन पूर्वापरसमुद्रवत् ॥२७१॥

अन्वयः एवं च कर्मिणो मम पूर्वापरसमुद्रवत् विभिन्नविषयत्वेन कलहः कुत्र संभवेत् ।

'एवं चेति' ॥२७१॥

विभिन्नविषयत्वमेव स्पष्टयति—

वपुर्वाग्धीषु निर्बन्धः कर्मिणो न तु साक्षिणि ।
ज्ञानिनः साक्ष्यलेपत्वे निर्बन्धो नेतरत्र हि ॥२७२॥

अन्वयः—वपुः वाग्धीषु निर्बन्धः कर्मिणः साक्षिणि तु न, साक्ष्यलेपत्वे न ज्ञानिनः निर्बन्धः इतरत्र न हि ।

'वपुरिति' ॥२७२॥

अथापि यौ ज्ञानिकर्मिणौ कलहं कुर्वाते तौ विद्वद्भिः परिहसनीयावित्याह—

एवं चान्योन्यवृत्तान्तानभिज्ञौ बाधराविव ।
विवदेतां बुद्धिमन्तो हसन्त्येव विलोक्य तौ ॥२७३॥

अन्वयः—एवं च अन्योन्यवृत्तान्तानभिज्ञौ बधिरौ इव विवदेतां बुद्धिमन्तः तौ विलोक्य हसन्त्येव ।

'एवं चेति' ॥२७३॥

इसका फल यह है कि—

इस पूर्वोक्त प्रकार से पृथक्-पृथक् स्थानों में स्थित पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के समान ज्ञानी और कर्मी भिन्न विषय वाले होने से मुझ ज्ञानी और कर्मी का परस्पर कैसे सम्भव है ॥२७१॥

ज्ञानी और कर्मी की विभिन्न विषयता को स्पष्ट करते हैं—

कर्मी का तो शरीर वाणी बुद्धि और मन से अनुग्रह निश्चय है साक्षी में उसका कोई निर्बंध नहीं है और ज्ञानी का साक्षी निर्लेप है शरीरादियों में उसका कोई आग्रह नहीं है। इस प्रकार दोनों का क्षेत्र पृथक्-पृथक् है। ज्ञानी का क्षेत्र आत्मा और कर्मी का क्षेत्र अनात्म पदार्थ हैं ॥२७२॥

जो ज्ञानी और कर्मकाण्डी परस्पर कलह करते हैं वे दोनों तत्त्वज्ञानियों के द्वारा उपहास करने योग्य हैं—

इस प्रकार एक दूसरे की बात न जानने वाले ज्ञानी और कर्मी यदि विवाद करते हैं तो बधिरों के समान विवाद को करें उनको देखकर बुद्धिमान मनुष्य हँसते ही हैं। प्रशंसा नहीं करते ॥२७३॥

कुतः परिहास्यत्वमित्याशङ्क्य, निर्विषयकलहकारित्वादित्याह—

यं कर्मी न विजानाति साक्षिणं तस्य तत्त्ववित् ।

ब्रह्मत्वं बुध्यतां तत्र कर्मिणः किं विहीयते ॥२७४॥

अन्वयः— यं साक्षिणं कर्मी न विजानाति तस्य तत्त्ववित् ब्रह्मत्वं बुध्यतां तत्र कर्मिणः किं विहीयते ।

'यमिति'। कर्मी यं साक्षिणं कर्मानुष्ठानोपयोगिदेहवाग्बुद्धयतिरिक्तं प्रत्यगात्मानं न विजानाति तत्त्वविदा तस्य ब्रह्मत्वे बुद्धे कर्मिणः कर्मानुष्ठाने किं हीयते ? ॥२७४॥

देहवाग्बुद्धयस्त्यक्ता ज्ञानिनानृतबुद्धितः ।

कर्मी प्रवर्तयत्वाभिर्ज्ञानिनो हीयतेऽत्र किम् ॥२७५॥

अन्वयः—ज्ञानिनानृतबुद्धितः देहवाग्बुद्धयः त्यक्ताः कर्मी आभिः प्रवर्तयतु ज्ञानिनः अत्र किम् हीयते ।

'देहेति'। ज्ञानिना मिथ्यात्वबुद्धया परित्यक्ताभिर्देहवाग्बुद्धिभिः कर्मानुष्ठाने ज्ञानिनो वा किं हीयते ? अतो निर्विषयकलहकारिणोः परिहसनीयत्वमित्यर्थः ॥२७५

शंका क्यों परिहास के विषय हैं बिना विषय (निष्प्रयोजन) कलह के हेतु को कहते हैं—

कर्मों को करने वाला मनुष्य कर्म करने के उपयोगी जो देह वाणी बुद्धि है उनसे भिन्न जिस प्रत्यगात्म रूप साक्षी को नहीं जानता, उसकी ब्रह्मता को तत्त्वज्ञानी जान ले तो इससे कर्मी की क्या हानि है। उसके कर्मानुष्ठान में इससे कोई रुकावट नहीं होती ॥२७४॥

और तत्त्वज्ञानी ने मिथ्या समझकर देहवाणी को छोड़ दिया है कर्मी उनसे यदि कर्म में प्रवृत्त होता है तो इससे ज्ञानी का क्या बिगड़ता है। इस प्रकार ज्ञानी और कर्मी का विवाद विषय रहित है इसको देखकर सबका हँसना ठीक है ॥२७५॥

कर्मानुष्ठानं प्रयोजनशून्यत्वान्न ज्ञानिनाभ्युपगम्यत इति शङ्कते—

प्रवृत्तिर्नोपयुक्ता चेन्निवृत्तिः क्वोपयुज्यते ।
बोधहेतुर्निवृत्तिश्चेद्‌बुभुत्सायां तथेतरा ॥२७६॥

अन्वयः—प्रवृत्तिः नोपयुक्ता चेत् निवृत्तिः क्वोपयुज्यते बोधहेतुः निवृत्तिश्चेद् तथा इतरा बुभुत्सायां ।

'प्रवृत्तिरिति' । उपभोगाभावो निवृत्तावपि समान इति परिहरति——

निवृत्तिरिति' । निवृत्तेर्बोधहेतुत्वान्नोपयोगाभाव इति शङ्कते –'बोधहेतुर्निवृत्तिश्चेदिति' । तर्हि प्रवृत्तिरपि बुभुत्साहेतुत्वादुपयोगवतीत्याह—'बुभुत्सेति' ॥२७६॥

अब यह शंका करते हैं कि प्रयोजन शून्य होने से ज्ञानी कर्म के अनुष्ठान को नहीं मानते अर्थात् ज्ञानी को न प्रवृत्ति से लाभ न निवृत्ति से –

ज्ञानी के प्रवृत्ति का कोई उपयोग नहीं है ऐसे कहने वाले वादी से हम पूंछते हैं—उपभोग के अभाव में निवृत्ति का भी क्या प्रयोजन इसका समाधान शंका यदि कहो की निवृत्ति तो बोध का हेतु है उपभोग का अभाव नहीं है इस पर कहते हैं। तो इस प्रकार तो शुभ कर्मों में प्रवृत्ति भी चित्त शुद्धि और वैराग्य के द्वारा स्वरूप की जिज्ञासा का हेतु हैं इसलिए उपयोगी[1] है ॥२७६॥

विशेष १—वैसे प्रवृत्ति (कर्मानुष्ठान) भी स्वरूप जानने की इच्छा रूप बहुत श्रुति स्मृतियों में कर्म के समुच्चय वाले ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति का कथन किया है और भाष्यकार ने अनेक स्थलों में समुच्चय का खण्डन किया है इसका यह अभिप्राय है-(१) सम समुच्चय (२) क्रम समुच्चय (१) ज्ञान और कर्म दोनों को मोक्ष का साधन जानकर एककाल में दोनों का अनुष्ठान (सम समुच्चय है) (२) एक ही अधिकारी को प्रथम कर्म का अनुष्ठान और पीछे सब कर्मों का संन्यास करके ज्ञान का साधन श्रवणादि का अनुष्ठान क्रम समुच्चय है। श्रुति स्मृतियों में ज्ञान कर्म का समुच्चय लिखा है उनका क्रमसमुच्चय में तात्पर्य है और भाष्यकार ने जो निषेध किया है वह समसमुच्चय का निषेध है। वहाँ भाष्यकार का यह सिद्धान्त है, मोक्ष का साक्षात् साधन कर्म नहीं है किन्तु ज्ञान है और ज्ञान का साधन कर्म है। परन्तु साक्षात् व जिज्ञासा द्वारा ज्ञान का साधन कर्म है (भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने) कर्म को जिज्ञासा का साधन मानते हैं कर्म को साक्षात् साधन नहीं मानते जिज्ञासा द्वारा कर्म ज्ञान का साधन है साक्षात् ज्ञान का साधन नहीं, नहीं तो ज्ञान की उत्पत्ति पर्यन्त कर्मों का अनुष्ठान मानना होगा तो फिर साधन सहित कर्म त्याग रूप सन्यास कैसे सिद्ध होगा। ब्रह्म सूत्र ३।४।२६

ननु बुद्धस्य बुभुत्साभावात्प्रवृत्तेरनुपयोगित्वमिति पुनः शङ्कते—

बुद्धश्चेन्न बुभुत्सेत नाप्यसौ बुध्यते पुनः ।
अबाधादनुवर्तेत बोधो न त्वन्यसाधनात् ॥२७७॥

अन्वयः बुद्धश्चेत् न बुभुत्सेत असौ पुनः नापि बुध्यते अबाधात् बोधः अनुवर्तेत अन्यसाधनात् तु न ।

'बुद्धश्चेदिति' । तर्हि बुद्धस्य पुनर्बोधाभावात्तद्धेतुनिवृत्तिरपि बुद्धं प्रत्यनुपयोगिनीत्याह— 'नापीति' सकृज्जातस्य बोधस्य स्थिरत्वाय निवृत्तिरपेक्ष्यत इत्याशङ्क्य, स्थिरत्वं बाधकाभावमपेक्षते, न साधनान्तरमित्याह - अबाधादिति' । वाक्यप्रमाणजन्यज्ञानस्य बलवता प्रमाणेन बाधाभावादनुवृत्तिः स्यादेव, अतो न साधनान्तरं तदर्थमनुष्ठेयमित्यर्थः ॥२७७॥

फिर शंका है ज्ञानी को बोध की इच्छा के अभाव से प्रवृत्ति का उपयोग नहीं है—

तत्त्वबोधवान् ज्ञानी पुरुष को बोध की इच्छा न मानोगे तो पुनः (फिर) बोध के अभाव से ज्ञानी निवृत्ति का भी उपयोग न होगा। यदि शंका करो कि एक बार पैदा हुए बोध की स्थिरता के लिए निवृत्ति की अपेक्षा है बाध के अभाव से ही बोध की स्थिरता बनी रहेगी अन्य साधन से नहीं, महावाक्य के प्रमाण से उत्पन्न ज्ञान किसी बलवान् प्रमाण से भी बाधित नहीं होता। इसलिए वह तो अनुवृत्ति (स्थिरता) रहता है, अतः अन्य किसी साधन की अपेक्षा नहीं, अर्थात् बोध की स्थिरता अबाध पर निर्भर है। निवृत्ति पर नहीं ॥२७७॥

सर्वापेक्षा च यज्ञादि श्रुतेरश्ववत् इस सूत्र में जिज्ञासा का साधन कर्म है ऐसा कहा श्रुति में भी तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा० बृ० ४।४।२२। उस आत्मा को ब्राह्मण वेद के नित्य स्वाध्याय से यज्ञ-दान-तप (कृच्छ्र चान्द्रायणादिक) अनशन कर जानने की इच्छा करते हैं। यह संक्षेप में वाचस्पति का सिद्धान्त है (विवरणकार) कर्म को ज्ञान का साधन मानते हैं जिज्ञासा का नहीं उनके मत में वैराग्य सहित तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न होने तक कर्म करना चाहिए। उसके पश्चात् उसका संन्यास करना चाहिए। जिज्ञासा पर्यन्त किये कर्म से अपूर्व (पुण्य रूप संस्कार) उत्पन्न होता है। जो ज्ञानोदय तक रहकर पीछे नष्ट हो जाता है। इस कारण जिज्ञासा पर्यन्त किया हुआ कर्म अपूर्व द्वारा ज्ञान का साधन है इस प्रकार संन्यास की सिद्धि भी हो जाती है। कुछ आचार्य यह मानते हैं कि वर्ण मात्र के धर्म का नहीं किन्तु आश्रम के कर्म ही ज्ञान में उपयोगी हैं।

(कल्पतरुकार का मत है) है कि सब नित्य कर्म निष्काम कर्म होने से अतएव वे ही ज्ञान के प्रतिबन्धक पाप की निवृत्ति द्वारा ज्ञान के साधन है काम्य कर्म नहीं।

(संक्षेप शारीरिक कर्ता का मत) काम्य हो या नित्य हो सब शुभ कर्म विद्या में उपयोगी हैं परन्तु तीव्र जिज्ञासा पर्यन्त सब शुभ कर्म कर्तव्य है, पीछे नहीं, यह बात सब आचार्य मानते हैं। इस प्रकार प्रवृत्ति (कर्मानुष्ठान) जिज्ञासा में उपयोगी है।

ननु प्रमाणान्तरेण अबाधेऽप्यविद्यया तत्कार्येण कर्तृत्वाध्यासेन वा बाधः स्यादित्याशङ्क्याह—

नाविद्या नापि तत्कार्यं बोधं बाधितुमर्हति ।
पुरैव तत्त्वबोधेन बाधिते ते उभे यतः ॥२७८॥

अन्वयः—अविद्या नापि तत् कार्यं बोधं बाधितुं न अर्हति यतः ते उभे तत्त्वबोधेन पुरैव बाधिते ।

'नाविद्येति' । तत्र हेतुमाह—'पुरैवेति' ॥२७८॥

नन्वविद्याया बाधितत्वेऽपि तत्कार्यस्य प्रतीयमानस्य बाधितत्वासंभवात्तेन बोधस्य बाधो भवेदित्याशङ्क्य, उपादाननिवृत्त्यैव तस्यापि बाधितत्वान्न तेनापि बाधः शङ्कितुं शक्यत इत्याह—

बाधितं दृश्यतामक्षैस्तेन बाधो न शक्यते ।
जीवन्नाखुर्न मार्जारं हन्ति हन्यात् कथं मृतः ॥२७९॥

अन्वयः—बाधितं दृश्यतां अक्षैः तेन बाधो न शक्यते आखुः जीवन् मार्जारं न हन्ति मृतः कथं हन्यात् ।

'बाधितमिति' । तत्र दृष्टान्तमाह—'जीवन्निति' । आखुर्मूषकः ॥२७९॥

शंका—अन्य प्रमाण से बाध न होने पर भी अविद्या और अविद्या के कार्य कर्तृत्व के अध्यास से बोध का बाध हो जायेगा—

अविद्या और उसके कार्य (अध्यास) भी बोध (ज्ञान) को नहीं बाध सकते हैं । क्योंकि उन दोनों को तो पहले ही तत्त्वबोध ने नष्ट कर दिया था ॥२७८॥

यदि कहो कि अविद्या बाध होने पर भी प्रतीत हुए उसके कार्य (शरीरादि) का बाध नहीं हो सकता अविद्या के कार्य (शरीरादि) से बोध का बाध हो जायगा, यह ठीक नहीं—उपादान (अविद्या) की निवृत्ति होते ही उस शरीरादि का भी बाध हो गया उस कार्य से भी बाध की शंका नहीं करनी चाहिए—

तत्त्वज्ञान से बाधित हुआ अविद्या का कार्य चाहे इन्द्रियों से प्रतीत होता रहे, उससे बोध (ज्ञान) का बाध नहीं होता, जैसे जीता हुआ ही चूहा जब बिल्ली को नहीं मार सकता तो वह मरा हुआ किस प्रकार मार सकता है ॥२७९॥

द्वैतदर्शनेन तत्त्वबोधस्य बाधाभावं कैमुतिकन्यायप्रदर्शनेन द्रढयितुं तदनुकूलं दृष्टान्तमाह—

अपि पाशुपतास्त्रेण विद्धश्चेन्न ममार यः ।

निष्फलेषुवितुन्नाङ्गो नङ्क्ष्यतीत्यत्र का प्रमा ॥२८०॥

अन्वयः—पाशुपतास्त्रेण विद्धश्चेद अपि यः न ममार निष्फलेषुवितुन्नाङ्ग, नङ्क्ष्यति इत्यत्र का प्रमा ।

'अपीति'। यः समर्थः पाशुपतास्त्रेण विद्धोऽपि न ममार चेत्किल स निष्फलेषुवितुन्नाङ्गः शल्यरहितेषुणा व्यथितदेहः सन् नङ्क्ष्यति नाशं प्राप्स्यतीत्यत्र का प्रमा ? प्रमाणं नास्तीत्यर्थः ॥२८०॥

दृष्टान्तसिद्धमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—

आदावविद्यया चित्रैः स्वकार्यैर्जृम्भमाणया ।

बुद्ध्वा बोधोऽजयत्सोऽद्य सुदृढो बाध्यतां कथम् ॥२८१॥

अन्वय :—आदौ चित्रैः स्वकार्यैः जृम्भमाणया विद्यया बोधो बुद्ध्वा अजयत् सोऽद्य सुदृढः कथं बाध्यतां ।

'आदाविति'। आदौ विद्याभ्याससमये चित्रैर्बहुविधैस्तत्कार्यैः प्रमातृत्वभोक्तृत्व-कर्तृत्वादिभिः जृम्भमाणया विवर्धमानया अविद्यया बोधो युद्ध्वा युद्धं कृत्वा तामजयत् स एवाभ्यासपाटवेन सुदृढो-ऽद्येदानीमविद्यानिवृत्तौ सत्यं निर्मलेन तत्कार्येणाध्यासेन कथं बाध्यताम् ? न कथमपि बाध्येतेत्यर्थः ॥२८१॥

अत्र द्वैत के दर्शन से तत्त्वबोध के बाध का अभाव कैमुतिकन्याय से दृष्टान्त के द्वारा दिखाते हैं—

जो शक्तिशाली पुरुष पाशुपत अस्त्र से बिधा भी नहीं मरा तो वह बिना फाल के बाण से पीड़ा को प्राप्त हैं अंग जिसका ऐसा वह नाश को प्राप्त हो जायेगा, इसमें क्या प्रमाण है अर्थात् कोई नहीं ॥२८०॥

दृष्टान्त से सिद्ध अर्थ को दार्ष्टान्तिक में दिखाते हैं—

प्रथम विद्या अभ्यास के समय में अनेक प्रकार के प्रमाता-कर्ता-भोक्ता आदि अपने कार्यों से वृद्धि को प्राप्त हुई अविद्या के संग युद्ध करके जिस बोध (ज्ञान) ने अविद्या को जीत लिया अभ्यास की कुशलता से अच्छी तरह दृढ़ हुआ वही बोध अविद्या की निवृत्ति होने पर निर्मूल उस अविद्या के कार्य अध्यास से किस प्रकार बाधित हो सकता है अर्थात् नहीं बाधा जा सकता है ॥२८१॥

उपपादितमर्थं श्रोतृबुद्ध्यारोहाय रूपकेणाह—

तिष्ठन्त्वज्ञानतत्कार्यशवा बोधेन मारिताः ।

न भीतिर्बोधसम्राजः कीर्तिः प्रत्युत तस्य वैः ॥२८२॥

अन्वय :—अज्ञानतत्कार्यशवा बोधन मारिताः तिष्ठन्तु बोधसम्राजः भीतिः न प्रत्युत तैः तस्य कीर्तिः ।

'तिष्ठन्त्विति' ॥२८२॥

भवत्वेवं प्रकृते किमायातमित्यत आह—

य एवमतिशूरेण बोधेन न वियुज्यते ।

प्रवृत्त्या वा निवृत्त्या वा देहादिगतयास्य किम् ॥२८३॥

अन्वय :—यः एवं अतिशूरेण बोधेन न वियुज्यते देहादिगतया प्रवृत्त्या वा निवृत्त्या वा अस्य किम् ।

'य इति' । यः पुमानेवमुक्तप्रकारेण अतिशूरेण अविद्यातत्कार्यघातकेन बोधेन ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानेन न वियुज्यते न कदापि वियुक्तो भवति । अस्य पुंसो देहादिनिष्ठया प्रवृत्त्या वा किम् ? न किमपीष्टमनिष्टं वेत्यर्थः ॥२८३॥

अब पूर्वोक्त अर्थ को श्रोताओं की बुद्धि में आरूढ़ होने के लिए रूपक से वर्णन करते हैं—

अज्ञान और उसके कार्य रूप जो बोध के मारे हुए शव (मुर्दे) हैं वे भूमि पर भले ही पड़े रहें, उनसे बोध रूपी चक्रवर्ती को क्या भय है प्रत्युत इससे तो उसका यश है कि देखो ये बोध के मारे हुए पड़े हैं ॥२८२॥

ठीक है, इससे प्रकृत में क्या सिद्ध होता है ? इस पर कहते हैं -

जो मुमुक्षु पुरुष इस उक्त प्रकार के अतिशूर वियुक्त नहीं होता अर्थात् अविद्या उसके कार्य के नाशक ब्रह्म और आत्मा के एकत्व ज्ञानरूप से युक्त रहता है। उस पुरुष को देह आदि की प्रवृत्ति या निवृत्ति से क्या इष्ट लाभ है क्या अनिष्ट हानि है कुछ भी नहीं ॥२८३।

तर्हि ज्ञानिवदज्ञानिनोऽपि प्रवृत्तावाग्रहो न युक्त इत्याशङ्क्याह—

प्रवृत्तावाग्रहो न्याय्यो बोधहीनस्य सर्वथा ।
स्वर्गाय वाऽपवर्गाय यतितव्यं यतो नृभिः ॥२८४॥

अन्वय :—प्रवृत्तौ आग्रहः बोधहीनस्य सर्वथा न्याय्याः स्वर्गाय वा अपवर्गाय वा यतः नृभिः यतितव्यं ।

'प्रवृत्ताविति' । तत्रोपपत्तिमाह—'स्वर्गायेति' ॥२८४॥

विदुष आग्रहो न युक्त इत्युक्तं, तर्हि कर्मिणां मध्ये वर्तमानेन तेन किं कर्तव्यमित्याह—

विद्वांश्चेत्तादृशां मध्ये तिष्ठेत्तदनुरोधतः ।
कायेन मनसा वाचा करोत्येवाखिलाः क्रियाः ॥२८५॥

अन्वय : विद्वांश्चेत् तादृशां मध्ये तदनुरोधतः तिष्ठेत् कायेन मनसा वाचा अखिलाः क्रियाः करोति ।

'विद्वांश्चेदिति' । विद्वांस्तादृशां कर्मिणां मध्ये तिष्ठेच्चेत्तदनुरोधतः तेषामनुसारेण शरीरादिभिः सर्वाः क्रिया करोत्येव, न तान्कर्मिणो निवारयेदित्यर्थः ॥२८५॥

शंका ज्ञानी के समान अज्ञानी को भी प्रवृत्ति में आग्रह युक्त नहीं इस पर कहते हैं—

बोध (आत्मतत्त्व ज्ञान) से हीन पुरुष को प्रवृत्ति (यज्ञ, निवृत्ति वेदान्त का श्रवण आग्रह करना सर्वथा उचित ही है क्योंकि मनुष्य को स्वर्ग या मुक्ति के लिए यत्न करना ही चाहिए[1] ॥२८४॥

यदि कहो कि विद्वान् आग्रह न करे यह कहा तो कर्मियों के मध्य में रहें तो उसका कैसा व्यवहार हो ।

यदि विद्वान् वैसे कर्मियों के मध्य में रहे तो उनके अनुरोध से उन्हीं के अनुसार शरीर, मन, वाणी से सम्पूर्ण कर्मों को करे ही, उन कर्मियों को उन कर्मों का निषेध न करे ॥२८५॥

विशेष १— जिस प्रकार रात्रि में सुख से सोना मोप्ति से कर्तव्य है । जिस प्रकार वर्षा काल में सुख से रहने के लिए आठ महीने तक का कर्तव्य है और जिस प्रकार वृद्धावस्था में सुख से रहने के लिए पूर्व अवस्था में कर्तव्य है और जिसमें मरण के पीछे सुख से रहें वह जहाँ तक जीवन काल है जहाँ तक कर्तव्य है यह बात महाभारत में या भागवत में विदुर के वचनों से अज्ञानी मनुष्य को जिससे इष्ट वस्तु का साधन करना योग्य है इससे बोधहीन को प्रवृत्ति में आग्रह उचित है ।

अस्यैव तत्त्वबुभुत्सूनां मध्येऽवस्थितस्य कृत्यमाह—

एष मध्ये बुभुत्सूनां यदा तिष्ठेत्तदा पुनः ।
बोधायैषां क्रियाः सर्वा दूषयंस्त्यजतु स्वयम् ॥२८६॥

अन्वय : एष बुभुत्सूनां मध्ये यदा तिष्ठेत् पुनः तदा एषां बोधाय सर्वाः क्रियाः दूषयन् स्वयम् त्यजतु ।

'एष इति'। एष विद्वान्बुभुत्सूनां मध्ये यदा तिष्ठेत्तदा एषां बुभुत्सूनां बोधाय तत्त्वज्ञानजननाय ताः क्रियाः दूषयन् स्वयमपि त्यजतु ॥२८६॥

कुत एवं कर्तव्यमित्याह—

अविद्वदनुसारेण वृत्तिर्बुद्धस्य युज्यते ।
स्तनन्धयानुसारेण वर्तते तत्पिता यतः ॥२८७॥

अन्वय :—अविद्वदनुसारेण बुद्धस्य वृत्तिः युज्यते स्तनन्धयानुसारेण यतः तत् पिता वर्तते ।

'अविद्वदिति'। अज्ञान्यनुसारेण ज्ञानिनो वर्तनमुचितम्, कृपालुत्वात्तेषामनुकम्पनीयत्वाच्चेति भावः। एवं क्व दृष्टमित्यत आह—'स्तनन्धयेति'। स्तनन्धयाः स्तनपानकर्तारः शिशव इत्यर्थः ॥२८७॥

यदि विद्वान जब तत्त्व ज्ञानियों के बीच में रहे तो विद्वान् के कृत्य को कहते हैं—

यदि विद्वान् जब तत्त्व बोध के अभिलाषियों के मध्य में रहे तो उनके बोध के लिए उनके सब कर्मों में दोष देता हुआ और स्वयं भी सम्पूर्ण कर्मों को त्याग दे ॥२८६॥

इस प्रकार ज्ञानी के कर्तव्य में हेतु को कहते हैं

अज्ञानी के अनुसार ज्ञानी का व्यवहार होना चाहिए । क्योंकि ज्ञानी कृपालु है और अज्ञानी दया का पात्र है देखते हैं कि दुध पीते बच्चे के अनुसार ही उसके पिता का व्यवहार होता है ।२८७॥

विशेष १ - दूषयन्—न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः कैव० १।३। सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । गी० १८।६६।

पितुः स्तनन्धयानुसारित्वमेव दर्शयति —

अधिक्षिप्तस्ताडितो वा बालेन स्वपिता तदा ।

न क्लिश्नाति न कुप्येत बालं प्रत्युत लालयेत् ।।२८८।।

अन्वय :—अधिक्षिप्तः ताडितो वा तदा बालेन स्व पिता ताडितः न क्लिश्नाति न कुप्येत प्रत्युत बालं लालयेत् ।

'अधिक्षिप्त इति' ।।२८८।।

दार्ष्टान्तिके योजयति —

निन्दितः स्तूयमानो वा विद्वानज्ञैर्न निन्दति ।।

न स्तौति किंतु तेषां स्याद्यथा बोधस्तथाचरेत् ।।२८९।।

अन्वय :—अज्ञैः निन्दितः स्तूयमानो वा विद्वान् न निन्दति न स्तौति किंतु तेषां यथा स्यात् बोधः तथा आचरेत् ।

'निन्दित इति' । विद्वान् अज्ञैर्निन्दितः स्तूयमानो वा स्वयं न निन्दति न स्तौति, किंत्वेषामज्ञानां यथा बोध उपजायते तथाऽऽचरेत् ।।२८९।।

एवमाचरणे निमित्तमाह —

येनायं नटनेनात्र बुध्यते कार्यमेव तत् ।

अज्ञप्रबोधान्नैवान्यत् कार्यमस्त्यत्र तद्विदः ।।२९०।।

अन्वयः—अयं येन नटनेन अत्र कार्यं एव बुध्यते अज्ञप्रबोधात् नैवान्यत् कार्यं अस्ति अत्र तद्विदः

'येनेति' । अयमज्ञानी अत्रास्मिल्लोके विदुषो येन यादृशेन नटनेनाचरणेन बुध्यते तत्त्वमवगच्छति तदाचरणं तेन कर्तव्यमेव । तर्हि तद्वदेव कार्यान्तरमपि प्रसज्येतेत्यत आह—'अज्ञेति' यतस्तद्विदस्तत्त्वविदः अत्र लोकेऽज्ञप्रबोधादन्यत्कर्तव्यं नैवास्ति, अतस्तदनुसरणेन तत्त्वबोधनं कर्तव्यमित्यर्थः ।।२९०।।

पिता का व्यवहार दूध पीते बच्चे के अनुसार दिखाते हैं—

जैसे दूध पीता बच्चा जब अपने पिता को अधिक्षिप्त (गाली देना) करे तो भी उसका पिता न तो दुःख मानता है और न क्रोध ही करता है किन्तु वह बालक को प्यार करता है ।।२८८।।

अब दृष्टान्त को दार्ष्टान्तिक में दिखाते हैं

अज्ञानी विद्वान् की निन्दा करे या स्तुति करे पर ज्ञानी पुरुष उनकी न निन्दा करता है न स्तुति किन्तु ऐसा आचरण करता है कि उन अज्ञानियों को बोध हो जाय ।।२८९।।

इस प्रकार ज्ञानी के आचरण में हेतु को कहते हैं—

इस अज्ञानी को इस लोक में जिस आचरण से तत्त्वबोध हो, वह आचरण तत्त्व ज्ञानी करता है तब उनकी तरह काम करना होगा । क्योंकि तत्त्व ज्ञानी का इस लोक में अज्ञानियों को अच्छी प्रकार तत्त्वबोध कराने से अन्य कोई कर्तव्य नहीं है । अतएव ज्ञानी को चाहिए कि वह अज्ञानी का अनुसरण करके उसे तत्त्वबोध कराये । उनकी तरह काम करने लगना इष्ट नहीं है ।।२९०।।

वृत्तवर्तिष्यमाणयोस्तात्पर्यमाह —

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः ।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम् ।।२६१।।

अन्वय : प्राप्तप्राप्यतया पुनः कृतकृत्यतया तृप्तः एवं स्वमनसा तृप्यन् असौ निरन्तरम् मन्यते ।

'कृतकृत्येति' । असौ विद्वान् पूर्वोक्तप्रकारेण कृतकृत्यतया कृतं कृत्यजातं येनासौ कृतकृत्यः, तस्य भावस्तत्ता, तया तृप्तः सन् वक्ष्यमाणप्रकारेण प्राप्तप्राप्यतया प्राप्तं प्राप्यं येन सः प्राप्तप्राप्यः, तस्य भावस्तत्ता, तया तृप्यन् तृप्तो भवन् स्वमनसा निरन्तरमेवं मन्यते ।।२६१।।

किं मन्यते इत्यत आह —

धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि ।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ।।२६२।।

अन्वयः धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानं अञ्जसा वेद्मि धन्योऽहं धन्योऽहं में स्पष्टम् ब्रह्मानन्दः विभाति ।

'धन्योऽहं धन्योऽहमित्यादिना' । धन्यः कृतार्थः । आदरार्थे वीप्सा । नित्यमनवरतं स्वात्मानं स्वस्य निजं रूपं देशाद्यनवच्छिन्नं प्रत्यगात्मानमञ्जसा साक्षाद्यतो वेद्मि जानाम्यतो धन्यः । एवमात्मज्ञानलाभ-निमित्तां तुष्टिमभिधाय तत्फललाभनिमित्तां तां दर्शयति —'धन्य इति' । ब्रह्मानन्दः ब्रह्मभूतानन्दः मे स्पष्टं विभाति स्पष्टं यथा भवति तथा स्फुरतीत्यर्थः ।।२६२।।

अब पूर्वोक्त और वक्ष्यमाण के तात्पर्य को कहते हैं —

यह विद्वान् पूर्वोक्त अपनी कृतकृत्यता से सन्तुष्ट होकर वक्ष्यमाण प्रकार से प्राप्ति के योग्य की प्राप्ति से तृप्त हुआ अपने मन से निरन्तर इस प्रकार है कि —।।२६१।।

वह तत्त्वदर्शी कैसे मानता है ? इस पर कहते हैं —

मैं अपने देशकाल वस्तु से अनवच्छिन्न प्रत्यगात्मस्वरूप को साक्षात् जानता हूँ इसलिए मैं कृतकृत्य हूँ । इस प्रकार आत्मज्ञान के लाभ से मैं सन्तुष्ट हूँ आत्मज्ञान लाभ को दिखाते हैं इससे मुझे धन्य है धन्य है । और ब्रह्म रूप आनन्द मुझ स्पष्ट प्रकाशित हो रहा है अर्थात् आत्मज्ञान का फल जो ब्रह्मानन्द है उससे मैं संतुष्ट हूँ ।।२६२।।

एवमिष्टप्राप्तौ तुष्टिमभिधायानिष्टनिवृत्यापि तुष्यतीत्याह—

धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य ।

धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ॥२६३॥

अन्वय :—धन्योऽहं धन्योऽहं अद्य सांसारिकं दुःखं न वीक्षे धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्य अज्ञानं क्वापि पलायितं ।

'धन्योऽहमिति' । अद्य इदानीं दुःखं दुःखस्वरूपं संसारं न वीक्षे न पश्यामि, अतः कृतार्थ इत्यर्थः । दुःखाप्रतीतौ कारणमाह—'धन्योऽहमिति' । अनेककर्मवासनाजालमज्ञानं क्वापि पलायितं नष्ट मित्यर्थः ॥२६३॥

अज्ञाननिवृत्तिफलं कृतकृत्यत्वं प्राप्तप्राप्यत्वं च दर्शयति—

धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किंचित् ।

धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य संपन्नम् ॥२६४॥

अन्वय :—धन्योऽहं धन्योऽहं में किंचित् कर्तव्यं न विद्यते धन्योऽहं धन्योऽहं अद्य सर्वं सम्पन्नम् प्राप्तव्यं ।

'धन्य इति' ॥४६४॥

इस प्रकार इष्ट प्राप्ति के सन्तोष को कहकर अनिष्टनिवृत्ति संतोष को कहते हैं—

अब मुझे सांसारिक दुःख या दुःखरूप संसार नहीं दीख पड़ता दुःख की अप्रतीति में कारण कहते हैं इससे मुझे धन्य है, धन्य है और अनेक कर्मों की वासनाओं का समूह मेरा अज्ञान कहीं पलायन हो गया अर्थात् नष्ट हो गया ॥२६३॥

अब अज्ञान निवृत्ति के फल और कृतकृत्यता को दिखाते हैं—

अब मुझे किंचित् (कुछ) कर्तव्य नहीं रहा इससे मैं धन्य हूँ धन्य हूँ और जो प्राप्त होने योग्य था वह सब प्राप्त हो गया इससे मैं धन्य हूँ मैं धन्य हूँ ॥२६४॥

इदानीं 'कृतकृत्यतया' (प्र० ७।२९१) इत्यादिना जातायास्तृप्तेर्निरतिशयत्वमाह्—

धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके ।

धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ।।२९५।।

अन्वय :—धन्योऽहं धन्योऽहं में तृप्तेः लोके का उपमा भवेत् धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यः धन्यः पुनः पुनः धन्यः ।

'धन्य इति'। इतः परं वक्तव्यादर्शनात्तुष्टिरेव परिस्फुरतीति दर्शयति – 'धन्य इति' ।।२९५।।

अस्य सर्वस्य कारणभूतपुण्यपुञ्जपरिपाकमनुस्मृत्य तुष्यतीत्याह—

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम् ।

अस्य पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम् ।।२९६।।

अन्वय :—अहो पुण्यं अहो पुण्यं दृढम् फलितं अस्य पुण्यस्य संपत्तेः अहो वयम अहो वयम् ।

'अहोपुण्यमिति'। एवंविधपुण्यसंपादकमात्मानमनुस्मृत्य तुष्यति 'अस्येति" ।।२९६।।

अब कृतकृत्यता अर्थात् कृतार्थता से उत्पन्न तृप्ति की निरतिशयता को कहते हैं—

अब आगे कोई वक्तव्य (कहने योग्य) नहीं दिखाई देता सन्तोष ही फुरता है मैं धन्य हूँ मैं धन्य हूँ, आज मेरी तृप्ति के समान लोक में तृप्ति कहाँ है इससे मुझे धन्य है धन्य है और फिर भी धन्य है धन्य है ।।२९५।।

इस पूर्वोक्त सन्तोष के कारणभूत पुण्यपुञ्ज (समूह) का फल का स्मरण करके भी ज्ञानी तृप्त होता है—

बड़ा पुण्य है बड़ा पुण्य है जिसका ऐसा दृढ़ फल हुआ और इस प्रकार पुण्य के सम्पादक जो हम वे भी महान् हैं। अर्थात् ऐसे आत्म स्वरूप हम आश्चर्य[1] स्वरूप हैं ।।२९६।।

विशेष १—आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः । आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।।गीता० २।२९।।

इदानीं सम्यग्ज्ञानसाधनं शास्त्रं तदुपदेष्टारमाचार्यमनुस्मृत्य तुष्यति—

अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः ।
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ॥२९७॥

अन्वयः—अहोशास्त्रं अहोशास्त्रं अहोगुरुः अहोगुरुः अहोज्ञानं अहोज्ञानं अहोसुखं अहोसुखम् ।
'अहो शास्त्रमिति' । पुनश्च शास्त्रजन्यं ज्ञानं तत्सुखं चानुस्मृत्य संतुष्यति— 'अहो ज्ञानमिति' ॥२९७॥

ग्रन्थाभ्यासफलमाह—

तृप्तिदीपमिमं नित्यं येऽनुसंदधते बुधाः ।
ब्रह्मानन्दे निमज्जन्तस्ते तृप्यन्ति निरन्तरम् ॥२९८॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकृतपञ्चदश्यां तृप्तिदीपाख्यं प्रकरणं समाप्तम् ॥७॥

अन्वयः—इमं तृप्तिदीपं ये बुधाः नित्यं अनुसंदधते ब्रह्मानन्दे निमज्जन्तः ते निरन्तरम् तृप्यन्ति 'तृप्तिदीपमिति' ॥२९८॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकिङ्करेण श्रीरामकृष्णाख्य-विदुषा विरचिता तृप्तिदीपव्याख्या समाप्ता ॥७॥

अब सम्यग ज्ञान के साधक शास्त्र और उसके उपदेशकर्ता आचार्य का स्मरण करके सन्तोष व्यक्त करते हैं —

यह शास्त्र आश्चर्य रूप है आश्चर्य रूप है । इसलिए गुरु भी आश्चर्य रूप है और इस शास्त्र से उत्पन्न हुआ ज्ञान और ज्ञान की प्राप्ति का उससे उत्पन्न हुआ सुख का स्मरण कर प्रसन्न होते हैं । सुख भी आश्चर्य रूप है अर्थात् सबसे उत्तम रूप है ॥२९७॥

अन्त में ग्रन्थाभ्यास का फल बताते हैं

जो बुद्धिमान् मनुष्य इस तृप्तिदीप का नित्य अनुसंधान विचार करते हैं । ब्रह्मानन्द में स्नान करते हुए वे निरन्तर तृप्त होते हैं ॥२९८॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यस्वामिश्रीकरपात्रशिष्य
श्रीडॉ०लक्ष्मणचैतन्यब्रह्मचारिविरचितलक्ष्मणचन्द्रिकाख्ये पञ्चदशीहिन्दीव्याख्याने
तृप्तिदीपप्रकरणविवेकाख्यं सप्तमं प्रकरणं समाप्तम् ।

कूटस्थदीपप्रकरणम्

चित्रदीप के २२वें श्लोक में कहा अर्थ रूप त्वंपद के लक्ष्यार्थ प्रत्यगात्मरूप कूटस्थ का दीपक की तरह् प्रकाश करने वाला प्रकरण रूप ग्रन्थ कूटस्थदीपप्रकरण है—

नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
कुर्वे कूटस्थदीपस्य व्याख्यां तात्पर्यदीपिकाम् ॥१॥

अत्र मुमुक्षोर्मोक्षसाधनस्य ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानस्य 'त्वं' पदार्थशोधनपूर्वकत्वात् 'त्वं' पदार्थशोधनपरं कूटस्थदीपाख्य ग्रन्थमारभमाण आचार्योऽस्य ग्रन्थस्य वेदान्तप्रकरणत्वेन तदीयैरेव विषयादिभिस्तद्वत्तासि-द्धिमभिप्रेत्य. 'त्वं' पदलक्ष्यवाच्यौ कूटस्थजीवौ सदृष्टान्तं भेदेन निर्दिशति—

खादित्यदीपिते कुड्ये दर्पणादित्यदीप्तिवत् ।
कूटस्थभासितो देहो धीस्थजीवेन भास्यते ॥१॥

अन्वयः—खादित्यदीपिते कुड्ये दर्पणादित्यदीप्तिवत् कूटस्थभासितो देहः धीस्थजीवेन भास्यते ।

'खादित्येति' । खादित्यदीपिते, खे आदित्यः, खादित्यः प्रसिद्धः सूर्य इत्यर्थः । तेन च तत्संबन्ध्यालोको लक्ष्यते, तेन दीपिते प्रकाशिते कुड्ये दर्पणादित्यदीप्तिवद्दर्पणेषु निपत्य पर्यावृत्तैश्च कुड्यसंबद्धैरादित्यरश्मि-भिस्तत्प्रकाशनमिव कूटस्थभासितः कूटस्थेनाविकारिचैतन्येन भासितः प्रकाशितो देहो धीस्थजीवेन बुद्धिस्थचिदाभासेन भास्यते प्रकाश्यते । अनेन सामान्यतो विशेषतश्च कुड्यावभासकादित्यप्रकाशद्वयमिव देहावभासकचैतन्यद्वयमस्तीति प्रतिज्ञातं भवति ॥१॥

श्री भारतीतीर्थ और विद्यारण्यमुनि को नमस्कार करके, मैं कूटस्थदीप प्रकरण की तात्पर्य दीपिका नामक व्याख्या करता हूँ ॥१॥

इस कूटस्थ दीप प्रकरण में मुमुक्षु के मोक्ष का साधन जो ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान, उसको त्वं पदार्थ के शोधन से जन्य होने के कारण त्वं पदार्थ के शोधन कूटस्थ दीप का प्रारम्भ करते हुए आचार्य त्वं पद लक्ष्य अर्थ और वाच्य अर्थ जो क्रम से कूटस्थ जीव है उनका भेद दृष्टान्त देकर दिखाते हैं—

आकाश के सूर्य से प्रकाशित कुड्य (भीत) को जैसे दर्पण का सूर्य प्रकाशित करता है । उसी प्रकार कूटस्थ से प्रकाशित किये, यह देह बुद्धि में स्थित जीव प्रकाशित करता है ॥१॥

आकाश में प्रसिद्ध जो सूर्य उसके प्रकाश से प्रकाशित हुई भित्ति पर पड़ी हुई दर्पण में प्रति-बिम्बित सूर्य की दीप्ति (आकाश) के समान अर्थात् दर्पण में पड़कर लौटे सूर्य के और भित्ति पर आकाश के सूर्य के इन दोनों से भित्ति के प्रकाश के समान कूटस्थ (अविकारी चैतन्य से प्रकाशित देह को बुद्धि में प्रतिबिम्बित चिदाभास प्रकाशित करता है)–इससे यह प्रतिज्ञात हुआ कि जैसे भित्ति के प्रकाशक सामान्य विशेष रूप दो प्रकाश सूर्य के हैं । इसी प्रकार देह के प्रकाशक दो चैतन्य हैं ॥१॥

ननु तत्र दर्पणादित्यदीप्तिव्यतिरेकेण खादित्यदीप्तिर्नोपलभ्यत इत्याशङ्क्य, ताभ्यस्तां विभज्य दर्शयति—

अनेकदर्पणादित्यदीप्तीनां बहुसंधिषु ।
इतरा व्यज्यते तासामभावेऽपि प्रकाशते ॥२॥

अन्वयः—अनेकदर्पणादित्यदीप्तीनां बहुसंधिषु इतरा व्यज्यते तासां अभावेऽपि (स्वयं) प्रकाशते ।

'अनेकेति' । या अनेका बहुदर्पणजन्याः कुड्ये तत्र तत्र मण्डलाकारविशेषप्रभा दृश्यन्ते, तासां संधौ मध्ये इतरा सामान्यप्रकाशरूपा खादित्यप्रभा व्यज्यते अभिव्यक्तोपलभ्यते । तासां दर्पणजन्यप्रभाणामभावे दर्पणापगमादिनाऽसत्त्वे च स्वयं सर्वत्र प्रकाशते ॥२॥

दृष्टान्तसिद्धमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—

चिदाभासविशिष्टानां तथाऽनेकधियामसौ ।
संधिं धियामभावं च भासयन्प्रविविच्यताम् ॥३॥

अन्वय :—तथा चिदाभास विशिष्टानां अनेकधियाम् संधिं (जाग्रदादौ) अभावं च भासयन् असौ प्रविविच्यताम् ।

'चिदाभासेति' । तथा तेनैव प्रकारेण चिदाभासविशिष्टानां चित्प्रतिबिम्बयुक्तानां अनेकधियामनेकासां बुद्धिवृत्तीनां घटज्ञानादिशब्दवाच्यानां संधिमन्तरालं जाग्रदादौ धियां तासामेव बुद्धिवृत्तीनामभावं च सुषुप्त्यादौ भासयन्प्रकाशयन् असौ कूटस्थः प्रविविच्यताम् । ताभ्यो भेदेन ज्ञायतामित्यर्थः ॥३॥

शंका—वहाँ दर्पण के सूर्य की दीप्ति के अतिरिक्त आकाश के सूर्य की दीप्ति नहीं मिलती है यह शंका करके दर्पण के सूर्य की दीप्तियों से आकाश के सूर्य की दीप्ति को पृथक करके दिखाते हैं—

अनेक दर्पणों के सूर्यों की दीप्तियों के मध्य की अनेक सन्धियों में आकाश के सूर्य की दीप्ति स्पष्ट है और उनके अभाव में भी प्रकाशित होती है ॥२॥

जो अनेक दर्पणों में प्रतिबिम्बत सूर्यों की दीप्ति वहाँ, वहाँ मण्डलाकार विशेष प्रभा दिखायी देती है। उनकी सन्धियों (मध्य-मध्य) में आकाश के सूर्य की दीप्ति भी सामान्य प्रकाश स्पष्ट प्रतीत होता है, यह प्रकाश दर्पणों से पैदा हुई प्रभाओं के हटा लेने पर अर्थात् उन दर्पणों से प्रक्षिप्त प्रकाशों के अभाव में, तथा होने पर भी वह सर्वत्र स्वयं प्रकाशित होती है। इसलिए वह उनसे भिन्न है ॥२॥

अब पूर्वोक्त दृष्टान्त से सिद्ध अर्थ को दार्ष्टान्तिक में घटाते हैं—

चिदाभास से युक्त अनेक बुद्धियों को और सन्धि बुद्धियों के अभाव को प्रकाश करते हुए कूटस्थ को भी आकाश के सूर्य की प्रभा के समान भिन्न जानो ॥३॥

इदानीं देहान्तः कूटस्थचिदाभासयोः भेदप्रदर्शनाय देहाद्वहिरपि चिदाभासब्रह्मणो विभज्य दर्शयति—

घटैकाकारधीस्था चिद्घटमेवावभासयेत् ।
घटस्य ज्ञातता ब्रह्मचैतन्येनावभासते ॥४॥

अन्वय :– घटैकाकारधीस्था चित् घटं एव अवभासयेत् घटस्य ज्ञातता (धर्मः) ब्रह्मचैतन्येन अवभासते ।

'घटेति' । घटैकाकारधीस्था चिद् घटस्यैकस्याकार इवाकारो यस्याः सा घटैकाकारा, तथा विधायां बुद्धौ वर्तमानश्चिदाभासः घटमेवावभासयेत्, तस्य घटस्य ज्ञातताख्यो धर्मो घटो ज्ञात इति व्यवहारहेतुर्यः स घटकल्पनाधिष्ठानेन ब्रह्मचैतन्येन साधनभूतेनावभासते, प्रकाशत इत्यर्थः ॥४॥

अब देह के मध्य में कूटस्थ और चिदाभास का भेद दिखाने के लिए देह से बाहर भी चिदाभास और ब्रह्म को पृथक्-पृथक् दिखाते हैं –

घटाकार वृत्ति में स्थित चैतन्य घट का ही प्रकाश करता है और घट की ज्ञातता का प्रकाश ब्रह्म चैतन्य से होता है ॥४॥

एक घट के समान है आकार जिसका ऐसी बुद्धि में वर्तमान जो चिदाभास वह एक घट को ही प्रकाशित करता है। परन्तु उस घट का जो "घट जान लिया" (आवरण की निवृत्ति इस व्यवहार का हेतु घट ज्ञातता नाम का धर्म है, वह धर्म तो घट कल्पना के अधिष्ठान साधनभूत ब्रह्म चैतन्य द्वारा ही प्रकाशित होता है ॥४॥

पूर्वोक्त दृष्टान्त की तरह (इसी प्रकार) चित् के प्रतिबिम्ब से युक्त जो अनेक बुद्धि की वृत्ति[1] घट ज्ञान आदि शब्दों के अर्थ रूप हैं और बुद्धि वृत्तियों को सन्धि को जाग्रत आदि अवस्थाओं में और उन्हीं पूर्वोक्त बुद्धिवृत्तियों के अभाव को सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में प्रकाशित करते हुए इस सामान्य चैतन्य रूप कूटस्थ को उन वृत्तियों से भिन्न जानो ॥५॥

विशेष १— वृत्ति का सामान्य लक्षण - विषयचैतन्याभिव्यंजकोऽन्तःकरणाज्ञानयोः परिणाविशेष वृत्तिः घटपटादि रूप विषय करके अवच्छिन्न जो चैतन्य है उसका नाम विषय चैतन्य उस विषय चैतन्य का अभिव्यञ्चक ऐसा जो अन्तःकरण का या अज्ञान का परिणाम विशेष है वह वृत्ति ज्ञान कहा जाता है। अपरोक्षव्यवहारजनकत्वं अभिव्यञ्जकत्वम् अयं घटः अयं घटः इस प्रकार जो अपरोक्ष व्यवहार है उस अपरोक्ष व्यवहार का जनक उन वृत्तियों में विषय चैतन्य का अभिव्यञ्जकपना है।

ननु ज्ञाततावभासकचैतन्येनैव घटप्रतीतिसंभवाद्बुद्धिः किमर्थेत्याशङ्क्य घटस्य ज्ञाततादिभेद-सिद्ध्यर्थेत्याह --

अज्ञातत्वेन ज्ञातोऽयं घटो बुद्ध्युदयात्पुरा ।
ब्रह्मणैवोपरिष्टात्तु ज्ञातत्वेनेत्यसौ भिदा ।।५।।

अन्वय : --बुद्ध्युदयात् पुरा अयं घटः अज्ञातत्त्वेन ब्रह्मणैव ज्ञातः उपरिष्टात् तु ज्ञातत्वेन इति असौ भिदा ।

'अज्ञातत्वेनेति' । बुद्ध्युदयात्पुरा अयं घटो ब्रह्मणैवाज्ञातत्वेन प्रकाशितो बुद्ध्युत्पत्तौ सत्यां ज्ञातत्वेन ब्रह्मणैव प्रकाशते इति इयानेव भेदः, नान्य इत्यर्थः ।।५।।

नन्वेकस्यैव घटस्य ज्ञातत्वाऽज्ञातत्वलक्षणं द्वैरूप्यं कथं संभवतीत्याशङ्क्य, तदवबोधनाय ज्ञातता-ऽज्ञाततानिमित्तयोर्ज्ञानाज्ञानयोः स्वरूपं तावद्दर्शयति--

चिदाभासान्तधीवृत्तिज्ञानं लोहान्तकुन्तवत् ।
जाड्यमज्ञानमेताभ्यां व्याप्तः कुम्भो द्विधोच्यते ।।६।।

चिदाभासान्तधीवृत्तिः चिदाभासश्चित्प्रतिबिम्बः सोऽन्ते पुरोभागे यस्याः सा धीवृत्तिर्ज्ञान-मित्युच्यते 'बोधेद्धा' बुद्धिः' इत्याचार्यैरभिधानात् । तत्र दृष्टान्तः · लोहान्तकुन्तवदिति' । जाड्यं स्वतः स्फूर्तिरहितत्वमज्ञानमित्युच्यते । एताभ्यां पर्यायेण व्याप्तः सर्वतः संबद्धः कुम्भो द्विधोच्यते, ज्ञात इति अज्ञात इति चोच्यते इत्यर्थः ।।६।।

यदि कहो कि ज्ञातता के प्रकाशक ब्रह्म चैतन्य से ही घट की प्रतीति हो जायेगी बुद्धि का क्या प्रयोजन यह शंका है घट की ज्ञातता भेद सिद्धि के लिए कहते हैं --

घटाकार हुई बुद्धि के उदय से पूर्व ब्रह्म से इसी घट का अज्ञात रूप से प्रकाश हुआ था और बुद्धि की उत्पत्ति के अनन्तर ज्ञात रूप से ब्रह्म ने प्रकाशित किया है यही भेद है अन्य नहीं ।।५।।

यदि कहो कि एक ही घट के ज्ञान और अज्ञान दो रूप कैसे हो सकते हैं यह शंका करके यह बताने के लिए पहले ज्ञातता एवं अज्ञातता के निमित्त ज्ञान और अज्ञान के स्वरूप को पृथक्-पृथक् दिखाते हैं--

भाले की नोक पर लगे लोह के समान चित्प्रतिबिम्ब को अग्र भाग में रखने वाली बुद्धि की वृत्ति, उसे ज्ञान और जड़ता को अज्ञान कहते हैं। इन दोनों से क्रमशः व्याप्त घट ज्ञात और अज्ञात भेद से दो प्रकार का होता है ॥६॥

चित्प्रतिबिम्ब जो चिदाभास वह पुर (अग्र) भाग में है, जिसके ऐसी जो बुद्धि की वृत्ति वह ज्ञान कहलाती है। आचार्यों ने बुद्धि का स्वरूप कहा है जो चेतन रूप बोध से इद्ध प्रकाशित वह बुद्धि है या वृत्ति में इद्ध प्रतिबिम्बित जो चैतन्य रूप बोध इसका नाम प्रभा है। यह दृष्टान्त है जैसा भाले के नोक पर लगे लोहे के समान है। जड़ता अर्थात् स्वतः प्रकाश रहित को अज्ञान कहते हैं उन ज्ञान और अज्ञानों से व्याप्त जो घट वह दो प्रकार का कहलाता है अर्थात् जाने हुए को ज्ञात और न जाने हुए को अज्ञात कहते हैं ॥६॥

विशेष १— बोधेन इद्धा प्रकाशिताः प्रतिफलितायां वृत्तौ प्रतिबिम्बितं चैतन्यम्। प्रभा ज्ञान है वह प्रभा ज्ञान भी (१) ईश्वराश्रय और (२) जीवाश्रय यह भेद करके दो प्रकार है "ईक्षणा-परपर्यायस्रष्टव्यविषयाकारमाया वृत्तिप्रतिबिम्बिता चित् ईश्वराश्रय प्रभा"—सृष्टि के आदि काल में आगे उत्पन्न होने वाले जगत् को विषय करने वाली जो माया वृत्ति है इस वृत्ति को श्रुति में ईक्षण कहा है। इस माया वृत्ति में प्रतिबिम्बित जो चैतन्य है वह ईश्वराश्रय प्रमा है। तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयं वह माया उपहित परमेश्वर सृष्टि के आदि काल में बहुत रूप होकर उत्पन्न होऊँ इस प्रकार ईक्षण करता है जीवों के कर्म जो सूक्ष्म रूप से माया में रहते हैं उन कर्मों के भोग देने को सन्मुख होते हैं तब ईश्वर की इच्छा होती है वही ईक्षण है। अब जीवाश्रया प्रमा का निरूपण करते हैं। अनधिगत अबाधित विषयाकारा अन्तःकरणवृत्ति प्रतिबिम्बिताचित् जीवाश्रया—अनधिगत अज्ञात अर्थात् बोध ने नहीं विषय किया हुआ तथा अबाधित बाध से रहित ऐसा जो विषय उस विषय के आकार जो अन्तःकरण की वृत्ति है उस वृति में प्रतिबिम्बित चैतन्य है वह जीवाश्रय प्रमा कही है। २ परि० तत्त्वानुसंधान में देखिए विशेष।

नन्वज्ञातस्य कुम्भस्य अज्ञानव्याप्तत्वाद्भवतु ब्रह्मावभास्यत्वं, ज्ञानव्याप्तस्य तु ज्ञातस्य कुम्भस्य कुतो ब्रह्मचैतन्यावभास्यत्वमित्याशङ्क्य, अज्ञानस्य अज्ञातताजननमात्रेणैव ज्ञानस्यापि ज्ञातताजननमात्रेणो-पक्षीणत्वादज्ञातकुम्भवज्ज्ञातस्यापि ब्रह्मावभास्यत्वं भवतीत्याह—

अज्ञातो ब्रह्मणा भास्यो ज्ञातः कुम्भस्तथा न किम् ।

ज्ञातत्वजननेनैव चिदाभासपरिक्षयः ॥७॥

अन्वय :—अज्ञातः ब्रह्मणा भास्यः ज्ञातः कुम्भः तथा न किम् ज्ञातत्वं जननेनैव चिदाभास परिक्षयः ।

'अज्ञात इति' । यथा अज्ञातकुम्भो ब्रह्मणा भास्यस्तथा ज्ञातकुम्भो न किं ब्रह्मावभास्यो भवति ? किंतु भवत्येवेत्यर्थः । कुत इत्यत आह— 'ज्ञातत्वेति' ॥७॥

नन्वज्ञातताजननाय अज्ञानमिव ज्ञातताजननायापि बुद्धिरेवालम्, किमनेन चिदाभासेनेत्याशङ्क्य, चिदाभासरहिताया बुद्धेर्घटादिवदप्रकाशरूपत्वेन ज्ञातताजननं न संभवतीत्याह—

आभासहीनया बुद्ध्या ज्ञातत्वं नैव जन्यते ।

तादृग्बुद्धेर्विशेषः को मृदादेः स्याद्विकारिणः ॥८॥

अन्वय :—आभासहीनया बुद्ध्या ज्ञातत्वं नैव जन्यते तादृग्बुद्धेः विकारिणः मृदादेः कः विशेषः स्यात् ।

'आभासेति' ॥८॥

यदि कहो कि अज्ञात घट का अज्ञान से व्याप्त ब्रह्म से प्रकाशित रहे और ज्ञान से व्याप्त (ज्ञात) जो घट उसका ब्रह्म चैतन्य से प्रकाश क्यों मानते हो । यह शंका करके कहते हैं—जैसे अज्ञातता को पैदा करके अज्ञान उपक्षीण है ऐसे ज्ञातता को पैदा करके ज्ञान भी उपक्षीण है । इसलिए अज्ञान घट के समान ज्ञान घट भी ब्रह्म से ही प्रकाश होता है जैसे अज्ञात घट ब्रह्म से भासमान होता है वैसे ही ज्ञात घट भी ब्रह्म से प्रकाशमान क्यों न होगा किन्तु अवश्य होगा, क्योंकि ज्ञातता को पैदा करके ही चिदाभास का परिक्षय (नाश) कृतार्थ हो जाता है ॥७॥

यदि कहो कि जैसे अज्ञातता की उत्पत्ति के लिए अज्ञान पर्याप्त है । ऐसे ही ज्ञातता की उत्पत्ति के लिए बुद्धि ही पर्याप्त है फिर चिदाभास का क्या प्रयोजन है यह शंका करके कहते हैं—

चिदाभास से रहित जो बुद्धि है वह ज्ञातता को पैदा नहीं कर सकती, कारण यह है कि चिदाभास से रहित बुद्धि में और विकार रूप मिट्टी आदि में कुछ विशेष (भेद) नहीं है (अर्थात् चिदाभास से रहित बुद्धि घट आदि के समान अप्रकाश रूप हैं इससे ज्ञातता को पैदा नहीं कर सकती है) ॥८॥

चिदाभासरहितबुद्धिव्याप्तस्य घटस्य ज्ञातत्वाभावं दृष्टान्तप्रदर्शनेन स्पष्टयति—

ज्ञात इत्युच्यते कुम्भो मृदा लिप्तो न कुत्रचित् ।
धीमात्रव्याप्तकुम्भस्य ज्ञातत्वं नेष्यते तथा ।।९।।

अन्वय :—मृदा लिप्तः कुत्रचित् कुम्भः ज्ञातः इति न उच्यते तथा धीमात्रव्याप्तकुम्भस्य ज्ञातत्वं नेष्यते ।

'ज्ञात इति' । लोके कुत्रचिदपि घटो मृदा शुक्लकृष्णरूपया लिप्तो लेपनं प्राप्तो ज्ञात इति नोच्यते यथा तथा चिदाभासरहितबुद्धिव्याप्तस्यापि कुम्भस्य ज्ञातत्वं नाभ्युपगम्यत इति भावः ।।९।।

फलितमाह —

ज्ञातत्वं नाम कुम्भेऽतश्चिदाभासफलोदयः ।
न फलं ब्रह्मचैतन्यं मानात्प्रागपि सत्त्वतः ।।१०।।

अन्वय :—ज्ञातत्वं नाम अतः चिदाभासफलोदयः न फलं प्रागपि सत्त्वतः मानात् चैतन्यं (भासते) ।

'ज्ञातत्वमिति' । यतः केवलाया बुद्धेर्ज्ञातत्वजननासमर्थत्वमतः कुम्भे चिदाभासलक्षणस्य फलस्योत्पत्तिरेव ज्ञातत्वं नाम प्रसिद्धमित्यर्थः । नन्वथापि चिदाभासो न कल्पनीयः ब्रह्मचैतन्यस्यैव फलस्य सद्भावादित्याशङ्क्याह—'न फलमिति' । ब्रह्मचैतन्यं फल घटादिस्फुरणं न भवतीति कुत इत्यत आह—'मानादिति' । मानात्प्रागपि प्रमाणप्रवृत्तेः पूर्वमपि विद्यमानत्वात्, फलस्य तु तदुत्तरकालीनत्वनियमादिति भावः ।।१०।।

अब चिदाभास रहित बुद्धि से व्याप्त घट को ज्ञातता का अभाव दृष्टान्त से स्पष्ट करतेहैं—

जैसे जगत् में शुक्ल, कृष्ण मिट्टी से लिपे व्याप्त घट को कोई भी यह ज्ञात है" ऐसा कोई नहीं कहता ऐसे ही चिदाभास से रहित केवल बुद्धि से व्याप्त घट को ज्ञात नहीं मानते ।।९।।

अब फलित (तात्पर्य) का वर्णन करते हैं—

इससे घट में चिदाभास रूप फल की उत्पत्ति होना ही ज्ञातता है प्रमाण से पहले भी विद्यमान होने से ब्रह्मचैतन्य फल नहीं हो सकता ।।१०।।

जिससे केवल बुद्धि ज्ञातता के पैदा करने में समर्थ नहीं है इससे कुम्भ में चिदाभास रूप फल की जो उत्पत्ति वही ज्ञातता नाम से प्रसिद्ध है ।

शंका—करो कि ब्रह्म चैतन्य रूप फल के रहते चिदाभास की कल्पना नहीं करनी चाहिए। समाधान—क्योंकि ब्रह्म चैतन्य को फल नहीं कह सकते घटादि स्फुरण रूप फल पीछे होता है। क्योंकि वह मान (प्रमाण वृत्ति से) पहले समय में ही विद्यमान है और घटादिस्फुरण रूप फल प्रमाण नियम से उस के पश्चात् (उत्तर काल में) हुआ करता है[1]। ।१०।।

विशेष १— जैसे टंकी में भरा पानी छिद्र द्वारा निकल कर नाली के आकार में होकर खेत की क्यारी में जाकर उस क्यारी के आकार का हो जाता है, ऐसे ही देह में स्थित जो अन्तःकरण वह इन्द्रिय रूप छिद्रों से निकलकर (खेत स्थानीय) घटादि विषयों में जाकर उनके आकार का हो जाता है यहाँ अवच्छेदवाद की रीति से चार प्रकार का चेतन है— (१) अन्तःकरण विशिष्ट चेतन "प्रमाता' चेतन है। (२) इन्द्रियों से लेकर विषय पर्यन्त जो वृत्ति है उससे विशिष्ट चेतन "प्रमाण चेतन है घटादि अवच्छिन्न चेतन जब अज्ञात होता है तब विषय चेतन और प्रमेय चेतन हो जाता है और (४) जब वह ज्ञात होता है तब उसको फल चेतन (प्रमिति) चेतन (प्रमा चेतन) कहते हैं। यह वाचस्पतिमिश्र का कहना है अर्थात् धर्मीजीव, धर्म-कर्ता-भोक्ता प्रमाता का भान नहीं होता किन्तु सन्निधि मात्र से ही होता है जैसे ऊष्णं जलम्। अब आभासवाद की रीति से (१) चिदा-भास आभास सहित अन्तःकरण विशिष्ट चेतन प्रमाता चेतन है। (२) साभासवृत्ति विशिष्ट चेतन प्रमाण चेतन है (३) और घटादि अवच्छिन्न चेतन विषय चेतन उसी को प्रमेय चेतन भी कहते हैं और (४) वृत्ति के सम्बन्ध से घटादि में जो चेतन का प्रतिबिम्ब नाम आभास होता है वह फल चेतन है। घटादि अवच्छिन्न ब्रह्म चेतन फल नहीं है। इतना भेद है। अर्थात् आभासवाद सुरेश्वराचार्य का है। धर्मी धर्म दोनों का बाध जैसे रज्जू व्यावहारि-सर्प प्रातिभासि इन दोनों का बाध रज्जू अवच्छिन्न पारमार्थिक चैतन्य के ज्ञान से ऐसे ही आधारमात्र ब्रह्म के ज्ञान से आभास का धर्मी धर्म रूप से उच्छेद (बाध) हो जाता है——धर्मी जीव अनादि अनिर्वचनीय अविद्या और धर्म कर्ता भोक्ता प्रमातादि आधार ब्रह्म के विशेष ज्ञान से आभास (चिदाभास) की निवृत्ति हो जाती है। अब संक्षेप शा० सर्वज्ञात्ममुनि (नित्य बोधाचार्य वह दूरा नाम है) प्रतिबिम्बवाद है। धर्ममात्र का उच्छेद होता है। धर्मी अधिष्ठान स्वरूप है जैसे दर्पण में दूरत्व वैपरीत्य उपाधि से भान रहा है। अन्तःकरण रूप दर्पण को हटा देना या मुखाकार चरम वृत्ति से मूलाऽविद्या का उच्छेद हो जाता है ब्रह्म विद्या के संस्कार से प्रतिबिम्ब काला बिन्दु दर्पण का व्यवधान है।

शुद्धमीश्वरचैतन्यं जीवचैतन्यमेव च। प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं च फलं तथा। इति सप्तविधं प्रोक्तं भिद्यते व्यवहारतः। मायोपाधिविनिर्मुक्तं शुद्धमित्यभिधीयते। माया संबन्धतश्चेशो जीवोऽविपद्यावशस्तथा। अन्तःकरण संबन्धात् प्रमातेत्यभिधीयते। तथा तद्वृत्तिसंबन्धात् प्रमाणमिति कथ्यते। अज्ञातमपि चैतन्यं प्रमेयमिति कथ्यते। तथा ज्ञानं च चैतन्यं फलमित्यभिधीयते।

(कठरुद्र उ० ३।)

नन्विदं 'परागर्थप्रमेयेषु' इत्यादि 'सुरेश्वर'वार्तिकविरुद्धमित्याशङ्क्य तद्विवक्षानभिज्ञस्य इदं चोद्यमिति परिहरति—

परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन संमता।
संवित्सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः ॥११॥

अन्वय :—परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन संमता सैव इह संवित् वेदान्तोक्तिप्रमाणतः मेयो अर्थः।

'परागर्थेति'। अस्य चायमर्थः - परागर्था बाह्या घटादयः पदार्थास्तेषु प्रमेयेषु प्रमाणविषयेषु सत्सु या प्रमाणफलत्वेनाभ्युपेता संविदस्ति, सैवेहास्मिन्वेदान्तशास्त्रे वेदान्तोक्तिप्रमाणतो वेदान्तवाक्य-लक्षणप्रमाणेन मेयोऽर्थो ज्ञातव्योऽर्थः ॥११॥

इति वार्तिककारेण चित्सादृश्यं विवक्षितम्।
ब्रह्मचित्फलयोर्भेदः सहस्र्यां विश्रुतो यतः ॥१२॥

अन्वय :—इति वार्तिककारेण चित्सादृश्यं विवक्षितम् ब्रह्मचित्फलयोः यतः सहस्र्यां (उपदेश सहस्र्यां) यतः भेदः विश्रुत।

इत्यनेन वार्तिकेन ब्रह्मचैतन्यसदृशश्चिदाभासः प्रमाणफलत्वेन विवक्षितो न ब्रह्मचैतन्यमिति भावः। वार्तिककारागमोदृशी विवक्षेति कुतोऽवगम्यत इत्याशङ्क्य, तद्गुरुभिः श्रीमदाचार्यैरुपदेशसाहस्र्यां ब्रह्मचैतन्यचिदाभासयोर्भेदस्य प्रतिपादितत्वादित्याह - 'ब्रह्मचिदिति'। ब्रह्मचिच्च फलं च ब्रह्मचित्फले, तयोरिति विग्रहः ॥१२॥

यदि कहो कि "परागर्थ प्रमेयेषु" इत्यादि जो सुरेश्वर का वार्तिक है यह उससे विरुद्ध है। यह उनके वाक्य का तात्पर्य न समझकर यह शंका है उसका समाधान—

इसका अर्थ यह है कि पराक् (बाह्य) जो घट आदि पदार्थ है जब प्रमेय अर्थात् प्रमाणों के विषय बनते हैं, तब जो प्रमाण का फल रूप ज्ञान (संवित्) है वही ज्ञान (संवित्) इस वेदान्त शास्त्र में वेदान्त वाक्यरूपी प्रमाणों से मेय (जानने योग्य) अर्थ माना है अर्थात् उसके फल को हम मेय कहते हैं ॥११॥

इस पूर्वोक्त सुरेश्वर वार्तिककार ने ब्रह्म चैतन्य सदृश चिदाभास को प्रमाण का फल माना है यह वार्तिककार का इससे जानते हैं कि उनके गुरु श्रीमान् शङ्कराचार्य ने उपदेश साहस्री ग्रन्थ में ब्रह्म चैतन्य और चिदाभास का भेद कहा है। अर्थात् ब्रह्म चैतन्य तथा ब्रह्मचैतन्य का फल (चिदाभास) को भिन्न-भिन्न बताया है ॥१२॥

एवं च सति प्रकृते किमायातमित्यत आह—

आभास उदितस्तस्माज्ज्ञातत्वं जनयेद् घटे ।
तत्पुनर्ब्रह्मणाभास्यमज्ञातत्ववदेव हि ॥१३॥

अन्वय :— तस्मात् घटे उदितः आभासः घटे ज्ञातत्वं जनयेत् तत्पुनः ब्रह्मणाभास्यं अज्ञातत्ववत् एव हि ।

'आभास इति' । यस्माद्ब्रह्मचित्फलयोर्भेदः, प्रसिद्धः तस्माद्घटे उदित उत्पन्न आभासश्चिदाभासस्तत्र घटे ज्ञातत्वं पुनरज्ञातत्ववद् ब्रह्मणैवाभास्यं भवति । हि प्रसिद्धमित्यर्थः ॥१३॥

एवं ब्रह्मचिदाभासयोर्भेदमुपपादितं विषयभेदप्रदर्शनेन स्पष्टयति —

धीवृत्याभासकुम्भानां समूहो भास्यते चिदा ।
कुम्भमात्रफलत्वात्स एक आभासतः स्फुरेत् ॥१४॥

अन्वय :—चिदा धीवृत्याभासकुम्भानां समूहः भास्यते स एकः कुम्भमात्रफलत्वात् आभासतः स्फुरेत् ।

'धीवृत्येति' । चिदा ब्रह्मचैतन्येनेत्यर्थः । चिदाभासस्य कुम्भमात्रनिष्ठफलरूपत्वात्तेनाभासेन स घट एक एव स्फुरेत्, भासेतेत्यर्थः ॥१४॥

ऐसा होने पर प्रकरण में क्या आया इस पर कहते हैं—

क्योंकि ब्रह्मचित् और चिदाभास का भेद प्रसिद्ध है। इसलिए घट में उत्पन्न हुआ चिदाभास उसमें ज्ञातता को उत्पन्न करता है और फिर वह ज्ञातता अज्ञातता के समान ब्रह्म से ही भासित होती है यह बात प्रसिद्ध है ॥१३॥

इस प्रकार ब्रह्मचित् और आभास के कहे हुए भेद को विषय भेद दिखाकर स्पष्ट करते हैं—

ब्रह्मचैतन्य से इन्द्रियों द्वारा निर्मल बुद्धि वृत्ति (१) और चिदाभास (२) और घट इन तीनों के समूह का प्रकाश होता है और चिदाभास अकेले घट में रहने वाला वर्तमान फल है। इससे चिदाभास से केवल घट का ही स्फुरण (प्रकाश) होता है ॥१४॥

कुम्भस्य चिदाभासब्रह्मोभयभास्यत्वे लिङ्गमाह—

चैतन्यं द्विगुणं कुम्भे ज्ञातत्वेन स्फुरत्यतः ।
अन्येऽनुव्यवसायाख्यमाहुरेतद्यथोदितम् ॥१५॥

अन्वयः—अतः ज्ञातत्वेन कुम्भे चैतन्यं द्विगुणं अन्ये एतत् यथोदितं अनुव्यवसायाख्यं आहुः ।

चैतन्यमिति'। अतो घटस्य ब्रह्मचिदाभासोभयभास्यत्वात्कुम्भे ज्ञातत्वेन द्विगुणं चैतन्यं भाति । इदमेव घटज्ञाततावभासकं चैतन्यं तार्किकैर्नामान्तरेण व्यवह्रियत इत्याह —'अन्य इति'। यथोदितं यथोक्तमेतदेव ब्रह्मचैतन्यं अन्ये तार्किका अनुव्यवसायाख्यं ज्ञानान्तर प्राहुरिति योजना ॥१५॥

अयं घट' इति व्यवहारभेदादपि चिदाभासब्रह्मणोर्भेदोऽवगन्तव्य इत्याह-

घटोऽयमित्यसावुक्तिराभासस्य प्रसादतः ।
विज्ञातो घट इत्युक्तिर्ब्रह्मानुग्रहतो भवेत् ॥१६॥

अन्वयः—घटोऽयं इति असौ उक्तिः आभासस्य प्रसादतः ब्रह्मानुग्रहतः विज्ञातो घटः इत्युक्तिः भवेत् ।

'घटोऽयमिति ॥१६॥

अब कुम्भ का प्रकाश चिदाभास और ब्रह्म दोनों से होता है । इसमें लिङ्ग को कहते हैं —

इसलिए घट में द्विगुण चैतन्य प्रतीत होने लगता है । वह ब्रह्म से ज्ञात होकर स्फुरता है अर्थात् ब्रह्म चिदाभास दोनों से प्रकाशित होता है और इसी घट की ज्ञातता के अवभासक चैतन्य को दूसरे नैयायिक उपरोक्त घट की ज्ञातता के अवभासक ब्रह्म चैतन्य को अनुव्यवसाय नाम का ज्ञान मानते हैं । (ज्ञान के ज्ञान का नाम अनुव्यवसाय ज्ञान है) ॥१५॥

यह घट है इस व्यवहार के भेद से भी चिदाभास ब्रह्म का भेद मानने योग्य है, यह वर्णन करते हैं —

"यह घट है" यह व्यवहार तो आभास की सहायता से होता है और "घट को जान लिया यह कथन ब्रह्म के अनुग्रह से होता है ॥

देहाद्बहिश्चिदाभासब्रह्मणी विविच्येते यथा तथादेहान्तश्चिदाभास[1]कूटस्थौ[2]विवेचनीयावित्याह—

आभासब्रह्मणो देहाद्बहिर्यद्वद्विवेचिते ।
तद्वदाभासकूटस्थौ विविच्येतां वपुष्यपि ॥१७॥

अन्वयः—देहाद् बहिः यद्वत् आभासब्रह्मणी विवेचिते तद्वत् वपुषि अपि आभास कूटस्थौ विविच्येतां ।
'आभासेति' ॥१७॥

ननु देहाद्बहिश्चिदाभासव्याप्यघटाकारवृत्तिवदान्तरविषयगोचरवृत्यभावात्कथं तद्व्यापकश्चिदाभासोऽभ्युपगम्यत इत्याशङ्क्य, विषयगोचरवृत्यभावेऽप्यहमादिवृत्तिसद्भावात्तद्व्यापकश्चिदाभासोऽभ्युपगन्तुं शक्यत इति सदृष्टान्तमाह—

अहंवृत्तौ चिदाभासः कामक्रोधादिकासु च ।
संव्याप्य वर्तते तप्ते लोहे वह्निर्यथा तथा ॥१८॥

अन्वयः—अहं वृत्तौ चिदाभासः कामक्रोधादिकासु च संव्याप्य तथा वर्तते यथा तप्ते लोहे वह्निः ।
'अहमिति' ॥१८॥

जैसे शरीर के बाहर चिदाभास और ब्रह्म विवेचित है वैसे ही देह के भीतर भी चिदाभास और कूटस्थ का विवेक करना चाहिए—

जिस प्रकार चिदाभास और ब्रह्म का विवेक देह से बाहर किया है। उसी प्रकार चिदाभास और कूटस्थ का विवेक देह के भीतर भी करना चाहिए ॥१७॥

यदि कहो कि जैसे देह के बाहर चिदाभास के द्वारा व्याप्य घटाकार वृत्ति की तरह, ऐसे देह के भीतर किसी विषय गोचर वृत्ति नहीं है। इससे उसके व्यापक चिदाभास को कैसे मानते हो इस शंका का उत्तर देते हैं क्योंकि विषयाकार वृत्ति के अभाव में भी अहमाकार वृत्ति के होने से उसके व्यापक चिदाभास का स्वीकार दृष्टान्त से कहते हैं—

अहंवृत्ति और काम क्रोध आदिकों में चिदाभास उस प्रकार व्याप्त होकर रहता है जैसे—तपे लोहे में अग्नि एक रूप प्रतीत होती है ॥१८॥

विशेष १—आभासस्यापि जडाजडविलक्षणत्वेन अनिर्वचनीयत्वात्। आभास जड और चेतन से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है।

२—एकरूपतया तु यः कालव्यापी स कूटस्थः। एक ही रूप से जो तीनों कालों में व्यापक नित्य हो उसको कूटस्थ कहते हैं। तेन शुद्धचैतन्यस्य आभास एव बन्धस्तन्निवृत्तिश्चमोक्षः। इससे शुद्ध चैतन्य का आभास ही बन्ध है और उसकी निवृत्ति ही मोक्ष है।

अहमादिवृत्तीनामेव चिदाभासभास्यत्वदृष्टान्तप्रपञ्चनेन स्पष्टयति —

स्वमात्रं भासयेत्तप्तं लोहं नान्यत्कदाचन ।
एवमाभाससहिता वृत्तयः स्वस्वभासिकाः । १९।

अन्वयः—लोहं तप्तं सत् स्वमात्रं भासयेत् अन्यत् कदाचन न एवं आभाससहितः वृत्तयः स्वस्वभासिकाः 'स्वमात्रमिति' ।।१९।।

एवं चिदाभासं व्युत्पाद्य, कूटस्थस्वरूपं व्युत्पादयितुं तदुपयोगिनं वृत्त्यभावावसरं दर्शयति —

क्रमाद्विच्छिद्य विच्छिद्य जायन्ते वृत्तयोऽखिलाः ।
सर्वा अपि विलीयन्ते सुप्तिमूर्च्छासमाधिषु ।।२०।।

अन्वयः - अखिलाः वृत्तयः क्रमात् विच्छिद्य विच्छिद्य जायन्ते सर्वा अपि सुप्तिमूर्च्छासमाधिषु विलीयन्ते ।

'क्रमादिति' ।।२०।।

अब अहमादि वृत्तियों का चिदाभास से प्रकाश है दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं —

जैसे तपा लोहा केवल अपने आपको ही प्रकाशित करता है दूसरी किसी वस्तु को कभी प्रकाशित नहीं करता. ऐसे ही चिदाभास सहित अहमादि वृत्तियाँ अपनी-अपनी[१] प्रकाशक हैं ।।१९।।

इस प्रकार चिदाभास को कहकर कूटस्थ का स्वरूप कहने के लिए उसके उपयोगी वृत्तियों के अभावों का समय दिखाते हैं

इस प्रकार विच्छेद २ से (पृथक्-पृथक) क्रमशः रुक-रुक कर सम्पूर्ण वृत्तियाँ जाग्रत और स्वप्न में क्रम से होती हैं और वे सम्पूर्ण वृत्तियाँ सुषुप्ति, मूर्छा, समाधि में विलीन (नष्ट) हो जाती हैं नहीं रहतीं ।।२०।।

विशेष—(१) वृत्ति लक्षण इसी प्रकरण के तीसरे श्लोक में दिखा दिया है । विषय चै० तत्त्वानुसन्धान ग्रन्थ में प्रकाशक (आवरण निवर्तकत्वं अभिव्यञ्जकत्वम्) यद्यपि माया और अन्तःकरण के परिणाम को वृत्ति कहा है और वृत्ति प्रभाकर में अस्ति व्यवहार के हेतु अविद्या और अन्तःकरण के परिणाम को वृत्ति कहा है और इससे माया और अन्तःकरण का ज्ञान रूप परिणाम ही वृत्ति शब्द का अर्थ है परिणाम मात्र नहीं इससे क्रोध सुखादिक अनेक परिणामों को वृत्ति मानकर वृत्ति के विषय का अभाव कहना बनता नहीं । किन्तु वह सब परिणाम ही वृत्ति के विषय हैं और उनकी प्रकाशक सत्त्व गुण के परिणाम रूप वृत्ति उससे अन्य होती है । तथापि सुख, दुःख, काम, क्रोध, तृप्ति, क्षमा, धृति, अधृति, लज्जा, भय आदि सब अन्तःकरण के परिणामों का अनेक स्थलों में वृत्ति शब्दों का व्यवहार किया है । इससे स्थूल बुद्धि वाले अधिकारियों से सुगमता से समझने के निमित्त इस ग्रन्थकार ने भी अन्तःकरण के परिणाम मात्र का वृत्ति शब्द से व्यवहार किया है ।

भवत्वेवं समाध्यादौ वृत्तिविलयः अनेन कथं कूटस्थोऽवगम्यत इत्याशङ्क्य, वृत्त्यभावसाक्षित्वेनासाववगम्यते इत्याह—

संधयोऽखिलवृत्तीनामभावाश्चावभासिताः ।
निर्विकारेण येनासौ कूटस्थ इति चोच्यते ॥२१॥

अन्वयः—अखिलवृत्तीनां संधयः अभावाश्च (चैतन्येन) अवभासिताः निर्विकारेण चैतन्येन येन असौ कूटस्थः इति च उच्यते ।

'संधय इति' । वृत्तिसंधयो वृत्त्यभावाश्च येन चैतन्येनावभास्यन्ते स कूटस्थोऽवगन्तव्य इत्यर्थः ॥२१॥

एवं च सति किं फलितमित्यत आह—

घटे द्विगुणचैतन्यं यथा बाह्ये तथाऽन्तरे ।
वृत्तिष्वपि ततस्तत्र वैशद्यं संधितोऽधिकम् ॥२२॥

अन्वय :—बाह्ये घटे यथा द्विगुणचैतन्यं तथा आन्तरे वृत्तिषु अपि ततः तत्र संधितः अधिकम् वैशद्यं (दृश्यते) ।

'घट इति' । बाह्ये घटे यथा घटमात्रावभासकश्चिदाभासो घटस्य ज्ञाततावभासकं ब्रह्मचैतन्यं चेति चैतन्यद्वैगुण्यं तथान्तरेऽहंकारादिवृत्तिष्वपि कूटस्थचैतन्यं वृत्त्यवभासकश्चिदाभासश्चेति द्विगुणचैतन्यमस्ति तत्रोपपत्तिमाह—'तत् इति' । यतो द्विगुणचैतन्यमस्ति ततः संधितः संधिभ्यस्तत्र वृत्तिषु वैशद्यमधिकं दृश्यत इति शेषः ॥२२॥

कहो कि इस प्रकार समाधि आदि में वृत्तियों का अभाव रहे । इससे कूटस्थ की सिद्धि कैसे हो सकती है । वृत्तियों के अभाव का साक्षी रूप से कूटस्थ का ज्ञान होता है—

सम्पूर्ण वृत्तियों की संधियां (जब एक वृत्ति नष्ट होकर दूसरी उत्पन्न होने को होती है) और अभावों का जिस निर्विकार चैतन्य से प्रकाशित (ज्ञात) होते हैं उसको कूटस्थ कहते हैं । कूटस्थ का ज्ञान वृत्ति अभाव के साक्षी के रूप में सम्भव है ॥२१॥

अब फलित का वर्णन करते हैं—

जैसे बाह्य घट में द्विगुण चैतन्य है अर्थात् घटमात्र का अवभासक (प्रकाशक) चिदाभास और घटकी ज्ञातता का अवभासक ब्रह्म चैतन्य ये दो हैं । वैसे अन्तर (भीतर) अहंकार आदि वृत्तियों में भी कूटस्थ चैतन्य और वृत्तियों का अवभासक चिदाभास यह द्विगुण चैतन्य है और जिससे द्विगुण चैतन्य है । इसी से संधियों की अपेक्षा वृत्तियों में अधिक वैशद्य (निर्मलता) देखते हैं ॥२२॥

नन्वत्रापि घटादिष्विव ज्ञातताऽज्ञातताभासकत्वेन कूटस्थः किं नेष्यत इत्याशङ्क्य, तत्र ज्ञातताद्यभावादेवेत्याह—

ज्ञातताज्ञातते न स्तो घटवद्वृत्तिषु क्वचित् ।
स्वस्य स्वेनागृहीतत्वात्ताभिश्चाज्ञाननाशनात् ॥२३॥

अन्वय :—क्वचित् घटवत्वृत्तिषु ज्ञातताज्ञातते न स्तः स्वस्य स्वेन अगृहीतत्वात् ताभिश्च अज्ञाननाशनात् ।

'ज्ञाततेति' । तत्रोपपत्तिमाह—'स्वस्येति' । ज्ञानाज्ञानव्याप्तिभ्यां ज्ञातताज्ञातते भवतः, वृत्तीनां तु स्वप्रकाशत्वेन ज्ञानव्याप्तिर्नास्ति, ताभिर्वृत्तिभिः स्वोत्पत्तिमात्रेण स्वगोचराज्ञानस्य निवर्तितत्वादज्ञानस्य व्याप्तिरपि नास्तीति भावः ॥२३॥

शंका—हो यहाँ भी घट आदियों के समान ज्ञातता अज्ञातता के अवभासक कूटस्थ क्यों नहीं मानते उत्तर देते हैं—

घट के समान वृत्तियों में ज्ञातता अज्ञातता नहीं क्योंकि अपना आपा अपने आपसे गृहीत नहीं होता उन वृत्तियों से अज्ञान का नाश हो जाता है ।

घट के समान कहीं भी वृत्तियों में ज्ञातता अज्ञातता नहीं होती एक तो अपना आपा अपने से गृहीत नहीं होता दूसरा उसके उत्पन्न होते ही उसमे अज्ञान का नाश हो जाता है । ज्ञान की और अज्ञान की व्याप्ति से क्रमशः ज्ञातता (ज्ञान का विषय होना) और अज्ञातता (अज्ञान का विषय होना) उत्पन्न होती है और वृत्तियाँ स्वप्रकाश हैं । इसलिए उनसे ज्ञान की व्याप्ति नहीं होती (इसलिए ज्ञातता भी नहीं होती) और ये वृत्तियाँ उत्पन्न होते ही स्वविषयक अज्ञान को हटा देती है इसलिए अज्ञान व्याप्ति भी उनमें नहीं रहती अज्ञातता भी नहीं होती (इस प्रकार कूटस्थ वृत्ति सम्बन्धी ज्ञातता का अवभासक नहीं माना जाता ॥२३॥

ननु कूटस्थचिदाभासयोरुभयोरपि चित्त्वे समाने एकस्य कूटस्थत्वमपरस्य अकूटस्थत्वमित्येतत्कुत इत्याशङ्क्य, चिदाभासनिष्ठयोर्जन्मनाशयोरनुभूयमानत्वादस्य अकूटस्थत्वमपरस्य विकारित्वे प्रमाणाभावादित्याह—

द्विगुणीकृतचैतन्ये जन्मनाशानुभूतितः ।
अकूटस्थं तदन्यत्तु कूटस्थमविकारतः ॥२४॥

अन्वय :—द्विगुणीकृतचैतन्ये जन्मनाशानुभूतितः अकूटस्थं तदन्यत्तु अविकारतः कूटस्थं ।
'द्विगुणीति' ॥२४॥

चिदाभासव्यतिरिक्तकूटस्थाभ्युपगमः स्वकपोलकल्पित इत्याशङ्क्य, आचार्यैः कूटस्थस्योपपादितत्वान्मैवमित्याह—

अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षीत्यादावनेकधा ।
कूटस्थ एव सर्वत्र पूर्वाचार्यैर्विनिश्चितः ॥२५॥

अन्वय :—अन्तःकरणतद्वृत्ति साक्षीइत्यादौ अनेकधा पूर्वाचार्यैः विनिश्चिता सर्वत्र कूटस्थ एव ।

'अन्तःकरणेति' । 'अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षी[1]चैतन्यविग्रहः । आनन्दरूपः सत्यः सन् किं नात्मानं प्रपद्यसे' इत्यादावित्यर्थः ॥२५।

यदि कहो कि कूटस्थ और चिदाभास दोनों चित् है तो एक को कूटस्थ और दूसरे को अकूटस्थ यह किस कारण से कहते हो ? चिदाभास में उत्पत्ति एवं विनाश का अनुभव होता है इसलिए चिदाभास अकूटस्थ है। दूसरा विकारी होने में कोई प्रमाण नहीं मिलता है अतएव वह कूटस्थ है। इस पर कहते हैं—

उस द्विगुणी कृत चैतन्य में चिदाभास के तो जन्म और नाश अनुभव सिद्ध हैं। इसलिए चिदाभास अकूटस्थ है और दूसरा अविकारी होने से कूटस्थ है ॥२४॥

यदि कहो कि चिदाभास से भिन्न कूटस्थ स्वकपोल कल्पित (स्वयं माना) अपने मुख से स्वयं कल्पित हो श्रीशङ्कराचार्य ने कूटस्थ का प्रतिपादन किया है—

अन्तःकरण और अन्तःकरण की वृत्तियों का साक्षी चैतन्य रूप, आनन्द रूप सत्य स्वरूप आत्मा की शरण क्यों नहीं होता, इत्यादि शास्त्रों में आचार्यों ने सर्वत्र कूटस्थ का ही वर्णन किया है ॥२५॥

विशेष १—वाक्यवृत्ति में ।

कूटस्थातिरिक्तश्चिदाभासोऽपि तैर्वर्णित इत्याह—

आत्माभासाश्रयाश्चैवं मुखाभासाश्रया यथा ।
गम्यन्ते शास्त्रयुक्तिभ्यामित्याभासश्च वर्णितः ॥२६॥

अन्वय :--आत्माभासाश्रयाः च एवं मुखाभासाश्रया यथा गम्यन्ते शास्त्रयुक्तिभ्यां इत्याभासश्च वर्णितः ।

'आत्माभासेति' । आत्मा चाभासश्चाश्रयश्च आत्माभासाश्रयाश्चेति द्वन्द्वः समासः । मुखाभासाश्रया इत्यत्रापि तथा । मुखं प्रसिद्धं, आभासो मुखप्रतिबिम्बः, आश्रयो दर्पणादिश्चेति त्रयं यथा प्रत्यक्षेणावगम्यते एवमात्मा कूटस्थ आभासः चिदाभासः, आश्रयोऽन्तःकरणादिरिति त्रयोऽपि शास्त्रयुक्तिभ्यामवगम्यन्ते इत्यर्थः । अत्र च 'आभास'शब्देन कूटस्थातिरिक्तश्चिदाभासो वर्णित इति भावः । मनसः साक्षी बुद्धेः साक्षीति बुद्धिसाक्षिणः कूटस्थस्य प्रतिपादकं शास्त्रं 'रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव' (बृ० २।५।१९) इति चिदाभासप्रतिपादकं, विकारित्वाविकारित्वादिरूपा युक्तिः पूर्वमेवोक्तेति भावः ॥२६॥

कूटस्थ से भिन्न चिदाभास का भी वर्णन आचार्यों ने ही किया—

जैसे मुख, प्रतिबिम्ब, दर्पण ये तीन होते हैं इसी प्रकार आत्मा, चिदाभास, अन्तःकरण ये तीन होते हैं, इस प्रकार शास्त्र और युक्तियों से आभास का वर्णन किया है ॥२६।

आत्मा, आभास और आश्रय ये तीनों इस प्रकार ये होते हैं । जैसे मुख, आभास (प्रतिबिम्ब) आश्रय दर्पण होते हैं ये तीनों इसी प्रकार आत्मा (कूटस्थ) आभास (चिदाभास) और आश्रय अन्तःकरण ये तीनों भी शास्त्रयुक्ति से जाने जाते हैं । यहाँ आभास शब्द से कूटस्थ से भिन्न चिदाभास का वर्णन किया है । आँख का साक्षी, कान का साक्षी, वाणी का साक्षी, मन का साक्षी, बुद्धि का साक्षी, प्राणों का साक्षी, अज्ञान का साक्षी, सब का साक्षी यह श्रुति सबका साक्षी कूटस्थ का प्रतिपादक है । रूप-रूप के प्रति रूप हुआ यह चिदाभास का प्रतिपादक शास्त्र है और विकारी दूसरा अविकारी यह युक्ति से पहले कह आये हैं ॥२६॥

विशेष १ - यह उपदेश साहसी का है ।

तत्र चिदाभासमाक्षिपति—

बुद्ध्यवच्छिन्नकूटस्थो लोकान्तरगमागमौ ।
कर्तुं शक्तो घटाकाश इवाभासेन किं वद ॥२७॥

अन्वय :—बुद्ध्यवच्छिन्नकूटस्थः लोकान्तरगमागमौ घटाकाश इव कर्तुं शक्तः आभासेन किं वद ।

'बुद्धीति' । स्वस्मिन्कल्प्यमानया बुद्ध्याऽवच्छिन्नकूटस्थ एव घटद्वारा घटाकाश[2] इव बुद्धिद्वारा लोकान्तरे गमनागमने कर्तुं शक्नोति, अतश्चिदाभासकल्पनायां गौरवमिति भावः ॥२७॥

अब अवच्छेद[1] वादी चिदाभास के विषय में शंका—

अपने में कल्पना की बुद्धि से अवच्छिन्न (युक्त) कूटस्थ ही घटके द्वारा घटाकाश के समान बुद्धि द्वारा अन्य लोकों में गमन और आगमन करने को समर्थ हैं। अतः चिदाभास की कल्पना क्यों करते हो अर्थात् चिदाभास को क्यों मानते हो ॥२७॥

विशेष १— घटसंवृतमाकाशं नीयमाने घटे यथा । घटो नीयते नाकाशस्तद्वज्जीवोनमोपमा । आथर्वणिका समामनन्ति—

२— अवच्छेदवाद की रीति से अन्तःकरण-अन्तःकरण विशिष्ट चेतन ही जीव हैं। अन्तःकरण में चिदाभास को नहीं माना। वह अन्तःकरण कर्मों के वश से जहाँ-जहाँ गमन आगमन करता है। वहाँ-वहाँ चेतन तो पूर्व से ही विद्यमान रहता है। वह इस अन्तःकरण विशिष्ट होकर (संसारी जीव) इस व्यवहार का विषय होकर रहता है। वहाँ अन्तःकरण रूप विशेषण भाग में तो संसार है कूटस्थ रूप विशेष्य भाग में वास्तविक ससार नहीं है। परन्तु कूटस्थ रूप विशेष्य में संसार की भ्रान्ति से प्रतीति होती है। शास्त्र में यह नियम भी बताया है कि विशेष्य के धर्म का भी विशेष्य में व्यवहार होता है। अतएव अन्तःकरण के धर्म संसार का अन्तःकरण विशिष्ट चेतन में व्यवहार होने से अन्तःकरण विशिष्ट चेतन संसारी जीव कहलाने लगता है । इस प्रकार चिदाभास के बिना सब व्यवहार सम्भव है तो चिदाभास की कल्पना गौरव है। यह अवच्छेदवाद की शंका है।

असङ्गस्य कूटस्थस्य बुद्ध्यवच्छेदमात्रेण जीवत्वं न घटते, अन्यथातिप्रसङ्गादिति परिहरति—

शृण्वसङ्गः परिच्छेदमात्राज्जीवो भवेन्नहि ।
अन्यथा घटकुड्याद्यैरवच्छिन्नस्य जीवता ॥२८॥

अन्वय :– असङ्गः परिच्छेदमात्रात् जीवः नहि भवेत् इति शृणु अन्यथा घटकुड्याद्यैः अवच्छिन्नस्य जीवता (स्यात्) ।

शृण्वसङ्ग इति' ॥२८॥

बुद्धिकुड्योः स्वाच्छ्यास्वाच्छ्याभ्यां वैषम्यं शङ्कते—

न कुड्यसदृशी बुद्धिः स्वच्छत्वादिति चेत्तथा ।
अस्तु नाम परिच्छेदे किं स्वाच्छ्येन भवेत्तव ॥२९॥

अन्वय : कुड्यसदृशी बुद्धिः न स्वच्छत्वात् इति चेत् तथा अस्तु नाम परिच्छेदे स्वाच्छ्येन तव किं भवेत् ।

'नेति' । उक्तं स्वच्छत्वं परिच्छेदप्रयोजकं न भवतीत्याह – 'तथास्त्विति' ॥२९॥

बुद्धि द्वारा अवच्छेद मात्र से असङ्ग कूटस्थ का जीव भाव नहीं बन सकता है नहीं तो जीव भाव घटादिअवच्छेद मात्र से घटादि अवच्छिन्न चैतन्य को भी प्राप्त होगा ? इसका परिहार करते हैं –

सुनो, असंग कूटस्थ चेतन केवल परिच्छेद (बुद्धि) मात्र से जीव नहीं हो सकता. यदि परिच्छेद मात्र से ही जीवमानोगे तो घट, कुड्य (भीत) आदि से अवच्छिन्न कूटस्थ भी जीव हो जायेगा, इससे आभास का मानना आवश्यक है ॥२८॥

बुद्धि और कुड्य (भीत्ति) की स्वच्छ अस्वच्छ की विषमता में शंका करते हैं –

यदि कहो बुद्धि स्वच्छ (निर्मल) होने से कुड्य (भीत्ति) के समान नहीं है वह स्वच्छता भेद तो हुआ करे बुद्धि के स्वच्छ होने से चेतन के परिच्छेद में क्या अन्तर होगा कुछ भी नहीं अर्थात् स्वच्छता परिच्छेद में हेतु नहीं होती है ॥२९॥

उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति —

प्रस्थेन दारुजन्येन कांस्यजन्येन वा नहि ।
विक्रेतुस्तण्डुलादीनां परिमाणं विशिष्यते ॥३०॥

अन्वय :—दारुजन्येन प्रस्थेन कांस्यजन्येन वा विक्रेतुः तण्डुलादीनां परिमाणं न हि विशिष्यते ।

'प्रस्थेनेति' । दारुकांस्यजन्ययोः प्रस्थयोः स्थिते स्वच्छत्वास्वच्छत्वे तण्डुलपरिमाणे न्यूनाधिकभाव हेतू न भवत इत्यर्थः ॥३०॥

कांस्यप्रस्थे तण्डुलपरिमाणाधिक्याभावेऽपि प्रतिबिम्बलक्षणमाधिक्यमस्तीत्याशङ्क्य, तर्हि बुद्धावपि चिदाभासा भवतैवाङ्गीकृतः स्यादित्याह —

परिमाणाविशेषेऽपि प्रतिबिम्बो विशिष्यते ।
कांस्ये यदि तदा बुद्धावप्याभासो भवेद्बलात् ॥३१॥

अन्वय :—परिमाणाविशेषेऽपि प्रतिबिम्बो विशिष्यते कांस्ये यदि तदा बुद्धौ अपि बलात् आभासः भवेत् ।

'परिमाणाविशेष इति' ॥३१॥

अब पूर्वोक्त अर्थ को दृष्टात से स्पष्ट करते हैं—

प्रस्थ (एक माप) चाहे लकड़ी का हो या कांसे का, कांच का बना हो उससे बेचने वाले की चावल आदि की माप (तोल) में कोई अन्तर नहीं आता (अर्थात्) स्वच्छता अस्वच्छता से परिच्छेद में कोई न्यूनाधिकता नहीं आ सकती ॥३०॥

कांसा से बने हुए प्रस्थ में तण्डुलादि के परिणाम की थोड़ी सी भी अधिकता नहीं रहती, किन्तु प्रतिबिम्बरूप अधिकता तो अवश्य रहेगी, ऐसी आशङ्का कर कहते हैं कि तब तो आपने बुद्धि आदि में चिदाभास स्वीकार कर ही लिया है —

यदि कहो कि कांसे के बने प्रस्थ (तौल) परिणाम में चाहे विशेषता न रहे तो भी परन्तु उसमें चावलों आदि का प्रतिबिम्ब पड़ना रूपी अधिकता है । इस शंका का उत्तर देते हैं । प्रतिबिम्ब की विशेषता मानोगे तो हम कहेंगे बुद्धि में भी स्वच्छ होने से आभास बल से हो जायेगा अर्थात् आपने ही आभास मान लिया ॥३१॥

प्रतिबिम्बाङ्गीकारे चिदाभासः कथमङ्गीकृतः स्यादित्याशङ्क्य, प्रतिबिम्बाभासशब्दाभ्यामभिधेयस्य अर्थस्य ऐक्यादित्याह –

ईषद्भासनमाभासः प्रतिबिम्बस्तथाविधः ।
बिम्बलक्षणहीनः सन्बिम्बवद्भासते स हि ॥३२॥

अन्वय : – हि प्रतिबिम्बः ईषद्भासनं तथाविधः आभासः बिम्बलक्षणहीनः सन् स बिम्बवद् भासते ।

'ईषदिति' । प्रतिबिम्बस्याभासत्वं कथमित्याशङ्क्य, आभासलक्षणयोगादित्याह—'बिम्बलक्षणेति' हि यस्मात्कारणात् प्रतिबिम्बो बिम्बलक्षणरहितो बिम्बवदवभासतेऽतो बिम्बाभास इति भावः ॥३२॥

आभासलक्षणयोगित्वमेव स्पष्टयति—

ससङ्गत्वविकाराभ्यां बिम्बलक्षणहीनता ।
स्फूर्तिरूपत्वमेतस्य बिम्बवद्भासनं विदुः ॥३३॥

अन्वय :– ससङ्गत्वविकाराभ्यां बिम्बलक्षणहीनता एतस्य स्फूर्तिरूपत्वं बिम्बवद् भासनं विदुः ।

'ससङ्गत्वेति' । एतस्य चिदाभासस्य ससङ्गत्वविकारित्वाभ्यां बिम्बभूतासङ्गाविकारिचैतन्यलक्षणहीनत्वं स्फुरणरूपत्वं बिम्बवदवभासनमित्यर्थः । हेतुलक्षणरहिता हेतुवदवभासमाना हेत्वाभासा इतिवदित्यर्थः ॥३३॥

यदि कहो कि हमने प्रतिबिम्ब माना है चिदाभास नहीं यह शंका करके प्रतिबिम्ब और आभास शब्दों से कहा अर्थ एक ही है –

प्रतिबिम्ब का भी भासन किञ्चित् ही होता है । बिम्ब के लक्षणों से हीन होने पर भी बिम्ब की तरह भासा करता है इसलिए वह बिम्ब का आभास कहा जाता है ॥३२॥

अब आभास के लक्षणों की योग्यता को स्पष्ट करते हैं—

यह चिदाभास[१] ससङ्ग (सङ्ग से युक्त) और विकारी हैं । इसलिए बिम्ब के लक्षण जो असङ्ग अविकारी हैं उससे हीन हैं और जो इसमें स्फुरण रूप है वही बिम्ब के समान अवभासन हैं यह बुद्धिमान मनुष्य जानते हैं ।

जैसे हेतु के लक्षणों से हीन होते हुए भी जो हेतु की तरह भासमान हो उसे हेत्वाभास कहते हैं । ऐसे ही चिदाभास चेतन रूप बिम्ब के लक्षण से रहित भी बिम्ब की तरह भासता है इसलिए चिदाभास कहलाता है ॥३३॥

विशेष १—आभासस्यापि जडाजडविलक्षणत्वेन अनिर्वचनीयत्वात् ।

इत्थं चिदाभासस्य अप्रयोजकतां निराकृत्य, इदानीं तस्य बुद्धेः पृथक् सत्त्वं साधयितुं पूर्वपक्षमाह—

नहि धीभावभावित्वादाभासोऽस्ति धियः पृथक् ।
इति चेदल्पमेवोक्तं धीरप्येवं स्वदेहतः ॥३४॥

अन्वय :—धीभावभावित्वात् पृथक् धियः आभासः नहि अस्ति इति चेत् अल्पं एव उक्तं (यतः) स्वदेहतः धीरपि एवं न ।

'नहीति' । यथा मृदि सत्यामेव भवन् घटो न मृदो भिद्यते तद्वदिति भावः । नन्वेवं तर्हि देहातिरिक्ता धीरपि न सिध्येदिति प्रतिबन्द्या परिहरति—'अल्पमिति' ॥३४॥

प्रतिबन्दीमोचनं शङ्कते—

देहे मृतेऽपि बुद्धिश्चेच्छास्त्रादस्ति तथासति ।
बुद्धेरन्यश्चिदाभासः प्रवेशश्रुतिषु श्रुतः ॥३५॥

अन्वय :—देहे मृतेऽपि बुद्धिश्चेत् शास्त्रात् अस्ति तथा सति बुद्धेः अन्यः चिदाभासः प्रवेश श्रुतिषु श्रुतः ।

'देहे मृत इति' । देहव्यतिरिक्ताया बुद्धेः 'स विज्ञानो भवति' (बृ० ४।४।२) इत्यादि श्रुतिसिद्धत्वान्नासत्त्वमिति भावः । ननु श्रुतिबलाद्देहातिरिक्ता बुद्धिरभ्युपगम्यते चेत्तर्हि प्रवेशश्रुतिबलाद्बुद्धयतिरिक्तश्चिदाभासोऽप्यभ्युपेय इत्याह—'तथासतीति' ॥३५॥

इस प्रकार चिदाभास की अप्रयोंजकता का निराकरण करके अब बुद्धि से पृथक् उसकी सिद्धि के लिए पूर्व पक्ष को कहते हैं -

यदि कहो कि जैसे मिट्टी की सत्ता से ही सत्तावान् घट मिट्टी से भिन्न नहीं होता इसी प्रकार बुद्धि की सत्ता से होने वाला चिदाभास भी बुद्धि से पृथक् नहीं होगा, ऐसा यदि कहोगे तो अल्प ही तुमने कहा, ऐसे ही देह से भिन्न बुद्धि भी सिद्ध न होगी यह प्रतिवादी का समाधान करते हैं ॥३४॥

अब प्रतिबन्दी से छूटने की शंका करते हैं—

यदि कहो कि देह के मरने पर भी बुद्धि हैं उस समय वह जीवात्मा विशेष विज्ञानवान् होता है इत्यादि से सिद्ध असत्ता नहीं है । शंका हो कि इस श्रुति के बल से देह से भिन्न बुद्धि को मानते हो तो हम कहेंगे बुद्धि से भिन्न चिदाभास भी है । यह बात प्रवेश श्रुति में कही गयी है (अर्थात् जैसे तुम श्रुति के आधार पर बुद्धि को देह से भिन्न मानते हो वैसे प्रवेश श्रुतियों के आधार पर बुद्धि से भिन्न चिदाभास को भी मानो ॥५३॥

ननु बुद्धयुपाधिकस्यैव प्रवेशो युज्यते नेतरस्येति शङ्कयते—

धीयुक्तस्य प्रवेशश्चेन्नैतरेये धियः पृथक् ।
आत्मा प्रवेशं संकल्प्य प्रविष्ट इति गीयते ।।३६।।

अन्वय :—धीयुक्तस्य प्रवेशश्चेत् न ऐतरेये धियः पृथक् आत्मा प्रवेशं संकल्प्य प्रविष्टः इति गीयते ।

'धीयुक्तस्येति' । ऐतरेयश्रुतौ बुद्धयतिरिक्तस्यैव प्रवेशश्रवणान्नैवमिति परिहरति ऐतरेय इति ।।३६।।

तां ऐ० ३।११) श्रुतिमर्थतः पठति—

कथं न्विदं साक्षदेहं मदृते स्यादितीरणात् ।
विदार्य मूर्धसीमानं प्रविष्टः संसरत्ययम् ।।३७।।

अन्वय :—कथं नु इदं साक्षदेहं मदृते स्यात् इतीरणात् अयं मूर्धसीमानं विदार्य प्रविष्टः संसरति ।

'कथं न्विति' । अयं परमात्मा साक्षदेहमक्षाणि च देहाश्चाक्षदेहाः तैः सहवर्तत इति साक्षदेहम्, इदं जडजातं मदृते चेतनं मां विहाय कथं नुस्यान्न कथमपि निर्वहेदिति विचार्य मूर्धसीमानं कपालत्रयमध्यदेशं विदार्य स्वसंनिधिमात्रेण भित्वा प्रविष्टः सन् संसरति जाग्रदादिकमनुभवतीत्यर्थः ।।३७।

अब यह शंका करते हैं बुद्धि से युक्त का ही प्रवेश है अन्य का नहीं वह ठीक नहीं ।

यदि यह कहा जाय कि वहाँ बुद्धि युक्त का ही प्रवेश बताया गया है वह ठीक नहीं है । क्योंकि बुद्धि से अतिरिक्त आत्मा पहले प्रवेश का संकल्प कर फिर उसमें प्रविष्ट हुआ ऐतरेय में यह बात कही गयी है । अतएव बुद्धि रूप उपाधि वाले आत्मा का प्रवेश मानना ठीक नहीं यहाँ अकेले आत्मा के प्रवेश की बात कही है ।।३६।।

अब उस श्रुति के ही अर्थ को पढ़ते हैं—

यह परमात्मा 'इन्द्रिय और देह सहित वर्तमान यह जड़ समुदाय मुझ चेतन के बिना कैसे रहेगा" यह देखने के लिए तीनों कपालों की सीमाभूत मस्तक की जोड़ (अपनी सन्निधि मात्र से) भेदकर उसमें प्रविष्ट होकर संसार को प्राप्त होता है और जाग्रत आदि अवस्थाओं को अनुभव करने लगता है ।।३७।।

नन्वसङ्गस्यात्मनः प्रवेशोऽप्ययुक्त इति शङ्कते—

कथं प्रविष्टोऽसङ्गश्चेत्सृष्टिर्वाऽस्य कथं वद ।
मायिकत्वं तयोस्तुल्यं विनाशश्च समस्तयोः ॥३८॥

अन्वय :—असङ्गश्चेत् कथं प्रविष्टः अस्य सृष्टिर्वा कथं वद तयोः मायिकत्वं तुल्यं तयोः विनाशश्च समः ।

'कथं प्रविष्ट इति' । इदं चोद्यं सृष्टावपि समानमित्याह—'सृष्टिरिति' । सृष्टिकर्तुर्मायिकत्वान्न दोष इत्याशङ्क्य, अयं परिहारः प्रष्टर्यपि समान इत्याह—'मायिकत्वमिति' । अनयोर्मायिकत्वे हेतुः समान इत्याह –'विनाश इति'' ॥३८॥

'प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञास्ति' (बृ० ४।५।१३) इति औपाधिकरूपस्य विनाशित्वप्रतिपादिकां श्रुतिं दर्शयति—

समुत्थायैष भूतेभ्यस्तान्येवानुविनश्यति ।
विस्पष्टमिति मैत्रेय्यै याज्ञवल्क्य उवाच हि ॥३९॥

अन्वयः—एष समुत्थाय भूतेभ्यः तानि एव अनुविनश्यति विस्पष्टमिति मैत्रेय्यै याज्ञवल्क्य हि उवाच ।

'समुत्थायेति' । एष प्रज्ञानघन आत्मा एतेभ्यो देहेन्द्रियादिरूपेभ्यः पञ्चभूतकार्येभ्यो निमित्तभूतेभ्य उपाधिभ्यः समुत्थाय जीवत्वाभिमानं प्राप्य तान्येव देहादीनि विनश्यन्त्यनुविनश्यति, तेषु विनश्यत्सु तत्कृतं जीवत्वाभिमानं जहाति । एवंप्रकारेण सोपाधिकरूपस्य विनाशित्वं याज्ञवल्क्यो मैत्रेय्यै उवाच उक्तवानित्यर्थः ॥३९॥

अब असंग आत्मा के प्रवेश में शंका करते हैं—

यदि कहो कि जब वह असंग है तो देहादि में कैसे प्रविष्ट हो गया है तो हमारा प्रश्न है कि असंग होते हुए उसने सृष्टि की रचना कैसे की यह तुम्हारी शंका सृष्टि रचना में भी तुल्य है । यदि कहो कि सृष्टि का कर्ता तो मायिक है । अतएव जगत् रूप से उत्पन्न हो सकता है । इस पर हमारा कथन है ऐसे ही प्रवेशकर्ता भी मायिक है । अर्थात् दोनों (सृष्टि, जीव) मायिक है और उनका विनाश तुल्य है दोनों का नाश होता है ॥३८॥

अब प्रज्ञानघन इस श्रुति के अर्थ को कहते हैं मैत्रेयी को औपाधिक का विनष्ट होना समझाया है —

यह आत्मा भूतों की महिमा से जीव भाव को प्राप्त होकर और उनके नाश होने के समय नाश को प्राप्त हो जाता है यह याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी के प्रति स्पष्ट कहा है ॥३९॥

यह प्रज्ञानघन आत्मा इन देह इन्द्रिय आदि पञ्चभूतों के कार्य निमित्त से अर्थात् उपाधियों की महिमा से भली प्रकार मैं जीव हूँ इस अभिमान को प्राप्त होकर उन्हीं देहेन्द्रियों के नाश होने से नाश हो जाता है पञ्चभूतों के कार्यादिरूप उपाधि से ऊपर उठकर जीवपन के अभिमान को छोड़कर इस प्रकार सोपाधिक रूप का विनाश याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी के प्रतिस्पष्ट कहा है । ३९॥

'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा' (बृ० ४।५।१४) इति श्रुत्या कूटस्थस्ततो विभिन्नः प्रदर्शित इत्याह—

अविनाश्ययमात्मेति कूटस्थः प्रविवेचितः ।
मात्रासंसर्ग इत्येवमसङ्गत्वस्य कीर्तनात् ॥४०॥

अन्वय :—अयं आत्मा अविनाशी कूटस्थः प्रविवेचितः इति एव असङ्गत्वस्य कीर्तनात् ।

'अविनाशीति' 'मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति' इति श्रुत्याऽविनाशित्वे हेतुमसङ्गत्वं चोक्तवानित्याह — 'मात्रेति', मीयन्ते इति मात्रा देहादयस्ताभिरस्यात्मनोऽसंसर्गोभवतीत्यर्थः । ४०॥

ननु 'जीवापेतं वाव किल इदं म्रियते न जीवो म्रियते' (छा० ६।११।३) इति श्रुत्या अस्य औपाधिकस्याप्यविनाशित्वं प्रतिपाद्यत इत्याशङ्क्य, तस्याः श्रुतेर्देहान्तरप्राप्तिविषयतया नात्यन्तिकनाशाभावपरत्वमित्याह—

जीवापेतं वाव किल शरीरं म्रियते न सः ।
इत्यत्र न विमोक्षोऽर्थः किंतु लोकान्तरे गतिः ॥४१॥

अन्वय :—जीवापेतं वाव (एव) किल शरीरं म्रियते सः न इत्यत्र न विमोक्षः अर्थः किन्तु लोकान्तरे गतिः ।

'जीवापेतमिति' । जीवापेतं जीवरहितं, जीवेन त्यक्तमिति यावत् । वाव एव । जीवो न म्रियत इत्यर्थः ॥४१॥

इस श्रुति से कूटस्थ जीव से भिन्न है इस विषय में कहते हैं—

यह आत्मा अविनाशी अर्थात् अनुच्छित्ति (नाश का अभाव) धर्म वाला है, इस श्रुति से सोपाधिक जीव से भिन्न कूटस्थ रूप दिखाया है इसलिए अविनाशी होने में कारण यह है मात्रा, देह आदि विषयों का संसर्ग (सम्बन्ध) इस आत्मा को नहीं होता है मात्रा० इस श्रुति से अविनाशिता में हेतु की असंगता को कहा है ॥४०॥

यदि कहो कि जीव से रहित होने पर यह शरीर मरता है जीव नहीं मरता है इस श्रुति से तो औपाधिक जीव को भी अविनाशी कहा है ऐसी आशंका पर कहते हैं उस श्रुति वाक्य का आशय जीव के आत्यन्तिक विनाश के अभाव में नहीं है, किन्तु देह के विनष्ट होने से जीव का नाश नहीं होता, अपितु देहान्तर की प्राप्तिमात्र होती है—

जीव से रहित शरीर का मरण जीव का नहीं यहाँ विमोक्ष (अत्यन्त नाश का होना) श्रुति का यह अर्थ नहीं है किन्तु लोकान्तर से गति अर्थात् जीव को अन्य देह की प्राप्ति है अर्थ है। जीवापेतं, यह श्रुति अन्य देह की प्राप्ति के विषय में है अत्यन्त विनाश न होना (अविनाशीपना दिखाना नहीं है) ॥४१॥

ननु जीवस्य विनाशित्वे 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यविनाशिब्रह्मतादात्म्यज्ञानं न घटत इति शङ्कते —

नाहं ब्रह्मेति बुध्येत स विनाशीति चेन्न तत् ।
सामानाधिकरण्यस्य बाधायामपि संभवात् ॥४२॥

अन्वय :—विनाशी स इति चेत् तत् न अहं ब्रह्म इति न बुध्येत सामाधिकरण्यस्य बाधायामपि संभवात् ।

'नाहमिति' । विनाशी स जीवः 'अहं ब्रह्म' इति ब्रह्मरूपेणात्मानं न बुध्येत न जानीयाद्विनाश्य-विनाशिनोरेकत्वविरोधादिति चेन्मुख्यसामानाधिकरण्याभावेऽपि बाधायां सामानाधिकरण्यसंभवात्[1] । जीव-भावबाधेन ब्रह्मभावोऽवगन्तुं शक्यत इत्याह —'न तदिति' ॥४२॥

यदि कहो कि जीव विनाशी है तो वह मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार अविनाशी ब्रह्म के संग एकता का ज्ञान न घट सकेगा ।

वह जीव विनाशी है तो उसको "अहं ब्रह्म" अस्मि यह बोध न होगा विनाशी जीव अविनाशी ब्रह्म के एकत्व में विरोध है—यह शंका हो, मुख्य सामानाधिकरण्य नहीं है, बाध सामानाधिकरण्य तो है ही, अर्थात् जीव की अविद्या चिदाभास का बाध से कूटस्थ का ब्रह्म भाव के रूप में ज्ञान हो सकता है ॥४२॥

विशेष १— समान एक है—अधिकरण अर्थ रूप आश्रय जिसका ऐसे जो दो शब्द परस्पर समान विभक्ति पदों का एक ही अर्थ में प्रवृत्ति (तात्पर्य) सामानाधिकरण्य कहलाता है वह दो प्रकार का होता है जिस वस्तु का जिसके साथ सदा सम्बन्ध होता है, एक सत्ता और स्वरूप वाले वास्तव भेद रहित उनका परस्पर (मुख्यसामानाधिकरण्य, या अभेद सामानाधिकरण्य होता है) जैसे घटाकाश और महाकाश, कूटस्थ ब्रह्म के साथ जिस वस्तु का बाध होकर जिसके साथ अभेद उस वस्तु का उसके साथ अर्थात् भिन्न सत्ता वाले दो पदों की एक विभक्ति की बल से एकता के बोधक वाक्य गत दो पदों की (बाध सामानाधिकरण्य है) जैसे स्थाणु या प्रतिबिम्ब का बाध होकर पुरुष या बिम्ब के साथ अभेद ही है स्थाणुरयं नायं पुरुषः यो भुजङ्गः सा स्रक्, सर्प और माला का जद् जगत्-कारणं तद् ब्रह्म ब्रह्म और जगत् का इसी प्रकार चिदाभास का भी बाध होकर कूटस्थ का ब्रह्म के साथ अभेद होता है - अतएव चिदाभास का कूटस्थ या ब्रह्म के साथ बाध सामानाधिकरण्य है ।

बाधासामानाधिकरण्येन वाक्यार्थप्रतिपत्तिप्रकारो वार्तिककारैः सदृष्टान्तोऽभिहित इतीयमर्थं तद्वाक्योदाहरणपूर्वकं दर्शयति –

योऽयं स्थाणुः पुमानेष पुंधिया स्थाणुधीरिव ।
ब्रह्मास्मीति धियाऽशेषाप्यहंबुद्धिर्निवर्त्यते ॥४३॥

अन्वय : –योऽयं स्थाणुः पुमान् एष पुंधिया स्थाणुधीरिव (निवर्तते) अहं ब्रह्मास्मीति धिया अशेषा अपि बुद्धिः निवर्त्यते ।

'योऽयं स्थाणुरिति' । 'स्थाणुरेष पुमान्' इत्यस्मिन्वाक्ये पुरुषत्वबोधेन स्थाणुत्वबुद्धिर्निवर्त्यते यथा एवमहं ब्रह्मास्मीति बोधेनाहंबुद्धिः कर्ताहमस्मीत्येवमादिरूपा सर्वापि निवर्त्यत इति ॥४३॥

नैष्कर्म्यसिद्धावप्येवमाचार्यैः स्पष्टमीरितम् ।
सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वमतोऽस्तु तत् ॥४४॥

अन्वय : आचार्यैः नैष्कर्म्यसिद्धावपि एवं स्पष्टं ईरितम् अतः सामानाधिकरण्यस्य तत् बाधार्थत्वं अस्तु ।

'नैष्कर्म्येति' । एवमुक्तेन प्रकारेणाचार्यैर्वार्तिककारैर्नैष्कर्म्यसिद्धौ सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वं स्पष्टमीरितमिति फलितमाह –'अतोऽस्तु तदिति' । अतः कारणात् ब्रह्माहमस्मीति वाक्ये तत् सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वमस्त्वित्यर्थः ॥४४॥

अब बाध में सामानाधिकरण्य करके वाक्यार्थ ज्ञान (निश्चय) का प्रकार को वार्तिककारों ने जो दृष्टान्त पूर्वक कहा है उस आशय को उदाहरण पूर्वक दिखाते हैं—

जो यह स्थाणु दिखाई दे रहा है यह पुरुष है इस वाक्य में जैसे पुरुष ज्ञान से स्थाणु बुद्धि निवृत्त हो जाती है। इसी प्रकार 'मैं ब्रह्म हूँ' इस बोध से अहंबुद्धि—मैं कर्ता भोक्ता हूँ आदि की निवृत्ति हो जाती है ॥४३॥

पूर्वोक्त ४० वें श्लोक में वर्णित रीति से वार्तिककार आचार्य ने नैष्कर्म सिद्धि के २।२६वें श्लोक में सामानाधिकरण्य बाध के लिए है यह स्पष्ट कहा है फलित कहते हैं इसी कारण से "ब्रह्माहमस्मि" इस वाक्य में जो सामानाधिकरण्य है उसे बाधार्थक रहने दो ॥४४॥

नन्वेवमपि श्रुतिषु बाधायां सामानाधिकरण्यं न क्वापि दृष्टमित्याशङ्क्य, सर्वं ह्येतद्ब्रह्म' (नृ० पू० ४।२) इत्यत्र बाधायां सामानाधिकरण्यं दृष्टमतोऽत्रापि तद्भविष्यतीत्याह -

सर्वं ब्रह्मेति जगता सामानाधिकरण्यवत् ।

अहं ब्रह्मेति जीवेन सामानाधिकृतिर्भवेत् ।।४५।।

अन्वयः—सर्वं ब्रह्म इति जगता सामानाधिकरण्यवत् अहं ब्रह्म इति जीवेन सामानाधिकृतिर्भवेत् । 'सर्वं ब्रह्मेतीति' ।।४५।।

ननु तर्हि विवरणाचार्यैर्बाधासामानाधिकरण्यं कुतो निराकृतमित्याशङ्क्य, तैरहंशब्देन कूटस्थस्य विवक्षितत्वादित्याह –

सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वं निराकृतम् ।

प्रयत्नतो विवरणे कूटस्थस्य विवक्षया ।।४६।।

अन्वय : प्रयत्नतः विवरणे कूटस्थस्य विवक्षया सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वं निराकृतम् । 'सामानाधिकरण्यस्येति' ।।४६।।

यदि कहो कि श्रुति में बाध में समानता कहीं नहीं देखा जाता है ऐसी शंका कर कहते हैं कि 'सर्वं ह्येतद्ब्रह्म इस श्रुति वाक्य में बाधविषयक सामानाधिकरण्य है, इसलिए प्रस्तुत प्रकरण में भी बन सकता है –

'यह सब ब्रह्म है' इस श्रुति में जैसे बाध में भी जगत् के संग सामानाधिकरण्य है ऐसे ही मैं ब्रह्म हूँ (अहं ब्रह्म) इस वाक्य में जीव के साथ भी बाध में भी सामानाधिकरण्य सम्भव[२] है ।।४५।।

यदि कहो कि विवरणाचार्य ने बाध में सामानाधिकरण्य का खण्डन कैसे किया उन्होंने अहं शब्द से कहा है—

विवरणकार ने अपने विवरण ग्रन्थ में अहं शब्द से कूटस्थ कहना चाहकर सामानाधिकरण्य का प्रयत्न पूर्वक खण्डन किया है । ४६।।

विशेष १— सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति० छा० ३।१४।१ सर्वं इदं जगत् ब्रह्मैव तद्विवर्तत्वात्- यह सब जगत् ब्रह्म ही है । ब्रह्म का विवर्त होने के कारण तज्जञ्च, तल्लञ्च, तद् नञ्चेति, तज्जलान्, वही तज्ज और तल्ल एवं तन्न है –

२— सब जगत् ब्रह्म है इस श्रुति में जगत् का ब्रह्म के साथ एकता रूप सामानाधिकरण्य है । वहाँ यदि मुख्य सामानाधिकरण्य मानें तो ब्रह्म में दृश्यता विनाशिता आदि जगत् के धर्म मानने से अनर्थ होगा । इसलिए जगत् का बाध करके ब्रह्मके साथ अभेद रूप बाध सामानाधिकरण्य है । जिनके मत में आरोपित का अभाव निवृत्ति अधिष्ठान से भिन्न हैं उनके मत में यहाँ जगत् के अभाव वाला ब्रह्म है ' ऐसा बोध होता है और जिनके मतमें आरोपित का अभाव अधिष्ठान रूप है उनके मत में जगत् का अभाव ब्रह्म है । ऐसा बोध होता है मैं ब्रह्म हूँ । इस वाक्य में भी इसी प्रकार बाधसामानाधिकरण्य हैं ।

कूटस्थत्वविवक्षयेत्युक्तमर्थं विवृणोति—

शोधितस्त्वंपदार्थो यः कूटस्थो ब्रह्मरूपताम् ।
तस्य वक्तुं विवरणे तथोक्तमितरत्र च ।।४७।।

अन्वय :—शोधितः त्वंपदार्थः यः कूटस्थः ब्रह्मरूपताम् तस्य वक्तुं विवरणे इतरत्र च तथा उक्तः ।

'शोधित इति' । शोधितो बुद्ध्यादिभ्यो विवेचितस्त्वंपदलक्ष्यो यः कूटस्थो वक्ष्यमाणलक्षणस्तस्य ब्रह्मरूपतां सत्यत्वादिलक्षणब्रह्मरूपतां वक्तुं विवरणादिषु बाधासामानाधिकरण्यनिराकरणपूर्वकं[1] मुख्य-सामानाधिकरण्यमुक्तमित्यर्थः ।।४७।।

इदानीं कूटस्थस्य ब्रह्मणैक्यं संभावयितुं 'कूटस्थ' शब्देन विवक्षितमर्थमाह—

देहेन्द्रियादियुक्तस्य जीवाभासभ्रमस्य या ।
अधिष्ठानचितिः सैषा कूटस्थाऽत्र विवक्षिता ।।४८।।

अन्वय : –देहेन्द्रियादियुक्तस्य या जीवाभासभ्रमस्य अधिष्ठानचितिः सा एषा अत्र कूटस्था विवक्षिता ।

'देहेति' । 'आदि'शब्देन मनआदयो गृह्यन्ते । एवं च देहेन्द्रियादियुक्तस्य शरीरद्वययुक्तस्य जीवाभासभ्रमस्य चिदाभासरूपभ्रमस्य याऽधिष्ठानचितिर्यदधिष्ठानचैतन्यमस्ति तदत्र वेदान्तेषु कूटस्थत्वेन विवक्षितमित्यर्थः ।।४८।।

अब कूटस्थ की विवक्षा से इस पूर्वोक्त का वर्णन करते हैं—

शोधित अर्थात् बुद्धि आदि से पृथक् किया जो "त्वं" पद का लक्ष्य अर्थ कूटस्थ है । उसको ब्रह्मरूप, सत्य आदि रूप कहने के लिए विवरण आदि और अन्य ग्रन्थों में बाध सामानाधिकरण्य का निषेध पूर्वक मुख्य सामानाधिकरण्य कहा है । (अर्थात् त्वं पद के लक्ष्य कूटस्थ और ब्रह्म का सामानाधिकरण्य सिद्ध किया) ।।४७।।

अब कूटस्थ और ब्रह्म की एकता दिखाने के लिए "कूटस्थ" शब्द के अर्थ को कहते हैं—

देह इन्द्रिय मन आदि से युक्त अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म दोनों शरीरों से युक्त जीवाभास-चिदाभास रूप भ्रम का चिति चेतन अधिष्ठान चैतन्य ही वेदान्त शास्त्रों में कूटस्थ शब्द का अर्थ कहा है ।।४८।।

विशेष १— भिन्नप्रवृत्ति निमित्तानामेकस्मिन्नर्थे वृत्ति सामानाधिकरण्यं सोऽयं देवदत्तः । भिन्न-भिन्न है प्रवृत्ति का निमित्त जिनका ऐसे शब्दों की जो एक अर्थ में वृत्ति है यह ही उन शब्दों का परस्पर सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है—सोऽयं यहाँ सशब्द विशेष्य अयंशब्द विशेषण, अयं स अयं विशेष्य स विशेषण भागत्याग लक्षणा

'ब्रह्म'शब्दस्य चार्थमाह—

जगद्भ्रमस्य सर्वस्य यदधिष्ठानमीरितम् ।
त्रय्यन्तेषु तदत्र स्याद् ब्रह्मशब्दविवक्षितम् ॥४६॥

अन्वय : जगद्भ्रमस्य सर्वस्य यद् अधिष्ठानं ईरितं त्रय्यन्तेषु तत् अत्र ब्रह्मशब्द विवक्षितम् स्यात् ।

'जगदिति' । कृत्स्नजगत्कल्पनाधिष्ठानं यच्चैतन्यं वेदान्तेषु निरूपितं, तदत्र 'ब्रह्म' शब्देन विवक्षित मित्यर्थः ॥४६॥

ननु जीवभ्रमाधिष्ठानं चैतन्यं कूटस्थ इत्युक्तमनुपपन्नम्, जीवस्यारोपितत्वासिद्धेरित्याशङ्क्य, तस्यारोपितत्वं कैमुतिकन्यायेन साधयति -

एतस्मिन्नेव चैतन्ये जगदारोप्यते यदा ।
तदा तदेकदेशस्य जीवाभासस्य का कथा ॥५०॥

अन्वय :—एतस्मिन्नेव चैतन्ये यदा जगदारोप्यते तदा तदेकदेशस्य जीवाभासस्य कथा का ।

'एतस्मिन्निति' । जगदेकदेशत्वं च 'अनेन जीवेनानुप्रविश्य' (छा० ६।३।२) इत्यादि श्रुति सिद्धम् ॥५०॥

अब ब्रह्म शब्द के अर्थ को कहते हैं—

सम्पूर्ण जगत् रूप जो भ्रम उसका जो अधिष्ठान चैतन्य कहा है, वह यहाँ वेदान्तों में ब्रह्म शब्द से विवक्षित है उसको ब्रह्म कहते हैं ॥४६॥

यदि कहो कि जीव भ्रम का अधिष्ठान कूटस्थ नहीं हो सकता, क्योंकि जीव आरोपित नहीं है जीव आरोपित कैमुतिक न्याय से सिद्ध करते हैं—

जब इसी चैतन्य में जगत् का आरोप है तो जगत् का एक देश जो जीवाभास (चिदाभास) का तो कहना ही क्या है जीव का तो आरोप अवश्य हो सकता है और जीव जगत् का एक देश इस श्रुति से सिद्ध है कि इस जीव रूप से जगत् में प्रविष्ट होकर नाम रूप की अभिव्यक्ति करूँ ॥५०॥

ननु जगदधिष्ठानचैतन्यस्यैकत्वात् 'तत्त्वं' पदार्थयोः भेदाभावे 'तत्त्वं' पदार्थयोः पौनरुक्त्य-मित्याशङ्क्य, भेदो तयोरौपाधिको वास्तवमैक्यमित्याह —

जगत्तदेकदेशाख्यसमारोप्यस्य भेदतः ।
तत्त्वंपदार्थौ भिन्नौ स्तो वस्तुतस्त्वेकता चितेः ॥५१॥

अन्वय : जगत्तदेकदेशाख्यसमारोप्य भेदतः तत्त्वं पदार्थौ भिन्नौ स्तः वस्तुतः तु चितेः एकता ।

'जगदिति' । जगत्तदेकदेश इति च आख्याः यस्य समारोप्यस्य तत्तथा । जातावेकवचनम् ॥५१॥

ननु चिदाभासस्य शुक्तिकारजतादिवदधिष्ठानारोप्योभयधर्मवत्वानुपलम्भात्कथमारोपितत्व-मित्याशङ्क्याह —

कर्तृत्वादीन्बुद्धिधर्मान्स्फूर्त्याख्यां चात्मरूपताम् ।
दधद्विभाति पुरत आभासोऽतो भ्रमो भवेत् ॥५२॥

अन्वय : कर्तृत्वादीन् बुद्धिधर्मान् स्फूर्त्याख्यां च आत्मरूपताम् दधत् आभासः पुरतः विभाति अतः भ्रमः भवेत् ।

'कर्तृत्वादीनिति' । बुद्ध्युपाधिद्वारा समारोप्यमाणान्कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रमातृत्वादीन् स्फुरणलक्षण-मात्मरूपत्वं च दधत्पुरतो भाति स्पष्टं प्रतिभासते, अत आभासः[1] कल्पित इत्यर्थः ॥५२॥

यदि कहो कि जगत् का अधिष्ठान चैतन्य एक है उससे तत् त्वं पदों के अर्थ का भेद नहीं होगा तो तत् त्वं पदों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं यहाँ पुनरुक्ति दोष होगा यह शंका है समाधान तत् त्वं पदों का उपाधि से भेद है, परमार्थ (सिद्धान्त) में एक है

क्योंकि आरोप्य करने योग्य जो जगत् और जगत् का एक देश जीव (चिदाभास) है उसके भेद से तत्, त्वं पदों का वाच्य अर्थ भिन्न-भिन्न है और वस्तुतः (सिद्धान्त) में लक्ष्य अर्थ चिति (चेतन) की एकता है अर्थात् उपाधि से भेद है स्वतः नहीं है ॥५१॥

यदि शंका हो कि चिदाभास में शुक्ति रजत के समान अधिष्ठान और आरोप्य (भ्रम के योग्य) दोनों धर्म नहीं दीखते इससे आरोपित कैसे हो सकता है इस शंका का समाधान –

बुद्धि उपाधि द्वारा आरोप किए गए कर्ता, भोक्ता, प्रमाता आदि धर्म हैं । स्फूर्तिनाम—नाम के जो आत्मा का धर्म है । इन दोनों को धारण करता हुआ चिदाभास अग्रभाग में स्पष्ट दिखायी देता है । इससे आभास कल्पित (भ्रम होता है) ॥५२॥

विशेष १—भाष्य एवं आत्मनि बुद्ध्याद्यध्यासात् कर्तृत्वादिलाभः । इस प्रकार बुद्धि आदि के अध्यास से आत्मा में कर्ता, भोक्ता आदि का भान होता है । बुद्ध्यादौ च आत्मन् अध्यासात् चैतन्यलाभः । आत्मा के अध्यास से बुद्धि आदि में चैतन्य का भान होता है बुद्ध्यात्मनोस्तादात्म्याध्यासे सति अन्योन्यधर्मसंकरात् आत्मा जानाति अहं जानामि—

अस्य भ्रमस्य किं कारणमित्याकाङ्क्षायां बुद्ध्यादिस्वरूपपरिज्ञानमेवेत्याह—

का बुद्धिः कोऽयमाभासः को वात्माऽत्र जगत्कथम् ।
इत्यनिर्णयतो मोहः सोऽयं संसार इष्यते ॥५३॥

अन्वय :—का बुद्धिः अयं आभासः कः को वा आत्मा अत्र जगत् कथं इति अनिर्णयतः मोहः स अयं संसारः इष्यते ।

'का बुद्धिरिति' । तस्य विवर्तनीयत्वाय अनर्थहेतुतामाह—'सोऽयमिति' ॥५३॥

अस्य किं निवर्तकमित्याकाङ्क्षायां बुद्ध्यादिस्वरूपविवेक एव निवर्तक इत्यभिप्रेत्य तद्वानेव ज्ञानी तत एवार्थनिवृत्तिरित्याह—

बुद्ध्यादीनां स्वरूपं यो विविनक्ति स तत्त्ववित् ।
स एव मुक्त इत्येवं वेदान्तेषु विनिश्चयः ॥५४॥

अन्वय :—बुद्ध्यादीनां स्वरूपं यः विविनक्ति स तत्त्ववित् स एव मुक्तः वेदान्तेषु इति एवं विनिश्चयः ।

'बुद्ध्यादीनामिति' ॥५४॥

इस भ्रम का क्या कारण है । बुद्धि आदिकों के स्वरूप का जो अज्ञान उसको भ्रम का कारण कहते हैं—

बुद्धि क्या है और यह आभास क्या है—इसमें आत्मा कौन है, इसमें जगत् कैसे हुआ इन प्रश्नों का निर्णय न होने के कारण ही भ्रम होता है यह जो मनुष्य का मोह है उसको ही संसार कहते हैं अर्थात् यही मोह सब अनर्थों का मूल है ॥५३॥

इस भ्रम की निवृत्ति कौन करता है ? समाधान यह है कि बुद्धि आदि के स्वरूप का विवेक ही मोहमय संसार का निवर्तक है इस आशय को लेकर विवेकी पुरुष ही आत्मज्ञ हो जाता है और इसी से अनर्थ विषयक निवृत्ति भी हो सकती है—

जो बुद्धि आदि के स्वरूप का विवेक ही निवर्तक है अर्थात् पृथक् जानता है वही तत्त्व वेत्ता है इसी से अनर्थ की निवृत्ति होती है और वही मुक्त है । यह वेदान्तों का निश्चय है—अर्थात् बुद्धि आदि के स्वरूप का विवेक ही पूर्वोक्त भ्रम का निवर्तक है और यह विवेकी ही ज्ञानी है ॥५४॥

अर्थात् आत्मा चेतन है और बुद्धि जड है आत्मा में बुद्धि के धर्मकर्तृत्व आदि का आरोप होता है इसलिए आत्मा को जानाति शब्द द्वारा 'ज्ञ' कहा जाता है तथा बुद्धि में आत्म चैतन्य का अध्यास होता है इसलिए उसे भी "ज्ञ" कहा जाता है । बुद्धेः कर्तृत्वमध्यस्य जानातीति 'ज्ञ' उच्यते, तथा चैतन्यमध्यस्य ज्ञत्वं बुद्धेरिहोच्यते ॥उपदेश सा० १८।६५।

एवं बन्धमोक्षयोरविवेकमूलत्वे सति अद्वैतवादे कस्य बन्धः कस्य वा मोक्ष इत्येवमादि-रूपास्तार्किकैः क्रियमाणाः कुतर्कमूलाः परिहासविशेषाः खण्डनोक्तयुक्तिभिस्तेषां निरुत्तरत्वापादनेन परिहरणीया इत्याह—

एवं च सति बन्धः स्यात् कस्येत्यादिकुतर्कजाः ।
विडम्बना दृढं खण्ड्याः खण्डनोक्तिप्रकारतः ॥५५॥

अन्वय :—एवं च सति बन्धः स्यात् कस्य इत्यादि कुतर्कजाः विडम्बनाः खण्डनोक्तिप्रकारतः दृढं खण्ड्याः ।

'एवमिति' ॥५५॥

एवं श्रुतियुक्तिभ्यां कूटस्थं बुद्धयादिभ्यो विविच्य दर्शयित्वा पुराणेष्वपि तद्विवेकः कृत इत्याह—

वृत्तेः साक्षितया वृत्तिप्रागभावस्य च स्थितः ।
बुभुत्सायां तथाऽज्ञोऽस्मीत्याभासज्ञानवस्तुनः ॥५६॥

अन्वय : वृत्तेः साक्षितया वृत्तिप्रागभावस्य च स्थितः बुभुत्सायां तथा अज्ञः अस्मि इति आभास-ज्ञान वस्तुनः तिष्ठति ।

'वृत्तेरित्यादिश्लोकत्रयेण' । कामादिवृत्युत्पत्तौ सत्यां तत्साक्षित्वेन वृत्युदयात्पूर्वं तत्प्रागभाव-साक्षित्वेन जिज्ञासायां सत्या तत्साक्षित्वेन ततः पूर्वम् 'अज्ञोऽस्मी'त्यनुभूयमानाज्ञानसाक्षित्वेन च शिव एव तिष्ठति ॥५६॥

यदि बन्ध और मोक्ष ये दोनों ही अविवेक मूलक हैं तो अद्वैत ज्ञान में किसका बन्ध एवं किसका मोक्ष होता है ? इस प्रकार कुतर्कमूलक परिहास के खण्डन का उपाय दिखाते हैं—

इस पूर्वोक्त प्रकार से बन्ध और मोक्ष दोनों अविवेक मूलक हैं तो फिर अद्वैतवाद में किसका बन्ध या किसका मोक्ष होगा इत्यादि कुतर्कों से किए कुतर्क मूलक व्यङ्गों का (जो परिहास विशेष बिडंबना है (खण्डन, श्री हर्षमिश्राचार्य कृत है (खण्डन खण्ड खाद्य) नामक ग्रन्थ में कहे हुए प्रकार से भले प्रकार खण्डन करने योग्य है ॥५५॥

इस प्रकार श्रुति और युक्तियों से कूटस्थ का बुद्धि आदि से विवेचन पृथक् दिखाकर पुराणों में किए हुए विवेचन को दिखाते हैं—

काम आदि वृत्तियों की उत्पत्ति के समय में साक्षी होकर वृत्तियों के उदय से पूर्व वृत्तियों के प्राग् अभाव समय में स्वरूप बोध की इच्छा के समय में और बोध से पूर्व मैं अज्ञ हूँ इस रूप में प्रकार अनुभूयमान अज्ञान के समय में साक्षी रूप शिव (कूटस्थ ही) टिकता है ॥५६॥

असत्यालम्बनत्वेन सत्यः सर्वजडस्य तु ।
साधकत्वेन चिद्रूपः सदा प्रेमास्पदत्वतः ॥५७॥

अन्वय : – असत्यालम्बनत्वेन सर्वजडस्य तु सत्यः, साधकत्वेन चिद्रूपः सदा प्रेमास्पदत्वतः ।

स चासत्यस्य जगतः आलम्बनत्वेन अधिष्ठानत्वेन सत्यः जडस्य सर्वस्य साधकत्वेनावभासकत्वात् चिद्रूपः, सर्वदा प्रेमविषयत्वादानन्दरूपः ॥५७॥

आनन्दरूपः सर्वार्थसाधकत्वेन हेतुना ।
सर्वसंबन्धवत्त्वेन संपूर्णः शिवसंज्ञितः ॥५८॥

अन्वय : सर्वार्थसाधकत्वेन हेतुना आनन्दरूपः सर्वसंबन्धवत्त्वेन शिवसंज्ञितः सम्पूर्णः ।

सर्वार्थविभासकत्वेन सर्वसंबन्धित्वात् 'सम्पूर्ण' इत्युच्यते । अत्र चेदमभिप्रेतम् – विमतः शिवः वृत्त्यादिभ्यो भिद्यते, वृत्त्यादिसाक्षित्वात्, यद्यद्वृत्त्यादिभ्यो न भिद्यते तत्तद्वृत्त्यादिसाक्षि न भवति, यथा वृत्त्यादि । विमतः सत्यो भवितुमर्हति, मिथ्याधिष्ठानत्वात्, असत्यरजताधिष्ठानशुक्तिवत्, विमतश्चिद्रूपः, जडमात्रावभासकत्वात् यच्चिद्रूपं न भवति तत्सर्वं जडावभासकमपि न भवति, यथा घटादि, विमतः परमानन्दरूपः परप्रेमास्पदत्वात्. यत्परमानन्दरूपं न भवति तत्परप्रेमास्पदमपि न भवति यथा घटादि विमतः परिपूर्णः, सर्वसंबन्धित्वात्, गगनवत् । सर्वसंबन्धित्वं च सर्वार्थसाधकत्वेन, विमतः सर्वसंबन्धवान् सर्वावभासकत्वाद् यः सर्वसंबन्धवान् न भवति स सर्वावभासकोऽपि न भवति, यथा दीपादिरिति ॥५८॥

जो मिथ्याभूत जगत् का आलम्बन (अधिष्ठान) होने से सत्यरूप है और सब जड़ पदार्थों का प्रकाशक होने से चित् रूप है सदा प्रेम का विषय होने से आनन्द रूप है ५७।

सब पदार्थों का अवभासकता, प्रकाशकता के कारण और सम्पूर्ण पदार्थों का सम्बन्धी होने से सम्पूर्ण रूप शिव (कूटस्थ) है । यहाँ अभिप्राय यह है विवाद का विषय शिव (कूटस्थ) वृत्ति आदियों से भिन्न है वृत्ति आदियों का साक्षी होने से जो-जो वृत्ति आदियों से भिन्न नहीं है । वह वह वृत्ति आदियों का साक्षी भी नहीं है, जैसे वृत्ति आदि स्वयं अब व्यतिरेक अनुमान का प्रकार कहते हैं । यदि कोई शंका करे कि वृत्ति आदि स्वयं अपने आप से भिन्न नहीं हैं इसलिए अपने साक्षी भी नहीं है । इसी प्रकार कूटस्थ भी वृत्ति आदि से भिन्न नहीं हो यह बात नहीं, इसलिए वृत्ति आदि का साक्षी न हो यह बात नहीं किन्तु साक्षी ही हैं यह व्यतिरेक अनुमान का प्रकार है । इसी प्रकार (१) विवाद का विषय शिव (कूटस्थ) सत्य है मिथ्या का अधिष्ठान होने से असत्य रजत के अधिष्ठान शुक्ति के समान । (२) विवाद का विषय शिव चिद्रूप हैं क्योंकि जड़ मात्र का अवभासक है जो चिद्रूप नहीं होता वह जड़ मात्र का अवभासक नहीं होता जैसे घटादि (३ विवाद का विषय शिव परमानन्दरूप है क्योंकि सर्वोत्कृष्ट प्रेम का विषय है । जो परमानन्द नहीं होता वह प्रेमास्पद भी नहीं होता जैसे - घटादि (४) विवाद का विषय शिव परिपूर्ण है क्योंकि वह आकाश की तरह सर्व सम्बन्धी है (यह अन्तिम अन्वयी अनुमान है ? शेष तीनों व्यतिरेकी अनुमान है) शिव का सर्व सम्बन्धीपना सब पदार्थों की अवभासकता के कारण है । विवाद का विषय शिव सब पदार्थों से अध्यासिक सम्बन्ध वाला है क्योंकि सब का प्रकाशक है ॥५८॥

उदाहृतपुराणवाक्यस्य तात्पर्यमाह—

इति शैवपुराणेषु कूटस्थः प्रविवेचितः ।

जीवेशत्वादिरहितः केवलः स्वप्रभः शिवः ॥५९॥

अन्वय :—इति शैवपुराणेषु कूटस्थः प्रविवेचितः जीवेशत्वादिरहितः केवलः स्वप्रभः शिवः ।

'इतीति' । इत्येवंप्रकारेण सूतसंहितादिषु पुराणेषु जीवेश्वरत्वादिकल्पनारहितः केवलोऽद्वितीयः स्वप्रभः स्वयंप्रकाशः चैतन्यरूपः शिवः कूटस्थो विवेचित इत्यन्वयः ॥५९॥

जीवेशत्वादिरहितत्वं कुत इत्याशङ्क्य, श्रुत्या तयोर्मायिकत्वप्रदर्शनादित्याह—

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः ।

मायिकावेव जीवेशौ स्वच्छौ तौ काचकुम्भवत् ॥६०॥

अवन्य :—मायाभासेन जीवेशौ करोति इति श्रुतत्वतः जीवेशौ मायिकौ एव कुम्भवत् तौ स्वच्छौ ।

'मायेति' । 'जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति' (नृ० उ० ता०) इति श्रुतिर्मायाविद्याधीनयोश्चिदाभासयोर्मायिकत्वं प्रतिपादयतीति भावः । मायिकत्वे तयोर्देहादिभ्यो वैलक्षण्यं न स्यादित्याशङ्क्य, पार्थिवत्वाविशेषेऽपि काचकुम्भस्य घटादिभ्यो वैलक्षण्यमिवानयोरपि स्यादित्याह— 'स्वच्छाविति' ॥६०॥

पूर्वोक्त पुराण वचन के तात्पर्य को कहते हैं—

इस प्रकार सूतसंहिता आदि शैवपुराणों में जीव ईश्वर आदि की कल्पना से रहित केवल (अद्वितीय) स्वयंप्रकाश चैतन्यरूप शिव नामक कूटस्थ तत्त्व का विवेचन किया है ॥५९॥

कूटस्थ जीव ईश्वरभाव से रहित कैसे सिद्ध होता है श्रुति में जीव और ईश्वर मायिक हैं—

माया आभास के द्वारा जीव और ईश्वर को बना लेती है इस श्रुति में जीव और ईश्वर मायिक हैं अर्थात् माया और अविद्या के अधीन हैं । ये दोनों मायिक हैं । यदि शंका हो कि मायिक मानने से वे देह आदि से विलक्षण न होंगे । समाधान—काच के कुम्भ के समान वे दोनों स्वच्छ हैं जैसे—काच का कुम्भ मिट्टी से बना मिट्टी के घड़े से स्वच्छ होता है । ऐसे ही माया के बने होने पर भी जीव और ईश्वर देहादि जड़ों से स्वच्छ और भिन्न हैं ॥६०॥

ननु घटकाचकुम्भारम्भकयोर्मृद्विशेषयोर्भेदात्तद्वैलक्षण्यमुचितं जगज्जीवेश्वरभेदहेतोर्मायाया एकस्वात्तयोर्जगतो वैलक्षण्यमनुचितमित्याशङ्क्य, अन्नजन्ययोर्देहमनसोर्यथा वैलक्षण्यं तद्वदित्याह—

अन्नजन्यं[1] मनो देहात्स्वच्छं यद्वत्तथैव तौ ।
मायिकावपि सर्वस्मादन्यस्मात्स्वच्छतां गतौ ॥६१॥

अन्वय: अन्नजन्यं मन: यद्वत् स्वच्छं तथैव तौ मायिकावपि सर्वस्मात् अन्यस्मात् स्वच्छतां गतौ ।

'अन्नेति' ॥६१॥

भवतु काचादिवत् स्वच्छत्वं, चित्त्वं तु कुत इत्याशङ्क्यानुभवादित्याह—

चिद्रूपत्वं च संभाव्यं चित्त्वेनैव प्रकाशनात् ।
सर्वकल्पनशक्ताया मायाया दुष्करं न हि ॥६२॥

अन्वय: चिद्रूपत्वं च सम्भाव्यं चित्त्वेनैव प्रकाशनात् सर्वकल्पनशक्ताया मायाया दुष्करं न हि ।

'चिद्रूपेति' । चिद्रूपत्वेन प्रकाशनमपि मायिकयोरनुपपन्नमित्याशङ्क्य, तस्या दुर्घटकारित्वा-दुपपन्नमित्याह —'सर्वेति' ॥६२॥

यदि शंका करो कि घट और काच के कुम्भ के हेतु जो मृद विशेष (भिन्न-भिन्न मिट्टी) है उनके भेद से उनकी विलक्षणता उचित है । पर जगत् जीव ईश्वर के भेद को हेतु जो माया है वह एक है इसलिए जीव, ईश्वर जगत् से विलक्षण कैसे हो सकते हैं समाधान जैसे अन्न से पैदा हुआ देह मन से विलक्षण है इसी प्रकार -

देह और मन दोनों अन्न से उत्पन्न हैं तथापि मन देह से स्वच्छ होता है इसी प्रकार जीव और ईश्वर दोनों मायिक हैं तो भी अन्य सब मायिक पदार्थों से सारे जगत् से स्वच्छ है ॥६१॥

यदि कहो कि काच आदि के समान स्वच्छ रहे जीव और ईश्वर चेतन कैसे हो सकते हैं अनुभव से समाधान करते हैं —

क्योंकि ये जीव और ईश्वर चित् रूप से प्रकाशित हुए रहते हैं इसलिए उनकी चित्रूपता की (अनुभव से) सम्भावना हो सकती है ।

शंका करो कि मायिक जीव और ईश्वर चिद्रूप से प्रकाशन नहीं हो सके (समाधान) माया के लिए कुछ भी दुर्घट नहीं है, सम्पूर्ण कल्पना करने में समर्थ माया को कौन वस्तु दुष्कर है अर्थात् माया में सब वस्तु बन सकती है ॥६२॥

विशेष १— अन्नमयं हि सोम्यमन: । आपोमयं प्राण: । तेजोमयी वाक् छा० ६।५।४। मन अन्नमय है, प्राणजलमय है, वाक् तेजोमयी है ।

उक्तमर्थं कैमुतिकन्यायेन द्रढयति—

अस्मन्निद्रापि जीवेशौ चेतनौ स्वप्नगौ सृजेत् ।
महामाया सृजत्येतावित्याश्चर्यं किमत्र ते ॥६३॥

अन्वयः—अस्मन्निद्रापि स्वप्नगौ चेतनौ जीवेशौ सृजेत् महामाया एतौ सृजति अत्र ते किम् आश्चर्यं ।
'अस्मदिति' ॥६३॥

ईश्वरस्यापि मायिकत्वे तस्य जीववदसर्वज्ञत्वादिकं स्यादित्याशङ्क्य, सर्वज्ञत्वादिकमपि मायैव कल्पयिष्यतीत्याह—

सर्वज्ञत्वादिकं चेशे कल्पयित्वा प्रदर्शयेत् ।
धर्मिणं कल्पयेद्याऽस्याः को भारो धर्मकल्पने ॥६४॥

अन्वय :—ईशे सर्वज्ञत्वादिकं च कल्पयित्वा प्रदर्शयेत् या धर्मिणं कल्पयेत् अस्याः धर्मकल्पने को भारः ।

'सर्वज्ञत्वेति' । तत्रोपपत्तिमाह—'धर्मिणमिति' ॥६४॥

ननु जीवेशयोरिव कूटस्थस्यापि मायिकत्वं प्रसज्येतेति शङ्कते —

कूटस्थेऽप्यतिशङ्का स्यादिति चेन्माऽतिशङ्क्यताम् ।
कूटस्थमायिकत्वे तु प्रमाणं नहि विद्यते ॥६५॥

अन्वय : - कूटस्थे तु अति शङ्कास्यात् इति चेत् मातिशङ्क्यताम् कूटस्थमायिकत्वे तु प्रमाणं नहि विद्यते ।

'कूटस्थ इति' । प्रमाणाभावान्नैवमिति परिहरति—'माऽतिशङ्क्यतामिति' ॥६५॥

अब उक्त अर्थ को कैमुतिक न्याय से दृढ़ करते हैं—

हमारी निद्रा भी स्वप्न के चेतन जीव ईश्वर की सृष्टि को रच लेती हैं तो महामाया इन चेतन जीव ईश्वर को रचती है इस बात में आपको क्या आश्चर्य है ॥६३॥

यदि कहो कि ईश्वर को मायिक मानोगे तो फिर वह भी जीव की तरह असर्वज्ञता आदि गुणों से युक्त क्यों नहीं है इस शंका का समाधान है कि सर्वज्ञत्व आदि की कल्पना माया ही कर लेती हैं—

और यही महामाया ईश्वर में सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्व आदि को भी कल्पना करके दिखाती है। जिस माया ने धर्मी (ईश्वर) की कल्पना कर लेती है उसको सर्वज्ञत्वता सर्वशक्तिमत्ता रूप धर्मों की कल्पना करने में माया को क्या भार लगेगा ॥६४॥

यदि कहो कि जीव और ईश्वर के समान कूटस्थ भी मायिक हो जायेगा—

यह अति प्रसंग (शंका) कूटस्थ में भी हो सकती है कूटस्थ में शंका मत करो, कूटस्थ भी मायिक है इसमें कोई प्रमाण नहीं है ॥६५॥

कूटस्थस्य वास्तवत्वेऽपि प्रमाणं नोपलभ्यत इत्याशङ्क्य, श्रुतयः सर्वा अपि प्रमाणमित्याह—

वस्तुत्वं घोषयन्त्यस्य वेदान्ताः सकला अपि ।
सपत्नरूपं वस्त्वन्यन्न सहन्तेऽत्र किंचन ।।६६।।

अन्वयः—सकलाः वेदान्ताः वस्तुत्वं अस्य घोषयन्ति सपत्नरूपं वस्तु अन्यत् अत्र किंचन न सहन्ते ।

'वस्तुत्वमिति' । अत्र कूटस्थस्य पारमार्थिकत्वे प्रतिपक्षभूतमन्यद्वस्तु किंचन न सहन्त इत्यर्थः ।।६६।।

ननु कूटस्थस्य जीवेशयोश्च वास्तवत्वावास्तवत्वसाधने श्रुतय एव पठ्यन्ते, न तर्कैः किंचिदपि साध्यते इत्याशङ्क्य, मुमुक्षूणां श्रुत्यर्थविशदीकरणाय प्रवृत्तत्वान्न तर्कोपन्यास इत्याह—

श्रुत्यर्थं विशदीकुर्मो न तर्काद्वच्मि किंचन ।
तेन तार्किकशङ्कानामत्र कोऽवसरो वद ।।६७।।

अन्वय :—श्रुत्यर्थं विशदीकुर्मः किंचन तर्कात् न वच्मि तेन तार्किकशङ्कानां अत्र कः अवसरः ? वद ।

'श्रुत्यर्थमिति ।।६७।।

कूटस्थ के वास्तव रूप में भी कोई प्रमाण नहीं मिलता इस शंका का समाधान कूटस्थ की वास्तविकता में सब श्रुतियाँ प्रमाण हैं—

सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्र इस कूटस्थ के वस्तु वास्तविक) होने की घोषणा करते हैं। वे इस कूटस्थ की पारमार्थिक होने में कूटस्थ के तर्क आदि सपत्न (शत्रु) प्रतिद्वन्दी किंचित् (किसी) को भी विद्वान् मनुष्य नहीं सहते ।।६६।।

यदि कहो कि जीव और ईश्वर के अवास्तव (मिथ्या) और वास्तव (सत्य) सिद्ध करने में श्रुतियों को पढ़ते हो, तर्क से तो कहते नहीं इस शंका पर कहते हैं कि मुमुक्षु पुरुषों के प्रति श्रुतिगत अर्थों के विशदीकरण करने के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं, न तु तर्क से उपन्यास के निमित्त प्रवृत्त हुए हैं —

हम तो यहाँ केवल श्रुति के अर्थ को विशद (स्पष्ट) कर रहे हैं। तर्क के सहारे कुछ नहीं कर रहे हैं। इस स्थिति में तार्किकों की शंका का यहाँ कौन अवसर है अर्थात् नहीं हैं ।।६७।।

ततः किमित्यत आह --

तस्मात्कुतर्कं संत्यज्य मुमुक्षुः श्रुतिमाश्रयेत् ।
श्रुतौ तु माया जीवेशौ करोतीति प्रदर्शितम् ॥६८॥

अन्वय :—तस्मात् कुतर्कं संत्यज्य मुमुक्षुः श्रुतिं आश्रयेत् श्रुतौ तु माया जीवेशौ करोति इति प्रदर्शितम् ।

'तस्मादिति' । मुमुक्षूणां श्रुत्यर्थः कीदृशोऽनुसंधेय इत्याह -'श्रुतावित्यादिना' । श्रुतिष जीवेशयोर्मायिकत्वम् । ६८॥

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशकृता भवेत् ।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकर्तृकः ॥६९॥

अन्वय :—ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिः ईशकृता भवेत् जाग्रदादिविमोक्षान्तः जीवकर्तृकः संसारः ।

ईक्षणादिप्रवेशान्तायाः सृष्टेः ईश्वरकर्तृत्वम्, जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिबन्धमोक्षलक्षणस्य संसारस्य जीवकर्तृत्वम् ॥६९॥

असङ्ग एव कूटस्थः सर्वदा नास्य कश्चन ।
भवत्यतिशयस्तेन मनस्येवं विचार्यताम् ॥७०॥

अन्वय :—कूटस्थः असङ्ग एव तेन सर्वदा अस्य कश्चन न भवति अतिशयः एवं मनसि विचार्यताम् ।

कूटस्थस्यासङ्गत्वादिकं मृतिजन्मादिलक्षणस्य व्यवहारजातस्यासत्त्वं च प्रतिपादितम्, अतो मुमुक्षुरिममर्थं सर्वदा विचारयेदित्यभिप्रायः ॥७०॥

इससे क्या मुमुक्षु जनों को श्रुति का अर्थ स्पष्ट हो जायेगा ? इस पर कहते हैं—

इससे मुमुक्षु पुरुष कुतर्क को त्यागकर श्रुति का आश्रय लें और श्रुति में तो यह दिखाया ही है कि माया जीव ईश्वर को बनाती है यह दिखाया ही है ॥६८॥

ईक्षण से लेकर प्रवेश तक की सृष्टि ईश्वरकृत है और जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा बन्ध-मोक्ष रूप संसार को जीव ने बनाया है ॥६९॥

कूटस्थ की असंगता और जन्म, मरण, जरा, रोग आदि रूप व्यवहार की असत्ता का वर्णन कर चुके, इससे मुमुक्षु सदैव अपने मन में यह विचारे कि कूटस्थ असंग ही है और इस कूटस्थ को किञ्चन (कोई) भी व्यवहार का अतिशय (जन्म, मरण आदि) नहीं है ॥७०॥

कूटस्थस्य जन्माद्यतिशयाभावः कुतोऽवगम्यत इत्याशङ्क्य, श्रुतिवाक्यादित्यभिप्रेत्य (आत्मोप० ३१) तद्वाक्यं पठति—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥७१॥

अन्वयः—न निरोधः उत्पत्तिः च न बद्धः साधकः च न मुमुक्षुः न वै मुक्तः इति एषा परमार्थता ।
'न निरोध इति' ॥७१॥

ननु तर्हि श्रुतिषु तत्र-तत्र जीवेश्वरादिस्वरूपप्रतिपादनं किमर्थमित्याशङ्क्य, अवाङ्मनसगोचरस्यात्मनोऽवबोधनायेत्याह —

अवाङ्मनसगम्यं तं श्रुतिर्बोधयितुं सदा ।
जीवमीशं जगद्वापि समाश्रित्य प्रबोधयेत् ॥७२॥

अन्वय :—अवाङ्मनसगम्यं तं सदा श्रुतिः बोधयितुं जीवं ईशं जगद् वा अपि समाश्रित्य प्रबोधयेत् ।
'अवाङ्मनसेति' ॥७२॥

अब कूटस्थ में जन्म आदि का अतिशय नहीं है यह कैसे जाना जाय इस शंका का समाधान इसमें श्रुति का वाक्य प्रमाण है ।

न निरोध (नाश) न उत्पत्ति (जन्म) न कोई बद्ध (सुख-दुःख आदि) और न कोई साधक (श्रवणादिक) और न कोई मुमुक्षु (साधन चतुष्ट्य सम्पन्न) न कोई मुक्त (अविद्या निवृत्ति) श्रुति में परमार्थता इतनी है सिद्धान्त है ॥७१॥

यदि शंका करो कि जहाँ-जहाँ श्रुतियों में जीव और ईश्वर का प्रतिपादन किस लिए किया है समाधान वह कूटस्थ आत्मा, मन एवं वाणी का अविषय ही है, इसका साक्षात् ज्ञान होना अत्यधिक कठिन है, इसलिए श्रुतियों में जीव एवं ईश्वरादि के स्वरूप का विवेचन प्राप्त होता है । इस प्रकार कहते हैं —

मन और वाणी से अगम्य उस कूटस्थ आत्म तत्व को समझाने के लिए श्रुतिसदा जीव, ईश्वर या जगत का आश्रय लेकर मुमुक्षु को बोध कराती है ॥७२॥

ननु तत्त्वस्यैकरूपस्य श्रुतिबोध्यत्वे श्रुतिषु विगानं कुतो दृश्यत इत्याशङ्क्य, न तत्त्वे विगानमस्ति, अपि तु तद्बोधनप्रकारे तदपि बोध्यपुरुषचित्तवैषम्यानुसारेण सुरेश्वराचार्यै रुक्तमित्याह --

यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि[1] ।

सा सैव प्रक्रियेह स्यात्साध्वीत्याचार्यभाषितम् ।।७३।।

अन्वय : -- पुंसां यया यया प्रत्यगात्मनि व्युत्पत्तिः भवेत् सा एव प्रक्रिया इह साध्वी स्यात् इति आचार्यभाषितम् ।

'यया ययेति ।।७३।।

यदि कहो कि एक ही अद्वैततत्त्व को समझाने के लिए श्रुतियों में विवाद क्यों (फरक) क्यों दिखायी देता है ।

कूटस्थ तत्त्व में विगान (फरक) नहीं है । किन्तु उसके बोधन के रीतियों में भेद है और वह भी बोधन के योग्य पुरुष के चित्त की विषमता के अनुसार होता है—यह सुरेश्वराचार्य ने कहा है । जिस-जिस प्रक्रिया से पुरुष को प्रत्यगात्मा का ज्ञान हो वही-वही प्रक्रिया यहाँ श्रेष्ठ है यह आचार्यों ने कहा है । ७३।।

विशेष १— प्रतीपं विपरीतं अञ्चति गच्छति इति प्रत्यग्-अनृत, जड़ दुःख देहादि प्रातिकूल्येन यः सत्य प्रकाश-आनन्दात्मना प्रकाशते इति प्रत्यग् चासौ आत्मा इति प्रत्यगात्मा-यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह यच्चास्य सन्ततोभावस्तस्मादात्मेति भाष्यते । यच्चाप्नोति जो सम्पूर्ण इन्द्रिय वृत्तियों के द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है यदादत्ते—जो सब कर्मेन्द्रियों के द्वारा वस्तुओं के लेने देने का काम करता है "यच्चात्ति" जो प्रियता एवं अप्रियता के संस्कारों से युक्त मनोवृत्ति के द्वारा विषय भोग करता है । जो सब देश, काल, वस्तु, वृत्ति अवस्था आदि में एक रस रहता है उसी को व्याप्ति, आदान भोग एवं एक रस उपस्थिति के कारण आत्मा कहते हैं ।

श्रुत्यर्थस्यैकरूपत्वे तत्प्रतिपादकानामेव कुतो विप्रतिपत्तिरित्याशङ्क्य, श्रुतितात्पर्यबोधशून्यानामेव विप्रतिपत्तिर्न तु तद्विदामित्याह—

श्रुतितात्पर्यमखिलमबुद्ध्वा भ्राम्यते जडः ।
विवेकी त्वखिलं बुद्ध्वा तिष्ठत्यानन्दवारिधौ ॥७४॥

अन्वय :—जडः अखिलं श्रुतितात्पर्यं अबुध्वा भ्राम्यते विवेकी तु अखिलं बुद्ध्वा आनन्दवारिधौ तिष्ठति ।

'श्रुतितात्पर्यमिति' ॥७४॥

तर्हि विवेकिनो निश्चयः कीदृश इत्याकाङ्क्षायामाह—

मायामेघो जगन्नीरं वर्षत्वेष यथा तथा ।
चिदाकाशस्य नो हानिर्न वा लाभ इति स्थितिः ॥७५॥

अन्वय :—मायामेघः नीरं जगत् एष यथा तथा वर्षति चिदाकाशस्य हानिः न लाभः वा न इति स्थितः ।

'मायेति' ॥७५॥

यदि शंका करो कि श्रुति एक रूप है तो उनके वक्ता क्यों विवाद करते हैं ? श्रुति के तात्पर्य ज्ञान से शून्य लोगों का ही विरोध है न कि उनके ज्ञाताओं में परस्पर विरोध भाव है, इस प्रकार कहते हैं—

श्रुति के सम्पूर्ण तात्पर्य को न जानकर जड़ (मूर्ख) मनुष्य भ्रम में पड़ जाते हैं और विवेकी तो श्रुति के सम्पूर्ण तात्पर्य को जानकर आनन्द के समुद्र में मग्न रहता है ॥७४॥

अब विवेकी के निश्चय को कहते हैं—

विवेकी का निश्चय है कि माया रूपी मेघ, जगत् रूपी जल की वर्षा जहाँ-तहाँ करे, इसके बरसाने से चैतन्य रूप आकाश की न कोई हानि है न लाभ है, यही सही (सच्ची) स्थिति सिद्धान्त है ॥७५॥

ग्रन्थाभ्यासफलमाह—

इमं कूटस्थदीपं योऽनुसंधत्ते निरन्तरम् ।
स्वयं कूटस्थरूपेण दीप्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥७६॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यारण्यमुनिवर्यकृतपञ्चदश्यां
कूटस्थदीपः समाप्तः ॥८॥

अन्वय :—इमं कूटस्थदीपं यः निरन्तरम् अनुसंधत्ते असौ निरन्तरम् कूटस्थरूपेण स्वयं दीप्यते ।

'इममिति' ॥७६॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्भारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकिंकरेण रामकृष्णाख्येन विदुषा विरचिता कूटस्थदीपपदयोजना समाप्ता ॥८॥

अब ग्रन्थ के अभ्यास का फल कहते हैं—

इस कूटस्थ दीप का जो मुमुक्षु विचार करेगा वह सदा स्वयं कूटस्थ स्वरूप होकर प्रकाशित होता है ॥७६॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यस्वामिकरपात्रशिष्य
श्री डॉ० लक्ष्मणचैतन्यब्रह्मचारिविरचितलक्ष्मणचन्द्रिकाख्ये पञ्चदशीहिन्दीव्याख्याने
कूटस्थदीपप्रकरणं अष्टमं समाप्तम् ।

ध्यानदीपप्रकरणम्

नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
क्रियते ध्यानदीपस्य व्याख्या संक्षेपतो मया ॥१॥

इह तावद्वेदान्तशास्त्रे नित्यानित्यवस्तुविवेकादिसाधनचतुष्टयसंपन्नस्य सम्यक्श्रवणमनन-निदिध्यासनानुष्ठानवतः 'तत्त्वं' पदार्थविवेचनपूर्वकमहावाक्यार्थापरोक्षज्ञानेन ब्रह्मभावलक्षणो मोक्षो भवतीति प्रतिपादितम्, तत्र श्रुतोपनिषत्कस्यापि बुद्धिमान्द्यादिना केनचित् प्रतिबन्धेन वाक्यार्थविषयापरोक्ष-प्रमित्यनुत्पत्तौ सत्यां तदुत्पादनद्वारा मोक्षफलकोपासनानि दिदर्शयिषुरादौ तावत्सदृष्टान्तं ब्रह्मतत्त्वोपास-नयापि मोक्षो भवतीति प्रतिजानीते—

संवादिभ्रमवद्ब्रह्मतत्त्वोपास्त्यापि मुच्यते ।
उत्तरे तापनीयेऽतः श्रुतोपास्तिरनेकधा ॥१॥

अन्वय :—संवादिभ्रमवत् ब्रह्मतत्त्वोपास्त्यापि मुच्यते तापनीये अतः अनेकधा उपास्तिः श्रुता ।

'संवादीति'। यथा संवादिभ्रमेण प्रवृत्तस्याभिप्रेतार्थलाभो भवति, एवं ब्रह्मतत्त्वोपासनयाऽप्य-भिलषितब्रह्मभावलक्षणो मोक्षो भवतीत्यर्थः। तत्र किं प्रमाणमित्यत आह— 'उत्तर इति'। यत उपासनयापि मोक्षोऽस्त्यतः तापनीयोपनिषद्यनेकप्रकारेण ब्रह्मतत्त्वोपासना श्रुता उक्तेत्यर्थः ॥१॥

श्री भारतीतीर्थ और विद्यारण्य मुनि को नमस्कार करके, मैं ध्यानदीप प्रकरण की संक्षेपतः व्याख्या करता हूँ ॥१॥

इस वेदान्त शास्त्र के अनुसार (१) नित्य अनित्य वस्तु विवेक (२ वैराग्य (३) शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान रूप षट सम्पत्ति और (४) मोक्ष की तीव्र इच्छा इन चार साधनों से युक्त और श्रवण मनन एवं निदिध्यासन का अनुष्ठान करने वाले मुमुक्षु को तत् एवं त्वं पदों के अर्थ के विवेचन द्वारा महावाक्यों के अर्थ अपरोक्ष ज्ञान से ब्रह्म भाव रूप मोक्ष होता है यह प्रतिपादन किया, उसमें उप-निषदों के सुनने से भी जिसको बुद्धि की मन्दता आदि प्रतिबन्धों के कारण महावाक्य के अर्थ का अपरोक्ष न हुआ हो उसको भी महावाक्यों के अर्थ को विषय करने वाली यथार्थ अनुभव रूप उपासनाओं को दिखाने का अभिलाषी आचार्य प्रथम दृष्टान्त सहित यह कहते हैं कि ब्रह्म तत्त्व की उपासना से भी मुक्ति होती है—

'संवादिभ्रमवत्' इत्युक्तं प्रपञ्चयितुं संवादिभ्रमप्रतिपादकवार्तिकं पठति—

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्धयाऽभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥२॥

अन्वय :—मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्धयाऽभिधावतोः मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि अर्थक्रियां प्रति विशेषः (अस्ति) ।

'मणिप्रदीपेति' । मणिश्च प्रदीपश्च मणिप्रदीपौ, तयोः प्रभे मणिप्रदीपप्रभे, तयोरिति विग्रहः । मणिप्रभायां दीपप्रभायां च या मणिबुद्धिः सा मिथ्याज्ञानमेव अतस्मिंस्तद्बुद्धित्वाद्, अथापि मणिप्रभायां च या मणिबुद्धि सार्थक्रियाकारिणी, मणिबुद्धयाऽभिधावतः पुरुषस्य मणिलाभो भवति, इतरस्य तु नास्तीत्यर्थक्रियायां वैषम्यमस्तीत्यर्थः ॥२॥

संवादी भ्रम से प्रवृत्त हुए पुरुष को इष्ट लाभ की प्राप्ति हो जाती है । वैसे ही ब्रह्म तत्त्व की उपासना से भी मुक्ति होती है इसी से उत्तर तापनीय में अनेक प्रकार से ब्रह्म तत्त्व की उपासना सुनी है (वर्णन की है) ॥१॥

अब संवादी भ्रम के प्रतिपादक वार्तिक को पढ़ते हैं—

मणि और दीपक की जो दो प्रभा हैं उनको मणि समझकर दौड़ते हुए जो दो मनुष्य हैं, उन दोनों के मिथ्याज्ञान में कोई विशेष (अन्तर) नहीं है अर्थात् दोनों भ्रम हैं तथापि अर्थ क्रिया (प्रयोजन सिद्धि में विशेषता है ही अर्थात् मणि की प्रभा में मणि की बुद्धि से तो मणि मिलती है । (यह संवादी (सफल) भ्रम है) और दीपक की प्रभा में मणि का लाभ नहीं होता यह असंवादी (असफल) भ्रम है ॥२॥

विशेष—उपासनानिरन्तर अन्य वस्तु के आकार वृत्ति रूप विघ्न रहित उपास्य वस्तु के आकार वृत्ति के प्रवाह को उपासना कहते हैं वह सगुण-निर्गुण भेद से दो प्रकार की है और वस्तु में और की बुद्धि करके जो होती है वह सगुण प्रतीकोपासना जैसे शालिग्राम में विष्णु बुद्धि करके और नर्मदेश्वर में शङ्कर बुद्धि करके इसी प्रतीक रूप और अहं ग्रहोपासना का आगे इसी प्रकरण में १२१वें श्लोक में विस्तार से वर्णन करेंगे आचार्य—

वार्तिकं व्याचष्टे—

दीपोऽपवरकस्यान्तर्वर्तते तत्प्रभा बहिः ।
दृश्यते द्वार्यथाऽन्यत्र तद्वद्दृष्टा मणेः प्रभा ॥३॥

अन्वय :—दीपः अपवरकस्य अन्तः वर्तते तत्प्रभा बहिः द्वारि दृश्यते अथ मणेः प्रभा तद्वद् दृष्टा ।

'दीपोऽपवरकस्यान्त' । रित्यादिना श्लोक त्रयेण । कस्मिंश्चिन्मन्दिरे अपवरकस्यान्तर्दीपस्तिष्ठति, तस्य प्रभा बहिर्द्वारप्रदेशे रत्नमिव वर्तुलोपलभ्यते, तथाऽन्यस्मिन्मन्दिरे अपवरकस्यान्तःस्थितस्य रत्नस्य प्रभा बहिर्द्वारप्रदेशे दीपप्रभेव रत्नसमानोपलभ्यते ॥३॥

दूरे प्रभाद्वयं दृष्ट्वा मणिबुद्ध्याऽभिधावतोः ।
प्रभायां मणिबुद्धिस्तु मिथ्याज्ञानं द्वयोरपि ॥४॥

अन्वय :—दूरे प्रभाद्वयं दृष्ट्वा मणिबुद्धया अभिधावतोः द्वयोः अपि प्रभायां मणिबुद्धिस्तु मिथ्याज्ञानं ।

'दूर इति' । तथाविधं प्रभाद्वयं दूरतो दृष्ट्वा 'अयं मणिरयं मणिः' इति बुद्धया द्वौ पुरुषावभिधावनं कुरुतः, तयोर्द्वयोरपि प्रभाविषये जायमानं मणिज्ञानं भ्रान्तमेव ॥४॥

अब वार्तिक का व्याख्यान करते हैं—

किसी मन्दिर के अपवरक (आच्छादन कर्ता) के भीतरी कमरे में दीपक रखा है उस दीपक की प्रभा बाहर द्वार पर रत्न के समान वर्तुल (गोल) दिखाई देती है और वैसे ही दूसरे मन्दिर में अपवरक के मध्य में स्थित रत्नमणि का प्रकाश बाहर द्वारदेश में दीपक की प्रभा के समान रत्न के तुल्य वर्तुल (गोल) के समान दिखाई देता है ॥३॥

ऐसे दो प्रकाशों को दूर से देखने पर "यह मणि है यह मणि है" यह समझते हुए दो पुरुष दौड़े, उन दोनों में से दोनों ही प्रकाश में मणि बुद्धि मिथ्या ज्ञान है ॥४॥

न लभ्यते मणिर्दीपप्रभां प्रत्यभिधावता ।

प्रभायां धावताऽवश्यं लभ्येतैव मणिर्मणेः ॥५॥

अन्वय :—दीपप्रभां प्रति अभिधावता मणिः न उपलभ्यते मणेः प्रभायां धावता मणिः अवश्यं लभ्येत एव ।

अथापि दीपप्रभायां मणिबुद्धिं कृत्वा धावता पुरुषेण मणिर्नोपलभ्यते, मणेः प्रभायां मणिबुद्ध्या धावता मणिर्लभ्येतैव ॥५॥

भवत्वेवं वार्तिकार्थः, प्रकृते किमायातमित्यत आह—

दीपप्रभामणिभ्रान्तिर्विसंवादिभ्रमः स्मृतः ।

मणिप्रभामणिभ्रान्तिः संवादिभ्रम उच्यते ॥६॥

अन्वय :—दीपप्रभामणिः भ्रान्तिः विसंवादिभ्रमः स्मृतः मणिप्रभा मणिभ्रान्तिः संवादिभ्रम उच्यते ।

'दीपप्रभेति' । या दीपप्रभायां मणिभ्रान्तिरस्ति, सः विसंवादिभ्रम इति स्मृतो विद्वद्भिः मणिलाभलक्षणार्थक्रियारहितत्वात् । या मणिप्रभायां मणिबुद्धिरस्ति, सा तु मणिलाभलक्षणार्थक्रियावत्त्वात्संवादिभ्रम इत्युच्यते इत्यर्थः ॥६॥

तथापि उन दोनों में से दीप प्रकाश को रत्न समझकर उस ओर दौड़ने वाले पुरुष को तो रत्न की प्राप्ति नहीं होती परन्तु जो पुरुष मणि के प्रकाश को मणि समझकर दौड़ा है, उसे मणि का लाभ अवश्य होता है ॥५॥

यदि कहो कि यह वार्तिक का अर्थ रहे, प्रकरण में क्या आया ?

यहाँ दीप प्रकाश में जो मणि भ्रान्ति है, वह विसंवादिभ्रम विद्वानों ने कहा है मणि लाभ नहीं होता विफल भ्रम है । जो मणि की प्रभा में मणिबुद्धि है । वह मणि लाभ होने से संवादि (सफल) भ्रम कहलाता है ॥६॥

एवं प्रत्यक्षविषये संवादिभ्रमं दर्शयित्वाऽनुमानविषयेऽपि तं दर्शयति—

वाष्पं धूमतया बुद्ध्वा तत्राङ्गारानुमानतः।
वह्निर्यदृच्छया लब्धः स संवादिभ्रमो मतः ॥७॥

अन्वय :—वाष्पं धूमतया बुद्ध्वा तत्राङ्गारानुमानतः वह्निः यदृच्छया लब्धः स संवादिभ्रमो मतः।

'वाष्पमिति'। क्वचित्प्रदेशे स्थितं वाष्पं धूमत्वेन निश्चित्य तन्मूलप्रदेशे 'अयं प्रदेशः अग्निमान्, धूमवत्त्वात्' इत्यनुमाय प्रवृत्तेन पुरुषेण दैवगत्या यद्यग्निस्तत्रोपलभ्येत तदा वाष्पविषयं धूमज्ञानं संवादिभ्रमो मतः ॥७॥

आगमविषयेऽपि तं दर्शयति—

गोदावर्युदकं गङ्गोदकं मत्वा विशुद्धये।
संप्रोक्ष्य शुद्धिमाप्नोतिस संवादिभ्रमो मतः ॥८॥

अन्वयः—गोदावरि उदकं गङ्गोदकं मत्वा विशुद्धये संप्रोक्ष्य शुद्धिं आप्नोति स संवादिभ्रमो मतः।

'गोदावर्युदकमिति'। गोदावर्युदकस्यापि विशुद्धिहेतुत्वमागमसिद्धम्, अतस्तत्प्रोक्षणादपि विशुद्धिरस्त्येव, अथापि गोदावर्युदके या गङ्गोदकबुद्धिः सा भ्रान्तिरेव ॥८॥

इस प्रकार प्रत्यक्ष के विषय में संवादिभ्रम को दिखाकर अब अनुमान के विषय में भी संवादि भ्रम का वर्णन करते हैं—

किसी देश में स्थित वाष्प (भाप) को धुँआ समझकर उस स्थान के विषय में "यह देश अग्निमान् है, धूम होने से महानस के समान ऐसा निश्चय करके उस देश में गये पुरुष को यदि दैवगति से अग्नि मिल जाय तो वाष्प में जो उसका धूम ज्ञान है वह संवादिभ्रम माना है ॥७॥

अब शास्त्र में संवादी भ्रम को कहते हैं—

गोदावरी के जल को गंगाजल मानकर शुद्धि के लिए अपने देह पर छिड़क कर मनुष्य शुद्ध हो जाता है यह भी संवादी भ्रम माना है अर्थात् गोदावरी का जल भी आगम (शास्त्र) में शुद्धि का हेतु प्रसिद्ध है इससे उसके प्रोक्षण से भी शुद्धि तो होती है तथापि गोदावरी के जल में जो गङ्गाजल की बुद्धि है वह भ्रम ही है ॥८॥

उदाहरणान्तरमाह—

ज्वरेणाप्तः संनिपातं भ्रान्त्या नारायणं स्मरन् ।
मृतः स्वर्गमवाप्नोति स संवादिभ्रमो मतः ॥९॥

अन्वय :—ज्वरेण संनिपातं आप्तः नारायणं भ्रान्त्या स्मरन् मृतः स्वर्गं आप्नोति स संवादिभ्रमो मतः ।

'ज्वरेणाप्त इति' । ज्वरेण सन्निपातं प्राप्तः पुरुषः 'इदं नारायणस्मरणं मम स्वर्गसाधनम्' इति ज्ञानमन्तरेणापि सन्निपातप्रयुक्तभ्रमवशात् साधारणपुरुषतया चैद्यादिवन्नारायणं स्मरन् मृतः स्वर्गमवाप्नोत्येव, 'हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृत 'आक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम्' इत्यादिपुराणवचनेभ्यः । अत्रापि नारायणनाम्नः पुत्रनामत्वज्ञानं भ्रान्तिरेव ॥९॥

एवं त्रिविधसंवादिभ्रमोदाहरणेन सिद्धमर्थमाह—

प्रत्यक्षस्यानुमानस्य तथा शास्त्रस्य गोचरे ।
उक्तन्यायेन संवादिभ्रमाः सन्ति हि कोटिशः ॥१०॥

अन्वय प्रत्यक्षस्य अनुमानस्य तथा शास्त्रस्य गोचरे उक्तन्यायेन हि कोटिशः संवादिभ्रमाः सन्ति ।

'प्रत्यक्षस्येति' ॥१०॥

अन्य भी संवादी भ्रम के उदाहरण देते हैं—

ज्वर के कारण सन्निपात का रोगी हुआ मनुष्य "यह नारायण का स्मरण मेरे लिए स्वर्ग प्राप्ति का साधन है" यह न जानता हुआ भी सन्निपात से हुए भ्रम के वश शिशुपाल आदि साधारण पुरुषों की तरह नारायण का स्मरण करता हुआ भरसक स्वर्ग में पहुँच ही जाता है वह संवादी भ्रम है । क्योंकि दुष्ट चित्त से भी स्मरण किया हरि, पाप को हरता है और पापी अजामिल भी पुत्र के नारायण नाम का उच्चारण करके मुक्ति को प्राप्त हुआ इत्यादि पुराण के वचनों से नारायण नाम को पुत्र नाम समझना भ्रम है ॥९॥

इस प्रकार त्रिविध संवादी भ्रम के उदाहरण से सिद्ध अर्थ का वर्णन करते हैं—

इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र के विषय में पूर्वोक्त न्याय से करोड़ों संवादी भ्रम हैं, अर्थात् कार्यकारी भ्रम है ॥१०॥

विपक्षे बाधकप्रदर्शनेनोक्तमर्थं द्रढयति—

अन्यथा मृत्तिकादारुशिलाः स्युर्देवताः कथम् ।
अग्नित्वादिधियोपास्याः कथं वा योषिदादयः ॥११॥

अन्वय :—अन्यथा मृत्तिकादारुशिलाः देवताः कथम् स्युः अग्नित्वादिधिया योषिदादयः कथं वा उपास्याः ।

'अन्यथेति' । अन्यथा संवादिभ्रमाभावे मृदादयः फलसिद्धये देवतात्वेन पूज्या न भवेयुः, स्वतो देवतात्वाभावादित्यर्थः । बाधकान्तरमाह— 'अग्नित्वादिति' । पञ्चाग्निविद्याया 'योषा वाव गोतमाग्निः पुरुषो वाव गोतमाग्निः पृथिवी वाव गोतमाग्निः पर्जन्यो वाव गोतमाग्निरसौ वाव द्युलोको गोतमाग्निः' (छा० ५।८।१) इत्यादिवाक्यैर्योषित्पुरुषपृथिवीपर्जन्यद्युलोकानामग्नित्वेनोपासनं ब्रह्मलोकावाप्तिफलकं न भवेदित्यर्थः । 'आदि' पदेन, मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (तै० ३।१८।१), 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३।१९।१) इत्येवमादयो गृह्यन्ते ॥११॥

अब विपक्ष (न मानने) में बाधक को कहकर पूर्वोक्त अर्थ को दृढ़ करते हैं—

उक्त भ्रम न मानोगे तो मिट्टी, काष्ठ, पत्थर, देवता कैसे होंगे और स्त्री आदि की अग्नि आदि बुद्धि से उपासना कैसे होगी इससे संवादी भ्रम का मानना आवश्यक है ।

अन्यथा (संवादी भ्रम को न मानोगे तो) फल सिद्धि के लिए मिट्टी, काष्ठ, शिलाये देवता मानकर पूजन के योग्य किस प्रकार होंगे ये स्वतः देवता नहीं है और योषित (स्त्री) आदि[1] भी अग्नि आदि की बुद्धि से उपासना के योग्य कैसे होते अर्थात् नहीं होते जैसे कि पञ्चाग्नि विद्या में जो यह कहा है—हे गौतम ! स्त्री ही अग्नि है । हे गौतम ! यह पुरुष ही अग्नि है । हे गौतम ! यह पृथिवी ही अग्नि है । हे गौतम ! यह पर्जन्य ही अग्नि है । हे गौतम ! यह द्युलोक ही अग्नि है इनको अग्नि समझकर जो उपासना करता है—उससे ब्रह्मलोक मिलता है और आदि पद से मन ब्रह्म है इस प्रकार उपासना करें यह अध्यात्म दृष्टि है । आदित्य ब्रह्म है ऐसा उपदेश है यह अधिदेव दृष्टि है, इसका ग्रहण समझना, भ्रम के मानने से ये सब असंगत हो जायेंगे ॥११॥

विशेष १— आदि शब्द से ईश्वर, पति, गुरु, पिता अनेक उपास्य जान लेना चाहिए, जो संवादी भ्रम को न मानने से उक्त शास्त्र इन सब उपास्यों का निषेध होगा सो अनिष्ट है इससे संवादी भ्रम मानना चाहिए ।

इदानीं बहुभिर्ग्रन्थैरुपपादितं संवादिभ्रमं बुद्धिसौकर्याय संक्षिप्य दर्शयति—

अयथावस्तुविज्ञानात् फलं लभ्यत ईप्सितम् ।

काकतालीयतः सोऽयं संवादिभ्रम उच्यते ॥१२॥

अन्वय : अन्यथावस्तु विज्ञानात् ईप्सितम् फलं काकतालीयतः लभ्यते सोऽयं संवादिभ्रमः उच्यते ।

'अन्यथावस्त्विति' । विहितादविहिताद्वा यस्मादयथावस्तुविज्ञानाद्विपरीतज्ञानादीप्सितमभिलषितं फलं काकतालीयन्यायतो दैवगत्या लभ्यते, सोऽयं संवादिभ्रम इत्यर्थः ॥१२॥

ननु ब्रह्मोपासनस्यायथावस्तुविषयस्य कथं सम्यग्ज्ञानसाध्यं मुक्तिफलप्रदत्वमित्याशङ्क्य, संवादिभ्रमवदेत्याह—

स्वयंभ्रमोऽपि संवादी यथा सम्यक्फलप्रदः ।

ब्रह्मतत्त्वोपासनापि तथा मुक्तिफलप्रदा ॥१३॥

अन्वय :—स्वयंभ्रमोऽपि सम्यक्फलप्रदः यथा संवादि ब्रह्मतत्त्वोपासनापि तथा मुक्तिफल प्रदा ।

'स्वयंभ्रम इति' ।

अब अनेक ग्रन्थों में वर्णन किये संवादी भ्रम को बुद्धि में सरलता से आवे संक्षेप में दिखाते हैं—

जहाँ शास्त्र से विहित अथवा अविहित (विपरीत) के ज्ञान से वाञ्छित (अभीष्ट) फल काकताली न्याय से दैवात् प्राप्त हो जाय वहाँ यह संवादी भ्रम माना है ॥१२॥

यदि कहो कि यथार्थवस्तु विषयक ब्रह्म की उपासना से सम्यग् ज्ञान से साध्य मुक्ति न होगी – संवादी भ्रम से होगी—

जैसे स्वयं भ्रम रूप भी संवादी भ्रम (सफल प्रवृत्ति का जनक ज्ञान) सम्यक् फल देता है ऐसे ही ब्रह्मतत्त्व की उपासना भी मुक्ति रूप फल देती है ॥१३॥

ननु ब्रह्मतत्त्वं[1] ज्ञात्वोपासनं क्रियतेऽज्ञात्वा वा ? आद्ये उपासनावैयर्थ्यं, मोक्षसाधनस्य ज्ञानस्यैव विद्यमानत्वात् । द्वितीये विषयापरिज्ञानादुपासनमेव न घटत इत्याशङ्क्य —

वेदान्तेभ्यो ब्रह्मतत्त्वमखण्डैकरसात्मकम् ।
परोक्षमवगम्यैतदहमस्मीत्युपासते ॥१४॥

अन्वय :—वेदान्तेभ्यः अखण्डैकरसात्मकम् ब्रह्मतत्त्वं परोक्षं अवगम्य एतद् अहं अस्मीति उपासते ।

'वेदान्तेभ्य इति' । अयमभिप्रायः :—ब्रह्मात्मैकत्वापरोक्षज्ञानस्य मोक्षसाधनस्यानुत्पन्नत्वान्नो-पासनावैयर्थ्यं शास्त्रात्परोक्षतयाऽवगतत्वात् ब्रह्मण उपासनाविषयत्वमिति ॥१४॥

यदि शंका हो कि ब्रह्मतत्त्व को पहले जानकर उपासना करते हो या बिना जाने, प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म का ज्ञान होने से मुक्ति (मोक्ष) हो जायगा, उपासना व्यर्थ हो जायगी, दूसरा पक्ष नहीं घट सकता उपासना के विषय के ज्ञान बिना उपासना कैसे होगी समाधान —

वेदान्तों से अखण्ड एक रस रूप ब्रह्मतत्त्व को परोक्ष जानकर "अहं ब्रह्मास्मि"[2] "मैं ब्रह्म हूँ" इस रूप से उपासना की जाती है ॥१४॥

यह अभिप्राय है कि ब्रह्म आत्मा की एकता का जो अपरोक्ष ज्ञान है वह अभी उत्पन्न नहीं हुआ इससे उपासना व्यर्थ नहीं है अतएव शास्त्र से ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान होने पर उपरोक्त अपरोक्ष ज्ञान के लिए ब्रह्म की उपासना उचित है ॥१४॥

विशेष १— प्रतीकत्वोपासकत्वहानिर्ब्रह्मैक्यवीक्षणे । अवीक्षणे तु भिन्नत्वात् नास्त्यहं दृष्टियोग्यता । ब्रह्मैक्य के वीक्षण ज्ञान काल में प्रतीकत्व और उपासनत्व की हानि है, और अवीक्षण (अज्ञान काल में भिन्न होने के कारण अहं दृष्टि योग्यता नहीं है ।

२— प्रत्यक्रूपो यः साक्षी अयं अहं अस्मि इति निरन्तरभासमानअन्तःकरणस्फुरणरूप अधिष्ठानस्वरूपअध्यासनिवर्तिकाम् ।

उपास्यब्रह्मतत्त्वगोचरस्य परोक्षज्ञानस्य किं रूपमित्याकाङ्क्षायामाह—

प्रत्यग्व्यक्तिमनुल्लिख्य शास्त्राद्विष्ण्वादिमूर्तिवत् ।
अस्ति ब्रह्मेति सामान्यज्ञानमत्र परोक्षधीः ॥१५॥

अन्वय : प्रत्यक्व्यक्तिं अनुल्लिख्य शास्त्रात् विष्ण्वादिमूर्तिवत् ब्रह्म अस्ति इति अत्र परोक्षधीः सामान्यज्ञानम् ।

'प्रत्यगिति' । प्रत्यग्व्यक्तिं बुद्ध्यादिसाक्षिणमानन्दात्मानमनुल्लिख्याविषयीकृत्य शास्त्रात् सत्यज्ञानादिवाक्यजाताद् ब्रह्मास्मीत्येव सामान्याकारेण जायमानं ज्ञानमत्रास्यामुपासनायां परोक्षधीः परोक्षज्ञानं विवक्षितमित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः 'विष्ण्वादीति' । विष्ण्वादिमूर्तिप्रतिपादकशास्त्रजन्यज्ञानवदित्यर्थः ॥१५॥

ननु शास्त्रेण विष्ण्वादिमूर्तेश्चतुर्भुजत्वादिविशेषप्रतीतेस्तज्ज्ञानस्यापि कुतः परोक्षत्वमित्याशङ्क्याह—

चतुर्भुजाद्यवगतावपि मूर्तिमनुल्लिखन् ।
अक्षैः परोक्षज्ञान्येव न तदा विष्णुमीक्षते ॥१६॥

अन्वय :—चतुर्भुजाद्यवगतौ अपि मूर्तिं अनुल्लिखन् परोक्षज्ञानी एव अक्षैः तदा विष्णुं न ईक्षते ।

'चतुर्भुजादीति' । शास्त्रेण चतुर्भुजत्वादिविशेषप्रतीतावपि चक्षुरादिभिर्विष्ण्वादिमूर्तिमविषयीकुर्वन् पुरुषः परोक्षज्ञान्येव । तत्रोपपत्तिमाह –'न तदेति । तदोपासनाकाले विष्णुमुपास्यं नेक्षते. नेन्द्रियैर्विषयीकरोतीत्यर्थः ॥१६॥

अब उपासना के योग्य ब्रह्मतत्त्व के परोक्षज्ञान का स्वरूप का वर्णन करते हैं—

जहाँ बुद्धि आदि के साक्षी आनन्द रूप आत्मा की प्रत्यक् (आन्तर) आत्मा के स्वरूप को उल्लेख (नाम) प्रत्यक्ष रूप से विषय न करके ऐसा जो सत्य ज्ञान, आनन्द रूप शास्त्र के वाक्यों से पैदा हुआ ब्रह्म है यह ज्ञान सामान्य ज्ञान इस उपासना में इस प्रकार परोक्षज्ञान कहा है यह दृष्टान्त है—जैसे विष्णु आदि की मूर्ति के प्रतिपादक शास्त्र से विष्णु का परोक्षज्ञान होता है ॥१५॥

यदि कहो कि शास्त्र से विष्णु आदि की चतुर्भुज मूर्ति आदि का विशेष ज्ञान होने से उसका ज्ञान परोक्ष कैसे हो सकता है—

शास्त्र से मूर्ति चतुर्भुज आदि का ज्ञान होने पर भी चतुर्भुज मूर्ति आदि को इन्द्रियों से नहीं देख पाता उस समय पुरुष इसलिए वह मूर्ति का परोक्ष ज्ञानी ही है । यह उपासना के समय विष्णु को इन्द्रियों से देखता भी तो नहीं है ॥१६॥

ननु विष्ण्वादिगोचरज्ञानस्य व्यक्त्युल्लेखित्वाभाद् भ्रमत्वमित्याशङ्क्य, प्रमाणेन जनितत्वान्न भ्रमत्वमित्याह—

परोक्षत्वापराधेन भवेन्नातत्त्ववेदनम् ।
प्रमाणेनैव शास्त्रेण सत्त्वमूर्तेर्विभासनात् ॥१७॥

अन्वय : परोक्षत्वापराधेन अतत्त्व वेदनम् न भवेत् प्रमाणेन एव शास्त्रेण सत्त्वमूर्तेः विभासनात् (न भ्रमत्वं) ।

'परोक्षत्वेति' । परोक्षज्ञानत्वं भ्रान्तिज्ञानत्वे कारणं न भवति, किंतु विषयासत्यत्वम्, इह तु प्रमाणभूतेन शास्त्रेणैव यथार्थभूताया विष्ण्वादिमूर्तेरवभासनान्न भ्रमत्वमित्यर्थः ॥१७॥

ननु सच्चिदानन्दव्यक्त्युल्लेखिनो ब्रह्मतत्त्वज्ञानस्य शास्त्रजन्यस्यापि कुतः परोक्षतेत्याशङ्क्य, अपरोक्षत्वप्रयोजकप्रत्यक्त्वोल्लेखाभावादित्याह—

सच्चिदानन्दरूपस्य शास्त्राद्भानेऽप्यनुल्लिखन् ।
प्रत्यञ्चं साक्षिणं तत्तु ब्रह्म साक्षान्न वीक्षते ॥१८॥

अन्वय : सच्चिदानन्दरूपस्य शास्त्राद्भानेऽपि प्रत्यञ्चं साक्षिणं अनुल्लिखन् तत्तु ब्रह्म साक्षात् न वीक्षते ।

'सच्चिदानन्देति' । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', (तै० २।१।१) 'नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरञ्जनः' (हंसोप० ११) 'सद्धीदं सर्वं तत्सदिति' (नृ० ७।३) इत्यादिशास्त्रात्सच्चिदानन्दरूपस्य ब्रह्मणो भानेऽपि प्रत्यञ्चं साक्षिणमनुल्लिखन् तस्य ब्रह्मणः प्रत्यगात्मरूपत्वमजानानस्तद्ब्रह्म साक्षान्न वीक्षते नैव पश्यति ॥१८॥

यदि कहो कि विष्णु आदि के परोक्ष ज्ञान में व्यक्ति विष्णु के उल्लेख का अभाव (न देखना) होने से भ्रमत्व हो जायेगा -समाधान श्रुति प्रमाण से उत्पन्न भ्रम नहीं है—

परोक्षता के अपराध से अतत्त्व वेदन नहीं होता अर्थात् परोक्ष ज्ञान भ्रम का कारण नहीं होता, किन्तु विषय का मिथ्या होना यहाँ तो प्रमाण रूप शास्त्र से ही यथार्थ भूत विष्णु आदि मूर्ति का अवभास होने से यह ज्ञान यथार्थ हैं भ्रम नहीं है । अर्थात् भ्रम वही होता है जिसका विषय असत्य होता है ॥१७॥

यदि कहो कि सच्चिदानन्द व्यक्ति (तत्त्व) का उल्लेखी (साक्षात्कार) ब्रह्म तत्त्व का ज्ञान जो शास्त्र से पैदा होता है वह परोक्ष कैसे हो सकता है, समाधान-अपरोक्षत्व प्रयोजक प्रत्यक् आत्मा का अनुभव न होने से—

कथं तर्हि तथाविधब्रह्मगोचरस्य ज्ञानस्य तत्त्वज्ञानत्वमित्याशङ्क्य, आगमप्रमाणजन्यत्वादित्याह—

शास्त्रोक्तेनैव मार्गेण सच्चिदानन्दनिश्चयात् ।
परोक्षमपि तज्ज्ञानं तत्त्वज्ञानं न तु भ्रमः ॥१९॥

अन्वय :—शास्त्रोक्तेनैव मार्गेण सच्चिदानन्दनिश्चयात् तज्ज्ञानं परोक्षमपि तत्त्वज्ञानं भ्रमः तु न ।

'शास्त्रेति' । तज्ज्ञानं परोक्षमपि शास्त्रोक्तेनैव प्रकारेण ब्रह्मणः सच्चिदानन्दरूपनिश्चायकत्वात् सम्यग्ज्ञानमेव न भ्रम इत्यर्थः ॥१९॥

शास्त्र से सच्चिदानन्द के भान होने पर भी साक्षी रूप प्रत्यक् व्यक्ति को विषय न करके वह मुमुक्षु उसे साक्षात् नहीं देखता है ।

सत्यं, ज्ञान, अनन्तं, ब्रह्म है—स्वयं ज्योति, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, मुक्त, निरञ्जन शान्त रूप से प्रकाशित जो होता है वही सब है तत् सत् रूप है इत्यादि शास्त्र से सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म का भान होने पर भी प्रत्यक् साक्षी रूप से अनुल्लेख 'अनुभव) से उस ब्रह्म के प्रत्यक्[1] साक्षी रूप से (आत्मा स्वरूप को) न जानता हुआ मुमुक्षु पुरुष उस ब्रह्म को साक्षात् नहीं देखता ॥१८॥

यदि कहो कि उस पूर्वोक्त ब्रह्म ज्ञान को तत्त्व ज्ञान कैसे कहते हो समाधान शास्त्र प्रमाण से ही—

यह पूर्व परोक्ष ब्रह्मज्ञान शास्त्रोक्तमार्ग से सच्चिदानन्द का निश्चय होता है इसलिए परोक्ष है तो भी भ्रम नहीं यथार्थ ज्ञान, ब्रह्मज्ञान, तत्त्व ज्ञान ही है ॥१९॥

विशेष १— प्रत्यक्रूपो यः साक्षी अयं अहं अस्मि इति निरन्तरं भासमान अन्तःकरणस्फुरणरूप अधिष्ठानस्वरूपअध्यासनिवर्तिकाम् ।

ननु सत्यज्ञानादिवाक्यैर्ब्रह्मणः सच्चिदानन्दरूपत्वमिव तत्त्वमस्यादिवाक्यैः प्रत्यग्रूपत्वमपि तस्य बोध्यत एव, अतः शास्त्रजन्यस्यापि ज्ञानस्य प्रत्यग्व्यक्त्युल्लेखित्वादपरोक्षमेवेत्याशङ्क्याह—

ब्रह्म यद्यपि शास्त्रेषु प्रत्यक्त्वेनैव वर्णितम् ।
महावाक्यैस्तथाप्येतद्दुर्बोधमविचारिणः ॥२०॥

अन्वय :— यद्यपि शास्त्रेषु ब्रह्म प्रत्यक्त्वेनैव वर्णितम् तथापि एतत् महावाक्यैः अविचारिणः दुर्बोधं ।

'ब्रह्मेति' । यद्यपि वेदान्तेषु महावाक्यैर्ब्रह्म प्रत्यगात्मत्वेनैवोपदिष्टं तथाप्येतत्प्रत्यग्रूपत्वमन्वय-व्यतिरेकाभ्यां तत्त्वंपदार्थविवेकशून्यस्य दुर्बोधं बोद्धुमशक्यम्, अतः केवलाद्वाक्यान्नापरोक्षज्ञानमुत्पद्यत इत्यर्थः ॥२०॥

ननु सम्यग्ज्ञानस्य प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वात् प्रमाणस्य च तत्त्वमस्यादिवाक्यरूपस्य सद्भावाद्वस्तु-नश्च ब्रह्मात्मैक्यलक्षणस्य विद्यमानत्वात् कुतो विचारमन्तरेणदुर्बोधत्वमित्याशङ्क्याह —

देहाद्यात्मत्वविभ्रान्तौ जाग्रत्यां न हठात्पुमान् ।
ब्रह्मात्मत्वेन विज्ञातुं क्षमते मन्दधीत्वतः ॥२१॥

अन्वय :— देहाद्यात्मत्वविभ्रान्तौ जाग्रत्यां हठात् पुनः मन्दधीः तु ब्रह्मात्मत्वेन अतः विज्ञातुं न क्षमते ।

'देहादीति' । ब्रह्मात्मैकत्वापरोक्षज्ञानविरोधिनो देहेन्द्रियादिष्वात्मत्वभ्रमस्य विचारनिवर्त्यस्य सद्भावात्तन्निवृत्तये विचारोऽपेक्ष्यत इत्यर्थः ॥२१॥

यदि कहो कि सत्य ज्ञान आदि वाक्यों से ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप जाना जाता है इसी प्रकार तत्त्वमसि आदि वाक्यों से प्रत्यक् रूप का भी बोध हो जायेगा, इससे शास्त्रजन्य ज्ञान भी प्रत्यक् व्यक्ति (तत्त्व) को विषय करने से अपरोक्ष ही हो जायगा इस शंका का समाधान -

यद्यपि शास्त्रों में महावाक्यों से प्रत्यक् ब्रह्म का वर्णन किया है तथापि विचारहीन को उसका ज्ञान दुर्लभ है ।

यद्यपि वेदान्तों में महावाक्यों से ब्रह्म का प्रत्यक् रूप से वर्णन किया है, तथापि वह वर्णन किया प्रत्यक् रूप अन्वय व्यतिरेक से जिसको तत् त्वं पदार्थों के विवेक से रहित उस पुरुष को जानने को अशक्य है इससे केवल वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न नहीं होता ॥२०॥

यदि शंका करो कि -सम्यक् ज्ञान प्रमाण और प्रमेय के अधीन है और प्रमाण भी "तत्त्वमसि" आदि महावाक्य है और ब्रह्म आत्मा की एकता रूप वस्तु भी है तो विचार के बिना प्रत्यक् ब्रह्म दुर्बोध कैसे है । समाधान—

ननु तर्हि देहेन्द्रियादिगोचरस्य द्वैतभ्रमस्य सद्भावाददद्वितीयब्रह्मगोचरं परोक्षज्ञानमपि नोदीयादित्याशङ्क्य, परोक्षद्वैतभ्रमस्य परोक्षाद्वैतज्ञानाविरोधित्वाच्छ्रद्धावतः[1] पुंसः शास्त्रात् परोक्षज्ञानमुत्पद्यत एवेत्याह—

ब्रह्ममात्रं सुविज्ञेयं श्रद्धालोः शास्त्रदर्शिनः ।
अपरोक्षद्वैतबुद्धिः परोक्षाद्वैतबुद्धयनुत् ॥२२॥

अन्वय :—ब्रह्ममात्रं श्रद्धालोः शास्त्रदर्शिनः सुवेज्ञेयं अपरोक्षद्वैतबुद्धिः (यतः) परोक्षाद्वैत बुद्धयनुत् ।

'ब्रह्ममात्रमिति' । अपरोक्षद्वैतबुद्धिर्यतः परोक्षाद्वैतबुद्धयनुत्, अतो ब्रह्ममात्रं सुविज्ञेयमिति योजना ॥२२॥

देह आदि में आत्मत्व का भ्रम होने पर मन्द बुद्धि मनुष्य हठ से ब्रह्म को आत्मा रूप नहीं जान सकता ।

अर्थात् ब्रह्म आत्मा की एकता का विरोधी और विचार से निवृत्ति होने योग्य जो देह इन्द्रिय आदि-आदि में आत्मत्व का भ्रम है उसके लिए करना अपेक्षित है ॥२१॥

यदि शंका करो कि देह इन्द्रिय आदि द्वैत भ्रम के रहते अद्वितीय ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान भी नहीं है ? अपरोक्ष द्वैत भ्रम का और परोक्ष अद्वैत ज्ञान का परस्पर विरोध नहीं है, अतः श्रद्धालुजनों में शास्त्र-जन्य परोक्षज्ञान उत्पन्न हो जाता है इस प्रकार कहते हैं -

जो शास्त्र का द्रष्टा ज्ञानवान् पुरुष है उसको ब्रह्ममात्र का ज्ञान अच्छे प्रकार हो सकता है क्योंकि अपरोक्ष द्वैत का ज्ञान परोक्ष अद्वैत का निवर्तक नहीं हो सकता है अर्थात् वे परस्पर विरोधी नहीं हैं ॥२२॥

विशेष १— मुख्यतया श्रद्धा ब्रह्मतत्त्व विषयक स्नेहाशय मूल अविद्या को हटाने वाला नियम यह है कि एक वस्तु को विषय करने वाले भिन्न आकार वाले दो ज्ञान एक अन्तःकरण में नहीं होते ? इसलिए एक ही द्वैत अथवा अद्वैत के अपरोक्ष ज्ञान और परोक्ष ज्ञान के एक अन्तःकरण में होने का विरोध है परन्तु द्वैत के अपरोक्ष ज्ञान और अद्वैत के परोक्ष ज्ञान का विरोध नहीं है इसलिए उपासक को देह आदि द्वैत की अपरोक्ष भ्रान्ति होते हुए भी अद्वैत ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान होना सम्भव है ।

अपरोक्षभ्रमस्य परोक्षसम्यग्ज्ञानाविरोधित्वे दृष्टान्तमाह—

अपरोक्षशिलाबुद्धिर्न परोक्षेशतां नुदेत् ।
प्रतिमादिषु विष्णुत्वे को वा विप्रतिपद्यते ॥२३॥

अन्वय :—अपरोक्षशिलाबुद्धिः परोक्षेशतां न नुदेत् प्रतिमादिषु विष्णुत्वे को वा विप्रतिपद्यते ।

'अपरोक्षेति' । विरोधा भावमेवोदाहृत्य दर्शयति –'प्रतिमादिष्विति' ॥२३॥

केचन विप्रतिपद्यमाना उपलभ्यन्ते इत्याशङ्क्याह—

अश्रद्धालोरविश्वासो नोदाहरणमर्हति ।
श्रद्धालोरेव सर्वत्र वैदिकेष्वधिकारतः ॥२४॥

अन्वय :—अश्रद्धालोः अविश्वासः उदाहरणं नार्हति वैदिकेषु अधिकारतः श्रद्धालोः एव सर्वत्र (उदाहरणं)

'अश्रद्धालोरिति' । कुत इत्यत आह—'श्रद्धालोरेवेति' । सर्वेषु वेदोक्तानुष्ठानेषु श्रद्धालोरेव श्रद्धावत एवाधिकारित्वादित्यर्थः ॥२४॥

अब अपरोक्षभ्रम परोक्ष यथार्थ ज्ञान का विरोधी नहीं है—

शिलादि से विनिर्मित मूर्तियों में अपरोक्ष भ्रमज्ञान शास्त्रजन्य परोक्ष ईश्वर बुद्धि को हटाता नहीं है । विरोध न होने में उदाहरण देकर समझाते हैं विष्णु की मूर्ति नारायण रूप है इस विषय में किसका विवाद है अर्थात् कोई भी विवाद नहीं उठाता है कि इसमें विष्णुत्व नहीं है ॥२३॥

यदि कहो कि कोई विवाद भी करते हैं समाधान—

इस विषय में अश्रद्धालु जो है उसके अविश्वास में उदाहरण देना उचित नहीं है क्योंकि वेदोक्त कर्मों में श्रद्धावान् पुरुष का ही अधिकार है ॥२४॥

एतावता परोक्षज्ञाने किमायातमित्यत आह—

सकृदाप्तोपदेशेन परोक्षज्ञानमुद्भवेत् ।
विष्णुमूर्त्युपदेशो हि न मीमांसामपेक्षते ॥२५॥

अन्वय :—सकृत् आप्तोपदेशेन परोक्षज्ञानं उद्भवेत् हि विष्णुमूर्त्युपदेशः मीमांसां न अपेक्षते ।

'सकृदाप्तेति' । उक्तमर्थं लोकानुभवेन द्रढयति—'विष्णुमूर्त्तीति' ॥२५॥

ननु तर्हि शास्त्रेषु कुतो विचाराः क्रियन्त इत्याशङ्क्य, अनुष्ठेययोः कर्मोपासनयोः संदेह-संभवात्तन्निर्णयाय विचाराः क्रियन्त इत्याह

कर्मोपास्ती विचार्येते अनुष्ठेयाविनिर्णयात् ।
बहुशाखाविप्रकीर्णं निर्णेतुं कः प्रभुर्नरः ॥२६॥

अन्वयः—कर्मोपास्नी अनुष्ठेयाविनिर्णयात् विचार्येते बहुशाखाविप्रकीर्णं कः नरः निर्णेतुं प्रभुः ।

'कर्मोपास्तीति' । सदेहसंभवमेवोपपादयति 'बहुशाखेति' । अनेकासु शाखासु तत्र तत्र चोदितं कर्म उपासनं वा एकत्र समाहृत्य निर्णेतुमस्मदादिर्नरः कः प्रभुः समर्थः ? न कोऽपीत्यर्थः ॥२६॥

यहाँ तक परोक्ष ज्ञान का क्या तात्पर्य है कहते हैं--

उक्त अर्थ को लोकानुभव से दृढ़ करते हैं। एक बार के ही यथार्थ वक्ता जो आप्त पुरुष है उसके उपदेश से ही परोक्ष ज्ञान उत्पन्न हो जाता है क्योंकि विष्णु के मूर्ति के उपदेश में मीमांसा (विचार) की अपेक्षा नहीं है (वह तो विचार के बिना ही परोक्ष ज्ञान को उत्पन्न कर देता है ॥२५॥

यदि कहो कि फिर शास्त्रों में विचार क्यों किए जाते हैं यह शंका करके करने योग्य कर्म और उपासना के भेद से संदेह की निवृत्ति के लिए शास्त्र में विचार किया है -

अनुष्ठेय कर्म एवं उपासना का निर्णय न होने से उन दोनों के विषय में विचार विमर्श किया जाता है। विविध शाखाओं में विकीर्ण कर्म और उपासना के निर्णय के लिए कौन व्यक्ति समर्थ है ? ॥२६॥

अब संदेह उत्पन्न होने को कहते हैं—वेदों के नाना शाखाओं में जहाँ-जहाँ बिखरे हुए कर्म और उपासनाओं को एकत्र कर निर्णय करने में आज हम में से कौन मनुष्य प्रभु (समर्थ) है कोई भी नहीं ॥२६॥

ननु तर्ह्यननुष्ठेयत्वमेव कर्मोपासनयोः प्राप्तमित्याशङ्क्याह—

निर्णीतोऽर्थः कल्पसूत्रैर्ग्रथितस्तावताऽस्ति कः ।
विचारमन्तरेणापि शक्तोऽनुष्ठातुमञ्जसा ॥२७॥

अन्वय :– कल्पसूत्रैः ग्रथितः निर्णीतः अर्थः तावता अस्ति विचारमन्त्रेणापि कः अञ्जसा अनुष्ठातुं शक्तः ।

'निर्णीत इति' । जैमिन्यादिभिः[1] पूर्वाचार्यैर्निश्चितोऽर्थः अनुष्ठानप्रकारः कल्पसूत्रैः संगृहीतोऽस्ति तावता तैर्ग्रथितत्वेनैव तेषु विश्वासवान्पुरुषः विचारं विनापि कर्म सम्यगनुष्ठातुं शक्नोत्येव ॥२७॥

ननु तत्रोपासनाविचाराभावात्तदनुष्ठानं न संभवेदित्याशङ्क्याह —

उपास्तीनामनुष्ठानमार्षग्रन्थेषु वर्णितम् ।
विचाराक्षममर्त्याश्च तच्छ्रुत्वोपासते गुरोः ॥२८॥

अन्वय :—आर्षग्रन्थेषु उपास्तीनां अनुष्ठानं वर्णितम् विचाराक्षममर्त्याश्च तत् गुरोः श्रुत्वा उपासते ।

'उपास्तीनामिति' । आर्षग्रन्थेषु ब्रह्मवासिष्ठादिमन्त्रकल्पेषुपासनाप्रकारो वर्णितः । ततो विचारासमर्था मनुष्याः कल्पेषूक्तं तदुपासनं गुरुमुखादवगत्यानुतिष्ठन्तीति भावः ॥२८॥

यदि कहो कि कर्म और उपासना का भी न करना ही प्राप्त हुआ यह शंका करके कहते हैं -

जैमिनि आदि पूर्वाचार्यों ने जिस अर्थ का निश्चय किया है वह कल्प सूत्रों में ग्रथित (संग्रह) किया है। इससे ही अर्थात् कल्पसूत्रों के लिखने से ही उनमें जिसका विश्वास है, ऐसे आस्तिक पुरुष विचार के बिना भी सुख पूर्वक कर्म का अनुष्ठान करने को समर्थ हैं कर सकते हैं ॥२७॥

यदि कहो कि उपासना के विचाराभाव से उसका अनुष्ठान न होगा । कोई न करेगा ।

(कल्पसूत्रों में कर्मों का अनुष्ठान तो है) अर्थात् ब्रह्म वसिष्ठ आदि आर्ष (ऋषियों के कहे) ग्रन्थों उपासनाओं का अनुष्ठान है और विचार में असमर्थ मनुष्य कल्प सूत्रों में कही उनकी उपासना को गुरु के मुख से सुनकर उपासना करते हैं ॥२८॥

विशेष १— जैमिनीयऋषिकृत् । आश्वलायनऋषिकृत् । बोधायनऋषि कृत् । कात्यायनऋषिकृत् । वैश्वानसऋषिकृत् । भेद से कल्पसूत्र षड् प्रकार के हैं, उनमें वैदिक कर्म के अनुष्ठान का प्रकार दिखाया है यह वेद के षड् अङ्गों के भीतर एक अङ्ग है ।

ननु तर्हि इदानींतनैरपि ग्रन्थकर्तृभिर्वेदवाक्यविचारः कुतः क्रियत इत्याशङ्क्य, स्वस्वबुद्धिपरितोषायैव क्रियते, नानुष्ठानसिद्धय इत्याह—

वेदवाक्यानि निर्णेतुमिच्छन्मीमांसतां जनः ।
आप्तोपदेशमात्रेण ह्यनुष्ठानं हि संभवेत् ॥२९॥

अन्वय :—वेदवाक्यानि निर्णेतुं इच्छन् जनः मीमांसतां आप्तोपदेशमात्रेण हि अनुष्ठानं सम्भवेत् हि ।

'वेदेति' ॥२९॥

ननु ब्रह्मोपासनवद्ब्रह्मसाक्षात्कारस्याप्युपदेशमात्रादेव सिद्धिः किं न स्यादित्याशङ्क्याह—

ब्रह्मसाक्षात्कृतिस्त्वेवं विचारेण विना नृणाम् ।
आप्तोपदेशमात्रेण न संभवति कुत्रचित् ॥३०॥

अन्वय :—एवं विचारेण बिना नृणां ब्रह्मसाक्षात् कृतिः तु आप्तोपदेशमात्रेण कुत्रचित् न संभवति ।

'ब्रह्मेति' ॥३०॥

यदि कहो कि फिर आजकल के भी ग्रन्थकार वेद वाक्यों का विचार क्यों करते हैं, अपनी-अपनी बुद्धि के सन्तोषार्थ अनुष्ठान के लिए नहीं—

वेद वाक्यों का निर्णय करना चाहने वाले विद्वान् जन भले ही विचार करें परन्तु उपासना का अनुष्ठान तो आप्त पुरुष के उपदेश मात्र से सम्भव है ॥२९॥

यदि कहो कि ब्रह्म की उपासना के समान ब्रह्म का साक्षात्कार भी बिना विचार उपदेश से ही हो जायगा—

ब्रह्म का साक्षात्कार (अपरोक्ष ज्ञान) तो विचार के बिना केवल मनुष्य को आप्तों के उपदेश से कभी नहीं होता इसके लिए विचार की आवश्यकता है ॥३०॥

आप्तोपदेशमात्रेणोपासनानुष्ठानोपयोगि परोक्षज्ञानमुत्पद्यते, अपरोक्षज्ञानं तु विचारमन्तरेण न जायत इत्युक्तं, तत्र कारणमाह—

परोक्षज्ञानमश्रद्धा प्रतिबध्नाति नेतरत् ।
अविचारोऽपरोक्षस्य ज्ञानस्य प्रतिबन्धकः ॥३१॥

अन्वय :—अपरोक्षज्ञानं अश्रद्धा परोक्षज्ञानं प्रतिबध्नाति इतरत् न अपरोक्षस्य अविचारः ज्ञानस्य प्रतिबन्धकः ।

'परोक्षेति' । यतोऽविश्वास एव परोक्षज्ञानं प्रतिबध्नाति, नाविचारः, अतस्तन्निवृत्तौ सकृदुपदेशादेव परोक्षज्ञानजन्मोपपद्यते अविचारप्रतिबन्धस्य, अपरोक्षज्ञानस्य तु विचारद्वारातन्निवृत्तिमन्तरेणोत्पत्तिर्न संभवति, अतो विचारः कर्तव्य इति भावः ॥३१॥

ननु विचारे कृतेऽपि यदाऽपरोक्षज्ञानं न जायते तदा किं कर्तव्यमित्यत आह—

विचार्याप्यापरोक्ष्येण ब्रह्मात्मानं न वेत्ति चेत् ।
आपरोक्ष्यावसानत्वाद्भूयो भूयो विचारयेत् ॥३२॥

अन्वय : -विचार्यापि आपरोक्ष्येण ब्रह्मात्मानं न वेत्ति चेत् आपरोक्ष्यावसानत्वात् भूयो भूयः विचारयेत् ।

'विचार्यापीति' । तत्त्वंपदार्थौ सम्यग्विचार्यापि वाक्यार्थं ब्रह्मात्मैकत्वं अपरोक्षतया न जानातीति चेत्तदापि पुनःपुनर्विचार एव कर्तव्यः, अपरोक्षज्ञानहेतोरन्यस्याभावादिति भावः ॥३२॥

आप्तों के उपदेश से ही अनुष्ठान करने का उपयोगी परोक्षज्ञान हो जाता है और अपरोक्ष ज्ञान तो विचार के बिना नहीं होता यह कह आये--अब उसमें कारण का वर्णन करते हैं—

अश्रद्धा परोक्षज्ञान की प्रतिबन्धक है अन्य की नहीं और अविचार अपरोक्ष ज्ञान का प्रतिबन्धक है ॥३१॥

जिससे अश्रद्धा (अविश्वास) ही परोक्षज्ञान का प्रतिबन्धक है अविचार नहीं इससे अश्रद्धा की निवृत्ति होने पर एक बार के उपदेश से ही परोक्ष ज्ञान हो जायगा और अविचार का है प्रतिबन्धक जिसमें ऐसे अपरोक्ष ज्ञान की तो विचार द्वारा, अविचार की निवृत्ति के बिना उत्पत्ति नहीं होती, इससे उसके लिए विचार कर्तव्य है ॥३१॥

यदि कहो विचार करने पर भी जब अपरोक्ष ज्ञान न हो, तब क्या करें—

तत् त्वं पदों के अर्थों का विचार करने पर भी अर्थ का निश्चय होने के अनन्तर भी ब्रह्म और आत्मा की एकता का अपरोक्ष ज्ञान न हो तो भी बार-बार विचार ही करना क्योंकि विचार से अन्य कोई अपरोक्ष ज्ञान का हेतु नहीं है ॥३२॥

ननु भूयो भूयो विचारेणापि इह साक्षात्कारानुदये सति विचारो व्यर्थः स्यादित्याशङ्क्याह—

विचारयन्नामरणं नैवात्मानं लभेत चेत् ।

जन्मान्तरे लभेतैव प्रतिबन्धक्षये सति ॥३३॥

अन्वय :—आमरणं विचारयन् आत्मानं नैव लभेत चेत् जन्मान्तरे प्रतिबन्धक्षये सति लभेतैव ।

'विचारयन्निति' ॥३३॥

नन्विदं कुतोऽवगतमित्याशङ्क्य, ब्रह्मसूत्रकृता व्यासेन 'ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे[1] तद्दर्शनात्' (ब्र० सू० ३।४।५१) इत्यस्मिन्सूत्रेऽभिधानादित्याह—

'इह वाऽमुत्र वा विद्येत्येवं' सूत्रकृतोदितम् ।

शृण्वन्तोऽप्यत्र बहवो यन्न विद्युरिति श्रुतिः ॥३४॥

अन्वय :—सूत्रकृता इह वा अमुत्र वा विद्या इत्येवं उदितं अत्र बहवः शृण्वन्तः अपि यन्न विद्युः इति श्रुतिः ।

'इह वाऽमुत्रेति' । सति प्रतिबन्धे इह जन्मनि ज्ञानानुत्पत्तौ श्रुतिं दर्शयति- 'शृण्वन्त इति' ॥३४॥

यदि कहो कि बार-बार विचार करने पर भी इस जन्म में ब्रह्म साक्षात्कार न हो तो विचार व्यर्थ हो जायगा, इस शंका का समाधान—

(बार-बार विचार करते हुए) अर्थात् यदि विचार करता हुआ मरणपर्यन्त आत्मा का ज्ञान न हो तो जन्मान्तर में प्रतिबन्ध का क्षय होने पर तो आत्म ज्ञान अवश्य हो ही जायेगा, विचार व्यर्थ न होगा ॥३३॥

यदि कहो कि यह किससे जाना जन्मान्तर में फल होता है इस शंका का उत्तर ब्रह्मसूत्र के कर्ता व्यास के वचन से कहते हैं—

प्रतिबन्ध न हो इस लोक में या परलोक में विद्या फल देती है यह सूत्रकार ने कहा है । सुनते हुए भी बहुत से मुमुक्षु इस जन्म में जिस आत्मा को नहीं जानते यह श्रुति है ॥३४॥

विशेष १— प्रस्तुत फलोन्मुख प्रतिबन्ध न हो तो इसी लोक में विद्या उत्पन्न होती है—तत् दर्शनात् गर्भ एवैत० ।

असति प्रतिबन्धेऽत्र ज्ञानं जन्मान्तरेऽन्यथा श्रवणाय इत्यादि शास्त्रात् वामदेवोद्भवादपि । यदि प्रतिबन्ध न हो तो इसी जन्म में ज्ञान हो सकता है अन्यथा जन्मान्तर का भी ग्रहण करना होगा । क्योंकि "श्रवणाय" इत्यादि शास्त्र है और वामदेव का दृष्टान्त भी है अतः विकल्प है "श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यो शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्यु० कठ २।७।" अनेक प्रतिबन्ध होने से कुछ लोक तो श्रवण भी नहीं कर सकते यदि श्रवण हुआ भी तो आत्मा को जानना ही दुष्कर है ।

इह जन्मनि श्रवणादिकर्तुः जन्मान्तरेऽपरोक्षज्ञानं भवतीत्यत्रापि 'गर्भे नु सन्नन्वेषाम वेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा' (ऐ० ४।५) इत्यादिकां श्रुतिमर्थतः पठति—

गर्भ एव शयानः सन् वामदेवोऽवबुद्धवान् ।
पूर्वाभ्यस्तविचारेण यद्वदध्ययनादिषु ॥३५॥

अन्वय :—गर्भ एव शयानः सन् वामदेवः पूर्वाभ्यस्तविचारेण अध्ययनादिषु यद्वत् अवबुद्धवान् ।

'गर्भ इति' । इह जन्मन्युत्पन्नस्य ज्ञानस्य कालान्तरोत्पत्तौ दृष्टान्तमाह—

'यद्वदिति' ॥३५॥

दृष्टान्तं विवृणोति—

बहुवारमधीतेऽपि तदा नायाति चेत्पुनः ।
दिनान्तरेऽनधीत्यैव पूर्वाधीतं स्मरेत्पुमान् ॥३६॥

अन्वयः—बहुवारमधीतेऽपि तदा नायाति चेत् पुनः दिनान्तरे अनधीत्य एव पूर्वाधीतं पुमान् स्मरेत् ।

'बहुवारमिति' ॥३६॥

'आदि' शब्देन परिगृहीतानि दृष्टान्तान्तराण्याह—

कालेन परिपच्यन्ते कृषिगर्भादयो यथा ।
तद्वदात्मविचारोऽपि शनैः कालेन पच्यते ॥३७॥

अन्वयः—यथा कृषिगर्भादयः कालेन परिपच्यन्ते तद्वत् आत्मविचारोऽपि कालेन शनैः पच्यते ।

'कालेनेति' । दार्ष्टान्तिके योजयति—'तद्वदिति' ॥३७॥

इस जन्म में श्रवण आदि का कर्ता है उसको जन्मान्तर में अपरोक्ष ज्ञान होता है इसमें भी इस श्रुति के अर्थ को पढ़ते हैं वामदेव ऋषि ने कहा गर्भ में सोता हुआ ही वामदेव पूर्व जन्म के अभ्यास के विचार से ब्रह्म को जानता हुआ कि मैंने गर्भ में रहते हुए ही इन देवताओं के सम्पूर्ण जन्म को जान लिया, दृष्टान्त यह है जैसे अध्ययन आदि में फल जन्मान्तर में होता है ॥३५॥

बहुत बार पढ़ने पर भी जब वेद पाठ उस दिन स्मरण नहीं होता तो, दूसरे दिन बिना पढ़े ही पूर्व पढ़े हुए का स्मृति में आ जाते हैं । ऐसे ही इस जन्म में अनुत्पन्न ज्ञान इस जन्म के अभ्यास वश कालान्तर में उत्पन्न हो जाता है ॥३६॥

अब अन्य भी दृष्टान्त दिखाते हैं—

जैसे खेती तथा गर्भ आदि समय पाकर ही पकते हैं तुरन्त नहीं ऐसे ही आत्मा विचार भी धीरे-धीरे काल पाकर ही पकता है ॥३७॥

बहुवारं विचारितेऽपि तत्त्वे प्रतिबन्धबलात्साक्षात्कारो न जायत इत्येत 'द्वार्तिककारै' रपि निरूपितमित्याह—

पुनःपुनर्विचारेऽपि त्रिविधप्रतिबन्धतः ।
न वेत्ति तत्त्वमित्येतद्वार्तिके सम्यगीरितम् ॥३८॥

अन्वयः—पुनः पुनः विचारेऽपि त्रिविधप्रतिबन्धतः तत्त्वं न वेत्ति इति, एतत् वार्तिके सम्यक् ईरितम् ।

'पुनःपुनरिति' ॥३८॥

तान्येव वार्तिकान्युदाहरति 'कुतस्तज्ज्ञानमित्यादिना भरतस्य त्रिजन्मभि'रित्यन्तेन । तत्र तावत्पूर्वमनुत्पन्नस्य ज्ञानस्येदानीमुत्पत्तौ कारणं पृच्छति—

कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्तद्धि बन्धपरिक्षयात् ।
असावपि च भूतो वा भावी वा वर्ततेऽथ वा ॥३९॥

अन्वयः—कुतः तज्ज्ञानं इति चेत्तद्धि बन्धपरिक्षयात् असावपि च भूतः वा भावी वा अथ वर्तते वा ।

'कुत इति' । उत्तरमाह –'तद्धि बन्धेति' । बन्धः प्रतिबन्धः, तस्या परिक्षयादित्यर्थः । सोऽपि प्रतिबन्धो भूतो भावी वर्तमानश्चेति त्रिविध इत्याह—'असाविति' ॥३९॥

बार-बार विचार करने पर भी ब्रह्म तत्त्व प्रतिबन्ध के बल से आत्मा साक्षात्कार न होता हो तो यह वार्तिककार ने कहा है—

बार-बार विचार करने पर भी तीन प्रकार के प्रतिबन्धों के होने से ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं होता, यह वार्तिककार ने भी भली भाँति समझाई है ॥३८॥

अब उन्हीं वार्तिकों को कहते हैं वह ज्ञान कैसे होता है भरत का तीन जन्मों में ४५वें श्लोक तक पहले जिसको ज्ञान न हुआ हो इस काल में ज्ञान होने के कारण को पूंछते हैं—

प्रश्न वह ज्ञान (जो पहले जन्म में नहीं हुआ) अब क्यों हुआ । उत्तर तो वह ज्ञान प्रतिबन्ध के परिक्षय (नाश) होने से होता है यह प्रतिबन्ध भी भूत भविष्यत् और वर्तमान के भेद से तीन प्रकार का है ॥३९॥

भवत्वेवं त्रिविधप्रतिबन्धः ततः किमित्यत आह—

अधीतवेदवेदार्थोऽप्यत एव न मुच्यते ।
हिरण्यनिधिदृष्टान्तादिदमेव हि दर्शितम् ॥४०॥

अन्वयः—अतएव अधीतवेद वेदार्थोपि न मुच्यते हिरण्यनिधिदृष्टान्तात् इदं एव हि दर्शितम् ।

'अधीतेति । अत एव प्रतिबन्धसद्भावादेवेत्यर्थः । सति प्रतिबन्धे ज्ञानं नोदेतीत्येतत् 'तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वा प्रजा अहरहर्ब्रह्मलोकं गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः' (छा० ८।३।२) इत्यनया श्रुत्या प्रदर्शितमित्याह—'हिरण्येति' ॥४०॥

नन्वतीतस्य प्रतिबन्धकत्वं न दृष्टमित्याशङ्क्याह—

अतीतेनापि महिषीस्नेहेन प्रतिबन्धतः ।
भिक्षुस्तत्त्वं न वेदेति गाथा लोके प्रगीयते ॥४१॥

अन्वयः—अतीतेनापि महिषीस्नेहेन प्रतिबन्धतः भिक्षुः तत्त्वं न वेद इति गाथा लोके प्रगीयते ।

'अतीतेनेति' । अयमर्थः—कश्चिद्यतिः पूर्वं गार्हस्थ्यदशायां कस्यांचिन्महिष्यां स्नेहं कृत्वा पश्चात्संन्यासानन्तरं श्रवणे प्रवृत्तोऽपि तेनैव स्नेहेन जनितात्प्रतिबन्धात्तत्त्वं गुरुणोपदिष्टमपि न ज्ञातवानित्येवंविधा गाथा लोके प्रगीयते, न पुराणादिषु पठ्यत इत्यर्थः ॥४१॥

यदि कहो कि तीन प्रकार के प्रतिबन्ध रहें वह क्या करेगा——

जिसने वेद और वेद के अर्थ को पढ़ लिया है वह प्रतिबन्ध के होने से ही मुक्त नहीं होता और प्रतिबन्ध के रहने पर ज्ञान भी नहीं होता यह बात इस श्रुति में कही है । जिस प्रकार पृथ्वी में गड़े हुए सुवर्ण के खजाने को उस स्थान से अनभिज्ञ पुरुष ऊपर-ऊपर विचरते हुए भी नहीं जानते इसी प्रकार यह सारी प्रजा नित्य प्रति ब्रह्मलोक को जाती हुई इस ब्रह्मलोक को नहीं जानती वह अनृत के द्वारा हर ली है (अविद्या दोषों द्वारा अपने स्वरूप से बाहर खींच ली गयी है) इस श्रुति में दिखाया है ॥४०॥

अब अतीत (भूत) प्रतिबन्ध से ज्ञान के अभाव को कहते हैं—

अतीत (भूत) काल के भी महिषी के स्नेह रूप प्रतिबन्ध से, कोई संन्यासी आत्मतत्त्व को न जान सका यह गाथा लोक में गायी जाती है । वह कथा यह है कोई संन्यासी गृहस्थ के समय किसी महिषी में स्नेह करके फिर वह संन्यासी हुआ तो वेदान्त का श्रवण करने पर भी उस महिषी स्नेह रूप प्रतिबन्ध के कारण गुरु के उपदेश किये ब्रह्मतत्त्व उसको समझ में नहीं आया ॥४१॥

तर्हि तथाविधस्य तस्य कथं ज्ञानोत्पत्तिरित्यत आह—

अनुसृत्य गुरुः स्नेहं महिष्यां तत्त्वमुक्तवान् ।
ततो यथावद्वेदैष प्रतिबन्धस्य संक्षयात् ॥४२॥

अन्वयः—गुरुः महिष्यां स्नेहं अनुसृत्य तत्त्वं उक्तवान् ततः प्रतिबन्धस्य संक्षयात् एष यथावत् वेद ।

'अनुसृत्येति' । गुरुस्तस्य तत्त्वोपदेष्टा तदीयमहिषीस्नेहमनुसृत्य तस्यामेव महिष्यां तत्त्वं तन्महिष्युपाधिकं ब्रह्मोक्तवान् । ततः सोऽपि महिषीस्नेहलक्षणप्रतिबन्धकापगमेन गुरूपदिष्टं तत्त्वं यथावच्छास्त्रोक्तप्रकारेणैव ज्ञातवानित्यर्थः ॥४२॥

एवमतीतप्रतिबन्धं प्रदर्श्य, वर्तमानं दर्शयति—

प्रतिबन्धो वर्तमानो विषयासक्तिलक्षणः ।
प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः ॥४३॥

अन्वयः—वर्तमानः प्रतिबन्धः विषयाशक्तिलक्षणः प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः (अस्य सत्वे ज्ञानानुदयात्) ।

'प्रतिबन्ध इति' । वर्तमानः प्रतिबन्धश्चित्तस्य विषयासक्तिरूपः एकः प्रज्ञामान्द्यं बुद्धेस्तैक्ष्ण्याभावः, कुतर्कश्च शुष्कतार्किकत्वेन श्रुत्यर्थस्यान्यथोहनं, विपर्ययदुराग्रहः[1] विपर्यये आत्मनः कर्तृत्वादिधर्मयुक्तत्वज्ञान लक्षणे दुराग्रहो युक्तिरहितोऽभिनिवेशः एतेषामन्यतमस्यापि सत्त्वे ज्ञानं नोदेतीत्यर्थः ॥४३॥

यदि कहो कि फिर महिषी के स्नेही उसको कैसे ज्ञान हुआ—

जब तत्त्व के उपदेशकर्ता गुरु ने उसको महिषी स्नेह के अनुसार ही तत्त्व को कहा अर्थात् महिषी रूप उपाधि वाले ब्रह्मतत्त्व का वर्णन किया इससे उस संन्यासी ने उस महिषी स्नेह रूपी प्रतिबन्ध के हट जाने पर गुरु उपदिष्ट तत्त्व को यथार्थ (ठीक-ठीक) ब्रह्म को जाना । महिषी उपाधी को असत्य समझ कर शास्त्रोक्त प्रकार से ब्रह्मज्ञानी हो गया ॥४२॥

इस प्रकार भूत प्रतिबन्ध को दिखाकर वर्तमान को दिखाते हैं—

वर्तमान प्रतिबन्ध एक रूप तो चित्त की विषयों में आसक्ति होना और दूसरी बुद्धि की मन्दता अर्थात् तीक्ष्ण बुद्धि का न होना तीसरी कुतर्क अर्थात् शुष्क तर्कों से श्रुति के अन्यथा (दूसरा) अर्थ करना लगाना चौथा विपर्यय में दुराग्रह अर्थात् आत्मा को कर्ता आदि मानने में हठ करना, युक्ति से रहित आग्रह को दुराग्रह कहते हैं ये वर्तमान में चार प्रतिबन्धों में किसी एक के रहने में ज्ञान का उदय नहीं होता ॥४३॥

विशेष १ – विपर्य = साधनविपरीतभावना, दुराग्रह फलविपरीतभावना ।

अस्यापि प्रतिबन्धस्य केन निवृत्तिरित्यत आह —

शमाद्यैः श्रवणाद्यैश्च तत्र तत्रोचितैः क्षयम् ।

नीतेऽस्मिन्प्रतिबन्धेऽतः स्वस्य ब्रह्मत्वमश्नुते ॥४४॥

अन्वय :—शमाद्यैः श्रवणाद्यैश्च तत्र तत्र उचितैः क्षयम् नीते अस्मिन् प्रतिबन्धे अतः स्वस्य ब्रह्मत्वं अश्नुते ।

'शमाद्यैरिति' 'शमादयः' । 'शान्तो' दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा' (सुबालो० ६।१४) इति श्रुत्युक्ताः श्रवणादयः 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २।४।५) इति श्रुत्याभिहिताः, एतैः साधनैस्तत्र तत्र तस्य तस्य प्रतिबन्धस्य निवर्तने उचितैर्योग्यैस्तस्मिंस्तत्प्रतिबन्धे क्षयं नीते सति विनाशिते सति, अतः प्रतिबन्धापगमादेव स्वस्य प्रत्यगात्मनो ब्रह्मत्वं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥४४॥

अब इन प्रतिबन्धों की भी निवृत्ति के हेतुओं को कहते हैं —

शम; दम, उपरति, तितिक्षा, समाधानता अर्थात् साधनचतुष्टय सम्पत्ति से विषयासक्ति की निवृत्ति होगी, वेदान्त का श्रवण, मनन, निदिध्यासन से जो इनमें श्रवण से बुद्धि की मन्दता नष्ट होती है, मन से कुतर्क और निदिध्यासन से विपर्यय दुराग्रह हटता है इन साधनों से इस वर्तमान साधनों को हटा देने पर उस-उस प्रतिबन्ध के क्षीण होने पर ही अपने प्रत्यगात्मा के ब्रह्मस्वरूप को अपरोक्ष अनुभव करता है ॥४४॥

विशेष —१ जैसे सुवर्ण रचित अनेक दानों की माला एक भूषण करके गिनते हैं। वैसे ही परस्पर सहकारी शम दमादिषट् साधनों की प्राप्ति रूप षट् सम्पत्ति भी एक साधन करके गिने हैं शमादिषट् साधनों की परस्पर सहकारिता इस रीति से है—(१) मन निरोध शम के बिना इन्द्रियों का निरोध होता नहीं इसलिए दमको शम की अपेक्षा है (२) मन के निरोध बिना बहिर्मुख (स्त्री पुत्रादि में आसक्ति) से मन की वेदान्त शास्त्र और सत् गुरु में पूर्ण श्रद्धा रहती नहीं, इसलिए श्रद्धा को शम की अपेक्षा है (३) मन में निरोध बिना ब्रह्म में चित्त की एकाग्रता होती नहीं इसलिए समाधान को भी शम की अपेक्षा है (४) जैसे उत्तम दूध आदि आहार से पाली हुई बिनावधी बिल्ली, चूहे को देखकर ठहरती नहीं, किन्तु चूहे के ऊपर दौड़ती है वैसे ही विषयों से उपराम को प्राप्त हुआ जो मन वह निरोग रूप रस्सी से मुक्त हुआ रुकता नहीं, किन्तु प्राप्त विषयों के ऊपर दौड़ता है इसलिए उपराम को भी शम की अपेक्षा है। इस प्रकार से शम दम आदि को परस्पर की सहकारिता है इसलिए इन षट् को एक साधन रूपता है।

इदानीं भाविप्रतिबन्धं दर्शयति—

आगामिप्रतिबन्धश्च वामदेवे समीरितः ।
एकेन जन्मना क्षीणो भरतस्य त्रिजन्मभिः ॥४५॥

अन्वयः—आगामिप्रतिबन्धस्य वामदेवे समीरितः एकेन जन्मना क्षीणः भरतस्य त्रिजन्मभिः (क्षीणः)

'आगामीति' । आगामिप्रतिबन्धो जन्मान्तरहेतुः प्रारब्धशेष इत्यर्थः । तस्य च भोगमन्तरेण निवृत्त्यभावात्तन्निवृत्तौ कालनियमो नास्तीत्याह—'एकेनेति' । स च एकेन जन्मना क्षीणो वामदेवस्येति शेषः । भरतस्य त्रिजन्मभिः, 'क्षीणः' इत्यनुषज्यते ॥४५॥

नन्वेकेन त्रिजन्मभिरिति नियतकालत्वं भवतैवोच्यत इत्याशङ्क्याह—

योगभ्रष्टस्य गीतायामतीते बहुजन्मनि ।
प्रतिबन्धक्षयः प्रोक्तो न विचारोऽप्यनर्थकः ॥४६॥

अन्वय :—योगभ्रष्टस्य बहु जन्मनि अतीते प्रतिबन्धक्षयः प्रोक्तः विचारः अपि अनर्थकः न ।

'योगेति' । योगभ्रष्टः तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्तं विचाररहित इत्यर्थः । तर्हि तत्त्वविचारो निष्फलःस्यादित्याशङ्क्याह–'न विचारोऽपीति'। प्रतिबन्धनिवृत्त्यनन्तरमेवापरोक्षज्ञानलक्षणफलसद्भावादितिभावः ॥४६॥

अब भावि (आगामी) प्रतिबन्ध को दिखाते हैं -

आगामी प्रतिबन्ध वामदेव ने बताया है जन्मान्तर दिखाने वाला आगामी प्रतिबन्ध (प्रारब्ध शेष) जिसकी भोग के बिना निवृत्ति नहीं होती निवृत्ति में भी काल का नियमन ही है। वह प्रतिबन्ध वामदेव का तो एक जन्म में नष्ट हुआ और भरत का तीन जन्म में क्षीण हुआ ॥४५॥

यदि कहो कि एक जन्म, तीन जन्म कहने से (प्रारब्ध शेष) भावी प्रतिबन्ध काल नियम तो आपने कह दिया है—उत्तर—

गीता में योग भ्रष्ट प्रतिबन्ध का क्षय गीता में बहुत जन्मों के बीतने पर कहा है । अर्थात् तत्त्व साक्षात्कार होने तक विचार को जारी न रख बीच में साधन को छोड़ देने वाले पुरुष का विचार निष्फल होगा, यह शंका करके समाधान—उसका पूर्व जन्म में किया तत्त्व विचार निष्फल नहीं होगा प्रतिबन्ध[1] की निवृत्ति होते ही उसको विचार का फल अपरोक्ष ज्ञान के रूप में मिल जायेगा ॥४६॥

विशेष १ - यहाँ रहस्य यह है कोई एक कर्म अनेक जन्म का कारण होता है । एक ही ब्रह्म हत्या रूप कर्म नरक दुःख के अनुभव के अनन्तर कुत्ता, सर्प, भेंड़ आदि दश जन्म होते हैं जैसे एक ही कार्तिक पूर्णिमा के दिन किये कार्तिक स्वामी का दर्शन रूप कर्म धनादिक विभूति सम्पन्न सात ब्राह्मण कुल में जन्म होते हैं यह शास्त्रोंमें कहा है। इस प्रकार अनेक जन्म का हेतु कोई-कोई कर्म प्रारब्ध फल का आरम्भक होता है, यही आगामी प्रतिबन्धक है। इस प्रतिवन्ध के रहने पर श्रवण मननादि विचार रूप ज्ञान के साधनों में प्रवर्तक हुआ पुरुष भी इस प्रतिबन्ध के होने पर ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती इससे इस जन्म के फल रूप अन्त के जन्म में ही ज्ञान होता है ।

गीतायां (६·४१-४४) प्रतिपादितमर्थं दर्शयति 'प्राप्य' इत्यादिना 'ततो याति परां गतिम्' (प्र० ६।५०) इत्यन्तेन —

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानात्मतत्त्वविचारतः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे साभिलाषोऽभिजायते ॥४७॥

अन्वय :—आत्मतत्त्वविचारतः पुण्यकृतां लोकान् प्राप्य शुचीनां श्रीमतां गेहे साभिलाषः अभिजायते ।

'प्राप्येति' । योगभ्रष्ट आत्मतत्त्वविचारबलादेव पुण्यकारिणां लोकान्स्वर्गविशेषान् प्राप्य तत्र बहुकालं सुखमनुभूय तद्भोगावसाने साभिलाषश्चेदस्मिँल्लोके शुचीनां मातृतः पितृतः शुद्धानां श्रीमतां कुलेऽभिजायते ॥४७॥

पक्षान्तरमाह—

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
निःस्पृहो ब्रह्मतत्त्वस्य विचारात्तद्धि दुर्लभम् ॥४८॥

अन्वयः अथवा धीमताम् योगिनां एव कुले भवति निस्पृहः ब्रह्मतत्त्वस्य विचारात् तद्धिदुर्लभम् ।

'अथवेति' । निःस्पृहः स्वयमतिविरक्तश्चेद्ब्रह्मतत्त्वविचारादेव धीमतामात्मतत्त्वनिश्चयविचार-वतां योगिनां चित्तैकाग्र्यवतां कुले भवति, जायत इत्यर्थ । पूर्वस्मात्पक्षात्को विशेष इत्याह—'तद्धीति' । हि यस्मात्कारणात्तद्योगिकुले जन्म दुर्लभम्, अल्पपुण्येनालभ्यमित्यर्थः ॥४८॥

अब गीता में 'प्राप्य' यहाँ से लेकर 'ततो याति परां गतिम्' यहाँ तक प्रतिपादित अर्थ को दिखाते हैं—

योग से भ्रष्ट पुरुष आत्मतत्त्व विचार के बल से ही पुण्यकारियों के लोक विशेष स्वर्ग को प्राप्त होकर वहाँ बहुत काल तक सुख भोगकर उस भोग के पश्चात् उसकी अभिलाषा बनी रही तो, इस लोक में माता, पिता के वीर्य से शुद्ध जो लक्ष्मीवानों का कुल उसमें जन्म लेता है ॥४७॥

अब दूसरा पक्ष कहते हैं—

अथवा वह योगभ्रष्ट निःस्पृह स्वयं विषयों से अत्यन्त विरक्त हो चुका है तो ब्रह्मतत्त्व के विचार के प्रभाव से ही धीमान् आत्मतत्त्व के विचार से जिनका चित्त एकाग्र है वे योगी होते हैं निश्चय ही योगियों के कुल में जन्म लेता है (पूर्वोक्त योग भ्रष्ट से इसमें क्या विशेषता है) कहते हैं—क्योंकि वह योगियों का कुल में जन्म दुर्लभ है थोड़े पुण्यों से प्राप्त नहीं होता ॥४८॥

तस्य दुर्लभत्वमुपपादयति—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयस्तस्मादेतद्धि दुर्लभम् ॥४६॥

अन्वय :—तत्र तं पौर्वदेहिकम् बुद्धिसंयोगं लभते ततः च भूयः यतते तस्मात् एतत् दुर्लभम् हि ।

'तत्रेति' । हि यस्मात्कारणात् तत्र तस्मिञ्जन्मनि पौर्वदेहिकं पूर्वदेहभवं तं बुद्धिसंयोगं तत्त्वविचारगोचरबुद्धिसंबन्धं शीघ्रं लभते प्राप्नोति । न केवलं बुद्धिसंबन्धमात्रलाभः, किंतु ततः पूर्वस्मात्प्रयत्नाद्भूयो यतते, चाधिकं प्रयत्नं करोति, तस्मादेतज्जन्म दुर्लभमित्यर्थः ॥४६॥

भूयोऽभ्यासे कारणमाह—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥५०॥

अन्वय :—तेनैव पूर्वाभ्यासेन अवशोऽपि सः ह्रियते हि अनेकजन्मसंसिद्धः ततः परां गतिम् याति ।

'पूर्वेति' योगभ्रष्टस्तेन पूर्वाभ्यासेनैवावशोऽपि अस्वाधीनोऽपि ह्रियते आकृष्यते एवमनेकेषु जन्मसु कृतेन प्रयत्नेन संसिद्धस्तत्त्वज्ञानसंपन्नस्ततस्तस्मात्तत्त्वज्ञानात्परां गतिं मुक्तिं याति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥५०॥

अब उसकी दुर्लभता कहते हैं—

इससे उस जन्म में पूर्व देह के उसी बुद्धिसंयोग को अर्थात् तत्त्वविचार के योग्य बुद्धि को प्राप्त होता है, यही लाभ नहीं, किन्तु तत्त्व विचार करने वाली बुद्धि से पूर्व प्रयत्न से भी अधिक प्रयत्न करने लगता है, इस कारण यह योगियों के कुल में जन्म दुर्लभ है अर्थात् पुण्य के बिना नहीं मिलता ॥४६॥

अब पुनः अभ्यास अधिक प्रयत्न के कारण को कहते हैं—

योगभ्रष्ट वह मनुष्य पूर्वजन्म के अभ्यास से अवश (पराधीन) आकर्षण (खींचना) बल पूर्वक आत्मा की ओर खींच लेता है इसलिए विवश है इस प्रकार करते-करते अनेक जन्मों में किये प्रयत्न से संसिद्ध (तत्त्वज्ञान सम्पन्न) होकर परम गति को प्राप्त कर लेता है ॥५०॥

आगामिप्रतिबन्धान्तरं दर्शयति—

ब्रह्मलोकाभिवाञ्छायां सम्यक्सत्यां निरुध्यताम् ।
विचारयेद्य आत्मानं न तु साक्षात्करोत्ययम् ॥५१॥

अन्वय :—ब्रह्मलोकाभिवाञ्छायां सम्यक्सत्यां तां निरुध्य य आत्मानं विचारयेत् अयं तु न साक्षात् करोति ।

'ब्रह्मलोकेति' । ब्रह्मलोकप्राप्तीच्छायां दृढायां सत्यां तां निरुध्य य आत्मानं विचारयेत्तस्य साक्षात्कारो नैव जायत इत्यर्थः ॥५१॥

ननु तर्हि तस्य कदापि मुक्तिर्न स्यादित्याशङ्क्याह—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था इति शास्त्रतः ।
ब्रह्मलोके स कल्पान्ते ब्रह्मणा सह मुच्यते ॥५२॥

अन्वय : वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्था इति शास्त्रतः कल्पान्ते ब्रह्मलोके ब्रह्मणा सह मुच्यते ।

'वेदान्तेति' । 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः । ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे' ॥ (मु० ३।२।६) 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥' इत्यादिशास्त्रवशाद्ब्रह्मलोकप्राप्त्यनन्तरं तत्वं साक्षात्कृत्य ब्रह्मणा सह मुक्तिर्भविष्यतीत्यर्थः ॥५२॥

अब दूसरा भी आगामी प्रतिबन्ध को दिखाते हैं—

ब्रह्मलोक को पाने की इच्छा होने पर जो उस इच्छा को रोककर जो आत्म विचार को करे वह (उसे) आत्मा के साक्षात्कार को प्राप्त नहीं होता अर्थात् ब्रह्म लोक की इच्छा रूप प्रतिबन्ध से वह ब्रह्म ज्ञानी नहीं होता ॥५१॥

यदि कहो कि फिर उसकी कभी भी मुक्ति न होगी, इस शंका का उत्तर—

ब्रह्मा के संग वे सब प्रलय के समय परमपद परमेश्वर के मध्य में प्रवेश हो जाते हैं इस शास्त्र के कथनानुसार वे ब्रह्मलोक की प्राप्ति के अनन्तर तत्त्व को जानकर ब्रह्मा के साथ मुक्त हो जाते हैं ॥५२॥

एवं तत्त्वविचारे क्रियमाणे प्रतिबन्धवशादत्र साक्षात्कारो न जायत इत्यभिधाय, तीव्रपापिनां तु सोऽपि विचारो दुर्लभ इत्याह—

केषांचित्स विचारोऽपि कर्मणा प्रतिबध्यते ।
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य इति श्रुतेः ॥५३॥

अन्वयः—केषांचित् स विचारोऽपि श्रवणायापि बहुभिर्नलभ्य इति श्रुतेः कर्मणा प्रतिबध्यते ।

'केषांचिदिति' । तत्र प्रमाणमाह—'श्रवणायेति' । यः परमात्मा बहुभिः पुरुषैः श्रवणायापि श्रोतुमपि न लभ्यः दुर्लभ इत्यर्थः ॥५३॥

एतावता सति प्रतिबन्धे तत्त्वसाक्षात्कारस्तत्साधनभूतो विचारश्च न संभवतीत्यभिधायेदानीं विचारासमर्थेन पुरुषार्थार्थिना किं कर्तव्यमित्यपेक्षायां "विचाराक्षममर्त्याश्च तच्छ्रुत्वोपासते गुरोः" (प्र० ६।२८। इति यत्प्राक् प्रतिज्ञातं तदुपपादयति—

अत्यन्तबुद्धिमान्द्याद्वा सामग्र्या वाप्यसंभवात् ।
यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत सोऽनिशम् ॥५४॥

अन्वय :—अत्यन्तबुद्धिमान्द्यात् वा सामग्र्या असंभवात् वापि यः विचारं न लभते यः अनिशम् ब्रह्मोपासीत ।

'अत्यन्तेति' । सामग्र्यसंभवो नाम तदुपदेष्टुर्गुरोरध्यात्मशास्त्रस्य देशकालादेर्वा असंभवस्तस्मादित्यर्थः ॥५४॥

इस प्रकार तत्त्व विचार करने पर प्रतिबन्ध के वश यहाँ तत्त्वसाक्षात्कार नहीं होता यह कहकर जो मनुष्य महापापी हैं उनको वह विचार भी दुर्लभ है इसका वर्णन करते हैं—

किन्हीं किन्हीं मनुष्यों के तो वह तत्त्व विचार भी पाप कर्मों के कारण प्रतिबन्ध हो जाता है क्योंकि प्रमाण कहते हैं श्रवण के लिए भी जो परमात्मा ब्रह्मतत्त्व बहुत से मनुष्यों को लभ्य नहीं है ब्रह्म की वार्ताओं का श्रवण भी दुर्लभ है यह क० १।२।७। श्रुति में लिखा है ॥५३॥

इतने ग्रन्थ से प्रतिबन्ध के रहते तत्त्व का साक्षात्कार और उसका साधन (हेतु) विचार नहीं होता यह कहकर अब कहते हैं कि विचार में असमर्थ मनुष्य पुरुषार्थ चाहें तो वह क्या करें इसी प्रकरण के २८वें श्लोक में प्रतिज्ञा की । उसका प्रतिपादन करते हैं—

बुद्धि की अत्यन्त मन्दता के कारण सामग्री के न होने से जिसको विचार की प्राप्ति न हो । अर्थात् उपदेश का अध्यात्म शास्त्र का गुरु न मिले या देश काल के अभाव से विचार न कर सके तो वह रात, दिन ब्रह्म की उपासना किया करें ॥५४॥

ननु निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य गुणरहितत्वात्तदुपासनं न घटत इत्याशङ्क्योपासनस्य प्रत्ययावृत्तिरूपत्वात् सगुणब्रह्मणीव निर्गुणेऽपि तत्संभवतीत्याह—

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य न ह्युपास्तेरसंभवः ।
सगुणब्रह्मणीवात्र प्रत्ययावृत्तिसंभवात् ॥५५॥

अन्वयः—निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य सगुणब्रह्मणि इव अत्र प्रत्ययावृत्तिसम्भवात् उपास्तेः असम्भवः न हि ।

'निर्गुणेति' । ५५॥

ननु निर्गुणस्य ब्रह्मणो वाङ्मनसगोचरत्वाभावान्नोपास्यत्वमित्याशङ्क्य, वेदनपक्षेऽप्ययं दोषः समान इत्याह—

अवाङ्मनसगम्यं तन्नोपास्यमिति चेत्तदा ।
अवाङ्मनसगम्यस्य वेदनं न च संभवेत् ॥५६॥

अन्वयः—अवाङ्मनसगम्यं तत् नोपास्यं इति चेत् तदा अवाङ्मनसगम्यस्य वेदनं च न सम्भवेत् ।

'अवाङ्मनसेति' ॥५६॥

यदि कहो कि निर्गुण ब्रह्म तत्त्व को गुण रहित होने से उसकी उपासना न घटेगी (असम्भव है) यह शंका करके कहते हैं किन्तु निर्गुण ब्रह्म तत्त्व की उपासना असम्भव नहीं है—क्योंकि सगुण ब्रह्म के समान निर्गुण ब्रह्म में भी प्रत्ययावृत्ति (ब्रह्माकार वृत्ति का सम्भव है) अर्थात् ब्रह्माकार प्रतीति को ही उपासना कहते हैं ॥५५॥

यदि कहो कि निर्गुण होने से ब्रह्म तो वाणी और मन का भी विषय नहीं है इसलिए उपासना का विषय नहीं है यह शंका करके कहते हैं—

तब तो वाणी और मन के अविषय की उपासना न मानोगे तो वाणी और मन के अविषय का वेदन ज्ञान, भी न होगा अर्थात् यह दोष उसके ज्ञान में भी आ सकता है ॥५६॥

ननु ब्रह्मावाङ्मनसगोचरमित्येवं ज्ञातुं शक्यमित्याशङ्क्य, एवमेवोपासितुमपि शक्यमित्याह—

वागाद्यगोचराकारमित्येवं यदि वेत्त्यसौ ।
वागाद्य गोचराकारमित्युपासीत नो कुतः ॥५७॥

अन्वय :—वागाद्यगोचराकारं इति एवं यदि असौ वेत्ति वागाद्यगोचराकारं कुतः नो उपासीत ।

'वागादीति' ॥५७॥

ब्रह्मण उपास्यत्वे सगुणत्वं प्रसज्येतेत्याशङ्क्य, वेद्यत्वेऽपि तत्सगुणत्वं स्यादित्याह—

सगुणत्वमुपास्यत्वाद्यदि वेद्यत्वतोऽपि तत् ।
वेद्यं चेल्लक्षणावृत्त्या लक्षितं समुपास्यताम् ॥५८॥

अन्वय : सगुणत्वं उपास्यत्वात् यदि वेद्यत्वं अतोऽपि तत् वेद्यं चेत् लक्षणावृत्त्या लक्षितं समुपास्यताम् ।

'सगुणत्वमिति' । तत् सगुणत्वमित्यर्थः । ननु लक्षणावृत्त्याश्रयणाद्ग वेद्यत्वे सगुणत्वप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य, उपासनमपि तथैव क्रियतामित्याह—'वेद्यं चेदिति' ॥५८॥

ब्रह्म, मन एवं वाणी का अविषय है इस प्रकार जानने के लिए शक्य है ऐसी आशंका करके ऐसे ही उपासना के लिए भी शक्य है इस प्रकार कहते हैं—

यदि कहो कि ब्रह्म वाणी और मन का अगोचर (अविषय) है इस रूप में यही ज्ञान इस मुमुक्षु को होता है तो वाणी आदि का अविषयाकार ब्रह्म है यह उपासना भी क्यों न होगी अवश्य होगी ॥५७॥

शंका ब्रह्म को उपासना योग्य मानोगे तो सगुण हो जायगा—ज्ञेय रूप मानने पर भी ब्रह्म में सगुणत्व होगा—

ब्रह्म को उपासना योग्य मानोगे तो सगुण हो जायगा सो भी ठीक नहीं आपके मत में भी ब्रह्म को जानने योग्य होने से सगुण हो जाना तुल्य है । यदि शंका करो कि वेद्य तो लक्षणावृत्ति से ब्रह्म मानते हैं तो लक्षणावृत्ति से ही उपासना करो इसमें क्या दोष है ॥५८॥

ननु ब्रह्मण उपास्यत्वं श्रुत्या निषिध्यत इति शङ्कते –

ब्रह्म विद्धि तदेव त्वं न त्विदं यदुपासते ।
इति श्रुतेरुपास्यत्वं निषिद्धं ब्रह्मणो यदि ॥५६॥

अन्वय :—इदं यदुपासते न तु इति श्रुतेः यदि ब्रह्मणः उपास्यत्वं निषिद्धं तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि ।

'ब्रह्म विद्धीति' । 'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् । तदेव ब्रह्मतत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' (केनोप० १।६) इति श्रुतिरुपास्यस्य ब्रह्मत्वं निषेधयतीत्यर्थः । त्वं यदवाङ्मनसगम्यं तदेव ब्रह्म विद्धीदमिति । यत्तूपासते पुरुषास्तन्न विद्धीति योजना ॥५६॥

उपास्यत्ववद् वेद्यत्वस्यापि तन्निषेधः समान इत्याह—

विदितादन्यदेवेति श्रुतेर्वेद्यत्वमस्य न ।
यथा श्रुत्यैव वेद्यं चेत्तथा श्रुत्याप्युपास्यताम् ॥६०॥

अन्वय :—विदितादन्यदेव इति श्रुतेः अस्य वेद्यत्वं न यथा श्रुत्यैव वेद्यं चेत् श्रुत्या अपि तथा उपास्यताम् ।

'विदितादिति' । 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' (केनोप० १।४) इति ब्रह्मणो वेद्यत्वमपि निवारतीत्यर्थः । विदितात् ज्ञातादित्यर्थः । अविदितादज्ञातादित्यर्थः । विदिताविदिताभ्यामन्यद् ब्रह्मेति प्रतिपादयतीति श्रुतिः[1] चेर्तर्हि तथैव तज्जानीयादित्याशङ्क्योपासनेऽप्येतत्समानमित्याह – 'यथेति'[2] ॥६०॥

अब यह शंका करते हैं कि ब्रह्म की उपासना श्रुति में निषिद्ध है—

जो मन से मनन नहीं किया जाता बल्कि जिस चैतन्य ज्योति से प्रकाशित हुए मन में मनन करने का सामर्थ्य होता है—उसी को तू ब्रह्म जान जिसे इस (देशकालावच्छिन्न वस्तु) की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है इस श्रुति से ब्रह्म की उपासना का निषेध है । तुम तो जो मन वाणी का अगम्य है उसी को ब्रह्म जान जिसकी पुरुष उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है ॥५६॥

अब उपासना के समान वेद्य (जानने योग्य) में भी वह निषेध समान है—

वह ब्रह्म विदित ज्ञात और अविदित से बीजभूत अविद्या रूप अव्याकृत से भी ऊपर है । इस श्रुति से ब्रह्म को वेद्यत्व भी नहीं है । यदि कहो कि ऐसे विदित अविदित से अन्य ब्रह्म का ज्ञान श्रुति कहती है तो वैसे ही ब्रह्म की उपासना करो – अर्थात् उपासना में भी यह समान तुल्य है ॥६०॥

विशेष १— दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या कठ० ।१।३।१२। यह तत्त्व तो सूक्ष्मदर्शी पुरुषों द्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्म बुद्धि से ही देखा जाता है प्रज्ञां कुर्वीत् बृ० इन श्रुतियों के वचनों से ।

२— दृश्यते त्वग्र्यया बु० क० १।३।१२। नाहं प्रकाश्य सर्वस्य योगमाया गीता० (७।२५)

ननु वेद्यत्वं ब्रह्मणो वास्तवं न भवतीत्याशङ्क्योपास्यत्वमपि तथेत्याह—

अवास्तवी वेद्यता चेदुपास्यत्वं तथा न किम् ।

वृत्तिव्याप्तिर्वेद्यता चेदुपास्यत्वेऽपि तत्समम् ।।६१।।

अन्वय :—वेद्यता अवास्तवी चेत् उपास्यत्वं तथा किम् न, वेद्यता वृत्तिव्याप्तिः चेत् उपास्यत्वेऽपि तत् समम् ।

'अवास्तवीति' । ननु वेदनपक्षे वृत्तेर्ब्रह्माकारत्वमस्ति, नोपासने इत्याशङ्क्य, शब्दबलात्तदाकारत्व मुभयत्र समानमित्याह—'वृत्तीति' ।।६१।।

युक्तिशून्य उपालम्भस्तु त्वत्पक्षेऽपि समान इत्याह—

का ते भक्तिरुपास्तौ चेत्कस्ते द्वेषस्तदीरय ।

मानाभावो न वाच्योऽस्यां बहुश्रुतिषु दर्शनात् ।।६२।।

अन्वय : उपास्तौ ते भक्तिः का चेत् ते द्वेषः कः तदीरय अस्यां मानाभावः बहुश्रुतिषु दर्शनात् न वाच्यः ।

'का त इति' । ननु निर्गुणोपासने प्रमाणं नास्तीत्याशङ्क्यानेकासु श्रुतिषूपलभ्यमानत्वान्मैव-मित्याह—'मानाभाव इति' ६२।।

यदि कहो कि ब्रह्म की वेद्यता वास्तव नहीं है तो उपासना को भी अवास्तवी क्यों न मानो ।

यदि कहो कि ब्रह्म में वेद्यता अवास्तव है तो हम पूँछते हैं कि उसमें वैसे ही उपास्यता भी क्यों नहीं है फिर यदि कहो कि वेद्यता वृत्ति की विषय है --तो वेदनपक्ष में भी वृत्ति ब्रह्माकार हो सकती है तो हम कहेंगे कि उपास्य पक्ष में भी वृत्ति ब्रह्माकार हो सकती है ।।६१।।

युक्ति रहित उपलम्भ तो तुम्हारे पक्ष में समान ही है । इस पर कहते हैं —

यदि कहो कि ब्रह्म की उपासना में आपकी क्या भक्ति है क्यों मानते हो तो यह बताओ उपासना में तुम्हारा इतना द्वेष क्यों है । उपासना में कोई प्रमाण नहीं है सो भी ठीक नहीं, बहुत सी श्रुतियों में उपासना का विधान देखते हैं । इसलिए यह भी नहीं कह सकते कि निर्गुण उपासना में प्रमाण नहीं है ।।६२।।

बहुश्रुतिषु दर्शनादित्युक्तमर्थं विवृणोति—

उत्तरस्मिंस्तापनीये शैब्यप्रश्नेऽथ काठके ।
माण्डूक्यादौ च सर्वत्र निर्गुणोपास्तिरीरिता ॥६३॥

अन्वय :—उत्तरस्मिन् तापनीये शैव्यप्रश्ने अथ काठके माण्डूक्यादौ च निर्गुणोपास्तिः सर्वत्र ईरिता ।

'उत्तरस्मिन्निति' । तापनीयोपनिषदि तावत् 'देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नणोरणीयांसमिममात्मानमोंकारं नो व्याचक्ष्व' (नृ० ता० उ० १।१) इत्यादिना बहुधा निर्गुणोपासनमभिधीयते । शैव्यप्रश्ने प्रश्नोपनिषदि पञ्चमे प्रश्ने– यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' (प्र० ५।५) इति काठके कठवल्लयां – 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इत्युपक्रम्य 'एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म' (कठ० २।१६) 'एतदालम्बनं श्रेष्ठं' (कठ० २।१७) इत्यादिना प्रणवोपासनमुच्यते, 'माण्डूक्योपनिषदि' 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं (माण्डूक्य० १) इत्यादिनाऽवस्थात्रयातीततुरीयोपासनमेवाभिधीयत इत्यर्थः । 'आदि' शब्देन 'तैत्तिरीय-मुण्डकादयो' गृह्यन्ते ॥६३॥

बहुत श्रुतियों में उपासना को दिखाते हैं उक्त अर्थ का विस्तार करते हैं—

उत्तर तापनीय शैव्य प्रश्न और कठवल्ली माण्डूक्य आदि सम्पूर्ण उपनिषदों में निर्गुण ब्रह्म की उपासना कही है ॥६३॥

प्रथम देवता प्रजापति को बाले सूक्ष्म से भी सूक्ष्म इस ओंकार रूप आत्मा को हमारे प्रति कहो । इत्यादि से अनेक प्रकार के निर्गुण उपासना कही है और वैसे ही शैव्य के प्रश्न करने पर प्रश्न उपनिषद् में पञ्चम प्रश्न पर कहा है जो उपासक त्रिमात्रा, "ॐ" इस अक्षरात्मक प्रतीक रूप से इस परम पुरुष की उपासना करता है । इस कठवल्ली में सारे वेद जिस पद का वर्णन करते हैं । यह आरम्भ करके यह अक्षर ही अपर ब्रह्म है अक्षर ही परब्रह्म है यह अक्षर दोनों का प्रतीक है यह (ओंकार रूप आलम्बन ब्रह्म प्राप्ति के गायत्री आदि सभी) आलम्बनों से श्रेष्ठ है इत्यादि ओंकार की उपासना कही है और माण्डूक्य उपनिषद् में भी, ओम् यह अक्षर ही सम्पूर्ण जगत् रूप है, इत्यादि से तीन अवस्थाओं से अतीत ब्रह्म की उपासना कही है आदि पद से तैत्तिरीय, मुण्डक आदि उपनिषदों में निर्गुण उपासना कही है ॥६३॥

ननु निर्गुणोपासनं कथमनुष्ठेयमित्यत आह—

अनुष्ठानप्रकारोऽस्याः पञ्चीकरण ईरितः ।
ज्ञानसाधनमेतच्चेन्नेति केनात्र वारितम् ॥६४॥

अन्वय :—अस्याः अनुष्ठानप्रकारः पञ्चीकरणः ईरितः ज्ञानसाधनं एतत् चेत् अत्र केन नेति वारितम् ।

'अनुष्ठानेति' । नन्वेतदुपासनं ज्ञानसाधनमेव, न मुक्तिसाधनमित्याशङ्क्य, ब्रह्मतत्त्वोपास्त्यापि मुच्यते इति वदतामस्माकमनुकूलमित्याह - 'ज्ञानसाधनमिति' ॥६४॥

ननु सगुणोपासनमेव सर्वैरनुष्ठीयते, न निर्गुणोपासनमित्याशङ्क्य, तस्य प्रमाणसिद्धस्यापलापो न युक्त इत्याह—

नानुतिष्ठति कोऽप्येतदिति चेन्माऽनुतिष्ठतु ।
पुरुषस्यापराधेन किमुपास्तिः प्रदुष्यति ॥६५॥

अन्वय :—कोऽपि एतत् नानुतिष्ठति इति चेत् मा अनुतिष्ठतु पुरुषस्यापराधेन उपास्तिः प्रदुष्यति किम् ।

'नानुतिष्ठतीति' ॥६५॥

अब निर्गुण करने का प्रकार कहते हैं—

निर्गुण उपासना करने का प्रकार पञ्चीकरण[1] नामक ग्रन्थ में कही गयी है । शंका हो कि यह निर्गुण उपासना तो ज्ञान का साधन है, मुक्ति का साधन नहीं यह भी शंका ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म तत्त्व की उपासना से भी मुक्त होता है । यह कहते हुए हमको यह भी अनुकूल है–अर्थात् वह निर्गुण उपासना ज्ञान का साधन नहीं यह हम कब इस बात का निषेध करते हैं ॥६४॥

सभी लोग सगुण की उपासना ही अनुष्ठेय समझते हैं, निर्गुण ब्रह्म की उपासना नहीं समझते ? प्रमाण के बिना कहना युक्तियुक्त नहीं है । इस प्रकार कहते हैं—

प्रश्न :–सगुणोपासना का ही सभी अनुष्ठान करते हैं, निर्गुण उपासना को कोई नहीं करता । उत्तर 'माऽनु तिष्ठतु नो मत करें पुरुषस्याअपराधेन क्या पुरुष के अपराध (न करने से) निर्गुण उपासना में दोष हो सकता है अर्थात् नहीं है अर्थात् नहीं होता निर्गुण उपासना श्रुति प्रमाण सिद्ध है निषेध युक्त नहीं है ॥६५॥

विशेष १—अथातः परमहंसानां समाधिविधिं व्याख्यास्यामः सच्छब्दवाच्यमविद्याशबलं ब्रह्म ब्रह्मणो व्यक्तम् । अव्यक्तात् महत् । महतोहङ्कारः । अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि । पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि ।

प्रमाणसिद्धस्यानुष्ठानाभावेनापरित्याज्यत्वे दृष्टान्तमाह—

इतोऽप्यतिशयं मत्वा मन्त्रान्वश्यादिकारिणः ।
मूढा जपन्तु तेभ्योऽतिमूढाः कृषिमुपासताम् ॥६६॥

अन्वय :—वश्यादिकारिणः मन्त्रान् इतोऽपि अतिशयं मत्वा मूढाः जपन्तु तेभ्यो अतिमूढाः कृषिं उपासताम् ।

'इतोऽपीति' । अयमभिप्रायः—यथा सगुणोपासनेभ्यः कालान्तरभाविफलेभ्यो वश्यादिकारिमन्त्रेषु ऐहिकफलप्रदत्वमतिशयं बुद्ध्वा मूढानां तन्मन्त्रजपादौ प्रवृत्तावपि विवेकिभिः सगुणोपासनं न परित्यज्यते, यथा वा नियमानुष्ठानापेक्षेभ्यस्तेभ्योऽपि मन्त्रेभ्यः कृष्यादावतिशयं नियमनैरपेक्ष्यं मत्वा मूढतराणां तत्र प्रवृत्तावपि तन्मन्त्रानुष्ठानं न परित्यज्यते, तथा सांसारिकफलेप्सूनां निर्गुणोपासनानुष्ठानाभावेऽपि न मुमुक्षुभिर्निर्गुणोपासनं त्यज्यत इति ॥६६॥

श्रुति प्रमाण से सिद्ध का अनुष्ठान न भी हो तो भी यह निर्गुण उपासना त्याज्य नहीं है दृष्टान्त कहते हैं—

इससे भी अधिकता को मानकर मूढ पुरुष वशीकरण मन्त्रों को जपें और उनसे भी अधिकतामान मूढ पुरुष कृषि को करें ॥६६॥

अभिप्राय यह है कि जैसे कालान्तर में अधिक फल देने वाला सगुणोपासना से भी वशीकरण आदि के मन्त्रों में इस लोक की फल की अधिकता को देखकर मूढों की वशीकरण मन्त्र के जप आदि में प्रवृत्ति होने पर भी विवेकी पुरुष सगुण उपासना को नहीं त्यागते और जैसे नियम से करने की है अपेक्षा जिसको ऐसे वशीकरण आदि मन्त्रों से भी कृषि आदि में अधिकता और नियम की अपेक्षा के अभाव को मानकर अत्यन्त मूढों की उसमें प्रवृत्ति होने पर भी उन मन्त्रों के अनुष्ठान को कोई नहीं त्यागते वैसे संसार के फलाभिलाषी पुरुष निर्गुण उपासना को न भी करें तो भी मुमुक्षु पुरुष निर्गुण उपासना को नहीं त्यागते ॥६६॥

एवं प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रकृतमनुसरति—

तिष्ठन्तु मूढाः प्रकृता निर्गुणोपास्तिरीर्यते ।
विद्यैक्यात्सर्वशाखास्थान्गुणानत्रोपसंहरेत् ॥६७॥

अन्वयः – प्रकृताः मूढाः तिष्ठन्तु निर्गुणोपास्तिः ईर्यते विद्यैक्यात् सर्वशाखास्थात् गुणान् अत्रउपसंहरेत् । 'तिष्ठन्त्विति' । 'सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्' (ब्र०सू० ३।३।१) इत्युक्तन्यायेन निर्गुणोपासनस्यैकत्वात् तासु तासु शाखासु श्रुतानुपास्य गुणानेकत्रोपसंहृत्योपासनं कर्तव्यमित्याह –'विद्येति' ॥६७॥

ते च गुणा द्विप्रकाराः—विधेया निषेध्याश्चेति । तत्र 'आनन्दो ब्रह्म' (तै० ३।६) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।६।३४) 'नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरञ्जनो विभुरद्वय आनन्दः परः प्रत्यगेकरसः' (नृ० उ० ६) इत्यादयो ये विधेयगुणास्तेषामुपसंहारः 'आनन्दादयः प्रधानस्य' (ब्र० सू० ३।३।११) इत्यस्मिन्नधिकरणेऽभिहित इत्याह——

आनन्दादेर्विधेयस्य गुणसङ्घस्य संहृतिः ।
आनन्दाय इत्यस्मिन्सूत्रे व्यासेन वर्णिता ॥६८॥

अन्वयः—गुणसङ्घस्य आनन्दादेः विधेयस्य संहृतिः आनन्दाय इत्यस्मिन् सूत्रे व्यासेन वर्णिता । 'आनन्दादेरिति' ॥६८॥

अब अप्रासङ्गिक को समाप्त करके प्रकरण में आते हैं —

जगत् में मूढों की बात जाने दो अब प्रकृत जो निर्गुण उपासना उसका वर्णन करते हैं निर्गुणोपासना नाम की विद्या (ज्ञान) की एकता से इसलिए भिन्न-भिन्न शाखाओं में वर्णित उपास्य के सब गुणों को यहाँ उपासना में एकत्र कर उपासना करनी चाहिए।

सर्व वेदान्त (उपनिषदों से) प्रत्यय प्रतीयमान (उक्त) पञ्चाग्नि प्राण विद्या, दहर विद्या, वैश्वानर विद्या आदि विद्या भिन्न नहीं है चोदना (आज्ञा) आदि के अविशेष्य (एक ही है) से आदि शब्द से संयोग रूप और समाख्या का ग्रहण होता है। उपसंहार का अर्थ है ब्रह्म के वाचक आनन्द आदि पदों का एक वाक्य में उच्चारण जैसे यदि चार पुरुष एक-एक हजार रुपये लेकर मिलकर व्यापार करें तो पूंछने पर प्रत्येक यही कहेगा वह चार हजार रुपयों से व्यापार कर रहा है। ऐसे ही भिन्न-भिन्न शाखाओं में वर्णित उपास्य के गुणों साधनों या विशेषणों का एक ही बुद्धि में आरोप करना गुणोपसंहार कहलाता है इसी न्याय से यह उपसंहार सम्भव है ॥६७॥

ये उपास्य के गुण दो प्रकार के हैं विधेय (विधि वाक्य बोधित) कर्तव्य निषेध्य (निषेध वाक्य बोधित) न कर्तव्य भेद से दो प्रकार के हैं इन श्रुतियों में जो आनन्द ब्रह्म है, विज्ञान आनन्द ब्रह्म है, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, मुक्त, निरंजन, विभु, अद्वय, आनन्द, परप्रत्यक् एक रस है इत्यादि जो विधान (साक्षात्) करने योग्य गुण है उनका उपसंहार आनन्द आदि गुण प्रधान (ब्रह्म के) है इस अधिकरण (सूत्र) में व्यास जी ने कहा है। अर्थात् आनन्दादय सूत्र में यह बताया है कि प्रधान ब्रह्मतत्त्व के समस्त नित्य शुद्ध आदि धर्मों का उपसंहार सर्वत्र कर लेना चाहिए —

विधान के योग्य (विधि वाक्यों से बोधित) आनन्द आदि गुणों का उपसंहार आनन्दादय इस सूत्र में व्यास जी ने वर्णन किया ॥६८॥

ये च 'अस्थूलमनण्वह्रस्वं' (यो० शि० ३।१६) 'यत्तदद्रश्यमग्राह्यमशब्दमस्पर्शरूपमव्ययम्' (मुण्ड० १।६) इत्यादयो निषेध्यगुणास्तत्र तत्र श्रुतास्तेषामुपसंहारः-अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदनवत्तदुक्तम्' (ब्र० सू० ३।३।३३) इत्यास्मिन्नधिकरणेऽभिहित इत्याह—

अस्थूलादेर्निषेध्यस्य गुणसङ्घस्य संहृतिः।
तथा व्यासेन सूत्रेऽस्मिन्नुक्ताऽक्षरधियां त्विति ॥६९॥

अन्वयः अस्थूलादेः निषेध्यस्य गुणसङ्घस्य संहृतिः तथा व्यासेन अस्मिन् सूत्रे अक्षरधियां तु इति उक्ता।

'अस्थूलादेरिति' ॥६९॥

ननु निर्गुणब्रह्मविद्यायां न गुणोपसंहार एव युज्यते, निर्गुणविद्यात्वविरोधादित्याशङ्क्य, सूत्रकारेणैवमभिहितस्यौपसंहारस्यास्माभिरभिधीयमानत्वान्नास्मान् प्रतीदं चोद्यमुचितमित्याह—

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य विद्यायां गुणसंहृतिः।
न युज्येतेत्युपालम्भो व्यासं प्रत्येव मां न तु ॥७०॥

अन्वयः—निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य विद्यायां गुणसंहृतिः न युज्येत इति उपालम्भः व्यासं प्रत्येव मां प्रति तु न।

'निर्गुणेति' ॥७०॥

अर्थात् वह ब्रह्म स्थूल एवं अणु नहीं है और न ह्रस्व ही है जो कि वह अदृष्ट अग्राह्य अशब्द अस्पर्श एवं अव्यय रूप है इत्यादि निषेध्य गुणों के उपसंहार का विधान 'अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदनवत्तदुक्तम्' इस अधिकरण सूत्र में निर्दिष्ट है—

तथा जो ब्रह्म स्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदृश्य, अग्राह्य, अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय आदि निषेध के योग्य गुण उनके समूह का उपसंहार 'अक्षरधियां त्ववरोधः' इस सूत्र में व्यास जी ने वर्णन किया है ॥६९॥

निर्गुण ब्रह्म विद्या में गुणों का उपसंहार उपयुक्त नहीं बैठता है, क्योंकि गुण उपसंहार का निर्गुण उपासना से विरोध है इस आशंका के उत्तर में कहते हैं कि सूत्रकार व्यास के द्वारा कथित गुण उपसंहार का काम हम विवेचन करते हैं इसलिए यह आक्षेप हम लोगों के प्रति करना उचित नहीं है—

यदि कहो कि निर्गुण विद्या में गुणों का उपसंहार उचित नहीं क्योंकि उसकी निर्गुणता ही न रहेगी-समाधान किन्तु निर्गुण ब्रह्मतत्त्व की विद्या (ज्ञान) में गुणों का उपसंहार उचित नहीं। यह आपकी शंका तो व्यास देव पर ही होना चाहिए हमारे प्रति नहीं, हम तो व्यास जी का कहे हुए का ही वर्णन करते हैं अपनी उक्ति से नहीं कहते ॥७०॥

हिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणविशिष्टमूर्तीनामनभिधानादिदं निर्गुणोपासनमेवेति चेत्तर्हि न विरोध इत्याह—

हिरण्यश्मश्रुसूर्यादिमूर्तीनामनुदाहृतेः ।
अविरुद्धं निर्गुणत्वमिति चेत्तुष्यतां त्वया ॥७१॥

अन्वयः—हिरण्यश्मश्रुसूर्यादिमूर्तीनां अनुदाहृतः निर्गुणत्वं अविरुद्धं इति चेत् त्वया तुष्यताम् ।

'हिरण्येति' । हिरण्यश्मश्रुसूर्यादिमूर्तीनां हिरण्यमयानि श्मश्रूणि यस्यासौ हिरण्यश्मश्रुः तथाविधः सूर्यो हिरण्यश्मश्रुसूर्यः स आदिर्येषां ते हिरण्यश्मश्रुसूर्यादय तेषा मूर्तयो हिरण्यश्मश्रुसूर्यादिमूर्तयस्तासामिति विग्रहः ॥७१।

ननु आनन्दादीनामस्थूलादीनां च गुणानामुपास्यत्वेऽन्तःप्रवेशाभावात्तद्गुणविशिष्टत्वेन कथमुपास्यत्वमित्याशङ्क्य, तेषां तत्त्वान्तःप्रवेशाभावेऽपि तेषां लक्षकत्वसंभवात्तैर्लक्षितं ब्रह्मोपास्यमित्याह—

गुणानां लक्षकत्वेन न तत्त्वेऽन्तःप्रवेशनम् ।
इति चेदस्त्वेवमेव ब्रह्मतत्त्वमुपास्यताम् ॥७२॥

अन्वय :– गुणानां लक्षकत्वे न तत्त्वे अन्तः प्रवेशनम् इति चेत् एवमेव अस्तु ब्रह्मतत्त्वं उपास्यताम् ।

'गुणानामिति' ७२॥

हिरण्यश्मश्रुत्वादि गुण विशिष्ट मूर्ति के अकथन से तो यह निर्गुण ब्रह्म की उपासना ही है यदि ऐसी बात है तो इसमें हमारा कोई विरोध नहीं है । इस प्रकार कहते हैं—

यदि कहो कि सोने की बनी मूंछों वाला सूर्य आदि की मूर्ति है । उनके न कहने से यह निर्गुण ही उपासना है । कोई विरोध न होगा, आपको सन्तोष करना चाहिए ।

आनन्दादि एवं स्थूलत्वादि गुणों का उपास्यत्त्व में अन्तः प्रवेश असम्भव है इसलिए उस गुण से युक्त ब्रह्म की उपासना कैसे होगी ? उन गुणों के तत्त्व में अन्तः प्रवेश न होने पर भी उनका लक्षकत्व सम्भव हो सकता है, इसलिए उन गुणों से लक्षित ब्रह्म उपास्य रूप बन सकेगा । इस प्रकार कहते हैं—

यदि कहो कि आनन्द आदि और अस्थूल आदि गुणों की उपासना के योग्य ब्रह्मतत्त्व के भीतर प्रवेश न भी हो तो भी उन गुणों से विशिष्ट की उपासना कैसे होगी उत्तर–उनका तत्त्व के मध्य में प्रवेश न हो तो भी वे गुण लक्षक है उनसे लक्षित जो ब्रह्म वही उपासना के योग्य है । (अर्थात् लक्षित भाग त्याग लक्षणा से बोधित ब्रह्म मैं हूँ ऐसे उपास्य है) ॥७२॥

तथोपासनप्रकारमेव दर्शयति—

आनन्दादिभिरस्थूलादिभिश्चात्माऽत्र लक्षितः ।
अखण्डैकरसः सोऽहमस्मीत्येवमुपासते ॥७३॥

अन्वय :–आनन्दादिभिः स्थूलादिभिः च अत्र आत्मा लक्षितः अखण्डैकरसः सोऽहमस्मि इत्येव उपासते ।

'आनन्दादिभिरिति'। अत्रासु श्रुतिषु योऽखण्डैकरस आत्मा आनन्दाभिरस्थूलादिभिश्च गुणैर्लक्षितः सोऽहमस्मीत्येवमुपासते, मुमुक्षव इति शेषः ॥७३॥

नन्वेवं सति विद्योपासनयोः कुतो भेद इत्याशङ्कच, वस्तु तन्त्रकर्तृ तन्त्रत्वाभ्यां भेद इत्याह—

बोधोपास्त्योर्विशेषः क इति चेदुच्यते शृणु ।
वस्तुतन्त्रो भवेद्बोधः कर्तृतन्त्रमुपासनम् ॥७४॥

अन्वय :-बोधोपास्त्योः कः विशेषः इति चेत् उच्यते शृणु बोधः वस्तुतन्त्रो भवेत् उपासनं कर्तृतन्त्रं (भवेत्) ।

'बोधोपास्त्योरिति' ॥७४॥

अब उसी उपासना प्रकार को दिखाते हैं—

पूर्वोक्त श्रुतियों में'आनन्द आदि और अस्थूल आदि गुणों से जो आत्मा भाग त्याग लक्षणा से लक्षित किया है 'अखण्ड एक रस जो प्रत्यगात्मा मैं वही हूँ' इस प्रकार से मुमुक्षु जन उपासना करते हैं ॥७२॥

अब विद्या और उपासना में भेद क्यों है ? वस्तु के अधीन ज्ञान और कर्ता के अधीन उपासना है, इसी से दोनों का भेद है इस प्रकार कहते हैं -

शंका– ज्ञान और उपासना में क्या भेद है यह कहोगे तो सुनो बोध (ज्ञान) वस्तु के आधीन होता है और उपासना कर्ता के आधीन है ॥७४॥

विशेष १—प्रत्यक्रूपो यः साक्षी अयं अहं अस्मि इति निरन्तर भासमान अन्तःकरण स्फुरण रूप आकार स्वरूप साधारण ज्ञानमात्र वस्तु के आधीन है। इनमें भ्रम ज्ञान तो अयथार्थ वस्तु के आधीन है और प्रमा ज्ञान प्रमेय यथार्थ वस्तु और प्रमाण के अधीन है ब्रह्म का प्रत्यक्ष ज्ञान भी विधि आदि की अपेक्षा के बिना प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म रूप प्रमेय को विषय करने वाले महावाक्य रूप प्रमाण के गुरुमुख द्वारा श्रवणादि से ही होता आत्मावा रे दृष्टव्यः श्रो० ।

वैलक्षण्यान्तरसिद्धये बोधस्य हेत्वादिकं दर्शयति विचाराज्जायत इत्यादिना श्लोकद्वयेन -

विचाराज्जायते बोधोऽनिच्छा यं न निवर्तयेत् ।
स्वोत्पत्तिमात्रात्संसारे दहत्यखिलसत्यताम् ॥७५॥

अन्वय : –बोधः विचारात् जायते अनिच्छा यं न निवर्तयेत् स्वोत्पत्तिमात्रात् संसारे अखिल सत्यताम् दहति ।

'विचारादिति' । विचाराद्वस्तुतत्त्वविचाराद्बोधो जायते, किंच विचाराज्जायमानं यं बोधम-निच्छाबोधो मा भूदित्येवंरूपा न निवर्तयेन्न निवारयेत् । उत्पद्यमानश्च बोधः स्वजन्ममात्रात्संसारेऽखिलस्य प्रपञ्चस्य सत्यतां दहति नाशयति ॥७५॥

तावता कृतकृत्यः सन्नित्यतृप्तिमुपागतः ।
जीवन्मुक्तिमनुप्राप्य प्रारब्धक्षयमीक्षते ॥७६॥

अन्वयः—तावता कृतकृत्यः सन् इति अतृप्तिं उपागतः जीवन्मुक्तिं अनुप्राप्य प्रारब्धक्षयं ईक्षते ।

'तावता' । तत्त्वज्ञानोत्पत्तिमात्रेण निरतिशयं सुखं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥७६॥

उपासनायाश्च बोधाद्वैलक्षण्यान्तरसिद्धये दर्शयति—

आप्तोपदेशं विश्वस्य श्रद्धालुरविचारयन् ।
चिन्तयेत्प्रत्ययैरन्यैरनन्तरितवृत्तिभिः ॥७७॥

अन्वय :—श्रद्धालुः आप्तोपदेशं विश्वस्य अविचारयन् अन्यैः प्रत्ययैः अन्तरवृत्तिभिः चिन्तयेत् ।

'आप्त इति' । आप्तस्य गुरोरुपदेशमुपास्यस्वरूपप्रतिपादकवाक्यजातं विश्वस्य विश्वासं कृत्वाऽविचारयन् उपास्यतत्त्वं प्रत्ययैरन्यैर्विजातीयघटादिविषयैर-न्तरितवृत्तिभिरव्यवहितवृत्ति-भिश्चिन्तयेदिति ॥७७॥

अब अन्य विशेषता के लिए बोध के हेतु आदि को दिखाते हैं ज्ञान के हेतु स्वरूप फल—

वस्तु के तत्त्व विचार से वह बोध (ज्ञान) होता है जिसको मुझे बोधमत (न) हो यह अनिच्छा रोक नहीं सकती उत्पन्न होते ही यह ज्ञान (ज्ञान) संसार के सम्पूर्ण प्रपञ्च की सत्यता को नष्ट कर देता है अर्थात् इस ज्ञान से संसार में मिथ्यात्व बुद्धि का निश्चय हो जाता है ॥७५॥

इतने ही तत्त्व ज्ञान की उत्पत्ति मात्र से कृत-कृत्यता प्राप्त हुआ विवेकी सर्वाधिक सुख को प्राप्त हुआ । जीवन्मुक्ति को प्राप्त होकर प्रारब्धक्षय की प्रतीक्षा करने लगता है ॥७६॥

अब उपासना को बोध (ज्ञान) से विलक्षणता की सिद्धि के लिए उपासना की विलक्षणता को दिखाते हैं—

आप्त जो गुरु उनके उपदेश को अर्थात् उपासना के योग्य स्वरूप (उपास्य) के प्रतिपादक को वाक्य में विश्वास करके स्वयं उस स्वरूप में (विषय में) कुछ भी न विचार करता हुआ पुरुष अपने उपासना के योग्य तत्त्व को इस प्रकार चिन्तन करें जो विजातीय घट पटादि विचारों की न आने देकर निरन्तर उपास्य का चिन्तन करें (तदाकार वृत्ति रक्खे) यही उपासना का स्वरूप है ॥७७॥

कियन्तं कालं चिन्तयेदित्याशङ्क्याह—

यावच्चिन्त्यस्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते ।

तावद्विचिन्त्य पश्चाच्च तथैवामृति धारयेत् ॥७८॥

अन्वय :—यावत् चिन्त्यस्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते तावत् विचिन्त्य पश्चाच्च तथैव आमृति धारयेत् ।

'यावदिति' ७८॥

उपासकस्य तद्रूपत्वाभिमानमुदाहरणप्रदर्शनेन स्पष्टीकरोति—

ब्रह्मचारी भिक्षमाणो युतः संवर्गविद्यया ।

संवर्गरूपता चित्ते धारयित्वा ह्यभिक्षत ॥७९॥

अन्वय :—संवर्गविद्यया युतः भिक्षमाणो ब्रह्मचारी चित्ते संवर्गरूपतां धारयित्वा हि अभिक्षत

'ब्रह्मचारीति । कश्चित्संवर्गत्वगुण[1]विशिष्ट . प्राणोपासकब्रह्मचारी भिक्षाहरणार्थमागत्याभिप्रतारिनाम्नो राज्ञः पुरतः महात्मनश्चतुरो देव एकः स जगार भुवनस्य गोपाः । तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन् बहुधा वसन्तम्, (छा० ४।३।६) इति मन्त्रेण स्वात्मनः संवर्गरूपत्वं चित्ते धृतं प्रकटीकृतवानिति छान्दोग्ये श्रूयत इत्यर्थः ।७९॥

कब तक उपासना करे काल की अवधि को कहते हैं—

जब चिन्ता के योग्य स्वरूप (ब्रह्म) का अभिमान अपने को न हो अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ यह बुद्धि न हो तब तक चिन्तन करता हुआ फिर उसी प्रकार की वृत्ति को मरण पर्यन्त धारण करें ॥७८॥

अब उपासना को तद्रूपता का अभिमान उदाहरण दिखाकर स्पष्ट करते हैं—

कोई संवर्ग विद्या से युक्त ब्रह्मचारी अर्थात् प्राण का उपासक भिक्षा माँगता हुआ अभिप्रतारी राजा के समीप गया । उसको ब्रह्मवित् होने का अभिमान था भिक्षा न देने पर ब्रह्मचारी ने कहा—हे अभिप्रतारिन् (राजन्) भुवनों का रक्षक उस (एक देव) प्राण रूप प्रजापति ने चार महात्माओं को ग्रस लिया है अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, जल ये अधिदैव और अध्यात्म में वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन ये प्राण में लीन होते हैं । मनुष्य (अविवेकी) अनेक प्रकार से निवास करते हुए उस उक्त (प्राण) देव को नहीं देखते तथा उसके लिए यह अन्न है उसे ही नहीं दिया गया, इस मन्त्र को पढ़कर ही उसने उपास्य प्राण को अपने से अभिन्न मानकर भिक्षा माँगी यह छान्दोग्य श्रुति में कहा गया है । इस प्रकार उपास्य वस्तु की स्वरूपता का अभिमान उपासना की अवधि है ॥७९॥

विशेष १— अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और जल का अधिदैव रूप (समाष्टि रूप) वायु, प्रलय, समय अपने में विलीन (संवर्जन) करता है । इसलिए वायु को संवर्ग कहते हैं और वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन को अध्यात्म (व्यष्टि) वायु, सुषुप्ति काल में विलीन करता है । इसलिए भी वायु संवर्ग कहलाता है ।

आमृतिधारणे निमित्तं दर्शयन्ननिच्छायं न निवर्तयेदित्युक्तादबोधधर्माद्वैलक्षण्यमाह—

पुरुषस्येच्छया कर्तुमकर्तुं कर्तुमन्यथा ।
शक्योपास्तिरतो नित्यं कुर्यात्प्रत्ययसंततिम् ॥८०॥

अन्वय :—पुरुषस्य इच्छया कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं उपास्तिः शक्या अतः नित्यं प्रत्यय संततिम् कुर्यात् ।

'पुरुषस्येति' । उपास्तिः पुरुषस्योपासकस्येच्छया कर्तुमकर्तुमन्यथा प्रकारान्तरेण वा कर्तुं शक्या । अतः पुरुस्येच्छाधीनत्वादुपासनं सर्वदा कुर्यादित्यर्थः ॥८०॥

एवं सदा चिन्तने किं भवतीत्यत आह—

वेदाध्यायी ह्यप्रमत्तोऽधीते स्वप्नेऽधिवासतः ।
जपिता तु जपत्येव तथा ध्याताऽपि वासयेत् ॥८१॥

अन्वय : अप्रमत्तः वेदाध्यायी हि अधिवासतः स्वप्ने अधीते जपिता तु जपति एव तथा ध्याता-ऽपि वासयेत् ।

'वेदाध्यायीति' । अप्रमत्तो वेदाध्यायी सदाऽध्ययनशीलः जपिता सदा जपशीलोऽधिवासतः दृढ़-वासनया स्वप्नादिष्वध्ययनं जपं वा करोति, एवमुपासकोऽपि वासनादाढर्यात्स्वप्नादावपि ध्यायी-तेत्यर्थः ॥८१॥

मरण पर्यन्त धारण करने में निमित्त को दिखाते हुए अनिच्छा (इच्छा का अभाव) जिसका निवारण नहीं कर सकती यह जो बोध का धर्म उससे विलक्षणता कहते हैं ।

उपासना पुरुष अपनी इच्छा के अनुसार कर सकता है—न चाहे तो न भी करे, या उलट-पुलट कर सकता है इससे पुरुष की इच्छा के अधीन होने से उपासना सर्वदा करने योग्य है अर्थात् (सदैव ब्रह्मा-कार प्रतीतियों का विस्तार करे) ॥८०॥

इस प्रकार सदा चिन्तन का फल कहते हैं—

जैसे सदा सावधान वेदपाठी सदावेद पढ़ने वाला और सदैव जप करने वाला ये दोनों स्वप्न में भी अधिवास (दृढ़ वासना) से पढ़ना और जप को ही करता है—इसी प्रकार ध्यान करने वाला उपासक भी वासना की दृढ़ता से स्वप्न आदि में ध्यान ही करता है ॥८१॥

स्वप्नादावपि ध्यानानुवर्तने कारणमाह—

विरोधिप्रत्ययं त्यक्त्वा नैरन्तर्येण भावयन् ।
लभते वासनावेशात्स्वप्नादावपि भावनाम् ॥८२॥

अन्वयः—विरोधिप्रत्ययं त्यक्त्वा नैरन्तर्येण भावयन् वासनावेशात् स्वप्नादावपि भावनाम् लभते ।
'विरोधीति' । वासनावेशात्संस्कारपाटवात् । भावनां ध्यानम् ॥८२॥

ननु प्रारब्धकर्मवशाद्विषयाननुभवतः कथं नैरन्तर्येण भाववासिद्धिरित्याशङ्कयास्थातिशये सति विषयव्यसनिवद्भावनासिद्धिः स्यादित्याह—

भुञ्जानोऽपि निजारब्धमास्थातिशयतोऽनिशम् ।
ध्यातुं शक्तो न संदेहो विषयव्यसनी यथा ॥८३॥

अन्वय :—आस्थातिशयतः अनिशम् निजारब्धं भुञ्जानोऽपि ध्यातुं शक्तो न यथा विषयव्यसनी संदेहः ।

'भुञ्जान इति' ॥८३॥

दृष्टान्तं विवृणोति—

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि ।
तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम् ॥८४॥

अन्वय :—परव्यसनिनी नारी गृहकर्मणि व्यग्रापि तदेव परसङ्गरसायनम् अन्तः आस्वादयति ।
'परव्यसनिनीति' ॥८४॥

अब स्वप्न आदि में भी ध्यान के अनुवर्तन में (करने का) कारण को कहते हैं—

उपास्य से भिन्न विरोधी जो प्रत्यय (प्रतीति) उसको छोड़कर निरन्तर भावना करते-करते मनुष्य वासना (संस्कारों की दृढ़ता से स्वप्न आदि में भी (भावना) ध्यान को प्राप्त होता है ॥८२॥

यदि कहो कि प्रारब्ध कर्म के वश विषयों को भोगते हुए को कैसे निरन्तर भावना की सिद्धि होगी इस शंका का उत्तर—

अपने प्रारब्ध कर्म को भोगता हुआ भी उपास्य विश्वास का अतिशय (अधिकता) होने पर रात-दिन अपने प्रारब्ध को भोगता विषयों के व्यसन वाले के समान ध्यान कर सकता है इसमें सन्देह नहीं ॥८३॥

अब दृष्टान्त की व्याख्या करते हैं—

पर पुरुष में है व्यसन (आसक्त) जिसका ऐसी स्त्री घर के (झाड़ना, बुहारना) आदि कार्य में लगी रहकर भी पर पुरुष के संग रूप रसायन का अपने मन में स्वाद लेती है ॥८४॥

परसङ्गास्वादने गृहकृत्यविच्छेदः स्यादित्याशङ्क्याह—

परसङ्गं स्वादयन्त्या अपि नो गृहकर्म तत् ।
कुण्ठीभवेदपि त्वेतदापातेनैव वर्तते ॥८५॥

अन्वय :—परसङ्गं स्वादयन्त्या अपि तत् गृहकर्म नो कुण्ठीभवेत् अपि तु एतत् आपातेनैव वर्तते ।

'परसङ्गमिति' ॥८५॥

'आपातेनैव वर्तते' इत्युक्तमर्थं विवृणोति—

गृहकृत्यव्यसनिनी यथा सम्यक्करोति तत् ।
परव्यसनिनी तद्वन्न करोत्येव सर्वथा ॥८६॥

अन्वय :—गृहकृत्य व्यसनिनी यथा तत् सम्यक् करोति तद्वत् परव्यसनिनी सर्वथा एव न करोति ।

'गृहकृत्येति' ॥८६॥

पर पुरुष के संस्पर्शजन्य सुख का अनुभव करती हुई भी उसके गृहकार्य में कोई व्यवधान नहीं होता है इसे दिखाते हैं—

पर पुरुष के संग का स्वाद लेती हुई स्त्री का वह घर का कर्म कुण्ठित नहीं होता अर्थात् (ज्यों का त्यों) वह ऊपरी मन से चलता ही रहता है । परन्तु उसकी वासना पर पुरुष के संग में रहती है । ८५॥

अब मरण पर्यन्त गृह के कार्य की स्थिति का वर्णन करते हैं—

जैसे घर के कामों में व्यसन रखने वाली वह स्त्री गृहकार्य को जैसे भली प्रकार करती है— उस प्रकार परपुरुष का जिसको व्यसन है वह नारी कभी भी नहीं करती ॥८६॥

दार्ष्टान्तिके योजयति—

एवं ध्यानैकनिष्ठोऽपि लेशाल्लौकिकमारभेत् ।
तत्त्वविस्त्वविरोधित्वाल्लौकिकं सम्यगाचरेत् ॥८७॥

अन्वय :—एवं ध्यानैकनिष्ठोऽपि लेशात् लौकिकं आरभेत् तत्त्वविस्त्वविरोधित्वात् लौकिकं सम्यगाचरेत् ।

'एवं ध्यानेति' । ननु तत्त्वविदपि लौकिकव्यवहारं किं लेशेनाचरति, किं वा सम्यगिति विषय-व्यवहारस्य तत्त्वज्ञानाविरोधित्वात्सम्यगेवाचरतीत्याह—'तत्त्वविदिति' ॥८७॥

अब दार्ष्टान्तिक में घटाते हैं—

इसी प्रकार एक ध्यान में ही है निष्ठा जिसकी ऐसा पुरुष भी लेशमात्र (थोड़ा-सा) लौकिक कर्म करता है । यदि शंका करो तो (समाधान) तत्त्वज्ञानी लौकिक व्यवहार को लेशमात्र करता है या अच्छी प्रकार से—परन्तु तत्त्वज्ञानी तो लौकिक व्यवहार को अच्छी प्रकार करता है । क्योंकि लौकिक व्यवहार तत्त्व ज्ञान का विरोधी नहीं है ॥८७॥

विशेष १— इस प्रकरण में ज्ञान और उपासना में अन्तर बताया है ज्ञान वस्तु के अधीन है और भ्रम ज्ञान अयथार्थ वस्तु के अधीन है और प्रमा ज्ञान, प्रमेय एवं प्रमाण के अधीन रहता है कोई भी ज्ञान, शास्त्र विधान, पुरुष की इच्छा उसके हठ और विश्वास के पीछे नहीं चलता 'आत्मावारे' दृष्टव्य० बृ० आदि श्रुतियाँ ज्ञान की विधान नहीं करतीं, किन्तु पुरुष की प्रवृत्ति के लिए आत्मज्ञान सम्पादन की योग्यता को जताती है जिज्ञासा रूप इच्छा भी प्रमाण के बिना ज्ञानोत्पत्ति नहीं करती अतएव घट निर्माण के प्रति कुलाल पत्नी की तरह अन्यथा सिद्ध है श्रवणादिक प्रयत्न का हेतु हठ, श्रवणादि का ही कारण है ज्ञान का कारण नहीं और गुरु वेदान्त वाक्यों में श्रद्धा रूप विश्वास भी श्रवण में ही उपयोगी है बोध का कारण नहीं वह परोक्ष ज्ञान का कारण अवश्य है परन्तु अपरोक्ष का नहीं, क्योंकि विचार के बिना विश्वास मात्र से अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न नहीं होता इस प्रकार ज्ञान प्रमाण प्रमेय के ही अधीन हैं– परन्तु उपासना तो (१) विधि (२) कर्ता की इच्छा (३) हठ और (४) विश्वास के अधीन है क्योंकि (१) शास्त्र विधि के अनुसार की हुई उपासना फल देती है मनगढ़न्त (मन से कल्पित) उपासना से उचित फल नहीं मिलता (२) उपासना तो कर्ता की इच्छा के अधीनता स्पष्ट है (३) बहिर्मुख को उपासना के लिए हठ का आश्रय लेना ही पड़ता है (४) विष्णु के चतुर्भुज आदि चिह्न न होने पर भी शालिग्राम को विष्णु समझकर उपासना करना विश्वास के अधीन है ।

अविरुद्धत्वमेव दर्शयति—

मायामयः प्रपञ्चोऽयमात्मा चैतन्यरूपधृक् ।
इति बोधे विरोधः को लौकिकव्यवहारिणः ॥८८ ।

अन्वय :—अयं प्रपञ्चः मायामयः चैतन्यरूपधृक् आत्मा इति बोधे लौकिकं व्यवहारिणः कः विरोधः ।

'मायामय इति' ॥८८॥

विरोधाभावमेव प्रपञ्चयति—

अपेक्षते व्यवहृतिर्न प्रपञ्चस्य वस्तुताम् ।
नाप्यात्मजाड्यं किं त्वेषा साधनान्येव काङ्क्षति ॥८९॥

अन्वय :—व्यवहृतिः प्रपञ्चस्य वस्तुताम् न अपेक्षते आत्मजाड्यमपि न किंतु एषा साधनानि एव काङ्क्षति ।

'अपेक्षत इति' ॥८९॥

कानि,तानि व्यवहारसाधनानीत्यत आह—

मनोवाक्कायतद्बाह्यपदार्थाः साधनानि तान् ।
तत्त्वविन्नोपमृद्नाति व्यवहारोऽस्य नो कुतः ॥९०॥

अन्वय :—मनोवाक्कायतद्बाह्यपदार्थाः तान् साधनानि तत्त्ववित् न उपमृद्नाति अस्य व्यवहारः कुतः न ।

'मनोवागिति' । तद्बाह्याः पदार्थाः गृहक्षेत्रादयस्तान्मनआदींस्तत्त्वज्ञानी न निवारयति । अतोऽस्य ज्ञानिनो व्यवहारः कुतो न भवति ? भवत्येवेत्यर्थः ॥९०॥

अब अविरोध को ही दिखाते हैं—

यह दृश्यमान जगत् मायामय (मिथ्या) है और आत्मा चैतन्य रूपधारी है जब तत्त्वज्ञानी को ऐसा ज्ञान है तब उसके लोक व्यवहार में कौन विरोध है अर्थात् कोई नहीं ॥८८॥

तत्त्व ज्ञान और लौकिक व्यवहार का अविरोध ही है—

लोक व्यवहार के लिए प्रपञ्च (जगत्) की सत्यता की अपेक्षा नहीं है और न आत्मा की जड़ता की अपेक्षा है अर्थात् ऐसा नहीं है कि प्रपञ्च सत्य और आत्मा जड़ हो तो व्यवहार चले किन्तु व्यवहार करते साधनों की ही अपेक्षा रखता है ॥८९॥

अब मन आदि व्यवहार के साधनों को दिखाते हैं—

मन, वाणी, देह और गृह क्षेत्र आदि बाह्य पदार्थ ये व्यवहार के साधन हैं इनको तत्त्वज्ञानी निवारण नहीं करता है तो तत्त्व ज्ञानी का व्यवहार क्यों न होगा अर्थात् अवश्य होगा ॥९०॥

ननु विषयानुपमर्दनेऽपि तत्त्वविदा चित्तोपमर्दनं कार्यमित्याशङ्क्य, तथाकरणे तत्त्वविदेव न स्यादित्याह—

उपमृद्नाति चित्तं चेद्ध्याताऽसौ न तु तत्त्ववित् ।
न बुद्धिमर्दयन्दृष्टो घटतत्त्वस्य वेदिता ॥९१॥

अन्वय :—उपमृद्नाति चित्तं चेत् असौ ध्याता तत्त्ववित् तु न घटतत्त्वस्य वेदिता बुद्धिमर्दयन् न दृष्टः ।

'उपमृद्नातीति' । ननु तत्त्वविदा चित्तं नोपमृद्यत इत्येत्, स्व दृष्टमित्याशङ्क्याह—'न बुद्धिमिति ।' घटतत्त्वस्य वेदिता ज्ञाता बुद्धिमर्दयन्पीड्यन्नैकाग्र्यं कुर्वन्पुरुषो न दृष्टः नोपलब्ध इत्यर्थः ॥९१॥

घटस्य स्थूलत्वेन स्पष्टत्वात्तद्दर्शने चित्तपीडनं नोपेक्ष्यते, ब्रह्मणस्त्वतथात्वात्तज्ज्ञाने तदपेक्ष्यत इत्याशङ्क्य. तस्य स्वप्रकाशत्वेन घटादपि स्पष्टतरत्वाच्चित्तनिरोधनं नैवापेक्ष्यत इत्याह—

सकृत्प्रत्ययमात्रेण घटश्चेद्भासते सदा ।
स्वप्रकाशोऽयमात्मा किं घटवच्च न भासते ॥९२॥

अन्वय :—सकृत्प्रत्ययमात्रेण घटः सदा भासते चेत् अयं स्वप्रकाशः घटवच्च किं न भासते ।
'सकृदिति' ॥९२॥

शंका करो कि विषय का निवारण तत्त्वज्ञानी को मत हो चित्त की निवृत्ति तो होनी ही चाहिए । ऐसी आशंका कर वैसा करने में तत्त्व वेत्ता नहीं हो सकेगा इस प्रकार कहते हैं—

यदि तत्त्व ज्ञानी चित्त का उपमर्दन करता है तो वह ध्याता (उपासक है) तत्त्वज्ञानी नहीं है । घट के स्वरूप के ज्ञाता कोई क्या बुद्धि का निरोध करता हुआ नहीं देखा ॥९१॥

यदि कहो कि स्थूल घट के दर्शन में चित्त की पीडा अपेक्षा नहीं है सूक्ष्म रूप ब्रह्म के ज्ञान में चित्त का निरोध अवश्य चाहिए सो ठीक नहीं—इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि ब्रह्म तो स्वयं प्रकाश रूप होने से घट से भी कहीं अधिक स्पष्ट है इसलिए चित्त विरोध की अपेक्षा नहीं है—

एक बार के ज्ञान से ही जब पर प्रकाश्य घट सदा प्रतीत होता रहता है सदैव स्वप्रकाश रूप यह आत्मा क्या घट के समान नहीं भासता—भासता ही है अर्थात् स्वप्रकाश घट से भी अत्यन्त स्पष्ट रीति से भासता है ॥९२॥

ननु ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वेऽपि तद्गोचरायां बुद्धिवृत्तेरेव तत्त्वज्ञानत्वात्तस्यायश्च क्षणिकत्वेन ब्रह्मणि पुनः पुनरवस्थानमपेक्ष्यत इत्याशङ्क्येदं चोद्यं घटादिष्वपि समानमित्याह —

स्वप्रकाशतया किं ते तद्बुद्धिस्तत्त्ववेदनम् ।

बुद्धिश्च क्षणनाश्येति चोद्यं तुल्यं घटादिषु ।।९३।।

अन्वय :— स्वप्रकाशतया किं ते तद्बुद्धिः तत्त्ववेदनम्, बुद्धिश्च क्षणनाश्या इति घटादिषु चोद्यं तुल्यं ।

'स्वप्रकाशतयेति' ।।९३।।

घटादिज्ञानस्य क्षणिकत्वेऽपि सकृन्निश्चितस्य घटस्य सर्वदा व्यवहर्तुं शक्यत्वात्तत्र चित्तस्थैर्य संपादनमप्रयोजकमित्याशङ्क्येदमात्मन्यपि समानमित्याह—

घटादौ निश्चिते बुद्धिर्नश्यत्येव यदा घटः ।

इष्टो नेतुं तदा शक्य इति चेत्सममात्मनि ।।९४।।

अन्वय :— घटादौ निश्चिते यदा घटः बुद्धिः नश्यति एव इष्टः तदा नेतुं शक्यः इति चेत् आत्मनि समम् ।

'घटादाविति' ।।९४।।

यदि कहो ब्रह्म स्वप्रकाश है तो भी "अहं ब्रह्मास्मि" यही तत्त्वज्ञान है वाली बुद्धि वृत्ति को ही होता है और वह बुद्धि क्षणिक है इससे ब्रह्म में पुनः-पुन. (बारम्बार) स्थिति की चित्त निरोध की आवश्यकता है समाधान यह शंका घट आदि में भी समान है—

ब्रह्म के स्वप्रकाश होने पर भी बुद्धि को ही तत्त्वज्ञान रूप होता है—वह ब्रह्मगोचर बुद्धि क्षण भंगुर है इसलिए उस बुद्धि को बार-बार ब्रह्म में ठहराने की आवश्यकता है उत्तर इस शंका का तो घट आदि में भी बुद्धि को बार-बार लगाये रहना आवश्यक हो जायेगा ।।९३।।

यदि घट का ज्ञान क्षणिक भी है तो भी एक बार निश्चित किये घट से सदा व्यवहार कर सकते हैं। उसमें चित्त की स्थिरता का कुछ प्रयोजन नहीं, समाधान-यह बात आत्मा में भी समान है —

प्रश्न घट आदि के निश्चय हो जाने पर भी जब बुद्धि को दूसरे स्थान पर ले जा सकते हैं उत्तर यह बात आत्मा में भी समान है उसमें चित्त को स्थिर करने की आवश्यकता नहीं ।।९४।।

'सममात्मनि' इत्युक्तमर्थं विवृणोति—

निश्चित्य सकृदात्मानं यदापेक्षा तदैव तम् ।
वक्तुं मन्तुं तथा ध्यातुं शक्नोत्येव तत्त्ववित् ॥९५॥

अन्वय :—आत्मानं सकृत् निश्चित्य यदापेक्षा तदैव तम् वक्तुं मन्तुं तथा ध्यातुं तत्त्ववित् हि शक्नोति एव ।

'निश्चित्येति' ॥९५॥

ननु तत्त्वविदप्युपासकवदात्मानुसंधानवशाज्जगदनुसंधानरहितो दृश्यत इत्याशङ्क्य, सोऽनुसंधानाभावो ध्यानप्रयुक्तो न वेदनप्रयुक्त इत्याह—

उपासक इव ध्यायँल्लौकिकं विस्मरेद्यदि ।
विस्मरत्येव सा ध्यानाद्विस्मृतिर्न तु वेदनात् ॥९६॥

अन्वय :—उपासक इव ध्यायन् यदि लौकिकं विस्मरेत् सा ध्यानात् विस्मरत्येव स्मृतिः वेदनात् तु न ।

'उपासक इति' ॥९६॥

अब आत्मा में समता का ही वर्णन करते हैं—

तत्त्वज्ञानी जब एक बार आत्मा[1] को निश्चय करके जान लेता है तब पीछे जब भी वह चाहता है उसी समय उस आत्मा को कथन, मनन या ध्यान (निदिध्यासन) करने में समर्थ है ॥९५॥

तत्त्वदर्शी भी उपासक की भाँति आत्मा के अनुसन्धान के बल से जगत् के विचार से रहित होते देखा जाता है । ऐसी आशंका कर कहते हैं कि वह जगत् के विस्मरण रूप अनुसन्धान ध्यान प्रयुक्त है ज्ञान प्रयुक्त नहीं ।

यदि कहो कि तत्त्वज्ञानी को भी उपासक के समान आत्मा के स्मरण वश जगत् का अनुसन्धान नहीं देखते सो ठीक नहीं उत्तर यदि उपासक के समान ज्ञानी को भी लौकिक पदार्थों का विस्मरण हो जायगा तो वह विस्मरण हो परन्तु वह विस्मरण ध्यान से होता है ज्ञान से नहीं ॥९६॥

विशेष १— आत्मा तु प्रतीतिमात्रत्वात् प्रत्ययस्वप्रकाशतया भाति—

ननु तत्त्वविदापि मुक्तिसिद्धये ब्रह्मध्यानं कर्तव्यमित्याशङ्क्य, ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते' तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३।८) 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः (श्वे० १।८) इत्यादिशास्त्र स[1]द्भावान्न मोक्षाय ध्यानं कर्तव्यमित्याह –

ध्यानं त्वैच्छिकमेतस्य वेदनान्मुक्तिसिद्धितः ।
ज्ञानादेव तु कैवल्यमिति शास्त्रेषु डिण्डिमः ।।६७।।

अन्वय :—मुक्तिसिद्धितः वेदनात् एतस्य ध्यानं तु ऐच्छिकं ज्ञानादेव तु कैवल्यं इति शास्त्रेषु डिण्डिमः ।

'ध्यानमिति' ।।६७।।

यदि शंका करो कि तत्त्वज्ञानी को भी मुक्ति के लिए ध्यान कर्तव्य है उत्तर—तत्त्वज्ञान से ही प्राप्त है एव शब्द कर्मव्यावृत्ति कैवल्यं केवलस्याऽऽत्मनो भावः कैवल्यं देहादिरहितत्वम् । प्राप्त हो सकती है । येन ज्ञानप्राप्तिबलत्वेनकृत्स्नबन्धात्—मुक्त हो जाता है (अर्थात् अविद्या ग्रन्थी अहं अज्ञ) अब्रह्मत्व हृदयग्रन्थी अन्तःकरण में अहंता ममता बोद्धा तादात्म्याध्यासः) सब निवृत्त हो जाता है । उस परमात्मा को जानकर जीव मृत्यु को पार कर लेता है परमपद प्राप्ति के लिए उससे भिन्न कोई मार्ग नहीं है । प्राणी परमात्मा को जानकर समस्त पापों से छूट जाता है इत्यादि शास्त्र के वचन से सिद्ध होता है कि मुक्ति के लिए ध्यान की अपेक्षा नहीं हैं इस प्रकार कहते हैं—

इस तत्त्व ज्ञानी को ध्यान तो इच्छा के अनुसार कर्तव्य है मुक्ति तो ज्ञान से ही सिद्ध है ज्ञान से ही कैवल्य पद मिलता है यह वेदान्त का ढिंढोरा (घोषणा) है ।।६७।।

विशेष १ — श्रुति स्मृति आदिक प्रमाणों से निरूपित मोक्ष के साधन तत्त्व-ज्ञान के विद्यमान होने से ज्ञान के लिए और मोक्ष के लिए विद्वान् को कर्तव्य नहीं । किन्तु चित्त की एकाग्रता से आविर्भाव को प्राप्त करने वाले जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द की विद्वान् को इच्छा हो तो विद्वान् ध्यान को करे इच्छा न हो तो न करे सर्वथा विद्वान् को ध्यान की कर्तव्यता नहीं है ।

ननु तत्त्वविदो ध्यानानभ्युपगमे तस्य सदा बहिः प्रवृत्तिः स्यादित्याशङ्क्य, बाधकत्वात् प्रवृत्तेः साऽभ्युपेयत इत्याह—

तत्त्वविद्यदि न ध्यायेत्प्रवर्तेत तदा बहिः ।

प्रवर्ततां सुखेनायं को बाधोऽस्य प्रवर्तने ।।९८।।

अन्वय :—यदि तत्त्ववित् न ध्यायेत तदा बहिः प्रवर्तेत अयं सुखेन प्रवर्ततां अस्य प्रवर्तने कः बाधः ।

'तत्त्वविदिति' ।।९८।।

बहिः प्रवृत्त्यभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गः स्यादित्याशङ्क्य, प्रसङ्गस्य दुर्निरूप्यत्वान्नैवमिति परिहरति—

अतिप्रसङ्ग इति चेत्प्रसङ्गं तावदीरय ।

प्रसङ्गो विधिशास्त्रं चेन्न तत्तत्त्वविदं प्रति ।।९९।।

अन्वय :— अतिप्रसङ्ग इति चेत् प्रसङ्गं तावत् ईरय प्रसङ्गः विधिशास्त्रं चेत् तत् तत्त्वविदं प्रति न ।

'अतिप्रसङ्ग इति' न प्रसङ्गो दुर्निरूप्यः विधिशास्त्रस्य 'प्रसङ्ग' शब्देन विवक्षितत्वाद् इति चेन्न तस्याज्ञानिविषयत्वेन तत्त्वविद्विषयत्वाभावादित्याह—'प्रसङ्ग इति'। विधिशास्त्रमित्युपलक्षणं निषेध-शास्त्रस्यापि ।।९९।।

तत्त्वदर्शी को ध्यान की अपेक्षा नहीं होती, इस दशा में तो उसकी बहिर्मुखी प्रवृत्ति हो जायगी। ऐसी आशंका कर कहते हैं कि बहिर्मुखी प्रवृत्ति ज्ञान का बाधक न होने के कारण वह स्वीकार्य है—

कदाचित तत्त्वज्ञानी को ध्यान की आवश्यकता न मानोगे तो वह बाह्य विषयों में प्रवृत्त हो जायेगा यह शंका ठीक नहीं, यदि यह कहोगे कि तत्त्वज्ञानी ध्यान न करेगा तो बाह्य विषयों में प्रवृत्त हो जायगा तो सुख से बाहर प्रवृत्त हो उसकी प्रवृत्ति में कोई बाधा हानि नहीं है ।।९८।।

शंका बाह्य विषयों में प्रवृत्ति मानने में अति प्रसङ्ग (दोष) होगा पहले प्रसङ्ग का निरूपण नहीं होगा—

यदि अतिप्रसङ्ग कहोगे तो प्रथम उस प्रसङ्ग को कहो, विधिशास्त्र को प्रसङ्ग कहोगे तो वह भी नहीं कह सकते वह विधि निषेध दोनों भी अज्ञानी के लिए हैं विधि शास्त्र तत्त्वज्ञानी के लिए नहीं है ।।९९।।

विधिशास्त्रस्याविद्वद्विषयत्वमेव दर्शयति—

वर्णाश्रमवयोवस्थाभिमानो यस्य विद्यते ।
तस्यैव च निषेधाश्च विधयः सकला अपि ॥१००॥

अन्वय :—वर्णाश्रमवयोवस्थाभिमानः यस्य विद्यते तस्यैव च सकला अपि विधयः निषेधाश्च । 'वर्णेति' ॥१००॥

ननु तत्त्वविदोऽपि देहधारित्वेन वर्णाश्रमाद्यभिमानित्वमस्तीत्याशङ्क्याह—

वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ।
नात्मनो बोधरूपस्येत्येवं तस्य विनिश्चयः ॥१०१॥

अन्वय :—वर्णाश्रमादयः देहे मायया परिकल्पिताः बोधरूपस्य आत्मनः न इति एवं तस्य विनिश्चयः ।

'वर्णाश्रमेति' ॥१०१॥

ननु तत्त्वविनिश्चयस्तावत्तिष्ठतु, शास्त्रं तु तस्य कर्तव्यं प्रतिपादयतीत्याशङ्क्य, तदपि तस्य कर्तव्याभावमेव बोधयतीत्याह—

समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा ।
हृदयेनास्तसर्वास्थो मुक्त एवोत्तमाशयः ॥१०२॥

अन्वय :—अथ समाधिं कर्माणि मा वा करोतु उत्तमाशयः हृदयेनास्तसर्वास्थः मुक्तः एव ।

'समाधिमिति' । यो हृदयेन बुद्ध्या अस्तसर्वास्थः अस्ता परित्यक्ता अशेषा आसक्तिविशेषा यस्य तथाविधः अत एवोत्तमाशयः उत्तम आशयोऽभिप्रायो निर्मलं ज्ञानं यस्य स तथोक्तः स मुक्त एव । अतः समाधिमथ कर्माणीत्यन्वयः ॥१०२॥

विधि निषेध शास्त्र को अज्ञानी के विषय में ही दिखाते हैं—

ब्राह्मणादि वर्ण, गृहस्थादि आश्रम बाल्यादि आयु की स्थिति की दशारूप अवस्थाओं का अभिमान जिस पुरुष को है उसके लिए ही शास्त्र के सम्पूर्ण विधि और निषेध है—ज्ञानी के लिए तो न विधि है और न निषेध है ॥१००॥

शंका—तत्त्वज्ञानी को भी देहधारी होने से वर्ण आश्रम आदि का अभिमान है उत्तर—

तत्त्वज्ञानी को देहधारी है तो भी वर्णाश्रम आदि देह में माया से कल्पित हैं वे मुझ बोध स्वरूप आत्मा के धर्म नहीं है । इस प्रकार का निश्चय तत्त्वज्ञानी को होता है । उसे वर्णाश्रम आदि का अभिमान नहीं होता ॥१०१॥

विदुषः कर्तव्यं नास्तीत्यत्र वचनान्तरमुदाहरति —

नैष्कर्म्येण न तस्यार्थस्तस्यार्थोऽस्ति न कर्मभिः ।
न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः ॥१०३॥

अन्वय :— तस्य नैष्कर्म्येण अर्थः न कर्मभिः तस्यार्थः नास्ति समाधानजप्याभ्यां यस्य मनः निर्वासनं न ।

'नैष्कर्म्येणेति' । नैष्कर्म्यं कर्मराहित्यं तेन, कर्मत्यागेनेत्यर्थः । समाधानंसमाधिः । जप्यं जपः ॥१०३॥

शंका—ज्ञानी को पूर्वोक्त तत्त्व का निश्चय रहे—शास्त्र ने तो उसके भी कर्तव्य कहे हैं समाधान तत्त्वज्ञानी का कोई कर्तव्य[1] नहीं है—

जिस पुरुष ने हृदय से सब आसक्तियों को छोड़ दिया है । इस कारण उत्तम अभिप्राय जो निर्मलज्ञान वाला है ऐसा मुक्त पुरुष समाधि व कर्मों का चाहे करे या न करे कोई हानि उसकी नहीं है ॥१०२॥

अब विद्वान् को कुछ कर्तव्य नहीं है इसमें अन्य वचन का भी उदाहरण देते हैं –

नैष्कर्म्य (कर्म का त्याग) से उसका कोई अर्थ नहीं है और न कर्मों से और न समाधि से और न जप से कुछ अर्थ है जिसका मन वासनाओं[2] से रहित है ॥१०३॥

विशेष १— अमुक कर्म को करने से ही मुझे स्वर्ग या मोक्षफल मिलेगा और नहीं करूँगा तो नहीं मिलेगा अर्थात् इष्ट विनाश और अनिष्ट प्राप्ति रूप हानि होगी ऐसा सोचकर जो काम किया जाता है वह कर्तव्य कहलाता है इस विचार के बिना जो क्रिया करता है वह कर्तव्य नहीं है ।

२— निर्वासनं-बाधितद्वैतसंस्कारम् ।

३— दृढभावनयात्यक्तपूर्वापरविचारणम् । यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता ॥ दृढ़ भावनावश पूर्वापर का विचार छोड़कर पदार्थों का ग्रहण होता है वह वासना है इसी को (अभिनिवेश) कहते हैं वह वासना दो प्रकार की है । वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च मलिना तथा । मलिना जन्म हेतुः स्तु शुद्धा जन्मविनाशिनी ॥ मलिन वासना जन्म की हेतु शुद्धवासना जन्म का नाश करने वाली है । मलिन वासना का स्वरूप– अज्ञानसुघनाकारघनाहंकारशालिनी । पुनर्जन्मकरीप्रोक्ता मलिना सना बुधैः । पञ्चकोश तीन शरीरों से ब्रह्म के स्वरूप का आवरक अज्ञान से घनी (ठोस) हुआ है आकार जिसका ऐसा जो घन अहंकार के सहित जो जन्म मरण की हेतु वासना है वह एक है इसी प्रकार (२) लोक वासना (३) शास्त्र वासना, देहवासना इनके अनेक भेद हैं । गीता० के १६ अध्याय के इदंमद्य० १३वें श्लोक से २० वें श्लोक तक मलिन वासना कही है तत्त्व वेत्ता को आत्मा के असंग होने और उससे भिन्न सब आत्माओं के मिथ्या होने का निश्चय है इसलिए अनात्म पदार्थों में उसका कोई अभिनिवेश नहीं है इसलिए

ननु विदुषापि वासनानिवृत्तये ध्यानं कर्तव्यमित्याशङ्क्य, सम्यग्ज्ञानिनो वासनैव नास्तीत्याह—

आत्माऽसङ्गस्ततोऽन्यत्स्यादिन्द्रजालं हि मायिकम् ।
इत्यचञ्चलनिर्णीते कुतो मनसि वासना ॥१०४॥

अन्वय :—आत्मा असङ्गः ततः अन्यत् मायिकम् इन्द्रजालं हि स्यात् इति अचञ्चलनिर्णीते मनसि वासना कुतः ।

'आत्मेति' ॥१०४॥

भवत्वेवं, प्रकृते किमायातमित्यत आह—

एवं नास्ति प्रसङ्गोऽपि कुतोऽस्यातिप्रसञ्जनम् ।
प्रसङ्गो यस्य तस्यैव शङ्क्येतातिप्रसञ्जनम् ॥१०५॥

अन्वय :—एवं प्रसङ्गोऽपि नास्ति अस्य अतिप्रसञ्जनम् कुतः यस्यैव प्रसङ्ग तस्यैव अति प्रसञ्जनम् शङ्क्येत ।

'एवमिति' । कस्यत र्ह्यतिप्रसङ्ग इत्यत आह –'प्रसङ्गइति' ॥१०५॥

शंका—विद्वान् को भी वासनानिवृत्ति के लिए ध्यान कर्तव्य है उत्तर यथार्थ ज्ञानी को वासना नहीं होती—

आत्मा असंग अर्थात् सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद से रहित है और उससे भिन्न सब कुछ माया का इन्द्र जाल रूप जगत् मिथ्या है ऐसा दृढ़ निश्चय (अचञ्चल) करने के पश्चात् मन में वासना ही कैसे होगी । (जब वासना ही नहीं तो उसको हटाने के लिए ध्यान की भी आवश्यकता नहीं ॥१०४

ठीक है यह विचार, किन्तु प्रकृत में क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? इस पर कहते हैं –

इस प्रकार जब ज्ञानी को प्रसंग (प्रसक्ति) ही नहीं है तो अति प्रसङ्ग कहाँ से होगा क्योंकि जिसको प्रसङ्ग (विषयों का संग) होता है उसको ही अति प्रसङ्ग की शंका हुआ करती है ॥१०५॥

पूर्वापर के विचार का त्याग भी नहीं है अतएव उसमें मलिन वासना नहीं होती । पुनर्जन्मांकुरंत्यक्त्वा स्थितं संभृष्टबीजवत् । देहार्थं ध्रियते ज्ञातज्ञेया शुद्धेति चोच्यते ॥ देह निर्वाहार्थ शुद्ध वासना है तो वह ज्ञान से अज्ञान का नाश हो जाने के कारण घनीभूत नहीं होती इसलिए मलिन भी नहीं होती यह शुद्ध वासना जन्मान्तर की हेतु भी नहीं दग्ध बीज की तरह उसमें ज्ञेय ब्रह्म का ज्ञान होता है । इसलिए उसे ज्ञात ज्ञेय वासना भी कहते हैं । यद्यपि वह प्रारब्ध भोग पर्यन्त रहती है तथापि वह फल से अवासना ही है इस प्रकार सम्यक् ज्ञानी का मन वासना रहित कहलाता है । वासना का विस्तृत विवेचना श्री विद्यारण्य स्वामी जी ने जीवन्मुक्ति विवेक ग्रन्थ में लिखा है ।

एवं क्व दृष्टमित्यत आह—

विध्यभावान्न बालस्य दृश्यतेऽतिप्रसञ्जनम् ।

स्यात्कुतोऽतिप्रङ्गोऽस्य विध्यभावे समे सति ॥१०६॥

अन्वय : विध्यभावात् बालस्य अतिप्रसञ्जनम् न दृश्यते अस्य अतिप्रसङ्गः कुतः स्यात् विध्यभावे समे सति ।

'विध्यभवादिति' । दार्ष्टान्तिके योजयति—'स्यादिति' ॥१०६॥

बालस्य विध्यभावे प्रयोजकमज्ञत्वमस्ति, न विदुष इत्याशङ्क्य, तस्याज्ञत्वाभावेऽपि विध्यभाव-प्रयोजकं सर्वज्ञत्यमस्तीत्याह—

न किंचिद्वेत्ति बालश्चेत्सर्वं वेत्त्येव तत्त्ववित् ।

अल्पज्ञस्यैव विधयः सर्वे स्युर्नान्ययोर्द्वयोः ॥१०७॥

अन्वय :—बालः चेत् किंचित् न वेत्ति तत्त्ववित् सर्वं वेत्ति एव सर्वे विधयः अल्पज्ञस्यैव अन्ययोः द्वयोः न स्युः ।

'न किंचिदिति' । तर्हि विध्यधिकारः कस्येत्याशङ्क्याह—'अल्पज्ञस्येति' ॥१०७॥

इस प्रकार कहाँ देखा गया है इसका उदाहरण देते हैं—

लोक में देखते हैं कि बालक के लिए विधि शास्त्र रूप प्रसङ्ग नहीं होता। इसलिए उसको अति प्रसङ्ग (दोष) भी नहीं होता इसी प्रकार ज्ञानी के लिए भी विधि शास्त्र नहीं है। अतएव ज्ञानी बालक के समान है तो इस ज्ञानी को अति प्रसङ्ग कहाँ से होगा ॥१०६॥

शंका—बालक को तो विधि के अभाव में अज्ञता हेतु है विद्वान में यह अज्ञता नहीं है यह ठीक नहीं, ज्ञानी में अज्ञता नहीं है तो भी विधि अभाव प्रयोजक में सर्वज्ञता है—

बालक कुछ नहीं जानता है तो तत्त्वज्ञानी सब कुछ जानता है। अर्थात् उसकी सर्वज्ञता ही विधि के अभाव में हेतु है। क्योंकि अल्पज्ञ को ही सब विधि होती है। अन्य जो अज्ञ सर्वज्ञ दोनों हैं उनके लिए विधि नहीं होती है ॥१०७॥

ननु व्यासादिवच्छापानुग्रहसामर्थ्यं यस्य स एव, तत्त्वविन्नान्य इति शङ्कते—

शापानुग्रहसामर्थ्यं यस्यासौ तत्त्वविद्यदि ।

तन्न शापादिसामर्थ्यं फलं स्यात्तपसो यतः ॥१०८॥

अन्वय :—यस्य शापानुग्रहसामर्थ्यं असौ तत्त्ववित् यदि तन्न शापादिसामर्थ्यं यतः तपसः फलं स्यात् ।

'शापेति' । परिहरति—'तन्नेति' । हेतुमाह—'शापादिसामर्थ्यमिति' ॥१०८॥

ननु व्यासादीनां तत्त्वविदामपि शापादिसामर्थ्यं दृश्यत इत्याशङ्क्य तेषां न तत्त्वज्ञानफलं, अपि तु तपः फलमित्याह—

व्यासादेरपि सामर्थ्यं दृश्यते तपसो बलात् ।

शापादिकारणादन्यत्तपो ज्ञानस्य कारणम् ॥१०९॥

अन्वय :–तपसः बलात् व्यासादेः अपि सामर्थ्यं दृश्यते शापादिकारणात् तपः अन्यत् ज्ञानस्य कारणं (अन्यत्) ।

'व्यासदेरिति' । ननु तर्हि 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' (तै० ३।२) इति श्रुतेस्तपोरहितस्य तत्त्वज्ञानमपि न घटेतेत्याशङ्क्य, शापादिकारणादन्यस्य तपसः सत्वान्नैवमित्याह—'शापेति' ॥१०९॥

शंका—व्यास आदि ज्ञानियों को भी अनुग्रह का सामर्थ्य देखते हैं । वही तत्त्वज्ञानी है अन्य नहीं—

प्रश्न – क्या जिसमें शाप देने अथवा अनुग्रह करने की शक्ति हो वही तत्त्वज्ञानी है ।

उत्तर – नही क्योंकि शापादि सामर्थ्य तो तपः का फल है ज्ञान का नहीं ॥१०८॥

प्रश्न – व्यास आदि तत्त्वज्ञानियों को भी शाप आदि का सामर्थ्य देखते हैं—

उत्तर—यह तत्त्वज्ञान का फल नही, वह तप का फल है—

व्यास आदि का जो शाप अनुग्रह का सामर्थ्य है वह तप के बल से है तत्त्वज्ञान से नहीं–प्रश्न तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर इस श्रुति से तप से हीन को तत्त्वज्ञान भी न होना चाहिए समाधान शाप आदि के कारण तप से भिन्न जो तप वह ज्ञान का कारण होता है (अर्थात् तप भी दो प्रकार के हैं तप आलोचने, तप संतापे इति धातु द्वयम् ॥१०९॥

तर्हि तेषां व्यासादीनां तत्त्वज्ञानित्वं शापादिकारणत्वं च कथं दृश्यत इत्याशङ्क्य, उभयविधतपसः सद्भावादित्याह—

द्वयं यस्यास्ति तस्यैव सामर्थ्यज्ञानयोर्जनिः ।

एकैकं तु ततः कुर्वन्नेकैकं लभते फलम् ॥११०॥

अन्वय : – यस्य द्वयं अस्ति तस्यैव सामर्थ्यं ज्ञानयोः जनिः एकैकं तु ततः कुर्वन् एकैकं फलम् न लभते ।

'द्वयमिति' ॥११०॥

ननु यः शापादिसामर्थ्यरहितस्य विध्यभावेऽपि विहितानुष्ठातृभिर्निन्द्यत्वं स्यादित्याशङ्क्य, तेषामपि विषयलम्पटैर्निन्द्यत्वं स्यादित्याह--

सामर्थ्यहीनो निन्द्यश्चेद्यतिभिर्विधिवर्जितः ।

निन्द्यन्ते यततोऽप्यन्यैरनिशं भोगलम्पटैः ॥१११॥

अन्वय : – विधिवर्जितः यतिभिः सामर्थ्यहीनः निन्द्यश्चेत् यततोऽपि अन्यैः भोगलम्पटैः अनिशं निन्द्यन्ते ।

'सामर्थ्यहीन इति' ॥१११॥

प्रश्न –तो उन व्यास आदि को तत्त्वज्ञानी होने पर शाप आदि की कारणता कैसे देखते हैं । उनमें दोनों प्रकार का तप था—

दोनों प्रकार का तप जिसने किया है उसको ही शाप अनुग्रह की शक्ति और ज्ञान दोनों होते हैं और एक-एक तप को करता हुआ मनुष्य एक-एक ही फल को प्राप्त होता है दोनों का नहीं ॥११०॥

जो शापादि सामर्थ्य रहित है वह विधि के अभाव में विहित अनुष्ठान करने वालों के द्वारा निन्दा का विषय होगा ? उन लोगों की निन्दा विषयी जीवों से ही होती है इस प्रकार उत्तर देते हैं—

यदि कहो नियम से शापादि सामर्थ्य से हीन (शास्त्रोक्त का त्यागी) होने के कारण कर्मियों से निन्द्य हो तो उन संन्यासियों की भी दूसरे विषय लोलुप उस कर्मानुष्ठान रूप तप की भी रात-दिन निन्दा करते हैं ॥१११॥

एतेऽपि भोगतुष्ट्यर्थं विषयान्संपादयेयुरित्याशङ्क्य, तदा तेषां यतित्वमेव हीयेतेत्यभिप्रायेणोपहसति—

भिक्षावस्त्रादि रक्षेयुर्यद्येते भोगतुष्टये ।
अहो यतित्वमेतेषां वैराग्यभरमन्थरम् ॥११२॥

अन्वय :— यदि एते भिक्षावस्त्रादि भोगतुष्टये रक्षेयुः एतेषां वैराग्यभरमन्थरम् यतित्वं अहो ।

'भिक्षेति' ॥११२॥

विषयलम्पटैः पामरैश्च क्रियमाणया निन्दया क्रियापराणां शिष्टानां हानिर्नास्तीत्युच्यते चेत्तर्हि देहाभिमानिभिः क्रियापरैः क्रियमाणया निन्दया तत्त्वविदोऽपि न हानिरित्याह—

वर्णाश्रमपरान् मूढा निन्दन्त्वित्युच्यते यदि ।
देहात्ममतयो बुद्धं निन्दन्त्वाश्रममानिनः ॥११३॥

अन्वय : मूढाः वर्णाश्रमपरान् निन्दन्तु इति यदि उच्यते देहात्ममतयः आश्रममानिनः बुद्धं निन्दन्तु ।

'वर्णाश्रमेति' ॥११३॥

वे यति वृन्द भी भोग की सन्तुष्टि के विषयों को सम्पादन करेंगे । ऐसी आशंका कर कहते हैं कि दूसरों को उन कर्मानुष्ठान करने वाले यतिजनों का यतित्व धर्म ही विनष्ट हो जायेगा । इस आशय से उपहास करते हैं—

यदि कहो कि संन्यासी भी भोगों से सन्तोष के लिए ही संचय करें किन्तु ये संन्यासी भी भोगों से प्रसन्न होने के लिए भिक्षा और वस्त्र आदि की रक्षा करें तो उनका संन्यासी होना आश्चर्य है क्योंकि वह वैराग्य के भार से मन्द है अर्थात् वैराग्य नहीं है ॥११२॥

विषय लम्पट, पामरों के द्वारा की हुई निन्दा से क्रियापरायण शिष्टजनों की कोई क्षति नहीं होती है यदि ऐसा कहते हैं तो देहाभिमानी कर्मियों के द्वारा की हुई निन्दा से ज्ञानियों की हानि नहीं होगी इस प्रकार उत्तर देते हैं —

यदि कहो कि विषयों से लम्पट पामरों की हुई निन्दा से कर्म के कर्ताओं की कुछ हानि नहीं, यह ठीक नहीं क्योंकि यदि वर्णाश्रम में तत्परों की मूढ निन्दा करेंगे ऐसा कहोगे तो देहाभिमानी कर्म में तत्पर मूर्ख आश्रम के अभिमानी ज्ञानी की भी निन्दा करें उससे तत्त्वज्ञानी की कुछ हानि नहीं ११३॥

प्रासङ्गिकं परिसमाप्य, प्रकृतमनुसरति—

[1]तदित्थं तत्त्वविज्ञाने साधनानुपमर्दनात् ।
ज्ञानिनाचरितुं शक्यं सम्यग्राज्यादि लौकिकम् ॥११४॥

अन्वय :–तत् इत्थं तत्त्वविज्ञाने साधनानुपमर्दनात् ज्ञानिना सम्यक् लौकिकम् राज्यादि आचरितुं शक्यम् ।

'तदित्थमिति' । तत्तस्मात्कारणादित्थमुक्तेन प्रकारेण तत्त्वविज्ञाने सति साधनानुपमर्दनाल्लौकिकव्यवहारसाधनानां मनआदीनामविलापनाल्लौकिकं राज्यादि राज्यपरिपालनादिकर्म [illegible]वा ज्ञानिना सम्यगाचरितुं शक्यमित्यर्थः ॥११४॥

ननु तत्त्वविदः प्रपञ्चमिथ्यात्वज्ञानेन तत्रेच्छैव नोदीयादिति चेत्तर्हि स्वकर्मानुसारेण वर्ततामित्याह—

मिथ्यात्वबुद्धया तत्रेच्छा नास्ति चेत्तर्हि मास्तु तत् ।
ध्यायन्वाऽथ व्यवहरन् यथारब्धं वसत्वयम् ॥११५॥

अन्वय :–मिथ्यात्वबुद्धया तत्रेच्छा नास्ति चेत् तर्हि तत् मास्तु अथवा ध्यायन् व्यवहरन् अयं यथारब्धं वसतु ।

'मिथ्यात्वेति' ॥११५॥

इस प्रकरण प्रसंग की समाप्ति करके पुनः प्रकरण में आते हैं—

इससे इस पूर्वोक्त प्रकार के तत्त्व विज्ञान के होने पर लौकिक व्यवहार के साधन जो मन आदि का विनाश न होने के कारण तत्वज्ञानी मनुष्य लौकिक राज्य आदि को अच्छी प्रकार कर सकता है अर्थात् राज्य आदि करने में उसकी कुछ भी हानि नहीं है ॥११४॥

यदि कहो कि तत्वज्ञानी की प्रपञ्च के मिथ्यात्व ज्ञान से राज्य आदि में इच्छा ही न होगी इस शंका पर कहते हैं –

यदि मिथ्यात्व बुद्धि से उसमें इच्छा नहीं है तो मत हो क्योंकि यह ज्ञानी ध्यान व व्यवहार को करता हुआ अपने प्रारब्ध के अनुसार उसे कुछ चिन्ता नहीं ॥११५॥

विशेष १— तत्त्वविरत्वविरोधित्वात् लौकिकं सम्यगाचरेत् ॥ इसी प्रकरण के ८. वें श्लोक में कहा है ।

इदानीमुपासकस्यातो वैषम्यं दर्शयति –

उपासकस्तु सततं ध्यायन्नेव वसेद्यतः ।
ध्यानेनैव कृतं तस्य ब्रह्मत्वं विष्णुतादिवत् ॥११६॥

अन्वय :— यतः उपासकस्तु सततं ध्यायन् एव वसेत् ध्यानेनैव कृतं तस्य ब्रह्मत्वं विष्णुतादिवत् (पारमार्थिकत्वं नास्ति) ।

'उपासक इति' । तत्रोपपत्तिमाह 'यत इति' । यता कारणात्तस्य ब्रह्मत्वं ध्यानेनैव कृतं न प्रमाणेन प्रमितम्, अतो ध्यायिना सदा ध्यानं कर्तव्यमित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः—'विष्णुतादिवदिति' । यथा स्वस्मिन्ध्यानेन संपादितस्य विष्णुत्वादेः पारमार्थिकत्वं नास्ति तद्वदित्यर्थः ॥११६॥

ध्यानसंपादितस्यापि तस्य पारमार्थिकत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्य, ध्यानसंपादितस्य वाग्धेनुत्वादेर्ध्यानापायेऽपगमदर्शनान्नैवमित्याह –

ध्यानोपादानकं यत्तद्ध्यानाभावे विलीयते ।
वास्तवी ब्रह्मता नैव ज्ञानाभावे विलीयते ॥११७॥

अन्वय : ध्यानोपादानकं यत् ध्यानाभावे विलीयते वास्तवी ब्रह्मता ज्ञानाभावे नैव विलीयते ।

ध्यानेति' । ज्ञानेन प्रकाशितस्य ब्रह्मत्वस्य ततो वैलक्षण्यमाह—'वास्तवीति' । हेतुगर्भितं विशेषणम् । यतो ब्रह्मत्वं वास्तवम्, अतो ज्ञापकज्ञानाभावे सति नैव विलीयत ॥११७॥

अब उपासक की ज्ञानी से विषमता को दिखाते हैं—

जिससे उपासक को ब्रह्म भाव ध्यान से ही हुआ है अन्य प्रमाणों से नहीं इससे उपासक निरन्तर ध्यान करता हुआ ही रहे इसमें दृष्टान्त है जैसे अपने में ध्यान से सम्पादित सगुणोपासक को विष्णु आदि पारमार्थिक (सत्य) नहीं होता है । (ऐसे ही उपासक का ब्रह्मत्व भी पारमार्थिक नहीं है) ॥११६ ॥

ध्यान से सम्पादित ब्रह्मभाव पारमार्थिक क्यों नहीं होगा ? जैसे ध्यान से सम्पादित वाग्धेनु का अभाव देखने में आता है । इस प्रकार कहते हैं —

ध्यान से सम्पादित किया जिस वस्तु का ध्यान संपादक होता है ऐसे वाक् धेनु आदि का अभाव होने पर नष्ट हो जाते हैं । तत्त्व ज्ञान से प्रकाशित ब्रह्मता ध्यान से विलक्षण है परन्तु वास्तविक ब्रह्मता तो ज्ञापक ज्ञान के अभाव में भी लीन नहीं होती ॥११७॥

वास्तवत्वादेव ज्ञानेन नैव जन्यत इत्याह—

ततोऽभिज्ञापकं ज्ञानं न नित्यं जनयत्यदः।

ज्ञापकाभावमात्रेण न हि सत्यं विलीयते ॥११८॥

अन्वय :—ततः अभिज्ञापकं ज्ञानं अदः नित्यं जनयति ज्ञापकाभावमात्रेण हि सत्यं न विलीयते।

'तत इति'। यतोऽदो[1] ब्रह्मत्वं नित्यं, ततो ज्ञानं तस्याभिज्ञापकमवबोधकमेव, न जनकमित्यर्थः। तत्रोपपत्ति व्यतिरेकमुखेनाह—'ज्ञापकेति'। अयमभिप्रायःब्रह्मत्वं यदि ज्ञानजन्यं स्यात्तर्हि ज्ञाननाशे स्वयं विलीयेत, न च विलीयते, अतो न जन्यत इत्यर्थः ॥११८॥

ननु ज्ञानिवदुपासकस्यापि ब्रह्मत्वं वास्तवमस्त्येवेति शङ्कते—

अस्त्येवोपासकस्यापि वास्तवी ब्रह्मतेति चेत् ॥

पामराणां तिरश्चां च वास्तवी ब्रह्मता न किम् ॥११९॥

अन्वय :—उपासकस्यापि वास्तवी ब्रह्मता अस्ति एव इति चेत् पामराणां तिरश्चां च वास्तवी ब्रह्मता किम् न।

'अस्त्येवेति'। अत्यल्पमिदमुच्यत इत्यभिप्रायेणाह 'पामराणामिति' ॥११९॥

वास्तव होने से ही ब्रह्मत्व ज्ञान से पैदा नहीं होता—

यह कहते हैं कि जिससे वह प्रकृत[1] ज्ञान ब्रह्मत्व नित्य है, इससे ज्ञान उसका अवबोधक (जानने वाला) है जनक नहीं है। क्योंकि ज्ञापक के अभाव मात्र से सत्यता का नाश नहीं होता है तात्पर्य यह है कि यदि ब्रह्मज्ञान से पैदा होता तो ज्ञान के नाश होने पर ब्रह्मत्व भी विनाश को प्राप्त हो जाता इसलिए ज्ञान से जन्य ब्रह्मत्व नहीं है ॥११८॥

अब ज्ञानी के समान उपासक के ब्रह्मत्व की भी सत्यता में शंका करते हैं—

प्रश्न—उपासक की ब्रह्मता वास्तवी (सच्ची) है तो,

उत्तर—यदि उपासक की ब्रह्मता वास्तवी है तो पामर (मूर्ख) और तिरछे (सर्प पशु) आदि की भी ब्रह्मता वास्तविक क्यों नहीं हो, अर्थात् उनकी ब्रह्मता सत्य नहीं है ॥११९॥

विशेष १— तद्ध्यसाध्यं नित्यं सिद्धस्वभावमेव विद्ययाऽधिगम्यत[1] ब्र० सू० ३।४।५२ भाष्य मुक्ति फल साध्य नहीं नित्य शुद्ध स्वभाव ही विद्या से प्राप्त किया जाता है।

(१) विद्यया अभिव्यक्तत्वेन ब्रह्मानन्द एव मुख्यं फलं, अभिव्यक्तिः अविद्यानिवृत्ति आनन्दस्वरूपस्फूर्तिप्रतिबन्धकाभावतया विद्यया साध्यते, सा च अनिर्वाच्य इति-न द्वैतापत्तिः। विद्या से अभिव्यक्त होने से ब्रह्मानन्द ही मुख्य फल है अभिव्यक्ति अविद्या की निवृत्ति परमानन्दस्वरूप स्फूर्ति में प्रतिबन्ध के अभाव रूप होने से विद्या से साध्य होती है। वह अनिर्वाच्य है। द्वैत की प्राप्ति नहीं।

पामरादीनां विद्यमानमपि तद्ब्रह्मत्वमज्ञातत्वान्न पुरुषार्थोपयोगीत्याशङ्क्य, अज्ञातत्वेनापुरुषार्थोपयोगित्वमुपासकस्यापि समानमित्याह—

अज्ञानादपुमर्थत्वमुभयत्रापि तत्समम् ।
उपवासाद्यथा भिक्षा वरं ध्यानं तथाऽन्यतः ॥१२०॥

अन्वय :—अज्ञानात् अपुमर्थत्वं उभयत्रापि तत् समम् उपवासात् यथा भिक्षा वरं तथा अन्यतः ध्यानं (वरं) ।

'अज्ञानादिति' । ननु ब्रह्मोपासनं किमर्थमभिधीयत इत्याशङ्क्यतेरानुष्ठानेभ्यः श्रेष्ठत्वाभिप्रायेणोक्तमिति दृष्टान्तपूर्वकमाह —'उपवासादिति' ॥१२०॥

इतरानुष्ठानाच्छ्रैष्ठ्यमेव दर्शयति—

पामराणां व्यवहृतेर्वरं कर्माद्यनुष्ठितिः ।
ततोऽपि सगुणोपास्तिर्निर्गुणोपासना ततः ॥१२१॥

अन्वय : —पामराणां व्यवहृतेः कर्माद्यनुष्ठितिः वरं ततोऽपि सगुणोपास्तिः ततः निर्गुणोपासना ।
'पामराणामिति' ॥१२१॥

पामरों के विद्यमान भी वह ब्रह्मत्व अज्ञान से पुरुषार्थ का उपयोगी नहीं होता इस पर कहते हैं—

अपने अज्ञान के कारण पुरुषार्थ के उपयोगी नहीं है यह उपासक में भी समान है, अर्थात् उपासक के ब्रह्मत्व से भी मोक्ष नहीं मिलता ।

प्रश्न—फिर उपासना का क्या फल ।

उत्तर—अन्य कर्मों से ध्यान सगुण उपासना श्रेष्ठ है दृष्टान्त पूर्वक कहते हैं— उपवास से जैसे भिक्षा श्रेष्ठ है ॥१२०॥

अन्य कर्मों से श्रेष्ठतादि दिखाते हैं—

पामरों के खेती आदि व्यवहार से कर्मानुष्ठान श्रेष्ठ है कर्मानुष्ठान से सगुणोपासना श्रेष्ठ है और सगुणोपासना से निर्गुणोपासना श्रेष्ठ है ॥१२१॥

विशेष १— सगुणोपासना हि द्विविधा—प्रतीकअहंग्रहभेदात् साऽपि यत्किंचित्प्रतीका सर्वप्रतीकेति भेदत द्विविधा तत्र प्रथमा नाम ब्रह्मेत्युपासीत इति । द्वितीया-सर्वं खल्विदं ब्रह्म छा० ३।१४।१। एवं अहंग्रहोपासनाऽपि सगुणनिर्गुण भेदात् द्विविधा सगुणोऽपि द्वेधा अहं ब्रह्मास्मि इति निरंतरं चिन्तनम् (अहं विष्णुरिति) सकलमिदमहं च वासुदेव इति च, उपास्य स्वरूपस्य स्व अभेदेन चिन्तनम् अहं ग्रहोपासनं । द्वितीया निर्गुणअहं ग्रहोपासनाफलीभूतआर्षज्ञानस्य अद्वैतब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारस्य मुक्ति निर्वाधैव भवति । अन्यवस्तुनो अन्य रूपेण उपासनम् ।

उत्तरोत्तरश्रैष्ठ्ये कारणमाह—

यावद्विज्ञानसामीप्यं तावच्छ्रैष्ठ्यं विवर्धते ।
ब्रह्मज्ञानायते साक्षान्निर्गुणोपासनं शनैः ॥१२२॥

अन्वय :—यावत् विज्ञान सामीप्यं तावत् श्रैष्ठ्यं विवर्धते निर्गुणोपासनं शनैः साक्षात् ब्रह्म ज्ञानायते ।

'यावदिति' । निर्गुणोपासनस्य सर्वश्रैष्ठ्ये कारणमाह - ब्रह्मज्ञानायत इति' ॥१२२॥

उक्तमर्थं दृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वकं द्रढयति—

यथा संवादिविभ्रान्तिः फलकाले प्रमायते ।
विद्यायते तथोपास्तिर्मुक्तिकालेऽतिपाकतः ॥१२३॥

अन्वय :—यथा संवादिविभ्रान्तिः फलकाले प्रमायते तथा अतिपाकतः मुक्तिकाले उपास्तिः विद्यायते ।

'यथेति' ॥१२३॥

अब उत्तरोत्तर श्रेष्ठता के कारण को कहते हैं—

जितनी ज्यों-ज्यों विज्ञान की समीपता आती जाती है वैसे-वैसे श्रेष्ठता बढ़ती जाती है अब निर्गुणोपासना की सर्वश्रेष्ठता में कारण कहते हैं । निर्गुणोपासना तो धीरे-धीरे ब्रह्म ज्ञान में परिणत हो जाती है । इसलिए सर्वश्रेष्ठ है ॥१२२॥

अब पूर्वोक्त अर्थ को दृष्टान्त देकर दृढ़ करते हैं—

जैसे संवादी भ्रम फल मिलने के समय प्रमा (यथार्थ ज्ञान) रूप हो जाता है—उसी प्रकार उपासना भी मुक्ति के समय में अति पाक होने के कारण विद्या (ज्ञान) रूप हो जाती है अर्थात् उपासना ही ज्ञान रूप हो जाती है ॥१२३॥

ननु संवादिविभ्रान्तिः स्वयमेव न प्रमा भवति, किंतु तया प्रवृत्तस्येन्द्रियार्थसंनिकर्षात्प्रमा जायत इति शङ्कते—

संवादिभ्रमतः पुंसः प्रवृत्तस्यान्यमानतः ।
प्रमेति चेत्तथोपास्तिर्मान्तरे कारणायताम् ॥१२४॥

अन्वय :—संवादिभ्रमतः पुंसः प्रवृत्तस्य अन्यमानतः प्रमा इति चेत् तथा उपास्तिः मान्तरे कारणायताम् ।

'संवादीति' । अस्तु तर्हि निर्गुणोपासनमपि निदिध्यासनरूपं सद्वाक्यजन्यापरोक्षज्ञाने कारणं भविष्यतीत्याह —'तथेति' ॥१२४॥

नन्वेवं सति मूर्तिध्यानादेरपि चित्तैकाग्र्यसंपादनद्वारा अपरोक्षज्ञानसाधनत्वं स्यादिति चेत्तदप्यङ्गी-क्रियत इत्याह—

मूर्तिध्यानस्य मन्त्रादेरपि कारणता यदि ।
अस्तु नाम तथाप्यत्र प्रत्यासत्तिर्विशिष्यते ॥१२५॥

अन्वय :—मूर्तिध्यानस्य मन्त्रादेरपि यदि कारणता अस्तु नाम तथापि अत्र प्रत्यासत्तिः विशिष्यते ।

'मूर्तीति' । तर्हि निर्गुणोपासने कोऽतिशयस्तत्राह—'तथापीति' । प्रत्यासत्तिः सामीप्यं ज्ञानं प्रतीति शेषः ॥१२५॥

शंका—संवादी भ्रम स्वयं प्रमारूप नहीं होता किन्तु भ्रम से प्रवृत्त हुए मनुष्य को इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध से प्रमा हो जाती है इस पर कहते हैं—

प्रश्न—संवादी भ्रम से प्रवृत्त हुए मनुष्य को अन्य प्रमाण से यदि प्रमा होती है तो ।

उत्तर—यों तो उपासना भी स्वयं ब्रह्मज्ञान नहीं बन जाती वह दूसरे ज्ञान का कारण बन जाती है । तब तो निर्गुण उपासना भी निदिध्यासन रूप होकर महावाक्य से पैदा हुए अपरोक्ष ज्ञान का कारण बन जाती है ॥१२४॥

प्रश्न—इस प्रकार मूर्ति के ध्यान आदि भी चित्त की एकाग्रता के संपादन द्वारा अपरोक्ष ज्ञान के साधन हो जायँगे हम इसको स्वीकार करते हैं इस पर कहते हैं—

यदि मूर्ति का ध्यान मन्त्र आदि भी ज्ञान के कारण हो जायँगे तो हों तथापि निर्गुण उपासना में में क्या अतिशय है कहते हैं—तथापि निर्गुण उपासना में विशेषः प्रत्यासत्ति अर्थात् ज्ञान के प्रति समीपता पायी जाती है अर्थात् निर्गुण उपासना के अनन्तर ही ब्रह्म ज्ञान होता है और मूर्ति आदि के ध्यान से विलम्ब से होता है ॥१२५॥

प्रत्यासत्तिप्रकारमेव दर्शयति—

निर्गुणोपासनं पक्वं समाधिः स्याच्छनैस्ततः ।

यः समाधिर्निरोधाख्यः सोऽनायासेन लभ्यते ॥१२६॥

अन्वय :—निर्गुणोपासनं पक्वं समाधिः स्यात् ततः यः निरोधाख्यः समाधिः स अनायासेन लभ्यते ।

'निर्गुणेति' । निर्गुणोपासनं यदा पक्वं भवति तदा सविकल्पकसमाधिः स्यात् । ततः सविकल्पक-समाधेर्निरोधाख्यो यस्तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिरिति सूत्रोक्तलक्षणो निर्विकल्पकः समाधिः सोऽनायासेन लभ्यते ॥१२६॥

भवत्वेवं निर्विकल्पकलाभः, ततः किमित्यत आह—

निरोधलाभे पुंसोऽन्तरसङ्गं वस्तु शिष्यते ।

पुनः पुनर्वासितेऽस्मिन्वाक्याज्जायेत तत्त्वधीः ॥१२७॥

अन्वय :—पुंसः निरोधलाभे अन्तः असङ्गं वस्तु शिष्यते अस्मिन् पुनःपुनःवासिते वाक्यात् तत्त्वधीः जायेत ।

'निरोधेति' । ततोऽपि किमित्यत आह—'पुनः पुनरिति' । अस्मिन्नसङ्गे[२] वस्तुनि पुनः पुनर्वासिते भाविते सति वाक्यात्तत्त्वमस्यादिलक्षणात्तत्त्वधीस्तत्त्वज्ञानम् अहं ब्रह्मास्मी' त्येवमाकारं जायेत उत्पद्येत ॥१२७॥

अब समीपता के प्रकार को दिखाते हैं —

जब यह निर्गुण उपासना पक जाती है तब सविकल्प समाधि हो जाती है। फिर सविकल्प समाधि से निरोध नाम की समाधि बन जाती है और उस निरोध नाम की समाधि के भी निरोध होने पर निर्बीज (निर्विकल्प) समाधि हो जाती है। इस सूत्र में कही है निर्विकल्प समाधि अनायास ही मिल जाती है ॥१२६॥

अब निर्विकल्पक समाधि के फल को कहते हैं —

निरोध स[१]माधि का लाभ होने पर मनुष्य के भीतर असंग वस्तु (ब्रह्म) शेष रह जाती है और इस असङ्ग वस्तु (ब्रह्म) की पुनः-पुनः (बारम्बार) भावना करने पर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से तत्त्व ज्ञान हो जाता है 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ यह ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥१२७॥

विशेष —१ आकार उकारे—उकार मकारे। मकार ओङ्कारे-ओङ्कारो ह्यहमेव, अहमेवात्मा साक्षी केवलश्चिन्मात्रस्वरूपो न अज्ञानं नापि तत्कार्यं किन्तु नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावं परमानन्दाद्वयं प्रत्यग्भूतचैतन्यं ब्रह्मैवाहमस्मि इति अभेदेन अवस्थानं समाधिः ।

२— असङ्गम् शोधितत्वं पदार्थकूटस्थचैतन्यम् ।

तत्त्वज्ञानस्वरूपमेव विशदयति –

> निर्विकारासङ्गनित्यस्वप्रकाशैकपूर्णताः ।
>
> बुद्धौ झटिति शास्त्रोक्ता आरोहन्त्यविवादतः ॥१२८॥

अन्वय-निर्विकारासङ्गनित्यस्वप्रकाशैकपूर्णताः बुद्धौ शास्त्रोक्ताः झटिति अविवादताः आरोहन्ति । 'निर्विकारेति' ॥१२८॥

ननु निर्विकल्पकसमाधिवशादपरोक्षज्ञानमुदेतीत्यत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्या'मृतबिन्द्वा'दिश्रुतयः सर्वा अपि प्रमाणमित्याह –

> योगाभ्यासस्त्वेतदर्थोऽमृतबिन्द्वादिषु श्रुतः ।
>
> एवं च दृष्टद्वारापि हेतुत्वादन्यतो वरम् ॥१२९॥

अन्वय :–एतदर्थः अमृत बिन्द्वादिषु योगाभ्यासस्तु श्रुतः एवं च दृष्टद्वारापि हेतुत्वात् अन्यतः वरम् ।

'योगाभ्यासेति' । फलितमाह –'एवमिति' । एवं च सति निर्गुणोपासनस्याप्यपरोक्षज्ञान-प्रत्यासत्तिसंभवे सति दृष्टद्वारापि निर्विकल्पकसमाधिलाभद्वारेण 'अपि' शब्दाददृष्टद्वारापि हेतुत्वात् ज्ञान-साधनत्वादन्यतः सगुणोपासनादिभ्यो वरं श्रेष्ठमित्यर्थः ॥१२९॥

तत्त्वज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं –

असंग ब्रह्म तत्त्व की निरन्तर भावना करते रहने से शास्त्रों में निर्विकार असंग, नित्य स्वप्रकाश एक, पूर्ण, आत्मा के धर्म, निर्विवाद रूप से तत्काल बुद्धि में बैठ जाते हैं । अर्थात् निर्विकार आदि स्वरूप ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है ॥१२८॥

शंका –निर्विकल्पक समाधि से अपरोक्ष ज्ञान होता है इसमें क्या प्रमाण है ? अमृत बिन्दु उप-निषद् वाक्यों का प्रमाण मिलता है, इस प्रकार कहते हैं –

क्योंकि योगाभ्यास का फल ज्ञान है यह अमृत बिन्दु आदि श्रुतियों में कहा है । इस प्रकार निर्गुण उपासना भी अपरोक्ष ज्ञान के समीपतम होने के कारण निर्विकल्पक समाधि का लाभ हो जाता है । इससे दृष्ट के द्वारा भी निर्विकल्पक समाधि लाभ, अपि शब्द से, अदृष्ट द्वारा भी ज्ञान का साधन होने से, अन्य सगुणोपासना आदि से श्रेष्ठ है ॥१२९॥

एवं निर्गुणोपासनस्यापरोक्षज्ञानसाधनत्वे सिद्धे सति तत्परित्यज्यान्यत्र प्रवृत्तानां वृथा श्रमः स्यादिति लौकिकन्यायदर्शनेनाह—

उपेक्ष्य तत्तीर्थयात्राजपादीनेव कुर्वताम् ।
पिण्डं समुत्सृज्य करं लेढीति न्याय आपतेत् ॥१३०॥

अन्वय :—उपेक्ष्य तत् तीर्थयात्रा जपादीन् एव कुर्वताम् पिण्डं समुत्सृज्य करं लेढि इति न्यायः आपतेत् ।

'उपेक्ष्येति' ॥१३०॥

नन्वात्मतत्त्वविचारं परित्यज्य निर्गुणोपासनं कुर्वतामप्ययं न्यायः समान इत्याशङ्क्याङ्गीकरोति—

उपासकानामप्येवं विचारत्यागतो यदि ।
बाढं तस्माद्विचारस्यासंभवे योग ईरितः ॥१३१॥

अन्वय :—यदि विचारत्यागतः एवं उपासकानां अपि बाढं तस्मात् विचारस्यासम्भवे योगः ईरितः ।

'उपासकानामिति' । तर्हि निर्गुणोपासनं कुतः प्रतिपाद्यत इत्यत आह—'तस्मादिति'यस्मादुक्तन्यायप्रसङ्गस्तस्माद्विचारासंभवे योग उपासनमुक्तमित्यर्थः॥१३१॥

इस प्रकार जब निर्गुणोपासना अपरोक्ष ज्ञान का साधन है तो उसको त्याग कर जो अन्य कर्मों में प्रवृत्त है उसके श्रम को लौकिक न्याय से वृथा दिखाते हैं—

निर्गुण उपासना की उपेक्षा करके (छोड़कर) जो मनुष्य तीर्थ यात्रा और जप आदि को करते हैं उनमें यह न्याय घटेगा कि जैसे कोई मनुष्य पिण्ड (नवनीत ग्रास) को छोड़कर अपने हाथ को चाटने लगे ऐसे ही वे हैं ॥१३०॥

यदि कहो कि जो आत्मतत्त्व विचार को त्यागकर निर्गुणोपसना करते हैं उनको भी यह न्याय समान है यह ठीक नहीं——

प्रश्न—यों तो आत्मतत्त्व का विचार छोड़कर निर्गुणोपासना करने वाले भी ऐसे ही अविचार-शील हैं ।

उत्तर—बाढं सत्य आप का कथन है फिर निर्गुणोपासना क्यों प्रतिपादन की गयी है ।

उत्तर—इसलिए तो विचार के असंभव होने की दशा में योग (निर्गुणोपासना) का विधान है ॥१३१॥

विचारासंभवे कारणमाह—

बहुव्याकुलचित्तानां विचारात्तत्त्वधीर्नहि ।
यो यो मुख्यस्ततस्तेषां धीदर्पस्तेन नश्यति ॥१३२॥

अन्वय :— बहुव्याकुलचित्तानां विचारात् तत्वधीः न हि, यः यः मुख्यः ततः तेषां तेन धीदर्पः नश्यति ।

'बह्विति' । यतो विचारो न संभवति, अतो योगः कर्तव्य इत्याह—'यो य इति' । मुख्यत्वे कारणमाह—'धीदर्प इति' । तेन योगेन यतो धीदर्पो नश्यति, अतो मुख्य इत्यर्थः ॥१३२॥

एवं व्याकुलचित्तानां योगस्य मुख्यत्वमभिधाय, तद्रहितानां विचार एव मुख्य इत्याह—

अव्याकुलधियां मोहमात्रेणाच्छादितात्मनाम् ।
सांख्यनामा विचारः स्यान्मुख्यो झटिति सिद्धिदः ॥१३३॥

अन्वय :—मोहमात्रेण आच्छादितात्मनाम् अव्याकुलधियां झटिति सिद्धिदः मुख्यः सांख्यनामा विचारः स्यात् ।

'अव्याकुलेति' । सांख्यनामा विचारः सांख्यशब्दवाच्यस्तत्वविचारो मुख्यः । कुत इत्यतह आह—'झटितीति ॥१३३॥

अब विचार के असंभव में कारण कहते हैं––

बहुत व्याकुल जिनका चित्त है उनको विचार से तत्वज्ञान नहीं होता है । इसलिए उनके लिए योग (निर्गुण) उपासना मुख्य उपाय बताया है । इससे योग (उपासना) ही मुख्य कर्तव्य है क्योंकि योग से निर्गुण उपासना से बुद्धि का दर्प (अभिमान) प्रमाद नष्ट हो जाता है ॥१३२ ।

इस प्रकार व्याकुल चित्त वालों का योग निर्गुण (उपासना) की मुख्यता कहकर समाहित चित्त वाले का विचार की मुख्यता को कहते हैं—

अव्याकुल बुद्धि वाले उन लोगों के लिए जिनका आत्मा केवल मोह के आवरण से छिप रहा है । 'सांख्य निर्विशेषपरं ब्रह्म' नाम तत्व विचार करने योग्य है । क्योंकि वही मुख्य उपाय है उनको वही झट पट ज्ञान रूप सिद्धि देता है ॥१३३॥

योग—सांख्ययोरुभयोरपि तत्वज्ञानद्वारा मुक्तिसाधनत्वे गीतवाक्यं (अ० ५।५) प्रमाणयति—

यत्सांख्यैः[१] प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥१३४॥

अन्वयः यत् स्थानं सांख्यैः प्राप्यते तत् योगैरपि गम्यते सांख्यं च योगं च यः एकं पश्यति स पश्यति ।

'यत्सख्यैरिति । यः सांख्यं च योगं च फलत एकं पश्यति, स शास्त्रार्थं सम्यक् पश्यतीत्यर्थः ॥१३४॥

न केवलं गीतावाक्यं किंतु तन्मूलभूता (श्वे० ६।१३) श्रुतिरप्यस्तीत्याह[१]—

तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यमिति हि श्रुतिः ।

यस्तु श्रुतेर्विरुद्धः स आभासः[२] सांख्ययोगयोः ॥१३५॥

अन्वयः—तत्कारणं, सांख्ययोगाधिगम्यं इति हि श्रुतिः यस्तु श्रुतेर्विरुद्धः स सांख्ययोगयोः आभासः ।

तत्कारणमिति' । ननु सांख्ययोगयोरुभयोरपि तत्वज्ञानद्वारा मुक्तिसाधनत्वेनाङ्गीकारे तच्छास्त्रे प्रतिपादितानां तत्वानामपि स्वीकार्यत्वं स्यादित्याशङ्क्याह-'यस्त्विति'[3] ।आभासो बाध्यत इत्यर्थः ॥१३५॥

अब योग (उपासना) और सांख्य तत्व विचार दोनों ही तत्वज्ञान द्वारा मुक्ति के साधन हैं इसमें गीता वाक्य का प्रमाण देते हैं

जिस स्थान को सांख्य (ब्रह्म निष्ठ) प्राप्त करते हैं उसी स्थान को योगी कर्मनिष्ठ (उपासक) जन भी उसे पा लेते हैं जो मुमुक्षु ज्ञानी सांख्ययोगं कर्मयोगं को फल के द्वारा एक सा देखता है वही शास्त्र के अर्थ को वही ठीक जानता है , एष पन्था एतत् कर्मैतद्ब्रह्म० इति श्रवणात् ॥१३४॥

केवल गीता का वाक्य ही नहीं, किन्तु उस वाक्य की मूल श्रुति को भी दिखाते हैं—

मुक्ति के कारण सांख्य योग है श्रुति में यह लिखा है सांख्य योग से आत्मा प्राप्त होने योग्य है । शंका-सांख्य योग दोनों को तत्वज्ञान के द्वारा मुक्ति का कारण मानोगे तो सांख्य शास्त्र में कहे तत्व भी कारण हो जायँगे यह शंका करके कहते हैं । सांख्य योग में जो श्रुति से विरुद्ध है वह आभास हैं अर्थात् प्रतीति मात्र है और जो आभास होता है उसका बाध हो जाता है ॥१३५॥

विशेष १— यो मुमुक्षुः सांख्यं सांख्यंनामकं कपिलं शास्त्रं, योगं पाञ्जलम् शास्त्रमपि एवं त्वंपदार्थं शोधने तत्रैव चित्तवृत्तिनिरोधात् च 'तत्वमसि' आदि वाक्यप्रतिबन्ध निरासद्वारा ब्रह्मात्मैक्यबोधोदयफलक मित्यर्थः ।

१— तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वादेवं मुच्यते सर्व पाशैः (श्वे० ६।१३) सांख्य योग द्वारा ज्ञातव्य उस सर्वकारणदेव (प्रकाश स्वरूप को) जानकर समस्त अविद्यादि बन्धनों से मुक्त हो जाता है ।

२— केवल प्रकृति ही जगत् का कारण है ईश्वर नहीं, तथा प्रकृति नित्य है आत्मा नाना है, सांख्य का इतना अंश श्रुतिविरुद्ध है अतएव सांख्याभास है । ईश्वर तटस्थ है (जगत् से भिन्न स्थित है) तथा प्रधान नित्य एवं जीव वस्तुतः नाना है इतना अंश योग में श्रुति विरुद्ध है अतएव योगाभास है ।

३— एतेन योगः प्रत्युक्तः (ब्र० सू० २।१।३) स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेत् अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् (ब्र० सू० २।१।१) इति व्यासेन खण्डनस्य विसंवादः परिहृतः ।

ननूपासनं कुर्वाणस्य तत्वज्ञानात्प्राङ्मरणे सति मोक्षो न सिध्येदित्याशङ्क्याह—

उपासनं नापि पक्वमिह यस्य परत्र सः ।
मरणे ब्रह्मलोके वा तत्त्वं विज्ञाय मुच्यते ॥१३६॥

अन्वय :—यस्य उपासनं इह परत्र नापि पक्वं सः मरणे ब्रह्मलोके तत्वं विज्ञाय मुच्यते ।
'उपासनमिति' ॥१३६॥

मरणावसरे ज्ञानान्मुक्तिलाभे प्रमाणमाह—

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति यच्चित्तस्तेन यातीति शास्त्रतः ॥१३७॥

अन्वय :—यं यं वाऽपि भावं स्मरन् अन्ते कलेवरम् त्यजन्ति यच्चित्तः तेन शास्त्रतः यातीति तं तं एवैति ।

'यं यं वाऽपीति' । यच्चित्तस्तेनैव प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति' (प्रश्नोप० ३।१०) इति वाक्याच्चेत्यर्थः ॥१३७॥

यदि उपासक तत्वज्ञान से पहले मर जाय तो उसका मोक्ष न होगा इस शंका पर कहते हैं—

जिसकी उपासना (योग) इस जन्म में परिपक्व नहीं हो जाती वह मरते समय ब्रह्मलोक में तत्व को जानकर मुक्त हो जाता है ॥१३६॥

अब मरण समय में ज्ञान से मुक्ति के लाभ में प्रमाण कहते हैं गीता० ८ ६ —

मरते समय उपासक जिस-जिस भाव को देवता विशेष या अन्य स्मरण करते हुए देह त्याग करता है। उसी पूर्व वासना भाव से भावित होकर वह उसे ही प्राप्त हो जाता है।

जिसका जैसा चित्त पूर्व वासना से संकल्प होता है उसके सहित वह प्राण मुख्य) को प्राप्त होता है। वह प्राण तेज से (उदान वृत्ति से) संयुक्त हो उस भोक्ता जीव को पुण्य आदि कर्मों के अनुसार आत्मा सहित संकल्प किये लोक को ले जाता है ॥१३७॥

ननूदाहृताभ्यां श्रुतिस्मृतिवाक्याभ्यामन्त्यप्रत्ययतो भाविजन्माभिधीयते, न ज्ञानान्मुक्तिरित्याशङ्क्य, मुखतस्तथाभिधानमङ्गीकरोति –

अन्त्यप्रत्ययतो नूनं भावि जन्म तथा सति ।
निर्गुणप्रत्ययोऽपि स्यात्सगुणोपासने यथा ।।१३८।।

अन्वय : अन्त्यप्रत्ययतो नूनं भावि जन्म सति यथा स गुणोपासने स्यात् तथा निर्गुण प्रत्ययोऽपि ।

'अन्त्यप्रत्ययत इति' । कथं तर्हि मरणकाले ज्ञानान्मोक्षो भवतीत्यत्रेदं वाक्यद्वयं प्रमाणत्वेनोपन्यस्तमित्याशङ्क्याह –'तथा सतीति । तथा सति अन्त्यप्रत्ययाद्भाविजन्मविनिश्चये सति सगुणोपासकस्य यथा मरणावसरे ¹अभ्यासवशात्सगुणब्रह्माकारः प्रत्ययो जायते, एवं निर्गुणोपासकस्यापि निर्गुणब्रह्मगोचरः प्रत्ययो जायते, जनिष्यते इत्यर्थः ।।१३८।।

ननु निर्गुण प्रत्ययाभ्यासवशान्निर्गुणब्रह्मप्राप्तिरेव भवेन्न मुक्तिरित्याशङ्क्य, ब्रह्मप्राप्तिमुक्त्योः शब्दमात्रेण भेदो नार्थत इत्याह –

नित्यनिर्गुणरूपं तन्नाममात्रेण गीयताम् ।
अर्थतो मोक्ष एवैष संवादिभ्रमवन्मतः ।।१३९।।

अन्वय :–नित्यनिर्गुणरूपं तत् नाममात्रेण गीयताम् संवादिभ्रमवत् एष एव अर्थतः मोक्षः यतः ।

'नित्यनिर्गुणेति ।' तद्ब्रह्म नित्यमिति नाममात्रेणोच्यतामर्थतस्त्वेष मोक्ष एव स्वरूपावस्थितिर्मुक्तिरित्यभिधानादिति भावः । तत्र दृष्टान्तमाह'–संवादीति' यथा संवादिभ्रमोनाममात्रेण भ्रम इत्युच्यते, वस्तुतस्तत्त्वज्ञानमेव तद्वदित्यर्थः ।।१३९।।

शंका—पूर्वोक्त श्रुति और स्मृति के वाक्यों से अन्तकाल की वृत्ति के अनुसार भावी जन्म होता है ज्ञान से मुक्ति नहीं कही । उत्तर ग्रन्थ से मुक्ति को कहते हैं –

उत्तर –अन्त समय के ज्ञान के अनुसार निश्चय ही भावी जन्म होता है ।

प्रश्न मरणकाल में ज्ञान से मोक्ष होता है इसमें ये दोनों वाक्य प्रमाण क्यों दिये यह ठीक नहीं । समाधान जीवन के सबसे पिछले जन्म से भावी जन्म के निश्चय होने का सिद्धान्त मान लेने पर जैसे सगुणोपासना में होता है अर्थात् जैसे सगुणोपासक को मरण समय पूर्वाभ्यासवश सगुणब्रह्माकार ज्ञानहो जाता है । वैसे ही निर्गुणोपासक को भी निर्गुण ब्रह्माकार ज्ञान हो जायगा ।।१३८।।

विशेष —१ आ प्रायणात् तत्रापि हि दृष्टव्यम् (ब्र० सू० ४।१।१२।) मरणपर्यन्तं उपासीत हि यत तत्राऽपि मरणकालेऽपि दृष्टं =प्रतीतम् अतः अहंब्रह्मोपासनं मरणपर्यन्तं कार्यम् ।

ननु निर्गुणोपासनस्य मानसक्रियारूपस्य मुक्तिसाधनत्वाभिधानं विरुद्धमित्याशङ्क्य, तज्जन्य-ज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वाभिधानान्न विरोध इत्याह—

तत्सामर्थ्याज्जायते धीर्मूलाविद्यानिवर्तिका ।
अविमुक्तोपासनेन तारकब्रह्मबुद्धिवत् ॥१४०॥

अन्वय :—तत्सामर्थ्यात् मूलाविद्यानिवर्तिका अविमुक्तोपासनेन तारकब्रह्मबुद्धिवत् धीः जायते ।

तदिति' । तत्र दृष्टान्तमाह —'अविमुक्तेति' यथा अविमुक्तसगुणब्रह्मोपासनसामर्थ्यात्तारकब्रह्म-विद्या जायते एवं निर्गुणोपासनान्निर्गुणब्रह्मज्ञानं जायत इत्यर्थः ॥१४०॥

प्रश्न—निर्गुण प्रतीति के अभ्यास से निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति ही होगी मुक्ति न होगी यह ठीक नहीं । ब्रह्म प्राप्ति मुक्ति शब्द मात्र से भेद है अर्थ से नहीं—

उस ब्रह्म को नित्य निर्गुण रूप है ऐसे नाम मात्र से भले कह लो शब्द का ही भेद है अर्थ से तो वह मोक्ष ही है (निर्गुण की प्राप्ति और मोक्ष एक ही के दो नाम हैं) स्वरूप से अवस्थिति को मोक्ष कहते हैं । इसमें दृष्टान्त कहते हैं जैसे संवादि भ्रम को नाम मात्र से भ्रम है वस्तुतः तत्त्व ज्ञान रूप है ऐसे ही यह मोक्ष है ॥१३६॥

शंका— निर्गुण उपासना भी मन की क्रिया रूप मुक्ति का साधन नहीं हो सकती ।

समाधान निर्गुण उपासना जन्यज्ञान को ही मोक्ष का साधन कहा गया है इसलिए कोई विरोध नहीं है ।

क्योंकि निर्गुण उपासना के सामर्थ्य (बल) से मूल अविद्या को निवृत्ति कर देने वाली बुद्धि उत्पन्न हो जाती है ब्रह्म ज्ञान होता है । जैसे अविमु[1]क्त सगुणो पासना से तारक[2] ब्रह्म (सगुण ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है इसी प्रकार निर्गुण उपासना से निर्गुण ब्रह्मज्ञान होता है ॥१४०॥

विशेष —१ जाबाल उपनि॰ आमनन्ति चैनमस्मिन् (ब्र॰ सू॰ १।२।३२।) जाबाल कहते हैं कि मस्तक और ठोडी के बीच में परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए (अथ हैनं अत्रिः प्रपच्छ याज्ञवल्क्यं एषोऽनन्तोऽव्यक्तपरिपूर्णानन्दैकचिदात्मा तं कथं अहं विजानीयामिति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । सऽविमुक्तः उपास्यो य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति । सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति । वरणायां नाश्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति का वै वरणा का च नाशीति । जन्मान्तर कृतान् सर्वान् दोषान् वारयतीति तेन वरणा भवति इति सर्वान् इन्द्रिय कृतान् पापान्नाशयतीति तेन नाशी भवति इति—कतमच्चास्य स्थानं भवतीति । भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः सन्धिः स एष द्यौलोकस्य परस्य च सन्धिर्भवतीति । एतद्वै सन्धि सन्ध्यां ब्रह्मवित् उपासते इति । राम उत्तर ताप॰ १।

२— तारकत्वात् तारको भवति । तदेव तारकं ब्रह्मत्वं विद्धि तदेवोपास्यमिति ज्ञेयम् गर्भजन्म जरामरण संसार महत् भयात् तारयति इति तस्मात् उच्यते तारकम् ।

ननु निर्गुणोपासनस्य मोक्षः फलमित्यत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह—

सोऽकामो निष्काम इति ह्यशरीरो निरिन्द्रयः ।
अभयं हीति मुक्तत्वं तापनीये फलं श्रुतम् ।।१४१।।

अन्वयः—सोऽकामः निष्कामः इति हि अशरीरः निरिन्द्रियः अभयं हीति तापनीये मुक्तत्वं फलं श्रुतम् ।

'सोऽकाम इति' । सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति अशरीरो निरिन्द्रियोऽप्राणो ह्यमनाः सच्चिदानन्दमात्रः स स्वराट् भवति य एवं वेद चिन्मयो ह्ययमोंकारश्चिन्मयमिदं सर्वं तस्मात्परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्येतदमृतमभयमेतद्ब्रह्माभयं वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यं' (नृ० उ० ५।२) इत्यादिवाक्यैस्तापनीयोपनिषदि निर्गुणोपासनस्य मोक्षः फलत्वेन श्रूयत इत्यर्थः ।। ४१ ।

ननुपासनया मुक्तिः स्याच्चेत् 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३।८६) इति श्रुतिविरोध इत्याशङ्क्य, विद्याव्यवधानेन मोक्षप्रदत्वाभिधानान्न विरोध इत्याह—

उपासनस्य सामर्थ्याद्विद्योत्पत्तिर्भवेत्ततः ।
नान्यः पन्था इति ह्येतच्छास्त्रं नैव विरुध्यते ।।१४२।।

अन्वय : ततः उपासनस्य सामर्थ्यात् विद्योत्पत्तिः भवेत् नान्यः पन्था इति हि एतत् शास्त्रं नैव विरुध्यते ।

'उपासनस्येति' ।।१४२।।

प्रश्न – निर्गुण उपासना का फल मोक्ष है इसमें क्या प्रमाण है इसका उत्तर देते हैं—

श्रुति का अर्थ आत्मकामो=पूर्णानन्दात्मवित्वाद् । पूर्णानन्द स्वरूप आत्मा को जानने वाला होने से आप्तकाम=प्राप्तपरमानन्दः, प्राप्त है परमानन्द जिसको अतो निष्काम=अनभिव्यक्तान्तर-वासनात्मककामशून्यः=अनभिव्यक्त है भीतरी वासनात्मक काम शून्य । तस्मादकामः=व्यक्तबहिष्काम रहितः=इसी से अकाम व्यक्त बहिष्काम से रहित, उस ज्ञानी के प्राण लिङ्ग शरीर उत्क्रमण (गमन नहीं करते) वह ब्रह्म होकर वह ब्रह्म को प्राप्त होता है । वह आत्मा शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन इनसे रहित है । सच्चिदानन्दरूप स्वराट् (स्वयं प्रकाश) होता है जो इस प्रकार जानता है । वह चिन्मय (अलुप्तचिद्रूप ज्योति स्वरूप ओंकार रूप है । यह सब जगत् चिन्मय है । इससे वह परमेश्वर एक ही होता है यही अमृत अभय है, यह ब्रह्म अभय है यह ब्रह्म अभय है इससे जो ऐसा जानता है वह ब्रह्म रूप हो जाता है यही रहस्य (गुप्त) है । इत्यादि वाक्यों से तापनीय उपनिषद् में निर्गुण उपासना का मोक्ष फल सुना है ।।१४१।।

प्रश्न –उपासना से मुक्ति मानो तो "ज्ञान से अन्य मार्ग मोक्ष का नहीं है' । इस श्रुति से विरोध होगा । उत्तर उपासना के बल से ज्ञान होता है विरोध नहीं —

उपासना के सामर्थ्य (बल) से विद्या (ज्ञान) की उत्पत्ति होती है । ज्ञान से मोक्ष होता है । अर्थात् उपासना ज्ञान के द्वारा मोक्ष का कारण है साक्षात् नहीं, इससे ज्ञान से अन्य कोई भी मोक्ष का पंथ (मार्ग) नहीं है । इस श्रुति वाक्य का भी विरोध नहीं है ।।१४२।।

'मरणे ब्रह्मलोके वा तत्त्वं विज्ञाय मुच्यते' (प्र० ६।१३६) इत्युक्तार्थे श्रुतिं प्रमाणयति—

निष्कामोपासनान्मुक्तिस्तापनीये समीरिता ।
ब्रह्मलोकः सकामस्य शैब्यप्रश्ने समीरितः ॥१४३॥

अन्वय :—निष्कामोपासनात् मुक्तिः तापनीये समीरिता सकामस्य ब्रह्मलोकः शैब्यप्रश्ने समीरितः ।

'निष्काम इति' । तत्र 'सोऽकाम' (न० ५।८) इत्यादि तापनीयवाक्यं पूर्वमेवोदाहृतम् ॥१४३॥

इदानीं शैब्य प्रश्नोपनिषद्वाक्यमर्थतः पठति —

य उपास्ते त्रिमात्रेण ब्रह्मलोके स नीयते ।
स एतस्माज्जीवघनात्परं पुरुषमीक्षते ॥१४४॥

अन्वय :—य उपास्ते त्रिमात्रेण ब्रह्मलोके स नीयते स एतस्मात् जीवघनात् परं पुरुषं ईक्षते ।

'य उपास्त इति' । यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्ये संपन्नो यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह्वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' (प्रश्न० ५।५) इति सकामस्य ब्रह्मलोकप्राप्तिः श्रूयत इत्यर्थः । ननु शैब्यप्रश्ने सकामस्य ब्रह्मलोकगतिरेव प्रतीयेत इत्याशङ्क्य, तत्र तत्त्वसाक्षात्कारश्च श्रूयत इत्याह— 'स एतस्मादिति' । ब्रह्मलोकं गतः स उपासकः एतस्माज्जीवघनाज्जीवसमष्टिरूपात् हिरण्यगर्भात्परमुत्कृष्टं पुरुषं निरुपाधिकचैतन्यरूपं परमात्मानमीक्षते साक्षात्करोति ॥१४४॥

इसी ध्यान दीप के १३६वें श्लोक में मरण के समय या ब्रह्म लोक में तत्त्व को जानकर मुक्त होता है । इस पूर्वोक्त अर्थ में श्रुति का प्रमाण देते हैं तापनीय उपनिषद् में निष्काम उपासना से मुक्ति कही है और सकाम मनुष्य को ब्रह्मलोक की प्राप्ति शैब्य प्रश्न में अच्छे प्रकार से कही है ॥१४३॥

अब शैब्य प्रश्नोपनिषद् के वाक्य के अर्थ को पढ़ते हैं—

जो ओंकार से उपासना करता है । वह ब्रह्मलोक में जाता है और वह हिरण्यगर्भ से परम (श्रेष्ठ) परमात्मा को प्राप्त करता है ।

जो उपासक त्रिमात्रा विशिष्ट ॐ इस अक्षर द्वारा परपुरुष का ध्यान करता है वह तेजोमय सूर्य लोक को प्राप्त होता है । इस प्रकार पाप से रहित होता है । जैसे त्वचा से सर्प । फिर वह सामवेद की महिमा से ब्रह्म लोक में जाता है और इस जीव घन से भी उत्कृष्ट हृदय स्थित परम पुरुष का साक्षात्कार करता है । इन मन्त्रों से सकाम को ब्रह्मलोक की प्राप्ति नहीं है ।

प्रश्नशैब्य के प्रश्न में सकाम पुरुष को ब्रह्मलोक में गमन ही कहा है ।

उत्तर—ब्रह्मलोक में तत्त्वसाक्षात्कार भी सुना है । ब्रह्मलोक में गया वह उपासक यह जो जीव घन है । अर्थात् जीव समष्टि रूप हिरण्यगर्भ है । उससे श्रेष्ठ जो पुरुष है निरुपधिक चैतन्य रूप परमात्मा है उसको साक्षात् देखता है ॥१४४॥

किंच 'अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायणः' (ब्र० सू० ४।३।१५) ,उभयथा च दोषात्तत्क्रतुश्च' (ब्र० सू० ३।२।१६) इत्यत्र कामानुसारेण फलप्राप्तिर्भवतीति प्रतिपादितं तस्मादपि सकामस्य ब्रह्मलोक-गतिरित्युक्तेत्याह—

अप्रतीकाधिकरणे तत्क्रतुन्याय ईरितः ।
ब्रह्मलोकफलं तस्मात्सकामस्येति वर्णितम् ॥१४५॥

अन्वय :—अप्रतीकाधिकरणे तत् क्रतुन्यायः ईरितः तस्मात् सकामस्य ब्रह्मलोकफलं इति वर्णितम् ।

'अप्रीतीकेति' ॥१४५॥

तर्हि सकामस्य तत्त्वज्ञानं कुतो जायत इत्याशङ्क्याह—

निर्गुणोपास्तिसामर्थ्यात्तत्र तत्त्वमवेक्षते ।
पुनरावर्तते नायं कल्पान्ते च विमुच्यते ॥१४६॥

अन्वय :—निर्गुणोपास्तिसामर्थ्यात् तत्र तत्त्वमवेक्षते अयं न पुनरावर्तते कल्पान्ते च विमुच्यते ।

'निर्गुणेति' । 'इमं मानवमावर्तनावर्तते न स पुनरावर्तते' न स पुनरावर्तते (छा० ४।१५।६) इति 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे' इत्यादिश्रुतिस्मृतिसद्भावान्न तस्य पुनः संसारप्राप्तिः, किंतु मुक्तिरेवेत्याह 'पुनरावर्तते नायमिति' ॥१४६॥

और बादरायण (व्यास) ने कहा है कि अप्रतीकालम्बनात् = जो प्रतीकोपासक नहीं है नयति = अमानवपुरुष, ब्रह्मलोक में उन पुरुषों को ले जाता है। सबको नहीं, कुछ उपासकों को ले जाता है और कुछ को नहीं ले जाता है ऐसा मानने पर कोई दोष नहीं है। 'तत्क्रतुश्च' जो कार्य ब्रह्म का उपासक है। वह उसको प्राप्त करेगा। प्रतीक उपासना में प्रती ही प्रधान है। प्रतीकोपासक ब्रह्मलोक में नहीं जा सकता है—

अप्रतीकाधिकरण में जिस कामना से क्रतु (यज्ञ) करोगे उसी फल की प्राप्ति होती है। इससे सकामपुरुष को भी ब्रह्मलोक रूपफल होता है। यह वर्णन किया है ॥१४५॥

अब सकाम को तत्त्वज्ञान में कारण को कहते हैं -

निर्गुण उपासना के सामर्थ्य (बल) से उस ब्रह्म लोक में ही तत्त्व का साक्षात्कार करता है। इस जगत् रूप आवृत्त (भँवर) में यह फिर नहीं आता है। किन्तु कल्प के अन्त में ब्रह्मा के संग मुक्त हो जाता है इत्यादि श्रुति स्मृतियों से उसका फिर जन्म नहीं होता किन्तु मुक्ति ही होती है ॥१४६॥

इदानीं प्रणवोपासनप्रसङ्गाद्बुद्धिस्थं तद्द्वैविध्यं दर्शयति —

प्रणवोपास्तयः प्रायो निर्गुणा एव वेदगाः ।
क्वचित्सगुणताऽप्युक्ता प्रणवोपासनस्य हि ॥१४७॥

अन्वय :– प्रायः प्रणवोपास्तयः वेदगाः निर्गुणा एव क्वचित् प्रणवोपासनस्य हि सगुणतापि उक्ता ।

'प्रणवेति' ॥१४७॥

द्वैविध्ये प्रमाणमाह—

परापरब्रह्मरूप ओंकार उपवर्णितः ।
पिप्पलादेन मुनिना सत्यकामाय पृच्छते ॥१४८॥

अन्वय :—परापरब्रह्मरूपं ओंकारः पृच्छते सत्यकामाय पिप्पलादेन मुनिना उपवर्णितः ।

'परापरेति' । 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवाऽऽयतनेनैकतरमन्वेति' (मैत्रा ६।५) इति उभयरूपत्वं प्रतिपादितमित्यर्थः ॥१४८॥

अब प्रणव (ॐ) की उपासना के प्रसङ्ग से ओंकार की उपासना में जो दो भेद बुद्धि में स्थिर है उनको कहते हैं —

प्रायः वेद में प्रणव की उपासना निर्गुण ही है और कहीं-कहीं प्रणव की उपासना सगुण भी कही है १४७॥

अब दोनों भेदों में प्रमाण कहते हैं —

पिप्पलाद मुनि ने प्रश्नकर्ता सत्यकाम के प्रति हे सत्यकाम यह जो ओंकार है वही निश्चय पर और अपर ब्रह्म है अतः विद्वान् उसी के आश्रय से किसी एकतर से (पर, अपर) ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ।१४८॥

'कठवल्लयां' यमेनापि 'एतदालम्बनं ज्ञात्वा' (कठ० २।१७) इत्यादिना द्वैविध्यमुक्तमित्याह—

एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।

इति प्रोक्तं यमेनापि पृच्छते नचिकेतसे ।।१४९।।

अन्वयः—एतदालंबनं ज्ञात्वा यो यत् इच्छति तस्य तत् इति यमेनापि पृच्छते नचिकेतसे प्रोक्तम् ।

'एतदालम्बनमिति' ।।१४९।।

उक्तमर्थमुपसंहरति—

इह वा मरणे वाऽस्य ब्रह्मलोकेऽथ वा भवेत् ।

ब्रह्मसाक्षात्कृतिः सम्यगुपासीनस्य निर्गुणम् ।।१५०।।

अन्वय :—इह वा मरणे वा अथवा ब्रह्मलोके अस्य ब्रह्मसाक्षात्कृतिः निर्गुणम् सम्यगुपासीनस्य भवेत् ।

'इह वेति' ।।१५०।।

विचारात्तत्त्वज्ञानसंपादनसमर्थस्य निर्गुणब्रह्मध्यानेऽधिकार इत्ययमर्थं 'आत्मगीतायां' सम्यगभिहित इत्याह—

अर्थोऽयमात्मगीतायामपि स्पष्टमुदीरितः ।

विचाराक्षम आत्मानमुपासीतेति संततम् ।।१५१।।

अन्वय :—अयमर्थः आत्मगीतायामपि स्पष्टं उदीरितः विचाराक्षमः आत्मानं उपासीत इति संततम् ।

'अर्थोऽयमिति' ।।१५१।।

कठोपनिषद् में यम ने भी एतदालम्बनं ज्ञात्वा' इस प्रकार नचिकेता के प्रति उभय प्रकार की प्रणव उपासना का उपदेश किया है -

कठवल्ली में यम ने भी नचिकेता से कहा इस ओंकार रूप आलम्बन (आश्रय) को जानकर इत्यादि मन्त्रों से जो जिसकी इच्छा करता है उसको वही होता है । इत्यादि से दो प्रकार की प्रणव उपासना कही है । १४९।।

अब पूर्वोक्त १३६ से १४९ तक के श्लोकों के अर्थ का उपसंहार करते हैं -

निर्गुण की जो उपासना को जो अच्छी प्रकार कर लेता है उसको इस लोक में या मरण के समय, अथवा ब्रह्मलोक में जाकर ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता है ।।१५०।।

और जो विचार से तत्त्वज्ञान सम्पादन करने में असमर्थ है उसका निर्गुण ब्रह्म के ध्यान में अधिकार है । यह कथन आत्मगीता में किया गया है, इस प्रकार कहते हैं -

यह अर्थ आत्मगीता में भी स्पष्ट कहा है, अर्थात् विचार न हो सके तो निरन्तर आत्मा (निर्गुण) ब्रह्म की उपासना करे ।।१५१।।

आत्मगीतावाक्यान्येवोदाहरति —

साक्षात्कर्तुमशक्तोऽपि चिन्तयेन्मामशङ्कितः ।
कालेनानुभवारूढो भवेयं फलितो ध्रुवम् ॥१५२॥

अन्वय :—साक्षात्कर्तुं अशक्तोऽपि अशङ्कितः माम् चिन्तयेत् कालेन अनुभवारूढः ध्रुवम् फलितः भवेयम् ।

'साक्षादिति' ॥१५२॥

ध्यानस्य सम्यग्ज्ञानोपायत्वे दृष्टान्तमाह—

यथाऽगाधनिधेर्लब्धौ नोपायः खननं बिना ।
मल्लाभेऽपि तथा स्वात्मचिन्तां मुक्त्वा न चापरः ॥१५३॥

अन्वय :—यथाऽगाधनिधेः लब्धौ खननं बिना उपायः न तथा मल्लाभेऽपि स्वात्मचिन्तां मुक्त्वा अपरः च न ।

'यथेति' । दार्ष्टान्तिके योजयति—'मल्लाभ इति' ॥१५३॥

व्यतिरेकेणोक्तमर्थमन्वयमुखेनाह—

देहोपलमपाकृत्य बुद्धिकुद्दालकात्पुनः ।
खात्वा मनोभुवं भूयो गृह्णीयान्मां निधिं पुमान् ॥१५४॥

अन्वय:—देहोपलमपाकृत्य बुद्धिकुद्दालकात् पुनः खात्वा मनोभुवं पुमान् मां निधिं भूयः गृह्णीयात् ।

'देहोपलमिति' ॥१५४॥

अब आत्मगीता के वाक्यों को ही कहते हैं—

जो मुमुक्षु आदि साक्षात्कार करने में असमर्थ भी हो तो शंका रहित होकर मुझ प्रत्यक् अभिन्न परमात्मा का चिन्तन करें समय आने पर अनुभव (अपरोक्ष ज्ञान) में आरूढ़ हुआ निश्चय ही पूर्ण फल को प्राप्त करेगा। (कालान्तर में मेरा ज्ञान हो जाता है) ॥१५२॥

ध्यान तत्त्व ज्ञान का उपाय है दृष्टान्त देते हैं—

जैसे भूमि में गड़े अगाध खजाने को प्राप्त करने के लिए खोदे बिना काम नहीं चलता, वैसे ही मुझे प्राप्त करने के लिए अपने आत्मा के ध्यान के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है ॥१५३॥

व्यतिरेक से कहे हुए अर्थ को अब अन्वय मुख से कहते हैं —

बुद्धि रूपी कुदाली से देह रूपी पत्थर को दूर करके मन रूपी भूमि को खोदकर मनुष्य मुझ प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्मरूप निधि को प्राप्त करे अर्थात् जाने ॥१५४॥

ज्ञानेऽसमर्थस्य ध्यानेऽधिकार इत्यत्र वाक्यान्तरं पठति—

अनुभूतेरभावेऽपि ब्रह्मास्मीत्येव चिन्त्यताम् ।
अप्यसत् प्राप्यते ध्यानान्नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः ॥१५५॥

अन्वय : अनुभूतेरभावेऽपि ब्रह्मास्मीत्येव चिन्त्यताम् ध्यानात् असत् अपि प्राप्यते नित्याप्तं ब्रह्म पुनः किं ।

'अनुभूतेरिति' । ध्यानाद्धि ब्रह्मप्राप्तौ कैमुतिकन्यायमाह 'अपीति' । उपासकस्य पूर्वमविद्यमानमपि देवत्वादिकं ध्यानात्प्राप्यते किल स्वरूपत्वेन नित्यप्राप्तं सर्वात्मकं ब्रह्म ध्यानात्प्राप्यत इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ॥१५५॥

ब्रह्मध्यानफलस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादपि ध्यानं कर्तव्यमित्याह—

अनात्मबुद्धिशैथिल्यं फलं ध्यानाद्दिने दिने ।
पश्यन्नपि न चेद्ध्यायेत् कोऽपरोऽस्मात्पशुर्वद ॥१५६॥

अन्वय : -अनात्मबुद्धिशैथिल्यं फलं दिने दिने ध्यानात् पश्यन्नपि न चेत् ध्यायेत् अस्मात् अपरः कः पशुः वद ।

'अनात्मेति' ॥१५६॥

ज्ञान में असमर्थ को ज्ञान का अधिकार है इसमें अन्य शास्त्रों का प्रमाण देते हैं—

अनुभूति (अनुभव ज्ञान) न होती है तो भी "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसे ही विचार करे क्योंकि उपासक को पहले अविद्यमान वस्तु (देवोभूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते (४।१।२) वह देव होकर देवों को प्राप्त होता है, जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है। फिर स्वरूप से नित्य प्राप्त सर्वरूप ब्रह्म भी ध्यान से प्राप्त हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ॥१५५॥

अब ब्रह्म ध्यान का फल तो प्रत्यक्ष सिद्ध है इसलिए ध्यान कर्तव्य है इस प्रकार कहते हैं—

ध्यान करने से दिन प्रति दिन, आत्म बुद्धि की शिथिलता होती है और इस शिथिलता रूप फल को देखता हुआ जो ध्यान (उपासना) न करे तो उससे बढ़कर (मूर्ख) कौन होगा यह तुम कहो ॥१५६॥

इदानीमुपपादितमर्थं संक्षिप्य दर्शयति —

देहाभिमानं विध्वस्य ध्यानादात्मानमद्वयम् ।
पश्यन्मर्त्योऽमृतो भूत्वा ह्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१५७॥

अन्वय : देहाभिमानं विध्वस्य ध्यानात् अद्वयम् आत्मानं पश्यन् मर्त्यः अमृतो भूत्वा हि अत्र ब्रह्म समश्नुते ।

'देहाभिमानमिति' । मरणशीले देहेऽहमित्यभिमानपरित्यागात्स्वयममृतो भूत्वा अत्रास्मिन्नेव शरीरे स्वस्य निजं रूपं सच्चिदानन्दरूपं ब्रह्म प्राप्नोति ॥१५७॥

ध्यानदीपानुसंधानफलमाह—

ध्यानदीपमिमं सम्यक्परामृशति यो नरः ।
मुक्तसंशय एवायं ध्यायति ब्रह्म संततम् ॥१५८॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यारण्यमुनिवर्यकृतपञ्चदश्यां ध्यानदीपः समाप्तः ॥९॥

अन्वय : यः नरः इमं ध्यानदीपं सम्यक् परामृशति अयं मुक्तसंशय एव संततम् ब्रह्म ध्यायति ।
'ध्यानदीपमिति ॥१५८॥

अब पूर्वोक्त अर्थ को संक्षेप में दिखाते हैं —

ध्यान से देहाभिमान नष्ट करके अर्थात् मरणशील देह को "अहं" (मैं हूँ) समझना छोड़कर फिर ध्यान से अपने आपको अद्वितीय आत्मा रूप जानकर मरणधर्मा मनुष्य अमृत होकर इसी शरीर में अपने निज रूप जो सच्चिदानन्द ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥१५७॥

अब ध्यानदीप अनुसंधान का फल कहते हैं —

जो मनुष्य इस ध्यानदीपप्रकरण का अच्छी प्रकार से परामर्श (स्मरण) करता है । वह सभी संशयों से मुक्त होकर निरन्तर ब्रह्म का ध्यान करता है ॥१५८॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्भारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकिंकरेण रामकृष्णाख्य-विदुषा विरचिता ध्यानदीपव्याख्या समाप्ता ॥९॥

विशेष १— ज्ञानयोगौ मुक्तिसाधकाविति योगवासिष्ठे प्रतिपादितम् । द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव । योगस्तद्वृत्तिरोधः स्याज्ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥ असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचित् तत्त्वनिश्चयः । प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमः शिवः इति ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यस्वामिश्रीकरपात्रशिष्य
श्री डॉ० लक्ष्मणचैतन्यब्रह्मचारिविरचितलक्ष्मणचन्द्रिकाख्ये पञ्चदशीहिन्दीव्याख्याने
ध्यानदीपप्रकरणविवेकाख्यं नवम प्रकरणं समाप्तम् ।

नाटकदीपप्रकरणम्

नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।

अर्थो नाटकदीपस्य मया संक्षिप्य वक्ष्यते ॥१॥

चिकीर्षितस्य ग्रन्थस्य निष्प्रत्यूहपरिपूरणायाभिमतदेवतातत्त्वानुस्मरणलक्षणं मङ्गलमाचरन् मन्दाधिकारिणामनायासेन निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्वप्रतिपत्तिसिद्ध्ये 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते शिष्याणां बोधसिद्ध्यर्थं तत्त्वज्ञैः कल्पितः क्रमः ।' इति न्यायमनसृत्य आत्मन्यध्यारोपं तावदाह—

परमात्माऽद्वयानन्दपूर्णः पूर्वं स्वमायया ।

स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः ॥१॥

अन्वय :—पूर्वं अद्वयानन्दपूर्णः परमानन्दः स्वमायया स्वयं एव जगद्भूत्वा जीवरूपतः प्राविशत् ।

'परमात्मेति' । पूर्वं सृष्टेः प्रागद्वयानन्दपूर्णः 'सदेवसोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं' (छा० ६।२।१) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।९।१४) 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धः स्वगतादिभेदशून्यः परमानन्दरूपः परिपूर्णः परमात्मा स्वमायया 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे० ४।१०) इति श्रुत्युक्त्या स्वनिष्ठया मायाशक्त्या स्वयमेव जगद् भूत्वा 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' 'सच्च त्यच्चाभवत्' (तै० २।६, ७) इति श्रुतेः स्वयमेव जगदाकारतां प्राप्य जीवस्वरूपतः प्राविशत् 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, (तै० २।६) 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य' (तै० ६।३।' इत्यादिश्रुतेर्जीवरूपेण प्रविष्टवानित्यर्थः ॥१॥

श्रीभारतीतीर्थ और विद्यारण्यमुनि को नमस्कार करके, मैं नाटक-दीपप्रकरण की संक्षिप्त व्याख्या करता हूँ ॥१॥

करने को इष्ट ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए अपने को अभिमत जो देवता उसके तत्त्व का स्मरण रूप मंगलाचरण करते हुए ग्रन्थकार जो मन्द बुद्धि वाले अधिकारी हैं उनको भी अनायास से प्रपञ्च रहित ब्रह्मात्मतत्त्व की प्रतिपत्ति (ज्ञान) की सिद्धि के लिए अध्यारोप और अपवाद से निष्प्रपञ्च का विस्तार करते हैं । क्योंकि शिष्यों के ज्ञान के लिए तत्त्व के ज्ञाताओं ने यही क्रम कल्पित किया है । इस न्याय के अनुसार आत्मा में अध्यारोप का वर्णन प्रथम करते हैं—

अद्वय आनन्दपूर्ण रूप परमात्मा अपनी माया से जगत् रूप होकर जीव रूप से प्रविष्ट हुए हैं ।

सृष्टि से पूर्व अद्वितीय आनन्द पूर्ण जो इस श्रुति में प्रसिद्ध है—हे सोम्य ! आरम्भ में यह जगत् एक मात्र अद्वितीय सत् ही था । विज्ञान आनन्द ब्रह्म है । यह निरुपाधिक परब्रह्म पूर्ण है और यह

विशेष —१ चेतन में अध्यस्त अहंकारादि और उसके प्रकाशक साक्षी का नाटक रूप से प्रकाशित करने वाला प्रकरण 'नाटक दीप' प्रकरण है ।

ननु परमात्मन एवैकस्य सर्वशरीरेषु प्रविष्टत्वे पूज्यपूजकादिभावेन प्रतीयमान उत्तमाधमभावो विरुध्येतेत्याशङ्क्याह—

विष्ण्वाद्युत्तमदेहेषु प्रविष्टो देवता भवेत् ।
मर्त्याद्यधमदेहेषु स्थितो भजति मर्त्यताम् ॥२॥

अन्वय :—विष्ण्वाद्युत्तमदेहेषु प्रविष्टः देवता भवेत् मर्त्याद्यधमदेहेषु स्थितः मर्त्यताम् भजति ।

'विष्ण्विति' । नायं स्वाभाविक उत्तमाधमभावः, किन्तु शरीरोपाधिनिबन्धनः, अतो न विरोध इति भावः ॥२॥

(सोपाधिक) ब्रह्म भी पूर्ण ही है । इत्यादि श्रुति प्रसिद्ध स्वगत, स्वजातीय, विजातीय भेदसे रहित परमानन्द परिपूर्ण परमात्मा है । अपनी माया से प्रकृति को तो माया जानना चाहिए और महेश्वर को मायावी माया को सत्ता स्फूर्ति देने वाला आधार इस श्रुति से अपने में वर्तमान अपनी मायारूप शक्ति से स्वयं जगत् रूप होकर उस अव्याकृत ब्रह्म रूप से स्वयं अपने को ही नाम रूपात्मक जगत् रूप से रचा । सत् मूर्त त्यच्चामूर्त सत् स्वरूप परमात्मा मूर्त अमूर्त । इस श्रुति से स्वयं ही जगताकार होकर जीवरूप से प्रवेश किया । इस जगत् को रचकर उसमें प्रविष्ट हो गया । मैं इस जीवात्म रूप से इन तीनों देवताओं में अनुप्रवेशकर नाम और रूप को अभिव्यक्त करूँ । इत्यादि श्रुति में जीव रूप को प्राप्त हुआ ॥१॥

शंका – परमात्मा ही एक सब शरीरों में प्रविष्ट है तो पूज्य, पूजक आदि भेद से उत्तम, अधम-भाव विरुद्ध है समाधान –

वह परमात्मा जब विष्णु आदि उत्तम देहों में प्रविष्ट हुआ तब परमात्मा देवता हो गया और जब वही मनुष्य आदि के अधम देहों में स्थित हुआ तो मर्त्यभाव को प्राप्त होता है । यह उत्तम अधमभाव स्वाभाविक नहीं है । किन्तु शरीर रूप उपाधि के भेद से है इससे कुछ विरोध नहीं है ॥२॥

इत्थमात्मन्यध्यारोपं संक्षेपेण प्रदर्श्य, ससाधनं तदपवादं संक्षिप्य दर्शयति—

अनेकजन्मभजनात् स्वविचारं चिकीर्षति ।
विचारेण विनष्टायां मायायां शिष्यते स्वयम् ॥३॥

अन्वय :—अनेकजन्मभजनात् स्वविचारं चिकीर्षति विचारेण मायायां स्वयम् शिष्यते ।

'अनेकेति'। अनेकजन्मभजनादनेकेषु जन्मस्वनुष्ठितानां कर्मणां ब्रह्मणि समर्पणरूपाद्भजनात् स्वविचारं स्वस्यात्मनो ब्रह्मरूपस्य ज्ञानसाधनं श्रवणादिकं चिकीर्षति कर्तुमिच्छति, ततः स्वविचारेण विचारजनितज्ञानेन मायायां स्वस्याद्वयानन्दत्वादिरूपाच्छादिकायामज्ञानविद्यादिशब्दवाच्यायां विनष्टायां निवृत्तायां स्वयमद्वयानन्दपूर्णः परमात्मैवावशिष्यते ॥३॥

ननु 'तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते' (कैवल्य० १७) इत्यादिश्रुतिभिर्बन्धनिवृत्त-लक्षणस्य मोक्षस्य ज्ञानफलत्वाभिधानात्परमात्मविशेषणस्य तत्फलताभिधानमनुपपन्नमित्याशङ्क्याह—

अद्वयानन्दरूपस्य सद्वयत्वं च दुःखिता ।
बन्धः प्रोक्तःस्वरूपेण स्थितिर्मुक्तिरितीर्यते ॥४॥

अन्वय :—अद्वयानन्दरूपस्य सद्वयत्वं च दुःखिता बन्धः प्रोक्तः स्वरूपेण स्थितिः मुक्ति इति ईर्यते ।

'अद्वयानन्देति'। अद्वितीये ब्रह्मणि वास्तवस्य बन्धस्य मोक्षस्य वा दुर्निरूपत्वाद्दुःखित्वादिभ्रम एव बन्धः, स्वरूपावस्थितिलक्षणा तन्निवृत्तिरेव मोक्षः, अतो न श्रुतिविरोध इति भावः ॥४॥

इस प्रकार आत्मा में संक्षेप से अध्यारोप को दिखाकर अब कारणों से सहित उसके अपवाद (निषेध) को संक्षेप में दिखाते हैं —

अनेक जन्मों के भजन से अपने विचार से जब चाहता है तो विचार से माया के नष्ट होने पर स्वयं आत्मा ही शेष रह जाता है ॥३॥

अनेक जन्मों में किये कर्मों को ब्रह्म में समर्पण कर भजन करने से जब यह प्राणी स्व विचार अर्थात् अपने आत्मा रूप ब्रह्म के ज्ञान का साधन जो श्रवणमनन आदि विचार है उसको करना चाहता है। तब अपने विचार से पैदा हुए ज्ञान द्वारा अपने अद्वय आनन्दमयादिरूप की आच्छादिका अज्ञान अविद्यादि शब्द वाच्य माया के निवृत्त हो जाने पर स्वयं अद्वय आनन्द पूर्ण परमात्मा ही शेष रह जाता है ॥३॥

ननु 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' (गी० ३।२०) इति स्मृतेर्मोक्षस्य कर्मसाधनत्वावगमात् किमनेन विचारजनितज्ञानेनेत्यत आह —

अविचारकृतो बन्धो विचारेण निवर्तते ।
तस्माज्जीवपरात्मानौ सर्वदैव विचारयेत् ॥५॥

अन्वय :—बन्धः अविचारकृतः विचारेण निवर्तते तस्मात् जीव परात्मानौ सर्वदैव विचारयेत् ।

'अविचारेति' । विचारप्रागभावोपलक्षिताज्ञानकृतस्य बन्धस्य न विचारजन्यज्ञानादन्यतो निवृत्तिरुपपद्यते, उदाहृतस्मृतौ च 'संसिद्धि' शब्देन चित्तशुद्धिरेवाभिधीयते, न मोक्ष इति भावः । विचारेण बन्धनिवृत्तिरुक्ता, किंविषयेण विचारेणेत्यत आह—'तस्मादिति' तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्तं सर्वदा विचारं कुर्यादित्यर्थः ॥५॥

शंका - वह ब्रह्म मैं हूँ ऐसा जानकर सम्पूर्ण अविद्या बन्धनों से छूटता है । इस प्रकार श्रुतियों ने बंध की निवृत्ति रूप मोक्ष ज्ञान का फल कहा है । तुम तो परमात्मा के शेष को ज्ञान का फल कैसे कहते हो (बताया) है समाधान—

अद्वितीय ब्रह्म में न बन्ध है न मोक्ष है । इसलिए अद्वय आनन्दरूप आत्मा में द्वितीय सहित या दुःखी आदि समझना भ्रम हो जाना ही बन्ध है और स्व स्वरूप से स्थिति अर्थात् भ्रम की जो निवृत्ति[1] उसको ही मुक्ति कहते हैं इससे पूर्वोक्त श्रुति का विरोध नहीं है ॥४॥

विशेष १ — यहाँ रहस्य यह है (१) महावाक्य के श्रवण से "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा अन्तःकरण वृत्तिरूप ज्ञान होता है । इससे प्रपञ्च सहित अज्ञान की निवृत्ति होती है यही मोक्ष है । कल्पित निवृत्ति अधिष्ठान रूप होती है इसलिए ब्रह्मरूप मोक्ष है । यह भाष्यकार का सिद्धान्त है । (२) कल्पित की निवृत्ति ज्ञान से जन्य है अतएव सादि है और ब्रह्मरूप होने से अनन्त है अतएव वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष सादि और अनन्त है । इस प्रकार स्वरूप में स्थित होना हो तो बन्ध की निवृत्ति है, वही मोक्ष कहलाता है । सर्वज्ञात्म मुनि संक्षेप शारीरककार ने अज्ञान की निवृत्ति को न सत् न असत् न सदसत् उभयरूप और न सदसत् उभय विलक्षण, पंचम प्रकार विलक्षण अनिर्वचनीय की निवृत्ति अनिर्वचनीय चारों से विलक्षण है । अथवा चितिरेवकेवला, वचनोत्पादित बुद्धिवर्त्मना । परमात्मतमो निवृत्तिगीविषयत्वं समुपैत्युपाधिना (संक्षे० शा० ४।१५) अथवा केवल निर्विशेष चेतन ही वाक्योत्थ बुद्धिवृत्ति रूप उपाधि के द्वारा तमोनिवृत्ति इस शब्द की विषयता को प्राप्त करती है ।

तत्र जीवस्वरूपं तावन्निरूपयति—

अहमित्यभिमन्ता यः कर्ताऽसौ तस्य साधनम् ।
मनस्तस्य क्रिये अन्तर्बहिर्वृत्ती क्रमोत्थिते ॥६॥

अन्वय :—यः अहं इत्यभिमन्ता असौ कर्ता तस्य साधनं मनः तस्य क्रिये क्रमोत्थिते अन्तर्बहिर्वृत्ती ।

'अहमिति' । यश्चिदाभासविशिष्टोऽहङ्कारो व्यवहारदशायां देहादौ 'अहम्' इत्यभिमन्यते, असौ कर्ता, कर्तृत्वादिधर्मविशिष्टो जीव इत्यर्थः । तस्य किं कारणमित्यपेक्षायामाह—'तस्येति' । कामादिवृत्तिमानन्तःकरणभागो मनः । करणस्य क्रियाव्याप्तत्वात्तत्क्रिया दर्शयति—'तस्य क्रियेति' ॥६॥

शंका—जनक आदि कर्म से ही संसिद्धि को प्राप्त हुए । इस स्मृति से मोक्ष का साधन कर्म कहा है विचार से पैदा हुए ज्ञान का क्या फल है इस पर कहते हैं—

अविचार से किया गया बन्ध विचार से ही छूटता है । अर्थात् विचार प्राग् अभाव से उपलक्षित अज्ञान से कृत बन्ध विचार जन्यज्ञान से भिन्न साधन से नहीं छूट सकता, पूर्वोक्त स्मृति में संसिद्धि पद से चित्त की शुद्धि लेते हैं विचार से बन्ध की निवृत्ति कहा किस विषय के विचार से कहते हैं । इस कारण तत्व साक्षात्कार होने तक सदा जीव और परमात्मा का विचार करता रहे ॥५॥

अब प्रथम जीव के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

जो चिदाभास विशिष्ट अहंकार व्यवहार अवस्था में देह आदि में अहं (मैं हूँ) यह अभिमान करता है । वह कर्तृत्वादि धर्म विशिष्ट जीव है । उसका क्या समाधान है इस पर कहते हैं- उसका समाधान कामादि वृत्ति वाला अन्तःकरण का एक भाग मन है, करण मन क्रिया से व्याप्त है उस क्रिया को दिखाते हैं । उस मन को बारी-बारी से उठने वाली अन्तर्वृत्ति और बहिर्वृत्ति नाम की दो क्रियायें हैं ॥६॥

अनयोः स्वरूपं विषयं च विविच्य दर्शयति —

अन्तर्मुखाऽहमित्येषा वृत्तिः कर्तारमुल्लिखेत् ।
बहिर्मुखेदमित्येषा बाह्यं वस्त्विदमुल्लिखेत् ॥७॥

अन्वय :– अन्तर्मुखा अहं इति एषा वृत्तिः कर्तारं उल्लिखेत् बहिर्मुखा इदं इति एषा बाह्यं इदं वस्तु उल्लिखेत् ।

'अन्तर्मुखेति' । 'इदमित्येषेति' । बहिर्वृत्तेः स्वरूपाभिनयः अवशिष्टेन विषयप्रदर्शनम् । बाह्यं देहाद्बहिर्वर्तमानमिदंतया निर्दिश्यमानं वस्तूल्लिखेत्, विषयीकुर्यादित्यर्थः ॥७॥

ननु मनसैव सर्वव्यवहारसिद्धौ चक्षुरादिवैयर्थ्यं प्रसज्येतेत्याशङ्क्याह —

इदमो ये विशेषाः स्युर्गन्धरूपरसादयः ।
असांकर्येण तान्भिन्द्याद् घ्राणादीन्द्रियपञ्चकम् ॥८॥

अन्वय :—ये इदमः विशेषाः गन्धरूपरसादयः स्युः तान् असाङ्कर्येण घ्राणादि इन्द्रियपञ्चकं भिन्द्यात् ।

'इदम इति' । मनसेदमिति सामान्यमात्रं गृह्यते न तु तद्विशेषा गन्धादिः, अतस्तद्ग्रहणे घ्राणादिकमुपयुज्यत इत्यर्थः ॥८॥

अब मन की दोनों वृत्तियों के स्वरूप और विषयों को पृथक्-पृथक् दिखाते हैं —

जब उस मन की जो अन्तर्मुख (अहं) मैं यह वृत्ति है, वह कर्ता का उल्लेख (विषय) करती और बहिर्मुख वृत्ति स्वस्वरूप को हटाकर बहिः विषयों को दिखाती है देह से बाहर जो इदं (यह) वृत्ति है । वह बाह्य घट, पट आदि विषयों को यह से निर्दिष्ट वस्तु का उल्लेख करती है ॥७॥

शंका—मन से ही सम्पूर्ण व्यवहार सिद्ध हो जायगा नेत्र आदि इन्द्रियाँ व्यर्थ हो जायेंगी । समाधान

मन तो सामान्य रूप से "इदं" का ग्रहण करता है विशेष नहीं परन्तु उस "इदं" से निर्दिष्ट वस्तु के जो विशेष गन्ध, रूप, रस आदि हैं उनको प्रत्यक्ष घ्राणादि पाँच इन्द्रियाँ ही असांकर्य से पृथक्-पृथक् प्रकट करती हैं ॥८॥

एवं सोपकरणं जीवस्वरूपं निरूप्य परमात्मानं निरूपयति—

कर्तारं च क्रियां तद्वद्व्यावृत्तविषयानपि ।
स्फोरयेदेकयत्नेन योऽसौ साक्ष्यत्र चिद्वपुः ॥९॥

अन्वय :—कर्तारं च क्रियां व्यावृत्तविषयान् अपि तत् एक यत्नेन स्फोरयेत् यः असौ चिद् वपुः अत्र साक्षी इत्यप्युच्यते ।

'कर्तारमिति' । कर्तारं पूर्वोक्तमहंकाररूपं क्रियामहमिदमात्मकमनोवृत्तिरूपां व्यावृत्तविषयानपि व्यावृत्तान् अन्योन्यविलक्षणान् घ्राणादिग्राह्यान् गन्धादीन्विषयांश्च एकयत्नेन युगपदेव यश्चिद्वपुश्चिद्रूप एव सन् स्फोरयेत्प्रकाशयेत् असावत्र वेदान्तशास्त्र साक्षीत्युच्यत इत्यर्थः ॥९॥

साक्षिण एकयत्नेन सर्वस्फोरकत्वमभिनीय दर्शयति—

ईक्षे शृणोमि जिघ्रामि स्वादयामि स्पृशाम्यहम् ।
इति भासयते सर्वं नृत्यशालास्थदीपवत् ॥१०॥

अन्वय : अहं ईक्षे शृणोमि जिघ्रामि स्वादयामि स्पृशामि इति सर्वं नृत्यशालास्थदीपवत् भासयते ।

'ईक्षे शृणोमीति' । ईक्षे 'रूपमहं पश्यामि' इत्येवं द्रष्टृदर्शन-दृश्यलक्षणां त्रिपुटीमेकयत्नेन भासयेत् । एवं शृणोमीत्यादावपि योज्यम् । युगपदविकारित्वे अनेकावभासकत्वे दृष्टान्तमाह— 'नृत्यशाला-स्थदीपवदिति' ॥१०॥

इस प्रकार जीव के स्वरूप का निरूपण करके परमात्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं—

जो पूर्वोक्त अहंकार रूप कर्ता को और अहम्-इदं आदि मन की वृत्ति रूप क्रिया को और परस्पर विलक्षण गन्धादि ज्ञानेन्द्रियों के विषय को साथ–साथ (एक यत्न से एक बार) प्रकाश करे वह इस वेदान्तशास्त्र में चिद्रूप साक्षी कहलाता है ॥९॥

अब साक्षी एक साथ कैसे सब को प्रकाशित करता है यह दिखाते हैं--

मैं रूप को देखता हूँ, मैं शब्द को सुनता हूँ, गन्ध को सूंघता हूँ, रस का स्वाद लेता हूँ और स्पृश्य को स्पर्श करता हूँ इत्यादि प्रकार से ज्ञानों में द्रष्टा (ज्ञाता) दर्शन (ज्ञान) और दृश्य (ज्ञेय रूप) त्रिपुटी का एक साथ ऐसे प्रकाशित करता हूँ जैसे नृत्यशाला में रखा दीपक सबको एक साथ प्रकाशित करता है वह साक्षी है ॥१०॥

दृष्टान्तं स्पष्टयति—

नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम् ।
दीपयेदविशेषेण तदभावेऽपि दीप्यते ॥११॥

अन्वयः नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यान् नर्तकीम् च अविशेषेण दीपयेत् तदभावेऽपि दीप्यते ।
'नृत्येति' । अविशेषेण प्रभ्वादिविषयविशेषावभासनाय वृद्ध्यादिविकारमन्तरेणेति यावत् ॥११॥
दार्ष्टान्तिके योजयति—

अहंकारं धियं साक्षी विषयानपि भासयेत् ।
अहंकाराद्यभावेऽपि स्वयं भात्येव पूर्ववत् ॥१२॥

अन्वयः - अहंकारं साक्षी विषयान् अपि धियं भासयेत् अहंकाराद्य भावेऽपि पूर्ववत् स्वयं एव भाति ।
'अहंकारमिति' । सुषुप्त्यादावहंकाराद्यभावेऽपि तत्साक्षितया भात्येवेत्यर्थः ॥१२॥
ननु प्रकाशरूपाया बुद्धेरेवाहंकारादिसर्ववस्त्ववभासकत्वसंभवात् किं तदतिरिक्तसाक्षिकल्पनये-त्याशङ्क्याह—

निरन्तरं भासमाने कूटस्थे ज्ञप्तिरूपतः ।
तद्भासा भास्यमानेयं बुद्धिर्नृत्यत्यनेकधा ॥१३॥

अन्वयः—कूटस्थे ज्ञप्तिरूपतः निरन्तरं भासमाने इयं बुद्धिः तद् भासा भास्यमाना अनेकधा नृत्यति
'निरन्तरमिति' । कूटस्थे निर्विकारे साक्षिणि ज्ञप्तिरूपतः स्वप्रकाशचैतन्यतया निरन्तरं भासमाने सदा स्फुरति सति इयं बुद्धिस्तद्भासा तस्य साक्षिणः स्वरूपचैतन्येन भासमाना प्रकाश्यमानेव अनेकधा 'घटोऽयं पटोऽयं' इत्यादिज्ञानाकारेण नृत्यति विक्रियते । अयं भाव—यतो बुद्धेर्विकारितया जडत्वात्स्वतः-स्फूर्तिराहित्यम् अतस्तदतिरिक्तः सर्वावभासकः साक्ष्यभ्युपगन्तव्य इति ॥१३॥

अब दृष्टान्त को स्पष्ट करते हैं—

जैसे नृत्यशाला में रखा दीपक राजा सभासद और नर्तकी (वेश्या) इन सबको अविशेष बिना भेद भाव के प्रकाशित करता है और उन स्वामि आदि के न रहने पर भी स्वयं ही प्रकाशित होता है। इस प्रकार सब का प्रकाशक साक्षी स्वप्रकाश रूप है ॥११॥

अब दृष्टान्त को दार्ष्टान्तिक में घटाते हैं—

ऐसे ही साक्षी, अहंकार, बुद्धि और विषयों को भी प्रकाशित किया करता है और सुषुप्ति आदि के समय अहंकार आदि के न रहने पर भी स्वयं प्रकाशित होता रहता है ॥१२॥

प्रश्न - जब प्रकाशरूपा बुद्धि ही अहंकारादि सम्पूर्ण वस्तुओं का प्रकाश कर सकती है तब उससे भिन्न साक्षी की कल्पना क्यों की जाय, उत्तर देते हैं—

कूटस्थ निर्विकार साक्षी के ज्ञप्ति स्वप्रकाश चैतन्य से सदा भासते रहने पर यह बुद्धि उस साक्षी के स्वरूप चैतन्य से प्रकाशित होकर ही "यह घट है, यह पट है आदि अनेक रूपों में विकृत हुआ करती है। अभिप्राय यह है अनेक प्रकार के विकार बुद्धि में होते हैं। विकार रूपी बुद्धि जड़ होने से स्वयं प्रकाश रूप नहीं हो सकती इससे बुद्धि से भिन्न सब का प्रकाशक साक्षी मानना पड़ता है ॥१३॥

उक्तमर्थं श्रोतृबुद्धिसौकर्याय नाटकत्वेन निरूपयति—

अहंकारः प्रभुः सभ्या विषया नर्तकी मतिः ।
तालादिधारीण्यक्षाणि दीपः साक्ष्यवभासकः ॥१४॥

अन्वय :— अहंकारः, प्रभुः, सभ्याः, विषयाः, नर्तकी, मतिः, तालादिधारीण्यक्षाणि, साक्ष्यवभासकः दीपः ।

'अहंकार इति' । विषयभोगसाकल्यवैकल्याभिमानप्रयुक्तहर्षविषादवत्त्वान्नृत्याभिमानिप्रभुतुल्यत्वमहंकारस्य परिसरवर्तित्वेऽपि विषयाणां तद्राहित्यात्सभ्यपुरुषसाम्यं, नानाविधविकारवत्त्वान्नर्तकीसाम्यं, धियः धीविक्रियाणामनुकूलव्यापारवत्त्वात्तालादिधारिसमानत्वमिन्द्रियाणां, एतत्सर्वविभासकत्वात्साक्षिणो दीपसादृश्यमस्तीति द्रष्टव्यम् ॥१४॥

अब पूर्वोक्त अर्थ को श्रोताओं की बुद्धि में सुख से आने के लिए नाटक रूप से वर्णन करते हैं—

अहंकार प्रभु है और विषय सभासद, बुद्धि नर्तकी, इन्द्रिय ताल आदि धारी पुरुष है और साक्षी दीपक के समान सब का प्रकाशक है ॥१४॥

यहाँ अहंकार प्रभु (राजा) के तुल्य है। क्योंकि नाटक के स्वामी की तरह सम्पूर्ण विषयों का भोग अल्प विषयों के भोग के अभिमान से हर्ष (आनन्द) और शोक दोनों नृत्य के अभिमानी पुरुष के समान होते हैं। इससे अहंकार प्रभु के तुल्य है और विषय ही इस नाटक के दर्शक हैं अहंकार के पास रहने पर भी (नाटक की सुख दुःख मयी घटनाओं से जैसे दर्शक अप्रभावित रहते हैं ऐसे ही विषयों को भी सुख दुःख कुछ नहीं होता) बुद्धि अनेक प्रकार के विकार वाली होने से नर्तकी है। (अर्थात् नर्तकी के अंग भंगी आदि के समान) और बुद्धि के जो विकार उनके अनुकूल व्यापार करने से ताल आदि के धारी जो पुरुष उनके समान इन्द्रियाँ हैं सबका[1] प्रकाशक होने से साक्षी दीपक के समान है ॥१४॥

विशेष १ —(१) नाटक के नृत्य का अभिमानी राजा को नृत्य के सफलता और असफलता के अभिमान से प्रसन्न या विषाद होता है। वह धनाढचता के कारण नर्तकी आदि का आश्रय नृत्यशाला का निर्वाहक अनेक द्वारा युक्त बड़े कर्म का कर्ता और बड़े भोग का भोक्ता होता है। यहाँ भोग की सफलता और असफलता से हर्ष विषाद अहंकार को होते हैं उपाधि रूपता से आत्मधन होने के कारण वह बुद्धि आदिका आश्रय समष्टि व्यष्टि देहरूप नृत्यशाला का अहं मम भाव से निर्वाह्य और शुभाशुभ वृत्तिरूप अनेक दाराओं से युक्त सब कर्मों का कर्ता सब भोगों का भोक्ता है। इस प्रकार साभास अहंकार को नृत्य कराने वाले राजा की तुल्यता है।

(२) नृत्यशाला में विद्यमान पुरुष जैसे राजा के धर्मों से रहित राजा के अधीन चारों ओर से घिरे रहते हैं। ऐसे ही शब्दादि विषय भी अहंकार के कर्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्मों से रहित अहंकार के अधीन चारों ओर दिखायी पड़ते हैं। ये विषय ही यहां सभ्य है।

ननु साक्षिणोऽप्यहंकाराद्यवभासकत्वे तेन-तेन संबन्धापगमागमरूपविकारवत्त्वं स्यादित्याशङ्क्याह—

स्वस्थानसंस्थितो दीपः सर्वतो भासयेद्यथा ।
स्थिरस्थायी तथा साक्षी बहिरन्तः प्रकाशयेत् ॥१५॥

अन्वय :—यथा स्वस्थानसंस्थितः दीपः सर्वतः भासयेत् तथा चिरस्थायी साक्षी बहिः अन्तः प्रकाशयेत् ।

'स्वस्थानेति' । दीपो यथा गमनादिविकारशून्यः स्वदेशेऽवस्थित एव सन् स्वसन्निहिताखिलपदार्थानवभासयति एवं साक्ष्यपीति भावः ॥१५॥

प्रश्न साक्षी को भी अहंकार आदि का प्रकाशक मानोगे तो उस-उस विषय के संग सम्बन्ध होने से और न होने से साक्षी भी विकारी हो जायेगा ।

उत्तर - जैसे दीपक गमन आदि को न करता हुआ अपने स्थान पर रखा हुआ अपने समीप के सम्पूर्ण पदार्थों को प्रकाशित करता है इसी प्रकार स्थिर है स्थिति जिसकी तीनों कालों में अचल ऐसा साक्षी भी बाहर भीतर के सम्पूर्ण विषयों को प्रकाशित करता है ॥१५॥

---

(३) जैसे नर्तकी अनेक चेष्टाए (विकार) करती है । सब ओर हाथ आदि को मटकाती और नवरस मनोभाव से राजा का मनोरञ्जन करती है वैसे ही बुद्धि भी कामादि रूप अनेक विकारों से युक्त सर्वविषयाकार होने के कारण अपने अग्रभाव रूप हाथ को मटकाती और अन्तःकरण के नौ के नव रसों को दिखाकर साभास अहंकार को रञ्जन करती है । अतएव बुद्धि नर्तकी है ।

(४) वैसे ताल मृदंग आदि बजाने वाले नर्तकी चेष्टा के अनुकूल व्यवहार करते हैं । वैसे ही इन्द्रियाँ भी । बुद्धि जिस विषय को ग्रहण करने के लिए जाती है, उसके सन्मुख आने से बुद्धि में जो परिवर्तन होता है उसके अनुकूल व्यापार करती है । इसलिए इन्द्रियाँ उन ताल देने वालों के समान हैं ।

(५) नृत्य शाला में रखा दीपक बाहर भीतर सब ओर सभा के जुड़ने के समय राजा आदि को प्रकाशित करता है और सभा न जुड़ी हो तो तब भी प्रकाशित करता रहता है और स्वयं इधर-उधर कहीं आता जाता नहीं है । ऐसे ही साक्षी भी जाग्रत स्वप्न काल में विद्यमान अहंकार आदि सबको प्रकाशित करता है और सुषुप्ति मूर्छा एवं समाधिकाल में इनके न होने पर भी इनके अभाव को प्रकाशित करता है । स्वयं गमन आगमनादि विकार से रहित है इसलिए साक्षी नाटक का दीपक है ।

ननु साक्षिणो बहिरन्तरभावसकत्वाभिधानमनुपपन्नम्, 'अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' (बृ० २।५।१९) इति श्रुत्या तस्य बाह्यान्तरविभागाभावाभिधानादित्याशङ्क्याह—

बहिरन्तर्विभागोऽयं देहापेक्षो न साक्षिणि ।
विषया बाह्यदेशस्था देहस्यान्तरहंकृतिः ॥१६॥

अन्वय :—बहिः अन्तः अयं विभागः देहापेक्षः साक्षिणि न बाह्यदेशस्था विषयाः देहस्यान्तः अहं कृतिः ।

'बहिरिति' । कस्य बाह्यत्वं कस्य चान्तरत्वमित्यत आह—'विषया इति' ॥१६॥

प्रश्न - वह यह ब्रह्म (कारण रहित, अनपर (कार्य रहित) अनन्तर (विजातीय द्रव्य से रहित) अबाह्य, उससे बाहर कुछ नहीं है । यह आत्मा ही सबका अनुभव करने वाला ब्रह्म है इस श्रुति से साक्षी को बाह्य और भीतर के विभाग का अभाव कहा है ।

उत्तर बाहर भीतर का तो यह विभाग है । वह देह की अपेक्षा से है । साक्षी में नहीं क्योंकि रूप आदि विषय बाह्य देश में स्थित हैं और अहंकार देह के भीतर होता है ॥१६॥

नवरस – रौद्रोऽद्भुतश्च शृंगारो हास्यं वीरोदयस्तथा । भयानकश्च वीभत्सः शान्तः सप्रेमभक्तिकः । इन नव रस रूप मनोभाव करके राजा को रञ्जन करती है । वैसे बुद्धि भी कामादि परिणाम रूप अनेक रस हस्त को सब ओर प्रसारण करती है ।

(१) रौद्ररस— क्रोधादि को प्रसंग से भय दिखाती हुई रौद्र रस दिखाती है ।
(२) इन्द्रजालादिक अपूर्व पदार्थों को देखकर आश्चर्य को पाती हुई अद्भुत रस को दिखाती है ।
(३) शास्त्र संस्कार से रहित होती है तब वस्त्र भूषण आदि की शोभा के अभिमान से युक्त शृंगार रस को दिखाती है ।
(४) वाञ्छित विषय के लाभ से आनन्द को प्राप्त कर हास्य रस को दिखाती है ।
(५) शरीर की प्रबलता देख के युद्धादिक के प्रसंग में पुरुष होने का अभिमान करके वीररस को दिखाती है ।
(६) पुत्र कलत्रादि सम्बन्धियों के दुःख को देखकर कोमल हुए अन्तःकरण में करुण रस दिखाती है ।
(७) शत्रु आदिकों से जन्य दुःख की चिन्ता कर भय को पाती हुई भयानक रस को दिखाती है ।
(८) मलिन पदार्थों के संसर्ग से ग्लानि को प्राप्त कर बीभत्स रस को दिखाती है ।
(९) प्रिय पदार्थों के नाश से उदासीन हुई शान्त रस को दिखाती है ।
(१) अज्ञानियों को शुभ कर्मों में प्रवृत्ति करवाने के लिए, संसार के दुःखों को जताती हुई या तत्वज्ञान के बल से काल को भी डराती हुई रौद्ररस को दिखाती है ।

ननु 'स्थिरस्थायी तथा साक्षी बहिरन्तः प्रकाशयेत्' (प्र० १०।१५) इति अविकारिणः सतो बहिरन्तरवभासकोक्तिरयुक्ता, 'अहं घटं पश्यामी' त्यत्र 'अहम्' इत्यन्तरहंकारसाक्षितया प्रथमतो भासकस्य अनन्तरं 'घटं पश्यामी' ति घटाकारवृत्तिस्फुरणरूपेण बहिर्निर्गमानुभवादित्याशङ्क्याह—

अन्तःस्था धीः सहैवाक्षैर्बहिर्याति पुनः पुनः ।
भास्यबुद्धिस्थचाञ्चल्यं साक्षिण्यारोप्यते वृथा ॥१७॥

अन्वयः—अन्तःस्था धीः अक्षैः सहैव पुनः पुनः बहिः, याति भास्यबुद्धिस्थचाञ्चल्यं साक्षिणि वृथा आरोप्यते ।

'अन्तःस्थेति' । दृष्टग्राहकत्वेन देहान्तरावस्थिता बुद्धिः रूपादिग्रहणाय चक्षुरादिद्वारा भूयो भूयो निर्गच्छति, तथा च तन्निष्ठंचाञ्चल्यं तद्भासके साक्षिण्यारोप्यते, अतो न वास्तवं साक्षिणश्चाञ्चल्यमिति भावः ॥१७॥

प्रश्न—स्थिर साक्षी बाहर भीतर प्रकाश करता है यही पीछे १५वें श्लोक में कहा, अविकारी साक्षी को बाहर और भीतर का प्रकाशक है यह अयुक्त है क्योंकि घट को देखता हूँ इस वाक्य में प्रथम अहं (मैं) इस रूप में भीतरी अहंकार का साक्षी होकर भासित हुए साक्षी का फिर घट को देखता हूँ। इस प्रकार घटाकर वृत्ति की स्फुरण में साक्षी का बाहर गमन अनुभव में आता है ।

उत्तर देह के भीतर बुद्धिः (मैं) इस आकार के द्रष्टा साभास अहंकार को विषय करने वाली देह के भीतर स्थित हुई बुद्धि। "वह यह घट है" इत्यादि आकार से रूप आदि के ग्रहण (विषय) करने के लिए चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा बार बार बाहर जाती है। इस प्रकार उस बुद्धि में जो चाञ्चल्य है वह उस बुद्धि के प्रकाशक साक्षी में वृथा ही आरोप कर ली जाती है। इससे साक्षी वस्तुतः चाञ्चल्य अथवा बाहर भीतर आने जाने वाला नहीं है ॥१७॥

---

(२) एक ही अद्वितीय असंग निर्विकार निष्प्रपञ्च ब्रह्म में सजातीय आदि भेद युक्त और संगकर्तृत्वादि विकारवान् प्रपञ्च को देखकर वा गुरु कृपा से अलौकिक वस्तु को जानकर आश्चर्यवान् हुआ अद्भुत रस को दिखाती है ।

(३) बुद्धि जब शास्त्र संस्कार सहित होती है तब अमानित्व अदंभित्व आदि दैवी संपद रूप भूषण युक्त हुई शृंगार रस को दिखाती है ।

(४) राज्य पद से पतन होकर रंक पद को प्राप्त होकर राजा की तरह ब्रह्म भाव से पतन होकर जीवभाव को प्राप्त हुआ परमात्मा को देखकर, व अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति करके हर्ष को प्राप्त कर अथवा निरावरण स्वरूप ब्रह्म को अनुभव करके हास्यरस को दिखाती है ।

(५) कामक्रोधादिक शत्रुओं के जय में पुरुषार्थ से वीररस को दिखाती है ।

(६) आध्यात्म आधिदैविक, आधिभौतिक दुःखों से ग्रस्त पुरुषों को देखकर द्रवीभाव को प्राप्त हुई बुद्धि करुणरस को दिखाती है ।

भासके भास्यचाञ्चल्यारोपः क्व दृष्ट इत्याशङ्क्याह—

गृहान्तरगतः स्वल्पो गवाक्षादातपोऽचलः ।
तत्र हस्ते नर्त्यमाने नृत्यतीवातपो यथा ॥१८॥

अन्वय :—गृहान्तरगतः स्वल्पः गवाक्षात् आतपः अचलः तत्र हस्ते नर्त्यमाने यथा आतपः नृत्यति इव (न तु चलति) ।

'गृहान्तरगत इति' । गवाक्षाद्गृहान्तरगतः स्वल्पातपोऽचल एव वर्तते, तत्र तस्मिन्नातपे पुरुषेण हस्ते नर्त्यमाने इतस्ततश्चाल्यमाने यथा आतपो नृत्यतीव चलतीव लक्ष्यते, नतु चलतीत्यर्थः ॥१८॥

दार्ष्टान्तिकमाह—

निजस्थानस्थितः साक्षी बहिरन्तर्गमागमौ ।
अकुर्वन् बुद्धिचाञ्चल्यात्करोतीव तथा तथा ॥१९॥

अन्वय :—निजस्थानस्थितः साक्षी बहिः अन्तः गमागमौ अकुर्वन् तथा तथा बुद्धिचाञ्चल्यात् करोति इव ।

'निजस्थानेति' ॥१९॥

अब भासक (प्रकाशक) में भास्य (प्रकाश किये जाने वाले की) चञ्चलता का आरोप को दृष्टान्त से समझाते हैं——

झरोखे से घर के भीतर गया थोड़ा सा सूर्य का प्रकाश स्वतः अचल है । उसी प्रकाश में मनुष्य अपने हाथ को नचाने पर वह प्रकाश नाचता प्रतीत होता है वस्तुतः नाचता नहीं ॥१८॥

अब दार्ष्टान्तिक को कहते हैं——

इसी प्रकार अपने स्थान अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित साक्षी बाहर-भीतर गमन और आगमन को न करता हुआ भी बुद्धि की चञ्चलता से वैसे-वैसे करते हुए के समान प्रतीत होता है ।१९॥

---

(७) ज्ञान के बिना निवारण होने को अशक्य हैं, जन्म मरणादि संसार दुःख की चिन्ता भय को प्राप्त कर भयानक रस को दिखाती है ।

(८) शिष्ट निंदित यथेच्छाचरणरूप दुराचार से ग्लानि को प्राप्त हुई बीभत्स रस को दिखाती हैं ।

(९) दोष दृष्टि जन्य या मिथ्यात्व दृष्टिजन्य वैराग्य को उदय कर अथवा जगत् की विस्मृति रूप उपराम के उदय से प्रपञ्च की अरुचि को प्राप्तकर शान्तरस को दिखाती है ।

(१०) निरावरण परिपूर्ण सवृत्तिक जीवन्मुक्ति बिलक्षण आनन्द को आस्वादन करती हुई नवरस से विलक्षण दशमरस को दिखाती है । इस रीति से बुद्धि नवरस को दिखाकर साभास अहंकार को रञ्जन करती है इससे नर्तकी के समान है ।

'निजस्थानस्थित' इत्यनेन किं बाह्यादिदेशस्थत्वमेवोच्यते ? नेत्याह—

न बाह्यो नान्तरः साक्षी बुद्धेर्देशौ हितावुभौ ।
बुद्ध्याद्यशेषसंशान्तौ यत्र भात्यस्ति तत्र सः ॥२०॥

अन्वय : साक्षी न बाह्यः नान्तरः बुद्धेः हि तौ उभौ बुद्ध्याद्यशेषसंशान्तौ यत्र भाति स तत्र अस्ति।

न बाह्य इति'। तत्र हेतुमाह –'बुद्धेरिति'। तर्हि किं विवक्षितमित्यत आह—'बुद्ध्यादीति'। 'आदि' शब्देनेन्द्रियादयो गृह्यन्ते, 'संशान्ति' शब्देन तत्प्रतीत्युपरतिर्विवक्षिता ॥२०॥

ननु सर्वव्यवहारोपरतौ देश एव नोपलभ्यते, कुतस्तन्निष्ठत्वमुच्यत इत्याशङ्क्य, स्वाभिप्रायमाविष्करोति—

देशः कोऽपि न भासेत यदि तर्ह्यस्त्वदेशभाक् ।
सर्वदेशप्रक्लृप्त्यैव सर्वगत्वं न तु स्वतः ॥२१॥

अन्वय : – देशः कालः अपि यदि न भासेत तर्हि अदेशभाक् अस्तु सर्वदेशप्रक्लृप्त्या सर्वगत्वं स्वतः तु न।

'देश इति'। देशादिकल्पनाधिष्ठानस्य स्वातिरिक्तदेशापेक्षा नास्तीति भावः। ननु देशाद्यभावे शास्त्रे सर्वगतसर्वसाक्षित्वाद्युक्तिर्विरुध्येतेत्यत आह 'सर्वदेशेति' स्वाभाविकमेव किं न स्यादित्यत आह— 'न तु स्वत इति' अद्वितीयत्वादसङ्गत्वाच्चेति भावः ॥२१॥

यदि कहो कि अपने स्थान में स्थित साक्षी कहने से क्या बाह्य देश में स्थित साक्षि को मानते हो ? नहीं कहते हैं -

साक्षी न बाह्य होता है न आन्तर क्योंकि ये दोनों देश तो बुद्धि के हैं। जब बुद्धि इन्द्रिय आदि सब की प्रतीति शान्त हो जाने पर ऐसी सुषुप्ति समाधि आदि अवस्था में जो भासता है उस अवस्था में वह साक्षी है ॥२०॥

प्रश्न—सम्पूर्ण व्यवहारों के शान्त होने पर कोई देश ही न मिलेगा तो साक्षी की स्थिति कहाँ होगी ?

उत्तर—अपने अभिप्राय को प्रकट करते हैं

यदि कोई देश नहीं भासता तो उस साक्षी को तुम बिना ही देश का समझ लो क्योंकि देश आदि की सब कल्पनाओं के अधिष्ठान आत्मा को अपने लिए किसी देश की अपेक्षा नहीं है।

प्रश्न – देश आदि के अभाव में शास्त्रों में उसे सर्वगत सर्व साक्षी कहना विरुद्ध होगा।

उत्तर—सब देशों की कल्पना से ही सर्वगत है।

प्रश्न—उसका स्वाभाविक सर्वगतत्व होगा।

उत्तर— स्वभाव से सर्वगत भी नहीं है। आत्मा स्वभाव से तो अद्वितीय असंग होने से उसका यह स्वाभाविक धर्म नहीं ॥२१॥

विशेष १— सर्वदेशानां तत्र अज्ञानेन सौरालोके मृगजलकल्लोजानामिव प्रक्लृप्त्या कल्पनायैवेत्यर्थः।

सर्वगतत्वसर्वसाक्षित्वमपि न वास्तवमित्याह—

अन्तर्बहिर्वा सर्वं वा य देशं परिकल्पयेत् ।
बुद्धिस्तद्देशगः साक्षी तथा वस्तुषु योजयेत् ॥२२॥

अन्वयः—अन्तः वहिर्वा सर्वं वा यं देशं बुद्धिः परिकल्पयेत् तद्देशगः साक्षी वस्तुषु तथायोजयेत् ।
'अन्तर्वहिरिति' ॥२२॥

तथा वस्तुषु योजयेदित्येयत्प्रपञ्चयति —

यद्यद्रूपादि कल्प्येत बुद्ध्या तत्तत्प्रकाशयन् ।
तस्य तस्य भवेत्साक्षी स्वतो वाग्बुद्ध्यगोचरः ॥२३॥

अन्वय : यद् यद् रूपादि कल्प्येत तत् तत् बुद्धया प्रकाशयन् तस्य तस्य साक्षी स्वतः वाग् बुद्धयगोचरः भवेत् ।

'यद्यदिति' । किं तस्य निजं रूपमित्यत 'स्वत इति' ॥२३॥

अवाङ्मनसगोचरत्वे मुमुक्षुणा न गृह्येतेति शङ्कते—

कथं तादृङ्मया ग्राह्य इति चेन्मैव गृह्यताम् ।
सर्वग्रहोपसंशान्तौ स्वयमेवावशिष्यते ॥२४॥

अन्वयः कथं तादृङ्मया ग्राह्यः इति चेत् मैव गृह्यताम् सर्वग्रहोप संशान्तौ स्वयमेव अवशिष्यते ।

'कथमिति' अग्राह्यत्वमिष्टमेवेत्याह 'मैवेति'[1] । नन्वात्मनोग्राह्यत्वाभावे 'विचारेण विनष्टायां मायायां शिष्यते स्वयम्' (प्र० १०।३) इत्युक्तं परमात्मावशेषणं न सिध्येदित्यत आह—'सर्वग्रहेति' । स्वात्मातिरिक्तस्य द्वैतस्य मिथ्यात्वनिश्चयेन तत्प्रतीत्युपशान्तौ स्वात्मैव सत्यतयाऽवशिष्यत इति भावः ॥२४॥

ब्रह्म का सर्वगत के समान सर्वसाक्षी भी वास्तविक नहीं इसका वर्णन करते हैं —

अन्तर या बहिर्देश को या जिस सब वस्तुओं को यह बुद्धि कल्पना कर लेती है यह आत्मा उस देश में स्थित (गया हुआ) साक्षी कहलाने लगता है। (वस्तुतः तो उसका सर्व साक्षीपन भी अवास्तविक है) इसी प्रकार अन्य सब वस्तुओं में भी साक्षी को समझ लेना चाहिए ॥२२॥

वस्तुओं के योग को ही विस्तार से दिखाते हैं—

जिस-जिस रूप आदि को बुद्धि से कल्पना की जाती है, उस-उस को प्रकाशित करने वाला यह आत्मा उस उस का साक्षी कहलाता है। वह स्वयं तो वाणी और बुद्धि का अविषय ही है। फिर उसे साक्षी भी कैसे कहें ॥२३॥

प्रश्न— वाणी मन के अगोचर (अविषय) को मुमुक्षु कैसे ग्रहण करेगा—

विशेष १— (मत ग्रहण करो) स्वयं प्रकाश रूप आत्मा को मानने वाले हमको उस आत्मा का ग्रहण (विषय) करना इष्ट नहीं है और शब्द की लक्षणा वृत्ति से और मन की वृत्ति व्याप्ति करके मन आदि का साक्षी स्वयं प्रकाश रूप से आत्मा जानने योग्य है।

यद्यप्युक्तन्यायेन स्वात्मा परिशिष्यते, तथापि तदापरोक्ष्याय किंचित्प्रमाणमपेक्षितमित्यत आह—

न तत्र मानापेक्षास्ति स्वप्रकाशस्वरूपतः ।
तादृग्व्युत्पत्त्यपेक्षा चेच्छ्रुतिं पठ गुरोर्मुखात् ॥२५॥

अन्वय :—स्वप्रकाशस्वरूपतः न तत्र मानापेक्षास्ति तादृग् व्युत्पत्त्यपेक्षा चेत् गुरोः मुखात् श्रुतिं पठ ।

'न तत्रेति' । तत्र हेतुमाह—'स्वप्रकाशेति' । नन्वात्मनः स्वप्रकाशतया स्वतः स्फूर्तौ मानं नापेक्ष्यते इति व्युत्पत्तिसिद्धये मानमपेक्षितमित्या शङ्क्य, श्रुतिरेवात्र प्रमाणमित्याह—'तादृगिति' ॥२५॥

तादृश (वैसा) साक्षी को हम कैसे ग्रहण करें (जानें) तो मत ग्रहण करो क्योंकि सम्पूर्ण ग्रहों (ज्ञान) की शान्ति होने पर स्वयं ही शेष रह जाता है ॥२४॥

मुमुक्षु में फिर उस अवाङ् मन गोचर को कैसे ग्रहण करूँ । उसका न ग्रहण करना ही हमको इष्ट है यह कहते हैं । शंका आत्मा को आग्राह्य मानोगे तो पहले ३वें श्लोक में कहा विचार से माया के नष्ट होने पर स्वयं परमात्मा जो शेष कहा है वह सिद्ध न होगा, समाधान (आत्मा तो अग्राह्य ही है) सम्पूर्ण ग्रह (जानने) की शान्ति होने पर अपनी आत्मा से भिन्न द्वैत के मिथ्यापन का निश्चय हो जाने पर जब द्वैत की प्रतीति नष्ट हो जाती है तब स्वात्मा ही (स्वयं परमात्मा ही सत्य रूप से शेष रहता है, उसको शेष रहने में कोई यत्न नहीं करना पड़ता है ॥२४॥

यद्यपि पूर्वोक्त न्याय से स्वयं परमात्मा ही शेष रहता है तथापि उसके अपरोक्ष ज्ञानार्थ कोई प्रमाण तो चाहिए इस पर कहते हैं—

स्वप्रकाश रूप आत्मा के प्रमाण की अपेक्षा नहीं है यदि इस बोध की व्युत्पत्ति (सिद्धि) की अपेक्षा है तो ब्रह्मनिष्ठ गुरु के मुख से श्रुति को पढ़ें ।

उस परमात्मा को स्वप्रकाश रूप होने से उसमें किसी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण की अपेक्षा नहीं है । आत्मा के स्वप्रकाश की स्वयं स्फूर्ति (भान) में प्रत्यक्षादि प्रमाण की अपेक्षा नहीं है इस व्युत्पत्ति (सिद्धि) की अपेक्षा है । तो गुरु के मुख से श्रुति को पढ़ अर्थात् श्रुति से प्रतीति हो जायगी कि स्वप्रकाश भासने के लिए किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है ॥२५॥

एवमुत्तमाधिकारिण आत्मानुभवोपायमभिधाय, मन्दाधिकारिणस्तं दर्शयति —

यदि सर्वग्रहत्यागोऽशक्यस्तर्हि धियं व्रज ।
शरणं तदधीनोऽन्तर्बहिर्वैषोऽनुभूयताम् ॥२६॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकृतपञ्चदश्या नाटकदीपाख्यं प्रकरणं समाप्तम् ॥१०॥

अन्वय :– यदि सर्वग्रहत्यागः अशक्यः धियं व्रज तदधीनः अन्तर्बाहिवी एषः शरणं अनुभूयताम् ।

'यदीति' । बुद्धिशरणत्वे किं फलमित्यत आह—'तदधीन इति' । बुद्धया यद्यत्परिकल्प्यते बाह्य मान्तरं वा तस्य तस्य साक्षित्वेन तदधीनः परमात्मा तथैवानुभूयतामित्यर्थः ॥२६॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकिङ्करेण श्रीरामकृष्णाख्यविदुषा विरचिता नाटकदीपव्याख्या समाप्ता ॥१०॥

इस प्रकार उत्तम अधिकारी को आत्मा के ज्ञान का उपाय कहकर मन्द अधिकारी को भी व उपाय दिखाते हैं—

यदि सम्पूर्ण ग्रह (प्रतीति का) त्याग करने को अशक्य है तो बुद्धि की शरण जाओ उस बुद्धि से कल्पित बाहर और भीतर के विषयों का साक्षी यह परमात्मा जानने योग्य है ।

यदि सम्पूर्ण ग्रह (विषय) का त्याग करने को अशक्य हो तो बुद्धि की शरण में जाओ (बुद्धि को अपना लक्ष्य[1] बनाओ) बुद्धि की शरण का यह फल होगा । बुद्धि अन्दर या बाहर विषयों की कल्पना करती है, उस-उस पदार्थ के साक्षी रूप में उस बुद्धि के अधीन परमात्मा को अन्दर या बाहर जैसा अवसर हो अनुभव करें ॥२६॥

विशेष १— लक्ष्य जैसे शाखा में चन्द्र है इस वाक्य को सुनकर स्थूल दृष्टिवाला पुरुष शाखा को लक्ष्य करके पीछे शाखा की दृष्टि छोड़कर शाखा के समीप स्थित होकर शाखा के अधीन चन्द्रमा को देखता है। ऐसे ही मन्द बुद्धि अधिकारी श्री गुरु के उपदेश से बुद्धि को लक्ष्य करके बाह्य आभ्यन्तर धर्म सहित बुद्धि की दृष्टि को छोड़कर अधिष्ठान साक्षी रूप को बुद्धि के समीप स्थित होने से बुद्धि के अधीन हुए की तरह जो परमात्मा है उसको अपने स्वरूप में करके अनुभव करता है ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यस्वामिश्रीकरपात्रशिष्य
श्री डॉ० लक्ष्मणचैतन्यब्रह्मचारिविरचितलक्ष्मणचन्द्रिकाख्ये पञ्चदशीहिन्दीव्याख्याने
नाटकदीपप्रकरणविवेकाख्यं दशमं प्रकरणं समाप्तम् ।

ब्रह्मानन्दे योगानन्दप्रकरणम्

नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
ब्रह्मानन्दाभिधं ग्रन्थं व्याकुर्वे बोधसिद्धये ॥१॥

चिकीर्षितग्रन्थस्य निष्प्रत्यूहपरिपूरणाय परिपन्थिकल्मषनिवृत्तये अभिमतदेवतातत्त्वानुसंधानलक्षणमङ्गलमाचरन्, श्रोतृप्रवृत्तिसिद्धये सप्रयोजनमभिधेयमाविष्कुर्वन् ग्रन्थारम्भं प्रतिजानीते—

ब्रह्मानन्दं प्रवक्ष्यामि ज्ञाते तस्मिन्नशेषतः ।
ऐहिकामुष्मिकानर्थव्रातं हित्वा सुखायते ॥१॥

अन्वय :— तस्मिन् अशेषतः ज्ञाते ब्रह्मानन्दं प्रवक्ष्यामि ऐहिकामुष्मिकानर्थव्रातं हित्वा सुखायते ।

'ब्रह्मानन्दमिति'[१] । 'निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः । ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः' ॥ इति सविशेषब्रह्मरूपाणां देवतानां तत्त्वस्य निर्विशेषब्रह्मरूपत्वाभिधानाद् ब्रह्मणश्च 'आनन्दो ब्रह्म' (तै० ३।६) इत्यादिश्रुतिभिरानन्दरूपत्वाभिधानाद् ब्रह्मानन्दमित्यानन्दरूपस्य ब्रह्मणो वाचकशब्दप्रयोगेण 'यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति' इति श्रुतिप्रोक्तन्यायेन ब्रह्मानुसंधानलक्षणं मङ्गलाचरणं सिद्धं, ब्रह्मणश्च सर्ववेदान्तप्रतिपाद्यत्वात् तत्प्रकरणरूपस्य अस्य ग्रन्थस्यापि तदेव विषय इति 'ब्रह्म' शब्दप्रयोगेण विषयश्चापि सूचितः 'ऐहिकेति' । उत्तरार्धेन अनिष्टनिवृत्तीष्टप्राप्तिरूपं प्रयोजनद्वयं मुखत एवोक्तम् । ब्रह्मानन्दं ब्रह्म चासावानन्दश्चेति ब्रह्मानन्द वाच्यवाचकयोरभेदोपचारात्तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽपि ब्रह्मानन्दः, तं प्रवक्ष्यामीति तस्मिन्प्रतिपाद्यप्रतिपादकरूपे ब्रह्मानन्दे ज्ञातेऽवगते सति ऐहिकामुष्मिकानर्थव्रातं ऐहिकानामिह लोके भवानां देहपुत्रादिव्यसनसंभवाभिमानप्रयुक्तानामाध्यात्मिकादितापानामामुष्मिकाणाममुष्मिन् परलोके भवानां च तेषामनर्थानां व्रातः समूहः तमशेषतः निःशेषं यथा भवति तथा हित्वा परित्यज्य सुखायते सुखरूपं ब्रह्मैव भवति ॥१॥

श्री भारतीतीर्थ और विद्यारण्यमुनि को नमस्कार करके, मैं ज्ञान की सिद्धि के हेतु ब्रह्मानन्द नामक ग्रन्थ का विवेचन करता हूँ ॥१॥

करने को इष्ट ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति और समाप्ति के विरोधी पापों की निवृत्ति के लिए अपने अभिमत जो देवता उसके तत्त्व का स्मरण रूप मङ्गलाचरण करते हुए और श्रोताओं की प्रवृत्ति के लिए प्रयोजन अभिधेय को प्रकट करते हुए आचार्य ग्रन्थारम्भ की प्रतिज्ञा करते हैं —

ब्रह्मानन्द को कहता हूँ क्योंकि उसका ज्ञान होने पर सम्पूर्ण इस लोक और परलोक के अनर्थों का जो समूह है उसको त्यागकर सुखरूप ब्रह्म ही हो जाता है, अर्थात् ब्रह्मज्ञान हो जाता है ॥१॥

विशेष १— ब्रह्मानन्द का प्रतिपादक शेष पाँच अध्याय का ग्रन्थ यहाँ से आरम्भ होता है । इसके अन्तर्गत यह योगानन्द प्रकरण है । इसमें चित्त को एकाग्रतारूप योग से आविर्भूत होने वाले आनन्द का प्रतिपादन किया गया है ।

ब्रह्मज्ञानस्य अनिष्टनिवृत्तीष्टप्राप्तिहेतुत्वे बहूनि श्रुतिस्मृतिवाक्यानि प्रमाणानि सन्तीति प्रदर्शयितुकामः तावत् 'ब्रह्मविदाप्नोति परं' (तै० २।१) 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यःस्तरति शोकमात्मविद् इति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु' (छा० ७।१।३) इति वाक्यद्वयमर्थतः पठति—

ब्रह्मवित् परमाप्नोति शोकं तरति चात्मवित् ।
रसो ब्रह्म रसं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति नान्यथा ॥२॥

अन्वय :—ब्रह्मवित् परं आप्नोति आत्मवित् शोकं तरति रसः ब्रह्म रसं लब्ध्वा आनन्दी भवति अन्यथा न ।

'ब्रह्मविदिति' । ब्रह्म वेत्तीति ब्रह्मवित्, परमुत्कृष्टमानन्दरूपं ब्रह्म प्राप्नोति आत्मविद्, 'भूम' शब्दवाच्यं देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यम्, आत्मानं वेत्तीत्यात्मवित् शोकं स्वसंसृष्टं पुरुषं शोचयतीति शोकस्त मोमूलः संसारस्तं तरति अतिक्रामति । ननूदाहृतमैत्तिरीयकश्रुतिवाक्ये ब्रह्मज्ञानस्य परप्राप्तिहेतुत्वमेवाव-भासते. नानन्दप्राप्तिहेतुतेत्याशङ्क्य आनन्दप्राप्तिहेतुत्वप्रतिपादनपरं 'रसो वै सः' (तै० २।६) 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' (तै० २।६ इति तदीयमेव वाक्यमर्थतः पठति—'रस इति' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (२।१) इति प्रकरणादौ ब्रह्मात्मशब्दाभ्याम-भिहितो य आत्माऽसौ रसः सारः आनन्दरूप इत्यर्थः । रसमानन्दरूपं ब्रह्म लब्ध्वा 'ब्रह्माहमस्मी'ति ज्ञानेन प्राप्य आनन्दी भवति अपरिच्छिन्ननिरतिशयसुखवान्भवति । उक्तमर्थं व्यतिरेकप्रदर्शनेन द्रढयति नान्य-थेति' । अन्यथा ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानं विहाय साधनान्तरानुष्ठानेन नानन्दी भवतीत्यर्थः ॥२॥

निर्विशेष ब्रह्म को साक्षात्कार करने में असमर्थ मन्दबुद्धि अधिकारियों के लिए सोपाधिक ब्रह्म का निरूपण किया जाता है । यह शास्त्र का कथन है, सविशेष (विष्णु आदि) ब्रह्मरूप देवताओं के तत्त्व को निर्विशेष (निरुपाधिक) ब्रह्मरूप कहा है 'आनन्द ब्रह्म है' इस श्रुति से आनन्दरूप कहने से यहाँ ब्रह्मानन्द रूप ब्रह्म के वाचक शब्द के प्रयोग से जो मन से ध्यान करता है उसको ही वाणी से कहता है । इस श्रुति में कहे गए न्याय से ब्रह्म का स्वरूप रूप सिद्ध हुआ और ब्रह्म सम्पूर्ण वेदान्तों से प्रतिपादन किया जाता है और वेदान्त के प्रकरण रूप इस ग्रन्थ का भी ब्रह्म ही विषय है इससे ब्रह्म शब्द के प्रयोग से विषय भी सूचित किया । श्लोक के उत्तरार्द्ध में (आधे श्लोक से) अनिष्ट की निवृत्ति और इष्ट प्राप्ति रूप ग्रन्थ के दो प्रयोजन भी मुख (ग्रन्थ) से सूचित किए । ब्रह्म जो आनन्द उसको कहूँगा, ब्रह्म ही आनन्द है । यहाँ वाच्य (अर्थ) प्रतिपाद्य वाचक शब्द प्रतिपादक इनके अभेद से ग्रन्थ भी ब्रह्मानन्द है । जिस ब्रह्मानन्द के अर्थात् प्रतिपाद्य-प्रतिपादक रूप के ज्ञान होने पर इस लोक और परलोक के जो अनर्थों का समूह है अर्थात् देह पुत्र आदि में अहं मम के अभिमान से जो आध्यात्मिक दुःख है और परलोक में होने वाले जो अनर्थ हैं उनका समूह अशेष रूप से (सर्वथा) जो है उनका त्यागकर सुखरूप ब्रह्म ही हो जाता है अर्थात् ब्रह्मज्ञान हो जाता है ॥१॥

ब्रह्मज्ञान अनिष्ट की निवृत्ति एवं इष्ट की प्राप्ति का हेतु है इसमें बहुत से श्रुति स्मृतियों के वचन प्रमाण हैं तीन प्रमाणों को कहते हैं यह दिखाने का अभिलाषी ग्रन्थकार प्रथम "ब्रह्म का ज्ञाता" ब्रह्म का ज्ञाता परब्रह्म को प्राप्त होता है ऐसे ही मैंने आप जैसों से सुना है कि आत्मवेत्ता शोक को

एवमन्वयमुखेनेष्टप्राप्त्यनिष्टनिवृत्तिप्रतिपादनपराणि वाक्यानि प्रदर्श्य, अन्वयव्यतिरेकाभ्यामनर्थ निवृत्तिप्रदर्शनपरम् 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथ सोऽभयं गतो भवति' (तै० २।७) 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवति' (तै० २।७।१) इति वाक्यद्वयमर्थतोऽनुक्रामति—

प्रतिष्ठां विन्दते एवस्मिन् यदा स्यादथ सोऽभयः ।
कुरुतेऽस्मिन्नन्तरं चेदथ तस्य भयं भवेत् ।।३।।

अन्वय :—यदा स्वस्मिन् प्रतिष्ठां विन्दते अस्य स अभयः स्यात् अस्मि अन्तरं कुरुते चेत् अथ तस्य भयं भवेत् ।

'प्रतिष्ठामिति' । अस्यायमर्थः—यदा यस्मिन्काले । हीति विद्वत्प्रसिद्धिप्रदर्शनपरो निपातः, एवेत्ययमेवानर्थनिवृत्त्युपायो नान्य इति नियमनार्थः । एष मुमुक्षुः एतस्मिन्विद्वदनुभवगम्ये अदृश्ये इन्द्रियागोचरे अनात्म्ये अनात्मीये स्वरूपतया स्वकीयत्वरहिते अनिरुक्ते निरुक्तं निर्वचनं शब्देनाभिधानं यत्र नास्ति तदनिरुक्तं तस्मिन्ननिलयने निलीयतेऽस्मिन्निति निलयनमाधारः, स न विद्यते यस्य तस्मित् स्वमहिम्नि स्थित इत्यर्थः । अभयमद्वितीयं 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' (बृ० १।४।२) इति श्रुतेर्भयशब्देनात्र भयहेतुर्भेदो लक्ष्यते । न विद्यते भयं भेदो यथा भवति तथा प्रतिष्ठां प्रकर्षेण संशयविपर्ययराहित्येन स्थितिः ब्रह्माहमस्मीत्यवस्थानं प्रतिष्ठा तां विन्दते गुरुपसत्त्यादिना श्रवणादिकं कृत्वा लभते । अथ तदानीमेव स एवं विद्वानभयं भयरहितं मोक्षरूपमद्वितीयं ब्रह्म गतः प्राप्तो भवति, 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० २।२।९) इति श्रुतेः । यदा यस्मिन्नेव काले एष पूर्वोक्तः एतस्मिन्नदृश्यत्वादिगुणके प्रत्यग् भिन्ने ब्रह्माणि । उदिति निपातः 'अपि शब्दार्थः । अरमुदल्पमपि अन्तरं भेदं उपास्योपासकादिलक्षणं कुरुते पश्यति धातूनामनेकार्थत्वादथ तदानीमेव तस्य भेददर्शिनो भयं संसार प्रयुक्तं दुःखं भवति ।।३।।

पार कर लेता है और हे भगवन् मैं शोक करता हूँ ऐसे मुझको हे भगवन् शोक से पार कीजिए इन दो वचनों के अर्थ को श्लोक से पढ़ते हैं—

ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म को प्राप्त होता है और आत्मज्ञानी शोक को तरता है और ब्रह्म रस (सार) है । रस को प्राप्त हो करके आनन्द होता है अन्यथा नहीं ।

ब्रह्म वेत्ता (ज्ञाता) परम उत्कृष्ट रूप आनन्द ब्रह्म को प्राप्त होता है और आत्मवित् जो है अर्थात् भूमा शब्द के वाच्य देशकाल, वस्तु के परिच्छेद से रहित आत्मा को जो जानता है वह शोक अज्ञान मूलक संसार समुद्र को तर जाता है । अर्थात् अपने संसर्गी पुरुष को शोक जो दे उस शोक रूप संसार को तरता (लांघता) है ।

शंका—पूर्वोक्त तैत्तिरीय श्रुति के वाक्य में ब्रह्मज्ञान को पर प्राप्ति की हेतुता प्रतीत होती है, आनन्द प्राप्ति की हेतुता नहीं यह शंका करके आनन्द प्राप्ति की हेतुता के प्रतिपादन पूर्वक वह ब्रह्म रस है (इस संसार का सार रूप आनन्द है) यह मनुष्य रस को ही पाकर आनन्दित होता है । इस तैत्तिरीय वाक्य को अर्थ से पढ़ते हैं । सत्यं, ज्ञानं, अनन्तं ब्रह्म है । उस इस आत्मा से आकाश हुआ इस श्रुति में प्रकरण के आदि में ब्रह्म और आत्मा शब्दों से कहा जो आत्मा वह रस (सार) है अर्थात् आनन्दरूप है आनन्दरूपरस को प्राप्त होकर अर्थात् ब्रह्म मैं हूँ । ऐसा आनन्द वाला होता है । अपरिच्छिन्न सबसे उत्तम सुख को प्राप्त होता है । उक्त अर्थ की व्यतिरेक से दृढ़ करते हैं । मनुष्य ब्रह्मात्मैकत्व जाने बिना अन्य साधनों को करने से आनन्द का भागी नहीं होता है ।

भेददर्शिनो भयं भवतीत्येतद्दृढीकर्तुं ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानरहितानां वाय्वादीनां भयप्रदर्शनपरं 'भीषाऽस्माद्वातः[1] पवते' (तै० २।८) इत्यादिमन्त्रमर्थतः पठति—

वायुः सूर्यो वह्निरिन्द्रो मृत्युर्जन्मान्तरेऽन्तरम् ।
कृत्वा धर्मं विजानन्तोऽप्यस्माद्भीत्या चरन्ति हि ॥४॥

अन्वय :—वायुः सूर्यः वह्निः इन्द्रः मृत्युः जन्मान्तरे अन्तरम् कृत्वा धर्मं विजानन्तः अपि अस्मात् भीत्या हि चरन्ति ।

'वायुरिति' । वाय्वादयो जगन्नियामकत्वेन प्रसिद्धाः पञ्चापि देवताः अतीते जन्मनि धर्ममिष्टापूर्तादिलक्षणं विजानन्तोऽपि ज्ञानपूर्वकमनुष्ठितवन्तोऽपि अन्तरं प्रत्यग्ब्रह्मणो भेदं कृत्वाऽस्माद्ब्रह्मणो भीत्याऽस्मिन्वाय्वादिजन्मनि चरन्ति स्वव्यापारेषु सदा प्रवर्तन्ते । 'हि' शब्देन 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' (कठ० २.६।३) इति 'कठश्रुतौ' यमेनोक्तां प्रसिद्धिं दर्शयति ॥४॥

इस प्रकार अन्वय के मुख (रीति) से इष्ट प्राप्ति अनिष्ट निवृत्ति के बोधक वाक्यों को दिखाकर अन्वय व्यतिरेक से अनर्थ निवृत्ति के बोधक इन दो वाक्यों के अर्थ को पढ़ते हैं जिस समय में यह साधक इस अदृश्य अशरीर अनिर्वाच्य और निराधार ब्रह्म में अभय स्थिति प्राप्त करता है उस समय वह अभय को प्राप्त होता है और जब यह इससे थोड़ा सा भी भेद भय करता है तो उसे भय प्राप्त होता है—

जब यह मुमुक्षु अपने आत्मा में स्थिति को प्राप्त होता है। तब तो यह अभय होता है और जब इस ब्रह्म में किञ्चित् भी भेद करता है तो उस मुमुक्षु को भय होता है ॥३॥

इन श्रुतियों का अर्थ यह है, जिस काल में यह मुमुक्षु विद्वानों के अनुभव से जानने योग्य अदृश्य इन्द्रियों का अविषय और अनात्मीय स्वरूप से जो अपना नहीं है लिंग शरीर रहित, अनिरुक्त = और शब्द से कहने के अयोग्य और अनिलय, अनाधार (अपनी महिमा में स्थित) ब्रह्म को मोक्ष रूप अद्वितीय को जानता है। श्रुति में लिखा है, कि द्वितीय से भय होता है। भय शब्द से भय का हेतु भेद लिखा है जिसमें भय भेद न हो ऐसी प्रतिष्ठा अर्थात् संशय विपर्यय रहित ब्रह्म मैं हूँ' इस स्थिति को गुरु के समीप वास आदि से श्रवण आदि के द्वारा प्राप्त करता है। उसी समय यह विद्वान् भयरहित मोक्षरूप अद्वितीय ब्रह्म को प्राप्त होता है इस श्रुति में लिखा है, जो ब्रह्म जानता है वह ब्रह्म हो जाता है। जिस काल में यह पूर्वोक्त मुमुक्षु इस अदृश्य प्रत्यग् से अभिन्न ब्रह्म में अल्प भी अन्तर (भेद) को करता है या देखने लगता है अपने को उपासक और ब्रह्म को उपास्य समझता है उसी समय में उसको भेददर्शी को भय अर्थात् संसार सम्बन्धी दुःख होने लगता है ॥३॥

भेद के द्रष्टाओं का भय होता है इसको दृढ़ करने के लिए ब्रह्म आत्मा की एकता के ज्ञान से जो रहित हैं उन वायु आदिकों को भय के दिखाने वाले इत्यादि मन्त्रों को अर्थ से पढ़ते हैं—

वायु, सूर्य, अग्नि, इन्द्र, मृत्यु ये सब पूर्व जन्म में भेद को करके और धर्म को अच्छी प्रकार जानते हुए भी इस ब्रह्म की भय से अपने-अपने कार्य को करते हुए विचरते हैं ॥४॥

विशेष—कम्पनात् ब्रह्म सू० १।३।२७

ननु 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७।१।३) इत्यादिषूदाहृतवाक्येषु ब्रह्मानन्दज्ञानस्यानर्थनिवृत्तिहेतुत्वं स्पष्टं नावभासत इत्याशङ्क्य, तथाप्रतिपादनपरं वाक्यमुदाहरति—

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन ।
एतमेव तपेन्नैषा चिन्ता कर्माग्निसंभृता ।।५।।

अन्वय :—आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् कुतश्चन न बिभेति नैषा कर्माग्निसंभृता चिन्ता एतं एव न तपेत् ।

'आनन्दमिति' । 'राहोः शिर' इत्यादिवद् भेदव्यपदेश औपचारिकः । ब्रह्मणः स्वरूपभूतमानन्दं विद्वानपरोक्षतया जानन् पुरुषः कुतश्चन कस्मादपि ऐहिकभयहेतोर्व्याघ्रादेः पारलौकिकभयहेतोः पापादेर्वा न बिभेति भयं न प्राप्नोति । ननु तत्त्वविदः पापादेर्भयं नास्तीत्येतत्कुतोऽवगम्यत इत्याशङ्क्य, तत्प्रतिपादकम् 'एतं ह वाव न तपति किमहं साधुनाकरवं किमहं पापमकरवम्' इति वाक्यमर्थतः पठति—'एतमिति' । कर्माग्निसंभृता पुण्यपापरूपकं कर्मैवाग्निः, अकरणकरणाभ्यामग्निवत्संतापहेतुत्वात् ते न संभृता संपादिता एवा पुण्यं नाऽकरवं कस्मात् पापं तु कृतवान् कुतः' ? इत्येवरूपा चिन्ता एतमेव तत्त्वविदमेव न तपेत् न संतापयेत्, नान्यमविद्वांसम् । स तु तया चिन्तया सदा संतप्यत इत्यर्थः ।।

जगत् के नियामक रूप से प्रसिद्ध वायु आदि पाँचों देवता भी अतीत (बीते) जन्म में इष्ट पूर्त आदि धर्मों को करते हुए भी (ज्ञान पूर्वक अनुष्ठान) करते भी अन्तर को प्रत्यगात्मा और ब्रह्म के भेद करने मात्र से उस ब्रह्म के भय से वायु आदि का यह जन्म धारण करके अपने-अपने व्यापारों में सदा लगे रहते हैं, यहाँ हि शब्द के पढ़ने से इस कठश्रुति में जो यम ने प्रसिद्धि कही है उसको दिखाया है। इस ब्रह्म के भय से अग्नि तपती है, सूर्य तपता है और भय से इन्द्र और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है ।।४।।

शंका - आत्मज्ञानी शोक को तरता है इत्यादि पूर्वोक्त वाक्य में यह स्पष्ट नहीं भासता है कि ब्रह्मानन्द का ज्ञान अनर्थ निवृत्ति का हेतु प्रतीत हो यह शंका करके उस वाक्य को कहते हैं—

आनन्दरूप ब्रह्म को जानता हुआ किसी से भय नहीं मानता है और कर्म रूप अग्नि से पैदा हुई चिन्ता भी इसी ज्ञानी को तपायमान नहीं करती ।।५।।

यहाँ राहु का शिर वाक्य से राहु में शिर के भेद की तरह कथन मात्र है अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप भूत अपरोक्ष रूप ब्रह्म आनन्द को जानता हुआ पुरुष किसी भी लोक के व्याघ्रादि से परलोक के भय हेतु पाप आदि से भयभीत नहीं होता ।

प्रश्न तत्त्वज्ञानी को पाप आदि से भय नहीं यह किससे जानते हो ।

उत्तर—इसको श्रुति कहती है इस ज्ञानी को यह ताप नहीं होता कि मैंने शुभ कर्म क्यों नहीं किया, पाप कर्म क्यों कर डाला । इस प्रकार की चिन्ता सन्तप्त नहीं करती इस वाक्य के अर्थ को पढ़ते हैं । भावार्थ कहते हैं कर्मरूपी हृदय दाहक अग्नि से संभृत (की) जो पुण्य पाप रूप-कर्म जो न करने और करने से अग्नि के समान संताप के हेतु अग्नि जिसकी जो यह चिन्ता मैंने पुण्य नहीं किया पाप क्यों किया यह चिन्ता, इस तत्त्ववेत्ता (ज्ञानी) को नहीं तपाती अज्ञानियों को तो मैंने पुण्य नहीं किया पाप क्यों कर लिया आदि चिन्ताओं से सदा ही झुलसते रहते हैं ।।५।।

पुण्यपापयोरतापकत्वे हेतुप्रदर्शनपरं 'स य एवं विद्वानेते आत्मानं स्पृणुते', 'उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते' (तै० २।९।१) इति वाक्यद्वयमर्थतः पठति—

एवं विद्वान्कर्मणी द्वे हित्वाऽऽत्मानं स्मरेत्सदा ।
कृते च कर्मणी स्वात्मरूपेणैवैष पश्यति ॥६॥

अन्वय :—एवं विद्वान् द्वे कर्मणी हित्वा सदा आत्मानं स्मरेत् कृते च कर्मणी स्वात्मरूपेणैव एष पश्यति ।

'एवमिति' । स यः कश्चित्पुमानेवमुक्तेन प्रकारेण 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः' (तै० २।८) इत्यनेन प्रकारेण विद्वाञ्जानन् प्रवर्तते, स एते पुण्यपापे हित्वेत्यध्याहारः । आत्मानं ब्रह्माभिन्नं प्रत्यञ्चं स्पृणुते प्रीणयति, सदा स्मरेदित्यर्थः । यतः पुण्यपापयोर्मिथ्यात्वानुसंधानेन हानं कृतं अतस्तद्विषया चिन्तैव नास्ति, कुतस्तन्निमित्तकस्ताप इत्यभिप्रायः । किं च एष विद्वानेते पूर्वोक्ते उभे पुण्यपापरूपे कर्मणी देहेन्द्रियादिप्रवृत्त्या जनिते स्वात्मानुरूपेणैव 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६) इत्यादि वाक्योक्तप्रकारेण पश्यति । जानातीत्यर्थः । अतः स्वात्माभिन्नत्वादप्यतापकत्वमिति भावः ॥६॥

अब पुण्य पाप को दुःख न देने में हेतु दिखाने वाले दो वाक्यों के अर्थ को पढ़ते हैं । इस प्रकार जानने वाला जो विद्वान् अपने आत्मा को प्रसन्न अथवा सबल करता है—

इस पूर्वोक्त प्रकार से जो विद्वान् है वह पुण्य पाप रूप कर्मों को त्याग कर सदैव आत्मा का स्मरण करता है और उन पुण्य पाप रूप किये हुए कर्मों को भी आत्मा रूप से ही देखता है ॥६॥

जो कोई पुरुष वही परमात्मा जो व्यष्टि संघात में है वही सूर्य मण्डल में है, वह ब्रह्म एक है पूर्वोक्त प्रकार से जानता है, वह पुण्य पाप दोनों को छोड़कर, ब्रह्माभिन्न प्रत्यगात्मा को अनुभव करता है, अर्थात् आत्मा को प्रसन्न करता है, आत्मा का स्मरण करता है । क्योंकि इसने मिथ्या समझकर पुण्य पाप को त्याग दिया इससे कर्म की चिन्ता ही इसको नहीं होती उसका ताप तो कहाँ से होगा और यही विद्वान् पूर्वोक्त दोनों प्रकार के देहेन्द्रिय की प्रवृत्ति से होने वाले किए हुए उन्हीं पुण्य पापों को अपने आत्मरूप से ही देखता है । ये सब जो कुछ भी है यह सब आत्मा है इत्यादि उक्त वाक्य के अनुसार आत्मरूप से ही देखता है । ये कर्म स्व आत्मा से भिन्न न होने के कारण भी सुख-दुःख संताप नहीं दे सकते ।

''ननु 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि'[1] इत्यादिशास्त्रसद्भावादनादौ संसारे बहुजन्मोपार्जितेषु पुण्यापुण्यलक्षणेषु कर्मस्वसंख्यातेषु अप्रसिद्धत्वेनात्मतयानुसंधानायोग्येषु सत्सु कथं तद्विषया चिन्ता न भवेदित्याशङ्क्य, सनिदानानां तेषां तत्त्वज्ञानेन विनाशित्वान्न चिन्ताजनकत्वमित्यभिप्रायेण हृदयग्रन्थादिनिवृत्तिपरं 'मुण्डका' दिश्रुतिषु स्थितं वाक्यं पठति—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥७॥

अन्वय : - हृदयग्रन्थिः भिद्यते सर्वसंशयाः छिद्यन्ते तस्मिन् परावरे दृष्टे अस्य कर्माणि च क्षीयन्ते ।

'भिद्यत इति' । परावरे परमपि हिरण्यगर्भादिकं पदमवरं निकृष्टं यस्मात्तस्मात् परात्मनि दृष्टे साक्षात्कृते अस्य साक्षात्कारवतो हृदयस्य बुद्धेश्चिदात्मनश्च ग्रन्थिवद् दृढसंश्लेषरूपत्वाद् ग्रन्थिरन्योन्याध्यासो भिद्यते विदीर्यते, विनश्यतीत्यर्थः । सर्वसंशयाः 'आत्मा देहादिव्यतिरिक्तो न वा ? व्यतिरिक्तोऽपि कर्तृत्वादिधर्मयोगी न वा ? अकर्तृत्वेऽपि तस्य ब्रह्मणो भेदोऽस्ति न वा ? अभेदेऽपि तज्ज्ञानं कर्मादिसंहितं मुक्तिसाधनं केवलं वा ? इत्यादयः छिद्यन्ते द्वैधीक्रियन्ते । तत्त्वतः साक्षात्कृतस्य वस्तुनः संशयविपर्ययविषयत्वादर्शनादिति भावः । कर्माणि संचितानि पुण्यापुण्यलक्षणानि क्षीयन्ते स्वनिदानाज्ञानविनाशेन विनश्यन्तीति ॥७॥

प्रश्न - जिन कर्मों का उपभोग नहीं किया गया है, ऐसे कर्मों का सौ कल्पकोटि से क्षय नहीं होता है । इत्यादि शास्त्र से अनादि संसार में बहुत जन्मों में किए जो पुण्य-पाप कर्म हैं वे असंख्य हैं और अप्रसिद्ध आत्मा रूप जानने के अयोग्य जब हैं तो उनकी चिन्ता क्यों न होगी समाधान—सनिदान कारण अविद्या बुद्धि में स्थित अविद्या वासनामय काम से युक्त वे कर्म ज्ञान से नष्ट हो चुके इससे चिन्ताजनक नहीं इस अभिप्राय से हृदय ग्रन्थियों की निवृत्ति के बोधक मुण्डक आदि श्रुतियों के वाक्यों को पढ़ते हैं —

उस परावर कार्य कारण रूप ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर इस जीव की हृदयग्रन्थि टूट जाती है और सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और उसके कर्म क्षीण हो जाते हैं ॥

हिरण्यगर्भ आदिकों का पर (श्रेष्ठ) पद भी उससे अपर निकृष्ट है उस परमात्मा को साक्षात्कार करने पर उसके हृदय (बुद्धि) की और चिदात्मा ग्रन्थी दृढ़ संश्लेष (सम्बन्ध) रूप अन्योन्याध्यास है वह दूर होता है । आत्मा देह से भिन्न है वा नहीं, भिन्न है तो कर्ता है या नहीं ? अकर्ता भी है तो वह ब्रह्म से भिन्न है या नहीं ? और अभिन्न है तो उसका ज्ञान कर्म आदि सहित मुक्ति का साधन है वा केवल ? ये सब सन्देह दूर हो जाते हैं । क्योंकि वस्तु ब्रह्म के तत्त्वसाक्षात्कार से उसके विषय में संशय विपर्यय नहीं रहते और कर्म से संचित आगामी पुण्य-पाप लक्षणानि अपने उपादान कारण अज्ञान के नष्ट हो जाने से नष्ट हो जाते हैं ॥७॥

विशेष —1 इदं भगवदाचार्यैः ब्रह्मसूत्रेषु स्पष्टीकृतम् । अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः (४।१।१५) भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते (४।१।१९) ।

ननु 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतंसमाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।' विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' (ई० २।११) इत्यादिश्रुतेः 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः । यथान्नं मधुसंयुक्तं मधु चान्नेन संयुतम् । एवं तपश्च विद्या च संयुक्तं भेषजं महत्' इत्यादिस्मृतेश्च केवलस्य वा ज्ञानसमुच्चितस्य वा कर्मणो मुक्तिहेतुत्वं स्यादित्याशङ्क्य उदाहृतवाक्यस्थलेऽपि तपः' शब्दस्य पापनिवृत्तिपरत्वादाङ् शब्दस्य च पापेऽनिवृत्तिपरत्वात् 'संसिद्धि' शब्देन च ज्ञानसाधनचित्तशुद्ध्यभिधानात् 'विद्या' शब्देन चोपासनाया विवक्षितत्वान्न कर्मणां मुक्तिसाधनत्व-मित्यभिप्रायेण साधनान्तरनिषेधपरं 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय, (श्वे० ६।१५) इति 'श्वेताश्वर' वाक्यमर्थतः पठति—

तमेव विद्वानत्येति मृत्युं पन्था न चेतरः ।

ज्ञात्वा देवं पाशहानिः क्षीणैः क्लेशैर्न जन्मभाक् ॥८॥

अन्वय :—तमेव विद्वान् मृत्युं अत्येति इतरः पन्थाः च न देवं ज्ञात्वा पाशहानिः क्षीणैः क्लेशैः न जन्मभाक् ।

'तमेवेति' । तं पूर्वोक्तं परमात्मानं विद्वानेव मृत्युं संसारमत्येति अतिक्रामति' इतरः समुच्चयरूपः केवलः कर्मरूपो वा पन्था मार्गो मोक्षोपायो नच नैव विद्यते । ननूदाहृतासु श्रुतिष्वन्यव्यतिरेकाभ्यामैहिका-निष्टनिवृत्तिरेव प्राधान्येनावभासते नामुष्मिकीत्याशङ्क्य, आमुष्मिकस्यानिष्टस्य भाविजन्मपूर्वकत्वात्तस्य सनिदानस्याभावप्रतिपादकं 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः' (श्वे० १।११) इति 'श्वेताश्वतर' वाक्यमर्थतः पठति— ज्ञात्वेति' । देवं स्वप्रकाशं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म ज्ञात्वाऽपरोक्षतयाऽनुभूय स्थितस्य कामक्रोधादीनां सर्वेषां पाशानां हानिर्भवति । तैः 'पाश' शब्दाभिधेयैः रागादिभिः क्लेशः क्षीणैर्नष्टैर्भाविजन्महेतुकर्मारम्भायोगाच्च तत्र प्राप्नोतीत्यर्थः ॥८॥

प्रश्न— इस लोक में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे, इस प्रकार मनुष्यत्व का अभिमान रखने वाले तेरे लिए इसके सिवा और कोई नहीं है जिससे तुझे (अशुभ) कर्मों का लेप न हो, और जो विद्या और अविद्या इन दोनों को ही एक साथ जानता है वह अविद्या (कर्म) से मृत्यु को पार करके विद्या (देवता ज्ञान उपासना) से अमृतत्व (देवता भाव) प्राप्त कर लेता है, इन श्रुतियों से 'कर्मणैव

विशेष —१ भावि जन्म के हेतु कर्मों के यहाँ रहस्य यह है (१) सुख-दुःख का कारण यह स्थूल शरीर है और (२) सूक्ष्म शरीर का कारण धर्म अधर्म रूप अदृष्ट हैं और (३) अदृष्ट का कारण शुभ अशुभ क्रिया रूप कर्म है और (४) कर्मों का कारण राग और द्वेष है और (५) राग द्वेष का कारण भेदज्ञान है और (६) उन ज्ञानों का कारण भेद ज्ञान है (७) भेद ज्ञान का कारण प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म का अज्ञान यह नैष्कर्म्य सिद्धि में रामगीता में यह भवचक्र लिखा है ।

प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म के ज्ञान से भेदज्ञान, अनुकूलता का ज्ञान और प्रतिकूलता का ज्ञान की निवृत्ति द्वारा राग द्वेष की निवृत्ति के होने से उदासीन क्रिया के होने से भावी जन्म के हेतु राग द्वेष पूर्वक कर्मों के असम्भव से विद्वान् को भावी जन्म होता नहीं है ।

ननु शोकतरणादिफलं श्रूयत एव, नानुभूयते, ज्ञानिनामपीष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थं प्रवृत्ति-दर्शनादित्याशङ्क्य, दृढापरोक्षज्ञानिनां तदभावप्रतिपादनपरम् 'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्ष-शोकौ जहाति' (कठ० १।२।१२) ।

इति 'कठश्रुति' वाक्यमर्थतः पठति—

देवं मत्वा हर्षशोकौ जहात्यत्रैव धैर्यवान् ।
नैनं कृताकृते पुण्यपापे तापयतः क्वचित् ॥९॥

अन्वय :—धैर्यवान् देवं मत्वा अत्रैव हर्षशोकौ जहाति एनं कृताकृते पुण्यपापे क्वचित् न तापयतः ।

'देवमिति' । धैर्यवान् ब्रह्मचर्यादिसाधनसंपन्नो देवं चिदानन्दादिलक्षणं मत्वाऽवगम्य अत्रै-वास्मिन्नेव जन्मनि हर्षशोकौ जहाति । 'एतमेव तपेन्नेषा चिन्ता कर्माग्निसंभृता (प्र० ११।५ इत्युक्तार्थे विशेषप्रदर्शनपरं 'नैनं कृताकृते तपतः' (बृ० ४।४।२२) इति 'याज्ञवल्क्यब्राह्मण'वाक्यमर्थतः पठति — 'नैनमिति' । पूर्वमकृतं पुण्यं कृतं च पापं तत्त्वविदस्तापहेतुर्न भवतीत्युक्तम् । इह तु कृतमकृतं वा पुण्यं पापं वा तथाविधं तापकं न भवतीत्युच्यत इति विशेषः । तथा हि तापो नाम चित्तविकारविशेषः । पुण्यं कृतं सत् हर्षलक्षणं विकारमुत्पादयति, अकृतं विषादं, पापं पुनस्तद्वैपरीत्येनाकृतं हर्षमुत्पादयति कृतं विषादं, तत्त्वविदस्तु उभे अप्युभयविकारहेतू न कदाचिद्भवतः अविक्रियब्रह्मरूपत्वज्ञानादित्यभिप्रायः ॥९॥

हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' । कर्म से ही जनक आदि संसिद्धि को प्राप्त हुए हैं और जैसे मधु से युक्त अन्न हो और अन्न से युक्त मधु औषध रूप है । इसी प्रकार तप और विद्या दोनों महान् औषध हैं । इस स्मृति से केवल वा ज्ञान से युक्त कर्म मुक्ति का हेतु होगा यह शंका करके पूर्वोक्त वाक्य में "तप" शब्द पाप निवृत्ति का वाचक इससे है कि आङ् शब्द (आस्थिताः) पद में पढ़ा है । यह पाप निवृत्ति वाचक है और संसिद्धि शब्द से ज्ञान का साधन चित्त की शुद्धि लेते हैं । विद्या शब्द से उपासना लेते हैं इससे कर्म मुक्तिके साधन नहीं इस अभिप्रायसे अन्य साधनका निषेध बोधक इस श्वेताश्वतर वाक्यके अर्थ को पढ़ते हैं—

उसको जानकर विद्वान् मृत्यु को लाँघता है अन्य कोई मार्ग नहीं है और ब्रह्म को जानकर पाश की हानि होती है और क्लेशों के क्षीण होने से जन्म को प्राप्त नहीं होता है ॥८॥

उस ब्रह्म को ही जानने वाला ही मनुष्य मृत्युसंसार को पारकर जाता है । अन्य कोई मिला-जुला ज्ञान एवं कर्म रूप अथवा केवल कर्मरूप कोई माग मुक्ति का नहीं है ।

प्रश्न—पूर्वोक्त श्रुति वाक्यों में अन्वय व्यतिरेकों से इस लोक की अनर्थ की निवृत्ति ही प्रधानता से भासती है परलोक के अनर्थ की निवृत्ति नहीं भासती यह शंका करके, परलोक का अनिष्ट भावी जन्म हो तब हो सकता है, भावी जन्म तो उसके कारण अविद्या सहित भावी जन्म का निषेध हैं । देवं स्वप्रकाश 'अयं अहं अस्मि' प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्म को प्रत्यक्ष करने वाले पुरुष के काम क्रोध आदि सब पाश (जाल) कट जाते हैं । रागादि[२] क्लेश तो नष्ट हो जाते हैं और भावि जन्म के हेतु कर्मों के अभी आरम्भ नहीं हुआ अभाव से इसलिए भावी जन्म होता नहीं ॥८॥

२— क्लेशाश्चोक्ता पतञ्जलिना अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः, इत्यादिना तत्र अस्मिता सूक्ष्मअहंकारः, यत्तु महत्तत्त्व इति व्यवह्रियते ।

नन्वियन्त्येव वाक्यानि प्रमाणानि ? नेत्याह—

इत्यादिश्रुतयो बह्वचः पुराणैः स्मृतिभिः सह ।
ब्रह्मज्ञानेऽनर्थहानिमानन्दं चाप्यघोषयन् ॥१०॥

अन्वय :—इत्यादि बह्वयः श्रुतयः पुराणैः स्मृतिभिः सह ब्रह्मज्ञाने अनर्थहानि आनन्दं चापि अघोषयन् ।

'इत्यादिश्रुतय इति' । 'आदि' शब्देन 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' (कठ० २।५), 'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति' (श्वे० ३।१०) 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्' (बृ० १।४।१०) 'निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते, (कठ० १।३।१५) इत्याद्याः श्रुतयो गृह्यन्ते । 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति । क्षेत्रज्ञस्यात्मविज्ञानाद्विशुद्धिः परमा मता' (गी० ६।२९ इत्यादिपुराणस्मृतिवचनैः सह प्रमाणानीत्यर्थः । उदाहृतानां श्रुतिस्मृतिपुराणवाक्यानां सर्वेषां तात्पर्यमाह—'ब्रह्मज्ञान इति' ॥१०॥

(शंका) तत्त्व ज्ञान का शोक को तरना आदि जो फल है वह सुना जाता है अनुभव में तो नहीं आता, ज्ञानियों की इष्ट प्राप्ति अनिष्ट की निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति को देखते हैं यह शंका करके दृढ़ जिसको अपरोक्ष ज्ञान है उसकी अप्रवृत्ति इष्ट अनिष्ट में बाधक इस कठश्रुति के अर्थ को पढ़ते हैं । अध्यात्मयोग=स्थूल, सूक्ष्म, कारण, देह, लय क्रमेण प्रत्यगात्मनि चित्तस्य समाधानं तेन अधिगमो महा-वाक्यजावृत्तितया विदित्वा आत्मनि देहे अधिगत इति अध्यात्म प्रत्यगात्मा ।

धीरपुरुष इसी जन्म में देव को जानकर हर्ष शोक को त्यागता है और न किये पुण्य पाप इसको कभी भी तपायमान नहीं करते ॥९॥

इस कठ श्रुति के अर्थ को पढ़ते हैं—धैर्यवान् ब्रह्मचर्यादिसाधनचतुष्टय सम्पन्नों से युक्त पुरुष सत् चिदानन्द देव को जानकर इसी जन्म में हर्ष और शोक दोनों को छोड़ देता है और कर्माग्नि से पैदा हुई चिन्ता उसको दुःख नहीं देती इस पूर्वोक्त अर्थ में विशेषता के बोधक इस याज्ञवल्क्य के वा वाक्य का जो अर्थ पढ़ते हैं । उसे पूर्व जन्म के किए हुए न किए हुए नित्यकर्म (फल प्रदान और प्रत्यवाय के) द्वारा ताप नहीं देता । पूर्व जन्म में न किया पुण्य और किया हुआ पाप तत्त्वज्ञानी को दुःख नहीं देते और इस जन्म में किए और न किए भी पुण्य पाप ताप नहीं देते यहाँ ताप शब्द से चित्त विकार विशेष लेते हैं और किया पुण्य सद्धर्मरूप विकार को पैदा करता है और न किया विषाद को, और पाप पुण्य से विपरीत फल देता है और न किया पाप, हर्ष को पैदा करता है और किया पाप विषाद को और तत्त्वज्ञानी को तो दोनों भी विकार नहीं होते क्योंकि उस ज्ञानी को तो निर्विकार ब्रह्मरूपता का ज्ञान के कारण पुण्य-पाप किसी भी प्रकार विकार के हेतु नहीं होते ॥९॥

प्रश्न – उतने ही वाक्य प्रमाण हैं—

उत्तर – नहीं अन्य भी हैं उनका वर्णन करते हैं –

पुराण और स्मृतियों सहित इत्यादि बहुत सी श्रुतिस्मृति, ब्रह्मज्ञान होने पर अनर्थ की हानि और आनन्द की प्राप्ति की घोषणा (ढिंढोरा) करती हैं ॥१०॥

ननु ब्रह्मानन्द इति 'आनन्द' पदस्य 'ब्रह्म' पदेन विशेषणादानन्दान्तरमस्तीत्यवगम्यते । स कतिविधः कीदृश्चानन्द इत्याकाङ्क्षायां तद्भेददर्शनपूर्वकं ब्रह्मानन्दविवेचनं प्रतिजानीते—

आनन्दस्त्रिविधो ब्रह्मानन्दो विद्यासुखं तथा ।
विषयानन्द इत्यादौ ब्रह्मानन्दो विविच्यते ।।११।।

अन्वय :—आनन्दः त्रिविधः ब्रह्मानन्दः विद्यासुखं तथा विषयानन्दः इत्यादौ ब्रह्मानन्दः विविच्यते ।

'आनन्द इति' ! ब्रह्मानन्दो विद्यानन्दो विषयानन्द इत्यनेन प्रकारेणानन्दस्य त्रैविध्यमवगन्तव्यम्, तत्रेतरयोरानन्दयोः ब्रह्मानन्दमूलत्वादादावध्यायत्रयेण ब्रह्मानन्दो विभज्य प्रदर्श्यत इत्यर्थः ।।११।।

यहाँ आदि शब्द से यदि इस मनुष्य शरीर में ब्रह्म को जान लिया तो ठीक है और यहाँ न जाना तो महान् नाश है । जो पुरुष इस ब्रह्म को जानते हैं वे अमृत होते हैं, उससे अन्य, दुःख को ही भोगते हैं । उस ब्रह्म को देवताओं में से जिस-जिस ने जाना वही-वही ब्रह्म हुआ । उस आत्मा को जान मृत्यु (अविद्या काम कर्म रूप) के मुख से छूट जाता है इत्यादि श्रुतियाँ हैं सम्पूर्ण भूतों में स्थित आत्मा को और आत्मा में सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में स्थित देखता हुआ, आत्मयाजी (ज्ञानी) स्वाराज्य, मोक्ष को प्राप्त होता है । इत्यादि पुराण स्मृति के वचनों के सहित पूर्वोक्त अर्थ में प्रमाण है सबका तात्पर्य कहते हैं ब्रह्मज्ञान होने पर अनर्थ की हानि और आनन्द की प्राप्ति होती है ।।१०।।

प्रश्न—ब्रह्मानन्द इस आनन्द पद का ब्रह्मपद विशेषण है, इससे अन्य भी कोई आनन्द है यह प्रतीत होता है और वह कितने प्रकार का और कैसा है इस आकांक्षा की निवृत्ति के लिए उसके भेद को दिखाकर ब्रह्मानन्द पद की विवेचना करते हैं —

ब्रह्मानन्द विद्यानन्द और विषयानन्द इन भेदों से आनन्द तीन प्रकार का है उसमें जो आनन्द तीन प्रकार का है उसमें जो दो आनन्द हैं उनका मूल ब्रह्मानन्द है । इससे पहले तीन अध्यायों से ब्रह्मानन्द को विभाग करके दिखाते हैं ।।११।।

तत्रादौ तावत् 'तैत्तिरीयश्रुति'पर्यालोचनायामानन्दरूपं ब्रह्म अवगम्यते इत्यभिप्रायेण 'भृगुवल्लया अर्थं संक्षेपेण दर्शयति—

भृगुः पुत्रः पितुः श्रुत्वा वरुणाद् ब्रह्मलक्षणम् ।
अन्नप्राणमनोबुद्धीस्त्यक्त्वाऽऽनन्दं विजज्ञिवान् ॥१२॥

अन्वय :—भृगुः पुत्रः पितुः वरुणात् ब्रह्मलक्षणम् श्रुत्वा अन्नप्राणमनोबुद्धीः त्यक्त्वा आनन्दं विजज्ञिवान् ।

'भृगुरिति' । भृगुनामकः पुत्रः पितुर्वरुणाख्याद्ब्रह्मलक्षणं 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति' (तै० ३।१) इत्येवरूपं श्रुत्वा अन्नमयादिकोशेषु तल्लक्षणासंभवेन तेषामब्रह्मत्वं निश्चित्यानन्दं आनन्दमयकोशे पञ्चमावयवत्वेन 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० २।५) इति श्रुतं बिम्बभूतमानन्दं ब्रह्मलक्षणयोजनया ब्रह्मत्वेन ज्ञातवानित्यर्थः ॥१२॥

कथमानन्दे तल्लक्षणं योजितवानित्याशङ्क्य, तद्योजनाप्रकारदर्शनपरं 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तै० ३।६) इति वाक्यमर्थतः पठति—

आनन्दादेव भूतानि जायन्ते तेन जीवनम् ।
तेषां लयश्च तत्रातो ब्रह्मानन्दो न संशयः ॥१३॥

अन्वय : आनन्दादेव भूतानि जायन्ते तेन जीवनं तेषां तत्र लयश्च अतः ब्रह्मानन्दः संशयः न ।

'आनन्दादिति' । ग्राम्यधर्मनिमित्तकानन्दादेव भूतानि प्राणिनो जायन्ते उत्पद्यन्ते. तेन विषयभोगादिनिमित्तकेनानन्देन जातानि जीवनं प्राप्नुवन्ति. तेषां प्राणिनां लयश्च तत्र तस्मिन्सुषुप्तिकालिके स्वस्वरूपभूते आनन्दे एव भवति. सुषुप्तावानन्दातिरेकेण कस्याप्यनुभवाभावादत आनन्दो ब्रह्मैव सर्वानुभवसिद्धत्वान्नात्र संशयः कर्तव्य इति भावः ॥१३॥

इनमें पहले तैत्तिरीय श्रुति के देखने से आनन्द रूप ही ब्रह्म जाना जाता है । इस अभिप्राय से भृगुवल्ली के अर्थ को संक्षेप से दिखाते हैं—

भृगु नामक पुत्र अपने पिता वरुण से ब्रह्म के लक्षणों को सुनकर कि "जिससे निश्चय ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं" उत्पन्न होने पर जिसके आश्रित जीवित रहते हैं और प्रलय होते हुए ये जिसमें प्रवेश करते हैं, उसको तू विशेष रूप से जानने की इच्छा कर वही ब्रह्म है ऐसा सुना, और अन्न, प्राण, मन, बुद्धिमय कोशों में ब्रह्म के लक्षण न घटता देखकर उनमें ब्रह्म न होने का निश्चय किया उनको छोड़कर फिर आनन्दमय कोश में जो पाँचवाँ आनन्द सुना है आनन्द आत्मा ब्रह्मपुच्छ प्रतिष्ठा है । इस श्रुति से उस बिम्बरूप आनन्द में ब्रह्म के लक्षणों के योग से उसको ही ब्रह्मरूप से जाना ॥१२॥

इस प्रकार आनन्दमयकोश में ब्रह्म का लक्षण युक्त किया यह शंका करके युक्त करने का प्रकार कहते हैं – 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । इति श्रुति वाक्य का अर्थतः पाठ करते हैं

एवं तैत्तिरीयकश्रुतिपर्यालोचनया ब्रह्मण आनन्दरूपतां प्रदर्श्य, 'छान्दोग्यश्रुति' पर्यालोचनयापि तां दिदर्शयिषु सनत्कुमार-नारदसंवादरूपे सप्तमाध्याये स्थितस्य भूमरूपब्रह्मप्रतिपादकस्य 'यत्रनान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (छा० ७।२४।१) इत्यादिवाक्यस्यार्थं संक्षेपेणाह–

भूतोत्पत्तेः पुरा भूमा त्रिपुटीद्वैतवर्जनात् ।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा त्रिपुटी प्रलये हि नो ॥१४॥

अन्वय : भूतोत्पत्तेः पुरा त्रिपुटीद्वैतवर्जनात् भूमा ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा त्रिपुटी प्रलये हि नो ।

'भूतोत्पत्तेरिति' । भूतानामाकाशादीनां तत्कार्याणां जरायुजाण्डजादीनां चोत्पत्तेः पूर्वं त्रिपुटी द्वैतवर्जनात् त्रयाणां ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयरूपाणां पुटानामाकाराणां समाहारस्त्रिपुटी, सैव द्वैतं तस्य वर्जनमभाव-स्तस्माद्भूमा देशतः कालतो वस्तुतो व परिच्छेदशून्यः परमात्मा भावानयने द्रव्यानयनम्' इति न्यायाद्-भूमैवासीदित्यध्याहारः । तदेव द्वैतवर्जनमुपपादयति 'ज्ञातृज्ञानेति' । वक्ष्यमाणज्ञात्रादिरूपा त्रिपुटी प्रलय-काले नास्तीत्येतत्सर्ववेदान्तसमतमिति 'हि' शब्दं प्रयुञ्जानस्यायमभिप्रायः ॥१४॥

आनन्द से भूत पैदा होते हैं आनन्द के द्वारा जीवित रहते हैं और आनन्द में ही लय होते हैं इससे वह ब्रह्मानन्द है इसमें संशय नहीं करना ॥१३॥

ग्राम्य-पशु धर्म निमित्तक आनन्द से ही प्राणी उत्पन्न होते हैं और उस विषय 'भोगादि निमित्तक आनन्द के कारण जीते हैं और उसका लय भी सुषुप्ति के समय अपने स्वरूपभूत आनन्द के बिना अन्य किसी का अनुभव नहीं होता, इससे आनन्द ही ब्रह्म है । इससे सबका ऐसा ही अनुभव है अतएव इसमें कोई संशय नहीं करना चाहिए ॥१३॥

इस प्रकार तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार ब्रह्म को आनन्दरूप दिखाकर छान्दोग्य श्रुति के अनुसार-भी आनन्दरूप दिखाने का अभिलाषी आचार्य सनत् कुमार नारद का है संवाद जिसमें, ऐसे सातवें अध्याय में जिस वाक्य में ब्रह्म को भूमा कहा है उसके अर्थ को संक्षेप में कहते हैं । जहाँ न अन्य को देखता है, न सुनता है, न जानता है वह भूमा है—

पाँच भूतों की उत्पत्ति से पहले त्रिपुटी रूप द्वैत के अभाव से केवल भूमा (ब्रह्म) ही था क्योंकि प्रलयकाल में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, रूप त्रिपुटी नहीं होती ॥१४॥

आकाश आदि भूतों और उनके कार्य जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज आदि की उत्पत्ति से पहले त्रिपुटीद्वैत वर्जन होने से अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय इन तीनों पुटों (आकारों) के अभाव होने के कारण एक भूमा अर्थात् देशकाल वस्तु के परिच्छेद से शून्य परमात्मा ही था । (भवनानयने क्रिया संबन्धं द्रव्यस्यानयनम् इत्याशयः अब उसी द्वैत वर्जन को कहते हैं कि ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेयरूप जो त्रिपुटी है वह प्रलय में नहीं होती यह सम्पूर्ण वेदान्तों का समत (निश्चय) है ॥१४॥

इदानीं ज्ञात्रादिस्वरूपं दर्शयति—

> विज्ञानमय उत्पन्नो ज्ञाता ज्ञानं मनोमयः ।
> ज्ञेयाः शब्दादयो नैतत्त्रयमुत्पत्तितः पुरा ॥१५॥

अन्वय : - ज्ञाता विज्ञानमयः उत्पन्नः मनोमयः ज्ञानं शब्दादयाः ज्ञेयाः एतत् त्रयं उत्पत्तितः पुरा न ।

'विज्ञानमय इति' । परमात्मन उत्पन्नो बुद्ध्युपाधिको जीवो विज्ञानमयो ज्ञाता, मनोमयः मनसि प्रतिबिम्बितं 'मनोमय' शब्दवाच्यं चैतन्य ज्ञानं शब्दस्पर्शादयो ज्ञेयाः प्रसिद्धाः इदं त्रयं कार्यत्वादुत्पत्तेः पुरा कारणव्यतिरेकेण नास्तीत्यर्थः ॥१५॥

फलितमाह -

> त्रयाभावे तु निर्द्वैतः पूर्ण एवानुभूयते ।
> समाधिसुप्तिमूर्च्छासु पूर्णः सृष्टेः पुरा तथा ॥१६॥

अन्वय : त्रयाभावे तु निर्द्वैतः पूर्ण एवानुभूयते समाधिसुप्तिमूर्च्छासुपूर्णःतथा सृष्टेः पुरा (अपि) ।

'त्रयेति' । ज्ञात्रादित्रयाभावे निर्द्वैतः द्वैतरहितः पूर्ण एवात्मानुभूयते । कुत्रानुभूयत इत्यत आह — 'समाधीति । विद्वदनुभवप्रदर्शनाय 'समाधि' ग्रहणं सर्वानुभवद्योतनाय सुषुप्तिमूर्च्छयोरुदाहरणं सुषुप्त्याद्युत्थितस्य द्वैतादर्शनस्मरणान्यथानुपपत्त्या निर्द्वैतस्य तदनुभवितुः सिद्धिरिति भावः । भवतु सुषुप्त्यादावद्वैत-सिद्धिः, प्रकृते किमायातमित्यत आह—'पूर्ण इति' । यथा सुषुप्त्यादौ परिच्छेदकाभावात्पूर्णः तथा सृष्टेः पुरापि तदभावात्पूर्ण इत्यर्थः ॥१६॥

अब ज्ञाता आदि के स्वरूप को दिखाते हैं —

परमात्मा से उत्पन्न हुआ जो बुद्धि वह है उपाधि जिसकी ऐसा जीव वह विज्ञानमयकोश ही ज्ञाता है और मन में प्रतिबिम्बित मनोमयकोशचैतन्य वह ज्ञान है और शब्द स्पर्श आदि शब्द से रूप, रस, गन्ध, ज्ञेय प्रसिद्ध ही हैं । ये कार्यरूप तीनों (यह त्रिपुटी) उत्पत्ति से पहले विद्यमान कारण रूप परमात्मा से भिन्न नहीं होते ॥१५॥

अब फलित (सारांश) को कहते हैं—

ज्ञाता आदि तीनों के अभाव में द्वैत से रहित ही अनुभव होता है जैसे समाधि का सुषुप्ति मूर्च्छा में प्रतीत होता है वैसे ही सृष्टि से पहले भी विद्वानों का अनुभव दिखाने के लिए समाधि का ग्रहण है सबका अनुभव के लिए सुषुप्ति मूर्च्छा का उदाहरण है । सुषुप्ति मूर्च्छा से उठे हुए मनुष्य को जो द्वैत का स्मरण होता है वह द्वैतरहित अनुभवकर्ता (ज्ञाता) के बिना नहीं हो सकता इससे ज्ञाता की सिद्धि है । सुषुप्ति आदि में अद्वैत सिद्ध हुआ प्रकरण में क्या आया पूर्ण वही पूर्णरूप परमात्मा अनुभव में आता है । जैसे सुषुप्ति आदि में परिच्छेद के न रहने पर आत्मा में पूर्णता आ जाती है । वैसे ही सृष्टि से पहले भी भेदक तीनों के अभाव में पूर्ण ही रहता है ॥१६॥

अस्तु ब्रह्मणः पूर्णत्वम् आनन्दरूपत्वे किमायातमित्याशङ्क्य, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां भूम्नः सुख-रूपत्वप्रदर्शनपरं 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति' (छा० ७।२३।१) इति वाक्यमर्थतोऽनुक्रामति—

यो भूमा स सुखं नाल्पे सुखं त्रेधा विभेदिनि ।
सनत्कुमारः प्राहैवं नारदायातिशोकिने ॥१७॥

अन्वय :—यः भूमा स सुखं त्रेधा विभेदिनि अल्पे सुखं न अतिशोकिने नारदाय एवं सनत्कुमारः प्राह —

'यो भूमेति'। यः पूर्वोक्तो भूमा स सुखरूप एव अद्वितीये दुःखहेतोरभावात् अल्पे परिच्छिन्ने। तस्यैव विवरण —'त्रेधा विभेदिनीति'। इदं हेतुगर्भं विशेषणम् । सुखं तत्र न विद्यते इत्यर्थः। एवं कस्मै केनाभिहितमित्यत आह 'सनत्कुमार इति'। नारदस्य शिष्यत्वे कारणमाह—'अतिशोकिन इति'। अतिशयितः अधिकः शोकोऽस्यास्तीत्यतिशोकी तस्मै ॥१७॥

तस्यातिशोकित्वे हेतुमाह —

सपुराणान्पञ्च वेदान् शास्त्राणि विविधानि च ।
ज्ञात्वाप्यनात्मवित्त्वेन नारदोऽतिशुशोच ह ॥१८॥

अन्वय :—स पुराणान् पञ्च वेदान् विविधानि च शास्त्राणि ज्ञात्वा अपि अनात्मवित्त्वेन नारदः अति शुशोच हि।

'सपुराणानिति'। नारदः पुराणैः सह वर्तन्त इति सपुराणाः पञ्च वेदास्तान्विविधानि च शास्त्राणि विदित्वाऽप्याऽऽत्मज्ञानरहितत्वेनातिशयेन शोकं प्राप्तः ॥१८॥

ब्रह्म पूर्ण रहे आनन्द रूप क्यों मानते हो यह शंका करके अन्वय व्यतिरेकों से भूमा (पूर्ण) को जिससे सुख स्वरूपा प्रतीत हो उस वाक्य को अर्थ से पढ़ते हैं—

जो भूमा (पूर्ण) है वह सुख स्वरूप अद्वैत में ही दुःख के हेतुओं का अभाव है अल्प परिच्छिन्न देश, काल, वस्तु तीन प्रकार का जिसमें भेद है उस अल्प में सुख नहीं है । त्रिपुटी में सुख नहीं है किसने किससे कहा अत्यन्त शोक से युक्त नारद मुनि के प्रति सनत्कुमार ने बताया था ॥१७॥

अब नारद के अत्यन्त शोकातुर होने में हेतु कहते हैं—

उन नारद मुनि ने १८ पुराणों के सहित (चार वेद) पाँचों वेद और अनेक प्रकार के शास्त्रों को पढ़कर भी आत्मज्ञानी न होने से अत्यन्त शोक हुआ (यह छान्दोग्य के सातवें अध्याय में बताया है) ॥१८॥

ननु वेदशास्त्रविषयकज्ञानस्य शोकनिवर्तकत्वेन प्रसिद्धस्य कथमतिशोकहेतुत्वमित्यत आह—

वेदाभ्यासात्पुरा तापत्रयमात्रेण शोकिता ।
पश्चात्त्वभ्यासविस्मारभङ्गगर्वैश्च शोकिता ॥१९॥

अन्वयः वेदाभ्यासात् पुरा तापत्रयमात्रेण शोकिता पश्चात् तु अभ्यासविस्मारभङ्गगर्वैः शोकिता

वेदाभ्यासादिति' । तापत्रयेण आध्यात्मिकादिलक्षणेनैव शोकिता शोकोऽस्यास्तीति शोकी, तस्य भावस्तता । 'आसीत्' इत्यध्याहारः । 'पश्चादिति' । 'तु' शब्दो विशेषद्योतनार्थः । अभ्यासः पाठाद्यावर्तनं, विस्मारः पठितस्य विस्मरणं, भङ्गः स्वतोऽधिकेन तिरस्कारः, गर्वो न्यूनदर्शनेन स्वाधिक्यबुद्धिः एतैः कारणैः शोकित्वम् ॥ १९॥

नन्वेवं सर्वज्ञस्यापि नारदस्यातिशोकित्वं जातमिति कुतोऽवगम्यत इत्याशङ्क्य, 'सोऽहं भगवः शोचामि' (छा० ७।१।३) इति तदीयादेव वाक्यादवगतमित्यभिप्रत्य, 'तं मा भगवाञ्शोकस्य पारं तारयतु' (छा० ७।१।३) इति तन्निवृत्त्युपाये तेन पृष्टे सति सनत्कुमारो 'भूम' शब्दवाच्यं सुखरूपं ब्रह्मैव ज्ञायमानं शोकनिवृत्त्युपाय इति 'सुखं त्वेव जिज्ञासितव्यम्' (छा० ७।२२।१) इत्यारम्भोत्तरग्रन्थ-संदर्भेणोक्तवानित्याह—

सोऽहं विद्वन्प्रशोचामि शोकपारं नयात्र माम् ।
इत्युक्तः सुखमेवास्य पारमित्यभ्यधादृषि ॥२०॥

अन्वय : हे विद्वन् सोऽहं प्रशोचामि अत्र माम शोकपारं नय इत्युक्तः ऋषिः सुखं एव अस्य पारं इति अभ्यधात् ।

'सोऽहमिति' ॥२०॥

यदि कहो कि वेदशास्त्र का ज्ञान तो शोक का निवर्तक प्रसिद्ध है, वह अत्यन्त शोक का हेतु कैसे हो सकता है, कहते हैं—

वेदों के अभ्यास से पहले तो आध्यात्मिक आदि तीनों तापों का ही दुःख था और पीछे वेदाभ्यास के कष्ट से फिर विस्मरण, भूलने के डर से अपने से अधिक विद्वान् से किए गए तिरस्कार गर्व की शंका और अपने से न्यून विद्वान् को देखकर अपने को अधिक समझना रूप गर्व इन कारणों से नारद को शोक हुआ ॥१९॥

प्रश्न—इस प्रकार सर्वज्ञ भी नारद को क्यों शोक हुआ.

उत्तर—हे भगवन् ! जो मैं शोक करता हूँ 'तं मां'—उस मुझे शोक से पार करो । इस नारद के वचन से ही नारद का शोक प्रतीत होता है इस प्रकार शोक निवृत्ति का उपाय नारद मुनि ने पूँछा—सनत्कुमार ऋषि ने "भूमा" शब्द का अर्थ जो सुखरूप ब्रह्म है । वही शोक का पार कहा अर्थात् सुख की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिए—

हे भगवन् ! मैं शोक करता हूँ इस संसार से मुझे शोक से पार करो इस प्रकार नारद जी के द्वारा पूँछे हुए का ऋषि सनत्कुमार ने सुख रूप ब्रह्म को ही इस शोक निवृत्ति का उपाय बताया है ॥२०॥

ननु स्रगादिजन्येषु सुखेषु बहुषु सत्सु नाल्पे सुखमस्तीत्युक्तिरनुपपन्ना,— इति चेन्न, तेषां स्रगादीनां दुःखानुषङ्गेण विषसंपृक्तान्नवद्बहुदुःखरूपत्वस्य मुनिनाऽभिप्रेतत्वादित्याह—

सुखं वैषयिकं शोकसहस्रेणावृतत्वतः ।
दुःखमेवेति मत्वाह नाल्पेऽस्ति सुखमित्यसौ ॥२१॥

अन्वय :—वैषयिकं सुखं शोकसहस्रेणावृतत्वतः दुखं एव इति मत्वा असौ नाल्पे सुखं अस्ति इति आह—

'सुखमिति' ॥२१॥

द्वैते सुखाभावमङ्गीकृत्य, अद्वैतेऽपि तमाशङ्कते—

ननु द्वैते सुखं मा भूदद्वैतेऽप्यस्ति नो सुखम् ।
अस्ति चेदुपलभ्येत तथा च त्रिपुटी भवेत् ॥२२॥

अन्वय : ननु द्वैते सुखं मा भूत् अद्वैतेऽपि सुखम् नो अस्ति चेद् उपलभ्येत तथा च त्रिपुटी भवेत् ।

'नन्विति' । तत्रानुपलब्धिं प्रमाणयति 'अस्ति चेदिति' । अद्वैते यदि सुखं विद्यते तर्हि विषयसुखादिवदुपलभ्येत. यतो नोपलभ्यतेऽतो नास्तीत्यर्थः । ननूपलभ्यते इत्याशङ्कमानं प्रत्याह—'तथेति' । अनुभवस्य अनुभवित्रनुभाव्यसापेक्षत्वादद्वैतहानिरिति भावः ॥२२॥

शंका— स्रक् (माला) आदि से पैदा हुआ सुख बहुत होने पर अल्प संसारिक में सुख नहीं है यह नहीं बन सकता क्योंकि उन स्रगादि पदार्थ दुःख से मिले हुए होने से विष मिले हुए अन्न के समान दुःख रूप ही है, ऐसा सनत्कुमार का आशय है, इस पर कहते हैं—

विषयों का जो सुख है वह सहस्रों शोकों से युक्त है इससे विष मिले अन्न के समान अनेक दुःख रूप हैं । यह जानकर सनत्कुमार अल्प में सुख नहीं है ऐसा कहा है ॥२१॥

अब द्वैत में सुख के अभाव को मानकर अद्वैत में भी सुख नहीं यह शंका करते हैं—

द्वैत में सुख नहीं है तो मत हो अद्वैत में भी सुख नहीं है यदि होता तो प्रतीत होता हुआ मानोगे तो त्रिपुटी हो जाएगी ॥२२॥

द्वैत में तो सुख न हो परन्तु अद्वैत में भी सुख नहीं है । अद्वैत में यदि सुख होता तो विषयों के सुख के समान उपलब्ध (प्रतीत) होता जिससे प्रतीत नहीं होता इससे नहीं है ।

शंका—सुख उपलब्ध होता है इस शंका वाले के प्रति कहते हैं -अद्वैत में सुख मानोगे तो त्रिपुटी हो जायेगी अर्थात् तब तो अनुभव के साथ-साथ अनुभविता और अनुभाव्य मानने पड़ेंगे अर्थात् ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय के बिना सुख नहीं हुआ करता है ये तीनों को मानोगे तो अद्वैत की हानि हो जाएगी ॥२२॥

अद्वैतस्य सुखाधिकरणत्वनिषेधमङ्गीकरोति सिद्धान्ती—

माऽस्त्वद्वैते सुखं 'किंतु सुखमद्वैतमेव हि ।
किं मानमिति चेन्नास्ति मानाकाङ्क्षा स्वयंप्रभे ॥२३॥

अन्वय :—मास्तु अद्वैते सुखं किंतु अद्वैत एव सुखं हि किं मानमिति चेत्, स्वयंप्रभे मानाकांक्षा नास्ति ।

'माऽस्त्विति' । तत्र हेतुमाह—'किंत्विति' । हि यस्मात्कारणादद्वैतमेव सुखम्, अतः सुखादिकरणं न भवतीत्यर्थः । अद्वैतं सुखमित्यत्र किं प्रमाणमित्याशङ्कानुवादपूर्वकं तस्य स्वप्रकाशत्वात्प्रमाणप्रश्न एवानुपपन्न इत्याह—'किं मानमिति' ॥२३॥

ननु स्वप्रकाशत्वेऽपि किं प्रमाणमित्याशङ्क्य त्वदीयमेव वचनं प्रमाणमित्याह—

स्वप्रभत्वे भवद्वाक्यं मानं यस्माद् भवानिदम् ।
अद्वैतमभ्युपेत्यास्मिन्मुखं नास्तीति भाषते ॥२४॥

अन्वय :—यस्मात् स्वप्रभत्वे भवद्वाक्यं मानं इदं भवान् अद्वैतमभ्युपेत्य अस्मिन् सुखं नास्तीति भाषते ।

'स्वप्रभत्वे इति' । तदुपपादयति –'यस्मादिति' । यतः कारणाद्भवता प्रमाणनैरपेक्ष्येण अद्वैतमभ्युपेत्य सुखमेवाक्षिप्यते, अतः स्वप्रभत्वमित्यर्थः ॥२४॥

अब सिद्धान्ती अद्वैत में सुख के अभाव को अङ्गीकार करते हैं—

अद्वैत में सुख मत हो किन्तु अद्वैत सुख ही है । अद्वैत सुख का आश्रय नहीं है ।

शंका हो – अद्वैत सुखरूप है. इसमें क्या प्रमाण है ।

समाधान इस पर कहते हैं स्वप्रकाश अद्वैत में प्रमाण का प्रश्न नहीं उठता है ॥२३॥

स्वप्रकाश में क्या प्रमाण है यह शंका करोगे तो आपके ही वचन को प्रमाण करते हैं –

अद्वैत की स्वप्रकाशता में तो आपका वचन ही प्रमाण है इससे है जिससे आप इस अद्वैत को प्रमाणों के बिना स्वीकार करके ही कहते हो कि इसमें सुख नहीं है (अभाव की शंका करते हो इस प्रकार अद्वैत को प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, वह तो स्वप्रकाश है ॥२४॥

विशेष १ प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं प्रमितिस्तथा । यस्य प्रसादात् सिद्ध्यन्ति तत्सिद्धौ किमपेक्ष्यते । सुरेश्वराचार्य ने कहा है प्रमाता, प्रमाण प्रमेय और प्रमिति जिसके प्रसाद से सिद्ध होते हैं उसकी सिद्धि में किसकी अपेक्षा है पुरुष स्वयं ज्योतिः बृ० ३।८। तस्यभासा सर्वमिदं बिभाति क० ५।१५। विपदधिकरण में लिखा है ब्र० सू० २।३।१।

न मया द्वैतमभ्युपगम्यते, किंतु त्वदुक्तमद्वैतमनूद्य दूष्यते, अतो नोक्तसिद्धिरिति शङ्कते—

नाभ्युपैम्यहमद्वैतं तद्वचोऽनूद्य दूषणम् ।
वच्मीति चेत्तदा ब्रूहि किमासीद्द्वैततः पुरा ॥२५॥

अन्वय :—अहं अद्वैतं नाभ्युपैमि तद् वचः अनूद्य दूषणम् वच्मि इति चेत् तदा ब्रूहि द्वैतत ततः पुरा वै किं आसीत् ।

'नाभ्युपैमीति' । विकल्पासहत्वादद्वैतानभ्युपगमोऽनुपपन्न इति मन्वानः पृच्छति—'तदेति' ॥२५॥

'किं' शब्दसूचितं विकल्पं दर्शयति —

किमद्वैतमुत द्वैतमन्यो वा कोटिरन्तिमः ।
अप्रसिद्धो न द्वितीयोऽनुत्पत्तेः शिष्यतेऽग्रिमः ॥२६॥

अन्वय :—किं अद्वैतं उत द्वैतं अन्यो वा अन्तिमः कोटिः अप्रसिद्धः द्वितीयः न अग्रिमः अनुत्पत्तेः शिष्यते ।

'किमद्वैतमिति' । तृतीयं पक्षं निराकरोति—'अन्तिम इति' । द्वैताद्वैतविलक्षणस्य रूपस्य लोकेऽदर्शनादिति भावः । द्वितीयं पक्षं निराकरोति –'न द्वितीय इति' तत्र हेतुमाह – 'अनुत्पत्तेरिति'[१] । द्वैतस्य तदानीमनुत्पन्नत्वादिति भाव । अतः प्रथमः पक्षः परिशिष्यत इत्याह – शिष्यत इति' ॥२६॥

मैंने अद्वैत को अंगीकार नहीं किया है, किन्तु सिद्धान्त द्वारा कहे हुए अद्वैत का अनुवाद कर दोष ही दिया है इसलिए उक्त प्रकार से अद्वैत की सिद्धि नहीं होती है । उस प्रकार शंका करते हैं—

प्रश्न—मैं स्वयं अद्वैत को नहीं मानता किन्तु, आपके माने अद्वैत का अनुवाद (कथन को दुहराकर) उस पर आक्षेप कर रहा हूँ । अर्थात् मेरे शब्दों से अद्वैत की सिद्धि मानना उचित नहीं है ।

उत्तर—विकल्प करके अद्वैत नहीं माना यदि तुम ऐसा कहते हो तो फिर तुम्हीं बताओ द्वैत से पहले क्या था ॥२५॥

'किं' शब्द से सूचित किये विकल्प को दिखाते हैं –

द्वैत से पहले अद्वैत था ? या द्वैत था ? व कोई अन्य तृतीय कोटि थी ? इन तीनों में तीसरा तो अप्रसिद्ध है । अर्थात् द्वैत और अद्वैत से विलक्षण रूप तीसरा लोक में नहीं देखते हैं और द्वैत से पूर्व द्वैत पैदा ही नहीं हो सकता है इससे द्वैत से पहले द्वैत था यह पक्ष भी ठीक नहीं है । अर्थात दूसरे पक्ष को नहीं मान सकते इससे प्रथम पक्ष (अद्वैत ही) शेष रहता है, इससे आप को स्वीकार करना पड़ेगा कि द्वैत से पूर्व अद्वैत था ॥२६॥

विशेष १— अनेन बाधाबाधित्वेन परिशिष्टं अद्वैतमेव पारमार्थिकम्, द्वैतं तु बाधितत्वात् मिथ्या इति उक्तं भवति ।

ननूक्तेन प्रकारेणाद्वैतं युक्त्यैव सिध्यति, नानुभवेनेति चोदयति —

अद्वैतसिद्धिर्युक्त्यैव नानुभूत्येति चेद्वद ।
निर्दृष्टान्ता सदृष्टान्ता वा कोट्यन्तरमत्र[1] नो ॥२७॥

अन्वय :—अद्वैतसिद्धि : युक्त्यैव नानुभूत्या इति चेत् वद निर्दृष्टान्ता सदृष्टान्ता वा अत्र कोट्यन्तरं नो ।

'अद्वैतेति' । अद्वैतसिद्धिर्युक्त्यैवेत्युक्तं विकल्पासहत्वादनुपपन्नमिति मन्वानो युक्तिं विकल्पयति सिद्धान्ती—'वेदेति' । विकल्पस्य न्यूनतां निराकरोति 'कोटयन्तरमिति ॥२७॥

प्रथमं पक्षं सोपहासं निराकरोति—

नानुभूतिर्न दृष्टान्त इति युक्तिस्तु शोभते ।
सदृष्टान्तत्वपक्षे तु दृष्टान्तं वद मे मतम् ॥२८॥

अन्वय :—अनुभूतिः न दृष्टान्तः न युक्तिस्तु शोभते सदृष्टान्तत्वपक्षे तु दृष्टान्तं वद मे मतम् ।

'नानुभूतिरिति' । 'अद्वैतसिद्धिर्युक्त्यैव' इति वदता अनुभूतिस्तावन्नाभ्युपेयते, युक्तिस्तु दृष्टान्त-प्रदर्शनमन्तरेण न किंचित्साधयति अतो न दृष्टान्त इत्युक्तिरयुक्तेति भावः । द्वितीये विकल्पे उभयवादि-संप्रतिपन्नो दृष्टान्तो वक्तव्य इत्याह—'सदृष्टान्तेति' ॥२८॥

शंका—पूर्वोक्त रीति से युक्ति के द्वारा अद्वैत सिद्ध होता है, अनुभव (ज्ञान) से नहीं हो सकता—

प्रश्न—अद्वैत की सिद्धि युक्ति से ही है अनुभव से नहीं होती यह विकल्प अनुपपन्न है ऐसा मानकर सिद्धान्ती युक्ति से विकल्प करते हैं ।

वह युक्ति दृष्टान्त रहित है या दृष्टान्त सहित हैं । दृष्टान्त रहित भी और सहित भी आदि कोई तीसरा पक्ष तो बनता ही नहीं ॥२७॥

अब प्रथम पक्ष का हँसी से निराकरण करते हैं —

अद्वैत सिद्धि युक्ति से होती है, अनुभव से नहीं होती अर्थात् न अनुभव है न दृष्टान्त है । यह युक्ति तुम्हारी शोभा से प्राप्त होती है । अद्वैत की सिद्धि युक्ति से ही की यह कहते हुए अपने अनुभव को माना नहीं है और दृष्टान्त के बिना युक्ति कुछ भी सिद्ध न कर सकेगी इससे दृष्टान्त नहीं है यह कहना आपका अयोग्य है । अब दृष्टान्त सहित युक्ति है ऐसा मानते हो तो दृष्टान्त देना चाहिए । दोनों पक्षियों को सम्मत हो ॥२८॥

विशेष १— कोटचन्तरं तृतीया कोटिः अत्र मया उपन्यस्ता युक्तिविषये इत्यर्थः ।

तर्हि दृष्टान्तेनैवाद्वैतं साधयामीति शङ्कते पूर्ववादी—

अद्वैतः प्रलयो द्वैतानुपलम्भेन सुप्तिवत् ।
इति चेत्सुप्तिरद्वैतेत्यत्र दृष्टान्तमीरय ॥२९॥

अन्वय :—सुप्तिवत् द्वैतानुपलम्भेन अद्वैतः प्रलयः इति चेत् सुप्तिः अद्वैता इत्यत्र दृष्टान्तं ईरय।

'अद्वैत इति'। प्रलयो[1] द्वैतरहितो भवितुमर्हति, द्वैतानुपलब्धिमत्वाद, यो यो द्वैतानुपलब्धिमान् स स द्वैतरहितः, यथा स्वाप इति। नन्वेवमाश्रयतस्तव स्वसुप्तिर्दृष्टान्तः परसुप्तिर्वा ? आद्ये तस्याः परं प्रत्यसिद्धत्वेन तत्सिद्धये दृष्टान्तान्तरं वक्तव्यमित्याह -'सुप्तिरिति' ॥२९॥

ननु तस्याः परसुप्तिरेव दृष्टान्त इति द्वितीयं विकल्पमाशङ्कते—

दृष्टान्तः परसुप्तिश्चेदहो ते कौशलं महत् ।
यः स्वसुप्तिं न वेत्त्यस्य परसुप्तौ तु का कथा ॥३०॥

अन्वय :—परसुप्तिश्चेत् दृष्टान्तः अहो ते महत् कौशलं यः स्वसुप्तिं न वेत्ति अस्य परसुप्तौ तु कथा का।

'दृष्टान्त इति'। परसुप्तेस्तवाप्रसिद्धत्वेन त्वया दृष्टान्तीकरणमनुपपन्नमिति सोपहासमाह सिद्धान्ती --'अहो इति' यो भवान् सुप्तेरनुभवगम्यत्वानङ्गीकारेण स्वसुप्तिमपि न वेत्ति, तस्य तव परसुप्तौ का कथा ? परसुप्तिज्ञानं भवतीति किमु वक्तव्यमिति भावः ॥३०॥

अब पूर्ववादी यह शंका करता है कि दृष्टान्त से प्रलय को अद्वैत सिद्ध करना चाहता है—

प्रलय द्वैत रहित (अद्वैत होने योग्य) है द्वैत अनुपलब्धि से जो-जो द्वैत की अनुपलब्धि मान है वह-वह द्वैत रहित होता है जैसे स्वाप (सुषुप्ति) ऐसा कहते हो, यदि यह बात है तो सुप्ति अद्वैत है अपनी सुषुप्ति दृष्टान्त है या अन्य की ? अपनी तो इससे नहीं कह सकते कि वह अन्य (पर) को प्रतीत नहीं हो सकती अतएव उसकी सिद्धि के लिए दूसरे दृष्टान्त की आवश्यकता होगी ॥२९॥

अब दूसरे की सुषुप्ति को दृष्टान्त, तो इस दूसरे पक्ष में विकल्प से शंका—

प्रश्न -यदि तुम, पर की सुषुप्ति को दृष्टान्त कहते हो तो यह तुम्हारी बड़ी (भद्दी) चतुराई है (पर सुप्ति तुम्हारे प्रति अप्रसिद्ध है उसका दृष्टान्त कैसे देते हो) जो आप सुप्ति को अनुभव से जानने योग्य न मानकर अपनी ही सुषुप्ति नहीं मानते, उस आप को पर सुप्ति में क्या कथा है ? अर्थात् पर सुप्ति का ज्ञान होता है इसकी तो बात ही क्या, नहीं होता है ॥३०॥

विशेष १— यहाँ पर प्रलय शब्द का वाच्य जो सर्व द्वैत का अभाव इससे उपलक्षित ब्रह्म का ही ग्रहण है ऐसे ही इस प्रसंग में प्राप्त सुषुप्ति शब्द के अर्थ में भी समझ लेना चाहिए।

नन्वनुमानात् परसुप्तिसिद्धिरिति शङ्कते—

निश्चेष्टत्वात्परः सुप्तौ यथाऽहमिति चेत्तदा ।
उदाहर्तुः सुषुप्तेस्ते स्वप्रभत्वं बलाद्भवेत् ॥३१॥

अन्वयः - परः सुप्तौः निश्चेष्टत्वात् यथाहं इति चेत् तदा उदाहर्तुः ते सुषुप्तेः स्वप्रभत्वं बलात् भवेत् ।

'निश्चेष्टत्वादिति' । विमतः परः सुप्तौ भवितुमर्हति प्राणादिमत्वे सति निश्चेष्टत्वात्, मद्वदित्यनुमानादित्यर्थः । एवं तर्हि तव सुप्तेः स्वप्रकाशत्वं परिशिष्यत इत्याह सिद्धान्ती 'तदेति । तदा तर्हि मां प्रति सुषुप्तिमुदाहर्तुर्दृष्टान्तीकर्तुस्ते तव सुप्तेः स्वप्रभत्वं स्वप्रकाशत्वं बलात्सुप्त्युदाहरणसामर्थ्यादेव भवेत् ॥३१॥

कथं बलाद्भवतीत्याशङ्क्याह—

नेन्द्रियाणि न दृष्टान्तस्तथाप्यङ्गीकरोषि ताम् ।
इदमेव स्वप्रभत्वं यद्भानं साधनैर्विना ॥३२॥

अन्वयः नेन्द्रियाणि न दृष्टान्तः तथापि ताम् अङ्गीकरोषि इदं एव साधनैर्विना यद्भानं स्वप्रभत्वं ।

'नेन्द्रियाणीति' । सुप्तिग्राहकाणीन्द्रियाणि न सन्ति, तेषां स्वकारणे विलीनत्वाद् दृष्टान्तश्च संप्रतिपन्नो नास्ति, परसुप्तेरप्रसिद्धत्वस्योक्तत्वात् तथापि तां सुप्तिमङ्गीकरोषि । एवं च सति साधनैर्विना ज्ञानसाधनमन्तरेणापि भानं प्रकाशनमिति यदिदमेव स्वप्रभत्वं सुप्त्या इत्यर्थः । अत्रायं प्रयोगः—विमता सुप्तिः स्वप्रकाशा, असत्स्वपि ज्ञानसाधनेषु प्रकाशमानत्वात्, सांख्याभिमतान्यत्रप्राभाकराभिमतसंवेदनवत्, सांख्याभिमतस्वात्मवदित्यर्थः ॥३२॥

अनुमान से पर सुप्ति की सिद्धि के लिए शंका करते हैं—

जैसे प्राणियों के रहते हुए भी चेष्टा रहित होने से पर (दूसरा) सोया (सुप्त) है, जैसे मैं, यहाँ यह अनुमान है कि विवाद का आश्रय (विषय) दूसरा सुप्त है । प्राणों से युक्त होकर चेष्टा रहित होने से मेरे समान ऐसे पूर्वोक्त अनुमान से पर सुप्ति को सिद्ध करोगे तो तुम्हारी सुप्ति स्वप्रकाश सिद्ध हो जायेगी, ऐसे तो मुझको (मेरे प्रति) अपनी सुषुप्ति का उदाहरण (दृष्टान्त देने वाले आपके मन में बल से अर्थात् सुषुप्ति के उदाहरण देने से स्वप्रभत्व (स्वप्रकाश रूप) सुषुप्ति सिद्ध हो जायेगी ॥३१॥

अब बल से स्वप्रकाशसिद्धि को दिखाते हैं—

इन्द्रियाँ और दृष्टान्तों के न होने पर भी उस सुषुप्ति को तुम अंगीकार करते हो, इससे यही उसको स्वप्रकाश मानना है कि साधनों के बिना प्रकाशित होना ॥३२॥

इत्थं प्रलयस्य दृष्टान्तत्वेनोदाहृतायाः सुषुप्तेरद्वैतत्वं स्वप्रभत्वं च प्रसाध्य, तत्र सुखप्रसाधनाय पूर्वपक्षिण आकाङ्क्षामुत्थापयति —

स्तामद्वैतस्वप्रभत्वे वद सुप्तौ सुखं कथम् ।
शृणु दुःखं तदा नास्ति ततस्ते शिष्यते सुखम् ॥३३॥

अन्वय :—अद्वैतस्वप्रभत्वे सुप्तौ सुखं कथं स्तां वद शृणु तदा दुःखं नास्ति ततः ते सुखं शिष्यते ।

'स्तामिति' । सुखप्रतियोगिनो दुःखस्य तदानीमसत्वात्सुखमेव परिशिष्यत इत्याह– 'शृण्विति' । सुखदुःखयोः प्रकाशतमसोरिव पारस्परविरोधित्वाद् दुःखाभावे सुखमेवाभ्युपेयमिति भावः ॥३३॥

सुप्ति के समय सुषुप्ति की ग्राहक इन्द्रियाँ नहीं होती वे अपने कारण में लीन हो चुकी हैं और परसुप्ति के अप्रसिद्ध होने से कोई संप्रतिपन्न (उत्तम दृष्टान्त) भी नहीं है, तो भी तुम उस सुषुप्ति को स्वीकार करते हो—यही ज्ञान के साधनों के बिना भी प्रकाशित होना ही तो स्वयं प्रकाशता है । यहाँ सुषुप्ति का ज्ञान भी साधनों के बिना प्रकाशित हो रही है । अतएव वह स्वप्रकाशता है । यहाँ यह अनुमान है कि विवाद का आश्रय सुषुप्ति स्वप्रकाश है ज्ञान साधनाओं के बिना भी प्रकाशमान होने से जैसे सांख्यभिमत आत्मा की तरह प्रभाकर के अनुयायियों के अभिमत वृत्तिज्ञान की तरह, और बौद्ध अभिमत स्वात्मा की तरह—जैसे सांख्य प्राभाकर बौद्ध के मत में क्रमशः आत्मा, वृत्तिज्ञान, और स्वात्मा, अन्य ज्ञान के साधन के बिना भी प्रकाशमान होने से स्वयं प्रकाश है । वैसे हमारे मत में भी सुषुप्ति से उपलक्षित आत्मा अन्य साधन के बिना प्रकाशमान होने से स्वयं प्रकाश है । परन्तु सांख्यादिकों के मत में आत्मा आदिकों को अपने प्रकाश में आपकी अपेक्षा है । हमारे मत में ऐसा नहीं, किन्तु आत्मा सर्वदा प्रकाशमान ही है ॥३२॥

इस प्रकार प्रलय के दृष्टान्त रूप से कही हुई सुषुप्ति को अद्वैत और स्वप्रकाश रूप सिद्ध करके सषुप्ति में सुख की सिद्धि के लिए पूर्वपक्षी की आकांक्षा को कहते हैं—

मान लिया कि सुषुप्ति अद्वैत और स्वयंप्रकाश रहे, परन्तु यह कहो कि सुषुप्ति में सुख कैसे है तो इसका उत्तर सुनो कि सुषुप्ति में सुख का विरोधी दुःख नहीं है, इससे तुम्हारे मत में ही सुख शेष रह जायेगा अर्थात् प्रकाश अन्धकार के समान परस्पर विरोध होने से दुःख के अभाव में सुख ही शेष रह जाता है ॥३३॥

सुप्तौ दुःखाभावे किं मानमित्याकाङ्क्षायां श्रुत्यनुभवावित्याह—

अन्धः सन्नप्यनन्धः स्याद्विद्धोऽविद्धोऽथ रोग्यपि ।
अरोगीति श्रुतिः प्राह तच्च सर्वे जना विदुः ॥३४॥

अन्वय : अन्धः सन्नपि अनन्धः स्यात् विद्धः अथ अविद्धः रोगी अपि अरोगी इति श्रुतिः प्राह तच्च सर्वे विदुः ।

'अन्ध इति' । 'तस्माद्वा एतं सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धो भवति उपतापी सन्ननुपतापी भवति तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति' (छा० ८।४।२) इत्यादिश्रुतिर्देहाभिमानप्रयुक्तानन्धत्वादीन्दोषान्सुप्तौ निवारयति । व्याध्यादिना पीड्यमानस्यापि सुप्तौ तद्दुःखानुभवो नास्तीत्येतत्सर्वजनप्रसिद्धं चेत्यर्थः ॥३४॥

ननु यत्र दुःखाभावस्तत्र सुखम् इत्यस्या व्याप्तेर्लोष्टादौ व्यभिचार इति शङ्कते—

न दुःखाभावमात्रेण सुखं लोष्टशिलादिषु ।
द्वयाभावस्य दृष्टत्वादिति चेद्विषमं वचः ॥३५॥

अन्वय :—दुःखाभावमात्रेण सुखं न, लोष्टशिलादिषु द्वयाभावस्य दृष्टत्वात् इति चेत् वचः विषमम् ।

'न दुःखेति' । दुःखाभावमात्रेण सुखं कल्पयितुं न शक्यते, लोष्टशिलादिषु द्वयाभावस्य सुखदुःखयोरभावस्य दर्शनादित्यर्थः । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यान्मैवमिति परिहरति—'विषममिति' । वचो दृष्टान्तवचनं विषमम्, दार्ष्टान्तिकाननुसारीत्यर्थः ॥३५॥

अब सुषुप्ति में दुःख के अभाव में श्रुति और अनुभव प्रमाण देते हैं—

सुषुप्ति में अन्धा अन्धा नहीं रहता, घायल, घायल नहीं रहता, रोगी, रोगी नहीं रहता, यह श्रुति कहती है और सब लोग इसको जानते हैं ॥३४॥

इसलिए सेतु रूप इस आत्मा को तरकर प्राप्तकर अन्धा होने पर भी अन्धा नहीं होता, घायल होने पर भी घायल नहीं होता है रोगादि उपताप वाला होने पर भी अनुपतापी हो जाता है । भगवन् ! यद्यपि यह शरीर अन्धा होता है तो भी यह स्वप्न शरीर अनन्ध रहता है । यह श्रुति देह के अभिमान से पैदा हुए अन्ध आदि दोषों का सुषुप्ति में निषेध करती है और व्याधि आदि से पीड़ित मनुष्य को भी सुषुप्ति में व्याधि के दुःख का अनुभव नहीं होता है और सब लोग इसको जानते भी हैं ॥३४॥

शंका जहाँ दुःख का अभाव हो वहाँ सुख कहोगे, तो यह व्याप्ति लोष्ट शिला आदि में भी सुख हो जायगा इस व्यभिचार से शंका करते हैं –

केवल दुःख के अभाव से सुख की कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि लोष्ट शिला आदि में तो सुख-दुःख दोनों का अभाव है । समाधान—दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक दोनों विषम है अर्थात् आपका वचन विषम है दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक के अनुसार नहीं है ॥३५॥

दृष्टान्तस्याननुकूलत्वमेवोपपादयति—

मुखदैन्यविकासाभ्यां परदुःखसुखोहनम् ।
दैन्याद्यभावतो लोष्टे दुःखाद्यूहो न संभवेत् ॥३६॥

अन्वय :—मुखदैन्यविकासाभ्यां परदुःखसुखोहनम् दैन्याद्यभावतः लोष्ठे दुःखाद्यूहः न संभवेत् ।

'मुखेति' । अन्यनिष्ठयोः सुखदुःखयोरूहनं यथाक्रमं मुखदैन्यविकासाभ्यां लिङ्गाभ्यां कर्तव्यम् । अयं दुःखी, विषण्णवदनत्वात् संप्रतिपन्नवत् अयं सुखी, प्रसन्नवदनत्वात् संप्रतिपन्नवदित्यर्थः । भवत्वेवं लोके, प्रकृते किमायातमित्यत आह—'दैन्येति' । लोष्टादौ मुखदैन्यादिलिङ्गाभावात्सुखदुःखयोरूहनमेव न सम्भवति, अतस्तत्र दुःखाभावोऽपि न निश्चेतुं शक्यत इत्यर्थः ॥३६॥

इदानीं परकीयसुखदुःखाभ्यां स्वकीयसुखदुःखयोर्वैषम्यं दर्शयति—

स्वकीये सुखदुःखे तु नोहनीये ततस्तयोः ।
भावो वेद्योऽनुभूत्यैव तदभावोऽपि नान्यतः ॥३७॥

अन्वय :—स्वकीय सुखदुःखे तु ततः तयोः नोहनीये भावो वेद्यः अनुभूत्यैव तदभावोऽपि अन्यतः न ।

'स्वकीये इति' । स्वनिष्ठयोस्तु सुखदुःखयोरनुभवसिद्धत्वान्नानुमेयत्वं यतस्ततस्तयोः सुखदुःखयोर्भावः सद्भावो यथानुभूत्यैव वेद्यः प्रत्यक्षेणावगम्यते, तथा तदभावोऽपि तयोः सुखदुःखयोरभावोऽपि । अन्यतः अन्यस्मादनुमानादेर्नावगम्यते किंतु प्रत्यक्षणैवेत्यर्थः ॥३७॥

अब दृष्टान्त की अनुकूलता के अभाव का ही प्रतिपादन करते हैं—

अन्य मनुष्य के सुख और दुःख का उहन (ज्ञान) मुख की कान्ति और दीनता से कर लेते हैं अर्थात् यह दुःखी है मुख पर कुम्हलाहट होने से सम्प्रतिपन्न के समान, यह सुखी है प्रसन्न मन होने से सम्प्रतिपन्न के समान इस प्रकार अनुमान से लोक में यह होवे, प्रकरण में क्या आया । लोष्ट शिला आदि में दीनता आदि के अभाव से सुख और दुःख का उहन (ज्ञान) नहीं कर सकते, इसलिए वहां दुःख के अभाव का भी निश्चय नहीं कर सकते ॥३६॥

अब पराये सुख दुःख से अपने सुख दुःखों की विषमता दिखाते हैं—

अपने सुख दुःखों की तो अनुमान करने की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि वे अनुभव (प्रत्यक्ष) से ही जाने जाते हैं । जिस प्रकार उन सुख दुःखों का भाव होना अनुभव से ही जाना जाता है, वैसे ही उन सुख दुःखों का अभाव भी अन्य जो अनुमान आदि उनसे नहीं जाना जाता, किन्तु प्रत्यक्ष से ही जाना जाता है ॥३७॥

फलितमाह—

तथा सति स्वसुप्तौ च दुःखाभावोऽनुभूतितः ।
विरोधिदुःखराहित्यात्सुखं निर्विघ्नमिष्यताम् ॥३८॥

अन्वय :—तथा सति स्वसुप्तौ च दुःखाभावः अनुभूतितः विरोधिदुःखराहित्यात् निर्विघ्नं सुखं इष्यताम् ।

'तथेति' । तथा सति स्वकीयस्य सुखादेरनुभवगम्यत्वे सति स्वसुप्तौ स्वकीयसुषुप्तावपि विद्यमानो दुःखाभावोऽनुभवेनैव सिद्धः । ततोऽपि किं तत्राह — विरोधीति' । सुप्तौ सुखविरोधिनो दुःखस्याभावान्निर्विघ्नं बाधरहितं सुखमिष्यतामभ्युपेयताम् ॥३८॥

शय्यादिसुखसाधनसंपादनान्यथानुपपत्त्यापि सुप्तौ सुखमस्तीत्यवगम्यत इत्याह—

महत्तरप्रयासेन मृदुशय्यादिसाधनम् ।
कुतः संपाद्यते सुप्तौ सुखं चेत्तत्र नो भवेत् ॥३९॥

अन्वय :—महत्तरप्रयासेन मृदुशय्यादिसाधनम् सुप्तौ कुतः संपाद्यते चेत् तत्र सुखं नो भवेत् ।

'महदिति' । तत्र तस्यां सुप्तौ सुखं न भवेच्चेत् महत्तरप्रयासेनबहुविध वित्तव्ययशरीरपीडनादिना मृदुलं शय्यादि कशिपुमञ्चादि साधनं सुखसाधनं कुतः कस्मात्कारणात् संपाद्यते ? न कुतोऽपीत्यर्थः ॥३९॥

अब फलित का वर्णन करते हैं –

ऐसा होने पर अर्थात् अपने सुख आदि का अनुभव से गम्यमान होने पर अपनी सुषुप्ति में विद्यमान में जो दुःखाभाव वह भी अनुभव से सिद्ध है । इससे क्या कहते है । पुनश्च सुषुप्ति में सुख के विरोधी दुःख के न होने के कारण निर्विघ्न बाधरहित सुख को सुषुप्ति में मान लेना पड़ेगा ॥३८॥

शय्या आदि साधनों की अन्यथा अनुपपत्ति से भी सुषुप्ति में सुख को दिखाते हैं—

यदि वहाँ सुषुप्ति में सुख नहीं होता तो बड़-बड़े प्रयासों से द्रव्य का व्यय शरीर पीड़ा आदि से कोमल शय्या मंच आदि का सम्पादन (संचय) जो सुख का साधन है उसको क्यों करते–इससे प्रतीत होता है कि सुषुप्ति में सुख है ॥३९॥

विशेष १ अन्यथानुपपत्ति (और किसी प्रकार से इसके न बनने से) जहाँ वस्तु की सिद्धि किया करते हैं, वहाँ पर बहुत से विरुद्ध प्रमाणों का भी अन्यथानुपपत्ति ही निराश किया करती हैं ।

अर्थापत्तेरन्यथोपपत्तिं शङ्कते—

दुःखनाशार्थमेवैतदिति चेद्रोगिणस्तथा ।
भवत्वरोगिणस्त्वेतत्सुखायैवेति निश्चिनु ॥४०॥

अन्वय :—दुःखनाशार्थमेव इति चेत् रोगिणः तथा अरोगिणः तु एतत् सुखायैव भवतु इति निश्चिनु ।

'दुःखेति' । एतच्छय्यादिसाधनसंपादनं दुःखनिवृत्तिफलकं न नियममिति परिहरति—'रोगिण इति । रोगादिदुःखे सति तन्निवृत्तये तद्भवतु तदभावे तु निवर्त्यदुःखाभावात्तत्संपादनं सुखायैवेत्यवगम्यत इत्यर्थः ॥४०॥

ननु सौषुप्तसुखस्य शय्यादिसाधनजन्यत्वे आत्मस्वरूपत्वं व्याहन्येतेति शङ्कते—

तर्हि साधनजन्यत्वात्सुखं वैषयिकं भवेत् ।
भवत्वेवात्र निद्रायाः पूर्वं शय्यासनादिजम् ॥४१॥

अन्वय :—तर्हि साधनजन्यत्वात् वैषयिकं सुखं भवेत् निद्रायाः पूर्वं शय्यासनादिजम् एव अत्र भवतु ।

'तर्हीति' । किं निद्रागमनात्पूर्वकालीनस्य विषयजन्यत्वमुच्यते, उत निद्राकालीनस्येति विकल्प्याद्यमङ्गीकरोति—भवत्विति' ॥४१॥

अब अर्थापत्ति की अन्यथा उपपत्ति की शंका करते हैं——

यदि कहो कि शय्या आदि का सब सम्पादन दुःख नाश के लिए ही तो है यह ठीक नहीं, उत्तर देते हैं—रोग आदि दुःख निवृत्ति के लिए जो रोगी मनुष्य के लिए शय्या आदि का सम्पादन है वह दुःख निवृत्ति के लिए हो तो हो, परन्तु जो रोगी नहीं है उसका शय्या आदि का जो सम्पादन है वह तो केवल सुख के लिए ही है यह प्रतीत होता है; इससे सुषुप्ति में सुख का निश्चय है ॥४०॥

यदि कहो कि सुषुप्ति के सुख की साधनों से उत्पत्ति मानोगे तो आत्म रूप वह सुख न होगा—

प्रश्न—साधनों से जन्य (उत्पन्न) होने से विषयों का सुख हो आयगा ।

उत्तर—यह जो तुम कहते हो वह निद्रा से पहले सुख को कहते हो अथवा निद्रा के अनन्तर काल के सुख को कहते हो, यह विकल्प करके प्रथम को स्वीकार करते हैं, कि निद्रा से पूर्व तो शय्या आसन आदि होता ही है ॥४१॥

द्वितीयं निराकरोति—

निद्रायां तु सुखं यत्तज्जन्यते केन हेतुना ।
सुखाभिमुखधीरादौ पश्चान्मज्जेत्परे सुखे ॥४२॥

अन्वयः—निद्रायां तु यत् सुखं तत्र केन हेतुना जन्यते आदौ सुखाभिमुखधीः पश्चात् परेसुखे मज्जेत् ।

'निद्रायामिति' । सुषुप्तौ शय्याद्यनुसंधानाभावात्तज्जन्यत्वं तस्य न सम्भवतीति भावः । ननु निद्रायामजन्यं सुखं यद्यस्ति तर्हि तद्विषयसुखवत्कुतो नानुभूयत इत्याशङ्‌क्याऽनुभवितुस्तदा तस्मिन् निमग्नत्वान्न विषयसुखवत्तदनुभव इत्यभिप्रायेणाह – सुखेति' । आदौ निद्रायाः पूर्वस्मिन्काले जीवः सुखाभिमुखधीः शय्यादिजन्यसुखाभिमुखा धीर्बुद्धिर्यस्य स तथाविधो भवति, पश्चान्निद्राकाले परे उत्कृष्टे सुखे स्वरूपसुखे मज्जेद्विलीनो भवेत् ॥४२॥

संक्षेपेणोक्तमर्थं श्लोकत्रयेण प्रपञ्चयति—

जाग्रद्व्यावृत्तिभिः श्रान्तो विश्रम्याथ विरोधिनि ।
अपनीते स्वस्थचित्तोऽनुभवेद्विषये सुखम् ॥४३॥

अन्वय :—जाग्रद् व्यावृत्तिभिः श्रान्तः अथ विश्रम्य विरोधिनि अपनीते स्वस्थचित्तः विषये सुखं अनुभवेत् ।

'जाग्रद्व्यावृत्तिभिरित्यादिना' । जीवो जाग्रद्व्यावृत्तिभिर्जागरणावस्थायां क्रियमाणैर्व्यापारविशेषैः श्रान्तो विश्रम्य मृदुशय्यादौ शयनं कृत्वा, अथानन्तरं विरोधिनि व्यापारजनिते दुःखेऽपनीते निवारिते सति स्वस्थचित्तोऽव्याकुलमना भूत्वा शय्यादौ विषये जायमानं सुखमनुभवेत् साक्षात्कुर्यात् ॥४३॥

अब दूसरे का खण्डन करते हैं—

निद्रा में सुख किस हेतु से पैदा हो सकता है, अर्थात् कारण के अभाव से नहीं है किन्तु निद्रा से पूर्व सुख के अभिमुख जीव निद्रा में परम सुख में लीन हो जाता है ॥४२॥

सुषुप्ति में तो शय्या आदि का अनुसंधान ही नहीं रहता इससे शय्या आदि से उत्पन्न वह सुख नहीं हो सकता अर्थात् उसको पैदा करने वाला कोई हेतु ही नहीं है । यदि कहो कि निद्रा में जो सुख है वह किसी से उत्पन्न नहीं है, तो वह विषय सुख के समान प्रतीत क्यों नहीं होता यह ठीक नहीं । उस समय उसका ज्ञाता सुख में निमग्न (डूबा) है इससे विषय सुख के समान उसका ज्ञान नहीं होता । प्रथम निद्रा से पूर्व काल में जीव की बुद्धि शय्या आसन आदि का जो सुख उसके अभिमुख रहती है और पीछे निद्रा के समय में परम उत्कृष्ट सुख जो स्वरूप आत्मसुख है उसमें जीव लीन हो जाता है अर्थात् उसको शय्या आदि का अनुसन्धान नहीं रहता है, फिर नित्य सुख की उसे अनुभूति नहीं होती ॥४२॥

अब संक्षेप से पूर्वोक्त अर्थ का तीन श्लोकों से व्याख्या करते हैं—

यह जीव जाग्रत अवस्था के किये व्यापारों से थका हुआ कोमल शय्या आदि में शयन करके, अनन्तर परिश्रम जनित दुःख से निवृत्त हो जाने पर स्वस्थ अर्थात् अव्याकुल चित्तवाला होकर शय्यादि विषयों से पैदा हुए विषय सुख का अनुभव करता है जानता है ॥४३॥

विषयसुखं च कीदृशमित्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपं दर्शयन् परे सुखे निमज्जननिमित्तत्वेन तदनुभवेऽपि श्रमं दर्शयति –

आत्माभिमुखधीवृत्तौ स्वानन्दः प्रतिबिम्बति ।
अनुभूयैनमत्रापि त्रिपुट्या श्रान्तिमाप्नुयात् ॥४४॥

अन्वय :– आत्माभिमुखधीवृत्तौ स्वानन्दः प्रतिबिम्बति एनं त्रिपुट्या अनुभूय अत्रापि श्रान्तिं आप्नुयात् ।

'आत्मेति' । अनागतविषयसंपादनादिना दुःखमनुभूय तन्निवृत्तये मृदुशय्यादौ शयानस्य बुद्धिरन्तर्मुखा भवति, तस्यां च बुद्धिवृत्तौ स्वरूपभूत आनन्दः स्वाभिमुखे दर्पणे मुखमिव प्रतिबिम्बति, एष हि विषयानन्दः । अत्राप्यस्यामपि बेलायामेनं विषयानन्दमनुभूयानुभवित्रनुभवानुभाव्यलक्षणया त्रिपुट्याः श्रमं प्राप्नुयात् ॥४४॥

ततः किं तत्राह –

तच्छ्रमस्यापनुत्त्यर्थं जीवो धावेत् परात्मनि ।
तेनैक्यं प्राप्य तत्रत्यो ब्रह्मानन्दः स्वयं भवेत् ॥४५॥

अन्वयः—तच्छ्रमस्यापनुत्त्यर्थं जीवः परात्मनि धावयेत् तेनैक्यं प्राप्य स्वयं तत्रत्यः ब्रह्मानन्दः भवेत् ।

'तच्छ्रमस्येति' । तस्य त्रिपुटीदर्शनजनितस्य श्रमस्यापनोदाय स एव जीवः परमात्मन्यानन्दरूपे ब्रह्मणि धावेत् शीघ्रं गच्छेत् । गत्वा च तेन ब्रह्मणैक्यं तादात्म्यं गत्वा 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इति श्रुतेः स्वयमपि तत्रत्यस्तस्यां सुषुप्तौ स्थितौ ब्रह्मानन्दो भवेत् । ४५॥

विषय सुख है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर विषय सम्बन्धी सुख का स्वरूप दिखाते हुए परमसुख में निमग्न होने के निमित्त उस अनुभव में भी परिश्रम दिखाते हैं—

आत्माभिमुख जो बुद्धि की वृत्ति है उसमें अपने आनन्द का प्रतिबिम्ब पड़ता है । उस समय भी जीव विषयानन्द का अनुभव करके (जानकर) त्रिपुटी से श्रान्ति परिश्रम को मानता है ॥४४॥

अनागत विषय सम्पादन से उत्पन्न हुए दुःख का अनुभव करके उसकी निवृत्ति के लिए कोमल शय्या में सोता हुआ व्यक्ति अन्तर्मुख वृत्ति युक्त हो जाता है। उस बुद्धि की वृत्ति में अपना स्वरूप जो आनन्द उसका प्रतिबिम्ब इस प्रकार पड़ता है जैसे अपने सन्मुख दर्पण में अपना मुख मण्डल की भाँति प्रतिबिम्ब होता है । यही विषयानन्द कहलाता है । उस समय में भी जीव विषयानन्द का अनुभव करता हुआ भी अनुभविता (ज्ञाता) अनुभव (ज्ञान) और अनुभाव्यरूप (ज्ञेय) इन त्रिपुटी से थका सा ही रहता है ॥४४॥

अस्मिन्नुपपादिते सौषुप्ते आनन्दे शकुन्यादयो बहवो दृष्टान्ताः श्रुत्युक्ता विद्यन्त इत्याह—

दृष्टान्ताः शकुनिः श्येनः कुमारश्च महानृपः ।
महाब्राह्मण इत्येते सुप्त्यानन्दे श्रुतीरिताः ।।४६।।

अन्वय :—दृष्टान्ताः शकुनिः श्येनः कुमारः महानृपः महाब्राह्मणश्च इति एते सुप्त्यानन्दे श्रुतीरिताः ।

'दृष्टान्ता इति' । शकुन्यादिभिः पञ्चभिर्दृष्टान्तैः सुप्तावानन्दोपपादनेन तत्र सुखं नास्तीति मतं निराकृतम् ।।४६।।

इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? इसका समाधान करते हैं—

त्रिपुटीजन्य श्रम की निवृत्ति के लिए जीव आनन्द रूप परम ब्रह्म में दौड़कर जाता है और वहाँ परमब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त कर स्वयं सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द स्वरूप हो जाता है ।।४५।।

उस त्रिपुटी दर्शन जनित परिश्रम की निवृत्ति के लिए वही जीव परमानन्दरूप ब्रह्म में शीघ्र गमन करता है । और वहाँ जाकर उस परम ब्रह्म के साथ एकता सम्पादनकर रहे सोम्य ! उस समय वह सत् से सम्पन्न हो जाता है वह अपने स्वरूप को प्राप्त होता है । इसी से स्वपिति कहते हैं इस छान्दोग्य श्रुति के अनुसार स्वयं भी उस सुषुप्ति में अवस्थित ब्रह्मानन्द रूप हो जाता है ।।४५।।

इस उपपादित सौषुप्त आनन्द में शकुनि आदि अनेक दृष्टान्त श्रुतिकथित मिलते हैं, इस प्रकार कहते हैं—

पक्षी, बाज, कुमार, महाराजा और महाब्राह्मण ये सभी दृष्टान्त सुषुप्ति के ब्रह्मानन्द की सिद्धि के लिए श्रुति में कहे हैं ।।४६।।

शकुनि पक्षी श्येन पक्षी, कुमार, चक्रवर्ती राजा और महाब्राह्मण (तत्त्व ज्ञानी) इन पाँच ये दृष्टान्त हैं । अर्थात् शकुनि आदिकों ने सुषुप्ति में आनन्द को देखा है । इससे सुषुप्ति में सुख नहीं है यह बात ठीक नहीं है ।।४६।।

तत्र तावत् 'स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपाश्रयते एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपाश्रयते' प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (छा० ६।८।२) इत्यस्य दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकप्रतिपादनपरस्य 'छान्दोग्य' श्रुतिवाक्यस्यार्थं संक्षेपेण दर्शयति श्लोकद्वयेन —

शकुनिः सूत्रबद्धः सन्दिक्षु व्यापृत्य विश्रमम् ।
अलब्ध्वा बन्धनस्थानं हस्तस्तम्भाद्युपाश्रयेत् ॥४७॥

अन्वय :—सूत्रबद्धः सन् शकुनिः दिक्षु व्यापृत्य विश्रमम् अलब्ध्वा बन्धनस्थानं हस्तस्तम्भादि उपाश्रयेत् ।

'शकुनिरिति' । हस्तादौ क्वचिदाधारसूत्रेण बद्धः शकुनिः पक्षी आहारादिग्रहणाय दिक्षु प्राच्यादिषु व्यापारं कृत्वा तत्र विश्रमं विश्रम्यतेऽस्मिन्निति विश्रमः आधारस्तमलब्ध्वा बन्धनस्थानं हस्तादिक मेव यथाश्रयेत् ॥४७॥

उन दृष्टान्तों में प्रथम उस शकुनि पक्षी को दो श्लोकों से दिखाते हैं । जो इस छान्दोग्य श्रुति में कहा है —

जैसे हाथ में पकड़ी हुई डोरी में बँधा हुआ पक्षी दिशा दिशाओं में उड़कर अन्यत्र स्थान न मिलने पर अपने बन्धन का स्थान जो हाथ और स्तम्भ आदि हैं उनका ही आश्रय लेता है । इसी प्रकार हे सोम्य यह मन दिशा-दिशा में उड़कर अन्यत्र स्थान न मिलने से अपने बन्धन प्राण[१] का ही आश्रय लेता है । उसी प्रकार निश्चय ही हे सोम्य ! यह मन दिशा में उड़कर अन्यत्र स्थान न मिलने पर प्राण का ही आश्रय लेता है । क्योंकि हे सोम्य मन[२] प्राणरूप बन्धन वाला है । ४७॥

हस्त, स्तम्भ आदि पर कहीं आधार सूत्र पर बंधा हुआ पक्षी आहार आदि ग्रहण के लिए प्राची आदि दिशाओं में उड़कर वहाँ विश्राम लेने का स्थान न पाकर पुनः अपने बन्धन स्थान, हस्त आदि पर आश्रय ग्रहण करता है ।।४७।।

विशेष १— प्राणेन ब्रह्मणा वध्यते सुषुप्तौ एकीभवति ।
२— सौषुप्तअज्ञानावच्छिन्नब्रह्मणि लीनं भवति ।

जीवोपाधिमनस्तद्वद्धर्माधर्मफलाप्तये ।
स्वप्ने जाग्रति च भ्रान्त्वा क्षीणे कर्मणि लीयते ॥४८॥

अन्वय :—तद्वत् जीवोपाधिमनः धर्माधर्मफलाप्तये स्वप्ने जाग्रति च भ्रान्त्वा क्षीणे कर्मणि लीयते ।

'तथा जीवोपाधिभूतं मनोऽपि पुण्यापुण्यफलयोः सुखदुःखयोरनुभवाय स्वप्नजाग्रदवस्थयोस्तत्र तत्र भ्रान्त्वा भोगप्रदे कर्मणि क्षीणे सति स्वोपादानेऽज्ञाने विलीयते, तल्लये च तदुपहितो जीवः परमात्मैव भवतीत्यर्थः ॥४८॥

इदानीं श्येनदृष्टान्तप्रपञ्चनपरस्य 'तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहृत्य पक्षौ स्वालयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुषएतस्मा आनन्दाय धावति यत्र सुप्तो न कंचनं कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति' (बृ० ४।३।१९) इत्यस्य बृहदारण्यक वाक्यस्यार्थं संक्षिप्याह—

श्येनो वेगेन नीडैकलम्पटः शयितुं व्रजेत् ।
जीवः सुप्त्यै तथा धावेद्ब्रह्मानन्दैकलम्पटः ॥४९॥

अन्वय :—श्येनः वेगेन नीडैकलम्पटः शयितुं व्रजेत् तथा जीवः ब्रह्मानन्दैकलम्पटः सुप्त्यै धावेत् ।

'श्येन इति' । यथा आकाशे सर्वतः प्रचरन् श्येन एतन्नामा पक्षी गगने संचारनिमित्तश्रमपरिहाराय शायितुं शयनं कर्तुं नीडैकलम्पटः कुलायैकाभिलाषवान् व्रजेत् शीघ्रं गच्छेत् तद्वदेव जीवो मन उपाधिकश्चिदाभासोऽपि ब्रह्मानन्दैकाभिलाषवान् स्वापाय शीघ्रं गच्छेत्, हृदयाकाशमिति शेषः ॥४९॥

उसी प्रकार जीवात्मा की उपाधि मन भी पुण्य पाप के फल रूप जो सुख-दुःख रूप है, उसको भोगने के लिए स्वप्न और जाग्रत में भ्रमण करके भोग के दाता कर्म के नाश होने पर अपना उपादान कारण जो अज्ञान[1] है उसमें लीन हो जाता है और मन के लय होने पर मन है उपाधि जिसकी ऐसा जीव परमात्मा ही हो जाता है ॥४८॥

अब श्येन के दृष्टान्त को विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करनेवाले उस बृहदारण्य के वाक्य का संक्षेप से अर्थ को कहते हैं—

जिस प्रकार इस आकाश में श्येन व सुपर्ण (गरुड़) पक्षी जहाँ-तहाँ भ्रमण कर और थकने के अनन्तर अपने पंखों को सिकोड़कर अपने आलय घोंसले की ओर आ जाता है। इसी प्रकार यह पुरुष भी इस स्थान की ओर दौड़ता है। जहाँ सोने पर यह किसी भोग की इच्छा नहीं करता और न कोई स्वप्न देखता है ॥४९॥

विशेष —१ अज्ञानं नाम सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्ति अहमज्ञ इत्यादि अनुभवात् ।

'स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते' (बृ० २।१।१९) इति कुमारादिदृष्टान्तत्रयप्रदर्शनपरं 'बालाकिब्राह्मण' गतवाक्यं श्लोकत्रयेण व्याचष्टे —

अतिबालः स्तनं पीत्वा मृदुशय्यागतो हसन् ।
रागद्वेषाद्यनुत्पत्तेरानन्दैकस्वभावभाक् ॥५०॥

अन्वय :—अतिबालः स्तनं पीत्वा मृदुशय्यागतः हसन् रागद्वेषाद्यनुत्पत्तेः आनन्दैकस्वभानभाक् (अवतिष्ठते) ।

'अतिबाल इत्यादिना' । यथा स्तनंधयः शिशुः आगलं स्तनं पाययित्वा मृदुत्वादिगुणयोगिनि तल्पे शायितः स्वकीयादिज्ञानशून्यत्वेन रागादिरहितः सन् सुखमूर्तिरेवावतिष्ठते ॥५०॥

जैसे आकाश में सर्वत्र विचरण करता हुआ श्येन नामक पक्षी (बाज) गमन के संचार निमित्त उत्पन्न श्रम को दूर करने के लिए घोंसले की ओर गमन करने की इच्छा वाला होकर दौड़ता है वैसे ही मन (लिंग शरीर) उपाधिक चिदाभास[1] रूप जीव भी केवल ब्रह्मानन्द की अभिलाषा वाला होकर दौड़कर शीघ्र ही हृदयाकाश में पहुँचता है ॥४९॥

अब कुमार महाराज, महाब्राह्मण ये तीनों जैसे आनन्द की सीमा (अवधि) को प्राप्त होकर शयन करते हैं । ऐसे ही यह जीव भी सुषुप्ति में शयन करता है यह बात बालाकि ब्राह्मण का जो वाक्य है उसके तात्पर्य को कहकर तीन श्लोकों से कहते हैं

जैसे अत्यन्त छोटा बालक अपने कण्ठ तक स्तनपान कराने के अनन्तर कोमल शय्या पर सुलाया वह अपने पराये आदि के ज्ञान रहित हुआ सुख की मूर्ति होकर रहता है ॥५०॥

विशेष १ — आभासस्याऽपिजडाजडविलक्षणत्वेन अनिर्वचनीयत्वात् । बालाग्र के सहस्रांश परिणाम वाली सूक्ष्म हितानाम नाडियों में वह सत्तरह तत्त्वों का लिंग शरीर रहता है । सुषुप्ति में जो जीव का आत्मा में प्रवेश कहा है इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वह मुक्त आत्मा की भाँति स्वरूप में स्थित हो जाता है । यह स्थिति तो पूर्ण बोध होने पर होती है । सुषुप्त जीव का अव्याकृत माया के अंश भूत कारण शरीर से सम्बन्ध बना रहता है । तात्पर्य यह है ब्रह्म में कारण शरीर के सहित प्रवेश करता है ।

महाराजः सार्वभौमः संतृप्तः सर्वभोगतः ।
मानुषानन्दसीमानं प्राप्यानन्दैकमूर्तिभाक् ।।५१।।

अन्वय :—सार्वभौमः महाराजः सर्वभोगतः संतृप्तः मानुषानन्दसीमानं प्राप्य आनन्दैक मूर्तिभाक् अवतिष्ठते ।

'यथा वा सार्वभौमो राजाऽविशदबुद्धित्वेऽपि सर्वैर्मानुषानन्दैर्युक्तत्वात्प्रार्थनीयाभावेन रागादि-रहित आनन्दमूर्तिरेवावतिष्ठते ।।५१।।

महाविप्रो ब्रह्मवेदी कृतकृत्यत्वलक्षणाम् ।
विद्यानन्दस्य परमां काष्ठां प्राप्यावतिष्ठते ।।५२।।

अन्वय :—महाविप्रः ब्रह्मवेदी कृतकृत्यत्वलक्षणम् परमां विद्यानन्दस्य काष्ठां प्राप्य अवतिष्ठते ।

यथा वा महाविप्रो महाब्राह्मणः प्रत्यगभिन्नब्रह्मसाक्षात्कारवान् 'अहं कृतकृत्यः' इत्येवंरूपां विद्यानन्दस्य परमां सीमां जीवन्मुक्ततां प्राप्तः परमानन्दस्वरूप एवावतिष्ठते तथा सुप्तोऽप्यानन्दरूपस्ति-ष्ठतीति शेषः ।।५२।।

जैसे महाराज चक्रवर्ती राजा निर्मल बुद्धि न होने पर भी सम्पूर्ण जो मनुष्यों के आनन्द[1] हैं उनसे युक्त होने पर भी किसी पदार्थ की भी प्रार्थना के अभाव से अर्थात् लौकिक आनन्द की अवधि को प्राप्त होकर केवल आनन्द मूर्ति होकर रागादि से शून्य होकर रहता है ।।५१।।

महान् ज्ञानी प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार करने वाला है और जिसने सब कुछ करने योग्य प्राप्त कर लिया है । इस प्रकार ब्रह्मानन्द की परम अवधि पर पहुंचकर आनन्द रूप ही बन जाता है ।।५२।।

जैसे प्रत्यग् शोधित त्वं पदार्थ जीव से अभिन्न ब्रह्म का साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान महाविप्र श्रेष्ठ ब्राह्मण मैं कृतार्थ हूँ, मैंने प्राप्त करने योग्य वस्तु को प्राप्त कर ली है । इस प्रकार विद्यानन्द की परम सीमा रूप अर्थात् जीवन मुक्ति को प्राप्त होकर ब्रह्मानन्द स्वरूप में स्थित हो जाता है । वैसे ही सुषुप्ति में पहुँचा हुआ व्यक्ति आनन्द रूप बन जाता है ।।५२।।

विशेष १— यह लौकिक आनन्द भी ब्रह्मानन्द का ही अंश है अविद्या से विज्ञान का तिरस्कार होने पर अविद्या का उत्कर्ष होने पर कर्मवश लोक में लौकिक हो गया । सा च पराकाष्ठा स एको मानुष आनन्द (तै० २।८) ।

नन्वेते कुमारादयस्त्रय एव किमिति दृष्टान्तीकृताः, नान्य इत्याशङ्क्य, दृष्टान्तत्रयोदहरण-तात्पर्यमाह—

मुग्धबुद्धातिबुद्धानां लोके सिद्धा सुखात्मता ।
उदाहृतानामन्ये तु दुःखिनो न सुखात्मकाः ॥५३॥

अन्वय :—मुग्धबुद्धातिबुद्धानां लोके सुखात्मता सिद्धा उदाहृतानां अन्ये तु दुःखिनः न सुखात्मकाः ।

'मुग्धेति'। विवेकशून्यानां मध्ये अति बालः सुखी विवेकिषु सार्वभौमः अतिविवेकिष्वानन्दात्म-साक्षात्कारवानेव । इतरे तु सर्वदा रागादिमत्त्वादसुखिन इति न दृष्टान्तीकृता इत्यर्थः ॥५३॥

भवन्त्वेते सुखिनः, प्रकृते किमायातमित्याशङ्क्य, दार्ष्टान्तिक श्रुतिवाक्यस्य तात्पर्यमाह

कुमारादिवदेवायं ब्रह्मानन्दैकतत्परः ।
स्त्रीपरिष्वक्तवद्वेद न बाह्यं नापि चान्तरम् ॥५४॥

अन्वय :—कुमारादिवत् एव अयं ब्रह्मानन्दैकतत्परः स्त्रीपरिष्वक्तवत् न बाह्यं नापि चान्तरम् वेद ।

'कुमारादीति'। कुमारादिवत् कुमारादयो यथाऽऽनन्दभाजः एवमयमपि सुषुप्तः ब्रह्मानन्दैकतत्परः, ब्रह्मानन्दैकभागित्यर्थः । ब्रह्मानन्दैकपरत्वे युक्तिप्रदर्शनपरं 'तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं' (बृ० ४।३।२१) इति ज्योतिर्ब्राह्मणगतं वाक्यमर्थतोऽनुक्रामति—'स्त्रीपरिष्वक्तेति । यथा लोके प्रियया आलिङ्गितः कामी बाह्याभ्यन्तरविषयज्ञानशून्यत्वात्सुखमूर्तिर्भवति तथा सुषुप्तौ प्राज्ञेन परमात्मनैक्यं गतो जीवो बाह्यादिविषयज्ञानाभावादानन्दरूप एव भवति ॥५४॥

यदि कहो कि ये कुमार आदि तीनों ही दृष्टान्त क्यों दिये, अन्य को भी क्यों नहीं दिये इस शंका को दूर करने के लिए तीनों दृष्टान्तों के उदाहरण के तात्पर्य को कहते हैं —

विवेक से शून्य मुग्ध (बालक) विवेक सम्पन्न लोगों में चक्रवर्ती राजा अत्यन्त विवेक प्राप्त लोगों में आत्मा को जानने वाला ब्रह्मवेत्ता ही सुखी है । शेष तो सभी रागादि युक्त होने से सर्वदा दुःखी ही रहते हैं इसलिए उन्हीं लोगों का दृष्टान्त नहीं दिया है ॥५३॥

ठीक है ये तीनों बालक आदि सुखी रहें । प्रकृत में क्या सिद्ध हुआ यह शंका करके दृष्टान्त के बोधक श्रुति के वाक्य का जो तात्पर्य उसको कहते हैं—

कुमारादि की भांति तीनों आनन्द के भागी हैं । इसी प्रकार यह सुषुप्त में स्थित मनुष्य भी एक ब्रह्मानन्द में तत्पर (आसक्त) बना रहता है । ब्रह्मानन्द रूप मात्र होने में युक्ति दिखाते हैं । बृहदारण्य के वाक्य में कहा है । जैसे संसार में प्रिय स्त्री के द्वारा आलिङ्गन प्राप्त हुआ, पुरुष कामी न तो बाह्य और न ही आन्तर के विषय को जानता है । बाह्य आन्तर विषय ज्ञान रहित हुआ व्यक्ति सुख रूप से अवस्थित हो जाता है. उसी प्रकार सुषुप्तिकाल में प्राज्ञरूप परमात्मा एकता को प्राप्त हुआ जीव बाह्य और आन्तर विषयज्ञान के अभाव से ब्रह्मानन्द स्वरूप होकर स्थित हो जाता है ॥५४॥

अत्र दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकवाक्यस्थयोर्बाह्याभ्यन्तरशब्दयोर्विवक्षितमर्थं क्रमेण दर्शयति—

बाह्यं रथ्यादिजं वृत्तं गृहकृत्यं यथान्तरम् ।
तथा जागरणं बाह्यं नाडीस्थः स्वप्न आन्तरः ॥५५॥

अन्वय :—रथ्यादिजं वृत्तं बाह्यं यथा आन्तरम् गृहकृत्यं तथा जागरणं बाह्यं नाडीस्थः आन्तरः स्वप्नः ।

'बाह्यमिति' । वृत्तं वृत्तान्तः । नाडीस्थः जाग्रद्वासनया नाडीमध्ये प्रतीयमानः प्रपञ्चः स्वप्न इत्युच्यते। ।५५॥

जीवः सुप्तौ ब्रह्मानन्दरूपेणैवावतिष्ठत इत्यत्र युक्तिप्रदर्शनपरायाः 'अत्र पिताऽपिता भवति' (बृ० ४।३।२२) इत्यादिकायाः श्रुतेस्तात्पर्यमाह—

पितापि सुप्तावपितेत्यादौ जीवत्ववारणात् ।
सुप्तौ ब्रह्मैव नो जीवः संसारित्वासमीक्षणात् ॥५६॥

अन्वय :—पितापि सुप्तौ अपिता इत्यादौ जीवत्ववारणात् सुप्तौ ब्रह्मैव संसारित्वा समीक्षणात् नो जीवः ।

'पितेति' । अत्र सुप्तावाध्यासिकानां पितृत्वादिजीवधर्माणां श्रुत्यैव निवारितत्वाज्जीवत्वाप्रतीतौ ब्रह्मतैवावशिष्यत इत्यर्थः ॥५६॥

अब दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक वाक्य में स्थित बाह्य एवं आन्तर शब्दों के विवक्षित अर्थ को क्रमशः दिखाते हैं—

जैसे गली आदि का जो वृत्तान्त है वह बाह्य है । एवं गृहकार्य आन्तर वृत्तान्त है । इसी प्रकार जागरण बाह्य है और जाग्रत अवस्था कीवासना से हिता नाम की नाडी के मध्य मे प्रतीत हुआ जो स्वप्न है वह आन्तर है ॥५५॥

जीव चिदाभास सुषुप्ति दशा में ब्रह्मानन्द रूप में स्थित हो जाता है । इस विषय में युक्ति की बोधक अत्र पिताऽपिता भवति इस बृहदारण्यक श्रुति का तात्पर्य कहते हैं—

इस सुषुप्ति अवस्था में पिता भी पिता नहीं रहता अर्थात् अध्यास किए (माने) जो पितृत्व आदि जीव के धर्म हैं, उनकी निवृत्ति होने से जीवभाव की भी प्रतीति न होने से और मैं संसारी कर्ता भोक्ता हूँ जीव धर्म की अप्रतीति होने पर ब्रह्मरूपता शेष रह जाती है ॥५६॥

ननु पितृत्वाद्यभिमानाभावेऽपि सुखित्वादिसंसारः किं न स्यादित्याशङ्क्य, संसारस्य देहाभिमान-मूलत्वात्तदभावेऽभाव इति मन्वानस्तत्प्रतिपादकं 'तीर्णो हि तदा सर्वाञ्शोकान् हृदयस्य भवति' (बृ० ४।३।२२) इति समनन्तरवाक्यं तात्पर्यतो व्याचष्टे—

पितृत्वाद्यभिमानो यः सुखदुःखाकरः स हि ।
तस्मिन्नपगते तीर्णः सर्वाञ्छोकान्भवत्ययम् ॥५७॥

अन्वय :—यः पितृत्वाद्यभिमानः स हि सुखदुःखाकरः तस्मिन् अपगते सर्वान् शोकान् अयं तीर्णः भवति ।

'पितृत्वादीति' ॥५७॥

ननूदाहृताभिः श्रुतिभिर्न सुख प्राप्तिर्मुखतोऽभिधीयमानोपलभ्यत इत्याशङ्क्य, तत्राभिधानपरं 'कैवल्यश्रुति' वाक्यमर्थतः पठति –

सुषुप्तकाले सकले विलीने तमसावृतः ।
सुखरूपमुपैतीति ब्रूते ह्याथर्वणी श्रुतिः ॥५८॥

अन्वय : —सकले सुषुप्तिकाले विलीने तमसावृतः सुखरूपं उपैति इति हि आथर्वणी श्रुतिः ब्रूते ।

'सुषुप्तीति' । सकले जाग्रदादिलक्षणे प्रपञ्चे विलीने स्वोपादानभूतायां तमःप्रधानायां प्रकृतौ विलयं गते सति तमसा तया प्रकृत्या आवृत आच्छादितो जीवः सुखरूपं ब्रह्मोपैतीति तस्याः श्रुतेरर्थः ॥५८॥

अब शंका करते हैं कि पितृत्वादि का अभिमान न रहने पर भी सुख दुःख रूप से संसार क्यों नहीं होगा ? सांसारिक सभी धर्म देहाभिमान को लेकर होते हैं और देहाभिमान ही इसमें कारण है। इसलिए उसके न रहने से नहीं रहेगा उसके प्रतिपादक श्रुति वाक्य की व्याख्या करते हैं। उस समय पुण्य-पाप से रहित होता है और हृदय के सम्पूर्ण शोकों को पार कर लेता है –

जो पितृत्व मातृत्व आदि का अभिमान जीव में है वही सुख एवं दुःख का आकर मूल का कारण है। उस मिथ्या भूत अभिमान को दूर कर देने पर सम्पूर्ण शोकों से वह जीव तर जाता है ॥५७॥

पूर्वोक्त श्रुति वाक्यों से प्रधानत सुख की प्राप्ति नहीं दिखाई देती ऐसी आशङ्का कर,

समाधान में— सुख की प्राप्ति के प्रतिपादक वाक्य को अर्थतः पाठ करते हैं—

सम्पूर्ण जाग्रदादि लक्षण वाले प्रपञ्च को अपने उपादान भूत तमः प्रधान प्रकृति तत्त्व में (आवरण शक्ति वाले अविद्या में) विलीन हो जाने पर उस तम प्रधान प्रकृति से आच्छादित हुआ यह जीव सुखरूपता को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अथर्ववेद की कैवल्य उपनिषद् रूप श्रुति कहती है ॥५८॥

विशेष १— सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति । पुनश्च जन्मान्तर कर्म योगात् स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः ॥१३॥

न केवलमेवं श्रुतिप्रसिद्धोऽर्थः, किंतु सर्वानुभवसिद्धोऽपीत्याह—

सुखमस्वाप्समत्राहं न वै किंचिदवेदिषम् ।
इति सुप्ते सुखाज्ञाने परामृशति चोत्थितः ॥५९॥

अन्वय :—अत्र अहं सुखमस्वाप्सं किंचित् न वै अवेदिषम् इति सुप्ते सुखाज्ञाने उत्थितः च परामृशति ।

'सुखमिति' । सुषुप्तादुत्थितः पुरुषः 'एतावन्तं कालं सुखमहमस्वाप्सं, न किंचिदवेदिषम्' इत्येवं निद्राकालीने सुखाज्ञाने परामृशति स्मरति, अतोऽपि सुप्तौ सुखमस्तीत्यवगम्यते ॥५९॥

ननु परामर्शस्याप्रमाणत्वात्कथं तद्‌बलात्सुखसिद्धिरित्याशङ्क्य, तस्याप्रामाण्येऽपि तन्मूलभूतानुभवबलात्तत्सिद्धिरित्यभिप्रायेणाह—

परामर्शोऽनुभूतेऽस्तीत्यासीदनुभवस्तदा ।
चिदात्मत्वात्स्वतो भाति सुखमज्ञानधीस्ततः ॥६०॥

अन्वय :—परामर्शः अनुभूतेस्ति इति तदा अनुभवः आसीत् चिदात्मत्वात् सुखं स्वतो भाति ततः अज्ञानधीः ।

'परामर्श इति' । परामर्शः स्मरणज्ञानमनुभूत एव विषये भवति, नाननुभूतविषय इत्यस्माद्धेतोस्तदा सुप्तावनुभव आसीदित्यवगम्यते । ननु सुप्तौ मनःसहितानां ज्ञानकरणानां विलीनत्वात्कथमनुभवे सिद्धिरित्याशङ्क्य, किं सुखानुभवसाधनं नास्तीत्युच्यते, अज्ञानानुभवसाधनं वा ? नाद्यः स्वप्रकाशचिद्रूपत्वेन सुखस्य करणानपेक्षत्वात् । न द्वितीयः स्वप्रकाशसुखबलादेव तदावरकाज्ञानप्रतीतिसिद्धेरित्यभिप्रायेणाह —'चिदात्मेति' । ततः स्वप्रकाशसुखादज्ञानधीरज्ञानस्य प्रतीतिर्भवर्त ति ॥६०॥

यह केवल श्रुति सिद्ध ही अर्थ नहीं है, अपितु सर्वानुभवसिद्ध भी है। इस प्रकार कहते हैं—

सुप्त[1]काल से उठा हुआ व्यक्ति कहता है कि मैंने सुप्त दशा में कुछ भी नहीं जाना और मैं सुखपूर्वक सोया था। इस प्रकार सुषुप्ति कालीन सुख एवं अज्ञान इन दोनों का परामर्श करता है ॥५९॥

सुषुप्ति से उठा पुरुष इतने समय तक मैं सुख पूर्वक सोया था और 'मैंने कुछ भी नहीं जाना। इस प्रकार निद्रा कालीन सुख और अज्ञान दोनों का परामर्श पूर्वक स्मरण करता है। इसलिए भी सुषुप्ति अवस्था में सुख है यह अनुभव से अवगत होता है ॥५९॥

विशेष —१ सुषुप्ति में जाग्रत और स्वप्न के भोग्य पदार्थों का ज्ञान न होने पर भी कारण अविद्या की (१) साक्ष्याकार (२) सुखाकार (३) अज्ञानाकार तीन वृत्तियाँ मानी जाती हैं। उक्त तीन वृत्तियों के मध्य साक्षी तो असंग चैतन्य मात्र रूप है।

ननु सौषुप्तसुखस्य स्वप्रकाशसुखत्वेऽपि 'ब्रह्मानन्दः स्वयं भवेत्' इत्यत्रोक्तं ब्रह्मरूपत्वं न संभवति, मानाभावादित्याशङ्क्य, 'विज्ञानमानन्दम्' (बृ० ३।९।२८) इत्यादि 'बृहदारण्यक' वाक्यस्य सद्भावान्नैवमित्याह –

ब्रह्म विज्ञानमानन्दमिति वाजसनेयिनः ।

पठन्त्यतः स्वप्रकाशं सुखं ब्रह्मैव नेतरत् ॥६१॥

अन्वय, वाजसनेयिनः ब्रह्मविज्ञानं आनन्दं इति पठन्ति अतः स्वप्रकाशं सुखं ब्रह्मैव इतरत् न

ब्रह्म विज्ञानमिति' ॥६१॥

कदाचित् कहो कि परामर्श (स्मरण) अप्रमाण है तो कैसे उसके बल से सुख की सिद्धि होगी सो ठीक नहीं क्योंकि परामर्श अप्रमाण रहे उस परामर्श का मूल जो अनुभव उसके बल से सुख की सिद्धि को दिखाते हैं

अनुभव किए पदार्थ का स्मरण हुआ करता है । इससे सुषुप्ति में अनुभव है और सुख तो चित् रूप होने से आप ही स्वतः प्रतीत होता है । उस स्वयं प्रकाश सुख से अज्ञान भी भासता है ॥६०॥

स्मरण[1] उसी विषय का होता है, जिसे विषय का अनुभव हुआ हो, अननुभूत विषय में नहीं होता । इससे सुषुप्ति में अनुभव था यह जाना जाता है ।

प्रश्न उठता है सुषुप्ति में मन सहित ज्ञान इन्द्रियों की कारण शरीर अविद्या में लय होने से कैसे अनुभव सिद्ध होगा ।

इस शंका में यह विकल्प है कि सुख के अनुभव का साधन नहीं है । यह कहते हो । वा अज्ञान के अनुभव का साधन नहीं यह कहते हो । इन दोनों में प्रथम तो नहीं कह सकते क्योंकि स्वप्रकाश चित् स्वरूप सुख को इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं है । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं । क्योंकि स्वप्रकाश रूप सुख के बल से ही उसके आवरण (ढकना) वाले अज्ञान की प्रतीति हो जायगी इस अभिप्राय से कहते हैं कि उस स्वप्रकाश रूप सुख से अज्ञान का ज्ञान सुषुप्ति में होता है ॥६०॥

कदाचित् कहो कि सुषुप्ति कालीन सुख स्वप्रकाश रूप होने पर भी स्वयं ब्रह्मानन्द हो जाता है। पूर्वोक्त ब्रह्म रूप सुख नहीं हो सकता है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है । ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं कि (विज्ञानमानन्द) इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति वाक्य का प्रमाण है । इससे स्वप्रकाश सुख रूप ब्रह्म है अन्य नहीं है ।

ब्रह्म विज्ञान एवं आनन्दरूप है इसलिए वह स्वयं प्रकाशस्वरूप है, इस बाजसनेयी शाखा वाले का कथन है कि सुषुप्ति अवस्था का सुख ब्रह्मरूप ही है इससे अतिरिक्त नहीं है । ६१॥

विशेष, १— स्मरणमूलाविद्या की ही वृत्ति है । चित्रदीप में देखो २५ श्लोक तूला अविद्या की नहीं है । साक्षिभास्य मूल अविद्या ।

ननु अनुभव-स्मरणयोरेकाधिकरणत्वनियमात् 'सुखमहस्वाप्सं, न किंचिदवेदिषम्' इति च सौषुप्तसुखाज्ञानयोर्विज्ञानमयशब्दवाच्येन जीवेन स्मर्यमाणत्वात् तस्यैव सुखाद्यनुभवितृत्वं वक्तव्यमित्याशङ्क्य, तदुपाधेर्विज्ञानस्याज्ञानकार्यस्याज्ञाने विलीनत्वान्मैवमित्यभिप्रायेणाह –

यदज्ञानं तत्र लीनौ तौ विज्ञानमनोमयौ।
तयोर्हि विलयावस्था निद्राऽज्ञानं च सैव हि ॥६२॥

अन्वय : – यत् अज्ञानं तत्र तौ विज्ञानमनोमयौ लीनौ तयोः विलयावस्था सैव हि निद्राऽज्ञान च (व्यवह्रियते)

'यदज्ञानमिति'। 'न किंचिदवेदिषम्' इति स्मरणान्यथानुपपत्त्या गम्यमानं यदज्ञानमस्ति, तत्र तस्मिन्नज्ञाने तौ प्रमातृप्रमाणत्वेन प्रसिद्धौ विज्ञानमनोमयौ विलीनौ विज्ञानत्वाद्याकारं परित्यज्य कारणरूपेणावस्थितौ, अतस्तदुपाधिकस्य नानुभवितृत्वमिति भावः। तत्रोपपत्तिमाह – 'तयोरिति'। हि यस्मात्तयोर्विज्ञानमनोमययोर्विलयावस्था निद्रेत्युच्यते। विज्ञानविरतिः सुप्तिः' इत्यभिधानात् तर्हि निद्रायामेव विलीनाविति वक्तव्यमित्याशङ्क्याह 'अज्ञानमिति'। सैव निद्रा विद्वद्भिरज्ञानमिति व्यवह्रियत इत्यर्थः ॥६२॥

कदाचित् कहो कि अनुभव और स्मरण का अधिकरण एक ही होता है। अर्थात् जिसको अनुभव होता है। उसी को स्मरण होता है इस नियम से 'सुखमहमस्वाप्सं, न किञ्चिदवेदिषम्' मैं सुख में सोया, कुछ ज्ञान न रहा, यह जो सुषुप्ति के सुख और ज्ञान का स्मरण विज्ञान शब्द का वाच्य जो चिदाभास रूप जीव को हुआ है। तो उस जीव को ही सुख आदि का अनुभव भी कहना चाहिए। ऐसी शंका कर कहते हैं अज्ञान का कार्य जो विज्ञान है वह अज्ञान में लीन हो गया –

जिस अज्ञान का सुषुप्ति दशा में अनुभव होता है। उसी अज्ञान में विज्ञानमय एवं मनोमय का लय हो जाता है। उन दोनों की विलय अवस्था को निद्रा कहते हैं वही निद्रा अज्ञान कहलाती है। ६२॥

'न किञ्चिदवेदिषम्' मैंने कुछ नहीं जाना यह तो प्रातःकाल उठे पुरुष को अज्ञान का स्मरण होता है। उस स्मरण की अन्यथा अनुपपत्ति से याने इससे अनुमान किया सुषुप्तिकाल का अज्ञान है। उसी अज्ञान में प्रमाता प्रमाण रूप से प्रसिद्ध जो विज्ञानमय और मनोमय है ये दोनों लीन हो जाते हैं। अर्थात् विज्ञानत्व आकार आदि आकार को छोड़कर अपने कारणरूप (अज्ञान) से अवस्थित हो जाते हैं। इसलिए सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि उपाधि से युक्त विज्ञानमय चिदाभास रूप जीव अज्ञान का अनुभविता (अनुभव) नहीं बन सकता, क्योंकि उन विज्ञानमय और मनोमय दोनों की विलय स्थित ही निद्रा कहलाती है। (विज्ञान विरति सुप्ति) विज्ञान का जो विरति (अभाव) उसको ही सुषुप्ति कहते हैं। इस अभिधान से तो निद्रा में ही वे विज्ञानमय एवं मनोमय दोनों विलीन हो जाते यह कहना चाहिए। ऐसी शंका कर कहते हैं कि वह निद्रा अर्थात् सुषुप्ति ही अज्ञान है ऐसा विद्वान् लोगों का कहना है ॥६२॥

ननु तर्हि सौषुप्तसुखाद्यनुभवकालेऽसतो विज्ञानमयस्य प्रबोधे कथं तत्स्मर्तृत्वमित्याशङ्क्य, विलयावस्थायामपि तत्स्वरूपनाशाभावाद्विलयावस्थोपाधिमदानन्दमयरूपेणानुभवितृत्वं 'विज्ञान' शब्दवाच्य-घनीभावोपाधिमत्त्वेन स्मृतत्वं चैकस्य घटत इत्यभिप्रायेणाह -

विलीनघृतवत् पश्चात् स्याद्विज्ञानमयो घनः ।
विलीनावस्थ आनन्दमयशब्देन कथ्यते ॥६३॥

अन्वय : विलीनघृतवत् पश्चात् विज्ञानमयः घनः स्यात् विलीनावस्थः आनन्दमयशब्देन कथ्यते ।

'विलीनेति' । यथाऽग्निसंयोगादिना विलीनं घृतं पश्चाद्वाय्वादिसम्बन्धवशाद्घनीभवति एवं जाग्रदादिषु भोगप्रदस्य कर्मणः क्षयवशान्निद्रारूपेण विलीनमन्तःकरणं पुनर्भोगप्रदकर्मवशात्प्रबोधे विज्ञानाकारेण घनीभवति अतस्तदुपाधिक आत्मापि विज्ञानमयो घनः स्यात्, स एव पूर्वं विलयावस्थोपाधिकः सन्नानन्दमय इत्युच्यते ॥६३॥

कदाचित् कहो कि जो विज्ञानमय सुषुप्तिकाल के सुखादि के अनुभव समय में नहीं था वह प्रातःकाल जाग्रत के समय में उनके स्मरण का कर्ता कैसे होगा, ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं- विलय अवस्था में भी उसके स्वरूप का नाश नहीं होता इससे विलय अवस्थारूप उपाधि वाला जो आनन्दमय है। उसको तो उक्त सुख का अनुभव होता है और विज्ञानमय नाम की जो सघन (दृढ़) घनीभाव रूप उपाधि है, उस उपाधि वाले को स्मरण होता है, इससे अनुभव और स्मरण एक में घटते हैं, इस अभिप्राय से कहते हैं --

जैसे पिघला घी बाद में शीत से पुनः घनीभूत हो जाता है जम जाता है। वैसे विज्ञानमय जीव घन हो जाता है और वही विज्ञानमय विलयावस्था रूप उपाधि से युक्त आनन्दमय शब्द से कहा जाता है ॥६३॥

जैसे अग्नि के संयोग आदि से विलीन तपा घी पीछे वायु आदि के सम्बन्ध से घन जम जाता है। इसी प्रकार जाग्रत आदि अवस्थाओं में भोग के दाता कर्मों के नाश होने से निद्रा रूप से लय को प्राप्त हुआ अन्तःकरण भी फिर प्रातःकाल जागरण के समय भोग के दाता कर्म के वश होकर विज्ञान के आकार में घन होता है। इसमे विज्ञान है उपाधि जिसकी ऐसा विज्ञानमय आत्मा भी घन होता है और उसकी ही जब विलय अवस्था उपाधि होती है तब वही आनन्दमय कहलाता है ॥६३॥

'विलीनावस्थ आनन्दमयः' इत्युक्तमेवार्थं स्पष्टीकरोति—

सुप्तिपूर्वक्षणे बुद्धिवृत्तिर्या सुखबिम्बिता ।
सैव तद्बिम्बसहिता लीनानन्दमयस्ततः ॥६४॥

अन्वय : सुप्तिपूर्वक्षणे या बुद्धिवृत्तिः सुखबिम्बिता सैव इतद्बिम्बसहिता ततः लीना आनन्दमयः (इति अभिधीयते) ।

'सुप्तीति' । सुप्तेः पूर्वस्मिन्नव्यवहिते क्षणे याऽन्तर्मखा बुद्धिवृत्तिः स्वरूपभूतसुखप्रतिबिम्बयुक्ता भवति, ततः अनन्तरं तत्प्रतिबिम्बसहिता सैव वृत्तिर्निद्रारूपेण विलीना 'आनन्दमय' इत्यभिधीयते ॥६४॥

एवमानन्दमयस्वरूपं प्रदर्श्य, तस्यैव प्रबोधकाले विज्ञानमयरूपेण स्मर्तृत्वसिद्धये तदानीं सुखानुभवमुपपादयति—

अन्तर्मुखो य आनन्दमयो ब्रह्मसुखं तदा ।
भुङ्क्ते चिद्बिम्बयुक्ताभिरज्ञानोत्पन्नवृत्तिभिः ॥६५॥

अन्वय :—अन्तर्मुखो यः आनन्दमयः तदा ब्रह्मसुखं चिद्बिम्बयुक्ताभिः अज्ञानोत्पन्नवृत्तिभिः भुङ्क्ते ।

'अन्तर्मुख इति' । सुखप्रतिबिम्बसहितान्तर्मुखधीवृत्तिजनितसंस्कारसहिताज्ञानोपाधिको य आनन्दमयस्तदा सुषुप्तौ ब्रह्मसुखं स्वरूपभूतं सुखं चिदाभाससहिताभिरज्ञानादुत्पन्नाभिः सुखादिगोचराभिर्वृत्तिभिः सत्त्वपरिणामविशेषैर्भुङ्क्तेऽनुभवति ॥६५॥

अब विलीन अवस्था वाले को ही आनन्दमय कहते हैं इसको ही स्पष्ट करते हैं कि—

सुषुप्ति से पूर्व क्षण में जो बुद्धिवृत्ति सुख के प्रतिबिम्ब से युक्त होती है । इसके बाद वहीं बुद्धिवृत्ति प्रतिबिम्ब के सहित निद्रारूप से विलीन आनन्दमय कहलाती है ॥६४॥

सुषुप्ति के पूर्व मे अव्यवहित पहले क्षण में जो अन्तर्मुखी बुद्धिवृत्तिस्वरूपभूत सुख के प्रतिबिम्ब से युक्त होती है । अनन्तर उस प्रतिबिम्ब के सहित वही बुद्धिवृत्ति निद्रारूप से होकर "आनन्दमय" कहलाती है ॥६४ ।

इस प्रकार आनन्दमय का स्वरूप दिखाकर उसी आनन्दमय का प्रबोध काल में विज्ञानमय रूप से स्मरणकर्तृत्व सिद्ध करने के लिए सुषुप्ति में सुख के अनुभव को कहते हैं—

अन्तर्मुख जो अज्ञान उपाधि से युक्त आनन्दमय है । वह सुषुप्तकाल में चिदाभास से युक्त होकर अज्ञानजनित वृत्तियों से सुख का भोग करता है ॥६५॥

स्वरूपसुख सुख के प्रतिबिम्ब सहित जो अन्तरमुख, बुद्धि की वृत्ति से उत्पन्न संस्कारों से उत्पन्न जो अज्ञान उपाधि वाला आनन्दमय है । वह सुषुप्ति दशा में स्वरूपभूत ब्रह्मसुख को चिदाभास सहित अज्ञान से उत्पन्न हुई सुखादि विषयक सत्व गुण की परिणाम विशेष वृत्तियों स भोग (अनुभव) करता है ॥६५॥

ननु तर्हि जागरण इव 'इदानीं सुखमनुभवामि' इत्यभिमानः कुतो न स्यादित्याशङ्क्य, अविद्या-वृत्तीनां बुद्धिवृत्तिवत्स्पष्टत्वाभावादित्यभिप्रायेणाह—

अज्ञानवृत्तयः सूक्ष्मा विस्पष्टा बुद्धिवृत्तयः ।
इति वेदान्तसिद्धान्तपारगाः प्रवदन्ति हि ॥६६॥

अन्वय :—अज्ञानवृत्तयः सूक्ष्माः बुद्धिवृत्तयः विस्पष्टा इति हि वेदान्तसिद्धान्तपारगाः प्रवदन्ति ।

'अज्ञानवृत्तयः इति' । इदं कुतोऽवगतमित्यत आह 'इतीति' ॥६६॥

नन्वानन्दमयो ब्रह्मानन्दं सूक्ष्माभिरविद्यावृत्तिभिर्भुङ्क्त इत्यत्र किं प्रमाणमित्यत आह—

माण्डूक्यतापनीयादिश्रुतिष्वेतदतिस्फुटम् ।
आनन्दमयभोक्तृत्वं ब्रह्मानन्दे च भोग्यता ॥६७॥

अन्वय :—माण्डूक्यतापनीयादिश्रुतिषु एतत् अतिस्फुटम् आनन्दमयभोक्तृत्वं ब्रह्मानन्दे च भोग्यता ।

'माण्डूक्येति' । एतच्छब्दार्थमेवाह 'आनन्देति' ॥६७॥

कदाचित् कहो कि जागरण के समय सुषुप्ति में सुख को जानता हूँ यह अभिमान क्यों नहीं होता—

शंका—का उत्तर यह है कि सुषुप्ति दशा में अविद्या की वृत्तियाँ जाग्रत कालीन बुद्धि की तरह स्पष्ट नहीं होती है । इसलिए अभिमान नहीं होता, इस आशय से कहते हैं—

सुषुप्त दशा में अज्ञान जनित वृत्तियाँ सूक्ष्म होती हैं और जाग्रत में बुद्धि की वृत्तियाँ अत्यन्त स्पष्ट प्रतीत होती है इसलिए सुख का अनुभव हो जाता है । क्योंकि यह वेदान्त[1] सिद्धान्त पारंगत लोगों का कथन है ॥६६॥

अब आनन्दमय सूक्ष्म अविद्या की वृत्तियों से ब्रह्मानन्द को भोगता है इसमें प्रमाण को कहते हैं—

माण्डूक्य एवं तापनीय उपनिषदों में यह बात स्पष्ट कही हुई है कि आनन्दमय भोक्ता और ब्रह्मानन्द भोग्य है ॥६७॥

विशेष —१ वेदानां अन्तोऽवसानभाग उपनिषद् जीवब्रह्मअभेदबोधकवाक्यम् ।

इदानीं 'सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः' (माण्डू० ५) इति 'माण्डूक्यादि'[1] श्रुतिगतं वाक्यमर्थतः पठति—

एकीभूतः सुषुप्तस्थः प्रज्ञानघनतां गतः ।
आनन्दमय आनन्दभुक्चेतोमयवृत्तिभिः ॥६८॥

अन्वय :—सुषुप्तस्थः एकीभूतः प्रज्ञानघनतां गतः आनन्दमयः चेतोमयवृत्तिभिः आनन्दभुक् ।

'एकीभूत इति' । सुषुप्तं सुषुप्तिः, तत्र तिष्ठतीति सुषुप्तस्थः, सुषुप्त्यभिमानीत्यर्थः । आनन्दमय आनन्दप्रचुरः, आनन्दभुक् स्वरूपभूतमानन्दं भुङ्क्त इत्यानन्दभुक् चेतोमयवृत्तिभिरिति चेतश्चैतन्य तन्मय्यस्तत्प्रचुराः, चित्प्रतिबिम्बसहिता इत्यर्थः, ताश्च ता वृत्तयश्च चेतोमयवृत्तयः, ताभिरानन्दभुगिति योजना ॥६८॥

तद्वाक्यगतस्य 'एकीभूत' इति पदस्यार्थमाह—

विज्ञानमयमुख्यैर्यो रूपैर्युक्तः पुराधुना ।
स लयेनैकतां प्राप्तो बहुतण्डुलपिष्टवत् ॥६९॥

अन्वय :—यः विज्ञानमयमुख्यैः रूपैः पुरा युक्तः अधुना स लयेन एकतां बहु तण्डुलपिष्टवत् प्राप्तः ।

'विज्ञानेति' । यः आत्मा पुरा जागरणावस्थायां विज्ञानमयमुख्यैः 'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयः' 'बृ० ४।४।५) इत्यादिश्रुत्युक्तै रूपैराकारविशेषैर्युक्तोऽभूत्, स एवाधुना लयेन विज्ञानमनआद्युपाधिविलये नैकतामेकाकारतां प्राप्तो गतो भवति । तत्र दृष्टान्तमाह—'बह्विति' । बहुतण्डुलजनितपिष्टवदित्यर्थः ॥६९॥

अब सुषुप्त स्थान इस श्रुति के वाक्य का अर्थतः पाठ करते हैं—

अब सुषुप्ति में स्थित आनन्दमय एकीभाव को प्राप्त हुआ, प्रज्ञानघन होकर चिदाभास रूप जीव से युक्त अज्ञान वृत्तियों के द्वारा आनन्द का भोग करने वाला हो जाता है ॥६८॥

जो सुषुप्ति अवस्था में स्थित रहने वाला सुषुप्ति का अभिमानी है । वह आनन्दमय-आनन्द प्रचुर अपने स्वरूप के आनन्द का चिदाभास सहित अज्ञानकृत वृत्तियों से भोग करने वाला बन जाता है ॥६८॥

विशेष —१ त्रिषुधामसुयद् भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद् भवेत् । तेभ्योविलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं-सदाशिवः । कै० १८ ।

अथ 'प्रज्ञानघन' शब्दार्थमाह—

प्रज्ञानानि पुरा बुद्धिवृत्तयोऽथ घनोऽभवत् ।
घनत्वं हिमबिन्दूनामुदग्देशे यथा तथा ॥७०॥

अन्वय : पुरा प्रज्ञानानि बुद्धिवृत्तय अथ घनोऽभवत् यथा उदग्देशे हिमविन्दूनां घनत्वं तथा ।

'प्रज्ञानानीति' । पुरा पूर्वं जाग्रदादौ 'प्रज्ञान' शब्दवाच्या घटादिगोचरा या बुद्धिवृत्तयोऽभवन्, अथ सुषुप्तिकाले घटादिविषयाभावे सति घनोऽभवत् त्रिद्रूपैणैकरूपोऽभूत् । तत्र दृष्टान्तमाह— 'घनत्वमिति' ॥७०॥

माण्डूक्य श्रुतिगत एकीभूत पद का अर्थ बताते हैं—

जो चिदाभास पहले विज्ञानमय एवं मनोमय आदि-आदि आकारों से विशिष्ट था । वही अब सुषुप्ति काल में विज्ञानमय मनोमय आदि उपाधि के विलय हो जाने के कारण एकरूप बन जाता है । जैसे बहुत से तण्डुलों को पीस कर पिट्टी बनाई गयी है ॥६६॥

बृहदारण्यक श्रुति कहती है कि जो यह आत्मा पहले जाग्रत अवस्था में विज्ञानमय-मनोमय-प्राणमय आदि आकार विशेषो से युक्त था । वही अभी विज्ञानमय आदि यह आत्मा ब्रह्म है जो विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुमय, श्रोतृमय, पृथ्वीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय; अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय एकीभाव को प्राप्त हो जाता है । इसमें दृटान्त देते हैं— जैसे बहुत से तण्डुलों को पीसकर एक पिट्टी बना दी गयी हो ॥६६॥

अब 'प्रज्ञानघन' शब्द के अर्थ का प्रतिपादन करते हैं—

जागरण दशा में जो प्रज्ञान रूप बुद्धि वृत्तियाँ थीं, वे सुषुप्ति में एक घन हो गयी हैं । जैसे जल प्रदेश में हिमालय में हिम की बहुत सी बूँद परस्पर मिलकर कठिन हो जाती है ॥७०॥

विशेष —१ सत् घन चिद्घन आनन्द ब्रह्म तत्त्व हैं । यह माया से पोल हो गया ।

इदानीं 'प्रज्ञानघन' शब्दार्थनिरूपणप्रसङ्गादागतं किंचिदाह --

तद्घनत्वं साक्षिभावं दुःखाभावं प्रचक्षते ।
लौकिकास्तार्किका यावद्दुःखवृत्तिविलोपनात् ॥७१॥

अन्वय :—तद्घनत्वं साक्षिभावं दुःखभावं प्रचक्षते लौकिकाः तार्किकाः यावद् दुःखवृत्तिविलोपनात् (प्रचक्षते) ।

'तद्घनत्वमिति' । यदिदं वेदान्तेषु साक्षित्वेनाभिधीयमानं प्रज्ञानघनत्वमस्ति, तदेव लौकिकाः शास्त्रसंस्काररहिताः तार्किका वैशेषिकादयः शास्त्रिणश्च दुःखाभावं प्रचक्षते दुःखाभाव इत्याहुः । कुत इत्यत आह —'यावदिति' । यावत्यो दुःखवृत्तयस्तासां सर्वासा विलयादित्यर्थः ॥७१॥

अब प्रज्ञानघन शब्द के अर्थ निरूपण के प्रसङ्ग से आया हुआ किंचित् अधिक अर्थ कहते हैं—

जो वेदान्त शास्त्र में साक्षिभाव प्रज्ञानघन कहा गया है उसी को लौकिक और तार्किक जन दुःखाभाव कहते हैं । क्योंकि जितनी भी दुःख वृत्तियाँ हैं वे सभी विलीन हो जाती है ॥७१॥

जो यह वेदान्तों में साक्षीरूप से कहा प्रज्ञानघनत्व है उसी को ही लौकिक मनुष्य शास्त्र संस्कार रहित साधारण जन और तार्किक वैशेषिक आदि शास्त्रज्ञ लोग दुःखाभाव कहते हैं । क्यों कहते हैं ?

उत्तर—यह है कि जितनी भी दुःख की वृत्तियाँ हैं । वे सब की सब सुषुप्ति अवस्था में विलीन हो जाती है । दुःख रूप वृत्तियों का विलय हो जाता है ॥७१॥

जागरण अवस्था में "प्रज्ञान" शब्द के वाच्य घटादिविषयक जो बुद्धि वृत्तियाँ थी, वे सबकी सब सुषुप्ति में घटादि विषय के न रहने पर घन[1] =चिद्रूप से एकरूप हो जाती है । इसमें दृष्टान्त देते हैं - जैसे जल के बिन्दु घन (कठिन) हो जाती है ॥७०॥

पूर्वोदाहृतश्रुतिवाक्यगत 'चेतोमुख' शब्दार्थमाह—

अज्ञानबिम्बिता चित्स्यान्मुख मानन्दभोजने ।
भुक्तं ब्रह्मसुखं त्यक्त्वा बहिर्यात्यथ कर्मणा ॥७२॥

अन्वय : अज्ञानबिम्बिता चित् आनन्दभोजने मुखं स्यात् भुक्तं ब्रह्म सुखं त्यक्त्वा अथ कर्मणा बहिर्याति ।

'अज्ञानेति' । आनन्दभोजने सौषुप्तब्रह्मानन्दास्वादने मुखं साधनमज्ञानबिम्बिता चित्स्याद् अज्ञानवृत्तौ प्रतिबिम्बितं चैतन्यमेव भवेत् । ननु सुषुप्तावानन्दमयरूपेण जीवेन ब्रह्मसुखं चेद्भुज्यते तर्हि तत्परित्यज्याथ बहिः कुतो जागरणं दुःखालयमागच्छेदित्यत आह—'भुक्तमिति' । पुण्यापुण्यकर्मपाशबद्ध-त्वात्तेन प्रेरितो जीवः साक्षात्कृतमपि ब्रह्मानन्दं परित्यज्याथ बहिर्याति, जागरणादिकं गच्छतीत्यर्थः ॥७२॥

अब पूर्वोक्त श्रुति वाक्य के "चेतोमुख" शब्द का अर्थ कहते हैं—

अज्ञानवृत्ति में प्रतिबिम्बित चित् रूप ही है सुप्तदशा में ब्रह्म सुख का आस्वादन करने में साधन और कर्म द्वारा प्रेरित जीव अनुभव किये हुए ब्रह्म सुख को त्यागकर बाहर आ जाता है ।।७२।।

सुषुप्तिकाल का जो ब्रह्मानन्द उसके आस्वादन करने में साधन अज्ञानवृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही है । अब शंका करते हैं कि सुषुप्ति में आनन्दमय होकर जीव ब्रह्म सुख भोगता है । तो ब्रह्म सुख को त्यागकर बाहर दुःख के स्थान रूप जागरण को क्यों आता है । उत्तर में कहते हैं पुण्य पाप रूप पाश में बंधा हुआ होने के कारण उस कर्म द्वारा प्रेरित होकर जीव भुज्यमान ब्रह्म सुख को छोड़कर बाहर आ जाता है । जाग्रत अवस्था में चला जाता है ।।७२।।

विशेष १— जैसे घर में स्थित माता की गोद में से उठा बालक बाहर जाकर अन्य बालकों के साथ खेल करता है । जब खेल से थककर माता की गोद में बैठकर घर के सुख को अनुभव करके श्रम से निवृत्त होता है । जब बालक बुलाते हैं । तब खेल को बाहर जाता है । इसी प्रकार सुषुप्ति में स्थित अज्ञान जो कारण शरीर उस अविद्या माता के विक्षेपशक्ति अंश रूप गोद से उठा जो चिदाभास से युक्त अन्तःकरण रूपी बालक जो जाग्रत या स्वप्न रूप बाहर के प्रदेश में जाकर क्रिया के निमित्त प्रारब्ध कर्मरूप अन्य बालकों के साथ व्यवहार रूप कर्म करता । जब जाग्रत स्वप्न के भोग प्रद कर्म की उपरति हो जाने पर फिर सुषुप्ति में अज्ञान रूप माता की गोद में विलीन हो जाता है । सुषुप्ति रूप घर में स्वरूप भूत ब्रह्मानन्द को अनुभव करके जाग्रत स्वप्न रूप व्यापार जन्य श्रम को दूर करता है ।

एतत्कुतोऽवगम्यत इत्याशङ्क्य, पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः' (कै० १४) इति 'कैवल्य' श्रुतिवाक्यादिति मन्वानस्तद्वाक्यमर्थतः पठंस्तदभिप्रायमाह —

कर्म जन्मान्तरेऽभूद्यत्तद्योगाद्बुध्यते पुनः ।
इति कैवल्यशाखायां कर्मजो बोध ईरितः ॥७३॥

अन्वय : -कर्मजन्मान्तरे भूयात् तद्योगात् पुनः बुध्यते इति कैवल्यशाखायां बोधः कर्मजः ईरितः ।

'कर्मेति' ॥७३॥

सुप्तौ ब्रह्मानन्दोऽनुभूत इत्यत्र लिङ्गं चाह—

कंचित्कालं प्रबुद्धस्य ब्रह्मानन्दस्य वासना ।
अनुगच्छेद्यतस्तूष्णीमास्ते निर्विषयः सुखी ॥७४॥

अन्वय :—प्रबुद्धस्य ब्रह्मानन्दस्य वासना कंचित्कालं अनुगच्छेत् ततः निर्विषयः सुखी तूष्णीं आस्ते ।

'कंचिदिति' । प्रबुद्धस्य जागरणं प्राप्तस्यापि कंचित्कालं स्वल्पकालपर्यन्तं सुप्तावनुभूतस्य ब्रह्मानन्दस्य वासना संस्कारोऽनुगच्छेदनुगच्छति । कुत एतदवगम्यत इत्यत आह—'यत इति' यतः कारणात् प्रबोधादौ निर्विषयो विषयानुभवरहितोऽपि सुखी सन् तूष्णीमास्तेऽतोऽवगम्यत इत्यर्थः ७४॥

यह किससे प्रतीत होता है यह शंका करके इस कैवल्य श्रुति के वाक्य का अर्थतः पाठ करते हैं—

जो जन्मातन्र में सम्पादित किये हुए पुण्य पाप रूपी कर्म थे । वे सभी जीव के भोग के लिए पुनः जाग्रत हो जाते हैं । यह कैवल्य उपनिषद् में जागरण को कर्म से उत्पन्न हुआ कहा है ॥७३॥

अब सुषुप्ति दशा में ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है । इस विषय में हेतु कहते हैं—

प्रबुद्ध=जगे मनुष्य को किंचित् कालपर्यन्त ब्रह्मानन्द का संस्कार अनुगत रहता है । क्योंकि विषय के अनुभव रहित हुआ भी सुखी होकर चुपचाप तूष्णीभाव में पड़ा रहता है ॥७४॥

जगे सुप्त दशा से उठे हुए पुरुष को कुछ अवधि तक सुषुप्त कालीन अनुभूत (भोगे) ब्रह्मानन्द की वासना अनुगत होती रहती है । यह कैसे ज्ञात होता है । सुप्त अवस्था से उठने पर हम अनुभव करते हैं कि चिदाभास जागरण के आरम्भ में किसी भी विषय का अनुभव न करता हुआ भी, सुखी होकर तूष्णीभाव पूर्वक चुपचाप बैठा रहता है । इसीलिए सुषुप्ति में इसको सुख था और इससे प्रतीत होता है कि सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द का अनुभव हुआ था ॥७४॥

तर्हि तूष्णीं कुतो नावतिष्ठत इत्यतआह—

कर्मभिः प्रेरितः पश्चान्नानादुःखानि भावयन् ।
शनैर्विस्मरति ब्रह्मानन्दमेषोऽखिलो जनः ॥७५॥

अन्वय :—कर्मभिः प्रेरितः पश्चात् नानादुःखानि भावयन् शनैः एषः अखिलः जनः ब्रह्मानन्दं विस्मरति ।

'कर्मभिरिति' । कर्मभिः पूर्वोक्तैर्नोदितः सर्वोऽपि प्राणी पश्चान्नानाविधानि दुःखान्यनुसंदधानः शनैर्ब्रह्मानन्दं विस्मरति ॥७५॥

इतोऽपि ब्रह्मानन्दे न विप्रतिपत्तिः कार्येत्याह—

प्रागूर्ध्वमपि निद्रायाः पक्षपातो दिने दिने ।
ब्रह्मानन्दे नृणां तेन प्राज्ञोऽस्मिन्विवदेत कः ॥७६॥

अन्वय :—निद्रायाः प्राक् ऊर्ध्वं अपि दिने दिने पक्षपातःतेन नृणां अस्मिन् ब्रह्मानन्दे कः प्राज्ञः विवदेत ।

'प्रागिति' । प्रत्यहं मनुष्याणां निद्रायाः प्रागूर्ध्वमपि निद्रारम्भे निद्रावसाने च ब्रह्मानन्दे स्नेहोऽस्ति यतो निद्रार्थी मृदुशय्यादि संपादयन्ति, तदवसाने च तं परित्यक्तुमशक्तास्तूष्णीमासते, तेन कारणेन अस्मिन्नानन्दे को बुद्धिमान्विवदेत ? न कोऽपीत्यर्थः ॥७६॥

शंका—तो फिर सभी काल तूष्णीभाव में क्यों नहीं बैठा रहता है उसका उत्तर देते हैं—

पूर्वोक्त कर्मों से प्रेरित हुआ यह सम्पूर्ण जन पश्चात् अनेक प्रकार के दुःखों का चिन्तन करता हुआ ब्रह्म सुख को धीरे-धीरे विस्मृत कर बैठता है ॥७५॥

इससे भी सुषुप्ति के ब्रह्मानन्द में विवाद नहीं करना चाहिए इस प्रकार कहते हैं—

प्रतिदिन मनुष्यों का निन्द्रा से पूर्व और निन्द्रा से पश्चात् भी ब्रह्मानन्द में प्रतिदिन स्नेह (झुकाव) रहता है । इसलिए इस ब्रह्मानन्द के विषय में कौन बुद्धिमान विवाद करेगा ॥७६॥

नित्य प्रति मनुष्यों का निद्रा से पूर्व भी और निद्रा के आरम्भ से लेकर अवसान पर्यन्त ब्रह्मानन्द में स्नेह रहता है । इसलिए निद्रार्थि मृदु शय्यादि का सम्पादन करते हैं और उस निद्रा के अन्त में भी उस सुख को छोड़ना नहीं चाहते हैं और चुपचाप बैठा हुआ उसका स्मरण करता है । इसी कारण से इस ब्रह्म के आनन्द के विषय में कौन बुद्धिमान् विवाद करेगा ? कोई भी व्यक्ति विवाद में नहीं पड़ेगा ॥७६॥

चोदयति—

नन्नु तूष्णींस्थितौ ब्रह्मानन्दश्चेद्भाति लौकिकाः ।
अलसाश्चरितार्थाः स्युः शास्त्रेण गुरुणात्र किम् ।।७७।।

अन्वय :—ननु तूष्णीं स्थितौ ब्रह्मानन्दश्चेद् भाति लौकिकाः अलसाः चरितार्थाः स्युः अत्र गुरुणा शास्त्रेण किम् ।

'नन्विति' । गुरुशुश्रूषादिलभ्यस्य ब्रह्मानन्दानुभवस्य तूष्णींस्थितिमात्रलभ्यत्वे गुरुशुश्रूषादिपूर्वकं श्रवणादिकं वृथा स्यादित्यर्थः ।।७७।।

इस पर शंका करते हैं—

यदि चुपचाप बैठे रहने से यदि वह ब्रह्मानन्द मिले तो फिर साधारण लोग प्रमादी लौकिक मनुष्य आलस्य से ही चरितार्थ कृतकृत्य हो जायेंगे । इस ब्रह्म सुख की प्राप्ति में शास्त्र से और गुरु से क्या प्रयोजन है ।।७७।।

गुरु जनों की सेवा शुश्रूषा[1] आदि से प्राप्त होने वाला ब्रह्मानन्द का अनुभव (ज्ञान) तूष्णीभाव स्थिति मात्र से प्राप्त होने पर गुरु शुश्रूषादि पूर्वक किये हुए श्रवण मननादि साधन निरर्थक हो जायेगा ।।७७।।

विशेष १—संस्कृतैः प्राकृतैश्चैव गद्य पद्याक्षरैस्तथा, देशभाषादिभिः शिष्यं बोधयेत् स गुरुःस्मृतः ।। गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यात् रुशब्दस्तन्निरोधकः अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ।

आचार्यवान् पुरुषो वेद० छा० ६।१४।२। श्रुतं ह्येव मे भगवद् दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापति (छा० ४।९।३)

आचार्यवान पुरुष ही सत् स्वरूप ब्रह्म को जानता है । नारद जी ने सनकादियों से कहा—मैंने श्रीमान् जैसे ऋषियों से सुना है कि आचार्य से जानी गयी ब्रह्म विद्या ही अतिशय साधुता को प्राप्त होती है । तब सनकादि आचार्य ने उसे उसी ब्रह्म विद्या का उपदेश किया तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं (मु० १।२।१२) तत्=उस नित्य ब्रह्म तत्त्व का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करने के लिए तो हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ के पास ही जाना चाहिए ।

'अयं ब्रह्मानन्द' इति ज्ञाते सति कृतार्थता भवत्येव,तदेव गुरुशुश्रूषादिकमन्तरेण न संभवतीत्याह–

बाढं ब्रह्मेति विद्युश्चेत्कृतार्थास्तावतैव ते ।
गुरुशास्त्रे बिनाऽत्यन्तं गम्भीरं ब्रह्म वेत्ति कः ।।७८।।

अन्वय :—बाढं ब्रह्म इति विद्युः चेत् तावतैव ते कृतार्थाः अत्यन्तं गम्भीरं गुरुशास्त्रे बिना ब्रह्म कःवेत्ति ।

'बाढ़मिति' । अत्यन्तं गम्भीरं दुरवगाहमवाङ्मनसगम्यं सर्वज्ञं सर्वान्तरं सर्वात्मरूपं ब्रह्म गुरुशास्त्रे विहायान्येन केनाप्युपायेन को जानीयात् ? न कोऽपीत्यर्थः ।।७८।।

ननु त्वद्वाक्यादेव ब्रह्मानन्दं जानतो मम न कृतार्थता लभ्यत इत्याशङ्कानुवादपूर्वकं सोपहास-मुत्तरमाह—

जानाम्यहं त्वदुक्त्याऽद्य कुतो मे न कृतार्थता ।
शृण्वत्र त्वादृशो वृत्तं प्राज्ञंमन्यस्य कस्यचित् ।।७६।।

अन्वय :—अहं जानामि अद्य त्वदुक्त्या मे कृतार्थता कुतो न अत्र प्राज्ञंमन्यस्य कस्यचित् वृत्तं त्वादृशः शृणु ।

'जानामीति' ।।७६।।

'अयं ब्रह्मानन्दः' यह ब्रह्मानन्द है, इस प्रकार ज्ञात हो जाने पर कृतार्थता हो जाती है। किन्तु वह ब्रह्म का ज्ञान गुरुशुश्रूषा के बिना असम्भव है इस पर कहते हैं——

ठीक है यह ब्रह्मसुख है यदि ऐसा समझ लिया तब तो इतने से ही वे कृतार्थ हैं परन्तु ऐसा कौन पुरुष है जो गुरू और शास्त्र के विना उस ब्रह्म को जानता है। अत्यन्त गम्भीर मन वाणी का अविषय दुर्जय सर्वज्ञ सर्वात्मरूप सबके आन्दर अवस्थित रहने वाला है। गुरु शास्त्र को छोड़कर उस सर्वज्ञ ब्रह्मतत्त्व को कोई भी किसी भी उपाय से बोध नहीं कर सकता है।।७८।।

शका आपके वाक्य से ही ब्रह्मानन्द को जानने वाले मुझे कृतार्थता नहीं मिली है इस शंका का अनुवाद करके उपहास सहित उत्तर देते हैं—

आज मैंने आपकी युक्ति द्वारा ब्रह्म सुख को पा लिया है फिर भी मेरी कृतार्थता क्यों नहीं हुई इसमें अपने जैसे किसी अपने को बुद्धिमान् मानने वाले का वृत्तान्त सुना ।।७६।।

तमेव वृत्तान्तं दर्शयति—

चतुर्वेदविदे देयमिति शृण्वन्नवोचत ।
वेदाश्चत्वार इत्येवं वेद्मि मे दीयतां धनम् ॥८०॥

अन्वय :—चतुर्वेदविदे दयं इति शृण्वन् अवोचत वेदाश्चत्वारः इत्येवं वेद्मि मे धनम् दीयतां ।

'चतुर्वेदेति' । कश्चिच्चतुर्वेदविदे कस्मैचिदिदं बहुधनं दातव्यमिति एवंविधं वाक्यं श्रुत्वा वेदाश्चत्वार इत्यस्मादेव वाक्यादहं वेद्मि, अतो मे दीयतामिति वक्ति तद्वद् भवानपीत्यर्थः ॥८०॥

ननु वेदाश्चत्वार इति यो वेद स वेदगतां संख्यामेव वेत्ति, न तु वेदानां स्वरूपमिति चोदयति—

संख्यामेवैष जानाति न तु वेदानशेषतः ।
यदि तर्हि त्वमप्येवं नाशेषं ब्रह्म वेत्सि हि ॥८१॥

अन्वय : - एष संख्यां एव जानाति अशेषतः वेदान् तु न, यदि तर्हि त्वमपि एवं अशेषं ब्रह्म हि न वेत्सि ।

'संख्यामिति' । साम्येन समाधत्ते– 'तर्हीति' । एवं चतुर्वेदाभिज्ञंमन्य इव त्वमप्यशेषं सम्पूर्णं यथा भवति तथा ब्रह्म न वेत्सि नैव जानासि ॥८१॥

उसी वृत्तान्त को दिखाते हैं—

ऋग्वेदादि (चारों) वेदों के ज्ञाता के लिए गौ धन आदि देना चाहिए । इस प्रकार वचन श्रवण करता हुआ किसी ने कहा है कि वेद चार ही है, ऐसा मैं जानता हूँ । अतः मुझे धन दिया जावे ॥८०॥

किसी चारों वेद के जानने वाले विद्वान् को सब धन देना चाहिए, इस प्रकार वाक्य सुनकर वेद चार है, यह तो आपके कथन से मैं भी जानता हूँ । कि वेद चार ही है इसलिए मुझे धन दे दो यही आपका कथन है ॥८०॥

शंका – वेद चार है ऐसा जानने वाला वेद की संख्या को ही जानता है । किन्तु वेदों के स्वरूप को नहीं जानता है इस प्रकार आक्षेप करते हैं—

यह केवल संख्या को ही जानता है किन्तु सम्पूर्णतया वेदों के तत्त्व को नहीं जानता है, तुम ब्रह्म तत्त्व को अशेष पूर्णतया नहीं जानते हो, इसलिए कृतार्थता नहीं मिलती है ॥८१॥

समानता का समाधान करते हैं यह तो वेदों की चार संख्या=गिनती को ही जानता है । किन्तु वेदों के स्वरूप को नहीं जानता है । जैसे उसी प्रकार अपने आपको चार वेदों के ज्ञाता मानने वाले तुम ब्रह्म को अच्छी प्रकार नहीं जानते हो ॥८१॥

ननु संख्यातिरिक्तवेदस्वरूपभेद इव स्वगतादिभेदशून्ये आनन्दरूपे ब्रह्मणि अज्ञायमानस्यांशस्याभावादसंपूर्णज्ञानित्वोपालम्भो न घटत इति चोदयति—

अख ण्डैकरसानन्दे मायातत्कार्यवर्जिते ।
अशेषत्वसशेषत्ववार्ताविसर एव कः ।।८२।।

अन्वय :—मायातत्कार्यवर्जिते अखण्डैकरसानन्दे अशेषत्वसशेषत्ववार्ताविसर एव कः ।
'अखण्डैकेति' ।।८२।।

ब्रह्मज्ञानेऽप्यशेषत्वादिकं दर्शयितुं 'ब्रह्म जानामी'ति वदन्तं विकल्प्य, पृच्छति—

शब्दानेव पठस्याहो तेषामर्थं च पश्यसि ।
शब्दपाठेऽर्थबोधस्ते संपाद्यत्वेन शिष्यते ।।८३।।

अन्वय :—शब्दान् एव पठसि अहो तेषां अर्थं च पश्यसि शब्दपाठे ते अर्थबोधः संपाद्यत्वेन शिष्यते ।

'शब्दानिति' । किमखण्डैकरसमद्वितीयसच्चिदानन्दरूपमित्यादिशब्दानेव पठसि, आहो अथवा तेषां शब्दानामर्थं स्वगतादिभेदशून्यत्वादिकं च पश्यसि जानासि ? इति विकल्पार्थः । आद्ये पक्षे सावशेषत्वं दर्शयति—'शब्दपाठ इति' ।।८३।।

शंका—जैसे संख्या से अतिरिक्त वेद के स्वरूप का भेद है, वैसे स्वगतादि भेद रहित आनन्दरूप निरंश ब्रह्म में अज्ञानमय अभाव न होने के कारण मैं अपूर्ण ज्ञानी हूँ यह बात तेरे लिए नहीं हो सकती है। इस प्रकार आक्षेप करते हैं—

माया और उसके कार्य प्रपञ्च से शून्य अखण्ड एक रस ब्रह्मानन्द में पूर्णत्व और अपूर्णत्व कहने का स्थान ही कहाँ है ? अतः ब्रह्म के पूर्ण ज्ञान न होने से कृतार्थता का निषेध असङ्गत है ।।८२।।

ब्रह्म ज्ञान में भी अशेषत्वादिक दिखाने के लिए "मैं ब्रह्म को जानता हूँ" ऐसा बोलने वाले के प्रति विकल्प करके पूछते हैं—

शब्द को ही केवल पढ़ते हो अथवा उसके अर्थ को भी देखते हो । यदि शब्द पाठ में ही लगे हो तो तुम्हें अभी अर्थ ज्ञान प्राप्त करना रह गया है ।।८३।।

क्या अखण्ड एक रस अद्वितीय सच्चिदानन्द रूप इत्यादि शब्दों को ही रटते हो, अथवा उन शब्दों के स्वगतादिभेद शून्य अर्थ को जानते हो ? प्रथम पक्ष में सावशेषत्व दिखाते हैं यदि शब्द का रटना है तो तुम्हारे लिए अर्थ बोध अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार का सम्पादन करना अवशिष्ट रह गया है ।।८३।।

विशेष १—अखण्डएकरस = सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यार्थत्वम् ।

द्वितीयेऽपि तद्दर्शयति—

अर्थे व्याकरणाद्बुद्धेः साक्षात्कारोऽवशिष्यते ।

स्यात्कृतार्थत्वधीर्यावत्तावद्गुरुमुपास्व भोः ॥८४॥

अन्वय : -अर्थे व्याकरणात् बुद्धेः साक्षात्कारः अवशिष्यते यावत् कृतार्थत्वधीः स्यात् तावत् भोः गुरुं उपास्व ।

'अर्थ इति' । व्याकरणादित्युपलक्षणं निगमादेः । व्याकरणादिना परोक्षज्ञाने सम्पादितेऽपि संशयादिनिरासेनापरोक्षीकरणमत्रशिष्यते तर्हि कदा सम्पूर्णत्वं ज्ञानस्येत्याशङ्क्य, तदवधिं दर्शयति—'स्यादिति' । यदा कृतार्थत्वबुद्धिरुत्पद्यते तदा ज्ञानस्य सम्पूर्णताऽवगन्तव्येत्यर्थः ॥८४॥

एवं प्रासङ्गिकं परिसमाप्य. प्रकृतमेवानुसरति –

आस्तामेतद्यत्र यत्र सुखं स्याद्विषयैर्विना ।

तत्र सर्वत्र विद्ध्येतां ब्रह्मानन्दस्य वासनाम् ॥८५॥

अन्वय :—एतत् आस्तां यत्र यत्र विषयैर्विना सुखं स्यात् तत्र सर्वत्र एतां ब्रह्मानन्दस्य वासनां विद्धि ।

'आस्तामिति' । यत्र यत्र यस्मिन्यस्मिन्काले तूष्णींभावादौ विषयानुभवमन्तरेण सुखं भवति, तत्र तत्र सुखस्य विषयजन्यत्वाभावात्सामान्याहंकारावृतत्वाच्च वासनानन्दत्वमवगन्तव्यमित्यर्थः ॥८५॥

अर्थ बोध रूप द्वितीय पक्ष में भी साध्यवत्त्व (शेष) दिखाते हैं -

व्याकरण से अर्थ बोध कर लेने पर भी ब्रह्मसाक्षात्कार करना अवशिष्ट रह गया है । जब तक कृतार्थता का ज्ञान न हो तब तक हे प्रतिपक्षिन् ! सद्गुरु की उपासना करो ॥८४॥

व्याकरण यह उपलक्षण है निगमादि शास्त्रों से परोक्षज्ञान सम्पादन कर लेने पर भी संशय, विपर्यय आदि अविद्या के दोषों को दूर करने के लिए अपरोक्षज्ञान अवशिष्ट है । तब वह ज्ञान की सम्पूर्णता को कब प्राप्त करेगा ।

इस शंका का उत्तर उसकी अवधि को दिखाते हैं कि जब तक आपकी यह बुद्धि हो कि मैं कृतार्थ हूँ । तब तक गुरू की उपासना करो । कृतार्थ बुद्धि की ब्रह्मज्ञान की सम्पूर्णता है ॥८४॥

अब प्रसङ्ग से प्राप्त विषय को समाप्त करके अब प्रकृत विषय का ही अनुसरण करते हैं—

यह सब बातें छोड़ दो और प्रकृत ब्रह्मानन्द विषय को ही कहते हैं । जिस-जिस अवस्था में विषयों के बिना ब्रह्म सुख होता है, उस-उस काल में ब्रह्मानन्द की इस वासना को जानो ॥८५॥

जिस तूष्णीभाव वाली दशा में शब्दादि विषयों से उत्पन्न हुए सुख के बिना ब्रह्म का ही सुख प्राप्त होता है । उस काल में सुख विषय जन्य न होने से तथा सामान्य अहंकार[1] से आवृत (ढका) होने के कारण वासनानन्द जानना चाहिए ॥८५॥

विशेष १—अहंकार तीन प्रकार का है, सामान्य, विशेष, शुद्ध अहंकार, सामान्य अहंकार—अस्मिता अहंकारस्य सूक्ष्मावस्था विशेषदेहादौ अहंबुद्धिः ।

एवं ब्रह्मानन्दवासनानन्दौ दर्शयित्वा इदानीमानन्दत्रैविध्यनियमनायात्माभिमुखधीवृत्तावित्य-श्रोक्तमेव विषयानन्दं पुनरनुवदति—

विषयेष्वपि लब्धेषु तदिच्छोपरमे सति ।
अन्तर्मुखमनोवृत्तावानन्दः प्रतिबिम्बति ॥८६॥

अन्वय :—विषयेषु अपि लब्धेषु तदिच्छोपरमे सति अन्तर्मुखमनोवृत्तौ आनन्दः प्रतिबिम्बति ।

'विषयेष्वपीति' । यदा यदा स्रगादिविषयलाभात्तत्तदिच्छोपरमो भवति तदा तदा मनस्यन्तर्मुखे सति तस्मिन् यः स्वात्मानन्दः प्रतिबिम्बितो भवत्ययं विषयानन्द इत्यर्थः ॥८६॥

फलितमाह

ब्रह्मानन्दो वासना च प्रतिबिम्ब इति त्रयम् ।
अन्तरेण जगत्यस्मिन्नानन्दो नास्ति कश्चन ॥८७॥

अन्वय :- ब्रह्मानन्दः वासना प्रतिबिम्बः च इति त्रयम् अन्तरेण अस्मिन् जगति कश्चन आनन्दः नास्ति ।

'ब्रह्मानन्द इति' । उक्तप्रकारेण स्वप्रकाशतया सुषुप्तौ प्रतिभासमानो यो ब्रह्मानन्दो, यश्च तूष्णीं स्थितौ विषयानुभवमन्तरेण प्रतीयमानो वासनानन्दः, योऽप्यभीष्टविषयलाभादन्तर्मुखे मनसि प्रतिबिम्बितो विषयानन्दः, एतत्त्रितयातिरेकेणास्मिन् जगति न कश्चिदानन्दोऽस्ति । ननु 'आनन्दस्त्रिविधो ब्रह्मानन्दो विद्यासुखं तथा विषयानन्दः' (प्र० ११।१।११) इत्यनेन प्रकारेणानन्दत्रैविध्यमुक्तम्, इदानीं तु 'ब्रह्मानन्दो वासना च प्रतिबिम्ब इति त्रयम्, (प्र० ११।८७) इति तद्विलक्षणमानन्दस्य त्रैविध्यमुच्यते, अतः पूर्वोत्तर-विरोधः । किंच 'यावद्यावदहंकारो विस्मृतोऽभ्यासयोगतः । तावत्तावत् सूक्ष्मदृष्टेर्निजानन्दोऽनुमीयते' (प्र० ११।६८) इति 'तादृक् पुमानुदासीनकालेऽप्यानन्दवासनाम् । उपेक्ष्य मुख्यमानन्दं भावयत्येव तत्परः' (प्र० ११।१२१) इति चोक्तप्रकारद्वयातिरिक्तो निजानन्दमुख्यानन्दावभिधीयेते, तथा द्वितीयाध्याये' मन्द-

इस प्रकार ब्रह्मानन्द और वासना को दिखा करके, अब त्रिविध आनन्द के नियम (समाप्ति) करने के लिए आत्मा के अभिमुख बुद्धि की वृत्ति में आत्मानन्द का प्रतिबिम्ब पड़ता है इस विषयानन्द का पुनः अनुवाद किया जाता है—

विषयों के मिल जाने पर भी उसकी जब इच्छा निवृत्ति हो जाती है, तब अन्तर्मुख हुए मन में आत्मानन्द का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी का नाम विषयानन्द है ॥८६॥

जब कभी अभीष्ट स्रगादि विषय प्राप्त हो जाता है और उसकी चंचलराजसवृत्ति निवृत्त होती है, तब मन के अन्तर्मुख होने पर उसमें जो अपने आत्मानन्द का प्रतिबिम्ब पड़ता है। उसको विषयानन्द कहते हैं ॥८६॥

प्रज्ञं तु जिज्ञासुमात्मानन्देन बोधयेत्' (प्र० १२।४) इति । आत्मानन्दस्ततोऽन्योऽभिधीयते, योगानन्दः पुरोक्तो यः' (प्र० १३।१) इत्यत्र योगानन्दोऽपि कश्चिदवभासते, 'ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे तृतीयाध्याय ईरितः अद्वैतानन्द एव स्यात्' (प्र० १३।१०५) इत्यत्राद्वैतानन्दं चान्यमवगच्छामः । अतः 'अन्तरेण जगत्यस्मिन्नानन्दो नास्ति कश्चन' (प्र० ११।८७) इत्युक्तिर्विरुध्येतेति चेत्—मैवम्, विद्यानन्दस्य विषयानन्दवदन्तःकरणवृत्ति विशेषत्वेन विषयानन्देऽन्तर्भावस्य विषयानन्दवद्विद्यानन्दो धीवृत्तिरूपकः' (प्र० १४।२) इत्युत्तरत्र धीवृत्ति-रूपत्वाभिधानेन विवक्षितत्वान्निजानन्दमुख्यानन्दात्मानन्दयोगानन्दाद्वैतानन्दानां तु ब्रह्मानन्दादनतिरिक्त-त्वाच्च । तथा हि—'यावद्यावदहंकारः' (प्र० ११।८१) इत्युदाहृतश्लोके योगलक्षणोपायगम्यतया योगानन्द त्वेन विवक्षितस्य निजानन्दस्यैव 'न द्वैतं भासते नापि निद्रा तत्रास्ति यत्सुखम् । स ब्रह्मानन्द इत्याह भगवानर्जुनं प्रति' (प्र० ११।१००) इत्यस्मिन्नुत्तरश्लोक एव ब्रह्मानन्दत्वाभिधानान्निजानन्दो ब्रह्मानन्दान्न भिद्यते, तथा मुख्यानन्दोऽपि ब्रह्मानन्द एव । 'तथा च विषयानन्दो वासनानन्द इत्यमू । आनन्दौ जनयन्नास्ते ब्रह्मानन्दः स्वयंप्रभः' (प्र० ११।८८) इत्यत्र जन्यत्वेनामुख्यभूतयोर्विषयानन्दवासनानन्दयोर्जनकत्वेनाभि-हितस्य ब्रह्मानन्दस्यैव 'तादृक्पुमानुदासीनकालेऽपि' (प्र० ११।१२१) इत्युदाहृत एव श्लोके 'आनन्दवासनाम् उपेक्ष्य मुख्यमानन्दं भावयत्येव तत्परः' (प्र० ११।१२१) इति मुख्यानन्दत्वाभिधानात्आत्मानन्दाद्वैतानन्दयोस्तु ब्रह्मानन्दत्वम् 'योगानन्दः पुरोक्तो यः स आत्मानन्द इष्यताम्' (प्र० १३।१) इति तृतीयाध्यादौ प्रथमाध्याये योगानन्दतया विवक्षितस्य ब्रह्मानन्दस्यैव 'योगानन्द' शब्देनानुवादपूर्वकमात्मानन्दतामभिधाय, 'कथं ब्रह्मत्वमेतस्य सद्वयस्येति चेत्' (प्र० १३।१) इति प्रश्नपूर्वकं आकाशादिस्वदेहान्तम् (प्र० १३।२) इत्यादिना-ऽद्वितीयस्य ब्रह्मत्वप्रतिपादनादवगन्तव्यम् । तस्मात् 'ब्रह्मानन्दो वासना च प्रतिबिम्ब' (प्र० ११।८७) इत्युक्तं त्रैविध्यं सुस्थम् । ननु तर्हि 'नन्वेवं वासनानन्दाद् ब्रह्मानन्दादपीतरम् । वेत्तु योगी निजानन्दम्' (प्र० १२।१) इत्यत्र निजानन्दस्य ब्रह्मानन्दवासनानन्दाभ्यां भेदेन निर्देशो न युज्यत इति न शङ्कनीयम् । एकस्यैव ब्रह्मानन्दस्य जगत्कारणत्वोपाधिसाहित्यराहित्यभेदेन भेदव्यपदेशोपपत्तेः । तथा हि ब्रह्मानन्द-निरूपणावसरे 'आनन्दाद्ध्येवेमानि भूतानि जायन्ते' (तै० ३।६) इत्यादिना जगत्कारणत्वाभिधानेन ब्रह्मानन्दस्य समायत्वमवगम्यते, निर्मायस्य जगत्कारणत्वानुपपत्तेः, निजानन्दनिरूपणकालेऽपि 'यावद्यावद-हंकारः' (प्र० ११।६८) इत्यादिना सकारणस्याहंकारस्य विलयप्रतिपादनान्निजानन्दस्य निर्मायत्वमिति सर्वमनवद्यम् ॥८७॥

अब फलितार्थ कहते हैं—

इस प्रकार जगत् में ब्रह्मानन्द, वासनानन्द और विषयानन्द इन तीनों से अतिरिक्त दूसरा कोई भी आनन्द नहीं है ॥८७॥

सुषुप्ति दशा में स्वप्रकाशरूप से प्रतिभासमान जो ब्रह्मानन्द है और जो तूष्णीभाव दशा में विषयानुभव के बिना प्रतीयमान वासनानन्द है ; तथा अभिलषित विषयवस्तु की प्राप्ति से अन्तर्मुख हुए मन में प्रतिबिम्बित विषयानन्द है इन तीनों आनन्दों से अतिरिक्त इस संसार में कोई भी आनन्द नहीं है ।

अब शंका करते हैं कि 'आनन्दो स्त्रिविधो ब्रह्मानन्दो विद्यासुखं तथा विषयानन्द' (प्र० ११।११) इस प्रकरण में ब्रह्मानन्द, विद्यानन्द और विषयानन्द के नाम से तीन प्रकार का आनन्द

दिखाया गया है अब ब्रह्मानन्द, वासनानन्द एवं विषयानन्द से तीन प्रकार का आनन्द कहा जाता है, क्या यह पूर्वोत्तर विरोध नहीं ?

और भी सुनो-यावद्यावदहंकारो विस्मृतोऽभ्यासयोगतः। तावत्तावत्सूक्ष्मदृष्टेर्निजानन्दोऽनुमीयते' ॥ अर्थात् जैसे योगाभ्यास द्वारा उक्त अहंकार का विस्मरण हो जाता है, वसे-वैसे बुद्धि की दृष्टि सूक्ष्म होती जाती है और उत्तरोत्तर सूक्ष्म दृष्टि के होने पर निजानन्द का आविर्भाव होता है, यह अनुमान किया जा सकता है। उक्त प्रकार से दोनों से भिन्न निजानन्द और मुख्यानन्द का कथन किया जाता है तथा द्वितीय अध्याय में 'मन्दप्रज्ञं तु जिज्ञासुमात्मानन्देन बोधयेत्' इस प्रकार आत्मानन्द अतिरिक्त ही बताया है। 'योगानन्दः पुरोक्तो यः' इसमें योगानन्द का भी कहीं वर्णन है।

'ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे तृतीयाध्यायईरितः। अद्वैतानन्द एव स्यात्' इसमें अद्वैत आनन्द का उल्लेख किया गया है। इसलिए 'अन्तरेण जगत्यस्मिन्नानन्दो नास्ति कश्चन' ब्रह्मानन्द, वासनानन्द और विषयानन्द ये तीन प्रकार के आनन्द जगत् में हैं। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी आनन्द नहीं है। इस प्रकार क्या परस्पर विरोध नहीं दीखता है। यह बात नहीं है क्योंकि विद्यानन्द भी विषयानन्द की भाँति अन्तःकरण की वृत्ति विशेष होने से विषयानन्द के अन्तर्गत गिना जाता है। 'विषयानन्दवद्विद्यानन्दो धीवृत्तिरूपकः' बुद्धिवृत्ति रूप से कथन किया गया है, इसलिए निजानन्द मुख्यानन्द आत्मानन्द, योगानन्द और अद्वैतानन्द ये सभी ब्रह्मानन्द से भिन्न नहीं है। तथा इन सभी का विवेचन आगे किया जायेगा। देखिए — यावद्यावदहंकारः' इस उदाहृत श्लोक में योग रूप उपाय से प्राप्त होने के कारण निजानन्द ही योगानन्द रूप में विवक्षित है। 'न द्वैतं भासते नापि निद्रा तत्रास्ति यत्सुखम्' अर्थात् वह द्वैत रूप से नहीं भासता है और न तो निद्रा रूप से ही उसमें जो सुख है वही ब्रह्मानन्द में है, यह गीता में अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है। इस उत्तर वाक्य में ही ब्रह्मानन्द का कथन है। इसलिए निजानन्द भी ब्रह्मानन्द से भिन्न नहीं है तथा मुख्यानन्द भी ब्रह्मानन्दरूप ही है। 'तथा च विषयानन्दो वासनानन्द इत्यमू आनन्दौ जनयन्नास्तेब्रह्मानन्दः स्वयं प्रभः' अर्थात् वैसे तो आनन्द तीन प्रकार का है भेद के बनने से उसमें स्वयं प्रकाश ब्रह्मानन्द विषयानन्द और वासनानन्द इस प्रकार इन दोनों आनन्दों को पैदा करता हुआ स्थिर ब्रह्मानन्द ही होता है। इसलिए ब्रह्मानन्द, वासनानन्द और विषयानन्द ये तीन प्रकार के आनन्द हैं। अच्छा तो ब्रह्मानन्द एवं वासनानन्द से भिन्न रूप से विवेचित निजानन्द को किया है कि 'वेत्तु योगी निजानन्दम्' अर्थात् योगी निजानन्द को जाने, यह बात नहीं है। समाधान — ब्रह्मानन्द तो एक ही है किन्तु जगत् के कारण का बुद्धि उपाधि रहित या उपाधि से मुक्त होने के कारण भेद का कथन प्रतीत होता है। देखो ब्रह्मानन्द के निरूपण काल में 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' आनन्द से ही ये प्राणी उत्पन्न होते हैं। यहाँ पर जगत् के कारण का कथन करते हुए ब्रह्मानन्द को ही माया सहित दिखाया है, क्यों कि माया उपाधि से रहित जगत् का कारण नहीं हो सकता है। इस प्रकार निजानन्द स्वरूप के निरूपण काल में भी 'यावद्यावदहङ्कारः' जितना-जितना अहङ्कार गल जाता है इत्यादि [illegible] से सकारण अहङ्कार के विलय का प्रतिपादित होने से निजानन्द का स्वरूप तो माया से शून्य ही है, [illegible] इसमें दोष नहीं है ॥८७॥

नन्वस्मिन्नध्याये ब्रह्मानन्दविवेचनस्यैव प्रस्तुतत्वादितरानन्दद्वयप्रतिपादनं प्रकृतासंगतमित्याशङ्क्य, तयोर्ब्रह्मानन्दजन्यत्वेन तद्बोधोपयोगित्वान्न प्रकृतासंगतमित्यभिप्रायेणाह—

तथा च विषयानन्दो वासनानन्द इत्यमू ।
आनन्दौ जनयन्नास्ते ब्रह्मानन्दः स्वयंप्रभः ॥८८॥

अन्वयः—तथा च विषयानन्दः वासनानन्द इति अमू आनन्दौ जनयन्स्वयंप्रभः ब्रह्मानन्दः आस्ते ।

'तथेति'। तथा च एवमानन्दत्रैविध्ये सति य स्वयंप्रकाश आनन्दो विषयानन्द-वासनानन्दौ जनयति, स ब्रह्मानन्दो वेदितव्य इत्यर्थः ॥८८॥

वृत्तानुसंकीर्तनपूर्वकमुत्तरग्रन्थमवतारयति—

श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यः स्वप्रकाशचिदात्मके ।
ब्रह्मानन्दे सुप्तिकाले सिद्धे सत्यन्यदा शृणु ॥८९॥

अन्वय :—श्रुति-युक्ति-अनुभूतिभ्यः स्वप्रकाशचिदात्मके सुप्तिकाले ब्रह्मानन्दे सिद्धे सति अन्यदा (जागरण । वस्थायां) शृणु ।

'श्रुतीति'। श्रुतिभिः 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति' (क० १३) इत्यादिभिरुदाहृताभिर्युक्तिभिः 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्यादिपरामर्शान्यथानुपपत्त्यादिभिरनुभूत्या च अर्थापत्तिकल्पितेन सुषुप्त्यनुभवेन च सुषुप्तिकाले स्वप्रकाशो ब्रह्मानन्दः साधितः, इतः परमन्यदा जागरणावस्थायामपि यो ब्रह्मानन्दावगमोपायो वक्ष्यते तं शृण्वित्यर्थः ॥८९॥

शंका—इस अध्याय में ब्रह्मानन्द की ही व्याख्या करना उचित है, अन्य दोनों आनन्दों का व्याख्यान प्रकृति-प्रसङ्ग से अनुकूल नहीं। ऐसी आशंका कर उत्तर देते हैं कि वासनानन्द और विषयानन्द ये दोनों ब्रह्मानन्द जन्य हैं अतः ब्रह्मानन्द में उपयोगी होने के कारण प्रकृत प्रसंग में कुछ असगत नहीं है—

पूर्वोक्त प्रकार से वासनानन्द और विषयानन्द इन दोनों को ही उत्पन्न करता हुआ स्थित होता है वही ब्रह्मानन्द का स्वरूप है ॥८८॥

पूर्वोक्त प्रकार से आनन्द का तीन रूप सिद्ध होने पर जो स्वयं प्रकाश ब्रह्म का आनन्द है वह वासनानन्द और विषयानन्द इन दोनों को उत्पन्न करता है यह जानना चाहिए ॥८८॥

अब पूर्व वृत्तान्त के कथन पूर्वक अगले ग्रन्थ के वर्णन का तात्पर्य को कहते हैं—

श्रुति युक्त और अनुभव रूप प्रमाण से सुषुप्ति काल में स्वप्रकाश चिद्रूप ब्रह्मानन्द के सिद्ध हो जाने पर जाग्रत में भी ब्रह्मानन्द प्राप्ति का उपाय सुनो ।८९॥

'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति' सुप्तदशा में सम्पूर्ण प्रपञ्च के विलय हो जाने पर तम=से अविद्या की आवरण शक्ति से आवृत होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर लेता है। इस कठ श्रुति से 'सुखमहमस्वाप्सम्' मैं सुखपूर्वक सोया था, इत्यादि उदाहृत युक्तियों द्वारा परामर्श की सिद्धि से एवं अर्थापत्ति से पूर्वोक्त इस अर्थापत्तिरूप युक्ति से कल्पित सुषुप्ति कालीन अनुभव से और सुषुप्ति अवस्था में स्वप्रकाश ब्रह्मानन्द सिद्ध होता है। इससे अतिरिक्त दूसरा जागरण काल में भी जो ब्रह्मानन्द प्राप्ति का उपाय कहा जायेगा सुनो ॥८९॥

प्रतिज्ञातमेव ब्रह्मानन्दावगमोपायं दर्शयितुं तदुपोद्घातत्वेन सनिमित्तां जीवस्यावस्थाद्वयप्राप्तिं दर्शयति—

य आनन्दमयः सुप्तौ स विज्ञानमयात्मताम् ।
गत्वा स्वप्नं प्रबोधं वा प्राप्नोति स्थानभेदतः ॥६०॥

अन्वयः—सुप्तौ यः आनन्दमयः स विज्ञानमयात्मताम् गत्वा स्थानभेदतः स्वप्नं प्रबोधं वा प्राप्नोति ।

'य इति' । सुप्तौ सुषुप्तिकाले विलीनावस्थ 'आनन्दमय' शब्देन कथ्यत इत्युक्तो य आनन्दमयः स 'विज्ञान' शब्दाभिधेयबुद्ध्युपाधिमत्त्वेन विज्ञानमयतां प्राप्य स्थानभेदतो वक्ष्यमाणस्थानविशेषयोगेन स्वप्नं जागरणं वा कर्मानुसारेण गच्छति ॥६०॥

इदानीं जाग्रदा[1]द्यवस्थोपयोगिनि दर्शयति—

नेत्रे जागरणं कण्ठे स्वप्नः सुप्तिर्हृदम्बुजे ।
आपादमस्तकं देहं व्याप्य जागर्ति चेतनः ॥६१॥

अन्वयः—नेत्रजागरणं कण्ठे स्वप्नः हृदम्बुजे सुप्तिः आपादमस्तकं देहं व्याप्य चेतनः जागर्ति ।

'नेत्र इति' । 'नेत्र शब्दस्य कृत्स्नदेहोपलक्षणपरतामभिप्रेत्य, 'नेत्रे जागरणम्' इत्यंशस्यार्थमाह— 'आपादेति' । चेतनो जीवः ॥६१॥

अब प्रतिज्ञा किए ब्रह्मानन्द ज्ञान का उपाय दिखाने के लिए उसकी सिद्धि की साधन जीव की दोनों अवस्थाओं की प्राप्ति और उसके कारण को दिखाते हैं -

सुषुप्ति दशा में जो आनन्दमय है वह विज्ञानमयरूपता को प्राप्त होकर स्थान के सम्बन्ध से स्वप्न अथवा जाग्रत अवस्था में कर्मानुसार जाता है ॥६०॥

सुषुप्ति दशा में विलय अवस्था में आनन्दमय शब्द का वाच्य जो पूर्वोक्त आनन्दमय है वह विज्ञान शब्द का वाच्य बुद्धिरूप उपाधि वाला होने से विज्ञानमयभाव को होकर स्थान भेद से अर्थात् वक्ष्यमाण नेत्र कण्ठादि स्थान के सम्बन्ध से स्वप्न दशा अथवा जाग्रत दशा में अपने कर्मानुसार पहुँच जाता है ॥६०॥

अब जागरण आदि अवस्था में उपयोगी होने वाले स्थान को दिखाते हैं—

नेत्र में जागरण, कण्ठ में स्वप्न हृदय कमल में सुषुप्ति अवस्था होती है । चेतन पैर से लेकर मस्तक पर्यन्त स्थूल देह को व्याप्त कर जागता है ॥६१॥

नेत्र शब्द से सम्पूर्ण देह का ग्रहण किया जाता है, नेत्र शब्द उपलक्षण है । सारे शरीर में जागरण अवस्था रहती है । इसलिए श्लोक में उद्धृत किया गया है कि 'नेत्रे जागरणम्' नेत्र देश में जाग्रत अवस्था रहती है तथा कण्ठ प्रदेश में स्वप्नावस्था और हृदयकमल में सुषुप्ति स्थान रहती है, इस प्रकार यह चिद्रूप जीव पैर से सिर तक शरीर में व्याप्त होकर जागता रहता है ॥६१॥

विशेष १— इस जीव के देह में तीन स्थान हैं, जिन तीन स्थानों में बैठकर भिन्न भिन्न तीन स्थानों का अनुभव करता है । जाग्रत अवस्था में दक्षिण नेत्र जीव स्थान है । स्वप्नावस्था में कण्ठगत हिता नाम की नाडी इसका स्थान है । सुषुप्ति अवस्था में पुरीतती नाडी इसका स्थान है ।

'देहं व्याप्य' इत्यनेन विवक्षितमर्थं दृष्टान्तप्रदर्शनेन स्पष्टयति—

देहतादात्म्यमापन्नस्तप्तायः पिण्डवत्ततः ।
अहं मनुष्य इत्येवं निश्चित्यैवावतिष्ठते ।।९२।।

अन्वय :—तप्तायःपिण्डवत् देहतादात्म्यं आपन्नः ततः अहं मनुष्य इति एवं निश्चित्य एव अवतिष्ठते ।

'देहतादात्म्यमिति' । तत्र प्रमाणमाह—'तत इति' यतो मनुष्यत्वादिजातिमता देहेन तादात्म्यं प्राप्तस्ततः 'अहं मनुष्यः' इत्येवं निश्चित्य संशयादिरहितज्ञानेन गृहीत्वैवावतिष्ठते ।।९२।।

देहतादात्म्याभिमानहेतुकान्येवावस्थान्तराणि दर्शयति—

उदासीनः सुखी दुःखीत्यवस्थात्रयमेत्यसौ ।
सुखदुःखे कर्मकार्ये त्वौदासीन्यं स्वभावतः ।।९३।।

अन्वय :—असौ उदासीनः सुखी दुःखी इति अवस्थात्रयं एति सुखदुःखे कर्मकार्ये तु स्वभावतः औदासीन्यं ।

'उदासीन इति' । तत्र सुखित्वदुःखित्वयोः कर्मजन्यत्वज्ञानाय विशेषणभूतयोः सुखदुःखयोस्तद्धेतुकत्वं दर्शयति—'सुखेति' ।।९३।।

देहं व्याप्य इस पद से विवक्षित अर्थ का दृष्टान्त प्रदर्शन द्वारा स्पष्टीकरण करते हैं—

तपाये हुए आयोपिण्ड की भाँति स्थूल शरीर के साथ मिथ्या अभेद को प्राप्त हुआ, बाद में यह जीवात्मा मैं मनुष्य हूँ । इस प्रकार निश्चय करके ही बैठ जाता है ।।९२।।

तपाये हुए अयो लौह पिण्ड के साथ अग्नि का तादात्म्य (एकता) को प्राप्त हुआ । उसी प्रकार यह मनुष्यत्वादि जाति वाले देह के साथ एकता को प्राप्त होकर (जीवात्मा) 'अहं मनुष्यः' मैं मनुष्य हूँ इस प्रकार से निश्चय कर संशयादि रहित ज्ञान से स्थूल शरीर को आत्मभाव से ग्रहण करके ही स्थित होता है ।।९२।।

अब देह में तादात्म्य अभिमान से होने वाली अन्य अवस्थाओं का भी विवेचन करते हैं—

उदासीन, सुखी और दुःखी इन तीन अवस्थाओं को यह देह के साथ तादात्म्यभाव रहने वाला अभिमानी जीव प्राप्त होता है । सुख एवं दुःख कर्म से उत्पन्न होते हैं और उदासीन भाव तो स्वतः सिद्ध है ।।९३।।

देह से सम्बन्ध रखने वाला यह देहाभिमानी जीवात्मा मैं उदासीन सुखी और दुःखी हूँ । इस प्रकार की अवस्थाओं को प्राप्त होता रहता है । सुख और दुःख होने में हेतु तो कर्म ही है, और उदासीन तो स्वतः सिद्ध है ।।९३।।

तयोश्च सुखदुःखयोर्निमित्तभेदाद्द्वैविध्यमाह—

बाह्यभोगान्मनोराज्यात्सुखदुःखे द्विधा मते ।
सुखदुःखान्तरालेषु भवेत्तूष्णीमवस्थितिः ॥९४॥

अन्वय : बाह्यभोगात् मनोराज्यात् सुखदुःखे द्विधा मते सुखदुःखान्तरालेषु तूष्णीं अवस्थितिः भवेत् ।

'बाह्येति' । तर्ह्यौदासीन्यं कदा स्यादित्यत आह–'सुखेति' । व्यक्तिभेदविवक्षयाबहुवचनम् ॥९४॥

तदर्थं जाग्रदाद्युपन्यस्तं तदिदानीं दर्शयति —

न कापि चिन्ता मेऽस्त्यद्य सुखमास इति ब्रुवन् ।
औदासीन्ये निजानन्दभानं वक्त्यखिलो जनः ॥९५ ।

अन्वय :—मे कापि चिन्ता न अस्ति अद्य सुखं आस इति ब्रुवन् औदासीन्ये अखिलो जनः निजानन्दभानं वक्ति ।

'न कापीति' । सर्वोऽपि जन इदानीं मम कापि चिन्ता गृहादिविषया नास्ति अतः सुखं यथा भवति तथा तिष्ठामीति वदन् औदासीन्यकाले स्वरूपानन्दस्फूर्तिं ब्रूते, अतो जागरणावस्थायामपि निजानन्दभानमस्तीत्यवगन्तव्यमित्यभिप्रायः ॥९५॥

उन सुख दुःख के निमित्त भेद से दो प्रकार दिखाते हैं —

बाह्य भोग और मनोराज्य इन दो भिन्न, भिन्न निमित्तों से सुख और दुःख मिलते हैं । सुख और दुःख से मध्य में तूष्णी स्थिति उदासीनता होती है ॥९४॥

उदासीन स्थिति कब प्राप्त होती है,

उत्तर—यह है कि सुख एवं दुःख की मध्यवर्ती अवकाश में उदासीन अवस्था रहता है । बाह्य भोगरूप निमित्त और मनोराज्यरूप निमित्त से सुख एवं दुःख होते हैं । इन दोनों अवस्थाओं के बीच में जब कि न सुख होता है और न दुःख ही होता है वही अवस्था उदासीन कहलाती है ॥९४॥

जिस अर्थ को लेकर जाग्रदादि अवस्थाओं का वर्णन किया गया है उसे अब दिखाते हैं —

जब यह सभी मनुष्य उदासीनता में यह कहते हैं कि अब हमें घर आदि की कुछ चिन्ता नहीं है । मैं सुखपूर्वक बैठा हूँ । इस प्रकार कहते हुए उदासीन अवस्था में निजानन्द की स्फुरणा को अभिव्यक्त करते हैं ॥९५॥

सब लोग इस समय मेरी कोई भी देह गेहादि विषयक चिन्ता नहीं है । अतएव मैं सुख से बैठा हूँ । इस प्रकार कहते हुए उदासीन भाव में स्वरूप आनन्द की स्फूर्ति अभिव्यक्त करते हैं । इसलिए जागरण दशा में भी निजानन्द का बोध रहता ही है । ऐसा जानना चाहिए ॥९५॥

नन्वौदासीन्येऽवभासमानस्य निजानन्दत्वे तस्य ब्रह्मानन्दत्वात्पूर्वोक्ता वासनानन्दता न स्यादित्याशङ्कयाहंकारसामान्यावृतत्वान्न ब्रह्मानन्दतेति परिहरति

अहमस्मीत्यहंकारसामान्याच्छादितत्वतः ।
निजानन्दो न मुख्योऽयं किंत्वसौ तस्य वासना ॥९६॥

अन्वय :—अहं अस्मि इति अहंकार सामान्याच्छादितत्वतः अयं निजानन्दः मुख्यः न किन्तु असौ तस्य वासना ।

'अहमस्मीति' । 'देवदत्तोऽहम्' इत्यादिविशेषशून्येन 'अहमस्मि' इत्येवरूपेणाहंकारसामान्येनावृतत्वान्नायं मुख्य इत्यर्थः । तर्हि तस्य किंरूपतेत्यत आह - 'किंत्वसाविति' ॥९६॥

मुख्यानन्दातिरिक्तवासनानन्दसद्भावे दृष्टान्तः—

नीरपूरितभाण्डस्य बाह्ये शैत्यं न तज्जलम् ।
किंतु नीरगुणस्तेन नीरसत्ताऽनुमीयते ॥९७ ।

अन्वयः—नीरपूरितभाण्डस्य वाह्ये तज्जलम् शैत्यं न किन्तु तेन नीरगुणः नीरसत्ता अनुमीयते ।

'नीरेति' । जलपूर्णकुम्भस्य बहिर्भागस्पर्शनेनोपलभ्यमानं यच्छैत्यमस्ति तत्तावज्जलं न भवति, द्रवत्वानुपलम्भात् । किं तर्हि तदित्यत आह किंत्विति' । नीरगुणत्वं कथमवगम्यत इत्यत आह— 'तेनेति' । विमतं घटे उपलभ्यमानं शैत्यं जलजन्यं भवितुमर्हति, शैत्यत्वात्, जले उपलभ्यमानशैत्यवदिति ॥९७॥

शंका—उदासीनता में प्रकाशमान आनन्द यदि निजानन्द रूप है तो वह ब्रह्मानन्द होने के कारण वासनानन्द रूप नहीं हो सकता है ऐसी शंका है समाधान करते हैं कि सामान्य अहंकार से आच्छादित है । इसलिए वह निजानन्द मुख्य ब्रह्मानन्द नहीं है । किन्तु यह ब्रह्मानन्द की वासना है—

मैं हूँ इस प्रकार सामान्य अहंकार से आवृत रहने के कारण यह निजानंद मुख्य आनन्द नहीं है । किन्तु वह ब्रह्मानंद की वासना है अतएव उसे वासनानंद कहते हैं ॥९६॥

'मैं देवदत्त हूँ' इस प्रकार के विशेष अहंकार से रहित केवल मैं हूँ इस रूप में सामान्य अहंकार से आच्छादित होने के कारण यह निजानन्द मुख्यआनन्द नहीं है । तब उसका क्यास्वरूप है । वह निजानन्द उस ब्रह्मानन्द की वासना है ब्रह्मानन्द के द्वारा उत्पन्न हुए संस्कार = लेश रूपवासना है ॥९६॥

अब मुख्यानन्द से भिन्न वासनानन्द होने में दृष्टान्त देते हैं—

जल से पूर्ण घट के बाहर होने वाली शीतलता जल नहीं हो सकता है । किन्तु वह तो जल का गुणमात्र है । इससे केवम जल की विद्यमानता का अनुमान होता है । ॥९७॥

जल से भरे घड़े के बाह्य भाग के स्पर्श से प्रतीत होने वाली जो शीतलता है । वह शीतलता जल नहीं है । क्योंकि उसमें द्रवत्व नहीं है और शीतलता तो जल का एक गुणमात्र है । इससे जल के होने का अनुमान होता है । अनुमान का प्रकार यह है कि घट में विवाद का शैत्य जल से उत्पन्न होता है । क्योंकि शीतलता है । जैसे जल में उपलब्ध होने वाली शीतलता जल जन्य होती है ॥९७॥

भवत्वेवं नीरानुमापकत्वं शैत्यस्य, प्रकृते किमायातमित्याशङ्क्य, तद्वद्वासनानन्दस्यापि मुख्यानन्दानुमापकत्वमायातमित्याह—

यावद्यावदहंकारो विस्मृतोऽभ्यासयोगतः ।

तावत्तावत्सूक्ष्मदृष्टेर्निजानन्दोऽनुमीयते ॥६८॥

अन्वय : यावत् यावत् अहंकारः अभ्यासयोगतः विस्मृतः तावत् तावत् सूक्ष्मदृष्टः निजानन्दः अनुमीयते ।

'यावदिति' । अभ्यासयोगतः 'ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि' (छा० १।३।१३) इति श्रुत्यभिहितनिरोधसमाध्यभ्यासयोगेन यावद्यावदहमादिवृत्तिविलयवशाच्चित्तस्य सूक्ष्मता जायते तावत्तावन्निजानन्दाभिव्यक्तिर्भवतीत्यनुमीयते । अयमत्र प्रयोगः—अहंकारसङ्कोचविशेषविशिष्टक्षणेषु द्वितीयादिक्षणः पक्षः सः पूर्वस्मात्क्षणादधिकनिजानन्दाविर्भाववान्, अहंकारसङ्कोचविशेषयुक्तकालत्वात् अहंकारसङ्कोचयुक्ताद्यक्षणवदिति ॥६८॥

कदाचित् कहो शीत से नीर का अनुमान रहे प्रकरणमें क्या आया, यह शंका करके समाधान करते हैं—

जैसे-जैसे योगाभ्यास द्वारा उक्त अहंकार विस्मृत हो जाता है, वैसे-वैसे बुद्धि की दृष्टि सूक्ष्म होती जाती है और निजानन्द का आविर्भाव होता जाता है ॥६८॥

वाणी का[१] मन में लय करे और उस मन को ज्ञानात्मा विशेष अहंकार में लय करे उसका भी महान् आत्मा में सामान्य अहंकार में लय करे और सामान्य अहंकार को शान्त आत्मा निरूपाधिक शुद्ध चैतन्य में लय करे । इस कठ श्रुति के अनुसार निरोध[२] समाधि अभ्यास क्रम के योग से जितना-जितना अहं अहं आदि वृत्तियों का विलय विस्मरण होता जाता है । उतनी-उतनी चित्त की सूक्ष्मता होती जाती है, और निजानन्द का प्रादुर्भाव होता जाता है । इस प्रकार अनुमान का प्रकार दिखाते हैं—अहंकार के संकोच से युक्त द्वितीय आदि क्षण पूर्व-पूर्व क्षणों से अधिक निजानन्द वाले हैं । अहंकार के संकोच विशेष से युक्त काल रूप होने के कारण अहंकार के संकोच सहित प्रथम क्षण के सदृश है ॥६८॥

विशेष १ ज्ञानात्मा, महानात्मा, और शान्त आत्मा ये तीन प्रकार के आत्मा हैं । यह सर्वान्तर सत्-चित्-आनन्द एक रस में जड़ प्रपञ्च को उत्पन्न करने वाली जो माया शक्ति रहती है उसको अव्यक्त या मूल प्रकृति कहते हैं । वह मूल प्रकृति पहले सामान्य अहंकार रूप महतत्त्व ऐसा नाम धारण कर प्रगट होती है । उसके बाद बाहर विशेष अहंकार रूप से प्रगट होती है । उसके बाद उसके बाहर मन रूप से प्रकट होती है और उसके बाद इन्द्रिय आदि रूप से प्रकट होती है । इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यः (कठ० उ० १।३।१०) ।

२—लघुवाक्य वृत्तौ—लीने पूर्वविकल्पे तु यावदन्यस्य नोदयः । निर्विकल्पकचैतन्यं स्पष्टं तावत् विभासते । एवं एकं द्वित्रिक्षणेष्वेव विकल्पस्य निरोधनम् । क्रमेणाभ्यस्यतां नित्यं ब्रह्मानुभवकांक्षिभिः इत्यादिभिः ।

बुद्धिसौक्ष्म्यस्य कोऽवधिरित्याकाङ्क्षायां साक्षात्कारोऽवधिरित्याह —

सर्वात्मना विस्मृतः सन्सूक्ष्मतां परमां व्रजेत् ।
अलीनत्वान्न निद्रैषा ततो देहोऽपि नो पतेत् ।।९९।।

अन्वय :—सर्वात्मना विस्मृतः सन् परमां सूक्ष्मतां व्रजेत् अलीनत्वात् इयं निद्रा न ततः देहः अपि न पतेत् ।

'सर्वेति' । तर्हि सा निद्रैव स्यादित्यत आह—'अलीनेति' । सर्ववृत्तिविलयेऽप्यन्तः करणस्वरूप-विलयाभावान्नेयं निद्रा 'बुद्धेः कारणात्मनाऽवस्थानं सुषुप्तिः' इत्याचार्यैरुक्तत्वादित्यर्थः । अन्तःकरणस्वरूप विलयाभावे लिङ्गमाह - 'तत इति' । यत्र सुषुप्त्यादावहंकारविलयस्तत्र देहपातो दृष्टः, इह तु तदभावाद-विली[1]न इति गम्यते ।।९९।।

अब बुद्धि की सूक्ष्मता का क्या अवधि है,

उतर—आत्मा का साक्षात्कार होना ही सूक्ष्मता की अवधि है । इस प्रकार कहते हैं—

सर्वथा विस्मरण होने पर भी चित्त की अत्यन्त सूक्ष्मता हो जाती है । किन्तु अन्तःकरण लीन नहीं होता है और वह सुषुप्ति दशा भी नहीं है । इसलिए देह भी नहीं गिरता ।।९९।।

सम्पूर्ण वृत्तियों के विलय होने पर अन्तःकरण का स्वरूप विलय नहीं होता है । इसलिए यह निद्रा—सुषुप्ति अवस्था नहीं है । इस विषय में आचार्यों का आशय यह है कि सर्व प्रकार के जाग्रत स्वप्न के ज्ञानों का उपसंहार हो जाने पर बुद्धि कारण अविद्या में पहुँच जाय, अन्तःकरण के स्वरूप का विलयन होने में हेतु देते हैं, जहाँ सुषुप्ति आदि अवस्था में अहंकार का विलय होता है । वहाँ पर तो देह गिर जाता है । किन्तु समाधि दशा में योगी का देह निद्रा की भाँति गिर नहीं जाता है ।।९९।।

विशेष १ —लीयते हि सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते । तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः । अद्वैत प्रकरण ३५ । सुषुप्ति अवस्था में मन लीन हो जाता है विवेक ज्ञान पूर्वक नहीं ।

फलितमाह्—

न द्वैतं भासते नापि निद्रा तत्रास्ति यत्सुखम् ।
स ब्रह्मानन्द इत्याह भगवानर्जुनं प्रति ॥१००॥

अन्वय :—न द्वैतं भासते यत्सुखम् तत्र निद्रा अपि न अस्ति स ब्रह्मानन्दः इति भवान् अर्जुनं प्रतिआह—

'न द्वैतमिति'। यस्मिन्काले द्वैतभानं नास्ति, निद्रापि नागच्छति, तस्मिन्काले उपलभ्यमानं यत्सुखमस्ति, स ब्रह्मानन्द इत्यर्थः। अयं ब्रह्मानन्द' इति कुतोऽवगतमित्याशङ्क्य, कृष्णवाक्यादित्याह— 'इतीति' गीतायां षष्ठाध्याय इति शेषः ॥१००॥

तत्र कैः श्लोकैरुक्तवानित्याशङ्क्य, तान् श्लोकान् पठत्यर्थक्रमानुसारेण—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥१०१॥

अन्वयः—शनैः शनैः धृतिगृहीतया बुद्ध्या उपरमेत मनः आत्मसंस्थं कृत्वा किंचिदपि न चिन्तयेत् ।

'शनैः शनैरिति'। अयमर्थः धृतिगृहीतया धैर्ययुक्तया बुद्ध्या साधनभूतया शनैर्न सहसा उपरमेत्उपरतिं कुर्यात्। कियत्पर्यन्तमित्यत आह 'आत्मेति'। मन आत्मसंस्थं आत्मनि संस्था सम्यक् स्थितिः 'आत्मैवेदं सर्वं न ततोऽन्यत्किंचिदस्ति' (छा० ७।२५।२) इत्येवंरूपा यस्य तदात्मसंस्थं तथाविधं कृत्वा किंचिदपि न चिन्तयेत्, एष योगस्य परमोऽवधिः ॥१०१॥

अब फलितार्थ कहते हैं—

जिस अवस्था में द्वैत नहीं भासता है। और न निद्रा ही आती है। उसी में जो सुख है वही ब्रह्मानन्द है। इस प्रकार अर्जुन के प्रति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने कहा है ॥१००॥

जिस समय मे द्वैत की प्रतीति नहीं होत है और निद्रा का भी ज्ञान नहीं होता उस काल में प्रतीयमान जो सुख है वही ब्रह्मानन्द है। यह ब्रह्मानन्द कहाँ ज्ञात होता है यह बात गीता में ६ अध्याय में अर्जुन के प्रति भगवान ने कही है ॥१००॥

यहाँ पर गीता के कितने श्लोकों से विवेचन किया ऐसी शंका कर उत्तर में उन श्लोकों के अर्थों का क्रमशः पाठ करते हैं

भूमिका जप क्रमेण धीरे-धीरे अभ्यास करता हुआ उपरामता को प्राप्त करे तथा धैर्ययुक्त बुद्धि द्वारा मन को परम ब्रह्म में जोड़कर करके आत्मस्वरूप से भिन्न कुछ चिन्तन न करें ॥१०१॥

इसका आशय यह है कि मुमुक्षु जन धृतिग्रहण पूर्वक धैर्ययुक्त बुद्धि के साधन रूप से धीरे-धीरे उपरति प्राप्त करें सहसा नहीं यह कब तक करता रहे।

उत्तर—में कहते हैं कि जब मन आत्मा के विषय में भली भाँति स्थिति प्राप्त कर ले 'आत्मैवेदं सर्वं" इस श्रुति के अनुसार यह सब आत्मा ही है इससे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस प्रकार जिसका मन उस आत्मा में अच्छी प्रकार स्थिर हो गया है। वह वैसे ही मन को स्थिर कर कुछ भी अनात्म-विषयक चिन्तन न करे। यही योग की परम अवधि है ॥१०१॥

एतत्संपादने प्रवृत्तो योगी प्रथमं किं कुर्यादित्यत आह—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥१०२॥

अन्वय :—मनः चञ्चलं अस्थिरम् यतः यतः निश्चरति ततः ततः एतन्नियम्य आत्मनि एव वशं नयेत् ।

'यत इति'। चञ्चलं स्वभावदोषादत एवास्थिरमेकत्र विषयेऽनियतमेवंविधं मनो यदा यदा यतो यतो यस्माद्यस्माच्छब्दादेर्निमित्तान्निश्चरति निर्गच्छति ततस्ततस्तस्मात्तस्माच्छब्दादेः सकाशान्नियम्य तेषां शब्दादीनां मिथ्यात्वादिदोषदर्शनेनाभासीकृत्य वैराग्यभावनापूर्वकं निरुद्ध्यैतन्मन आत्मन्येव वशं नयेत् आत्मवश्यतामापादयेत्. एवं योगमभ्यासतोऽभ्यासबलादात्मन्येव मनः प्रशाम्यति ॥१०२॥

मनः प्रशान्तौ किं भवतीत्यत आह—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥१०३॥

अन्वय :– प्रशान्तमनसं हि एनं योगिनं शान्तरजसं ब्रह्मभूतं अकल्मषं उत्तमम् सुखं उपैति ।

'प्रशान्तेति'। शान्तरजसं प्रक्षीणमोहादिक्लेशरजसमत एव प्रशान्तमनसं प्रकर्षेण अत्यर्थं शान्तं विक्षेपशून्यं मनो यस्य तं ब्रह्मभूतं 'ब्रह्मैवेदं सर्वं' (मुण्ड० २।२।११ इति निश्चयवत्तया जीवन्मुक्त मकल्मषमधर्मादिवर्जितमेनं योगिनं उत्तमं क्षयित्वसातिशयित्वादिदोषरहितं सुखमुपैति उपगच्छति ॥१०३॥

यह सम्पादन करने में सर्व प्रथम योगी को क्या करना होगा, इस पर कहते हैं —

यह स्थिर न रहने वाला और स्वभावतः चञ्चल मन जिस-जिस हेतु से सांसारिक वस्तु पदार्थ में विचरण करता है। उससे उससे निरोधकर आत्मा में हो वश करे ॥१०२॥

स्वभाव दोष के कारण अत्यन्त चञ्चल, इसलिए किसी एकत्र स्थिर न रहने वाला यह मन जिस-जिस शब्दादि विषयों को निमित्त बनाकर बाहर विचरण करता है। उस-उस शब्दादि विषयों में मिथ्यात्व आदि दोष द्वारा आभामात्र दिखाकर या वैराग्य भावनापूर्वक मन को आत्मा में ही स्थिर करे अर्थात् आत्मा में ही वशीभूत किया करे। इस प्रकार योगाभ्यास के बल से आत्मा में ही मन शान्त हो जाता है ॥१०२॥

मन के प्रशान्त होने पर क्या होता है इस पर कहते हैं —

जिसका मन भली भांति शान्त है और जो निष्पाप है तथा जिसका रजोगुण विनष्ट हो चुका है। ऐसे सच्चिदानंद स्वरूप परब्रह्म से अभिन्न हुए योगी को उत्तम आनन्द प्राप्त होता है ॥१०३॥

संगृहीतार्थप्रपञ्चनपरान् तदीयानेव श्लोकान्पठति—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥१०४॥

अन्वयः - चित्तं यत्र योगसेवया निरुद्धं उपरमते यत्र च इव आत्मनात्मानं पश्यन् आत्मनि तुष्यति ।

'यत्रेति' । चित्तं यत्र यस्मिन्काले योगसेवया योगानुष्ठानेन सर्वस्माद्विषयात् निवारितं सदुपरमते उपरतिं गच्छति । किंच यत्र यस्मिन्काले आत्मना समाधिपरिशुद्धेनान्तः करणेनात्मानं परं चैतन्यं ज्योतिः स्वरूपं पश्यन्नुपलभ्यमानः स्वस्मिन्नेव तुष्यति तुष्टिं भजते, न विषयेष्वित्यर्थः ॥१०४॥

मोहादि क्लेश रूप रजोगुण अच्छी प्रकार प्रक्षीण हो चुका है, इसलिए अत्यधिक प्रशान्त विक्षेप रहित जिसका मन हो गया है । ऐसे ब्रह्मरूप. ब्रह्मैवेदं सर्वम्' यह सब ब्रह्म स्वरूप ही है । इस मुण्डक श्रुति के अनुसार इस निश्चय से जीवन्मुक्त है और निष्पाप[1] है अधर्मादि दोषों से रहित है । इस योगी को क्षय एवं सातिशयादि दोषरहित ब्रह्म सुख प्राप्त होता है ॥१०३॥

संग्रह किए हुए उन्हीं गीता के ६ अ० २० श्लोकों का पाठ करते हैं—

जिस अवस्था में योगाभ्यास से उपराम हो जाता है तथा जिस काल में शुद्ध अंतःकरण में अपने स्वरूप को देखता हुआ यह मुमुक्षु आप में ही संतुष्ट हो जाता है ॥१०४॥

सविकल्पसमाधि से निरोध किया हुआ, सब तरह से चञ्चलता से शून्य किया हुआ चित्त जिस समय में उपराम हो जाता है । उपरति को प्राप्त कर लेता है तथा जिस काल मे समाधि द्वारा परिशुद्ध अंतःकरण से परम चिद्रूप ज्योतिस्वरूप आत्मतत्त्व का अनुभव करता हुआ यह अपने आप में ही संतुष्टि प्राप्त कर लेता है । विषयों में संतुष्ट नहीं होता है ॥१०४॥

विशेष. १—प्राणायामैर्दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषान् । प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥भाग० ३।२।८॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।।१०५।।

अन्वय :—आत्यन्तिकं यत् सुखं तत् बुद्धिग्राह्यं अतीन्द्रियम् अयं च यत्र न वेत्ति एव स्थितः तत्त्वतः चलति ।

किंच यत्र यस्मिन्काले आत्मनि स्थितोऽयं योगी आत्यन्तिकमत्यन्तमेव भवतीत्यात्यन्तिकमनन्तं बुद्धिग्राह्य मिन्द्रियनिरपेक्षया बुद्धया गृह्यमाणमतीन्द्रियगोचरातीतमविषयजनितं यत्तदीदृश सुखं वेत्ति अनुभवति । किंच आत्मनि स्थितोऽयं तत्त्वतस्तस्मादात्मस्वरूपान्न चलति न प्रच्यवते ।।१०५।।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।।१०६।।

अन्वय:—यं लब्ध्वा च अपरं लाभं ततः अधिकं न मन्यते यस्मिन् स्थितः गुरुणापि दुःखेन न विचाल्यते ।

किंच यमात्मानं लब्ध्वा प्राप्यापरं लाभं लाभान्तरं ततोऽधिकं न मन्यते 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' इतिस्मृतेः । किंच यस्मिन्नात्मतत्त्वेस्थितो गुरुणा महतापि दुःखेन शस्त्राभिघातादिलक्षणेन प्रह्लाद इव न विचाल्यते ।।१०६।।

जो अंतरहित अत्यन्त सुख है इन्द्रियों के अविषय केवल विशुद्ध बुद्धि से ग्रहण करने योग्य है । उसे जानता है और स्थिर होता हुआ यह योगी उस तत्त्व से विचलित नहीं होता ।।१०५।।

जिस काल में अपने स्वरूप में स्थिर हुआ यह योगी आत्यन्तिक अनन्त निरपेक्ष इन्द्रिय जनित नहीं, केवल बुद्धि ग्राह्य जो कि इन्द्रियों की पहुँच न होने से अतीत है, ऐसे सुख को योगी अनुभव करता है और आत्मा में स्थिर हुआ यह योगी तत्त्वतः वास्तविक स्वरूप से विचलित नहीं होता, च्युत नहीं होता ।।१०५।।

जिस आत्मा की प्राप्ति रूप लाभ को प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा लाभ है । ऐसा नहीं मानता, और भगवत्प्राप्ति रूप जिस अवस्था में स्थित हुआ यह योगी बड़े भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता ।।१०६।।

जिस आत्म प्राप्ति रूप लाभ को प्राप्त होकर इससे अधिक कोई दूसरा है । ऐसा नहीं मानता है । जिसके लिए समस्त वेद वाद और स्मार्त किया है । उस आत्म लाभ से बढ़कर कोई और लाभ नहीं है । इस स्मृति के वचनानुसार है । एवं जिस आत्मतत्त्व में अवस्थित हुआ यह योगी शस्त्र के आघात आदि बड़े भारी दुःखों से भी प्रह्लाद की भाँति विचलित नहीं किया जाता है ।।१०६।।

विशेष १—गुरुणा = यथा चौर्यशंकया राजाज्ञप्तस्य माण्डव्यमहर्षेः शूल्यारोपजन्यं दुःखं भाति । प्रह्लादोऽपि पित्राज्ञप्ततैलकटाहादौ प्रक्षिप्त न विचलित इति भागवतादौ ।

इदानीमुपपादितं योगं निगमयति—

तं विद्याद्दु:खसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ।।१०७।।

अन्वयः—तं दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् विद्यात् सहयोगः अनिर्विण्णचेतसा निश्चयेन योक्तव्यः ।

'तं विद्यादिति' । शनैः शनैरित्यादिना यावद्भिर्विशेषणैर्विशिष्ट आत्मावस्थाविशेषो यो योग उक्तस्तं दुःखसंयोगवियोगं दुखैः संयोगो दुःखसंयोगः, तेन वियोगस्तं विपरीतलक्षणया योगसंज्ञितं 'योग' इत्येवं संज्ञा यस्येति तं योगसंज्ञितं विद्याज्जानीयात् । एवंविधयोगानुष्ठाने किंचित्कर्तव्यताविशेषमाह— 'स निश्चयेनेति' । स पूर्वोक्तो योगो निश्चयेनाध्यवसायेनानिर्विण्णचेतसा निर्वेदरहितेन चित्तेन योक्तव्योऽनुष्ठेयः ।।१०७।।

इदानीमुक्तमर्थमुपसंहरति—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।।१०८।।

अन्वयः—विगतकल्मषः योगी सदात्मानं एवं युञ्जन् सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शं (प्राप्य) अत्यन्तसुखं अश्नुते ।

'युञ्जन्निति' । विगतकल्मषो विगतपापो योगान्तरायवर्जितो योगी सदात्मानमेवं यथोक्तेन प्रकारेण युंजन्ननुसंदधानः सुखेनानायासेन ब्रह्मसंस्पर्शं ब्रह्मणा संस्पर्शो यस्य सुखस्य तद्ब्रह्मसंस्पर्शम् । ब्रह्मस्वरूपभूतमिति यावत् । अत्यन्तमविनश्वरं निरतिशयं सुखमश्नुते प्राप्नोतीत्यर्थः ।।१०८।।

अब उपपादित योग का उपसंहार करते हैं—

उस दुःखरूप संयोग=सम्बन्ध के वियोग दुःख के अभाव को योग संज्ञावाला जानना चाहिए। वह योग में तत्पर हुए चित्त से निश्चय कर एक रस मन से योगाभ्यास करें।।१०७।।

धीरे-धीरे इत्यादि जितने भी विशेषणों से युक्त आत्मावस्थानरूप योग कहा गया है। आशय यह है कि दुःखों से संयोग होना ही दुःख संयोग है उससे वियोग हो जाना दुःखों के संयोग वियोग को योग ऐसे विपरीत नाम से कहा हुआ जानना चाहिए । इस प्रकार योग के अनुष्ठान करने के लिए किंचित् कर्तव्यता बताते हैं। वह पूर्वोक्त फल वाला योग क्लेश रहित चित्त से सम्पन्न करना चाहिए ।।१०७।।

अब पूर्वोक्त अर्थ को समाप्त करते हैं

पाप से विमुक्त योगी निरन्तर आत्मा को परमात्मा में स्थिर करता हुआ सुखपूर्वक परमब्रह्म परमात्मा की प्राप्तिरूप अत्यन्त आनन्द को प्राप्त करता है ।।१०८।।

योग विषयक अन्तराय=विघ्न से वर्जित विगतकल्मष विशेष करके गतविगत निःशेष नष्ट हो गया है कल्मष यानी वासना कृत भेद दर्शन, वह विगत कल्मष होकर पूर्वोक्त क्रम से निरन्तर अनुसन्धान करता हुआ अनायास बिना श्रम के ब्रह्म स्वरूप को अत्यन्त (नाशहीन) निरतिशय रूप सुख है, उसे प्राप्त करता है ।।१०८।।

अनिर्वेदेन क्रियमाणो योगाभ्यासः फलपर्यन्तो भवतीत्येतत्सदृष्टान्तमाह —

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकविन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥१०९॥

अन्वय :—कुशाग्रेणैकबिन्दुना उदधेः उत्सेक तद्वत् मनसः निग्रहः अपरिखेदतः भवेत् ।

'उत्सेक इति' । कुशाग्रेणोद्धृतेनैकेन बिन्दुना क्रियमाण उदधेरुत्सेकः उद्धृत्य बहिः सेचनं परिखेदाभावे सति यद्वत्कालान्तरे भवेदेव तद्वन्मनसो निग्रहोऽपि श्रमराहित्येन क्रियमाण. कालान्तरे सिध्येत् । इदं च टिट्टिभोपाख्यानं मनसि निधायोक्तम् ॥१०९॥

न केवलमयमर्थो गीतायामभिहितः, किंतु 'मैत्रायणीय' शाखायामपीत्याह -

बृहद्रथस्य राजर्षेः शाकायन्यो मुनिः सुखम् ।
प्राह मैत्राख्यशाखायां समाध्युक्तिपुरःसरम् ॥११०॥

अन्वय :—राजर्षेः बृहद्रथस्य शाकायन्यः मुनिः सुखम् मैत्राख्यशाखायां समाध्युक्तिपुरःसरम् प्राह —

'बृहद्रथस्येति' । मैत्रायणीयनामके यजुःशाखाभेदे शाकायन्यनामा कश्चिदृषिः स्वशिष्यत्वेनोपपन्नस्य बृहद्रथाख्यस्य राजर्षेः ब्रह्मसुखं समाध्यभिधानपूर्वकं यथा भवति तथोक्तवान् ॥११०॥

क्लेशरहित क्रियमाण योग का अभ्यास फलपर्यन्त होता है इसको दृष्टान्त सहित कहते हैं—

कुश के अग्रभाग द्वारा उठाये हुए एक-एक जल के बूँद सागर को सुखाने के लिए जैसा सम्भव है, वैसे ही क्लेशरहित मन का निरोध भी कालान्तर में सिद्ध हो सकता है ॥१०९॥

कुश के अग्रभाग द्वारा उठाये हुए एक एक जल बिन्दु से समुद्र का जल बाहर फेंककर जैसे सुखाया जा सकता है। उसी प्रकार मन का निरोध भी क्लेश रहित सम्पादन कालान्तर में सिद्ध हो सकता है। यह टिट्टिभ का लोक प्रसिद्ध उपाख्यान ग्रन्थकार ने मन में रखकर कहा है ॥१०९॥

यह अर्थ केवल गीता में ही नही कहा गया है, अपितु मैत्रायणीयशाखा में भी कहा गया है। इस प्रकार कहते हैं -

मैत्रायणीय नाम की शाखा में शाकायन्य नाम के मुनि[1] ने अपने शिष्य बृहद्रथ राजर्षि के प्रति समाधि के कथनपूर्वक ब्रह्मसुख का उपदेश किया है ॥११०॥

मैत्रायणीय नामक यजुर्वेद की शाखा भेद में शाकायन्य नाम वाले किसी ऋषि[2] ने अपने शिष्य रूप में प्राप्त बृहद्रथ नामक राजर्षि[3] के प्रति ब्रह्मसुख का समाधि कथनपूर्वक उपदेश किया था ॥११०॥

विशेष १—मौनाद्धि स मुनिर्भवति न अरण्यवसनात् मुनिरक्षरं यो वेद स मुनिः ।
२—मन्त्रद्रष्टा = अतीन्द्रियार्थदर्शि ।
३—राजानश्चते ऋषयश्च राजर्षयः = राजा होकर जो ऋषि हों वे राजर्षि ।

केन प्रकारेणोक्तवानित्याशङ्क्य, तत्प्रतिपादकांस्तदीयान्मन्त्रान्पठति —

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति ।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥१११॥

अन्वय :—यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनौ उपशाम्यति तथा चित्तं वृत्तिक्षयात् स्वयोनौ उपशाम्यति ।

'यथेति' । निरिन्धनो दग्धकाष्ठो वह्निः स्वयोनौ स्वकारणे तेजोमात्रे उपशाम्यति ज्वालादिरूपं विशेषाकारं परित्यज्य तेजोमात्ररूपे यथाऽवतिष्ठते तथा तेनैव प्रकारेण चित्तमन्तःकरणमपि वृत्तिक्षयान्निरोधसमाध्यभ्यासेन राजसादिसकलवृत्तिनाशात्स्वकारणे सत्त्वमात्रे उपशाम्यति, सत्त्वमात्रावशेषं भवतीत्यर्थः ॥१११॥

किस प्रकार से शाकायन्य ने वृहद्रथ राजा को योग का वर्णन किया, ऐसी शंका कर समाधान—उसके प्रतिपादक उसी शाखा के मन्त्रों[1] का पाठ करते हैं—

अग्नि काष्ठ को जलाकर ईंधन से रहित अपने कारण रूप तेज में शान्त हो जाती है । वैसे अन्तःकरण भी वृत्ति के क्षय हो जाने से अपने कारण में शान्त हो जाती है ॥१११॥

काष्ठ को जलाकर ईंधन रहित अग्नि अपने कारण रूप तेज में (सामान्य तेजरूप कारण में) समाहित हो जाती है । ज्वालारूप विशेषाकार को छोड़कर तेजोमात्ररूप में जैसे लीन हो जाती है । उसी प्रकार से चित्त = अन्तःकरण भी वृत्ति के क्षय हो जाने के कारण निरोध समाधि रूप अभ्यास बल से राजसादि सम्पूर्ण वृत्तियों के विनाश हो जाने पर अपने कारण सत्त्वमात्र में उपशान्त हो जाता है । सत्त्वमात्र = सत्‌रूप ब्रह्म अवशिष्ट रह जाता है ॥१११॥

विशेष १ — मन्त्रः = मन्त्रिरे ज्ञायते = गुह्यभाषणम् ।

ततः किमत आह—

स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यकामिनः ।
इन्द्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥११२॥

अन्वय : स्वयोनौ उपशान्तस्य सत्यकामिनः मनसः इन्द्रियार्थविमूढस्य कर्मवशानुगाः अनृताः ।

'स्वयोनाविति' । सत्ये आत्मनि विषये कामोऽस्यास्तीति सत्यकामी तस्य, अत एव स्वयोनावुपशान्तस्य उपशान्तत्वादेव इन्द्रियार्थविमूढस्येन्द्रियार्थेषु विषयेषु शब्दादिषु विमूढस्य विमुखस्य ज्ञानशून्यस्य मनसः कर्मवशमनुगच्छन्तीति कर्मवशानुगाः ससाधनासुखादयः अनृता मायिकत्वज्ञानेन मिथ्याभूताः स्युरित्यर्थः ॥११२॥

ननु चित्तोपशान्तौ जगन्मिथ्या भवतीत्येतदनुपपन्नम्, तदुपादानकत्वाभावात्तस्येत्याशङ्क्याह—

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।
यच्चित्तस्तन्मयो मर्त्यो गुह्यमेतत्सनातनम् ॥११३॥

अन्वयः—चित्तं एव हि संसारः प्रयत्नेन तत् शोधयेत् यच्चित्तः तन्मयः मर्त्यः एतत् सनातनं गुह्यम् ।

'चित्तमेवेति' । यद्यपि स्वरूपेण चित्तोपादानकं जगन्न भवति तथापि तस्य भोग्यत्वं चित्तकारणमेव । 'हि' शब्देनात्र सर्वानुभवं प्रमाणयति । सुषुप्त्यादौ चित्तविलये भोगादर्शनादिति भावः । यतश्चित्तात्मकः संसारः अतस्तच्चित्तमेव प्रयत्नेनाभ्यासवैराग्यादिलक्षणेन शोधयेत् रजस्तमोराहित्येनैकाग्रं कुर्यात् । नन्वात्मनो विमुक्तये आत्मैव शोधनीयो न चित्तमित्याशङ्क्याह—यच्चित्त इति' 'मर्त्य' इत्युपलक्षणं देहिमात्रस्य यो देही यच्चित्तो यस्मिन् पुत्रादौ विषये चित्तवान् भवति स तन्मयः तदात्मक एव, तत्साकल्य वैकल्ययोरात्मन्येव समारोपणात् एतत्सनातनमिदमनादिसिद्धं गुह्यं रहस्यम् । एतदुक्तं भवति – स्वभावतः शुद्धस्यात्मनो यतश्चित्तसंपर्कादेव संसारित्वं, ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० ४।३।७) इति श्रुतेः । अतश्चित्तस्य शोधनेनात्मनः संसारनिवृत्तिरिति ॥११३॥

इससे क्या होता है ? इस पर कहते हैं—

केवल सत्य की कामना वाले अपने कारण सत्वमात्रसे उपशान्त और विषयों से विमुख हुए मन को कर्मवशात् प्राप्त होने वाले सुख, दुःख मायिक होने से मिथ्यारूप ही लगते हैं ॥११२॥

सत्यरूप आत्मा के विषय में जिसकी कामना है । ऐसे सत्यकामी अतएव अपने कारण उपशान्त हुए, उपशान्त हो जाने के कारण इन्द्रियजन्य विषयों के प्रति विमुख विषयज्ञान शून्य मन के लिए कर्मवश प्राप्त होने वाले साधनों के सहित सुखादि अनृत मायिक ब्रह्मज्ञान से मिथ्या हो जाते हैं ॥११२॥

विशेष —१ आत्मसत्यस्यानुबोधेन संकल्पयते यदा० । जिस समय आत्म सत्य की उपलब्धि होने पर मन संकल्प नहीं करता ।

शंका = चित्त के उपशान्त हो जाने पर जगत् मिथ्या हो जाता है यह युक्तियुक्त सिद्ध नहीं हो रहा है, क्योंकि जगत् का उपादान चित्त नहीं है इसका समाधान करते हैं—

जगत् के भोग्य पदार्थ का कारण चित्त होने से चित्त ही संसार है इसलिए चित्त को शुद्ध करना चाहिए। जो मनुष्य पुत्रादि के विषय में चित्त वाला होता है। वह उसी में तन्मय हो जाता है! यह सनातन सिद्ध रहस्य है ॥११३॥

यद्यपि स्वरूप से जगत् का उपादान कारण नहीं है तो भी जगत् के भोग्यत्व के प्रतिचित्त ही कारण है। हि शब्द से यह द्योतित होता है कि सबका कारण चित्त ही है यह सबके अनुभव प्रमाण समझना. क्योंकि सुषुप्ति में चित्त का विलय होने पर भोग देखा नहीं जाता है। जिससे ससार चित्तरूप है। इसलिए चित्त को ही अभ्यास वैराग्यादि रूप प्रयत्न से शोधना चाहिए। अर्थात् रजोगुण एवं तमोगुण से रहित करना चाहिए।

अब शंका करते हैं आत्मा की मुक्ति के लिए आत्मा का ही शोधन उचित है चित्त का नहीं? समाधान - जो मनुष्य वह देही = लिङ्ग देहोपाधि आत्मा का उपलक्षण है। जो देही जीवात्मा जिस पुत्रादि विषय में चित्त वाला होता है, वह उसमें तन्मय हो जाता है। उन पुत्रादि की पूर्णता और अपूर्णता को अपने आप में अच्छी प्रकार आरोपण (कल्पित) कर लेता है। यह एक सनातन[1] अनादि सिद्ध रहस्य है। यह कहा जाता है कि स्वभावतः शुद्ध आत्मा में चित्त के सम्बन्ध से ही संसारी बन जाता है। [ध्यायतीव लेलायतीव = अपने चितृस्वभाव ज्योति स्वरूप से ध्यान व्यापार बुद्धि को तटस्थ रूप से प्रकाशित करता हुआ उसी के समान होकर मानो ध्यान करता है, प्राण वृत्ति के अनुसार होकर मानो चेष्टा करता है] इस श्रुति के अनुसार अतएव चित्त के शोधन के द्वारा ही चिदाभास की जगत् से निवृत्ति हो जाती है।११३॥

विशेष —१ यह सनातन है, यहाँ यह रहस्य है जैसे शुद्ध जल उस-उस नील, पीत, लाल और काले रंग के साथ संग को प्राप्त होकर उस-उस रूपवाला हो जाता है। वैसे ही पञ्चभूतों के सत्त्व अंश का कार्य होने से शुद्ध जो मन है। वैसी-वैसी भावना को प्राप्त करता है। अभ्यास के बल से तैसे-तैसे आकार वाला होता है। इसमें (१) मैं जीवात्मा हूँ कर्मों का कर्ता भोक्ता हूँ इस भावना से मन जीव भाव को प्राप्त हो जाता है और (२) मैं चिदाभास जीव तत्-तत् उपासना के द्वारा मह, जन, तप, सत्य लोकों को प्राप्त हो जाता है। (३) मैं देह, गेह आदि रूप हूँ इस भावना के बल से मन लिङ्ग शरीर देह, गेह आदि भाव को प्राप्त हो जाता है। ( ) मैं स्वर्गलोक को प्राप्त होऊँ इस भावना के बल से स्वर्गादि की प्राप्ति के हेतु साधन में तत्पर हुआ मन लिङ्ग शरीर स्वर्गादि लोक को प्राप्त हो जाता है। (५) जब चिदाभास रूप जीवात्मा गुरू शास्त्र द्वारा श्रवण, मनन, निदिध्यासन समाधि द्वारा महावाक्य से उत्पन्न मैं प्रत्यगात्मा ब्रह्म स्वरूप हूँ इस मनः लिङ्ग शरीर रूप से निश्चय रूप तत्त्व साक्षात्कार ज्ञान से जीवन मुक्त होकर विदेह मुक्ति को प्राप्त करता है यह सनातन गुह्य है।

नन्वनादिभवपरम्परोपार्जितसुखदुःखप्रदपुण्यपापकर्मणोः सतोश्चित्तशोधनेनापि कथमात्मनः संसार निवृत्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्य, चित्तप्रसादोपलक्षितब्रह्मानुसंधानेन सकलकर्मक्षयोपपत्तेर्मैवमिति परिहरति —

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमक्षय्यमश्नुते ।।११४।।

अन्वय :—चित्तस्य हि प्रसादेन शुभाशुभम् कर्तुं हन्ति आत्मनि स्थित्वा प्रसन्नात्मा अक्षयं सुखं अश्नुते ।

'चित्तस्येति'। 'हि' शब्देन 'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा० ५।२४।३) 'उपपातकेषु सर्वेषु पातकेषु महत्सु च । प्रविश्य रजनीपादं ब्रह्मध्यानं समाचरेत्' इत्यादि श्रुति स्मृतिप्रसिद्धिं द्योतयति । ततः किमित्यत आह —'प्रसन्नेति' । प्रसन्न आत्मा चेतो यस्य स तथोक्तः आत्मनि स्वस्वरूपभूते अद्वितीयानन्दलक्षणे ब्रह्मणि स्थित्वा तदेवाहमिति निश्चयेन दृश्यजातं परिहृत्य चिन्मात्ररूपेणावस्थायाक्षय्यमविनाशि यत्सुखं स्वरूपभूतं तदश्नुते ।।११४।।

अनादि भवसागर परम्परा से उपार्जित सुखदुःख देने वाले पुण्य पाप रूप कर्म विद्यमान है । चित्त के शोधन से भी कैसे आत्मा की संसारनिवृत्ति होगी इस शंका का समाधान में कहते हैं कि चित्त की शुद्धि के द्वारा उपलक्षित ब्रह्मानुसंधान से सम्पूर्ण कर्मों के विनष्ट हो जाने पर संसार निवृत्त हो जाता है—

चित्त की परिशुद्धता से शुभ, अशुभ कर्म विनष्ट हो जाते हैं, प्रसन्न चित्तवाला अपने स्वरूप में स्थित होकर अक्षय सुख को प्राप्त करता है ।।११४।।

इस श्रुति स्मृति में लिखा है जिस प्रकार दूषी का तूल मूंज का अग्रभाग अग्नि में रखने से तत्काल जल जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी के सब पाप नष्ट हो जाते हैं और सम्पूर्ण उपपातक और पातकों की निवृत्ति के लिए रात्रि के प्रथम भाग में ब्रह्म का ध्यान करें । यही इन श्रुति और स्मृतियों में लिखा है प्रसन्न है चित्त जिसका ऐसा मनुष्य अपने स्वरूप अद्वितीय आनन्दरूप ब्रह्म में स्थित होकर अर्थात् यह ब्रह्म ही मैं हूँ इस प्रकार निश्चय हो जाने से दृश्य समूह जगत् को मिथ्या बुद्धि से त्यागकर और चिन्मात्र रूप से टिक कर अविनाशी अक्षय स्वरूपभूत सुख है वह प्राप्त कर लेता है ।।११४।।

'प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा' इत्युक्तमेवार्थं दृष्टान्तोक्तिपुरःसरं द्रढयति—

समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे ।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ।।११५।।

अन्वय :– यथा समासक्तं चित्तं जन्तोः विषयगोचरे यदि एवं ब्रह्मणि स्यात् तत् कः बन्धनात् न मुच्येत् ।

'समासक्तमिति' । प्राणिनश्चित्तं विषय एव गोचरः इन्द्रियप्रचारभूमिस्तस्मिन्यथा स्वभावतः सम्यगासक्तं भवति, तदेव चित्तं ब्रह्मणि प्रत्यगभिन्ने परमात्मनि यद्येवमासक्तं स्यात्तर्हि कः संसारान्न मुच्येत ? सर्वोऽपि मुच्येतैवेत्यर्थः ।।११५।।

उक्तार्थदार्ढ्याय मनसोऽवान्तरभेदमाह –

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं कामसंपर्काच्छुद्धं कामविवर्जितम् ।।११६।।

अन्वय :– मनः हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं च अशुद्धं एव च अशुद्धं कामसंपर्कात् कामविवर्जितम् शुद्धम् ।

'मन इति' । तत्र कारणमाह –'अशुद्धमिति' । 'काम' इत्युपलक्षणं क्रोधादेरपि ।।१६।।

'प्रसन्नात्मा' अब पूर्वोक्त श्लोक में कही अर्थ को दृष्टान्त कथनपूर्वक दृढ़ करते हैं—
जिस प्रकार इन्द्रियों के विषय में प्राणी का मन स्वाभाविक आसक्त है यदि वैसे ही वह चित्त परमात्मा में अनुराग वाला हो जाय तो कौन जीव बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता है ।।११५।।

मनुष्यों का चित्त इन्द्रियों की प्रवृत्ति की भूमि विषय में ही है । उसमें अच्छी तरह अनुरक्त हो जाता है । वह चित्त प्रत्यक् अभिन्न परमात्मा में यदि उसी प्रकार आसक्त हो जाय तो कौन मनुष्य संसार से मुक्त न होगा ? अर्थात् सभी मुक्त हो सकते हैं ।।११५।।

उक्त अर्थ को दृढ़तापूर्वक सिद्ध करने के लिए मन के अवान्तर भेद दिखाते हैं—

शुद्ध और अशुद्ध के भेद से मन दो प्रकार का कहा जाता है । काम क्रोध आदि दोष के कारण अशुद्ध और काम आदि दोषों से रहित होने वाला मन शुद्ध हो जाता है ।।११६।।

द्विविधस्य तस्यैव क्रमेण संसारमोक्षयोर्हेतुतां दर्शयति—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ।।११७।।

अन्वय :—मनुष्याणां बन्धमोक्षयोः कारणं मन एव विषयासक्तं बन्धाय निर्विषयं मुक्त्यै स्मृतम् ।

'मन एवेति' ।।११७।।

'प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमक्षय्यमश्नुते' (प्र० ११।११४) इत्युक्तमेवार्थं श्रुतिः स्वयमेव प्रपञ्चयति—

समाधि निर्धूतमलस्य चेतसो ।
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा ।
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ।।११८।।

अन्वय :—समाधिनिर्धूतमलस्य आत्मनि निवेशितस्य चेतसः यत् सुखं भवेत् गिरा वर्णयितुं न शक्यते तदा तदन्तःकरणेन स्वयं गृह्यते ।

'समाधीति' । आत्मनि प्रत्यक्स्वरूपे निवेशितस्य समाधिनिर्धूतमलस्य समाधिना प्रत्यग्ब्रह्मणोरैक्यगोचरप्रत्ययावृत्त्या निर्धूतमलस्य निःशेषेण निवारितरजस्तमोमलस्य चेतसस्तस्मिन् समाधौ यत्सुखमुत्पद्यते तदा समाधावुत्पन्नं तत्सुखं गिरा वाचा वर्णयितुं न शक्यते । अलौकिकसुखत्वादित्यर्थः । किंतु स्वयं तत्स्वरूपभूतं सुखमन्तःकरणेनैव गृह्यते ।।११८।।

दो प्रकार के मन को ही क्रमशः संसार और उसकी निवृत्ति में हेतु है, वह दिखाते हैं—

मनुष्यों के बन्धन और मुक्ति दोनों का कारण मन ही है। शब्दादि विषयों में अनुरक्त यह मन बन्धन का हेतु बन जाता है और निर्विषयक मन मुक्ति का हेतु बन जाता है। यह कहा जाता है ।।११७।

अब आत्मा में टिककर अक्षय सुख भोगता है, इसका श्रुति के अनुसार विस्तार से वर्णन करते हैं—

जिस चित्त का समाधि से धोये हैं सम्पूर्ण रजोगुण तमोगुण रूपमल जिसके उसको और प्रत्यगात्मा में प्रवेश किए चित्त को समाधि में जो सुख होता है। उस अलौकिक सुख को वाणी से वर्णन नहीं कर सकते क्योंकि उस अपने स्वरूपभूत सुख को अन्तःकरण स्वय ग्रहण करता है उसका साक्षी दूसरा कोई नहीं है ।।११८।।

नन्वस्यैवसमाधे र्दुर्लभत्वात्कथमनेन ब्रह्मानन्दनिश्चयसंभव इत्याशङ्क्याह—

यद्यप्यसौ चिरंकालं समाधिर्दुर्लभो नृणाम् ।
तथापि क्षणिको ब्रह्मानन्दं निश्चाययत्यसौ ॥११६॥

अन्वयः—यद्यपि असौ समाधिः चिरं कालं नृणां दुर्लभः तथापि क्षणिकः ब्रह्मानन्दः असौ निश्चाययति ।

'यद्यपीति' । अस्य समाधेः संततस्यासंभवेऽपि क्षणिकस्य तस्य संभवात्तेनैवायमानन्दो निश्चेतुं शक्यत इत्यर्थः ॥११६॥

नन्वात्मदर्शनाय श्रवणादौ प्रवृत्ता अपि केचिदानन्दनिश्चयशून्या बहिर्मुखा एव वर्तन्त इत्याशङ्क्य श्रद्धादिरहितानां तथात्वेऽपि श्रद्धादिमतां तन्निश्चयो भवत्येवेत्याह—

श्रद्धालुर्व्यसनो योऽत्र निश्चिनोत्येव सर्वथा ।
निश्चिते तु सकृत्तस्मिन्विश्वसित्यन्यदाप्ययम् ॥१२०॥

अन्वय :—व्यसनी श्रद्धालुः यः अत्र सर्वथा निश्चिनोति एव तस्मिन् सकृत् निश्चिते तु अन्यदपि अयं विश्वसिति ।

'श्रद्धालु'रिति' । व्यसनं सर्वथा संपादयिष्यामीत्याग्रहः तद्वान् व्यसनी । अत्र समाधौ । सर्वथा अवश्यम् । ततः किमित्यत आह—'निश्चिते त्विति' । अस्मिन् ब्रह्मानन्दे सकृदेकदा क्षणिक-समाधौ निश्चिते सति अयं सकृन्निश्चयवानन्यदापि इतरस्मिन्नपि काले विश्वसिति आनन्दोऽस्तीति विश्वासं करोति ॥१२०॥

शंका—अच्छा तो समाधि दुर्लभ होने के कारण इससे ब्रह्मानन्द का निश्चय कैसे सम्भव होगा ? इसका समाधान करते हैं—

यद्यपि यह समाधि मनुष्यों को चिरकाल तक दुर्लभ है तथापि क्षणिक यह समाधि ब्रह्मानन्द का निश्चय करा देता है ॥११६॥

कदाचित् कहो कि आत्मज्ञान के लिए श्रवणमननादि में लगे हुए भी कोई मनुष्य आनन्द के निश्चय से वञ्चित होकर बहिर्मुख दीखते हैं ऐसी ऐसी शंका कर उत्तर में कहते हैं । श्रद्धाहीन मनुष्य बहिर्मुख रहे तो रहे श्रद्धालु पुरुषों को आनन्द का निश्चय दिखाते हैं—

इस समाधि में श्रद्धा रखने वाला किसी भी प्रकार प्राप्त कर ही लूंगा, ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेता है । उस ब्रह्मानन्द में एक बार निश्चय हो जाने पर तो यह श्रद्धालु मनुष्य अन्य काल में भी विश्वास कर लेता है ॥१२०॥

जो मनुष्य श्रद्धालु है । जिसको यह व्यसन (अग्रह) है । मैं अवश्य समाधि का सम्पादन करूँगा । इस समाधि को प्राप्त करने के आग्रह रखने से क्या होता है ?

उत्तर इस ब्रह्मानन्द का एक बार भी क्षणमात्र की भी समाधि में निश्चय कर लेने पर यह एक बार निश्चय करने वाला श्रद्धालु जन अन्य काल में भी आनन्द है, ऐसा करता है ॥१२०॥

विशेष १ मुख्यतया श्रद्धा ब्रह्मतत्त्वविषयक स्नेहातिशय मूल अविद्या को हटाने वाली । श्रद्धा धर्मस्य मातरः ।

ततोऽपि किं तत्राह—

तादृक् पुमानुदासीनकालेप्यानन्दवासनाम् ।
उपेक्ष्य मुख्यमानन्दं भावयत्येव तत्परः ।।१२१।।

अन्वय :—तादृक् पुमान् उदासीनकालेपि आनन्दवासनाम् उपेक्ष्य तत्परः मुख्यं आनन्दं भावयति एव ।

'तादृगिति'। तादृक् पुमान् श्रद्धादिपुरःसरं सकृन्निश्चयवान् पुरुष औदासीन्यदशायामपि उपलभ्यमानां पूर्वोक्तामानन्दवासनामुपेक्ष्य तत्परो मुख्यानन्दे तात्पर्यवान् भूत्वा तमेव भावयति ।।१२१।।

एवं व्यवहारकालेऽपि निजानन्दं भावयतीत्यत्र दृष्टान्तमाह—

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि ।
तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम् ।।१२२।।

अन्वय :—परव्यसनिनी नारी गृहकर्मणि व्यग्रापि तदेवास्वादयति अन्तः परसङ्गरसायनम् ।

'परेति' ।।१२२।।

दार्ष्टान्तिके योजयति—

एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागतः ।
तदेवास्वादयत्यन्तर्बहिर्व्यवहरन्नपि ।।१२३।।

अन्वय :—एवं परे शुद्धे तत्त्वे विश्रान्तिमागतः धीरः अन्तर्बहिः व्यवहरन् अपि तदेव आस्वादयति ।

'एवमिति' ।।१२३।।

इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? इस पर कहते हैं—

श्रद्धा सम्पन्न पुरुष उदासीन काल में भी पूर्वोक्त वासनानन्द की उपेक्षा कर वह तत्परता के साथ मुख्यानन्द की ही भावना करने लगता है ।।१२१।।

श्रद्धादि पूर्वक एक बार भी निश्चय करने वाला व्यक्ति उदासीनता की दशा में उपलभ्यमान पूर्वोक्त आनन्द वासना की उपेक्षा करके, निश्चय वाला होकर उस मुख्य आनन्द की ही भावना करने लगता है ।।१२१।।

इस प्रकार व्यवहार दशा में भी निजानन्द की भावना करता रहता है, इस विषय में दृष्टान्त देते हैं—

स्त्री गृह कार्य में संलग्न है तो भी दूसरे पुरुष में अनुराग रखती है और परपुरुष के संस्पर्शजन्य सुख को भीतर ही भीतर आस्वादन करती रहती है ।।१२२।।

दृष्टान्त को दार्ष्टान्तिक में घटाते हैं—

इस प्रकार शुद्ध विमल परमतत्त्व में आत्मविश्रान्ति प्राप्त करता हुआ यह धैर्यवान् बाहरी व्यवहार करता हुआ भी अपने भीतर उस ब्रह्मानन्द का आस्वादन करता रहता है ।।१२३।।

'धीर' शब्दार्थमाह—

धीरत्वमक्षप्राबल्येऽप्यानन्दास्वादवाञ्छया ।
तिरस्कृत्याखिलाक्षाणि तच्चिन्तायां प्रवर्तनम् ॥१२४॥

अन्वय : धीरत्वं अक्षप्राबल्येऽपि आनन्दास्वादवाञ्छया अखिलाक्षाणि तिरस्कृत्य तच्चिन्तायां प्रवर्तनम् ।

'धीरत्वमिति' । इन्द्रियाणां विषयाभिमुख्येन पुरुषाकर्षणसामर्थ्येऽपि स्वरूपसुखानुसंधानेच्छया सर्वाणीन्द्रियाणि तिरस्कृत्यानन्दानुसंधान एव प्रवर्तमानत्वं धीरत्वमित्यर्थः ॥१२४॥

अब धीर[1] शब्द के अर्थ का प्रतिपादन करते हैं—

नेत्र आदि इन्द्रियों में सामर्थ्य होने पर भी स्वरूपानन्द की इच्छा से सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषय को तिरस्कार कर उस आत्म चिन्तन में लगे रहना ही धीर का लक्षण है ॥१२४॥

अक्ष आदि इन्द्रियाँ पुरुष को विषय के अभिमुख आकर्षण करती है तो भी स्वरूप सुख के अनुसन्धान की इच्छा से सभी इन्द्रियों का तिरस्कार कर आनन्द अनुसन्धान में ही प्रवृत्त होना ही धीरता है। अर्थात् विकार[2] के हेतु प्राप्त होने पर भी जिनका चित्त शान्त निर्विकार पूर्वक रहता है वह धीर है ॥१२४॥

विशेष —१ धी जो बुद्धि उस बुद्धि को र=विषयों से रक्षा करे ऐसा जो ब्रह्मचर्यादि साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारी सो यहाँ धीर धीरं धियं ईरयति प्रेरयति चिदाभासद्वारा धीतादात्म्याध्यासेन धीप्रेरक धीसाक्षिणः ।

धीर कूटस्थ ब्रह्मनिष्ठ —

२— विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ।

'विश्रान्ति'शब्दस्य विवक्षितमर्थं सदृष्टान्तमाह —

भारवाही शिरोभारं मुक्त्वाऽऽस्ते विश्रमं गतः ।
संसारव्यापृतित्यागे तादृग्बुद्धिस्तु विश्रमः ॥१२५॥

अन्वयः—भारवाही शिरोभारं मुक्त्वा विश्रमं गतः आस्ते संसारव्यापृतित्यागे तादृग्बुद्धिस्तु विश्रमः ।

'भारवाहीति' । यथा लोके भारं वहन् पुरुषः श्रमहेतुं शिरसि स्थितं भारं परित्यज्य श्रमरहितो वर्तते, तथा संसारव्यापारत्यागे सति 'श्रमरहित आसम्' इति जायमाना या बुद्धिः सा 'विश्रम'शब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥१२५॥

इदानीं फलितमर्थमाह—

विश्रान्तिं परमां प्राप्तस्त्वौदासीन्ये यथा तथा ।
सुखदुःखदशायां च तदानन्दैकतत्परः ॥१२६॥

अन्वय :—यथा परमां विश्रान्तिं प्राप्तः तथा औदासीन्ये सुखदुःखदशायां च तदानन्दैकतत्परः (भवति) ।

'विश्रान्तिमिति' । परमां निरतिशयां विश्रान्तिमुक्तलक्षणां प्राप्तः पुरुषः स्वस्य औदासीन्यदशायां यथा परमानन्दास्वादने तात्पर्यवान् भवति, एवं सुख-दुःखहेतुप्राप्तिकालेऽपि तदनुसधानं परित्यज्य निजानन्दास्वादन एव तात्पर्यवान्भवतीत्यर्थः ॥१२६॥

अब "विश्रान्ति" शब्द के विवक्षित अर्थ को सदृष्टान्त कहते हैं—

भार को वहन करने वाला व्यक्ति अपने सिर पर रखा हुआ बोझ नीचे रख देता है और विश्राम कर लेता है। इस प्रकार संसार के व्यापार को छोड़ देने पर श्रमरहित होकर सुख से स्थिर हो जाता है वही विश्रान्ति है ॥१२५॥

जैसे लोक में भार को वहन करता हुआ पुरुष श्रम के हेतु सिर पर स्थिर भार को छोड़कर श्रमरहित हो जाता है उसी प्रकार संसार के व्यापार को त्याग कर देने पर मैं श्रमरहित हो गया हूँ ऐसी उत्पन्न होने वाली बुद्धि का नाम विश्राम है ॥१२५॥

अब फलितार्थ कहते हैं—

परम विश्रान्ति को प्राप्त हुआ यह साधक उदासीन दशा में जैसे तत्पर होकर आनन्द लेता है। वैसे सुखदुःख के हेतु व्यवहार काल में भी व्यवहार गत विचारों को छोड़कर आत्मा के आनन्द में तत्पर हो जाता है ॥१२६॥

उक्त परम निरतिशयरूपविश्रान्ति को प्राप्त करने वाला उदासीन दशा में जैसे परमानन्द के आस्वादन में संलग्न रहता है वैसे ही सुखदुःख की स्थिति में भी निजानन्द आस्वादन में लगा रहता है ॥१२६॥

ननु दुःखस्य प्रतिकूलत्वेन तदनुसंधानेच्छाभावेऽपि वैषयिकसुखस्यानुकूलत्वेन पुरुषैरर्थ्यमानत्वात्तद-नुसंधानेच्छा कुतो न भवेदित्याशङ्क्य, तस्य विषयसंपादनादिद्वाराऽतीव बहिर्मुखत्वापादनेन निजानन्दानु-संधानविरोधित्वात्तदिच्छापि विवेकिनो न जायत इति दृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वकमाह –

अग्निप्रवेशहेतौ धीः शृङ्गारे यादृशी तथा ।
धीरस्योदेति विषयेऽनुसंधानविरोधिनि ॥१२७॥

अन्वय :--अग्निप्रवेशहेतौ यादृशी शृङ्गारे धीः तथा अनुसंधानविरोधिनि विषये धीरस्य उदेति ।

'अग्नीति' । शीघ्रं देहविमोचनेच्छायां दृढतरायां सत्यां तद्विलम्बकारणे अलंकारादौ यथा अग्नि प्रवेष्टुर्वैरस्यबुद्धिरुत्पद्यते, एवं वैराग्यादिसाधनसम्पन्नस्य विवेकिनो ब्रह्मानुसंधानविरोधिनि विषयसुखे-ऽपीत्यर्थः ।

शंका—दुःख प्रतिकूल होने के कारण दुःखानुसंधान की इच्छा न होने पर भी विषय सम्बन्धी सुख अनुकूल है इसलिए सभी लोग चाहते हैं और वैषयिक अनुसंधान की इच्छा क्यों नहीं होती है ।

समाधान --यह है कि विषय का सुख निजानन्द का विरोधी है और अत्यन्त बहिर्मुखता से प्राप्त होता है । इसलिए विवेकी लोग को विषय सम्बन्धी सुख की इच्छा नहीं होती है । इस बात को दृष्टान्तपूर्वक दिखाते हैं --

जब किसी स्त्री के लिए अग्नि में प्रवेश का हेतु खडा हो जाता है, तब शृङ्गार के विषय में वैर बुद्धि उत्पन्न हो जाती है । इसी प्रकार विवेकी को निजानन्द अनुसन्धान के विरोधी विषयजन्य सुख में वैर बुद्धि उत्पन्न होती है ॥१२७॥

अतिशीघ्र दृढतरा देहविमोचन करने की इच्छा जाग्रत होने पर उसमें विलम्ब के कारण अलंकार आदि में अग्नि प्रवेश करने वाले की जैसे वैर बुद्धि उत्पन्न होता है । इस प्रकार विवेक वैराग्य आदि साधन सम्पन्न विवेकी की ब्रह्मानन्द अनुसधान के विरोधी विषयजन्य सुख में वैरबुद्धि उत्पन्न होती है ॥१२७॥

मा भूद्विरोधिविषये सुखेच्छा अप्रयत्नसौलभ्येनाबहिर्मुखत्वहेतौ विषये किं न भवतीत्यत आह—

अविरोधिसुखे बुद्धिः स्वानन्दे च गमागमौ ।
कुर्वन्त्यास्ते क्रमादेषा काकाक्षिवदितस्ततः ॥१२८॥

अन्वय : अविरोधिसुखे बुद्धिः स्वानन्दे च गमागमौ कुर्वन्ति काकाक्षिवत् क्रमात् एषा इतस्ततः आस्ते ।

'अविरोधीति' ॥१२८॥

दृष्टान्तं विवृणोति—

एकैव दृष्टिः काकस्य वामदक्षिणनेत्रयोः ।
यात्यायात्येवमानन्दद्वये तत्त्वविदो यतिः ॥१२९॥

अन्वय :- काकस्य वामदक्षिणनेत्रयोः एकैव दृष्टिः आनन्दद्वये तत्त्वविदः मतिः एवं याति आयाति ।

'एकैव दृष्टिरिति' । यथा काकस्य दृष्टिर्दृश्यतेऽनयेति दर्शनसाधनं चक्षुरिन्द्रियमेकमेववामदक्षिण नेत्रयोर्गोलकयोः पर्यायेण गमनागमने करोति, एवं विवेकिनो बुद्धिरप्यानन्दद्वय इत्यर्थः ।

अब विरोधी शब्दादि विषय में सुख की इच्छा भले ही न हो, किन्तु बिना यत्न सुलभता से मिलने वाले और बहिर्मुखता का जो कारण नहीं है ऐसे विषय में क्यों नहीं सुखेच्छा होगी इस पर कहते हैं—

यह बुद्धि अविरोधी सुख में और आत्मानन्द में कौवे की भाँति क्रमशः वाम और दक्षिण इधर-उधर फिरती हुई स्थिर हो जाती है ॥१२८॥

अब दृष्टान्त का विवरण करते हैं—

जैसे कौवे की दृष्टि एक ही है और वह वाम एवं दक्षिण नेत्र गोलकों में क्रम से गमन आगमन करती है इस प्रकार तत्त्वदर्शी की बुद्धि भी विषयानन्द और आत्मानन्द में गमन आगमन करती है ॥१२९॥

जिस प्रकार कौवे की दृष्टि अर्थात् दर्शनसाधन चक्षु—इन्द्रिय मात्र एक ही रहती है । वह वाम-दक्षिण नेत्र गोलकों में क्रमशः गमन एवं आगमन करती है, इस प्रकार विवेक सम्पन्न व्यक्ति की बुद्धि भी विषयानन्द और ब्रह्मानन्द दोनों आनन्दों में क्रमशः आती जाती रहती है ॥१२९॥

दार्ष्टान्तिकं प्रपञ्चयति—

भुञ्जानो विषयानन्दं ब्रह्मानन्दं च तत्त्ववित् ।
द्विभाषाभिज्ञवद्विद्यादुभौ लौकिकवैदिकौ ॥१३०॥

अन्वय :—तत्त्ववित् विषयानन्दं ब्रह्मानन्दं च भुञ्जानः द्विभाषाभिज्ञवत्लौकिकवैदिकौ ।उभौ विद्यात् ।

'भुञ्जान इति' । तत्त्वविद्धि विषयान् भुञ्जानस्तज्जन्यं विषयानन्दमुपनिषद्वाक्यादवगतं ब्रह्मानन्दं च लौकिकवैदिकावुभौ विषयानन्दब्रह्मानन्दौ भाषाद्वयवेदिवज्जानीयादित्यर्थः ॥१३०॥

ननु दुःखानुभवदशायामुद्वेगे सति कथं निजानन्दानुभव इत्याशङ्क्याह —

दुःखप्राप्तौ न चोद्वेगो यथापूर्वं यतो द्विदृक् ।
गङ्गामग्नार्धकायस्य पुंसः शीतोष्णधीर्यथा ॥१३१॥

अन्वयः—दुःखप्राप्तौ यथा पूर्वं उद्वेगः च न यतः गङ्गामग्नार्धकायस्य पुंसः यथा शीतोष्णधीः ।

दुःखेति' । यतो यस्मात्कारणद्विवेकी द्विदृक् लौकिकवैदिकव्यवहारयोरुभयोरपि वेत्ता, अतो दुःखप्राप्तावपि पूर्ववदज्ञानदशायामिव न तस्योद्वेगः, विवेकन तदा तदा बोध्यमानत्वात, अतो दुःखानुभवकालेऽपि निजानन्दानुसंधानं न विरुध्यत इत्यर्थः । युगपदुभयानुसंधाने दृष्टान्तमाह— 'गङ्गेति' ॥१३१॥

अब दृष्टान्त का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं

विषयों को भोगता हुआ यह तत्त्वदर्शी दो भाषाओं को जानने वाले की भाँति लौकिक विषयानन्द तथा वैदिक ब्रह्मानन्द इन दोनों को जानते हैं ॥१३०॥

क्योंकि आत्मतत्त्व वेत्ता विषयों को भोगता हुआ दो भाषाओं को जानने वाले की भाँति लौकिक विषयानुभव जनित विषयानन्द को और उपनिषद् वाक्यअवगत ब्रह्मानन्द को लौकिक वैदिक विषयानन्द और ब्रह्मानन्द दोनों की दो भाषाओं के ज्ञाता के समान जाना करता है ॥१३०॥

कदाचित् कहो, दुःख के अनुभव काल में उद्वेग होने पर निजानन्द का अनुभव कैसे रहेगा ? इस शंका पर कहते हैं—

जब कि तत्त्ववेत्ता लौकिक एवं वैदिक दोनों व्यवहारों को जानता है इसीलिए दुःख की प्राप्ति में भी अज्ञान दशा की भाँति उद्वेग नहीं होता है जैसे गङ्गा में निमग्न अर्धाङ्ग वाले व्यक्ति को युगपत् शीत एवं उष्ण का बोध होता है ॥१३१॥

जिस कारण से विवेकी लौकिक एवं वैदिक दोनों व्यवहारों का ज्ञाता है । इसलिए दुःख की प्राप्ति में भी पूर्व कालीन अज्ञान अवस्था की भाँति उसे उद्वेग नहीं होता है । क्योंकि विवेक ज्ञान से उस-उस दशा में भी बोधरूपता का स्मरण बना रहता है । इसलिए दुःख के अनुभव काल में भी निजानन्द का अनुसंधान विरोधजनक नहीं है । युगपत् दोनों का अनुसंधान में दृष्टान्त देते हैं, जैसे गङ्गा में गले तक डूबे हुए आधे शरीर वाले व्यक्ति को एक साथ शीत एवं उष्ण का ज्ञान हो जाता है ॥१३१

फलितमाह—

इत्थं जागरणे तत्त्वविदो ब्रह्मसुखं सदा ।
भाति तद्वासनाजन्ये स्वप्ने तद्भासते तथा ॥१३२॥

अन्वय :—इत्थं जागरणे तत्त्वविदः सदा ब्रह्मसुखं भाति तथा तद्वासनाजन्ये स्वप्ने तद्भासते ।

'इत्थमिति' । सदा सुखदुःखानुभवदशायां तूष्णींस्थितौ चेत्यर्थः । न केवलं जागरण एव तद्भानं किन्तु स्वप्नावस्थायामपीत्याह– 'तद्वासनेति' । हेतुगर्भं विशेषणम् जाग्रद्वासनाजन्यत्वात्स्वप्नस्य । तत्रापि तद्ब्रह्मसुखं तथा जाग्रदवस्थायामिव भासत इत्यर्थः ॥१३२॥

ननु स्वप्नस्यानन्दानुभववासनाजन्यत्वे सति आनन्द एव भासत इत्याशङ्क्याह—

अविद्यावासनाप्यस्तीत्यतस्तद्वासनोत्थिते ।
स्वप्ने मूर्खवदेवैष सुखं दुःख च वीक्षते ॥१३३॥

अन्वय :- अविद्यावासनापि अस्ति इति अतः तद्वासनोत्थिते स्वप्ने एष मूर्खवदेव सुखं दुःखं च वीक्षते ।

'अविद्येति' । न केवलमानन्दवासनाबलादेव स्वप्नो जायते किंतु अविद्यावासनाबलादपि, अतस्तद्वासनाजन्यत्वात्तत्राज्ञस्येव सुखाद्यनुभवो भवतीत्यर्थः ॥१३३॥

अब फलितार्थ कहते हैं—

इस प्रकार जागरण काल में तत्त्वदर्शी का निरन्तर ब्रह्मसुख भासता रहता है । और जाग्रत कालीन वासनाजन्य स्वप्न अवस्था में भी वह ब्रह्मसुख जाग्रत की भाँति भासता है ॥१३२॥

आत्म तत्त्ववेत्ता को सदा-सर्वदा सुख एवं दुःख का अनुभव काल में अर्थात् तूष्णीस्थिति में ब्रह्म सुख की प्रतीति होती रहती है । न केवल जागरण में ही उस ब्रह्मानन्द का बोध होता रहता है । अपितु स्वप्न अवस्था में भी होता है । क्योंकि जाग्रत कालीन वासनाजनित होने वाले स्वप्न दशा में भी ब्रह्मसुख जाग्रत की भाँति प्रतीत होता है ।।१३२॥

कदाचित् कहो कि स्वप्न आनन्द की वासना से होती है । इससे स्वप्न में आनन्द ही भासता है । दुःख नहीं इस शंका का समाधान—

अविद्या की वासना विद्यमान है, इसलिए उस अविद्या के संस्कारों से उत्पन्न स्वप्न अवस्था में यह तत्त्वदर्शी, मूर्ख की भांति सुख एवं दुःख को देखता है ॥१३३॥

यह स्वप्न केवल आत्म के आनन्दानुभव की वासना से ही नहीं उत्पन्न होता है, इसलिए उस अविद्या की वासना से उत्पन्न स्वप्न में ज्ञानी, मूर्ख की भाँति सुख दुःखादि को भी अनुभव करता है ॥१३३॥

एतावता ग्रन्थसंदर्भेणोक्तमर्थं निगमयति—

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे ब्रह्मानन्दप्रकाशकम् ।
योगिप्रत्यक्षमध्याये प्रथमेऽस्मिन्नुदीरितम् ॥१३४॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकृतपञ्चदश्यां ब्रह्मानन्दे योगानन्दो नाम एकादशं प्रकरणं समाप्तम् ॥११॥

ब्रह्मानन्दे योगानन्दो नाम प्रथमोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥१॥

अन्वय :—ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे ब्रह्मानन्दप्रकाशकं योगिप्रत्यक्षं प्रथमे अध्याये अस्मिन् उदीरितम् ।

'ब्रह्मानन्देति' । ब्रह्मानन्दनामके अध्यायपञ्चात्मके ग्रन्थेऽस्मिन्प्रथमेऽध्याये सुषुप्त्यवस्थाया-मौदासीन्यकालेऽपि समाध्यवस्थायां सुखदुःखदशायां च स्वप्रकाशचिद्रूपब्रह्मानन्दस्य प्रकाशकं योग्यनुभव-रूपं प्रत्यक्षमुक्तमित्यर्थः । इदं चोपलक्षणमागमादीना, तेषामप्यत्र दर्शितत्वात् ॥१३४॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थ विद्यारण्यमुनिवर्यकिङ्करेण श्रीरामकृष्णाख्य-विदुषा विरचिते । ब्रह्मानन्दे योगानन्दो नाम एकादशं प्रकरणम् ॥११॥

पूर्वोक्त ग्रन्थ के समूह से जो कहा उसको दिखाते हैं —

ब्रह्मानन्द नामक ग्रन्थ के योगानन्द प्रकरण रूप प्रथम अध्याय में ब्रह्मानन्द के प्रकाशक योगियों के अपरोक्ष रूप से अनुभव वर्णित है ॥१३४॥

ब्रह्मानन्द नामक पाँच अध्याय रूप ग्रन्थ इस योगानन्द प्रकरण रूप प्रथम अध्याय में सुषुप्ति उदासीनता और समाधि आदि अवस्थाओं में स्वयं प्रकाश चिद्रूप ब्रह्मानन्द का प्रकाशक योगी के अनुभव रूप प्रत्यक्ष कहा गया है । श्लोक में उद्धृत प्रत्यक्ष शब्द से शास्त्र अनुमानादि प्रमाण भी संगृहीत है । क्योंकि प्रस्तुत प्रकरण में इन सभी को भी दिखाया गया है ॥१३४॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यस्वामिश्रीकरपात्रशिष्य
श्री डॉ० लक्ष्मणचैतन्यब्रह्मचारिविरचितलक्ष्मणचन्द्रिकाख्ये पञ्चदशीहिन्दीव्याख्याने
ब्रह्मानन्दे योगानन्द एकादशंप्रकरणं समाप्तम् ।

ब्रह्मानन्दे आत्मानन्दोनाम द्वितीयोऽध्यायः

ब्रह्मानन्दे आत्मानन्दप्रकरणम्

अथ ब्रह्मानन्दान्तर्गतमात्मानन्दनामकद्वितीयाध्यायमारभते । तदेवं प्रथमाध्याये विवेकिनो योगेन निजानन्दानुभवप्रकारं प्रदर्श्य मूढस्य जिज्ञासोरात्मानन्दशब्दवाच्यत्वंपदार्थविवेचनमुखेन ब्रह्मानन्दानुभव-प्रकारदर्शनाय शिष्यप्रश्नमवतारयति—

नन्वेवं वासनानन्दाद्ब्रह्मानन्दादपीतरम् ।
वेत्तु योगी निजानन्दं मूढस्यात्रास्ति का गतिः ।।१।।

अन्वय :—ननु एवं वासनानन्दात् ब्रह्मानन्दादपि इतरं योगी निजानन्दं वेत्तु मूढस्य अत्र का गतिः ।

अब ब्रह्मानन्द के अन्तर्गत आत्मानन्द संज्ञक द्वितीय अध्याय का आरम्भ किया जा रहा है। वहीं इस प्रथम अध्याय में योग रूप उपाय से विवेकी को निजानन्द के अनुभव का प्रकार दिखाकर अब यहाँ मूढ जिज्ञासु के लिए आत्मानन्द शब्द के वाच्य "त्वं"[1] पदार्थ के विवेचन द्वारा ब्रह्मानन्द अनुभव का प्रकार दिखाने के लिए शिष्य के प्रश्न को कहते हैं -

आशंका यह है कि विवेकी पुरुष वासनानन्द से और ब्रह्मानन्द से भी भिन्न निजानन्द को भले ही जाने। मूढ़ जिज्ञासु को इस विषय में क्या गति है अर्थात् मूढ़ को ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार कैसे हो ? ।।१।।

विशेष १—नित्यं कर्म परित्यज्य वेदान्तश्रवणं बिना । वर्तमानस्तु संन्यासी पतत्येव न संशयः— सन्ध्योपासनादिक नित्य कर्मों का परित्याग करके जो विविदिषु संन्यासी वेदान्त शास्त्र के श्रवणादि को नहीं करता हुआ रहे वह संन्यासी पतित कहा जाता है। त्वं पदार्थ विवेकेऽतीव प्रयत्नं कार्यम्—

त्वं पदार्थ विवेकाय सन्यासः सर्वकर्मणाम् । श्रुत्याऽभिधीयते यस्मात् तत् त्यागी पतितो भवेत् । तत्त्वमसि, इस वाक्य में स्थित जो त्वं पद है, उस त्वं पद का वाच्य अर्थ जो अन्तःकरणविशिष्टचैतन्य उसमें अन्तःकरण का त्याग करके लक्ष्य अर्थ रूप जो प्रत्यक् चैतन्य का ब्रह्मरूप से ज्ञान है उसका नाम त्वं पदार्थ विवेक है। त्वं पदार्थ विवेक के लिए अग्निहोत्र सन्ध्योपासनादिक सर्व कर्मों का सन्यास विधान किया है। जो पुरुष सन्यास को धारण कर त्वं पदार्थ का विवेक नहीं करता वह सन्यासी पतित कहा जाता है।

शिष्येणैवं पृष्टो गुरुरतिमूढस्य विद्याधिकार एव नास्तीत्याह—

धर्माधर्मवशादेष जायतां म्रियतामपि ।
पुनः पुनर्देहलक्षैः किं नो दाक्षिण्यतो वद ।।२।।

अन्वयः—एष धर्माधर्मवशात् जायतां म्रियतां अपि पुनः पुनः देहलक्षैः दाक्षिण्यतः नः किम् वद ।

'धर्मेति' । एषोऽतिमूढोऽनादौ संसारेऽतीतेषु जन्मसु अनुष्ठितसुकृतदुष्कृतवशान्नानाविधदेहस्वीकारेण पुनः पुनर्जायतां म्रियतां चेत्यर्थः ।।२।।

सर्वानुग्राहकत्वादाचार्येण तस्यापि काचन गतिर्वक्तव्येति शिष्य आह—

अस्ति वोऽनुजिघृक्षुत्वाद्दाक्षिण्येन प्रयोजनम् ।
तर्हि ब्रूहि स मूढः किं जिज्ञासुर्वा पराङ्मुखः ।।३।।

अन्वय : -वः अनुजिघृक्षुत्वात् दाक्षिण्येन प्रयोजनं अस्ति तर्हि ब्रूहि समूढः किं पराङ्मुखः जिज्ञासुर्वा (इति वद)

'अस्तीति' । वो युष्माकमनुजिघृक्षुत्वादनुग्रहीतुमिच्छवोऽनुजिघृक्षवस्तेषां भावस्तत्त्वं तस्माच्छिष्योद्धरणेच्छायुक्तत्वाद्दाक्षिण्यतस्तदुद्धरणलक्षणं प्रयोजनमस्तीत्यर्थः । एवं शिष्यवचनमाकर्ण्य गुरुस्तं विकल्प्य पृच्छति—'तर्हीति' । यदि मूढस्य काचन गतिर्वक्तव्या तर्हि मूढः किं रागी विरक्तो वा वदेति ।।३।।

शिष्य से किए हुए प्रश्न के उत्तर में सद्गुरु कहते हैं कि अतिमूढ़ को विद्या का अधिकार नहीं है इस प्रकार कहते हैं—

यह अतिमूढ़ पुरुष पुण्य पाप रूप कर्मवशात् लाखों बार देहों में जन्मता और मरता भी रहे किन्तु हमारी दया से क्या होने वाला है ? कहो ।।२।।

यह अतिमूढ़ व्यक्ति अनादि संसार में अतीत जन्मों में अनुष्ठित सुकृत और दुष्कृत कर्मवशात् अनेक प्रकार के देहों को धारणकर पुनः पुनः जन्मता मरता रहता है ।।२।।

इस प्रकार शिष्य कहता है कि आचार्य तो बड़े ही कृपालु और सबके ऊपर अनुग्रह करने वाले होते हैं इसलिए उस मूढ़ को भी कुछ मार्ग बतावें ।

आप सद्गुरु हैं शिष्यों के ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा वाले होने के कारण उदारता ही एकमात्र प्रयोजन है तब कहो कि वह मूढ़ जिज्ञासु है बहिर्मुख विषयानुरागी है ।।३।।

आप आचार्य हम शिष्यों के ऊपर अनुग्रह करने वाले हैं अर्थात् शिष्यों को सन्ताप-ताप से उद्धार की इच्छा से युक्त हैं इसलिए उदारता के रूप में शिष्यों का उद्धार रूप प्रयोजन है । इस प्रकार शिष्य के नम्रीभावपूर्वक वाक्य सुनकर सद्गुरु उसे विकल्प कर पूंछते हैं कि यदि अतिमूढ़ प्राणी के लिए कोई मार्ग बताना अनिवार्य है तो फिर वह मूढ़ क्या रागी या विरक्त है ? यह कहो ।।३।।

राागी चेत्तद्रागानुसारेण कर्म वोपासनं वा वक्तव्यमिति प्रथमे परिहारमाह—

उपास्तिं कर्म वा ब्रूयाद्विमुखाय यथोचितम् ।
मन्दप्रज्ञं तु जिज्ञासुमात्मानन्देन बोधयेत् ।।४।।

अन्वय :— विमुखाय यथोचितम् उपास्तिं कर्म वा ब्रूयात् मन्दप्रज्ञं तु जिज्ञासुं आत्मानन्देन बोधयेत् ।

'उपास्तिमिति' । विमुखाय तत्त्वज्ञानविमुखाय, बहिर्मुखायेत्यर्थः । यथोचितं यथायोग्यं ब्रह्मलोकादिकामश्चेदुपास्तिं ब्रूयात्, स्वर्गादिकामश्चेत्कर्म ब्रूयादित्यर्थः । जिज्ञासुस्त्वेऽपि सोऽतिविवेकी मन्दप्रज्ञो वेति विकल्प्य, अतिविवेकिनः पूर्वाध्यायोक्तप्रकारेण योगेन ब्रह्मसाक्षात्कारमभिप्रेत्य स, मन्दप्रज्ञस्य तद्दर्शनोपायमाह-मन्देति. । यो मन्दप्रज्ञः मन्दाजडा प्रज्ञा बुद्धिर्यस्य स मन्दप्रज्ञः तं मन्दप्रज्ञं ज्ञातुमिच्छुः जिज्ञासुः तमात्मानन्देन आत्मानन्दविवेचनमुखेन बोधयेत् ।।४।।

एवं केन को बोधित इत्यत आह—

बोधयामास मैत्रेयीं याज्ञवल्क्यो निजप्रियाम् ।
न वा अरे पत्युरर्थे पतिः प्रिय इतीरयन् ।।५।।

अन्वयः— याज्ञवल्क्यः निजप्रियां मैत्रेयीं न वा अरे पत्युः अर्थेपतिः प्रियः इति ईरयन् बोधयामास ।

'बोधयामासेति' । याज्ञवल्क्य एतन्नामको यजुःशाखाविशेषप्रवर्तकः कश्चिदृषिः मैत्रेयीमेतन्नामिकां निजप्रियां स्वभार्यां 'न वा अरे पत्युरर्थे पतिः प्रियः' (बृ० ४।५।६) इति 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति' (बृ० ४।५।६) इत्यादिप्रकारेण ईरयन्ब्रुवन् बोधयामास, बोधितवानित्यर्थः ।।५।।

जो वह रागी है तो उसे राग के अनुसार कर्म अथवा उपासना करने के लिए कहना होगा, इस प्रकार प्रथम पक्ष का परिहार करते हैं—

यदि वह आत्म विमुख है तो उसके प्रति यथोचित उपासना या कर्म करने का उपदेश देना होगा। किन्तु जो जिज्ञासु एवं मन्दप्रज्ञ वाला है तब ऐसे व्यक्ति को तो आत्मानन्द का बोध दिया जायेगा ।।४।।

तत्त्वज्ञान से विमुख अर्थात् बहिर्मुख अनात्म विषयक वृत्तिवाले को यदि ब्रह्म लोक की कामना है तो यथायोग्य उपासना का उपदेश करें और स्वर्गादिविषयक कामना है तो कर्म का उपदेश करें, किन्तु मन्दप्रज्ञ है एवं साथ में तत्वज्ञान की जिज्ञासा रखता है तो उसको आत्मानन्द का विवेचन द्वारा बोध दें ।।४।।

इस प्रकार किसने किसको बोध कराया उसको कहते हैं—

याज्ञवल्क्य मुनि ने अपनी पत्नी मैत्रेयी के प्रति अरे ! पति के लिए पति प्रिय नहीं है ऐसा उपदेश दिया है ।।५।।

शुक्ल यजुर्वेद की काण्वादिशाखाओं का नाम वाजसनेयीशाखा है उस शाखा के प्रवर्तक याज्ञवल्क्य ऋषि ने अपनी प्रिय पत्नी मैत्रेयी के प्रति "अरी मैत्रेयी" यह निश्चय है कि पति के प्रयोजन के लिए पति प्रिय नहीं होता अपने ही प्रयोजन के लिए पति प्रिय होता है बृहदारण्य श्रुति के अनुसार उपदेश दिया है ।।५।।

उत्तरत्र 'परप्रेमास्पदत्वेन परमानन्द इष्यताम्' (प्र० १२।७२) इति वाक्येन परप्रेमास्पदत्वेन हेतुनात्मनः परमानन्दरूपतां सिसाधयिषुः आदौ परप्रेमास्पदत्वहेतुसमर्थनाय तावदुदाहृतवाक्यस्योपलक्षण-परतामभिप्रेत्य, तत्प्रकरणस्थसकलपर्यायवाक्यतात्पर्यमाह—

पतिर्जाया पुत्रवित्ते पशुब्राह्मणबाहुजाः ।
लोका देवा वेदभूते सर्वं चात्मार्थतः प्रियम् ॥६॥

अन्वयः पतिः जाया पुत्रवित्त पशुब्राह्मणबाहुजाः लोकाः देवाः वेदभूते सर्वं च आत्मार्थतः प्रियम् ।

'पतिरिति' । पतिजायादिकं भोग्यजातं भोक्तुः शेषत्वाद्भोक्तुः संबन्धेनैव प्रियं, न स्वरूपेणेत्यभि-प्रायः ॥६॥

इदानीं पूर्वोदाहृतस्य 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति' (बृ० ४।५।६) इत्यस्य वाक्यस्य तात्पर्यार्थं विभज्य दर्शयति—

पत्याविच्छा यदा पत्न्यास्तदा प्रीतिं करोति सा ।
क्षुदनुष्ठानरोगाद्यैस्तदा नेच्छति तत्पतिः ॥७॥

अन्वयः—यदा पत्न्याः पत्युः इच्छा तदा सा प्रीतिं करोति क्षुदनुष्ठानरोगाद्यैः तदा तत्पतिःनेच्छति

'पत्याविति' । यथा यस्मिन्काले पत्न्याः जायायाः पत्यौ भर्तरि विषये इच्छा कामो भवति तदा सा पत्नी पत्यौ प्रीतिं स्नेहं करोति, यदा तत्पतिः क्षुधादिना इच्छाभावहेतुना युक्तो भवति चेत्तदा तां नेच्छति न कामयते ॥७॥

अब अगले ग्रन्थ में इस वचन से आत्मा परम प्रेमास्पद कारण होने से परमानन्द रूपता को सिद्ध करने की इच्छा वाले ग्रन्थकार सर्व प्रथम परम प्रेमास्पद रूप हेतु के समर्थन करने के लिए उदाहृत श्रुति-वाक्य से उप¹लक्षित प्रकरण में सम्पूर्ण पर्याय वाक्यों का तात्पर्य कहते हैं—

पति, पत्नी, पुत्र, धन पशु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, भुवनदेव तथा पृथिवी आदि पंचभूत ये सब के आत्मा के लिए भोग्य होने से प्रिय लगते हैं ॥६॥

पति जायादिक समस्त भोग्य के पदार्थ अपने लिए ही प्यारे होते हैं, स्वरूप से नहीं अन्य के लिए नहीं ॥६॥

अब पूर्व उदाहृत न वा अरे पत्युः कामाय इस वृहदारण्यक ४।५।६ श्रुति के वाक्य का तात्पर्यार्थ विभक्त कर दिखाते हैं—

जब पत्नी को पति के विषय में इच्छा होती है तभी वह पति से प्रीति करती है, पति क्षुधा अनुष्ठान एवं रोगादि से आक्रान्त रहता है तो पत्नी की इच्छा नहीं करता है ॥७॥

जिस काल में पत्नी का पति भर्ता के विषय में इच्छा रूप कामना होती है तभी वह पत्नी पति में प्रीति स्नेह करती है. जब कभी उसका पति इच्छाभाव के कारण क्षुधा अनुष्ठान रोगादि से ग्रस्त होता है, तो वह नहीं चाहती, कामना नहीं करती ॥७॥

विशेष १ उपलक्षण—अन्य का भी बोधक ।

एवं च सति किं फलितमित्यत आह—

न पत्युरर्थे सा प्रीतिः स्वार्थं एव करोति तान् ।
पतिश्चात्मन एवार्थे न जायार्थे कदाचन ॥८॥

अन्वय :—सा प्रीतिः पत्युरर्थे न तां स्वार्थं एव करोति पतिश्च आत्मनः एव अर्थे कदाचन जायार्थे न ।

'न पत्युरिति' । जायया क्रियमाणा या प्रीतिः सा पत्युरर्थे पत्युः प्रयोजनाय न, किन्तु जाया तां पत्यौ प्रीतिं स्वार्थं एव स्वप्रयोजनायैव करोति । 'न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति' (बृ० ४।५।६) इत्यादि 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति' (बृ० ४।५।६) इत्यन्तेना तात्पर्यक्रमेण विभज्य दर्शयति—'पतिश्चेत्यादिना' । पतिश्च भर्तापि स्वप्रयोजनायैव जायायां प्रीतिं करोति, न जायाप्रीतय इत्यर्थः ॥८॥

नन्वेकैककामनया प्रवृत्तौ प्रीतिः स्वार्था भवतु, युगपदुभयेच्छया प्रवृत्तौ तु प्रीतेरुभयार्थता स्यादित्याशङ्क्याह—

अन्योन्यप्रेरणेऽप्येवं स्वेच्छयैव प्रवर्तनम् ॥९॥

अन्वय :—अन्योन्यप्रेरणेपि स्वेच्छयैव (उभयोः) प्रवर्तनम् ।

'अन्योन्येति' । एवमुक्तेन प्रकारेण स्वेच्छयैव स्वकामनापूरणेच्छयैव प्रवर्तनमुभयोरपीति शेषः ॥९॥

ऐसी स्थिति होने पर क्या फलित अर्थ निकला इस पर कहते हैं —

इस प्रकार पत्नी की वह प्रीति पति के लिए नहीं है अपितु उस प्रीति को अपने स्वार्थ के लिए ही करती है और पति अपने आप के लिए ही प्रीति करता है, पत्नी के लिए नहीं करता है ॥८॥

जो पत्नी द्वारा की जाने वाली प्रीति है वह प्रीति पति के प्रयोजन सिद्धि के लिए नहीं है। किन्तु पत्नी उस प्रीति को अपने प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए हो सकती है। न वा अरे जायायै कामाय० इत्यादि से लेकर सर्वं प्रियं भवति। यहाँ तक तात्पर्य क्रम से विभक्त कर दिखाते हैं कि पति अर्थात् भर्ता भी अपने प्रयोजन के लिए ही पत्नी में प्रेम करता है पत्नी की प्रीति के लिए नहीं करता है ॥८॥

अब शंका करते हैं कि अकेले के लिए की हुई प्रीति स्वार्थ युक्त भले ही हो किन्तु युगपत् दोनों की इच्छा से की जाने वाली प्रीति तो उभय अर्थता को देने वाली होगी इसका उत्तर देते हैं

इस प्रकार पति और पत्नी परस्पर एक दूसरे की प्रेरणा से एक साथ प्रेम करने के लिए प्रवृत्त होते हैं ॥९॥

एवं उक्त प्रकार से अपनी-अपनी इच्छा से ही अपनी-अपनी कामना की पूर्ति की इच्छा से पति एवं पत्नी दोनों की प्रवृत्ति होती है ॥९॥

स्वेच्छया प्रवर्तनमेव दर्शयति –

श्मश्रुकण्टकवेधेन बाले रुदति तत्पिता ।
चुम्बत्येव न सा प्रीतिर्बालार्थे स्वार्थ एव सा ॥१०॥

अन्वय :—श्मश्रुकण्टकवेधेन बाले रुदति (सति) तत्पिता चुम्बति एव सा प्रीतिः बालार्थे न सा स्वार्थे एव ।

'श्मश्रुकण्टकेति' । पित्रा क्रियमाणं पुत्रमुखादिचुम्बनं न पुत्रप्रीत्यर्थं, तस्य श्मश्रुकण्टकवेधेन रोदनकर्तृत्वात्, अतस्तत्पितुः स्वतुष्टयर्थमेवेत्यवगन्तव्यमित्यर्थः ॥१०॥

चेतनेषु पति-जाया-पुत्रेषु क्रियमाणायाः प्रीतेः स्वार्थत्वपरार्थत्वसंदेहसंभवादचेतनत्वेनेच्छामात्ररहितस्य वित्तविषयस्य तच्छङ्कैव नास्तीत्यभिप्रेत्य, 'न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति' (बृ० ४।५।६) इत्यस्य वाक्यस्य तात्पर्यमाह

निरिच्छमपि रत्नादिवित्तं यत्नेन पालयन् ।
प्रीतिं करोति स स्वार्थे वित्तार्थत्वं न शङ्कितम् ॥११॥

अन्वयः—निरिच्छमपि रत्नादिवित्तं यत्नेन पालयन् प्रीतिं करोति स स्वार्थे वित्तार्थत्वं शङ्कितम् न ।

'निरिच्छमपीति' ॥११॥

अपनी इच्छा से प्रवर्तन दिखाते हैं—

कांटेदार दाढ़ी एवं मूछों के बालों से चुम्बन करने पर बालक रोता है, फिर भी उसका पिता चुम्बन करता ही रहता है, वह प्रीति बालक के लिए नहीं अपितु अपने प्रयोजन के लिए होती है ॥१०॥

पिता द्वारा किया जाने वाल पुत्र के मुखादि का चुम्बन वह पुत्र के प्रीति के लिए नहीं है क्योंकि उसके दाढ़ी एवं मूंछ के कांटेदार बाल के लगने से रोदन देखा जाता है । इसलिए बालक के पिता अपनी सन्तुष्टि के लिए ही मुखादि का चुम्बन करता है ऐसा जानना चाहिए ॥१०॥

चेतना जीवों में पति, जाया, पुत्र आदिकों में की जाने वाली प्रीति स्वार्थ या परार्थ से लिए हो सकती है किन्तु अचेतन वित्त (धन) आदि जड़ वस्तु में तो वैसी इच्छा विशेष का अभाव रहता है । यह मानकर न वा अरे वित्तस्य ·····वित्तं प्रियं भवति' इस बृहदारण्य श्रुति के वाक्य का तात्पर्य कहते हैं

इच्छा रहित भी रत्नादि धन को बड़े यत्नपूर्वक रक्षा करता हुआ वह व्यक्ति प्रयोजन सिद्ध करने के लिए प्रीति करता है । प्रीति वित्त के लिए नहीं करता अपने लिए है । इसमें वित्त के अर्थ हैं यह शंका ही नहीं हो सकती क्योंकि धन इच्छा रहित है ॥११॥

चेतनत्वेऽपि ‘वहनादीच्छारहितपशुविषयस्य ‘न वा अरे पशूनां’ (बृ० ४।५।६) इत्यस्य वाक्यस्य तात्पर्यमाह—

अनिच्छति बलीवर्दे विवाहयिषते बलात् ।
प्रीतिः सा वणिगर्थैव बलीवर्दार्थता कुतः ॥१२॥

अन्वयः—बलीवर्दे अनिच्छति (सति) बलात् विवाहयिषते सा प्रीतिः वणिगर्थैव बलीवर्दार्थता कुतः ।

अनिच्छतीति’ । बलीवर्दे अनडुहि अनिच्छति भारं वोढुमिच्छामकुर्वत्यपि बलाद्विवाहयिषते वाहयितुं कामयते, तत्र वहनादिविषयायाः प्रीतेः वणिगर्थतैव, न बलीवर्दार्थतेत्यर्थः ।१२।

‘न वा अरे ब्रह्मणः कामाय’ (बृ० ४।५।६) इति वाक्यस्य तात्पर्यमाह—

ब्राह्मण्यं मेऽस्ति पूज्योऽहमिति तुष्यति पूजया ।
अचेतनाया जातेर्नो संतुष्टिः पुंस एव सा ॥१३॥

अन्वयः—मे ब्राह्मण्यं अस्ति अहं पूज्य इति पूजया तुष्यति अचेतनाया जातेः संतुष्टिः न सा पुंस एव ।

‘ब्राह्मण्यमिति’ । ब्राह्मण्यनिमित्तया पूजया ‘ब्राह्मणोऽहमस्मी’त्यभिमानवानेव तुष्यति, न जडा जातिरित्यर्थः ॥१३॥

चेतन होने पर भी भारवहन करने की इच्छा पशु को नहीं होती है न वा अरे पशूनां इस श्रुति के वाक्य का तात्पर्य कहते हैं –

बैल की भार वहन करने की इच्छा न रहने पर भी बलात् उससे भार वहन करवाया जाता है । वह व्यापारी की स्वार्थ बुद्धि है । इसमें बैल की स्वार्थ सिद्धि की इच्छा कहाँ है ॥१२।

बैल भार ढोने के लिए थोड़ी सी भी इच्छा नहीं करता हुआ भी बलात् बैल से भार ढोवाया जाता है, यह भार ढोवाने की कामना व्यापारी अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए करता है इसमें बैल का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो रहा है ॥१२॥

‘न वा अरे ० इस बृहदारण्यक श्रुति के वाक्य का तात्पर्य बताते हैं—

मुझमें ब्राह्मणत्व है इसलिए मैं पूजनीय हूँ । इस प्रकार ब्राह्मणत्व जाति के गौरव से युक्त व्यक्ति पूजा की प्राप्ति से प्रसन्न होता है वह सन्तुष्टि अचेतन जाति की नहीं हो सकती है किन्तु पुरुष को ही वह सन्तुष्टि है ॥१३॥

ब्राह्मणत्व जाति विशेष के अभिमान से मानता है कि मैं पूजन करने योग्य हूँ और इस मिथ्यात्व अभिमान से युक्त वह व्यक्ति सन्तोष का अनुभव करता है यह प्रसन्नता जड़ जाति का नहीं है ॥१३॥

'न वा अरे क्षत्रस्य' (बृ० ४।५।६) इत्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमाह—

क्षत्रियोऽहं तेन राज्यं करोमीत्यत्र राजता ।
न जातेर्वैश्यजात्यादौ योजनायेदमीरितम् ॥१४॥

अन्वय :—अहं क्षत्रियः तेन राज्यं करोमि इत्यत्र राजता जातेः न, वैश्यजात्यादौ योजनाय इदं ईरितम् ।

'क्षत्रिय इति' । राज्योपभोगनिमित्तं सुखं क्षत्रियत्वजातिमत एव न क्षत्रियत्वजातेरित्यर्थः । इदं क्षत्रियोदाहरणं वैश्याद्युपलक्षणार्थमित्याह —'वैश्यजात्यादाविति' ॥१४॥

न वा अरे लोकनां कामाय (बृ० ४।५।६) इत्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमाह -

स्वर्गलोकब्रह्मलोकौ स्तां ममेत्यभिवाञ्छनम् ।
लोकयोर्नोपकाराय स्वभोगायैव केवलम् ॥१५॥

अन्वय :—स्वर्गलोकब्रह्मलोकौ मम स्तां इति अभिवाञ्छनम् लोकयोः उपकाराय न केवलं स्वभोगायैव ।

'स्वर्गलोक इति' । लोकद्वयोपादानं कर्मोपासनालक्षणसाधनद्वयसंपाद्यसकललोकोपलक्षणार्थम् ।

न आ अरे इस बृहदारण्यक श्रुति के वाक्य का तात्पर्य कहते हैं—

मैं क्षत्रिय हूँ इस कारण से राज्य करता हूँ । यहाँ पर राज सुखत्व जाति का नहीं है, किन्तु क्षत्रियत्व के अभिमान रखने वाले व्यक्ति विशेष के लिए है यह क्षत्रियत्व का उदाहरण वैश्य आदि में घटा लेना चाहिए ॥१४॥

राज्य उपभोग निमित्त सुख, जाति वाले व्यक्ति विशेष का है मैं क्षत्रिय हूँ । इस कारण से राज्य सम्बन्धी सुख भोगता हूँ । इसमें क्षत्रियत्व जाति का राज्यपन नहीं है । इस क्षत्रिय जाति का दृष्टान्त वैश्य जाति आदि में भी समझना चाहिए ॥१४॥

न वा अरे लोकानां० इस बृ० श्रुति के वाक्य का तात्पर्य कहते हैं—

स्वर्ग लोक और ब्रह्मलोक मुझे प्राप्त हों यह इच्छा उन दोनों लोकों के ऊपर उपकार करने के लिए नहीं है अपितु केवल अपने भोग के लिए ही होती है ॥१५॥

यहाँ पर कर्म एवं उपासना रूप दो साधनों के द्वारा संपाद्य सभी भूः भुवः स्वर्गः मह जन, तप, सत्य लोकों के विषय में भी यह समझना होगा ॥१५॥

'किंच'—

ईशविष्ण्वादयो देवाः पूज्यन्ते पापनष्टये ।
न तन्निष्पापदेवार्थं तत्तु स्वार्थं प्रयुज्यते ॥१६॥

अन्वय :—ईश विष्ण्वादयो देवाः पाप नष्टये पूज्यन्ते तत्‌निष्पापदेवार्थं न, तत्तु स्वार्थं प्रयुज्यते ।

'ईशविष्ण्वादय इति' । पापनष्टये पापनिवृत्तय इत्यर्थः । तत्पूजनं न निष्पापदेवार्थं स्वतः पापरहितानां देवानां प्रयोजनाय, किंतु स्वार्थं पूजाकर्तुः प्रयोजनाय ॥१६॥

किंच—

ऋगादयो ह्यधीयन्ते दुर्ब्राह्मण्यानवाप्तये ।
न तत्प्रसक्तं वेदेषु मनुष्येषु प्रसज्जते ॥१७॥

अन्वय :—ऋगादयो हि दुर्ब्राह्मण्यानवाप्तये अधीयन्ते तत् वेदेषु प्रसक्तं न, मनुष्येषु प्रसज्जते ।

'ऋगादय इति' । दुर्ब्राह्मण्यं व्रात्यत्वं तच्च दुर्ब्राह्मण्यं मनुष्येषु मनुष्यत्वावान्तरजातिरूपं[1] तद्रहितेषु वेदेषु न प्रसज्जत इत्यर्थः ॥१७॥

ईश्वर विष्णु आदि देवों की पूजा पाप के प्रक्षालन के लिए की जाती है । वह पूजन अर्चन पाप रहित देवों के लिए नहीं होता है । उनकी अर्चना देवों की अर्चक अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए करता है ॥१६॥

विष्णु आदि देवों की अर्चना पाप विनष्ट करने के लिए अर्थात् पाप की निवृत्ति के लिए की जाती है, वह पूजन स्वतः निष्पाप देवों के प्रयोजन सिद्ध करने के लिए नहीं किया जाता है किन्तु पूजा करने वाला व्यक्ति देवताओं का पूजन अपने प्रयोजन सिद्ध करने के लिए करता है ॥१६॥

इस प्रकार आगे कहते हैं —

ऋग्, यजु, साम, अथर्व वेदादि का व्रात्य दोष न लगे, इसी कारण अध्ययन किया जाता है, वह व्रात्य दोष वेदों को तो नहीं लगता है, किन्तु मनुष्यों में अध्ययन न करने से व्रात्य दोष लगता है ॥१७॥

विशेष १ —वेदों में व्रात्यपन प्राप्त होता नहीं प्राप्त वस्तु (दोष आदिक) का निषेध बनता है । अप्राप्त वस्तु में नहीं । जैसे मनुष्यपनें रूप जाति है उसके अवान्तर में ब्राह्मण होने योग्य मनुष्य में वेदाध्यायन आदि के अभाव से व्रात्यपने दुर्ब्राह्मण्य रूप जाति की प्राप्ति का सम्भव है उसका वेदाध्ययन आदि करके निषेध (निवारण) होता है वेदों में जाति मनुष्यत्व रूप व्यापक जाति का अभाव है इससे व्रात्यत्व रूप व्याप्य जाति का अभाव है । (१) जिस जाति के अन्तर्गत और अनेक जाति होती है वह व्यापक जाति कहलाती है जैसे मनुष्यत्व जाति । (२) जिस जाति के अन्तर्गत और जाति नहीं होती किन्तु व्याप्य जाति ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यत्वादि जाति है ।

किंच

भूम्यादिपञ्चभूतानि स्थानतृट्पाकशोषणैः।
हेतुभिश्चावकाशेन वाञ्छन्त्येषां न हेतवः ॥१८॥

अन्वय :—भूम्यादिपञ्चभूतानि स्थानतृट्पाकशोषणैः हेतुभिः अवकाशेन च वाञ्छन्ति एषां हेतवः न।

'भूम्यादीति'। सर्वे प्राणिनः स्थानप्रदानतृट्निवारणपाककरणार्द्रशोषणावकाशप्रदानाख्यैर्हेतुर्भिनिमित्तैः पृथिव्यादीनि पञ्चभूतानि वाञ्छन्ति अपेक्षन्ते। एषां पृथिव्यादीनां तु हेतवः स्थानवाञ्छनादीनि निमित्तानि न सन्ति, अतो न स्वयमाकाङ्क्षन्त इत्यर्थः ॥१८॥

इदानीं 'न वा अरे सर्वस्य' कामाय (बृ० ४।५।६) इत्यस्य वाक्यस्य तात्पर्यमाह —

स्वामिभृत्यादिकं सर्वं स्वोपकाराय वाञ्छति।
तत्तत्कृतोपकारस्तु तस्य तस्य न विद्यते ॥१९॥

अन्वय : स्वामिभृत्यादिकं सर्वं स्वोपकाराय वाञ्छति तत्तत्कृतोपकारस्तु तस्य तस्य न विद्यते।

'स्वामीति'। भृत्यादिः सर्वो जनः स्वाम्यादिकं सर्वं स्वोपकाराय स्वप्रयोजनाय वाञ्छति, एवं स्वाम्यादिरपि ॥१९॥

इस प्रकार आगे भी कहते हैं—

सभी लोग स्थान प्रदान, तृष्णा निवारण, अन्न पकाना, आर्द्रवस्तु सुखाना, हलन—चलन को अवकाश देने के लिए क्रमशः भूमि आदि पाँच भूतों पदार्थों की अपेक्षा रखते हैं पृथ्वी आदि स्वयं स्थान आदि की अपेक्षा नहीं रखते हैं ॥१८॥

सभी प्राणी स्थान प्रदान करने तृषा बुझाने अन्न पकाने गीले वस्त्रादि को सुखाने और इन कारणों से अवकाश प्रदान रूप हेतु से पृथिवी आदि पंच महाभूत की अपेक्षा करते हैं इन पृथिवी आदि में तो स्थान की इच्छादि निमित्त नहीं है। इसलिए स्वयं पृथिवी आदि भूत स्थान आदि की आकांक्षा नहीं रखते हैं ॥१८॥

अब न वा अरे सर्वस्य कामाय इस बृहदारण्यक श्रुति के वाक्य का तात्पर्य कहते हैं—

स्वामी एवं भृत्यादिक सब अपने उपकार के लिए ही एक दूसरे को चाहते हैं। उस-उस के द्वारा किया जाने वाला उपकार उस-उसके लिए नहीं किया जाता है ॥१९॥

भृत्यादि सभी लोग स्वामी आदि को अपने प्रयोजन के लिए चाहते हैं और स्वामी भी भृत्यादिक को अपने प्रयोजन के लिए चाहते हैं ॥१९॥

ननु श्रुतावेवं बहूदाहरणदर्शनं किमर्थं कृतमित्याशङ्क्याह --

सर्वव्यवहृतिष्वेवमनुसंधातुमीदृशम् ।
उदाहरणबाहुल्यं तेन स्वां वासयेन्मतिम् ॥२०॥

अन्वय :—एवं सर्वव्यवहृतिषु अनुसंधातुं ईदृशम उदाहरणबाहुल्यं तेन स्वां मतिं वासयेत् ।

'सर्वव्यवहृतिष्विति' इच्छापूर्वकेषु सर्वेष्वपि भोजनादिव्यवहारेषु एवं 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' (बृ० २।४।५) इत्युक्तेन प्रकारेणानुसंधातुमनुसंधानाय ईदृशं पतिजायादिषु प्रीतिदर्शन-रूपमुदाहरणबाहुल्यमुक्तमिति शेषः । तेन कारणेन स्वां स्वसम्बन्धिनीं 'मतिं' बुद्धिं वासयेत् । सर्वस्यापि स्वशेषत्वावगमेन स्वात्मनः प्रियतमत्वानुसंधानवतीं कुर्यादित्यर्थः ॥२०॥

शंका— इस प्रकार श्रुतियों में अनेक उदाहरण किस निमित्त से दिये गये हैं, इसका समाधान करते हैं—

सभी व्यवहारों में इस प्रकार अनुसंधान करने के लिए पती-पत्नी आदि में प्रीति प्रदर्शनरूप बहुत से उदाहरण दिए गए हैं। अतः अपनी बुद्धि को बना ले कि ये सभी पदार्थ आत्मा के प्रीति के लिए हैं ॥२०॥

क्योंकि इच्छा पूर्वक भोजन आदि व्यवहारों में, उनमें आत्मा (अपनी) की कामना के लिए सब प्रिय लगते हैं। इस प्रकार से अनुसन्धान (दिखाने के लिए) पति जाया आदि बहुत से उदाहरण कहे गये हैं। इससे अपनी बुद्धि में यह निश्चय करे कि सभी वस्तुएँ अपने ही प्रयोजन के लिए हैं आत्मा अत्यन्त प्रीति का विषय ऐसी निश्चय वाली बुद्धि करें ॥२०॥

नन्वात्मशेषत्वेन सर्वस्य प्रियत्वोक्तेरात्मनः प्रियतमत्वमुक्तमनुपपन्नम्, प्रीतिविकल्पे क्रियमाणे प्रीतेरेव दुर्निरूपत्वादित्यभिप्रायेण प्रीतिस्वरूपं पृच्छति—

अथ केयं भवेत्प्रीतिः श्रूयते या निजात्मनि ।
रागो वध्वादिविषये श्रद्धा यागादिकर्मणि ।
भक्तिः स्याद्गुरुदेवादाविच्छा त्वप्राप्तवस्तुनि ॥२१॥

अन्वय :—अथ इयं प्रीतिः का भवेत् या निजात्मनि श्रूयते रागः वध्वादि विषये श्रद्धा यागादि-कर्मणि गुरुदेवादौ भक्तिः स्यात् अप्राप्तवस्तुनि तु इच्छा ।

'अथेति' 'अथ' शब्द प्रश्नार्थः । या निजात्मनि प्रीतिः श्रूयते इयं का ? किं रागरूपा, किं वा श्रद्धारूपा, उत भक्तिरूपा, यद्वेच्छारूपा ? इति 'किं' शब्दार्थश्चतुर्ष्वपि पक्षषु प्रीतेः सर्वविषयत्वं न संभवतीत्याह—'राग इति' । रागश्चेद्वध्वादिष्वेव स्यान्न यागादिषु, श्रद्धा चेद्यागादिष्वेव स्यान्न वध्वादिषु भक्तिश्चेत् गुर्वादिष्वेव स्यान्नेतरेषु, इच्छा चेदप्राप्तवस्तुविषयैव स्यान्नेतरविषया, अतो न सर्वविषयत्वं प्रीतेरित्यर्थः ॥२१॥

शंका—आत्मा के लिए ही ये सबका उपभोग है इसलिए प्रियता के कथन आत्मा प्रियतम है सो सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रीति के विषय में विकल्प करने पर प्रीति का स्वरूप ही निर्णय नहीं हो सकता है इस अभिप्राय को लेकर प्रीति का स्वरूप पूँछते हैं ।

जो अपने आत्मा के विषय में प्रीति सुनी जाती है उसका क्या स्वरूप है ? यह प्रीतिरागरूप है अथवा श्रद्धारूप है । किं वा भक्तिरूप है वा इच्छारूप है । यदि प्रीति को रागरूप माना जाय तो वह स्त्री आदि में ही होगी । यदि श्रद्धारूप है तो यागादि कर्म में ही होगी, यदि भक्तिरूप है तो गुरू में ही होगी यदि प्रीति इच्छा रूप है तो अप्राप्त पदार्थ में ही होगी ॥२१॥

श्लोक में उद्धृत 'अथ' शब्द रूप प्रश्न के रूप में दिया गया है । जो अपने आत्मा में प्रीति सुनी जाती है, वह कैसी है ? क्या रागरूप है किंवा श्रद्धारूप है अथवा भक्तिरूप है या इच्छा रूप है । इस प्रकार 'किम्' शब्दार्थ को चारों पक्षों में लगाया गया है । प्रीति का स्वरूप सब विषयक नहीं हो सकता है ।

उत्तर—यह प्रीति राग विषयक है तो वध आदि में ही हो सकती है । यदि प्रीति श्रद्धारूप है तो यज्ञादि में ही हो सकती है । यदि प्रीति भक्तिरूप है तो सद्गुरु में ही हो सकती है यदि प्रीति इच्छारूप है तो अप्राप्त वस्तु में ही हो सकती है । इसलिए प्रीति का विषय सभी पदार्थों में भिन्न-भिन्न होने से उसका स्वरूप सिद्ध नहीं है ॥२१॥

उक्तप्रकारचतुष्टयातिरिक्तं पक्षमादायोत्तरमाह—

तर्ह्यस्तु सात्त्विकी वृत्तिः सुखमात्रानुवर्तिनी ।
प्राप्ते नष्टेऽपि सद्भावादिच्छातो व्यतिरिच्यते ॥२२॥

अन्वय :—तर्हि सुखमात्रानुवर्तिनी सात्विकी वृत्तिः अस्तु प्राप्ते नष्टेऽपि सद्भावात् इच्छातः व्यतिरिच्यते ।

'तर्ह्यस्त्विति' । तर्हि प्रीतेः रागादिरूपत्वासंभवे सति सुखमात्रानुवर्तिनी सुखमेव सुखमात्रमनुसृत्य वर्तत इति सुखमात्रनुवर्तिनी सुखैकगोचरेत्यर्थः । सात्त्विकी सत्त्वगुणपरिणामरूपावृत्तिरन्तःकरणवृत्तिः प्रीतिरस्तु । ननु तर्हि सा प्रीतिरिच्छैवेत्याशङ्क्य, परिहरति – 'प्राप्ता इति' । इच्छा तावदप्राप्तसुखादिमात्र विषया, इयं तु सर्वविषया, प्राप्ते लब्धे सुखादौ नष्टेऽपि तस्मिन्विषये विद्यमानत्वात अत इच्छातः इच्छाया-व्यतिरिच्यते भिद्यते ॥२२॥

अब पूर्वोक्त रीति से प्रीति के चार स्वरूपों से अतिरिक्त पंचमपक्ष को ग्रहण करके उत्तर देते हैं—

प्रीति यदि रागरूप नहीं है तो उसे केवल सुखरूप सात्विक वृत्ति ही मान लिया जाय । पदार्थ में एवं विनष्ट हुए सुख में भी प्राप्त है । सदा काल स्थिति होने के कारण यह प्रीति इच्छा से सदा भिन्न ही है ॥२२॥

प्रीति रागादि रूप न सम्भव होने पर भी केवल सुख को अनुवर्तन अर्थात् विषय करने वाली सत्त्वगुण का परिणाम वाली अन्तःकरण की वृत्ति का स्वरूप भले ही बने अब शंका करते हैं कि यह प्रीति इच्छा पूर्वक ही हुआ करती है ?

इसका उत्तर देते हैं– इच्छा केवल अप्राप्त सुखादि विषयक होती है । क्योंकि यह तो सब विषय में होती है, प्राप्त सुखादि में एवं विनष्ट हुए उस विषय में भी विद्यमान रहने के कारण रहती है । अतः यह प्रीति इच्छा से भिन्न ही है ॥२२॥

विशेष १ – अत्र "अनुरागेच्छयोर्व्युदासार्थं 'सात्विकी'' इति ग्रहणम् सुखमात्रानुवर्तिनी इति ग्रहणेन प्रमायामतिव्याप्तिर्निरस्ता मात्राशब्देन प्रियालिङ्गनोद्भूत सुख निरस्यते तेनेदमुक्त भवति केवल सुखविषयत्वे सति सात्विक चित्तवृत्तित्वं प्रीतित्वमिति –

इदानीं सुखसाधनभूतेष्वन्नादिष्विवात्मन्यपि प्रीतिदर्शनादात्मनोऽप्यन्नादिवत्सुखसाधनत्वं स्यादिति शङ्कते—

सुखसाधनतोपाधेरन्नपानादयः प्रियाः ॥२३॥

अन्वय :—अन्नपानादयः सुखसाधनतोपाधेः प्रियाः (दृष्टाः)।

'सुखेति'। अन्नपानादयः सुखसाधनत्वोपाधिना यथा प्रिया दृष्टाः आत्माप्यानुकूल्यात् प्रियत्वादन्नादिसमोऽन्नापानादिवत्सुखसाधनं स्यादित्यर्थः ॥२३॥

आत्मानुकूल्यादन्नादिसमश्चेदमुनात्र कः।

अनुकूलयितव्यः स्यान्नैकस्मिन्कर्मकर्तृता ॥२४॥

अन्वयः—आत्मानुकूल्यात् अन्नादिसमः चेत् अमुना अत्र कः अनुकूलयितव्यः स्यात् एकस्मिन् कर्मकर्तृता न।

अत्रेदमनुमानं सूचितम् विमत आत्मा सुखसाधनं भवितुमर्हति प्रियत्वात् अन्नादिवदिति। अन्नपानादिषु भोग्यत्वमुपाधिरित्यभिप्रायेण परिहरति— अमुनेति'। अत्र लोके अमुना सुखसाधनतयानुकूलेनानुकूलयितव्यः कः स्यात् ? न कोऽपि स्यात्। आत्मातिरिक्तस्य भोक्तुरभावादित्यर्थः ननु स्वयमेवानुकूलयितव्यः स्यादित्यत आह—'नैकस्मिन्निति'। एकस्यैवात्मनो युगपदुपकार्यत्वमुपकारकत्व चेति धर्मद्वयं विरुध्यत इत्यर्थः ॥२४॥

अब जैसे सुख के साधनरूप अन्न आदिकों में प्रीति होती है वैसे आत्मा में भी प्रीति देखी जाती है इसलिए आत्मा भी अन्न आदि की भाँतिसुख का साधनत्व बनेगी इस प्रकार आशंका करते हैं —

अन्न पानादि ये सबके सब सुख के साधन रूप होने से प्रीति का विषय होता है ॥२३॥

भोजन जल पानादि सुख के हेतुरूप उपाधि के कारण जैसे अत्यन्त प्रिय लगते हैं, उसी प्रकार आत्मा भी अनुकूल अर्थात् प्रियरूप होने के कारण अन्नादि के समान सुख का साधन हो होगा ॥२३॥

यदि आत्मा अनुकूल एवं प्रिय होने से अन्नपानादि की तरह सुख का साधन मानोगे तो यह किसके सुख के अनुकूल है। प्रसन्न करने योग्य इससे अतिरिक्त कौन होगा ? कोई नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा से भिन्न कोई भोक्ता नहीं है। एक काल में एक ही आत्माकर्ता और कर्म अर्थात् भोक्ता नहीं हो सकता है ॥२४॥

नन्वन्नादिवत्सुखसाधनत्वाभावेपि सुखवद्भोक्तृशेषता स्यादित्याशङ्क्य, आत्मनो निरतिशयप्रेमास्पदत्वान्मैवमिति परिहरति—

सुखे वैषयिके प्रीतिमात्रमात्मा त्वतिप्रियः ।
सुखे व्यभिचरत्येषा नात्मनि व्यभिचारिणी ॥२५॥

अन्वय : वैषयिके सुखे प्रीतिमात्रं आत्मा तु अतिप्रियः एषा सुखे व्यभिचरति आत्मनि व्यभिचारिणी न ।

'सुख इति' । वैषयिके विषयजन्ये सुखे प्रीतिमात्रं प्रीतिरेव, न निरतिशया । आत्मात्वतिप्रियो निरतिशयप्रेमविषयः अतो न विषयजन्यसुखतुल्य इत्यर्थः । तत्रोभयत्रोपपत्तिमाह— 'सुखे व्यभिचरतीति' । सुखे वैषयिके सुखे जायमाना एषा प्रीतिर्व्यभिचरति कदाचित्सुखान्तरं गच्छति, न तस्मिन्नेव नियताव-तिष्ठते, आत्मनि तु विद्यमाना प्रीतिर्न व्यभिचारिणी विषयान्तरगामिनी न भवति, अतो निरतिशया सेत्यर्थः ॥२५॥

यहाँ पर यह अनुमान समझना चाहिए कि विवाद का स्थान आत्मा सुख का हेतु होने योग्य है । क्योंकि प्रिय होने से अन्नपानादिके समान अन्न पान आदि में भोग्यत्वरूप उपाधि है ।

इस शंका का इस अभिप्राय से परिहार करते हैं । इस लोक में अमुना इस सुख साधन रूप से अनुकूल करने योग्य भोक्ता कौन होगा आत्मा से अतिरिक्त अन्य कोई भोक्ता नहीं है ।

शंका करो कि स्वयं ही अपने आपको अनुकूल हो जावेगा ।

उत्तर—एक ही आत्मा में युगपत् कर्मत्व अर्थात् उपकारकत्व की विषयतया और कर्तृत्व अर्थात् उपकार का कर्तृत्व नहीं रह सकते हैं ये दोनों विरुद्ध धर्म एकत्र एक साथ कैसे रह सकते हैं ॥२४॥

शंका—अन्न आदि के समान आत्मा सुख का साधन होने पर भी वैषयिक सुख की भांति भोक्ता का शेष आत्मा हो जायेगा इस शंका का परिहार—आत्मा निरतिशय प्रेमास्पद रूप है इस प्रकार कहते हैं—

विषय से उत्पन्न होने वाला सुख प्रीति मात्र है । किन्तु आत्मा तो निरतिशय प्रेमास्पद है विषय जन्य सुख में यह व्यभिचार हो सकता है । आत्मा में तो व्यभिचार नहीं होता है ॥२५॥

विशेष १—जहाँ-जहाँ सुख का साधन वहाँ-वहाँ भोग्यत्व है और जहाँ-जहाँ प्रियत्व है वहाँ-वहाँ भोग्यत्व है यह नियम नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा में प्रियत्व है भोग्यत्व नहीं क्योंकि जो धर्म साध्य का व्यापक और हेतु (साधन) का अव्यापक होता है उसको ही उपाधि कहते हैं । अर्थात् अन्न आदि के समान आत्मा को भी सुख का हेतु मानोगे तो इस सुख साधन रूप अनुकूल से अनुकूल करने योग्य जगत् में कौन होगा आत्मा से अन्य कोई भोक्ता नहीं है ।

सुखगोचरायाः प्रीतेर्व्यभिचारं दर्शयति—

एकं त्यक्त्वाऽन्यदादत्ते सुखं वैषयिकं सदा ।
नात्मा त्याज्यो न चादेयस्तस्मिन्व्यभिचरेत्कथं ॥२६॥

अन्वय :—सदा वैंषयिकं सुखं एकं त्यक्त्वा अन्यत् आदत्ते, आत्मा त्याज्यः न, आदेयः च न तस्मिन् कथं व्यभिचरेत् ।

'एकमिति' । आत्मनि तु तदभावं दर्शयति—'नात्मेति' । अयोग्यत्वादित्यर्थः फलितमाह—'तस्मिन्निति' ॥२६॥

वैषयिक अर्थात् विषयजन्य सुख में केवल प्रीति मात्र है, निरतिशय प्रीति नहीं है । आत्मा तो अतिप्रिय निरतिशय प्रेम का विषय है । इसलिए विषयजन्य सुख के समान नहीं है । इस विषय में उपपत्ति (दृष्टान्त) से दिखाते हैं—वैषयिक सुख में विषय से उत्पन्न होने वाली यह प्रीति व्यभिचार कर जाती है । कदाचित् अन्य सुख में चली जाती है एक सुख में नियम से नियमित स्थिर होकर नहीं बैठती है । किन्तु आत्मा में विद्यमान प्रीति व्यभिचारयुक्त नहीं होती विषयान्तर में जाने वाली नहीं होती है । इसलिए आत्मा विषयक प्रीति निरतिशय है ॥२५॥

अब विषय सुख की प्रीति के व्यभिचार और आत्मा के अव्यभिचार को दिखाते हैं—

मनुष्य विषय सम्बन्धी एक सुख को त्यागकर दूसरे सुख की इच्छा करता है । किन्तु आत्मा तो हेय एवं उपादेय से रहित है । अतः उस आत्मा में यह निरतिशय रूप प्रीति कैसे व्यभिचारी होगी ? अर्थात् नहीं हो सकती ॥२६॥

विषय सुख में प्रीति सदा एक वैंषयिक सुख का परित्याग करके दूसरे विषय से उत्पन्न होने वाले सुख को ग्रहण करती है । किन्तु आत्मा में तो उसका अभाव रहता है क्योंकि आत्मा तो त्याज्य एवं आदेय (ग्रहण) ही नहीं है । अपना स्वरूप हानोपादान के अयोग्य है । सारांश यह है कि आत्मा में वह प्रीति व्यभिचारिणी नहीं होती है ॥२६॥

हानादिविषयत्वाभावेऽप्यात्मनस्तृणादिवदुपेक्षा विषयत्वं किं न स्यादिति शङ्कते—

हानादानविहीनेऽस्मिन्नपेक्षा चेत्तृणादिवत् ।
उपेक्षितुः स्वरूपत्वान्नोपेक्ष्यत्वं निजात्मनः ।।२७।।

अन्वय :—हानादानविहीने अस्मिन् तृणादिवत् अपेक्षा चेत् उपेक्षितुः स्वरूपत्वात् निजात्मनः उपेक्ष्यत्वं न ।

'हानेति' । हानं परित्यागः, आदानं स्वीकारः, उपेक्षा औदासीन्यम्, आत्मनो हानाद्य विषयत्ववदुपेक्षाविषयत्वमपि न संभवति, अयोग्यत्वादित्यभिप्रायेण परिहरति —'उपेक्षितुरिति' । उपेक्षितुरूपेक्षाकर्तुः यो निजात्मा अविनाशिस्वरूपमस्ति, तस्य स्वस्वरूपत्वादेव स्वव्यतिरिक्ततृणादिवदुपेक्ष्यत्वमुपेक्षा विषयत्वं न विद्यत इति शेषः ।।२७।।

शंका—यद्यपि आत्मा हानोपादान का विषय नहीं है तो भी आत्मा तृणादि की तरह उपेक्षा विषय क्यों नहीं होता ? इस प्रकार प्रश्न करते हैं—

त्याग एवं ग्रहण से विहीन इस आत्मतत्त्व में तृणादि की भाँति यदि उपेक्षा होती है तो उपेक्षा करने वाला व्यक्ति के अपना ही स्वरूप होने से अपने से भिन्न तृणादि की तरह आत्मा की उपेक्षा भी नहीं होती है ।।२७।।

हान अर्थात् परित्याग करना एवं आदान स्वीकार करना तथा उपेक्षा उदासीन दशा में रहना आत्मा में हानादि विषयत्व की भाँति उपेक्षा भी सम्भव नहीं हो सकती है । क्योंकि आत्मा तो हेय एवं उपादेय से रहित है । उपेक्षा करने वाले पुरुष का जो निजात्मा अविनाशी स्वरूप है वह अपने स्वरूपभूत होने से ही अपने से व्यतिरिक्त तृणादि की भाँति उपेक्षा का विषय नहीं होता है ।।२७।।

ननु हानिविषयत्वमात्मनो नास्तीत्युक्तमनुपपन्नम्, द्वेषात्त्याज्यत्वदर्शनादिति शङ्कते—

रोगक्रोधाभिभूतानां मुमूर्षा वीक्ष्यते क्वचित् ।
ततो द्वेषाद्भवेत्त्याज्या आत्मेति यदि तन्न हि ॥२८॥

अन्वय : –रोगक्रोधाभिभूतानां मुमूर्षा क्वचित् वीक्ष्यते ततः द्वेषात् आत्मा इति यदि त्याज्यः भवेत् तन्न हि ।

'रोगेति' । यतो मुमूर्षा दृश्यते तत आत्मनि द्वेषसंभवात् वृश्चिकादिवदात्मापि त्याज्य इति यदुच्यते इति शेष । तत्त्यागस्यात्मव्यतिरिक्तदेहविषयत्वान्मैवमिति परिहरति—'तन्नहीति' ॥२८॥

अब यह शंका करते हैं कि त्याग का विषयत्व आत्मा नहीं है यह पूर्वोक्त युक्ति अयुक्तसिद्ध होती है क्योंकि द्वेष से भी आत्मा का त्याज्यत्व देखा जाता है । इस प्रकार शंका करते हैं—

व्याधि या क्रोध से अभिभूत (पूर्ण) मनुष्य को कहीं-कहीं मरने की इच्छा पायी जाती है । इस कारण द्वेष की सम्भावना सर्प आदि की भाँति आत्मा भी तो परित्याज्य हो सकता है ? यह कथन ठीक नहीं है ॥२८॥

रोग क्रोध आदि से अभिभूत (पूर्ण) मनुष्यों को कभी कभी मरने की इच्छा देखने में आती है इसलिए आत्मा में द्वेष सम्भव होने के कारण वृश्चिक आदि की भाँति आत्मा को भी छोड़ने की स्थिति उपस्थित हो जाती है । यह कथन आपका युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि इस आत्मा से अतिरिक्त शरीर का मृतक व्यक्ति त्याग करना चाहता है न कि देहस्थ[1] आत्मा का ॥२८॥

विशेष १—देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्यभारत । गी० २।३०।
अयं देही देहोपाधिद् आत्मा वध्यो न भवति—ब्रह्मा से लेकर । स्तम्बतक सब प्राणियों के देहों का बध करने भी सदास्वय आत्मा अवध्य (जिसका बध नहीं किया जा यसके) ही रहता है ।

त्यक्तुमुत्स्रष्टुं योग्यस्योचितस्य देहस्यात्मता नास्ति, कस्य तर्हि सेत्यत आह—

त्यक्तुं योग्यस्य देहस्य नात्मता त्यक्तुरेव सा ।
न त्यक्तर्यस्ति स द्वेषस्त्याज्ये द्वेषे तु का क्षतिः ॥२९॥

अन्वय :- त्यक्तुं योग्यस्य देहस्य आत्मता न सा त्यक्तुः एव स द्वेषः त्यक्तरि न अस्ति त्याज्ये द्वेषे तु क्षतिः का ।

'त्यक्तुमिति' । त्यक्तुर्देहत्यागकारिणो देहातिरिक्तस्य जीवस्य सा, आत्मतेत्यर्थः । भवतु त्यक्तुरात्मत्वं. प्रकृते किमायातमित्यत आह —'न त्यक्तरीति' । अतो नात्मनस्त्याज्यत्वमित्यभिप्रायः । मा भूदात्मनि विद्वेषः देहे तूपलभ्यत एवेत्याशङ्क्याह—'त्याज्य इति' । त्याज्ये देहगोचरे द्वेषे सत्यपि का क्षतिरात्मनस्त्यागाभाववादिनो ममेति शेषः ॥२९॥

तदेवं 'न वा अरे पत्युः कामाय' (बृ० ४।५।६) इत्यारभ्य 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' (बृ० ४।५।६) इत्यन्तायाः श्रुतेस्तात्पर्यपर्यालोचनया आत्मनः प्रियतमत्वं प्रदर्श्य, युक्तितोऽपि तद्दर्शयति—

आत्मार्थत्वेन सर्वस्य प्रीतेश्चात्मा ह्यतिप्रियः ।
सिद्धो यथा पुत्रमित्रात्पुत्रः प्रियतरस्तथा ॥३०॥

अन्वय : - आत्मार्थत्वेन सर्वस्य प्रीतेः आत्मा हि अतिप्रियः सिद्धः यथा पुत्रमित्रात् पुत्रः तथा प्रियतरः ।

'आत्मेति' । सर्वस्य सुखसहितस्य तत्साधनजातस्य पतिजायादेरात्मार्थत्वेन स्वस्योपकारकत्वेन प्रीतेश्च प्रियत्वादप्यात्मा उपकार्यः स्वयमतिशयेन प्रियः सिद्धो हि । एतदेव दृष्टान्तप्रदर्शनेन स्पष्टयति—'यथेति' । लोके यथा पुत्रमित्रात्पुत्रस्य मित्रभूतात् पुत्रद्वारा प्रीतिविषयाद्यज्ञदत्तादेः सकाशात्पुत्रो देवदत्तादिरव्यवधानेन प्रीतिविषयत्वात्तस्मादतिशयेन प्रियो भवति, पितुर्विष्णुदत्तादेस्तथा तद्वत्स्वसंबन्धित्वेन प्रीतिविषयात्सर्वस्मात् स्वयमतिशयेन प्रियो भवतीत्यर्थः ॥३०॥

त्याग एवं ग्रहण करने योग्य देह यदि आत्मा नहीं है तो वह क्या है ? इस पर कहते हैं—

छोड़ने योग्य तो यह देह है आत्मा नहीं है । देह को छोड़ने वाला (चिदाभास) ही आत्मा है । जीवात्मा में द्वेष नहीं है । किन्तु छोड़ने योग्य देह में द्वेष होने पर क्या क्षति है ॥२९॥

त्याग करने योग्य आत्मा नहीं है । देह को छोड़ने वाले देह से भिन्न जीव की ही वह आत्मता है । ठीक है छोड़ने वाले की आत्मता है, परन्तु प्रसंग में क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? देह छोड़ने वाले जीवात्मा में द्वेष नहीं है इसलिए आत्मा त्याज्य नहीं है । अपितु त्याज्य देह के प्रति द्वेष होता है और त्याज्य देह के प्रति द्वेष ही तो आत्मा का त्याग न करने वाले सिद्धान्तों की इसमें कौन-सी हानि हो जावेगी ? कोई नहीं क्षति होगी ॥२९॥

एवमात्मनि श्रुतियुक्तिभ्यामुपपादितां निरतिशयां प्रीतिं स्वानुभवप्रदर्शनेन द्रढयति—

मा न भूवमहं किं तु भूयासं सर्वदेत्यसौ ।
आशीः सर्वस्य दृष्टेति प्रत्यक्षा प्रीतिरात्मनि ।।३१।।

अन्वय :—अहं मा न भूवं किं तु सर्वदा भूयासं इति असौ आशीः सर्वस्य दृष्टा इति आत्मनि प्रीतिः प्रत्यक्षा ।

'मा न भूवमिति' । 'अहं मा भूवम्' इति न न क्वापि मम आत्मसत्त्वमस्तु किंतु 'सर्वदा भूयासं, सदा मम सत्ताऽस्तु' इत्येवंरूपा आशीः प्रार्थना सर्वस्य प्राणिजातस्य संबन्धिनी दृष्टा, सर्वोऽप्येवमेव प्रार्थयत इत्यर्थः । फलितमाह —'प्रत्यक्षेति' । यत एवं सर्वैः प्रार्थ्यते अत आत्मनि निरतिशया प्रीतिः प्रत्यक्ष-सिद्धेत्यर्थः ।।३१।।

इस प्रकार "न वा अरे पत्युः कामाय" यहाँ से लेकर "आत्मनस्तुकामाय सर्वं प्रियं भवति" पर्यन्त श्रुति के तात्पर्य की पर्यालोचना से आत्मा में अत्यन्त प्रीति होती है यह दिखाकर युक्ति से भी दिखाते हैं —

सब वस्तुओं की प्रीति आत्मा के लिए है और आत्मा का ही उपकार करने वाली है । इसलिए आत्मा ही अति प्रिय सिद्ध होता है । जैसे पिता को पुत्र के मित्र से पुत्र अधिक प्रिय लगता है तथा आत्मा निरतिशय प्रेमास्पद है ।।३०।।

सुख सहित सुख के साधन सबके सब पुत्र जायादिक आत्मा के उपकार करने वाले होने से, प्रिय होने पर भी अपना स्वरूप आत्मा अत्यन्त प्रिय लगता है । इसलिए आत्मा ही अतिशय प्रिय सिद्ध होता है । इसी को दृष्टान्त प्रदर्शन पूर्वक स्पष्ट करते हैं । जैसे लोक में पिता को पुत्र के मित्र द्वारा प्रिय होने से यज्ञदत्तादि के सम्बन्ध से पुत्र देवदत्तादि अव्यवधानतया प्रीति का विषय होने से अत्यन्त प्रिय लगता है । उसी प्रकार आत्म सम्बन्धी होने के कारण आत्मा प्रीति के अधीन प्रीति का विषय होने से आत्मा अतिशय प्रिय लगता है ।।३०।।

इस प्रकार आत्मा में श्रुति और युक्ति से उपपादित निरतिशय प्रीति को अपने अनुभव से दृढ़ करते हैं—

मेरी अनस्तिता कभी मत हो, मैं सदा बना रहूँ सब लोग के द्वारा प्रार्थना करते हुए देखी गयी है । इस कारण आत्मा में निरतिशय प्रीति प्रत्यक्ष सिद्ध है ।।३१।।

'अहं मा भूवम्' अर्थात् मैं कभी मत होऊँ मेरे आत्मा की सत्ता सदा ही बनी रहे । ऐसी प्रार्थना सभी प्राणियों की देखी गयी है । अर्थात् सब लोग यही प्रार्थना करते रहते हैं । अब फलितार्थ कहते हैं, जब कि सभी के द्वारा यह प्रार्थना होती है, इसलिए आत्मा में निरतिशत प्रीति प्रत्यक्ष सिद्ध है ।।३१।।

वृत्तानुकीर्तनपुरःसरं मतान्तरं दूषयितुमनुभाषते—

इत्यादिभिस्त्रिभिः प्रीतौ सिद्धायामेवमात्मनि ।
पुत्रभार्यादिशेषत्वमात्मनः कैश्चिदीरितम् ॥३२॥

अन्वय : इत्यादिभिः त्रिभिः प्रीतौ सिद्धायां एवं आत्मनि पुत्रभार्यादिशेषत्वं कैश्चित् आत्मनः ईरितम् ।

'इत्यादिभिरिति' । 'इति' शब्देनानुभवः परामृश्यते । 'आदि' शब्देन युक्तिश्रुतीत्यादिभिरनुभवयुक्तिश्रतिलक्षणैः त्रिभिः प्रमाणैरेवमुक्तेन प्रकारेणात्मनि प्रीतौ सिद्धायामपि कैश्चित् श्रुत्यादितात्पर्यानभिज्ञै रात्मनः पुत्रभार्यादिशेषत्वं पुत्रादीन्प्रति स्वस्योपसर्जनत्वमीरितमभिहितम् ॥३२॥

इदं कुतोऽवगतमित्यत आह—

एतद्विवक्षया पुत्रे मुख्यात्मत्वं श्रुतीरितम् ।
आत्मा वै पुत्रनामेति तच्चोपनिषदि स्फुटम् ॥३३॥

अन्वय :—एतद्विवक्षया पुत्रे मुख्यात्मत्वं श्रुतीरितम् आत्मा वै पुत्र नामेति तच्च उपनिषदि स्फुटम् ।

'एतदिति' । एतद्विवक्षया एवं कैश्चिदीर्यत इत्येतदभिव्यक्तीकरणाभिप्रायेण 'आत्मावै पुत्रनामासि' (कौषी० २।७) इत्यादिकया श्रुत्या पुत्रस्य मुख्यात्मत्वमीरितमित्यर्थः । किंच तत्पुत्रस्य मुख्यात्मत्वमुपनिषदि ऐतरेयोपनिषदादौ स्फुटं व्यक्तमभिहितमिति शेषः ॥३३॥

अब वृत्तान्त को कह दूसरों के मत को दोषित ठहराने के लिए अनुवाद किया जाता है—

इस प्रकार अनुभव युक्ति एवं श्रुति इन तीनों प्रमाणों से ही आत्मा में निरतिशय प्रीति सिद्ध हो जाने पर भी कुछ लोगों ने आत्मा को पुत्र भार्यादि का उपकारक कहा है ॥३२॥

श्लोक में उद्धृत 'इति' शब्द से अनुभव का परामर्श (स्मरण) होता है एवं आदि शब्द से युक्ति तथा श्रुति का संकेत होता है । इस प्रकार अनुभव युक्ति और श्रुति रूप तीनों प्रमाणों के द्वारा उक्त प्रकार से अपने स्वरूपभूत आत्मा में निरतिशय प्रीति सिद्ध होने पर भी श्रुति आदि के अर्थ को नहीं जानने वाले कुछ अनभिज्ञ लोगों ने आत्मा को पुत्र पत्नी आदिकों का उपसर्जन (शेष) कहते हैं । अर्थात् पुत्र भार्या आदि को प्रधान और आत्मा को गौण कहते हैं ॥३२॥

यह कैसे अवगत होता है ? इस पर कहते हैं—

आत्मा पुत्र भार्या आदि के सुख का साधन है यह कहने की अभिलाषा से आत्मा वै पुत्रनामासि' इत्यादि वाक्यों से पुत्र को मुख्य आत्मा उपनिषद में कहा है ॥३३॥

केन वाक्येनेत्याकाङ्क्षायां तद्वाक्यमर्थतः पठति -

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते ।

अथास्येतर आत्माऽयं कृतकृत्यः प्रमीयते ॥३४॥

अन्वय :—अस्य सा आत्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः अयं प्रतिधीयते अथास्येतर ह् अयं आत्मा कृतकृत्यः (सन्) प्रमीयते ।

'सोऽस्येति' । अस्य पितुः स 'पुरुषे ह् वा अयमादितो गर्भो भवति' (ऐ० १।१) इति प्रकरणादौ पुरुषे गेहे गर्भत्वेनोक्तः । अयं सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयतीत्यत्रातिशयेन पालनीयतयोक्तः पुत्ररूप आत्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः पुण्यकर्मानुष्ठानाय प्रतिधीयते प्रतिनिधित्वेनावस्थाप्यते, पित्रति शेषः । अथानन्तर-मस्य पितुरयं प्रत्यक्षेण परिदृश्यमान इतरः पुत्रादन्यो जरसा ग्रस्तः पितृरूप आत्मा स्वयं कृतकृत्योऽनुष्ठित-कृत्यजातः सन्प्रमीयते म्रियत इत्यर्थः ॥३४॥

यह कहने की इच्छा से इस प्रकार अज्ञानी लोग कहते हैं कि आत्मा वै पुत्रनामासि० इत्यादि श्रुति द्वारा पुत्र ही मुख्य तथा पुत्र का मुख्य आत्मत्व ऐतरेय उपनिषद् आदि में अत्यन्त स्पष्टतया व्यक्त किया गया है ॥३३॥

उपनिषद् में किस वाक्य से वर्णित है ? ऐसी आकांक्षा होने पर उसके वाक्य को अर्थतः पाठ करते हैं—

इस पिता का यह पुत्ररूप आत्मा (देह) पुण्य कर्मों के लिए प्रतिनिधिरूप से उत्तराधिकारी बना देता है । अन्य देह रूप अपने आत्मा (देह) को कृतकृत्य (कृतार्थ) समझकर मर जाता है ॥३४॥

जो यह पिता के देह में गर्भ में पुत्ररूप आत्मा होता है । यह जन्म से पहले ही कारण रूप से रहता है, इस पिता के वह पुत्ररूप आत्मा पुण्य कर्मों का अनुष्ठान करने के लिए प्रतिनिधिरूप से पिता द्वारा व्यवस्थापित किया जाता है । इसके अनन्तर इस पुत्ररूप आत्मा के पिता यह प्रत्यक्ष रूप से परिदृश्य मान पुत्र से भिन्न जरा अवस्था युक्त पितारूप आत्मा स्वयं सम्पूर्ण करने योग्य कर्तव्य की प्राप्ति का अनुभव करता हुआ कृतार्थ होकर मर जाता है ॥३४॥

उक्तार्थस्य दृढ़ीकरणाय पुत्ररहितस्य परलोकाभावप्रदर्शनपरस्य 'नापुत्रस्य लोकोऽस्ति' इति वाक्यस्यार्थमाह—

सत्यप्यात्मनि लोकोऽस्ति नापुत्रस्यात एव हि ।
अनुशिष्टं पुत्रमेव लोक्यमाहुर्मनीषिणः ।।३५।।

अन्वय :- आत्मनि सति अपि अतएव हि अपुत्रस्य लोकः नास्ति अनुशिष्टं पुत्रं एव मनीषिणः लोक्यं आहुः ।

'सत्यपीति' । यत्र पुत्रस्य मुख्यमात्मत्वमस्ति, अत एवात्मनि स्वस्मिन्सत्यपि स्थितेऽप्यपुत्रस्य पुत्ररहितस्य पितृलोकः परलोको नास्ति हि । इदं पुराणादिषु प्रसिद्धमित्यर्थः । व्यतिरेकमुखेनोक्तस्यान्वय-मुखेन प्रतिपादकस्य 'अनुशिष्टं पुत्रं लोक्यमाहुः' इति वाक्यस्यार्थमाह 'अनुशिष्टमिति' । मनीषिणः शास्त्रार्थाभिज्ञाः अनुशिष्टं वक्ष्यमाणैः 'त्वं ब्रह्म' (बृ० १।५।१७) इत्यादिभिर्मन्त्रैः शिक्षितमेव पुत्रंलोक्यं लोकाय हितं परलोकसाधनमाहुरित्यर्थः ।।३५।।

अब पूर्वोक्त अर्थ को दृढ़ करने के लिए 'पुत्ररहित पुरुष को परलोक की प्राप्ति नहीं होती है । इस बात को दिखाने के लिए न अपुत्रस्य इस वाक्य के अर्थ को दिखाते हैं—

इसलिए स्वयं आत्मरूप से विद्यमान रहने पर भी पुत्र के बिना परलोक की प्राप्ति नहीं होती है । यह पुराण प्रसिद्ध है, मनीषियों ने (शास्त्र संस्कृत मनीषावान्) अनुशिष्ट अर्थात् शिक्षा सम्पन्न पुत्र[1] को ही एक मात्र परलोक का साधन (हितकारी) कहा है ।।३५।।

जिससे पुत्र की ही मुख्य आत्मरूपता है, इसी से अपने स्वयं आत्मरूप से विद्यमान रहने पर भी पुत्र रहित व्यक्ति के लिए पितृ लोक अर्थात् परलोक की प्राप्ति नहीं होती है । यह बात पुराणों में प्रसिद्ध है । इस प्रकार निषेध मुख से कहे गए पूर्वोक्त का इस अनुशिष्टं पुत्रं लोक्यमाहुः । इस वाक्य से अन्वय मुख से वर्णन करते हैं कि बुद्धिमान् शास्त्रज्ञ लोगों ने "त्वं ब्रह्म" इत्यादि मन्त्रों द्वारा शिक्षितपुत्र को ही परलोक का साधन (हितकारी) बताया है ।।३५।।

विशेष - १ पुन्नाम्नो नरकात् यस्मात् त्रायते पितरं सुतः तस्मात् पुत्र ।

इदानीमैहिकसुखस्यापि पुत्रहेतुकत्वप्रतिपादनपरं 'सोऽयं मनुष्य[1]लोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा' (बृ० १।५।१६) इति श्रुतिवाक्यमर्थतः पठति—

मनुष्यलोको जय्यः स्यात् पुत्रेणैवेतरेण नो ।
मुमूर्षुर्मन्त्रयेत्पुत्रं त्वं ब्रह्मेत्यादिमन्त्रकैः ॥३६॥

अन्वय :—मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यः स्यात् इतरेण न मुमूर्षुः पुत्रं त्वं ब्रह्म इत्यादि मन्त्रकैः मन्त्रयेत् ।

'मनुष्यलोक इति'। मनुष्यलोकसुखं पुत्रेणैव जय्यं स्यात् संपाद्यं स्यात्, इतरेण कर्मादिना साधनान्तरेण नो नैव भवति, पुत्रशून्यस्य सुखसाधनमपि धनादिकं निर्वेदजनकं भवतीति भावः। 'अनुशिष्टं पुत्रं लोक्यम्' इत्यत्र पुत्रानुशासनमुक्तम्, इदानीं तस्यावसरं तन्मन्त्रांश्च दर्शयति—'मुमूर्षुरिति'। 'आदि' शब्देन 'त्वं यज्ञस्त्वं लोकः' (बृ० १।५।१७) इति मन्त्रौ गृह्येते । एभिः 'त्वं ब्रह्म' बृ० १।५।१७) इत्यादिभिः त्रिभिर्मन्त्रैः मुमूर्षुः पिता[2] मरणावसरे पुत्रं मन्त्रयेत्, पुत्रस्यानुशासनं कुर्यादित्यर्थः ॥३६॥

अब ऐहिक सुख का कारण भी पुत्र है, इसका प्रतिपादक 'सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा' इस श्रुति वाक्य का अर्थतः पाठ करते हैं —

मनुष्य लोक का सुख केवल पुत्र से ही होता है, अन्य किसी साधन से नहीं मृतक पुरुष मरणकाल में अपने पुत्र को 'त्वं ब्रह्म' तू ब्रह्म है। इत्यादि वाक्यों से मन्त्रों से पुत्र को शिक्षा करे ॥३६॥

इस मनुष्य लोक का सुख पुत्र से ही सम्पादन करने योग्य है. अन्य किसी भी कर्म अथवा साधन से नहीं है। क्योंकि पुत्र रहित सुख के साधन धनादिक भी दुःख जनक ही लगता है। 'अनुशिष्टं पुत्रं लोक्यम्' इस प्रसंग में शिक्षित पुत्र का विधान होना कहा गया है । अब मृतक के मरण के अवसर पर पुत्र के प्रति कहे हुए उपदेशात्मक मन्त्रों को दिखाते हैं। श्लोक में उद्धृत आदि पद 'त्वं यज्ञस्त्वं लोकाः' ये दोनों मन्त्र संगृहीत हैं तथा 'त्वं ब्रह्म' इस प्रकार मारने वाला पिता मरणकाल में पुत्र के प्रति इन तीनों मन्त्रों का उपदेश देता है ॥३६।

विशेष १— मनुष्य = मनोरपत्यम् मनुष्य ।

२— पिता = अविद्यादिदोषात् शत्रुभ्योरक्षाकर्ता = जनयिताऽपि ।

उक्तमर्थं निगमयति—

इत्यादिश्रुतयः प्राहुः पुत्रभार्यादिशेषताम् ।
लौकिका अपि पुत्रस्य प्राधान्यमनुमन्वते ॥३७॥

अन्वयः—इत्यादिश्रुतयः पुत्रभार्यादिशेषताम् प्राहुः लौकिका अपि पुत्रस्य प्राधान्यं अनुमन्वते ।
'इत्यादीति' । न केवलमयं श्रुतिसिद्धोऽर्थः किंतु लोकप्रसिद्धोऽपीत्याह 'लौकिका इति' ॥३७॥

तदेवोपपादयति –

स्वस्मिन्मृतेऽपि पुत्रादिर्जीवेद्वित्तादिना यथा ।
तथैव यत्नं कुरुते मुख्याः पुत्रादयस्ततः ॥३८॥

अन्वय :—स्वस्मिन् मृतेऽपि पुत्रादिः यथा वित्तादिना जीवेत् तथैव यत्नं कुरुते ततः पुत्रादयः मुख्याः ।

'स्वस्मिन्निति' । स्वस्मिन्पित्रादौ एकेन 'आदि' शब्देन भार्यादयो गृह्यन्ते, द्वितीयेन क्षेत्रादयः ।
फलितमाह - 'मुख्या इति' । यस्मात्स्वप्रयासं सोढ्वापि पुत्रादिजीवनोपायं संपादयति ततस्तस्मात्पुत्रादयो मुख्याः प्रधानभूता इत्यर्थः ॥३८॥

उक्त अर्थ का उपसंहार करते हैं –

पूर्वोक्त 'त्वं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों ने पुत्र भार्या आदि को शेष अर्थात् उपकारक कहा है । लौकिक जन भी पुत्र को ही प्रधानता देते हैं ॥३७॥

लोक में भी जो कि सामान्य मनुष्य पुत्र भार्या आदि की प्रधान अर्थात् उपकरण मानते चले आ रहे हैं ॥३७॥

इस विषय का ही उपपादन करते हैं –

स्वयं अपने मरने पर भी पुत्र भार्यादि वित्त आदि से जैसे जीवन धारण करते रहे, उसी प्रकार मृतक व्यक्ति अपने परिश्रम को सह करके भी पुत्र भार्या आदि के जीवन का उपाय करता है । इससे पुत्र आदि मुख्य माने जाते हैं । अपना शुद्ध आत्मा गौण है ॥३८॥

श्लोक में उद्धृत प्रथम 'आदि' शब्द से भार्यादि एवं द्वितीय आदि शब्द से क्षेत्रादि संग्रहीत है । इस प्रकार पिता अपने मरणकाल आने पर जैसे भी हो उसे यथा प्रयास पुत्र भार्यादि के लिए ही जीवन निर्वाह का विचार करता है । एव वैसे ही उन लोगों के जीवन के लिए धन क्षेत्रादि की व्यवस्था भी करता है । इसलिए पुत्रादि प्रधान है अपना आत्मा गौण है ॥३८॥

एवं वेद-लोकप्रसिद्धिभ्यां प्रदर्शितं पुत्रादिप्राधान्यमङ्गीकरोति —

बाढमेतावता नात्मा शेषो भवति कस्यचित् ।
गौणमिथ्यामुख्यभेदैरात्मायं भवति त्रिधा ॥३९॥

अन्वय : - बाढं एतावता कस्यचित् शेषः आत्मा न भवति गौणमिथ्यामुख्य भेदैः अयं आत्मा त्रिधा भवति ।

'बाढमिति' । तर्ह्यात्मनः शेषित्वोपपादनं व्याकुप्येदित्याशङ्क्याह—'एतावतेति' एतावता पुत्रादेः क्वचित्प्राधान्यमस्तीत्येतावता नहि प्रतिज्ञामात्रेणार्थसिद्धिरित्याशङ्क्य, यत्र यत्र व्यवहारे यस्य यस्य आत्मत्वं विवक्ष्यते तस्य तस्यात्मनः तत्र तत्र प्राधान्यदर्शनायोपोद्घातत्वेनात्मत्रैविध्यमाह—'गौणेति' । गौणात्मा मिथ्यात्मा मुख्यात्मा चेत्ययमात्मात्रिधा भवति ॥३९॥

तत्र पुत्रादेर्गौणात्मत्वप्रदर्शनाय लोके गौणप्रयोगमुदाहरति —

देवदत्तस्तु सिंहोऽयमित्यैक्यं गौणमेतयोः ।
भेदस्य भासमानत्वात्पुत्रादेरात्मता तथा ॥४०॥

अन्वय : -देवदत्तस्तु सिंहोऽयं इति गौणं एतयोः ऐक्यं भेदस्य भासमानत्वात् तथा पुत्रादेः आत्मता ।

'देवदत्त इति' । 'अयं देवदत्तः सिंह' इति यद्देवदत्तसिंहयोरैक्यं तद्गौणमौपचारिकम् । तत्र हेतुमाह—'एतयोरिति' । दार्ष्टान्तिके योजयति—'पुत्रादेरिति' ॥४०॥

इस प्रकार वेद एवं लोक प्रसिद्ध वचनों द्वारा प्रदर्शित पुत्रादिकों का प्राधान्य स्वीकार करते हैं—

ठीक है इस प्रकार वेद एवं लोक में पुत्रादिकों की प्रधानता कही गयी है किन्तु आत्मा किसी का भी उपकारक नहीं सिद्ध होता है। गौण मिथ्या और मुख्य भेद से यह आत्मा तीन प्रकार का है ॥३९॥

यह बात सत्य है पुत्र आदि प्रधान है, कहीं पुत्र आदि की प्रधानता से आत्मा शेष अप्रधान नहीं होता, इसलिए इतनी मात्र प्रतिज्ञा करने से अर्थ सिद्धि सम्भव नहीं हो सकती है। ऐसी आशंका कर जहाँ पर जिस व्यवहार में जिस प्रकार के आत्मा के विषय में कहने की इच्छा होती है, वहाँ पर वैसी ही आत्मा की प्रधानता रहती है। क्योंकि उपोद्घात रूप से आत्मा गौण, मिथ्या और मुख्य भेद से तीन प्रकार का होता है ॥३९॥

अनन्तरं मिथ्यात्मानं दर्शयति—

भेदोऽस्ति पञ्चकोशेषु साक्षिणो न तु भात्यसौ ।
मिथ्यात्मताऽतः कोशानां स्थाणोश्चोरात्मता यथा ॥४१॥

अन्वय :—पञ्चकोशेषु साक्षिणः भेदो अस्ति असौ तु न भाति अतः कोशानां यथा स्थाणोः चौरात्मता तथा मिथ्यात्मा ।

'भेद इति' । पञ्चकोशेष्वानन्दमयाद्यन्नमयान्तेषु पञ्चसु कोशेषु साक्षिणः सकाशाद्विद्यमानोऽपि भेदो नावभासते, अतस्तेषां मिथ्यात्मत्वमित्यर्थः । मिथ्यात्मत्वे दृष्टान्तमाह 'स्थाणोरिति' । वस्तुतश्चोराद्भिन्नस्य स्थाणोश्चोररूपत्वं यथा मिथ्या तद्वदित्यर्थः ॥४१॥

उनमें से पुत्रादि का गौण आत्मा है इस बात को दिखाने के लिए लोक में गौण प्रयोग का उदाहरण देते हैं—

यह देवदत्त सिंह है, इस व्यवहार में देवदत्त और सिंह का जो एक रूपता है वह गौण अर्थात् औपचारिक है। क्योंकि उन दोनों में भेद प्रतीत होता है। उसी प्रकार पुत्रादि में भी आत्मता गौण है ॥४०॥

'अयं देवदत्तः सिंहः' यह देवदत्त सिंह है इस देवदत्त और सिंह इन दोनों की जो एकता है वह गौण औपाधिक है। इस विषय में हेतु दिखाते हैं—ठीक उक्त प्रकार के अनुसार पुत्रादि की भी एक उपचार मात्र है अर्थात् पिता और पुत्र का भेद प्रत्यक्ष रूप से प्रतीत होने पर भी दोनों को औपचारिक अभिन्नता को लेकर ही एकरूपता का व्यवहार होता है। इसलिए पुत्रादिकों को पिता के साथ गौण रूप से आत्मता है ॥४०॥

अब मिथ्या आत्मा का स्वरूप दिखाते हैं—

जो कि अन्नमयादि पञ्चकोशों में साक्षी का भेद है, किन्तु वह विद्यमान भेद दिखता नहीं है इसलिए कोशों की एकता मिथ्यात्मक है, जैसे चोर से पृथक् स्थाणु की चोर रूपता मिथ्या है ॥४१॥

पञ्चकोश अर्थात् आनन्दमय से लेकर अन्नमयपर्यन्त पाँचकोशों में साक्षी से विद्यमान भेद अवभासित नहीं होता है। इसलिए उन कोशों की मिथ्यात्व आत्मता नहीं होती है। मिथ्यात्व होने में दृष्टान्त देते हैं—वस्तुतः चोर से पृथक् स्थाणु की चोररूपता जैसे मिथ्या होती है ॥४१॥

एवं गौणमिथ्यात्मानावुपपाद्य, इदानीं साक्षिणो मुख्यात्मत्वमुपपादयति—

न भाति भेदो नाप्यस्ति साक्षिणोऽप्रतियोगिनः ।
सर्वान्तिरत्वात्तस्यैव मुख्यमात्मत्वमिष्यते ॥४२॥

अन्वय : भेदः न भाति अप्रतियोगिनः साक्षिणः अपि नास्ति सर्वान्तिरत्वात् तस्यैव मुख्यं आत्मत्वं इष्यते ।

'न भातीति' । साक्षिणः साक्षिरूपस्यात्मनो गौणात्मनः पुत्रादेरिव कस्मादपि भेदो न भाति । मिथ्यात्मनो देहादेरिव भेदो नास्त्यपि । तत्रोभयत्र हेतुः–अप्रतियोगिनः इति हेतुगर्भितं विशेषणम्, अप्रतियोगित्वात यथा पुत्रादेर्देहादेरपि स्वयं प्रतियोगी विद्यते नैवं स्वस्य वस्तुभूतः कश्चित्प्रतियोग्यस्ति, देहादेः सर्वस्यारोपितत्वादिति भावः । ननु भेदाभावेन साक्षिणो गौणमिथ्यात्वे मा भूताम् मुख्यात्मत्वं तु कुत इत्यत आह 'सर्वेति' । सर्वस्माद्देहपुत्रादेरान्तरत्वात्सर्वसाक्षिणः प्रतीचः सर्वान्तरत्वेन प्रतीयमानत्वात्तस्यैव साक्षिण एव आत्मत्वं मुख्यमनौपचारिकमिष्यते, अभ्युपगम्यत इत्यर्थः । अत्रेदमनुमानं सूचितम् विमतः साक्षी मुख्यात्मा भवितुमर्हति, सर्वान्तिरत्वात् यो मुख्यात्मा न भवति स सर्वान्तिरोऽपि न भवति, यथाऽहंकारादिरिति केवलव्यतिरेकी ॥४२॥

इस प्रकार गौणात्मा और मिथ्यात्मा का उपपादन करके अब साक्षिरूप[1] मुख्यात्मा का प्रतिपादन करते हैं —

अप्रतियोगी आत्मा का कोई भी प्रतियोगी न होने से भेद नहीं भासता है और साक्षिरूप आत्मा का किसी से भी भेद नहीं है । क्योंकि वह सर्वान्तिर प्रतीयमान होता है और उस साक्षी का ही आत्मत्व मुख्य है अर्थात् स्वीकार किया गया है ॥४२॥

साक्षिरूप आत्मा का गौण आत्मा पुत्रादि की भाँति क्यों भेद से भासता है । मिथ्याभूत आत्मा के देहादि की भाँति भेद नहीं है, क्योंकि अपने स्वरूप से कुछ भी पारमार्थिक वस्तु नहीं है, इसलिए अप्रतियोगी होने के कारण साक्षिरूप आत्मा का किसी से भी भेद नहीं है । जैसे पुत्रादि से देहादि का भी स्वयं प्रतियोगी होता है । किन्तु इस प्रकार स्वरूपभूत आत्मा का कोई भी प्रतियोगी नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण देह पुत्रादिकों से आन्तर भाव रखता है, अब शंका करते हैं भेद भाव न होने से साक्षिरूप आत्मा गौण एवं मिथ्यात्व मत हो किन्तु मुख्यता क्यों नहीं है ? सो ठीक नहीं समस्त देह पुत्रादि वस्तुओं से अभिन्न भाव होने के कारण उस साक्षिरूप आत्मा का ही आत्मभाव मुख्य माना जाता है । अर्थात् प्रत्यग् आत्मारूप साक्षी ही सर्वान्तिररूप होने से प्रतीयमान है । इसलिए उस साक्षी का ही आत्मभाव मुख्य आत्मा है । गौण नहीं है यह बुद्धिमान मनुष्यों को इष्ट है । इसमें अनुमान इस प्रकार का है कि विवाद का विषय साक्षी मुख्यआत्मा ही सकता है । क्योंकि वह सबका आन्तर होने से जो मुख्य आत्मा नहीं होता वह सब का आन्तर भी नहीं हो सकता । जैसे अहंकारादि यह केवल व्यतिरेकी दृष्टान्त है ॥४२॥

विशेष – १ वाच साक्षी प्राणवृत्तेश्च साक्षी, बुद्धः साक्षी बुद्धिवृत्तेश्च साक्षी चक्षुःश्रोत्रादिइन्द्रियाणां च साक्षी साक्षी नित्यः प्रत्यगेवाहमस्मि । उदासीनत्वे सति बोद्धा साक्षी-साक्षीचेताः केवलो निर्गुणश्च ।

भवत्वात्मत्रैविध्यं, पुत्रादेः शेषित्वाभिधाने किमायातमित्यत आह—

सत्यैवं व्यवहारेषु येषु यस्यात्मतोचिता ।
तेषु तस्यैव शेषित्वं सर्वस्यान्यस्य शेषता ।।४३।।

अन्वयः—एवं सति येषु व्यवहारेषु यस्य आत्मता उचिता तेषु तस्यैव शेषित्वं अन्यस्य सर्वस्य शेषता ।

'सत्येवमिति' । एवमात्मत्रैविध्ये सत्यपि येषु लौकिकवैदिकलक्षणेषु पालन-पोषणब्रह्मात्मत्वानुसंधानादिषु व्यवहारविशेषेषु यस्य पुत्रादेर्देहादेः साक्षिणो वा आत्मत्वमुचितं भवति, तेषु तस्य पुत्रादेर्देहादेः साक्षिणो वा शेषित्वं प्रधानत्वम् अन्यस्य तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्य शेषता उपसर्जनत्वं भवतीति शेषः ।।४३।।

एतदेव प्रपञ्चयति—

मुमूर्षोर्गृहरक्षादौ गौणात्मैवोपयुज्यते ।
न मुख्यात्मा न मिथ्यात्मा पुत्रः शेषी भवत्यतः ।।४४।।

अन्वयः—गृहरक्षादौ मुमूर्षोः गौणात्मैव उपयुज्यते न मुख्यात्मा न मिथ्यात्मा पुत्रः अतः शेषी भवति ।

मुमूर्षोरित्यादिना' श्लोकपञ्चकेन । गृहरक्षादौ कर्मविशेषे गौणात्मैव पुत्रभार्यादिरूप एवोपयुज्यते उपयुक्तो भवति, उत्तरत्र जिजीविषुत्वादित्यर्थः । मुख्यात्मा साक्षी[1] नोपयुज्यते अविकारित्वान्नापि मिथ्यात्मा, तस्य मरणोन्मुखत्वादिति भावः । फलितमाह—'पुत्र इति' । स्पष्टम् ।।४४।।

तीन प्रकार की आत्मा भले ही रहे, किन्तु पुत्रादि की मुख्यता पर क्या आता है? इस पर कहते हैं —

आत्मा तीन प्रकार की सिद्धि होने पर जिन व्यवहारों में जिसकी आत्मा मानना समुचित हो, उनमें पुत्रादिकों की आत्मा मुख्य रहे, उससे भिन्न सभी शेष अर्थात् गोण है ।।४३।।

गौण मुख्यादि भेद को लेकर आत्मा तीन प्रकार से सिद्ध होने पर भी जिन पालन-पोषण आदि एवं सामाजिक तथा ब्रह्मात्मानुसन्धानादिरूप वैदिकव्यवहारों में जिस पुत्र देह अथवा साक्षी का आत्मत्व समुचित होता है । उन व्यवहारों में वही पुत्र भार्यादि रूप तथा देहादि रूप अथवा साक्षिरूप आत्मा ही शेष अर्थात् मुख्य बनता है, उससे अतिरिक्त सबको शेषता रहती है अर्थात् उपकारक बनते हैं ।।४३।।

मृतक मरने योग्य व्यक्ति उसकी घर की रक्षा आदि कार्य में पुत्रादि गौण आत्मा ही उपयोगी होता है । मुख्य आत्मा का अविकारी होने से उपयोग नहीं होता और मिथ्यात्मा का भी उपयोग नहीं होता अतः पुत्र ही शेष गृहादि व्यवहार के लिए प्रधान होता है ।।४४।।

गृह के रक्षा आदि कर्म विषय में पुत्र भार्यादिरूप से गौण आत्मा ही उपयुक्त होता है । क्योंकि उत्तर काल में भी वे लोग जाने की इच्छा वाले हैं । मुख्यात्मा साक्षि उपयुक्त नहीं होता है । मिथ्यात्मा देह उपयुक्त नहीं है, क्योंकि मरने के लिए तैयार बैठा हुआ है । इसलिए गृह रक्षादि व्यवहार में पुत्र प्रधान होता है ।।४४।।

विशेष –१ एक रूपतया त्रिकालव्यापी कूटस्थसाक्षी उदासीनत्वे सति बोद्धा साक्षी ।

उक्ते गृहरक्षादिव्यवहारे सत्यपि स्वस्मिन्पुत्रादिस्वीकारे दृष्टान्तमाह—

अध्येता वह्निरित्यत्र सन्नप्यग्निर्न गृह्यते ।
अयोग्यत्वेन योग्यत्वाद् बटुरेवात्र गृह्यते ।।४५।।

अन्वय :—अध्येता वह्निः इत्यत्र सन् अपि अग्निः न गृह्यते अयोग्यत्वेन योग्यत्वात् अत्र बटुरेव गृह्यते ।

'अध्येतेति' । 'अयमध्येता वह्निः' इत्यस्मिन्प्रयोगे स्वरूपेण विद्यमानोऽप्यग्निर्नाग्निशब्दार्थत्वेन गृह्यते, तस्य अध्येतृत्वायोगात् किन्तु अध्येतृत्वे योग्यो बटुर्माणवक एव अत्रास्मिन्प्रयोगे अग्निशब्दार्थत्वेन गृह्यते, योग्यत्वादित्यर्थः ।।४५।।

एवं गौणात्मप्राधान्यस्थलमुदाहृत्य, मिथ्यात्वप्राधान्यस्थलमुदाहरति—

कृशोऽहं पुष्टिमाप्स्यामीत्यादौ देहात्मतोचिता ।
न पुत्रं विनियुङ्क्तेऽत्र पुष्टिहेत्वन्नभक्षणे ।।४६।।

अन्वय :—अहं कृशः पुष्टिं आप्स्यामि इत्यादौ देहात्मता उचिता पुष्टिहेत्वंन्नभक्षणे अत्र पुत्रं न विनियुङ्क्ते ।

'कृश इति' । अहं कृशो जातः, अतोऽन्नभक्षणादिना पुष्टिं संपादयिष्यामि' इत्यादौ लोकव्यवहारेऽन्नभक्षणयोग्यस्य देहस्यैवात्मत्वं ग्रहीतुमुचितम् । उक्तमर्थं लोकव्यवहारप्रदर्शनेन द्रढयति—'न पुत्रमिति' ।।४६।।

कहे हुए गृह रक्षा आदि व्यवहार के रहने पर भी अपने पुत्रादिकों के स्वीकार करने में दृष्टान्त देते हैं——

यह अध्येता (पाठक) बालक वह्नि है । इस वाक्य में अग्नि शब्द का प्रयोग होने पर भी साक्षात् वह्नि के स्वरूप वह्नि शब्द के अर्थ रूप से ग्रहण नहीं किया जाता है । क्योंकि वह्नि में अध्ययन करने की शक्ति नहीं होती । किन्तु अध्ययन करने योग्य बटुक तो माणवक ही है । इसलिए यह अध्येता वह्नि है इस प्रयोग वह्नि शब्द का ग्रहण किया जाता है ।।४५।।

इस प्रकार गौणात्मा का प्राधान्य जिसमें कहना था कह दिया गया । अब मिथ्यात्मा के प्राधान्य स्थल का उदाहरण देते हैं——

मैं कृश हूँ, अन्नादि द्वारा पुष्टि प्राप्त कर लूँगा इत्यादि व्यवहार में देह को ही आत्मा मानना उचित है । क्योंकि इस पुष्टि के हेतुरूप अन्न भक्षण में पुत्र को कोई भी नहीं मानता है ।।४६।।

'अहं कृशो जातः' मैं शरीर से दुर्बल हो गया'हूँ इसलिए पौष्टिक अन्नादि के भक्षण द्वारा पुष्टि को प्राप्त करूँगा, इत्यादि लोक व्यवहार में अन्न भक्षण के योग्य देह का ही आत्मत्व ग्रहण करना समुचित माना जाता है । उक्त अर्थ को लोक व्यवहार के प्रदर्शन द्वारा दृढ़ करते हैं । कोई भी व्यक्ति देह को पुष्टि के निमित्त रूप पौष्टिक अन्नादि भक्षण में पुत्र को प्रयुक्त नहीं करता, अतएव यहाँ पर देहरूप मिथ्यात्मा का प्राधान्य है ।।४६।।

किंच—

तपसा स्वर्गमेष्यामीत्यादौ कर्त्रात्मतोचिता ।
अनपेक्ष्य वपुर्भोगं चरेत्कृच्छ्रादिकं ततः ॥४७॥

अन्वयः—तपसा स्वर्गं एष्यामि इत्यादौ कर्त्रात्मता उचिता वपुः अनपेक्ष्य ततः कृच्छ्रादिकं भोगं चरेत् ।

'तपसेति'। यदा तु तपः कृत्वा स्वर्गं संपादयिष्यामि' इत्यादिव्यवहारं करोति तदा 'कर्तृ' शब्दवाच्यविज्ञानमयस्यैवात्मत्वमुचितं, न देहादेरित्यर्थः । तदेवोपपादयति 'अनपेक्ष्येति' । यतो न देहस्यात्मत्वमुचितं ततो देहभोगपरित्यागपूर्वकं कर्तुरुपकारकं कृच्छ्रचान्द्रायणादिकं[1] चरतीत्यर्थः ॥४७।

तथा—

मैं तप के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति करूँगा जब मनुष्य यह व्यवहार करता है तब कर्ता (विज्ञानमय कोश) शब्द से आत्मा माना जाता है । इसलिए शरीर के भोग की उपेक्षा करके चान्द्रायण व्रतादि किए जाते हैं ॥४७॥

जब मैं तपश्चर्या करके स्वर्ग को सम्पादन करूँगा—इत्यादि व्यवहार को करता है तब 'कर्तृ' शब्द के वाच्य विज्ञानमय कोश आत्मा को ही मानना उपयुक्त होता है देह पुत्रादि को ही मानना उचित नहीं है, इस विषय में प्रतिपादन करते हैं क्योंकि मैं तप से स्वर्ग प्राप्त करूँगा, इस प्रयोग में (कर्ता) विज्ञानमय कोशको ही आत्मा मानना उचित है । इसलिए कि शरीरके भोगों की इच्छाको छोड़कर विज्ञानमय कोश रूप कर्ता के उपकार करने वाले कृच्छ्र चान्द्रायणादिक[2] व्रत किया करता है ।४७॥

विशेष १—द्वादश दिनों में साध्य जो व्रत है सो कृच्छ्र कहलाता है वह (१) पादकृच्छ्र (२) प्राजापत्य-कृच्छ्र (३) अर्धकृच्छ्र (४) पादोन कृच्छ्र (५) अतिकृच्छ्र (६) कृच्छ्रादिकृच्छ्र (७) संतापनकृच्छ्र (८) महासंतापन कृच्छ्र (९) यतिसंतापनकृच्छ्र (१०) तप्तकृच्छ्र (११) शीतकृच्छ्र (१२) पराग्कृच्छ्र भेद से १२ प्रकार का है । (१) प्रथम दिनमें मध्याह्नकालमें एक बार हविष्यान्न के १६ ग्रास लेना २ दिन रात्रिमें २६ ग्रास लेना ३ दिन में अयाचित अन्न के २४ ग्रास लेना यह पादकृच्छ्र है । (२) इसी को त्रिगुण किया जाय प्राजापत्य कृच्छ्र है (३) दो दिन एक बार भोजन दो दिन रात्रि भोजन दो दिन अयाचित भोजन और उपवास यह अर्धकृच्छ्र है । (४) एक बार भोजन रात्रिभोजन अयाचित भोजन उपवास पादोनकृच्छ्र होता है । (५) हस्त में पूर्ण हुए अन्न से भोजन किये वह अतिकृच्छ्र है (६) एक ग्रास व प्राणधारणा परिमित दुग्ध का २१ दिनों तक अतिकृच्छ्र है । (७) गो दुग्ध, दधि, घृत गोमूत्र, गोबर, कुश, दर्भ का जल पंचगव्य एक दिन उपवास यह सात दिन करना महासंतापन है (८) एक दिन भोजन एक दिन उपवास पंचगव्य ७ दिनों तक महासंतापनकृच्छ्र है । (९) तीन दिन पंचगव्य भोजन करने से यति संतापन कृच्छ्र है । (१०) तप्तघृत. (११) शीतघृत तीन दिनों तक (१२) द्वादश दिन उपवास पराग् कृच्छ्र होता है ।

२—यह मध्य और पिपीलिका मध्य भेद से दो प्रकार का शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा आदिक तिथि में मयूर पक्ष के अण्डे के बराबर एक-एक ग्रास को बढ़ाना ऐसे पूर्णिमा के दिन पन्द्रह ग्रास और कृष्ण पक्ष

किंच—

योक्ष्येऽहमित्यत्र युक्तं चिदात्मत्वं तदा पुमान् ।
तद्वेत्ति गुरुशास्त्राभ्यां न तु किंचिच्चिकीर्षति ॥४८॥

अन्वय:—मोक्ष्येऽहं इत्यत्र युक्तं चिदात्मत्वं तदा पुमान् गुरुशास्त्राभ्यां तद्वेत्ति किंचित् चिकीर्षति तु न ।

'मोक्ष्येऽहमिति' । यदा पुमान् 'शमादीन्संपाद्य मुक्तिं प्राप्स्यामी'ति मतिं करोति तदा गुरुशास्त्राभ्यामाचार्योपदेशवाक्यार्थविचारजन्यापरोक्षज्ञानेन 'नाहं कर्त्राद्यात्मा सच्चिदानन्दब्रह्माहमस्मी'ति चिदात्मानमवगच्छति , तस्य चिदात्मत्वमेवोचितं' नतु तत्र कर्त्राद्यात्मत्वमित्यर्थः । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।९।२८) 'अनन्तरो बाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४।५।१३) इत्यादिश्रुतेः ॥४८॥

तथा—

जब पुरुष दृढ़तापूर्वक यह बुद्धि को करता है कि मैं मुक्ति को प्राप्त करूँगा । तो वह गुरु एवं शास्त्र के उपदेश द्वारा आत्मतत्त्व को जान लेता है, अन्य कुछ भी करने की इच्छा नहीं करता है ॥४८॥

जिस समय में पुरुष शम, दम[1] उपरति आदि साधन को सम्पादन कर मैं मोक्ष सम्पादन करूँगा ऐसी बुद्धि करता है । उस काल में सद्गुरु वेदान्त शास्त्र के प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म रूप का उपदेश तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य के विचार जनित साक्षात् अपरोक्षज्ञान के द्वारा मैं कर्ता भोक्ता नहीं हूँ । अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप परमब्रह्म हूँ । इस प्रकार चिदात्मा को जानने लगता है वही चिदात्मा ही मुख्यात्मा है । न तो वहां पर कर्ता (विज्ञानमय कोश) आदि आत्मत्व भाव है । इस विषय में भगवती श्रुति का प्रमाण है सत्य-ज्ञान-अनन्त-ब्रह्म एवं अनन्तरो भेद रहित) अबाह्य सर्वरूप प्रज्ञानघन ब्रह्मरूप है ॥४८॥

में एक एक ग्रास घटाना करके अमावस्या के दिन उपवास करना एक मास करके साध्ययवमध्य संज्ञक चान्द्रायण है और पिपीलिका कृष्णपक्ष में प्रतिपदा के दिन १४ ग्रास भोजन करना एक-एक ग्रास घटाकर अमावस्या के दिन उपवास और शुक्ल पक्ष में एक एक वृद्धि, ऐसे पिपीलिकाका संज्ञक चान्द्रायण व्रत है । वेदों में पापनिवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त तप है काम स्वर्गादिफल निष्काम अन्तःकरण शुद्धि करके ज्ञान का हेतु ।

विशेष १ —नित्यानित्य विवेक = वैराग्य = इस लोक में परलोक में विषय भोगों के प्रति विराग, शम-दम-तितिक्षा-उपरति-समाधान श्रद्धा विवेकादिक आठ ज्ञानके समीपवर्ती हुए साधन ज्ञानके अन्तरंग साधन हैं श्रवण मनन में सहायक है और निष्काम कर्म सगुण ब्रह्म की उपासना पापरूपी मल विक्षेप की निवृत्ति करने यथा योग्य चित्त शुद्धि पूर्वक जिज्ञासा उत्पन्न कर ज्ञान के बहिरंग साधन हैं ।

उदाहृतानां त्रिविधानामात्मनां व्यवहारविशेषेषु व्यवस्थया प्राधान्ये दृष्टान्तमाह—

विप्रक्षत्रादयो यद्वद्बृहस्पतिसवादिषु ।
व्यवस्थितास्तथा गौणमिथ्यामुख्या यथोचितम् ॥४६॥

अन्वय :—विप्रक्षत्रादयः यद्वत् बृहस्पतिसवादिषु व्यवस्थिताः तथा यथोचितम् गौणमिथ्या मुख्याः ।

'विप्रेति' । यथा 'ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन यजेत इत्यत्र ब्राह्मणस्यैवाधिकारः न क्षत्रियवैश्ययोः, 'राजा राजसूयेन यजेत' इत्यत्र राज्ञ एवाधिकारो न ब्राह्मणवैश्ययोः 'वैश्यो वैश्यस्तोमेन यजेत' इत्यत्र वैश्यस्यैवाधिकारो नेतरयोः, एवं गौणमिथ्या-मुख्यभेदानामात्मनां यथायोग्यं स्वोचितव्यवहारेषु प्राधान्य मिति भावः ॥४६॥

पूर्वोक्त तीन प्रकार के आत्माओं को उस-उस व्यवहार में व्यवस्था द्वारा प्रधानता होती है, इस बात को दृष्टान्त देकर दिखाते हैं—

जैसे बृहस्पति सब नाम योगो में ब्राह्मण-क्षत्रियादिकों का ही अधिकार होता है उसी प्रकार गौणात्मा मिथ्यात्मा एवं मुख्यात्मा का यथा योग्य प्राधान्य विभिन्न व्यवहारों में होता है ॥४६॥

जिस प्रकार 'ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन यजेत्' ब्राह्मण बृहस्पति सवसे यजन करे इससे सिद्ध होता है कि बृहस्पति सब यज्ञ करने का अधिकार ब्राह्मण का ही होता है. क्षत्रिय एवं वैश्य का अधिकार नहीं है 'राजा राजसूयेन यजेत्' राजा राजसूय मात्र से यजन करे । इस यज्ञ में केवल राजा का ही अधिकार है । ब्राह्मण वैश्य का नहीं । 'वैश्योवैश्य स्तोमेन यजेत्, वैश्यवैश्यस्तोम याग से यजन करे । इस यज्ञ में वैश्य का ही अधिकार है अन्य किसी भी ब्राह्मण क्षत्रिय का नहीं है, इस प्रकार आत्मा का यथा योग्य अपने-अपने उचित व्यवहारो में प्राधान्य है ॥४६॥

फलितमाह—

तत्र तत्रोचिते प्रीतिरात्मन्येवातिशायिनी ।
अनात्मनि तु तच्छेषे प्रीतिरन्यत्र नोभयम् ॥५०॥

अन्वय :– तत्र तत्र उचिते आत्मनि एव अतिशायिनी प्रीतिः तच्छेषे अनात्मनि तु प्रीतिः अन्यत्र उभयं न ।

'तत्र तत्रेति'। यस्मिन्व्यवहारे यो य आत्मा उचितो भवति तत्र तत्र तस्मिंस्तस्मिन्व्यवहारे उचिते उपयोगितया प्रधानभूते आत्मन्येव प्रीतिरतिशायिनी अतिशयवती, तच्छेषे तस्यात्मनः शेषे शेषभूतेऽनात्मनि आत्मव्यतिरिक्ते वस्तुनि प्रीतिमात्रं न निरतिशयं प्रेमेत्यर्थः । अन्यत्र आत्मतच्छेषाभ्यामन्यस्मिन्वस्तुनि नोभयम्, उभयविधमपि प्रेम नास्तीत्यर्थः ॥५०॥

अब फलितार्थ कहते हैं—

जिस जगह जिस आत्मा की उपयोगिता उचित समझी जाती है, वहाँ पर ही आत्मा में अतिशय प्रीति होती है। शेष अर्थात् अनात्मवस्तु में तो केवल भोग सुख मिलता है। अन्यत्र वे अतिशय प्रीति एवं भोगसुख दोनों ही नहीं होते ॥५०॥

जिस व्यवहार में जो-जो आत्मा योग्य है, उस-उस व्यवहार में उचित उपयोगिता होने से प्रधान भूत आत्मा में ही अतिशय प्रीति सम्पादित होती है, उस आत्मा के शेष अर्थात् उपकारक नहीं है शेष भूत अनात्मा में अर्थात् आत्मा से व्यतिरिक्त वस्तु में केवल प्रीति ही होती है निरतिशय आनन्दात्मक प्रीति नहीं होता है। अन्यत्र जो आत्मा भी नहीं और उसका उपकारक भी नहीं होता है ऐसी वस्तु में अतिशय प्रीति एवं भोगरूप प्रेम भी नहीं प्राप्त होता है ॥५०॥

'अन्यत्र नोभयम्' इत्यत्राभिहितस्यान्यशब्दार्थस्यावान्तरभेदमाह—

उपेक्ष्यं द्वेष्यमित्यन्यद्द्वेधा मार्गतृणादिकम् ।
उपेक्ष्यं व्याघ्रसर्पादि द्वेष्यमेवं चतुर्विधम् ।।५१।।

अन्वय —अन्यत् द्वेष्यं उपेक्ष्यं इति द्विधा मार्गतृणादिकम् उपेक्ष्यं व्याघ्रसर्पादि द्वेष्यं एवं चतुर्विधम् ।

'उपेक्ष्यमिति' । अन्यदन्यदित्युच्यमानं वस्तु उपेक्ष्यमपेक्षाविषयः द्वेष्यं द्वेष्यविषयश्चेति द्विधा द्विप्रकारं भवति । तदुभयमुदाहरति— मार्गेति' । मार्गगतं तृणलोष्टादिकमुपेक्ष्यं स्वस्योपद्रवहेतुर्व्याघ्रादिकं द्वेष्यमित्यर्थः । फलितमाह— एवमिति' ।।५१।।

चातुर्विध्यमेव दर्शयति—

आत्मा शेष उपेक्ष्यं च द्वेष्यं चेति चतुर्ष्वपि ।
न व्यक्तिनियमः किं तु तत्तत्कार्यात्तथा तथा ।।५२।।

अन्वय :—आत्मा शेषः उपेक्ष्यं च द्वेष्यं च इति चतुर्षु अपि न व्यक्तिनियमः किं तु तत् तत् कार्यात् तथा तथा (क्रियारूपता) ।

'आत्मेति । नन्वात्मादीनां चतुर्णामपि प्रियतमत्वादिकं किं नियतम् ? नेत्याह—'चतुर्ष्वपीति' । अयमेव प्रियतमोऽयमेव प्रिय इदमेवोपेक्ष्यम् इदमेव द्वेष्यं नान्यदिति नियमो नास्तीत्यर्थः । किं तर्हीत्यत आह 'किं त्विति' । तस्मात्तस्मात्कार्यविशेषादुपकारादिरूपात्तथा तथा प्रियादिरूपतेत्यर्थः ।।५२।।

अन्यत्र नोभयम् अर्थात् अन्यत्र वे दोनों नहीं होते हैं— इस वाक्य में अन्य शब्द के अर्थ को अवान्तर भेद पूर्वक कहते हैं—

आत्मा और उससे भिन्न कही जाने वाली वस्तु उपेक्षा करने के योग्य है । और द्वेष करने योग्य है । इस प्रकार भेद से ये दो प्रकार की है मार्ग में पड़ा हुआ तृणादिक और व्याघ्रादि द्वेष्य का विषय है इस प्रकार वस्तुएँ चार प्रकार की हैं ।।५१।।

आत्मा से भिन्न कही जाने वाली वस्तु उपेक्षा का विषय है और द्वेष्य का विषय है इस प्रकार ये वस्तुएँ दो प्रकार की हैं । इन दोनों को उदाहरण देकर कहते हैं —मार्गगत तृण, कङ्कण आदि तो उपेक्षा का विषय है, और व्याघ्र सर्पादि अपने दुःख का जनक होने के कारण द्वेष का विषय है । इस प्रकार ये चार वस्तुएँ होती हैं अतिशय प्रीति का विषय आत्मा है, केवल प्रीति का विषय सुख का साधन हैं । उपेक्षा का विषय मार्ग तृणादि है, एवं द्वेष का विषय व्याघ्रादि है ।।५१।।

अब उन चार प्रकार की वस्तुओं में भेद दिखाते हैं —

आत्मा, शेष, उपेक्षा और द्वेष इन चारों में व्यक्तिगत कोई नियम का भेद नहीं है परन्तु उसके विशेष कार्य को लेकर उनकी प्रियादिरूपता देखी जाती है ।।५२।।

शंका—आत्मादिक चारों वस्तुओं में प्रियतमत्वादिक किसी व्यक्ति विशेष में क्या निश्चित रहता है यह बात तो नहीं है, इन चारों पदार्थों में भी व्यक्ति का नियम नहीं है । अर्थात् यही प्रियतम है और यही प्रिय है तथा यही वस्तु द्वेष्य है, अथवा यही वस्तु उपेक्ष्य है, अन्य वस्तु नहीं है । इस प्रकार का नियम नहीं हो सकता है । परन्तु उस-उस कार्य विशेष से अर्थात् भिन्न-भिन्न आकार उपकारादि कार्य-वशात् उसके अनुसार प्रियादिरूपता होती है ।।५२।।

सर्वत्राप्यनियमयोजनाय प्रसिद्धे द्वेष्यव्याघ्रे तदभावं दर्शयति—

स्याद्व्याघ्रः संमुखो द्वेष्यो ह्युपेक्ष्यस्तु पराङ्मुखः ।
लालनादनुकूलश्चेद्विनोदायेति शेषताम् ॥५३॥

अन्वयः—संमुखः व्याघ्रः द्वेष्यः स्यात् हि पराङ्मुखस्तु उपेक्ष्यः लालनात् अनुकूलः इति विनोदाय शेषताम् इति (भजते)।

'स्यादिति'। यदा व्याघ्रः स्वभक्षणाय संमुख आगच्छति तदा द्वेष्यो भवति, स एव पराङ्मुखो गच्छति चेदुपेक्ष्यो भवति, स एव यदि लालनात् स्वानुकूलो भवति तदा विनोदायेति विनोदसाधनं भवतीति शेषतां स्वस्योपकारकत्वेन प्रियत्वं भजत इत्यभिप्रायः ॥५३॥

नन्वेकस्यैव वस्तुनः प्रियत्वादिधर्मत्रयाङ्गीकारे व्यवहारव्यवस्था न स्यादित्याशङ्क्याह—

व्यक्तीनां नियमो मा भूल्लक्षणात्तु व्यवस्थितिः ।
आनुकूल्यं प्रातिकूल्यं द्वयाभावश्च लक्षणम् ॥५४॥

अन्वयः—व्यक्तीनां नियमो मा भूत् लक्षणात्तु व्यवस्थितिः आनुकूल्यं प्रातिकूल्यं द्वयाभावश्च लक्षणम्।

'व्यक्तीनामिति'। व्यक्तिनियमाभावेऽपि लक्षणवशाद्व्यवस्था भविष्यतीत्यर्थः। किं लक्षणमित्याकाङ्क्षायां तल्लक्षणमाह—'आनुकूल्यमिति'। अनुकूलत्वं प्रियस्य लक्षणं व्यावर्तको धर्मः, प्रतिकूलत्वं द्वेष्यस्य लक्षणमुपेक्ष्यस्य आनुकूल्य-प्रातिकूल्यरूपद्वयाभावश्च लक्षणमित्यर्थः ॥५४॥

सांसारिक प्रत्येक वस्तुओं में व्यक्तिगत प्रियतमत्वादि को अनियमता दिखाने के लिए प्रसिद्ध है द्वेष्य व्याघ्र में उस प्रियतमत्व आदि के नियम का अभाव दिखाते हैं—

व्याघ्र सम्मुख स्थित हो तो द्वेष्य होता है और पराङ्मुख हो तो उपेक्षा का विषय हो जाता है यदि वह लालन पालन से अपने अनुकूल हो जाता है तो मनोरञ्जन का एक साधन हो जाता है। इसलिए व्याघ्र अपने उपकारक होने से प्रिय बन जाता है ॥५३॥

जब व्याघ्र अपने को खाने के लिए सन्मुख आता है तो द्वेष्य होता है यदि वही व्याघ्र पीछे मुखकर लौट जाता है तो उपेक्षणीय होता है यदि वही लालन-पालनसे अपने अनुकूल हो जाता है तो एक विनोद का साधन बन जाता है। वही शेष है अर्थात् अपने उपकारक होने से प्रियरूप बनजाता है ॥५३॥

शका करे तो एक ही वस्तु कभी-कभी प्रिय-अप्रिय तथा उपेक्षा के विषय के कारण व्यवहार की समुचित व्यवस्था नहीं हो पायेगी ऐसी शंका करते हैं

व्यक्तियों का नियम मत होवे तो भी असाधारण धर्मरूप लक्षण से व्यवस्था सिद्ध हो जायेगी, अनुकूल रूप धर्म एवं प्रतिकूल रूप धर्म और इन दोनों से रहित उपेक्ष्य भावसे व्यवस्था बन जायेगी ॥५४॥

व्यक्ति के नियम का अभाव होने पर भी असाधारण धर्मरूप लक्षण वशात् व्यवस्था हो जायेगी, अब लक्षण क्या है ऐसी शंका कर उस वस्तु के लक्षण को बताते हैं। प्रिय वस्तु के व्यावर्तन करने वाला धर्म अनुकूल है, जो कि प्रिय अर्थात् सुख का साधन है द्वेष वस्तु अप्रिय अर्थात् दुःख का साधन है और उन आनुकूल्य एवं प्रातिकूल्यरूप दोनों धर्मों से रहित होना उपेक्ष्य लक्षण है ॥५४॥

एतावता ग्रन्थसंदर्भेणोपपादितमर्थं बुद्धिसौकर्यार्थ संक्षिप्य कथयति—

आत्मा प्रेयान्प्रियः शेषो द्वेषोपेक्षे तदन्ययोः ।

इति व्यवस्थितो लोको याज्ञवल्क्यमतं च तत् ॥५५॥

अन्वयः—आत्मा प्रेयान् शेषः प्रियः तदन्ययोः द्वेषोपेक्षे इति लोकः व्यवस्थितः तत च याज्ञवल्क्यमतं ।

'आत्मेति' आत्मा प्रत्यगानन्दः प्रेयानतिशयेन प्रियः शेषः स्वोपसर्जनभूतः पदार्थः प्रियः तदन्ययोस्ताभ्यामात्मनस्तच्छेषाच्चान्ययोः व्याघ्रपथिगततृणादिरूपयोर्द्वेषोपेक्षे यथाक्रमं भवत इति । एवं चातुर्विध्येन लोको व्यवस्थितो व्यवस्थां प्राप्तः । उक्तप्रकारचतुष्टयातिरिक्तं न किंचिद्विद्यत इत्यभिप्रायः । अयमर्थः—श्रुत्यभिमतोऽपीत्याह—'याज्ञवल्क्येति' । आत्मादीनां प्रियतमत्वादिकं यत्तत् याज्ञवल्क्यमतं च याज्ञवल्क्यस्यापि संमतमित्यर्थः ॥५५॥

इतने पूर्वोक्त ग्रन्थ के समूह से उपपादित अर्थ को बुद्धि आने के लिए संक्षेप में दिखाते हैं—

आत्मा अतिशय प्रिय है और शेष प्रिय है इसमें से व्याघ्र तृणादिक वस्तु क्रम से द्वेष और उपेक्षणीय है, इस प्रकार लोक में व्यवस्था बनी हुई है तथा याज्ञवल्क्य की भी यही सम्मति है ॥५५॥

प्रत्यग् आनन्द चिदात्मा अतिशय प्रिय होता है और शेष अर्थात् आत्मा के उपकारक पदार्थ केवल प्रिय है आत्मा और शेष इन दोनों से भिन्न व्याघ्र तृणादि वस्तुओं में द्वेष एवं उपेक्षा दोनों क्रमशः होती है । इस प्रकार चार प्रकार से यह लोक व्यवस्थित है । आशय यह है कि इन चारों प्रकार से अतिरिक्त इस लोक में कुछ भी तो नहीं है यह अर्थ श्रुति सिद्ध है, क्योंकि आत्मादिकों का जो प्रियतमत्वादि है वह याज्ञवल्क्य ऋषि के मत में सिद्ध है ॥५५॥

न केवलं मैत्रेयीब्राह्मण एवात्मनः प्रियतमत्वमुक्तं, किंतु पुरुषविधब्राह्मणेऽपीत्यभिप्रायेण तद्वाक्यार्थं संगृह्णाति—

अन्यत्रापि श्रुतिः प्राह पुत्राद्वित्तात्तथाऽन्यतः ।
सर्वस्मादान्तरं तत्त्वं तदेतत्प्रेय इष्यताम् ॥५६॥

अन्वयः— अन्यत्रापि श्रुतिः प्राह पुत्रात् वित्तात् तथा अन्यतः सर्वस्मात् आन्तरं तत्त्वं तदेतत् प्रेय इष्यताम् ।

'अन्यत्रापीति' । 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा' (बृ० १।४।८) इत्यनेन वाक्येन पुत्रवित्तादेः सवस्मादान्तरस्यात्मतत्त्वस्य प्रियतमत्वमीरितमित्यर्थः ॥५६॥

भवत्वेवं श्रुतावभिधानं प्रकृते किमायातमित्यत आह—

श्रौत्या विचारदृष्ट्याऽयं साक्ष्येवात्मा न चेतरः ।
कोशान्पञ्च विविच्यान्तर्वस्तुदृष्टिर्विचारणा ॥५७॥

अन्वयः—श्रौत्या विचार दृष्ट्या अयं आत्मा साक्षी एव इतरः च न पञ्चकोशान् विविच्य अन्तर्वस्तुदृष्टिः विचारणा ।

'श्रौत्येति' । श्रुत्यर्थपर्यालोचनरूपया विचारदृष्ट्या साक्षिण एव मुख्यमात्मत्वं, नेतरस्य पुत्रादेरित्यर्थः । 'विचारदृष्ट्या' इत्यभिहितस्य स्वरूपमाह—'कोशानिति' । अन्नमयादीन्पञ्चकोशांस्तैत्तिरीयश्रुत्युक्तप्रकारेणात्मनः पृथक्कृत्यान्तःस्थितस्यात्मनोऽनुभवो विचारणेत्यर्थः ॥५७॥

केवल मैत्रीय ब्राह्मण द्वारा ही आत्मा का प्रियतमत्वादि नहीं कहा गया है, अपितु पुरुषविध ब्राह्मण द्वारा भी कहा गया है । इस आशय से उसके वाक्यार्थ को दिखाते हैं—

पुरुष विध ब्राह्मण में भी श्रुति ने कहा है यह आत्मा पुत्र, धन और अन्य सभी वस्तुओं से आन्तर तत्त्व है वही प्रियतम है इसलिए आत्मा को अतिशय स्वीकार करना होगा ॥५६॥

'तदेतत्प्रेय······अयमात्मा' इस वृहदारण्यक श्रुतिवाक्य के अनुसार वह आत्मा पुत्र से प्रिय है, धन से प्रिय है और अन्य सबसे भी प्रिय है सब से भी आन्तरतत्त्व है इसलिए इसको अतिशय प्रियतम कहा गया है ॥५६॥

ठीक है ऐसा श्रुतिका कथन भले हीं हो, किंतु प्रकृत में क्या सिद्ध हो रहा है, इस पर कहते हैं -

श्रुति के पर्यालोचन रूप (अर्थ की विचार दृष्टि से) भी वह साक्षी कूटस्थ ही मुख्यात्मा है दूसरा कोई नहीं है अन्नमयादि पञ्चकोशों के आत्मा से पृथक् करके अन्तर दृष्टि का ही विचारणा है ॥५७॥

यदि श्रुतिगत अर्थ के पर्यालोचन रूप विचार दृष्टि से देखा जाय तो यह साक्षी ही मुख्य आत्मा है अन्नमयादि पाँच कोश पुत्रादि नहीं है 'विचार दृष्ट्या' यह श्लोक में उद्धृत पद का स्वरूप कहते हैं, तैत्तिरीय श्रुति में कहे हुए प्रकार से अन्नमयादि पञ्चकोशों को आत्मा से भिन्न करके अन्तर्दृष्टि करना अन्तःकरण में स्थित वस्तु का विचार विमर्श करना ही विचारणा है ॥५७॥

अन्तःस्थितस्य वस्तुनो दर्शनप्रकारमेवाह—

जागरस्वप्नसुप्तीनामागमापायभासनम् ।
यतो भवत्यसावात्मा स्वप्रकाशचिदात्मकः ॥५८॥

अन्वयः—जागरस्वप्नसुप्तीनां आगमापायभासनम् यतो भवति असौ स्वप्रकाशचिदात्मकः आत्मा ।

'जागरेत्यादिना' । जाग्रदाद्यवस्थानां मध्ये उत्तरोत्तरावस्थागमस्य पूर्वपूर्वास्थानिवृत्तेश्चावभासनं यतो नित्यचैतन्यरूपात्साक्षिणो भवति स स्वप्रकाशचिद्रूप आत्मेत्यर्थः ॥५८॥

संग्रहेणोक्तं श्रुत्यर्थं प्रपञ्चयति—

शेषाः प्राणादिवित्तान्ता आसन्नास्तारतम्यतः ।
प्रीतिस्तथा तारतम्यात्तेषु सर्वेषु वीक्ष्यते ॥५९॥

अन्वय :—प्राणादिवित्तान्ताः शेषाः तारतम्यतः असन्नाः तेषु सर्वेषु तारतम्यात् तथा प्रीतिः वीक्ष्यते ।

'शेषा इति' । साक्षिव्यतिरिक्ताः प्राणादिवित्तान्ता वक्ष्यमाणाः पदार्थास्तारतम्येनात्मन आसन्नाः समीपवर्तिनो भवन्ति । तत्रोपपत्तिमाह 'प्रीतिरिति' । यथा तारतम्येनान्तरत्वं तद्वदेव तेषु प्राणादिषु तारतम्यात्प्रीतिर्वीक्ष्यते सर्वैरपीति शेषः ॥५९॥

अब अन्तःस्थित वस्तु के दर्शन का स्वरूप कहते हैं—

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में आने और जाने की प्रतीति जिससे होती है वही स्वप्रकाश चित्रूप आत्मा है और ऐसा जानने का ही अनुभव (ज्ञान) है ॥५८॥

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन अवस्थाओं के मध्य में उत्तरोत्तर अवस्था की प्राप्ति पूर्व-पूर्व अवस्था की निवृत्तिरूप अवभासमान जिस नित्य चैतन्य रूप साक्षी से होती है, वह स्वप्रकाश चिद्रूप मुख्य आत्मा है ॥५८॥

संग्रह के रूप में कहे हुए श्रुतिगत अर्थ का विस्तार पूर्वक प्रतिपादन करते हैं—

प्राणादि से लेकर वित्त पर्यन्त जितने भी सुख के साधन पदार्थ हैं। वे तारतम्य से आत्मा के निकटवर्ती हैं। उसी प्रकार उन सभी वस्तुओं (पदार्थों) में न्यूनाधिक भाव से प्रीति भी देखी जाती है ॥५९॥

साक्षी आत्मा से व्यतिरिक्त प्राणादि से लेकर वित्त पर्यन्त सुख के साधन पदार्थ हैं। वे सभी न्यूनाधिक भाव से आत्मा के समीपवर्ती हैं, इसमें उपपत्ति दिखाते हैं। आत्मा से अतिरिक्त निकट प्राण है प्राण से इन्द्रियां निकट हैं तथा देह से पुत्र और पुत्र से वित्त निकटवर्ती है इन सभी में जैसे आन्तरता का तारतम्य अर्थात् न्यूनाधिक भाव है वैसे ही उन प्राणादि सब वस्तु पदार्थों में न्यून अधिक भाव होने से प्रीति देखने में आती है ॥५९॥

प्रीतेस्तारतम्येनानुभवमेव विशदयति —

वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रात्पिण्डः पिण्डात्तथेन्द्रियम् ।
इन्द्रियाच्च प्रियः प्राणः प्राणादात्मा प्रियः परः ॥६०॥

अन्वय :—वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रात् पिण्डः तथा पिण्डात् इन्द्रियं इन्द्रियाच्च प्राणः प्रियः प्राणात् परः आत्मा प्रियः ।

'वित्तादिति' । पिण्डोऽन्नमयो देहः । अयं भावः—सर्वैः प्राणिभिः पुत्रादिविपत्परिहाराय वित्तव्ययः क्रियते, स्वदेहरक्षणाय कदाचित्पुत्रादिरपि दीयते, इन्द्रियनाशपरिहाराय ताडनादिना देहपीडाप्यङ्गीक्रियते, मरणप्रसक्तौ तत्परिहारायेन्द्रियवैकल्यमप्यङ्गीक्रियते, अत एवोत्तरोत्तरमतिशयेन प्रियत्वं सर्वानुभवसिद्धम् । आत्मनस्तु निरतिशयप्रेमास्पदत्वं विद्वदनुभवसिद्धमिति ॥६०॥

एवमात्मनः प्रियतमत्वे प्रमाणसिद्धेऽपि ज्ञान्यज्ञानिनोर्विप्रतिपत्तिनिरसनाय श्रुत्या तद्विप्रतिपत्तिर्दर्शितेत्याह —

एवं स्थिते विवादोऽत्र प्रतिबुद्धविमूढयोः ।
श्रुत्योदाहारि तत्रात्मा प्रेयानित्येव निर्णयः ॥६१॥

अन्वयः एवं स्थिते अत्र प्रतिबुद्धविमूढयोः विवादः श्रुत्योदाहारि तत्र आत्मा प्रेयान् इत्येव निर्णयः ।

'एवं स्थित इति' । तत्र निर्णयमाह—'तत्रात्मेति' ।आत्मनः प्रियतमत्वस्योपपादितत्वादित्यर्थः ॥६१॥

प्रीति के तारतम्य से अनुभव को विस्तारपूर्वक दिखाते हैं —

धन से अधिक पुत्र प्रिय है पुत्र से अधिक अपना शरीर प्रिय है । शरीर से अधिक प्रिय इन्द्रियाँ हैं । इन्द्रियों से अधिक प्रिय प्राण है और प्राण से अधिक आत्मा परम प्रिय है ॥६०॥

पिण्ड = अन्नमय यह स्थूल देह है, आशय यह है कि सभी लोग पुत्रादि के ऊपर पड़ी हुई विपत्ति को दूर करने के लिए धन का व्यय करके उस विपत्ति को दूर करने का प्रयास करते हैं । अपनी देह की रक्षा के लिए लोग कभी-कभी पुत्र को भी बेच देते हैं, स्थूल देह से इन्द्रियाँ अधिक प्रिय हैं क्योंकि इन्द्रियों की रक्षा के लिए ताडनादि से देह की पीड़ा भी स्वीकार करते हैं । प्राण नाश का प्रसंग उपस्थित होने पर भी उसको हटाने के लिए इन्द्रियों की विकलता भी स्वीकार कर लेते हैं । अतएव उत्तरोत्तर एक दूसरे से अतिशय प्रियत्व सर्वजन विदित है, किन्तु आत्मा तो निरतिशय प्रेमास्पद है यह विद्वत् जनों का अनुभव से सिद्ध है ॥६०॥

इस प्रकार आत्मा का प्रियतमत्व प्रमाण सिद्ध होने पर भी ज्ञानी और अज्ञानी की विप्रतिपित्ति (विवाद) को निवृत्त करने के लिए श्रुति द्वारा उनकी विप्रतिपत्ति दिखायी गयी है इस प्रकार कहते हैं ।

इस प्रकार आत्मा की प्रियरूपता प्रमाण से सिद्ध हो जाने पर भी इस विषय में ज्ञानी एवं अज्ञानी के परस्पर विवाद श्रुति द्वारा दिखाया गया है इसके निर्णय में आत्मा की प्रियतमता सिद्ध हुई ॥६१॥

विद्वान और मूढ प्राणी के परस्पर विवाद के निर्णय में श्रुति ने दिखाया कि आत्मा का प्रियतमत्व निरतिशय रूप है ॥६१॥

तामेव विप्रतिपत्तिमाह—

साक्ष्येव दृश्यादन्यस्मात् प्रेयानित्याह तत्त्ववित् ।
प्रेयान्पुत्रादिरेवेमं भोक्तुं साक्षीति मूढधीः ।।६२।।

अन्वय : -अन्यस्मात् दृश्यात् साक्षी एव प्रेयान् इति तत्त्ववित् आह पुत्रादिः एव इयं भोक्तुं मूढधीः साक्षी इति प्रेयान् ।

'साक्षीति' ।।६२।।

आत्मातिरिक्तस्य प्रियत्ववादिनो विभज्योत्तराभिधानाय तमेव वादिनं विभज्य कथयति –

आत्मनोऽन्यं प्रियं ब्रूते शिष्यश्च प्रतिवाद्यपि ।
तस्योत्तरं वचो बोधशापौ कुर्यात्तयोः क्रमात् ।।६३।।

अन्वय : आत्मनः अन्यं प्रियं ब्रूते शिष्यश्च प्रतिवादी अपि तस्योत्तरं वचः बोधशापौ क्रमात् तयोः कुर्यात् ।

'आत्मन इति' । उत्तराभिधानप्रकारमाह 'तस्योत्तरमिति' । तयोः शिष्यप्रतिवादिनोः संबन्धिनस्तस्य वचनस्योत्तरं वचःप्रत्युत्तररूपं वाक्यं क्रमेण बोधशापौ बोधरूपं शापरूपं च कुर्यादित्यर्थः ।।६३।।

अब उसी विप्रत्तिपत्ति को कहते हैं –

साक्षिरूप आत्मा ही अन्य दृश्य वस्तुओं से अत्यधिक प्रिय है यह तत्त्व दर्शियों का कथन है और पुत्रादि प्रिय हैं । उन सबके भोग के लिए यह आत्मा है. यह मूढ प्राणियों का कथन है ।।६२।।

आत्मा से भिन्न प्रियरूपता है, यह कहने वाले वादी का विभागपूर्वक उत्तर देने के लिए उस वादी को विभक्त करके दिखाते हैं—

शिष्य और प्रतिवादी ये दोनों आत्मा से भिन्न प्रिय कहें तो उन दोनों को बोध और शाप ही प्रत्युत्तर क्रम से समझें ।।६३।।

शिष्य आत्मा से व्यतिरिक्त पुत्र, भार्यादि को प्रिय मानता है और पूर्वपक्षी भी अनात्म पदार्थ को ही प्रिय मानता है । शिष्य एवं पूर्व पक्षी इन दोनों के 'पुत्रादि प्रिय हैं' इस प्रकार के वचन का प्रत्युत्तर यह है कि शिष्य को तो आत्मज्ञान का उपदेश दिया जाय और पूर्वपक्षी को अभिशाप दिया जाय ।।६३।।

प्रतिवचनप्रदानरूपं 'स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात्प्रियं रोत्स्यति' (बृ० १।४।८) इति समनन्तरश्रुतिवाक्यमर्थतः पठति—

प्रिय त्वां रोत्स्यतीत्येवमुत्तरं वक्ति तत्त्ववित् ।
स्वोक्तप्रियस्य दुष्टत्वं शिष्यो वेत्ति विवेकतः ।।६४।।

अन्वय : हे तत्त्ववित् प्रियः त्वां रोत्स्यति इत्येवं उत्तरं वक्ति स्वोक्तप्रियस्य दुष्टत्वं विवेकतः शिष्यः वेत्ति ।

० 'प्रिय त्वामिति' । तत्त्ववित् शिष्यप्रतिवादिनावुभावपि प्रति हे शिष्य हे प्रतिवादिन् ! प्रियं त्वदभिप्रेतं पुत्रादिरूपं स्वनाशेन त्वां शिष्यं प्रतिवादिनं वा रोत्स्यति रोदयिष्यति इत्येवमुक्तप्रकारेणोत्तरं प्रतिवचनं वक्ति ब्रवीति । इदमेकमेव वचनं शिष्यप्रतिवादिनोरुभयोः कथमुत्तरं जातमित्याशङ्क्य, शिष्यं प्रत्युत्तरं तावत् द्योतयति स्वोक्तप्रियस्येत्यादिना, वीक्षते तमहर्निश'मित्यन्तेन सार्धश्लोकचतुष्टयेन—'स्वोक्त० प्रियस्येति । शिष्यः स्वोक्तप्रियस्य स्वेनाभिहितस्य पुत्रादिरूपस्य प्रीतिविषयस्य विवेकतः वक्ष्यमाणदोष विचारेण दुष्टत्वं वेत्ति अवगच्छति ।।६४।:

प्रतिवचन प्रदानरूप स योऽन्यमात्मनः प्रियं० । इस बृहदारण्यक श्रुति वाक्यों का अर्थतः पाठ करते हैं -

तुम्हें अपनी अभीष्ट पुत्रादिरूप प्रियवस्तु रोदन करायेगी, यही तत्त्वदर्शी द्वारा प्रत्युत्तर के रूप में कहा गया है। शिष्य अपने कहे हुए पुत्रादिरूप प्रियवस्तु में रहने वाले दोष को विवेक से जान लेता है ।।६४।।

आत्मतत्त्ववेत्ता ने शिष्य और पूर्वपक्षी इन दोनों के प्रति प्रत्युत्तर के रूप में कहा है कि हे शिष्य और हे प्रतिपक्षिन् ! तुम्हें अभिप्रेत पुत्रादिरूप प्रिय पदार्थ अपने विनाश से रोदन करायेंगे। तत्त्ववेत्ता शिष्य और पूर्वपक्षी इन दोनों को प्रत्युत्तर के रूप में कहते हैं कि तुम लोगों को पुत्रादिरूप प्रियपदार्थ अपने विनाश से रोदन करायेंगे, यही एकवचन शिष्य और प्रतिपक्षी इन दोनों के प्रति उत्तर के रूप में कैसे हो सकता है ? 'स्वोक्तप्रियस्य' इत्यादि से लेकर 'वीक्षते तमहर्निशं' यहाँ तक साढ़े चार श्लोकों से प्रत्युत्तर कहते हैं शिष्य अपने से कहे हुए पुत्रादिरूप जो प्रीति का विषय है उसे वक्ष्यमाण दोष विचार विवेक द्वारा जान लेता है ।।६४।।

दोषविचारप्रकारमेव दर्शयति—

अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम् ।
लब्धोऽपि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते ॥६५॥

जातस्य ग्रहरोगादिः कुमारस्य च मूर्खता ।
उपनीतेऽप्यविद्यत्वमनुद्वाहश्च पण्डिते ॥६६॥

यूनश्च परदारादि दारिद्र्यं च कुटुम्बिनः ।
पित्रोर्दुःखस्य नास्त्यन्तो धनी चेन्म्रियते तदा ॥६७॥

अन्वय :—अलभ्यमानः तनयः चिरम् पितरौ क्लेशयेत् लब्धः अपि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते ।

जातस्य ग्रहरोगादिः कुमारस्य च मूर्खता उपनीतेपि अविद्यत्वं अनुद्वाहदृश्च पण्डिते ।

यूनश्च परदारादि कुटुम्बिनः च दारिद्र्यं तदा धनी म्रियते चेत् पित्रोः दुःखस्य अन्तः नास्ति ।

'अलभ्यमान इति' श्लोकत्रयेण ॥६५-६७॥

दोष के विचार को ही दिखाते हैं—

जब तक पुत्र प्राप्त नहीं होता है तब तक माता-पिता को चिरकाल तक क्लेश होता है। कदाचित् गर्भ में प्राप्त हो भी गया तो प्रसव से पीड़ा भी असह्य होती है ॥६५॥

पैदा हुए पुत्र को ग्रह-पीड़ा एवं रोग आदि लग जाते हैं, कुमार अवस्था में मूढ हो जाता है, उपनीत यज्ञोपवीत संस्कार होने विद्या का न होना यदि विद्वान् हो भी गया तो विवाह का न होना ॥६६॥

और यौवन अवस्था में परस्त्री संग गमनादि और पुत्रादि परिवार कुटुम्बी होने पर दरिद्रता और धनी पुत्रादि हो जाने पर तो मरण के होने पर दुःखदायी होता है, इस प्रकार माता-पिता के दुःख का अन्त कभी भी नहीं होता है ॥६७॥

एवं पुत्रगतदोषकीर्तनं दारादिसर्वविषयदोषोपलक्षणार्थम्—

एवं विविच्य पुत्रादौ प्रीतिं त्यक्त्वा निजात्मनि ।
निश्चित्य परमां प्रीतिं वीक्षते तमहर्निशम् ॥६८॥

अन्वयः—एवं विविच्य पुत्रादौ प्रीतिं त्यक्त्वा निजात्मनि परमां प्रीतिं निश्चित्य तं अहर्निशम् वीक्षते।

'एवं विविच्येति' । एवमुक्तेन प्रकारेण पुत्रादौ विषयजाते विविच्य विद्यमानान् दोषान्विभज्य ज्ञात्वा तस्मिन्प्रीतिं परित्यज्य निजात्मनि प्रत्यग्रूपे साक्षिणि परमां निरतिशयां प्रीतिं निश्चित्य तं प्रत्यगात्मानमहर्निशं सर्वदा वीक्षते, अनुसंधत्त इत्यर्थः ॥६८॥

'प्रियं त्वां रोत्स्यती' त्यस्यैव वाक्यस्य प्रतिवादनं प्रति शापरूपत्वं प्रकटयति—

आग्रहाद्ब्रह्मविद्वेषादपि पक्षममुञ्चतः ।
वादिनो नरकः प्रोक्तो दोषश्च बहुयोनिषु ॥६९॥

अन्वय : आग्रहात् ब्रह्मविद्वेषात् पक्षं अमुञ्चतः अपि वादिनः नरकः बहुयोनिषु दोषश्च प्रोक्तः ।

'आग्रहादिति' । आग्रहादुक्तं पुत्रादिप्रियत्वं सर्वथा न त्यजामि' इत्येवंरूपात् ब्रह्मविद्वेषात् 'अनेनोक्तं विघटयिष्यामि' इत्येवंरूपाच्च पक्षं पुत्रादीनामेव प्रियत्वाभिधानरूपमपरित्यजतः प्रतिवादिनो नरकप्राप्तिस्तथा बहुयोनिषु तिर्यगादिष्वनेकेषु जन्मसु दोषः पुत्रभार्यादीष्टावियोगानिष्टप्राप्तिरूपः प्रोक्तः 'प्रियं त्वां रोत्स्यति' इति वदता ज्ञानिनेति शेषः ॥६९॥

इस प्रकार पुत्रगत दोष का कथन स्त्री आदि सर्व विषय दोष केवल उपलक्षण रूप ही है—

पूर्वोक्त प्रकार से पुत्रादि पदार्थों में रहने वाले दोषों को भलीभाँति जानकर मिथ्या प्रेम को छोड़कर साक्षिरूप चिदात्मा में परमआनन्द का निश्चयकर अहर्निश दर्शन करता रहता है ॥६८॥

इस प्रकार से पुत्रादि विषय पदार्थों में विद्यमान दोषों को विवेक पूर्वक जानकर उन पदार्थों में बनी मिथ्याभूत प्रीति को छोड़कर अपने प्रत्यग् रूप साक्षी में निरन्तर निरतिशय परमप्रीति का निश्चय करके ही शिष्य सदैव देखता रहता है ॥६८॥

'प्रियं त्वां रोत्स्यति' इति श्रुतिगत वाक्य का प्रतिवादी के प्रति शापरूपत्व प्रकट करते हैं—

मिथ्या आग्रह से और ब्राह्मण के साथ द्वेष बलात् अपने पक्ष को वादी नहीं छोड़ता है। इसलिए नरक तिर्यक् आदि योनियों में दुःख भोगना पड़ता है ॥६९॥

पुत्रादि प्रिय वस्तु को मैं किस प्रकार छोड़ नहीं सकता हूँ इस पूर्वोक्त दुराग्रह से एवं ब्रह्मवेत्ता वचन को खण्डन करूँगा। यह ब्रह्मवित् ब्राह्मण के साथ द्वेष होने के कारण पुत्रादि ही प्रिय होते हैं ऐसा कथन रूप अपने पक्ष को न छोड़ने वाला प्रतिवादी को नरक की प्राप्ति तथा तिर्यक् पशु आदि अनेक जन्मों में पुत्र भार्यादि इष्ट पदार्थों का वियोग अनिष्ट प्राप्त रूपी दोष होता है। प्रिय मुझे रोदन करायेगा इस उत्तर के दाता ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी ने कहा ॥६९॥

ननु ज्ञानिनोक्तस्यैकवाक्यस्य शिष्यं प्रत्युपदेशरूपत्वं वादिनं प्रति शापरूपत्वं चेति विरुद्धं रूपद्वयं कथं घटत इत्याशङ्क्य, उत्तरप्रदातुरीश्वररूपत्वात्तस्याभिप्रायानुसारेणोभयं भविष्यतीति मत्वा तदुपपादकस्य 'ईश्वरो ह्' तथैव स्यात्' (बृ० १।४।८) इति समनन्तरवाक्यस्य तात्पर्यमाह—

ब्रह्मविद्ब्रह्मरूपत्वादीश्वरस्तेन वर्णितम् ।

यद्यत्तत्तथैव स्यात्तच्छिष्यप्रतिवादिनोः ।।७०।।

अन्वयः ब्रह्मवित् ब्रह्मरूपत्वात् तेन ईश्वरः वर्णितम् यत् तत् तथैव तच्छिष्यप्रतिवादिनोःस्यात् ।

'ब्रह्मविदि'ति' । यतो ब्रह्मविदः स्वस्य ब्रह्मत्वानुभवादीश्वरत्वमस्ति, अतस्तेन यं शिष्यादिकं प्रति यद्यदिष्टमनिष्टं वाऽभिधीयते तत्तत् तच्छिष्यप्रतिवादिनोस्तस्य ज्ञानिनो यः शिष्यो यश्च प्रतिवादी तयोस्तथैव स्यात्, इष्टमनिष्टं वाऽवश्यं भवेदित्यर्थः ।।७०।।

कदाचित कहो कि ज्ञानी ब्रह्मवेत्ता द्वारा कहा हुआ एक ही वाक्य शिष्य के लिए बोधरूप और प्रतिवादी के प्रति शाप रूप यह परस्पर विरुद्ध सा ही लगता है -ऐसी शंका करके कहते हैं कि उत्तर प्रदाता ईश्वर रूप होने के कारण सम्भव हो सकता है ऐसा मान करके उसके उपपादक वाक्य को दिखाते हैं—

ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मरूप होने से ईश्वर स्वरूप माना जाता है, इसलिए उस ब्रह्मवेत्ता द्वारा शिष्य और प्रतिवादी के प्रति जो कुछ कहा है ठीक वैसा ही होकर रहता है ।।७०।।

ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मरूप होने से ईश्वर स्वरूप माना जाता है अपने स्वरूप का अनुभव किया हुआ रहने से इसलिए ब्रह्मवेत्ता लोग शिष्यादि के प्रति जो जो इष्ट अथवा अनिष्ट कहते हैं वह इष्ट अनिष्ट ज्ञानी के शिष्य और प्रतिवादी दोनों को वैसा ही होता है इष्ट अथवा अनिष्ट अवश्य प्राप्त होता है ।।७०।।

'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति० (मु० उ० ३।२।९) जो कोई इस परमात्मा को जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है ।।७०।।

विशेष —१ जैसे कोई राजा-रानी के दो पुत्र होते हैं उनमें बड़ा पुत्र पिता और माता के सब धन का अधिपति होकर राज्यपद को पाता है और छोटा पुत्र मूर्खता के कारण किंकर दशा को प्राप्त करता है तब इन दोनों भ्राताओं में बड़ा भेद है पीछे गुरु कृपा से बुद्धिमान होकर दो पुत्र न्याय से पिता के धन का राज्य का भागी बनता है वैसे ब्रह्मरूप पिता और माता रूप माया के जीव और ईश्वर दो पुत्र हैं उनमें ईश्वर रूप बड़ा पुत्र सच्चिदानन्द रूप पिता के धन का और सर्वज्ञतारूप सर्व शक्तिमानता रूप जगत् कर्तृता आदि रूप माता के धन का अधिपति होने से ईश्वर भाव प्राप्त हुआ और जीव छोटा पुत्र अविवेक रूप मूर्खता करके पिता, माता दोनों के धन से वंचित हुआ शुभ और अशुभ कर्मरूप सेवा अपराध के अनुसर सुख भोगरूप मौज और अशुभ दुःख भोग रूप दण्ड को प्राप्त होने के

व्यतिरेकमुखेनोक्तस्यार्थस्यान्वयमुखेन प्रतिपादकं 'आत्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते नेहास्य प्रियं प्रमायुकं भवति' (बृ० १।४।८) इति समनन्तर वाक्यमर्थतः पठति—

यस्तु साक्षिणमात्मानं सेवते प्रियमुत्तमम् ।
तस्य प्रेयानसावात्मा न नश्यति कदाचन ।।७१।।

अन्वयः यस्तु उत्तमम् प्रियं साक्षिणं आत्मानं सेवते तस्य असौ आत्मा प्रेयान् कदाचन न नश्यति

'यस्त्विति' । 'तु' शब्द उक्तवैलक्षण्यद्योतनार्थः । अनात्मप्रियत्ववादिनोऽन्यो यः शिष्यः आत्मानमेवोत्तमं प्रियं निरतिशयं प्रेमगोचरं सेवते सदात्मानं स्मरति तस्य शिष्यादेः प्रेयान् प्रियतमत्वेनाभिमतोऽसावात्मा प्रतिवाद्यभिमतं प्रियमिव न कदाचिद्विनश्यति किन्तु सदानन्दरूपः सन् अवभासत इत्यर्थः ।।७१।।

अब निषेध मुख से कहे पूर्वोक्त अर्थ को अन्वय मुख से प्रतिपादक (बोधक) 'आत्मानमेव ... प्रमायुकं भवति' इस बृहदारण्यक श्रुति का अर्थतः पाठ करते हैं—

जो शिष्य साक्षिरूप आत्मा को ही सर्वोत्तम प्रेमास्पद मानकर भजता है उसका प्रियमाना हुआ यह आत्मा कभी भी विनष्ट नहीं होता ।।७१।।

श्लोक में उद्धृत तु शब्द अत्यन्त विलक्षणता द्योतित करता है अर्थात् अनात्म वस्तु को अत्यन्त प्रिय समझने वाला प्रतिवादी से अन्य जो शिष्य साक्षी रूप आत्मा को ही उत्तम निरतिशय प्रेम का विषय मानकर भजता है = निरन्तर आत्मा का ही स्मरण करता है उस शिष्यादि का अतिप्रिय रूप वह आत्मा प्रतिवादी के द्वारा प्रिय माना हुआ पुत्रादि रूप आत्मा की भाँति कभी भी विनष्ट नहीं होता है, किन्तु सदा नित्य आनन्द रूप होकर भासित होता है ।।७१।।

कारण जीव भाव को प्राप्त हुआ है इन दोनों का बड़ा अनादिकाल से भेद हुआ है । पीछे विवेक वैराग्यादि साधन युक्त बुद्धि को प्राप्त कर यह जीव ईश्वर या ब्रह्मवित् कहलाता है भो ईश्वर, तू गुप्त जो पिता का साधारण सुख का निधि है उसको भोगता है माता माया रूप धन से मेरे को विभाग करके मेरे को समर्पण करे ऐसे भिक्षा वृत्तिरूप बाहर प्रकट करता हुआ रहता है । और यह शास्त्र विहित कर्म करता हुआ निषिद्ध कर्म नहीं करता ऐसे वेद वाक्यों से युक्त रहता है इस प्रकार शिक्षा ग्रहण कर किंकर की तरह रहता है । इससे मैं सत् गुरुरूप न्यायाधीश के द्वारा तू कूटस्थ असंग सत् चित् आनन्द रूप है । इस प्रकार गुरू मेरे को शिक्षा देते हैं । ब्रह्मतत्त्वकी परोक्षता जीवात्माकी परिच्छिन्नता को छोड़ करके परब्रह्ममें एकता करके अपने सत् चित् आनन्द अद्वय रूप से रहकर असत् जड़-दुःख द्वैत से छूटकर सदा सुखी रहता है इस रीति से तत्त्वज्ञानी को ईश्वर कहा है -

ब्रह्मवित् ब्रह्मरूप होने से ईश्वर है ब्रह्मवित् ब्रह्म ही होता है इस प्रकार श्रुति भी कहती है अपने अनुभव से विद्वान् ज्ञानी ईश्वर रूप है, ब्रह्मरूप है । और ब्रह्म से भिन्न ईश्वर का अभाव है, इससे विद्वान् ईश्वर है ।

इत्थमात्मनः परप्रेमास्पदत्वहेतुं प्रसाध्येदानीं फलितमाह —

परप्रेमास्पदत्वेन परमानन्दरूपता ।
सुखवृद्धिः प्रीतिवृद्धौ सार्वभौमादिषु श्रुता ॥७२॥

अन्वयः—परप्रेमास्पदत्वेन परमानन्दरूपता सुखवृद्धिः प्रीतिवृद्धौ सार्वभौमादिषु श्रुता ।

'परप्रेमेति' । अत्रायं प्रयोगः—आत्मा परमानन्दरूपः निरतिशयप्रेमविषयत्वात्, यः परमानन्दरूपो न भवति स निरतिशयप्रेमविषयो न भवति, यथा घटादिरिति केवलव्यतिरेकी परप्रेमास्पदत्वहेतोरात्मनः परमानन्दरूपतासाधने सामर्थ्यद्योतनाय प्रीतिवृद्धौ सुखवृद्धिमुदाहरति 'सुखवृद्धिरिति' । यतः सार्वभौमादिहिरण्यगर्भान्तेषु पदविशेषेषु यत्र यत्र प्रीतिर्वर्धते तत्र तत्र सुखाभिवृद्धिरस्तीति 'तैत्तिरीय-बृहदारण्यक' श्रुत्योरभिहितम् । अतः प्रीतेर्निरतिशयत्वे सत्यानन्दस्यापि निरतिशयत्वमवगन्तुं शक्यत इति भावः ॥७२॥

इस प्रकार आत्मा के निरतिशय प्रेम के विषय को हेतु पूर्वक साधकर अब फलितार्थ दिखाते हैं—

आत्मा प्रेम का परम विषय होने से परमानन्द रूप सिद्ध होता है, क्योंकि चक्रवर्ती राज्य आदि पदवियों में भी प्रीति की अभिवृद्धि देखी जाती है वहाँ पर सुख की भी अधिकता होती है, यह उपनिषदों में सुना जाता है ॥७२॥

आत्मा की सिद्धि में अनुमान देते हैं—आत्मा परमानन्द रूप है निरतिशय प्रेम का विषय होने के कारण जो वस्तु परमानन्द स्वरूप नहीं होती है वह निरतिशय प्रेम का विषय भी नहीं हो सकती है । जैसे घटादि पदार्थ उस परम प्रेमास्पदत्व रूप हेतु में आत्मा की परमानन्द रूपता सिद्ध करने का जो सामर्थ्य उसे द्योतित करने के लिए प्रीति की अभिवृद्धि में सुख की भी अधिकता होती है उसे दृष्टान्त देकर दिखाते हैं । जब कि सार्वभौमादि (चक्रवर्ती) से लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त पदों में जहाँ जहाँ पर प्रीति बढ़ती है, वहाँ-वहाँ पर सुख की अभिवृद्धि होती है यह तैत्तिरीय एवं बृहदारण्यक श्रुति में कहा है, इसलिए प्रीति निरतिशय होने से आत्मा का आनन्दरूप भी निरतिशय है यह जानना चाहिए ॥७२॥

नन्वात्मनः परमानन्दरूपत्वमनुपपन्नं, तथात्वे चैतन्यस्येव तत्स्वरूपभूतस्यानन्दस्यापि सर्वासु धीवृत्तिष्वनुवृत्तिः प्रसज्येतेति शङ्कते –

चैतन्यवत्सुखं चास्य स्वभावश्चेच्चिदात्मनः ।
धीवृत्तिष्वनुवर्तेत सर्वास्वपि चितिर्यथा ॥७३॥

अन्वयः—चिदात्मनः चैतन्यवत् च अस्य सुखं स्वभावश्चेत् सर्वासु धी वृत्तिषु चितिर्यथा अनुवर्तेत ।

'चैतन्यवदिति' ॥७३॥

चिदानन्दयोरुभयोरप्यात्मस्वरूपत्वेऽपि वृत्तिषु चित एवानुवृत्तिः नानन्दस्येति दृष्टान्तावष्टम्भेन परिहरति –

मैवमुष्णप्रकाशात्मा दीपस्तस्य प्रभा गृहे ।
व्याप्नोति नोष्णता तद्वच्चितेरेवानुवर्तनम् ॥७४॥

अन्वयः—मैवं उष्ण प्रकाशात्मा दीपः तस्य प्रभा गृहे व्याप्नोति उष्णता न तद्वत्चितेः एव अनुवर्तनम् ।

'मैवमिति' । यथोष्णप्रकाशात्मकस्य दीपस्य प्रकाश एव गृहादावनुगच्छति, नोष्णता, एवं चैतन्यस्यैवानुवृत्तिर्नानन्दस्येत्यर्थः ॥७४॥

वादी शंका करता है—आत्मा ही परमानन्दरूपता नहीं हो सकती उक्तरूप से अंगीकार करने पर तो चैतन्य की भाँति उसके स्वरूप भूत आनन्द की भी समस्त बुद्धि वृत्तियों में अनुवृत्ति का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा इस शंका पर कहते हैं —

चैतन्य की तरह चिदात्मा का यदि सुखरूप स्वभाव है तो उस सुख की भी चिति अर्थात् चित् की तरह सम्पूर्ण बुद्धिगत वृत्तियों में अनुवर्तन (आना) हो जायेगा इससे आत्मा परमानन्द नहीं हो सकता ॥७३॥

चैतन्य और आनन्द इन दोनों में आत्म स्वरूपत्व होने पर भी बुद्धिगत वृत्तियों में चित् की ही अनुवृत्ति होती है आनन्द का नहीं, इस प्रकार दृष्टान्त के आधार से परिहार करते हैं—

ऐसी शंका मत करो क्योकि उष्ण और प्रकाश युक्त दीपक गृह में सम्पूर्णतया व्याप्त हो जाता है । परन्तु उष्णता व्याप्त नहीं होती है वैसे ही बुद्धिगत वृत्तियों में चैतन्य की ही अनुवृत्ति होती है आनन्द की नहीं ॥७४॥

जैसे ऊष्ण प्रकाशरूप दीपक का प्रकाश गृहादि में बाहर एवं भीतर व्याप्त होकर रहता है । ऊष्णता नहीं व्याप्त रहती है उसी प्रकार बुद्धि की वृत्तियों में चैतन्य की ही अनुवृत्ति रहती है आनन्द का नहीं होता ॥७४॥

ननु चिदानन्दयोरभेदे चिदभिव्यञ्जकधीवृत्तावेवानन्दाभिव्यक्तिरपि स्यादित्याशङ्क्य, तथा नियमाभावे दृष्टान्तमाह—

गन्धरूपरसस्पर्शेष्वपि सत्सु यथा पृथक् ।
एकाक्षेणैक एवार्थो गृह्यते नेतरस्तथा ॥७५॥

अन्वयः—गन्धरूपरसस्पर्शेषु सत्सु अपि यथा एकाक्षेण एक एवार्थः पृथक् अपि गृह्यते तथा इतरः न ।

'गन्धेति' । यथैकद्रव्यवर्तिनां गन्धादीनां चतुर्णां मध्ये घ्राणादिना एकेनेन्द्रियेण गन्धादिरेक एव गुणो गृह्यते, नेतरस्तथा चिदानन्दयोर्मध्ये चित एवावभासनमित्यर्थः ॥७५॥

दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यं शङ्कते—

चिदानन्दौ नैव भिन्नौ गन्धाद्यास्तु विलक्षणाः ।
इति चेत्तदभेदोऽपि साक्षिण्यन्यत्र वा वद ॥७६॥

अन्वयः—चिदानन्दौ भिन्नौ नैव गन्धाद्यास्तु विलक्षणाः इति चेत् तदभेदोऽपि साक्षिणि-अन्यत्र वा वद ।

'चिदानन्दाविति' । विलक्षणाः भिन्ना इत्यर्थः । उक्तवैषम्यं परिहर्तुं दार्ष्टान्तिके चिदानन्दयोरभेदः किं स्वाभाविक उत औपाधिकः ? इति विकल्पयति—'तदभेद इति' । तदभेदस्तयोश्चिदानन्दयोरभेद ऐक्यं साक्षिण्यात्मस्वरूपे वाऽन्यत्र तदुपाधिभूतासु वृत्तिषु वेत्यर्थः ॥७६॥

शंका करो चित और आनन्द ये दोनों एक ही हैं इससे चैतन्यकी अभिव्यञ्जक (बोधक) जो बुद्धि की वृत्ति हैं उसमें आनन्दकी भी प्रकटता हो जायेगी इस शंकाका ऐसा नियम न होने में दृष्टान्त देते हैं—

जिस प्रकार एक ही द्रव्य में गन्ध, रूप, रस और स्पर्श आदि के रहने पर भी भिन्न रूप से एक विषय का ही ग्रहण होता है, किसी अन्य का नहीं होता, उसी प्रकार चैतन्य और आनन्द में से चैतन्य का ही बोधक होता है । आनन्द का नहीं होता ॥७५॥

जैसे किसी द्रव्य में गन्ध, रूप, रस और स्पर्श रहते हुए भी इन चारों में से घ्राणादि किसी एक इन्द्रिय द्वारा एक गन्धादि गुणकाही ग्रहण होता है, अन्य किसीभी द्रव्य का नहीं होता वैसे ही चैतन्य और आनन्द के मध्य में से चित् रूप का ही अवभासन (भान) होता है आनन्द का नहीं होता है ॥७५॥

अब दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों में वैषम्य की शंका करते हैं—

चिद्रूप और आनन्द ये दोनों पृथक्-पृथक् नहीं है, परन्तु अभिन्न है और गन्धादि द्रव्यों में तो परस्पर विलक्षणता की बात है उन दोनों की अभिन्नता साक्षी में है या अन्यत्र है यह कहो ॥७६॥

चिदात्मा और आनन्द इन दोनों में वैलक्षण्य है । उक्त विषमता को दूर करने के लिए दार्ष्टान्तिक में चिदात्मा का और आनन्द का अभेद स्वाभाविक है । अथवा औपाधिक है ? इस प्रकार विकल्प करते हैं—चिदात्मा और आनन्द की अभिन्नता साक्षिरूप आत्मा में है अथवा साक्षिरूप आत्मा की उपाधिभूत बुद्धिगत वृत्तियों में है ॥७६॥

प्रथमे पक्षे दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोः साम्यमाह—

आद्येगन्धादयोऽप्येवमभिन्नाः पुष्पवर्तिनः ।
अक्षभेदेन तद्भेदे वृत्तिभेदात्तयोर्भिदा ।।७७।।

अन्वयः—आद्ये गन्धादयोऽपि एवं पुष्पवर्तिनः अभिन्नाः अक्षभेदेन तद्भेदे वृत्तिभेदात् तयोः भिदा ।

'आद्य इति' । आद्ये चिदानन्दयोः साक्षिणि भेदाभावपक्षे पुष्पवर्तिनो गन्धादयोऽपि एवं चिदानन्दवदेवाभिन्नाः परस्परं भेदरहिता इतरपरिहारेणैकस्यानेतुमशक्यत्वादिति भावः द्वितीयपक्षेऽपि साम्यमाह —अक्षेति' । अक्षाणां गन्धादिग्राहकाणां घ्राणादीन्द्रियाणां भेदेन तद्भेदे तेषां गन्धादीनां भेदाभ्युपगमे तद्वदेव वृत्तिभेदाच्चिदानन्दाभिव्यक्तिहेतूनां राजससात्त्विकवृत्तीनां भेदात्तयोश्चिदानदयोर्भिदा भेदो भविष्यतीयर्थः ।।७७।।

प्रथम पक्ष में आत्मा में अभेद पर तो दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में समानता हो जायेगी इस पर कहते हैं—

प्रथम पक्ष मानते हो तो गन्धादि भी पुष्प में अभिन्न है । जिस प्रकार गन्धादि का भेद इन्द्रियों के भेद से ज्ञात होता है उसी प्रकार चिदात्मा और आनन्द का भेद भी वृत्तियों के भेद द्वारा जाना जा सकता है ।।७७।।

चैतन्य और आनन्द दोनों के साक्षी में अभेद भाव है इस प्रकार प्रथम पक्ष में पुष्पगत गन्धादि भी चैतन्य और आनन्द की तरह परस्पर भेद रहित है । क्योंकि एक को छोड़कर दूसरे का ग्रहण करना सम्भव नहीं हो सकता है । द्वितीय पक्ष में भी समानता देते हैं, गन्ध आदि को ग्रहण करने वाली घ्राण आदि इन्द्रियों के भेद को लेकर गन्धादिकों का भेद अंगीकार कर लेने पर वैसे ही बुद्धिगत वृत्तियों का भेद से चिदानन्द के अभिव्यञ्जक राजस तामस सात्त्विक वृतियों के भेद से चैतन्य और आनन्द दोनों का भेद सिद्ध हो जायेगा ।।७७।।

ननु तर्हि चिदानन्दयोरैक्यं कुत्रोपलभ्यत इत्याशङ्क्याह—

सत्त्ववृत्तौ चित्सुखैक्यं तद्वृत्तेर्निर्मलत्वतः ।
रजोवृत्तेस्तु मालिन्यात्सुखांशोऽत्र तिरस्कृतः ॥७८॥

अन्वयः—सत्त्ववृत्तौ चित्सुखैक्यं तद्वृत्तेः निर्मलत्वतः मालिन्यात्तु वृत्तेः अत्र सुखांशः तिरस्कृतः ।

'सत्त्ववृत्ताविति । सत्त्ववृत्तौ शुभकर्मोपस्थापितायां सत्त्वगुणपरिणामरूपायां बुद्धिवृत्तौ चित्सुखैक्यं चिदानन्दयोरैक्यं भासत इति शेषः । तत्रोपपत्तिमाह –'तद्वृत्तेरिति' कुतस्तर्हि भेदोऽवभासत इत्यत आह – रजोवृत्तेरिति' ॥७८॥

शंका अच्छा तो चिद्रूप और आनन्द की एकरूपता कहाँ देखी गई है ? इसका उत्तर देते हैं—

सतोगुण की वृत्तियों में चैतन्य और आनन्द की एकरूपता भासित होती है क्योंकि वह सतोगुण की वृत्ति निर्मल होती है और रजोगुण की वृत्ति मलिन है इसलिए उसमें विद्यमान सुखांश तिरोहित ह जाता है ॥७८॥

सत्त्ववृत्ति अर्थात् शुभ कर्मों से उदित सत्त्व गुण की परिणाम रूप बुद्धि वृत्ति में चिदात्मा और आनन्द की एकता भासित होती है । इस विषय में उपपत्ति दिखाते हैं सतोगुण की वृत्ति निर्मल है इसलिए चिदात्मा और आनन्द में अभिन्नता प्रतीत होती है । क्योंकि फिर भेद अवभासित होता है ? उत्तर रजोगुण की वृत्ति मलिन प्रधान होने के कारण आनन्द का सुखांश तिरस्कृत हो जाता है इसलिए केवल चैतन्य का भान होता है आनन्द का नहीं हो पाता है ॥७८॥

विशेष—१ आत्मा नाम अपने स्वरूप का है मैं नहीं हूँ । यह किसी को प्रतीत होता नहीं, मैं हूँ यह सबको प्रतीत होता है यह सामान्य ज्ञान सबको है विशेष चैतन्य आनन्द व्यापक नित्य शुद्ध नित्य मुक्त रूप सबको प्रतीत नहीं यह अनुभव सिद्ध है ।

विद्यमानस्यापि सुखांशस्य तिरस्कारे दृष्टान्तमाह—

तिन्तिणीफलमत्यम्लं लवणेन युतं यदा ।
तदाम्लस्य तिरस्कारादीषदम्लं यथा तथा ॥७६॥

अन्वय :—अत्यम्लं तिन्तिणीफलं यदा लवणेन युतं तदा अम्लस्य तिरस्कारात् यथा ईषदम्लं तथा :

'तिन्तिणीति' । यथा तिन्तिणीफले लवणयोगादत्यम्लत्वं तिरोहितं तद्वद्रजोवृत्तावानन्दस्य तिरोभाव इत्यर्थः ॥७६॥

गूढाभिसंधिं शङ्कते

ननु प्रियतमत्वेन परमानन्दतात्मनि ।
विवेक्तुं शक्यतामेवं विना योगेन किं भवेत् ? ॥८०॥

अन्वय :—ननु प्रियतमत्वेन परमानन्दतां आत्मनि एवं विवेक्तुं शक्यत योगेन बिना किं भवेत् ।

'नन्विति' । ननूक्तेन प्रकारेणात्मनः परमानन्दरूपत्वं परप्रेमास्पदत्वहेतुना गौणमिथ्यात्मरूपेभ्यः प्रियोपेक्ष्यद्वेष्येभ्यो विवेक्तुं निश्चित्य ज्ञातुं शक्यतां नाम, तथापि नायं विवेको मुक्तिसाधनमपरोक्षज्ञानद्वारा मुक्तिहेतोर्योगस्याभिधानादिति गूढोऽभिसंधिः ॥८०॥

विद्यमान सुखांश के तिरोहित हो जाने में दृष्टान्त देते हैं -

जैसे अत्यन्त खट्टा इमली का फल जब नमक से संयुक्त होता है तब खट्टापन का तिरोधान हो जाता है और उसमें सामान्य सा खट्टापन रह जाता है, वैसे ही रजोगुण की वृत्ति से आनन्द अंश का तिरोधान हो जाता है । ७६॥

'जैसे इमली के फल में लवण मिलाने से उसकी अत्यन्त अम्लता कुछ मात्रा में कम हो जाती है वैसे ही रजोगुण वृत्ति के कारण आनन्द अंश का तिरोभाव हो जाता है ॥७६॥

पूर्वपक्षी के गूढ विचार को लेकर शंका करते हैं—

शंका - यह है कि आत्मा की परमानन्दरूपता परमप्रीति का विषय रूप होने से गौणात्मा और मिथ्यात्मा के विवेक द्वारा जानने के लिए समर्थ हो तो भी योग के बिना क्या हो सकती है ? ॥८०॥

शंका करते हैं कि आत्मा निरतिशय परमप्रीति का आस्पद रूप हेतु से गौणात्मा और मिथ्यात्मा से विवेक द्वारा जो प्रिय उपेक्ष द्वेष्यरूप उनसे पृथक् जानने योग्य है तो भी यह विवेक मुक्ति का साधन नहीं है, किन्तु अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा मुक्ति का हेतु योग कहा है, यही गूढ़ आशय है ॥८०॥

गूढाभिसंधिरेवोत्तरमाह—

यद्योगेन तदेवेति वदामो ज्ञानसिद्धये ।
योगः प्रोक्तो विवेकेन ज्ञानं किं नोपजायते ? ॥८१॥

अन्वयः—यत्‌योगेन एति तदेव ज्ञानसिद्धये वदामः विवेकेन योगः प्रोक्तः ज्ञानं किं न उपजायते ।

'यद्योगेनेति' । यथा योगस्यापरोक्षज्ञानहेतुत्वमस्ति, एवं विवेकस्यापीत्यत्रापि गूढोऽभिसंधिः । इदानीं चोद्यपरिहारयोरुभयोरभिसंधिं प्रकटयति -- ज्ञानेति' । यथा परोक्षज्ञानसाधनत्वेन योगोऽभिहितः पूर्वस्मिन्नध्याये, एवमस्मिन्नध्यायेऽभिहितेन गौणाद्यात्मत्वविवेकद्वारा कोशपञ्चकविवेकेनापि ज्ञानमुत्पद्यत एवेत्यर्थः ॥८१॥

तत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
इति स्मृतं फलैकत्वं योगिनां च विवेकिनाम् ॥८२॥

अन्वयः—यत् सांख्यैः स्थानं प्राप्यते तत् योगैरपि गम्यते इति फलैकत्वं योगिनां विवेकिनां च स्मृतम् ।

'यत्सांख्यैरिति' । सांख्यैरात्मनात्मविवेकिभिर्यत्स्थानं मोक्षरूपं प्राप्यते गम्यते तद्योगैर्योगिभिरपि गम्यते प्राप्यत इत्यनेन योगिनां विवेकिनां च फलैकत्वं ज्ञानद्वारा मोक्षलक्षणफलस्यैकत्वमुक्तमित्यर्थः ॥८२॥

अब गूढ़ विचार को लेकर उत्तर देते हैं—

जो योग के द्वारा मुक्ति मिलती है, वही मुक्ति विवेक ज्ञान से भी तो प्राप्त हो सकती है इस प्रकार हम कहते हैं कि ज्ञान की सिद्धि के लिए योग को कहा है उसी प्रकार विवेक ज्ञान से अपरोक्ष रूप ज्ञान क्यों नहीं हो सकता है ।८१।

जैसे योग अपरोक्ष ज्ञान में हेतुरूप है, इस प्रकार विवेक ज्ञान द्वारा भी अपरोक्ष ज्ञान हो सकता है यह हमारा गूढ़ विचार है । दोनों आक्षेपों को शंका-समाधान के विचारों को दिखाते हैं । योगानन्द प्रकरण में अपरोक्ष ज्ञान की सिद्धि के लिए योगरूप साधन को मुक्ति का हेतु रूप दिखाया है । इसी प्रकार इस अध्याय में कहा जो गौण आदि आत्माओं के विवेक ज्ञान द्वारा पञ्चकोशों के विवेक ज्ञान से क्या अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है अर्थात् प्राप्त हो सकता है ।८१॥

इस विषय में क्या प्रमाण है ? इसका उत्तर देते हैं – गीता ५-५

जिस स्थान को सांख्य प्राप्त करते हैं, उसी स्थान को कर्म योगी भी प्राप्त करते हैं । अतएव सांख्य और योग को जो एकरूप देखता है वही सम्यक् दर्शी है । २॥

आत्मा एवं अनात्मा के विवेक करने वाले पुरुषों के द्वारा जो मोक्षरूप परमपद प्राप्त होता है । वही मोक्षरूप परमपद योगियों को योग द्वारा प्राप्त होता है । इससे योगियों और ज्ञानियों के लिए विवेक ज्ञान द्वारा प्राप्त मोक्षरूप फल की एकता कही गयी है ॥८२॥

ननु विवेक-योगयोरेकमेव चेत्फलं तर्ह्यनयोरन्यतरस्यैव युक्तं शास्त्रेषु प्रतिपादनं नोभयोरित्याशङ्क्य, अधिकारिवैचित्र्यादुक्तमुभयोः प्रतिपादनमित्यभिप्रायेणाह—

असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः ।
इत्थं विचार्य मार्गौ द्वौ जगाद परमेश्वरः ॥८३॥

अन्वय :—कस्यचिद् योगः असाध्यः कस्यचित् ज्ञाननिश्चयः इत्थं विचार्य परमेश्वरः द्वौ मार्गौ जगाद ।

'असाध्य इति' ॥८३॥

यदि शंका करो कि विवेक ज्ञान एवं योग का एक ही फल है तो दोनों में से किसी एक का ही विवेचन शास्त्रों में करना ठीक था । दोनों का नहीं ऐसी शंका कर कहते हैं अधिकारी[1] के भेद से दोनों का विवेचन युक्तियुक्त ही सिद्ध होता है -

किसी अधिकारी के लिए योग असाध्य है तो किसी के लिए विवेक ज्ञान प्राप्त करना कठिन है । इस प्रकार विचार करके परमेश्वर ने भिन्न-भिन्न मार्गों का उपदेश दिया है ॥८३॥

विशेष—१ अधिकारी की विचित्रता (१) सांख्य विवेक और योग विवेक (२) सांख्य = केवल प्रकृति ही जगत् का कारण है ईश्वर नहीं, वह प्रकृति नित्य है और आत्मा नाना है इतना अंश सांख्य शास्त्र में श्रुति से विरुद्ध है ।

(२) योग विवेक ईश्वर तटस्थ है (जगत् से भिन्न स्थिति है) और प्रधान नित्य है और जीव वास्तव में नाना है इतना अंश योगशास्त्र में श्रुति से विरुद्ध है ।

नन्वत्यन्तायाससाध्यस्य योगस्य निरायाससुलभाद्विवेकादतिशयो वक्तव्य इत्याशङ्क्य, सोऽतिशयः किमपरोक्षज्ञानजनकत्वादुच्यते, उत रागद्वेषादिनिवृत्तिहेतुत्वात्, अथवा द्वैतानुपलब्धिकारणत्वात् ? इति विकल्प्य, प्रथमपक्षे फलसाम्यमित्याह—

योगे कोऽतिशयस्तेऽत्र ज्ञानमुक्तं समं द्वयोः ।
रागद्वेषाद्यभावश्च तुल्यो योगिविवेकिनोः ।।८४।।

अन्वय : –द्वयोः ज्ञानं समं उक्तं योगे अत्र ते का अतिशयः योगिविवेकिनोः राग द्वेषाद्यभावश्च तुल्यः ।

'योग इति' । द्वयोर्विवेकयोगयोरुभयोरपि ज्ञानलक्षणं फलं सममुक्तं 'यत्सांख्यैः' इत्यादिना, अतस्तव योगे कोऽतिशयः ? न कोऽपीत्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह—'रागद्वेषेति' ।।८४।।

अब शंका करते हैं कि अत्यन्त परिश्रम से प्राप्त करने योग्य योग में उससे बिना परिश्रम अनायास सुलभ जो विवेक उसे अधिकता चाहिए ऐसी शंका करके क्या वह अतिशय अपरोक्षज्ञान का जनक है अथवा रागद्वेषादि का निवृत्तिरूप हेतु है अथवा द्वैत की अनुपलब्धि का कारण है । यह विकल्प कर प्रथम पक्ष में फल की समानता कहते हैं—

विवेक और योग दोनों का अपरोक्ष रूप फल समान कहा गया है, इसलिए इन दोनों में योग में कौन-सा अतिशय है ? क्योंकि राग द्वेषादि के अभावरूप फल तो योगी और विवेकी ज्ञानी के समान ही है ।।८४।।

विवेक और योग दोनों का अपरोक्ष ज्ञान रूप फल तो "यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते" में समान ही दिखाया गया है । इसलिए विवेकज्ञान और योग के मध्य में तुम्हारे अभिमत योग में कौन सा अतिशय है, अर्थात् कोई भी अतिशय नहीं द्वितीय पक्ष कहते हैं कि रागद्वेषादि की निवृत्ति रूप हेतु होने से योग में अतिशय हो सकता है, यह बात भी नहीं क्योंकि रागद्वेषादि की निवृत्ति रूप फल भी विवेकी और ज्ञानी के लिए समान ही है, न्यूनाधिक नहीं है ।।८४।।

विवेकिनो रागाद्यभावमुपपादयति—

न प्रीतिर्विषयेष्वस्ति प्रेयानात्मेति जानतः ।
कुतो रागः कुतो द्वेषः प्रातिकूल्यमपश्यतः ॥८५॥

अन्वय :—आत्मा प्रेयान् इति जानतः विषयेषु प्रीतिः नास्ति प्रातिकूल्यं अपश्यतः कुतो रागः कुतो द्वेषः ।

'न प्रीतिरिति' । आत्मा प्रेयानिति आत्मा प्रियतम इति जानतः पुरुषस्य न तावद्विषयेषु प्रीति-रस्ति' अतो न तेषु रागो जायते रागहेतोरानुकूल्यज्ञानस्याभावात्, नापि द्वेषः, तद्धेतोः प्रातिकूल्यज्ञानस्या-भावादित्यर्थः । ८५॥

विवेकी में रागादि का अभाव दिखाते हैं—

आत्मा ही अत्यन्त प्रीति का विषय है ऐसा जानने वाले विवेकी जन को विषयों में प्रेम नहीं होता है, इसलिए राग कहाँ से होगा, किसी में प्रतिकूल न देखने वाले को द्वेष कहाँ से होगा ॥८५॥

आत्मा प्रियतम है, ऐसा जानने वाले पुरुष की विषयों में प्रीति नहीं होती है । इसलिए विषय पदार्थों में राग उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि राग के हेतु तो अनुकूलता का ज्ञान किसी भी वस्तु में नहीं है और न तो द्वेष ही होता है क्योंकि द्वेष का हेतु प्रतिकूलता का ज्ञान किसी भी वस्तु में नहीं होता है[1] ॥८५॥

विशेष—१ अज्ञान भेद ज्ञान का कारण है और भेद ज्ञान का अनुकूल ज्ञान और प्रतिकूलज्ञान क्रम से राग द्वेष का कारण है । विचार जनित अपरोक्ष ज्ञानवान् को जिससे ज्ञान करके अज्ञान निवृत हो गया है । इससे भेद ज्ञान और उसके कार्य अनुकूलज्ञान प्रतिकूलज्ञान का अभाव है इससे राग द्वेष का अभाव है यह आशय है ।

ननु विवेकिनो व्यवहारदशायां देहाद्युपद्रवकारिषु द्वेषो दृश्यत इत्याशङ्क्य, तदा योगविवेकिनोः स तुल्य इति परिहरति—

देहादेः प्रतिकूलेषु द्वेषस्तुल्यो द्वयोरपि ।
द्वेषं कुर्वन्न योगी चेदविवेक्यपि तादृशः ॥८६॥

अन्वय :—देहादेः प्रतिकूलेषु द्वेषः द्वयोः अपि तुल्यः द्वेषं कुर्वन् योगी न चेत् विवेकी अपि तादृशः ।

'देहादेरिति' । प्रतिकूलेषु वृश्चिकादिषु द्वेषकर्तुस्तदा योगित्वमेव नाभ्युपगम्यते चेद्भवता, तर्हि तादृशस्य विवेकित्वमपि नाभ्युपगच्छाम इत्याह—'द्वेषमिति' । तादृशो द्वेषकर्ता चेदविवेक्यपि विवेकवानपि न भवतीत्यर्थः ॥८६॥

ननु विवेकिनो द्वैतदर्शनमस्ति, योगिनस्तु तन्नास्तीति तृतीये विकल्पे योगिनोऽतिशयो- भविष्यतीत्याशङ्क्य, विवेकिनस्तद् द्वैतदर्शनं किं व्यवहारदशायामुच्यते, उतान्यदा ? इति विकल्प्य, आद्ये तद्योगिनोऽपि समानमित्याह—

द्वैतस्य प्रतिभानं तु व्यवहारे द्वयोः समम् ।
समाधौ नेति चेत्तद्वन्नाद्वैतत्वविवेकिनः ॥८७॥

अन्वयः—व्यवहारे द्वयोः समम् द्वैतस्य प्रतिभानं तु समाधौ नेति चेत् अद्वैतत्वविवेकिनःतद्वत् न ।

'द्वैतस्येति' । द्वितीयमाशङ्कते—'समाधाविति' । योगिनः समाधिकाले द्वैतदर्शनं नास्तीत्यमुच्यते चेत्, चेदित्यध्याहारः, तर्हि विवेकिनोऽपिविवेकदशायां द्वैतादर्शनं तुल्यमिति परिहरति 'तद्वदिति' हे योगिनः समाधिदशायामिवाद्वैतत्वविवेकिन अद्वैततत्त्वमिति श्रुतियुक्तिभ्यां विवेचनं कुर्वतोऽपि तस्मिन्काले द्वैतदर्शनं नास्तीत्यर्थः ॥८७॥

शंका हो—विवेकी पुरुष को भी व्यवहार दशा में उपद्रव करने वाले देहादिकों में द्वेष देखा जाता है, ऐसी शंका कर, तब तो व्यवहार दशा में विवेकी और योगी का द्वेष समान ही है इस प्रकार परिहार करते हैं—

देहादि के प्रतिकूल वृश्चिकादि में द्वेष ज्ञानी और योगी के लिए समान ही है द्वेष करने वाले यदि योगी नहीं है तो वैसे ही द्वेष करने वाले विवेकी भी नहीं हैं ॥८६॥

शरीरादि के प्रतिकूल वृश्चिकादि में द्वेष करने वाले पुरुष को यदि योगी नहीं मानते हो तो उसी प्रकार द्वेष करने वाले विवेकी को भी हम नहीं मानते ॥८६॥

कदाचित् कहो विवेकी का द्वैतज्ञान है । किन्तु वह योगी में नहीं है, इस प्रकार पूर्वोक्त तृतीय विकल्प में योगी का अतिशय रहेगा ऐसी शंका कर विवेकी का द्वैतदर्शन क्या व्यवहार काल में करते हो इस प्रकार विकल्प करके प्रथम पक्ष में द्वैतदर्शन योगी के लिए भी समान है इस पर कहते हैं—

व्यवहार काल में द्वैत की प्रतीति तो विवेकी और योगी को समान ही होती है यदि समाधि दशा में योगी को द्वैत नहीं होता है तो उसी प्रकार अद्वैत दशा में विवेकी को भी द्वैत नहीं होता ॥८७॥

कथं तदभाव इत्याशङ्क्य, उपरितनेऽध्याये तदुपपादयिष्यत इत्याह—

विवक्ष्यते तदस्माभिरद्वैतानन्दनामके ।

अध्याये हि तृतीयेऽतः सर्वमप्यतिमङ्गलम् ॥८८॥

अन्वय : अद्वैतानन्द नामके तत् अस्माभिः तृतीये अध्याये हि अतः सर्वं अपि अतिमङ्गलं विवक्ष्यते ।

'विवक्ष्यत इति'। उक्तमर्थं निगमयति—'सर्वमपीति' ॥८८॥

ननु द्वैतादर्शनसहितात्मदर्शनवती योगित्वमेव भविष्यतीति शङ्कते -

सदा पश्यन्निजानन्दमपश्यन्निखिलं जगत् ।

अर्थाद्योगीति चेत्तर्हि संतुष्टो वर्धतां भवान् ॥८९॥

अन्वय : सदा निजानन्दं पश्यन् निखिलं जगत् अपश्यन् अर्थात् योगी चेत् तर्हि भवान् संतुष्टः वर्धतां ।

'सदा पश्यन्निति'। इष्टापत्त्या परिहरति—'तर्हीति' ॥८९॥

व्यवहार दशा में विवेकी और योगी दोनों को प्रतिभान तो एक सा होता है यह शंका है कि समाधिकाल में योगी को द्वैत दर्शन नहीं होता है। यदि ऐसी बात है तो उसी प्रकार विवेकी को विवेक दशा में द्वैतदर्शन नहीं होता है, समाधि दशा में योगी के लिए द्वैतदर्शन के अभाव की भांति अद्वैत ही एक मात्र है। यह श्रुति युक्ति के द्वारा विवेचन करने वाले विवेकी पुरुष को उस काल में द्वैत दर्शन नहीं होता है इसलिए द्वैत का दर्शन अथवा अदर्शन से प्रयुक्त अतिशय योग में असम्भव ही है ॥८७॥

शंका—विवेकी पुरुष को द्वैत दर्शन का अभाव कैसे रहता है इसका समाधान अग्रिम अध्याय तेरह में किया जायेगा इस प्रकार कहते हैं--

हम लोग द्वैत दर्शन के अभाव को अद्वैतानन्द नामक तृतीय अध्याय में कहेंगे इसलिए पूर्वोक्त अर्थ का सब मङ्गलप्रद ही है ॥८८॥

अच्छा तो, द्वैतादर्शनपूर्वक आत्मदर्शन वाले योगी का ही यह सम्भव हो सकता है, इस प्रकार की शंका करते हैं --

शंका करो तो निजानन्द को देखता हुआ यह सम्पूर्ण जगत् को न देखने वाला पुरुष वस्तुतः योगी ही है, यदि ऐसा मानते हो तो इसी से सन्तुष्ट होकर परमेश्वर आपकी वृद्धि करे, यह हमको इष्ट है ॥८९॥

अध्यायतात्पर्यं संक्षिप्य दर्शयति—

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे मन्दानुग्रहसिद्धये ।
द्वितीयाध्याय एतस्मिन्नात्मानन्दो विवेचितः ॥९०॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकृतपञ्चदश्यां ब्रह्मानन्दे आत्मानन्दो नाम द्वादशं प्रकरणं समाप्तम् ॥१२॥

ब्रह्मानन्दे आत्मानन्दो नाम द्वितीयोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥२॥

अन्वयः—ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे मन्दानुग्रहसिद्धये एतस्मिन् द्वितीयाध्याये आत्मानन्दः विवेचितः । 'ब्रह्मानन्देति' ॥९०॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकिङ्करेण श्रीरामकृष्णाख्य-विदुषा विरचिते ब्रह्मानन्दे आत्मानन्दो नाम द्वादशं प्रकरणम् ॥१२॥

अब प्रस्तुत अध्याय का तात्पर्यार्थ संक्षेप में दिखाते हैं—

ब्रह्मानन्द नामक दूसरे अध्याय में मन्दबुद्धि जिज्ञासुओं पर अनुग्रह के लिए इसमें आत्मानन्द का विवेचन हुआ ॥९०॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यस्वामिश्रीकरपात्रशिष्य
श्री श्री डॉ० लक्ष्मणचैतन्यब्रह्मचारिविरचितलक्ष्मणचन्द्रिकाख्ये पञ्चदशीहिन्दीव्याख्याने
ब्रह्मानन्दे आत्मानन्दनाम द्वादशं प्रकरणं समाप्तम् ।

ब्रह्मानन्दे अद्वैतानन्दप्रकरणम्

ननु आनन्दस्त्रिविधो ब्रह्मानन्दो विद्यासुखं तथा विषयानन्द इति प्रथमाध्याये आनन्दत्रयमेव प्रतिज्ञाय, द्वितीयाध्याये तदतिरिक्तात्मानन्दनिरूपणात्तद्विरोधो जायत इत्याशङ्क्याह—

योगानन्दः पुरोक्तो यः स आत्मानन्द इष्यताम् ।
कथं ब्रह्मत्वमेतस्य सद्वयस्येति चेच्छृणु ॥१॥

अन्वयः—यः योगानन्दः पुरा उक्तः स आत्मानन्दः इष्यताम् सद्वयस्य एतस्य ब्रह्मत्वं कथं इति चेत् शृणु ।

'योगानन्द इति'। यथा प्रतिज्ञातस्यैव ब्रह्मानन्दस्य योगजन्यसाक्षात्कारविषयत्वेन योगानन्दत्वं निरुपाधिकत्वेन निजानन्दत्वं च व्यवहृतं तथा तस्यैव गौण-मिथ्या-मुख्यात्मविवेचनेनावगम्यत्वविवक्षयाऽऽत्मानन्दत्वमभिहितमिति भावः। ननु सजातीयाद्गौणात्मनः पुत्रभार्यादेः मिथ्यात्मनो देहादेर्विजातीयादाकाशादेश्च विभिन्नस्य सद्वयस्यात्मानन्दस्य प्रथमाध्यायोक्ताऽद्वितीययोगानन्दरूपता न संभवतीति शङ्कते—'कथमिति'। सजातीयत्वेनाभिमतस्य गौणात्मनः पुत्रादेर्मिथ्यात्मनो देहादेश्च तैत्तिरीयश्रुत्यभिहितजगदन्तःपातित्वादाकाशादेश्च जगत आत्मानन्दातिरेकेणासत्त्वाच्चाद्वितीयब्रह्मरूपता तस्य घटत इति सबहुमानमुत्तरमाह—'शृण्विति' ॥१॥

शंका—ब्रह्मानन्द, विद्यानन्द और विषयानन्द के भेद से आनन्द तीन प्रकार का है, इस प्रकार प्रथम (योगानन्द) अध्याय में तीन प्रकार के आनन्द की प्रतिज्ञा करके दूसरे अध्याय में उन सब से अतिरिक्त आत्मानन्द का निरूपण करने के कारण उक्त प्रतिज्ञा से विरोध होता है ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—

जो योगानन्द पूर्व में कहा गया है वह आत्मानन्द है ऐसा जानो किन्तु वह सद्वय अनेक रूप हुआ अद्वैत ब्रह्मानन्द कैसे हो सकता है ? यदि यह बात है तो उत्तर सुनो ॥१॥

जिस प्रकार प्रतिज्ञा किये हुए ब्रह्मानन्द के योग जन्य साक्षात्कार विषय होने से योगानन्द रूप है और निरुपाधिक होने के कारण निजानन्द से व्यवहार किया गया है उसी प्रकार गौणात्मा मिथ्यात्मा और मुख्यात्मा के विवेक रूप उपाय द्वारा जानने योग्य होने के कारण ब्रह्मानन्द ही आत्मानन्द कहा गया है। जो सजातीय गौणात्मा पुत्रादिरूप है और मिथ्यात्मा देहादिरूप है एवं विजातीय आकाशादिरूप है, वह सब भेद युक्त होने के कारण सद्वय आत्मानन्द की प्रथम अध्याय में कही हुई अद्वितीय योगानन्दरूपता बन सकती, इस प्रकार की शंका करते हैं सजातीय रूप से अभिमत पुत्रादि की गौणात्मा और देहादि नहीं की मिथ्यात्मा तथा तैत्तिरीय श्रुति में कथित आकाशादि जगत् के अन्तर्गत होने के कारण जगत् से आत्मानन्द अतिरिक्त नहीं है इसलिए आत्मानन्द की ब्रह्मानन्दरूपता घट सकती है ॥१॥

आकाशादिस्वदेहान्तं तैत्तिरीयश्रुतीरितम् ।
जगन्नास्त्यन्यदानन्दादद्वैतब्रह्मता ततः ॥२॥

अन्वयः - आकाशादिस्वदेहान्तंतैत्तिरीय श्रुतीरितम् ततः जगत् आनन्दात् अद्वैत ब्रह्मता अन्यत् नास्ति ।

'आकाशादीति' । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्यादिकया 'तैत्तिरीय' श्रुत्याभिहितं जगत्स्वकारणभूतादात्मानन्दद्यतः अन्यत्पृथक् नास्ति, अतःकारणात्तस्यात्मानन्दस्याद्वितीयत्वमित्यभिप्रायः ॥२॥

ननूदाहृतश्रुतिवाक्ये आत्मनः कारणत्वं श्रूयते नानन्दस्येत्याशङ्क्य, तत्प्रतिपादकं तदीयमेव आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते (तै० ३।६) इत्यादिवाक्यमर्थतः पठति—

आनन्दादेव तज्जातं तिष्ठत्यानन्द एव तत् ।
आनन्द एव लीनं चेत्युक्तानन्दात्कथं पृथक् ॥३॥

अन्वयः—आनन्दादेव तत् जातं तत् आनन्द एव तिष्ठति आनन्द एव लीनं च इति उक्तानन्दात् पृथक् कथं ।

'आनन्दादेवेति' । व्याख्यातम् । फलितमाह 'इत्युक्तेति' । अत्रेदमनुमानं सूचितम्— विमतं जगदानन्दान्न भिद्यते, तत्कार्यत्वात्, यद्यत्कार्यं तत्ततो न भिद्यते, यथा मृत्कार्यं घटादि मृदो न भिद्यत इति ॥३॥

तैत्तिरीय उपनिषद में कहा आकाशादि से लेकर स्वदेह पर्यन्त जगत् आनन्द से अतिरिक्त नहीं है, इसी से आत्मानन्द अद्वैत ब्रह्मरूप ही है ॥२॥

'तस्माद्वा एतस्मा०' इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति में कहे हुए आकाशादि पञ्चमहाभूतों से लेकर अपने शरीर पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् अपने कारण भूत आत्मानन्द से भिन्न नहीं है । इसलिए उस आत्मानन्द की अद्वितीय ब्रह्मरूपता बन सकती है ।२॥

यदि शंका हो तो पूर्वोक्त श्रुति वाक्य में आत्मा को कारण कहा है । आनन्द को नहीं, ऐसी शंका करके आनन्द के प्रतिपादन करने वाले उसी तैत्तिरीय श्रुति वाक्य का अर्थतः पाठ करते हैं—

आनन्दरूप आत्मा से ही यह सारा जगत् भूत भौतिक कार्य वर्ग उत्पन्न हुआ है आनन्द में ही वह उपस्थित रहता है और आनन्द में ही विलीन हो जाता है इस प्रकार श्रुति में कथित आनन्द से पृथक् यह जगत् कैसे हो सकता है ॥३॥

यह सारा का सारा जगत् रूप प्रपञ्च आनन्द से ही उत्पन्न होता है । और आनन्दरूप ब्रह्म में ही स्थित रहता है तथा आनन्द स्वरूप में प्रलीन भी हो जाता है 'आनन्दाद्ध्येव०' इस तैत्तिरीय श्रुति के वाक्य से उक्त जगत् के कारण आत्मानन्द से यह कार्यरूप जगत् भिन्न नहीं है । इस विषय में अनुमान प्रमाण देते हैं, विवाद का विषय जगत् आनन्द से भिन्न नहीं है । वह आनन्द का कार्य है जो जिसका कार्य होता है वह उससे भिन्न नहीं होता है । जैसे मृत्तिका का कार्य घटादि, मृत्तिकासे भिन्न नहीं होता है ॥३॥

कुलालादुत्पन्नस्य घटस्य ततो भेददर्शनादनैकान्तिकता हेतोरित्याशङ्क्य, कुलालस्य निमित्ता-कारणत्वादिह चानन्दस्योपादानत्वसमर्थनान्मैवमित्याह—

कुलालाद्घट उत्पन्नो भिन्नश्चेति न शङ्क्यताम् ।
मृद्वदेष उपादानं निमित्तं न कुलालवत् ॥४॥

अन्वय: कुलालाद्घट: उत्पन्न: भिन्नश्च इति न शङ्क्यताम् एष मृद्वत उपदानं कुलालवत्निमित्तं न ।

'कुलालादिति' । एष आत्मानन्द: मृद्वत् मृद्घटस्येव उपादानं कारणम्, कुलालवत् कुलाल इव निमित्तकारणं न भवति ॥४॥

ननु कुतो नोपादानत्वं कुलालस्यापीत्याशङ्क्य, स्थितिलयाधारत्वरूपोपादानत्वलक्षणाभावा-दित्याह—

स्थितिर्लयश्च कुम्भस्य कुलाले स्तो न हि क्वचित् ।
दृष्टौ तौ मृदि तद्वत्स्यादुपादानं तयो: श्रुते: ॥५॥

अन्वय: - हि कुम्भस्य स्थिति: लयश्च कुलाले क्वचित् न हि स्त: तौ मृदि दृष्टौ तदवत् श्रुते: तयो: उपादानं स्यात् ।

'स्थितिरिति' । हि यस्मात्कारणाद् घटस्य स्थिति—लयौ कुलालाधारौ न भवत: अतो नोपादानत्वमिति शेष: । कुत्र तर्हि ताविव्यत आह—'दृष्टाविति' । तौ घटस्य स्थिति–लयौ तदुपादानभूतायां मृद्यव दृष्टौ प्रत्यक्षेणोपलब्धौ । भवत्वेवं तत्र, प्रकृते किमायातमित्यत आह —'तद्वदिति' । यद्वद्घटस्य मृदुपादानं तद्वज्जगतोऽप्यानन्द उपादानं स्यात् । तत्र हेतु: 'तयोरिति' । तयोर्जगत्स्थिति–लययो: श्रुते: 'आनन्दाद्धयेव' (तै० ३।६) इत्यादिवाक्ये आनन्दहेतुकत्वश्रवणादित्यर्थ: ॥५॥

कुलाल से उत्पन्न हुआ घट कुलाल से भिन्न देखा जाता है इसलिए पूर्वोक्त अनुमान में जो हेतु है वह व्यभिचारी है कार्य अव्यतिरिक्त है । ऐसी शंका कर कहते हैं—घट के प्रति कुम्भकार निमित्त कारण है यहाँ तो आनन्दरूप ब्रह्म उपादान कारण है —

कुम्भकार से घटरूप कार्य उत्पन्न होकर भी इससे भिन्न नहीं है ऐसी शंका मत करो, यह आत्मानन्द भी घटरूप कार्य के प्रति मृत्तिका की भाँति जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है, कुम्भकार की तरह जगत् केप्रति निमित्त कारण आनन्द नहीं है ॥४॥

यह आत्मानन्द घटरूप कार्य के प्रति मृत्तिका की भाँति अभिन्न निमित्तपादान कारण है घट का कुम्भकार जगत् निमित्तकारण नहीं है । अत: आत्मानन्दरूप अभिन्न निमित्तोपादान कारण से जगतरूप काय भिन्न नहीं है ॥४॥

कदाचित् कहो—कुम्भकार उपादान कारण क्यों नहीं हो सकता है ? स्थिति-लय आधाररूप उपादान कारण कुम्भकार में नहीं रह सकता इस प्रकार कहते हैं —

घट की स्थिति और लय कभीभी कुम्भकारमें आश्रित होकर नहीं रहते हैं,उक्त दोनों मृत्तिका रूप आधारमें देखे गये हैं उसी प्रकार स्थित और लय का उपादान कारण आनन्दरूपब्रह्महै यह श्रुति सिद्ध है ॥५॥

आनन्दस्य स्वाभिमतं जगदुपादानत्वं वक्तुं तदवान्तरभेदमाह—

उपादानं त्रिधा भिन्नं विवर्ति परिणामि च ।
आरम्भकं च तत्रान्त्यौ न निरंशेऽवकाशिनौ ॥६॥

अन्वय :—उपादानं त्रिधा भिन्नं विवर्ति परिणामि च आरम्भकं च तत्र अन्त्यौ निरंशे अवकाशिनौ न ।

'उपादानमिति' : तत्र विवर्तं परिशेषयितुमितरौ पक्षौ दूषयति—'तत्रेति' अन्त्यौ आरम्भपरिणाम-पक्षौ निरंशे निरवयवे वस्तुनि नावकाशिनौ अवकाशवन्तौ न भवतः ॥६॥

जिस कारण से घट की स्थिति और लय ये दोनों कुम्भकार के आश्रित कभी भी नहीं होते, इसलिए कुम्भकार घट का उपादान कारण नहीं है । किन्तु घट की स्थिति और लय ये दोनों मृत्तिकारूप आश्रय में प्रत्यक्षरूप से उपलब्ध होते हैं – इसी कारण मिट्टी घट का उपादान कारण है । ठीक है, किन्तु प्रकृत में कौन सा प्रयोजन सिद्ध हुआ ।

उत्तर देते हैं—जैसे घट का उपादान कारण मिट्टी है उसी प्रकार आनन्दरूप ब्रह्म भी इस नाम रूपात्मक जगत् का उपादान कारण है इस विषय में हेतु देते हैं । जगत् की स्थिति और लय दोनों का उपादान कारण आत्मानन्द ही है क्योंकि 'आनन्दाद्ध्येव' इत्यादि श्रुति वाक्य से आनन्दरूप ब्रह्म जगत् के प्रति उपादान कारण सुना जाता है ॥५॥

अब आनन्द को अपने को इष्ट जगत् का उपादान कहने के लिए उपादान के अवान्तर भेद को कहते हैं—

उपादान कारण तीन प्रकार का है, विवर्ती, परिणामी और आरम्भक इनमें जो अन्त के परिणाम आरम्भक हैं, वे दोनों निरवयव में नहीं घट सकते हैं ॥६॥

विवर्ती, परिणामी और आरम्भक के भेद से उपादान कारण तीन प्रकार का है, इनमें से विवर्त उपादान कारण को छोड़कर अन्त के परिणाम आरम्भक हैं वे दोनों परिणामी और आरम्भकारणों में दोष यह है कि इन दोनों का निरंश निरवयव वस्तु (ब्रह्म) में अवकाश[1] नहीं होता है ॥६॥

विशेष—१ ब्रह्मतत्त्व सत्-घन-चित्घन-आनन्दघन ठोस है। अवकाश माया द्वारा प्रतीत होता है । आरम्भवाद को वैशेषिक (असत् कार्यवाद) नैयायिक माध्व ने मानते हैं । परिणामवाद को सांख्य (प्रकृति का परिणाम) रामानुजादि ब्रह्म का परिणाम और वेदान्त विवर्तवाद सत्, चित्, आनन्द ब्रह्म तत्त्व का विवर्त माया के द्वारा असत्-जड़ दुःखरूप से परिणाम-परिणाम दृष्टि में प्रपञ्च सत्यत्व सहित ब्रह्म का भान होता है । विवर्त दृष्टि में प्रपञ्च मिथ्यात्व सहित ब्रह्म का भान होता है । पूर्ण दृष्टि में केवल ब्रह्म का भान होता है । विवर्त दृष्टि में प्रपञ्च सत्यत्वका अपवाद होने पर भी केवल ब्रह्मका भान नहीं होता, यह प्रपञ्च ब्रह्मापेक्षया विवर्त-मायापेक्षा परिणाम उपादान विषमसत्ता अन्यथा भाव विवर्त = रज्जु में सर्प धारा माला भूछिद्र, उपादान समसत्ताक अन्यथाभाव परिणाम दूध का दही ।

तयोरनवकाशत्वमेव दर्शयितुं तावदारम्भवादिनो मतमनुवदति--

आरम्भवादिनोऽन्यस्मादन्यस्योत्पत्तिमूचिरे ।
तन्तोः पटस्य निष्पत्तेर्भिन्नौ तन्तुपटौ खलु ॥७॥

अन्वय :—आरम्भवादिनः अन्यस्मात् अन्यस्य उत्पत्तिं ऊचिरे तन्तोः पटस्य निष्पत्तेः (दर्शनात्) तन्तुपटौ खलु भिन्नौ ।

'आरम्भेति' । आरम्भवादिनो वैशेषिकादयः अन्यस्मात्कार्यापेक्षयाऽन्यस्मात्कारणादन्यस्य कारणापेक्षयाऽन्यस्य कार्यस्योत्पत्तिमूचिरे उक्तवन्तः । कुत एवं वदन्तीत्य आह—'तन्तोरिति' । निष्पत्तेरुत्पत्तेर्दर्शनादिति शेषः । एतावता कथं कार्यकारणभेदसिद्धिरित्यत आह—'भिन्नाविति' । विरुद्धपरिणामत्वाद्विरुद्धार्थक्रियावत्त्वाच्चेति भावः ॥७॥

इदानीं परिणामस्वरूपमाह—

अवस्थान्तरतापत्तिरेकस्य परिणामिता ।
स्यात्क्षीरं दधि मृत् कुम्भः सुवर्णं कुण्डलं यथा ॥८॥

अन्वयः—एकस्य अवस्थान्तरतापत्तिः परिणामिता स्यात् यथा क्षीरं दधि मृत्कुम्भः सुवर्णं कुण्डलं ।

'अवस्थेति' । एकस्यैव वस्तुनः पूर्वावस्थात्यागपुरःसरमवस्थान्तरप्राप्तिः परिणाम इत्यर्थः । तमुदाहरति 'स्यादिति' । यथा क्षीर-मृत्-सुवर्णादीनां क्षीरादिव्यवहारयोग्यतां परित्यज्य दध्यादिव्यवहारयोग्यतापत्तिः ॥८॥

उन दोनों का अद्वैत में अवकाश नहीं है यह दिखाने के लिए प्रथम आरम्भवादी के मत का अनुवाद करते हैं—

आरम्भवादी ने कार्य से सर्वथा भिन्न कार्य की उत्पत्ति बतायी है, जैसे तन्तुओं से पट की उत्पत्ति होती है । जो कि तन्तु और पट दोनों निश्चय भिन्न-भिन्न है ॥७॥

आरम्भवादी नैयायिक एवं वैशेषिक माध्वलोग कार्य की अपेक्षा से भिन्न कारण से, कार्य की अपेक्षा से भिन्न कार्य का उत्पन्न होना माना है, क्यों ? ऐसा कहते हैं, तन्तुओं से वस्त्र की उत्पत्ति देखी जाती है, कार्य कारण भेद की सिद्धि में कारण दिखाते हैं. तन्तु रूप कारण और वस्त्ररूप कार्य ये दोनों परस्पर एक दूसरे से भिन्न-भिन्न हैं क्योंकि विरुद्ध परिणाम और विरुद्ध अर्थ क्रियाकारी होने के कारण वे और पट परस्पर एक दूसरे से भिन्न-भिन्न हैं ॥७॥

अब परिणामवाद का स्वरूप दिखाते हैं—

एक वस्तु की अन्य अवस्था बदल जाना ही परिणाम कहलाता है जैसे दुग्ध से दधी मृत्तिका से घट और स्वर्ण से कुण्डल रूप हो जाता है ॥८॥

एक ही वस्तु की पहली अवस्था त्याग पूर्वक दूसरी अवस्था की प्राप्ति परिणाम है । इस विषय में उदाहरण दिया जाता है । जैसे दुग्ध मृत्तिका और सुवर्णादि पदार्थ अपने पूर्व रूप को छोड़कर दधि, घट, एवं कुण्डलादि रूप में (विनिमय) बदल जाते हैं ॥८॥

इदानीं विवर्तलक्षणमाह—

अवस्थान्तरभानं तु विवर्तो रज्जुसर्पवत् ।
निरंशेऽप्यस्त्यसौ व्योम्नि तलमालिन्यकल्पनात् ॥६॥

अन्वय :—अवस्थान्तरभानं तु रज्जुसर्पवत् व्योम्नि तलमालिन्यकल्पनात् निरंशेपि असौ अस्ति ।

'अवस्थान्तरेति' । 'तु' शब्दोऽस्य पूर्वस्मात्पक्षद्वयाद्वैलक्षण्यद्योतनार्थः । पूर्वावस्थामपरित्यज्यैवाव-स्थान्तरभानं विवर्तः । तमुदाहरति – 'रज्जिवति' । यथा रज्ज्वात्मनाऽवस्थितस्यैव द्रव्यस्य सर्पात्मनाऽव-भासनं विवर्तः । ननु विवर्तमानस्य रज्ज्वादेः सांशत्वदर्शनान्निरंशे सोऽपि न घटत इत्याशङ्क्य, निरवयवे गगनादावपि तद्दर्शनान्मैवमित्याह – 'निरंशेऽपीति' । असौ विवर्तः व्योम्नि तलत्वमधोमुखेन्द्रनीलकटाह-तुल्यत्वं मालिन्यं नीलवर्णता तयोः कल्पनादाकाशस्वरूपानभिज्ञैरारोप्यमाणत्वादित्यर्थः ॥६॥

अब विवर्तवाद का लक्षण दिखाते हैं--

पूर्व की अवस्था के त्याग किए बिना ही अन्य अवस्था की प्रतीति होना ही विवर्त कहलाता है जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है । वह निरंश अवयव शून्य है और लोग आकाश में भी अधोमुखता एवं नीलवर्णता की कल्पना कर लेते हैं ॥६॥

श्लोक में उद्धृत तु शब्द से पूर्व के आरम्भवाद तथा परिणामवाद से विवर्तवाद में वैलक्षण्य द्योतित होता है, इस विषय में उदाहरण देते हैं रज्जु रूप से अवस्थित वस्तु का सर्प के रूप में अवभासन होता है और इसमें रज्जुत्व विद्यमान रहता है, विवर्तमान रज्जु आदि का सावयव रूप होने के कारण वह निरवयव में भी क्या घट सकता है, यह बात नहीं है, क्योंकि निरवयव आकाश में भी होता है । वह विवर्त आकाश में भी तल और मलिनता की कल्पना की जाती है । आकाश के स्वरूप को नहीं जानते अधोमुख नीलवर्णकटाह के समान से युक्त देखते हैं ॥६॥

फलितमाह--

ततो निरंश आनन्दे विवर्तो जगदिष्यताम् ।
मायाशक्तिः कल्पिका स्यादैन्द्रजालिकशक्तिवत् ।।१०।।

अन्वय :-- ततः निरंश आनन्दे विवर्तं जगत् ईष्यतां ऐन्द्रजालिकशक्तिवत् माया शक्तिः कल्पिका स्यात् ।

'तत इति' । ततो निरंशेऽपि विवर्तसम्भवाज्जगन्निरंशे आनन्दे विवर्तः कल्पित इत्यङ्गीकार्यमित्यर्थः । नन्वद्वितीये आनन्दे जगत्कल्पनमनुपपन्नम् कल्पनाहेतोरभावादित्याशङ्क्याह --'मायेति' । शक्तेः कल्पकत्वं क्व दृष्टमित्यत आह --'ऐन्द्रजालिकेति' । यथैन्द्रजालिकनिष्ठाया मणिमन्त्रादिरूपाया मायायाः शक्तेर्गन्धर्वनगरादिकल्पकत्वं तथेत्यर्थः ।।१०।।

अब फलितार्थ को कहते हैं--

इसलिए गगन की तरह निरवयव आनन्दरूप ब्रह्म होने पर भी यह जगत् उससे विवर्त (कल्पित) है ऐसा जानो ऐन्द्रजालिक के समान जगत् की कल्पना करने वाली माया शक्ति है ।।१०।।

अतः यह जगत् निरवयव वस्तु (ब्रह्म) में भी कल्पित मान लेना चाहिए, अद्वितीय आनन्द में जगत् की कल्पना कर लेना युक्ति-युक्त नहीं बैठता, क्योंकि कल्पना का हेतु इसमें कोई नहीं बनता है और है भी तो कहाँ देखा गया है उत्तर यह है कि जैसे ऐन्द्रजालिक शक्ति के समान मणिमन्त्रादिरूप माया शक्ति के द्वारा कल्पना के रूप में गन्धर्व नगरादि का निर्माण कर लेती है । वैसे ही अद्वितीय ब्रह्म की अनिर्वचनीय माया शक्ति से इस जगत् का भी निर्माण हो जाता है ।।१०।।

नन्वानन्दात्मातिरिक्ताया मायाया अभ्युपगमे द्वैतापत्तिरित्याशङ्क्य, तस्या अनिर्वचनीयत्वेनानृततत्वं वक्तुमुत्तरत्र वक्ष्यमाणाया लौकिक्या अग्न्यादिशक्तेस्तावद्भेदेनाभेदेन वा निर्वक्तुमशक्यत्वं दर्शयति—

शक्तिः शक्तात्पृथङ् नास्ति तद्वद्दृष्टेर्न चाभिदा ।
प्रतिबन्धस्य दृष्टत्वाच्छक्त्यभावे तु कस्य सः ।।११।।

अन्वय :– शक्तिः शक्तात् पृथक् नास्ति तद्वत् दृष्टेः अभिदा च न, प्रतिबन्धस्य दृष्टत्वात् शक्त्यभावे तु सः कस्य ।

'शक्तिरिति' । शक्तिरग्न्यादिनिष्ठा स्फोटादिजनिका शक्तादग्न्यादिस्वभेदेनासत्त्वस्य दृष्टेर्दर्शनादग्न्यादिस्वरूपातिरेकेणानुपलभ्यमानत्वादित्यर्थः नाप्यग्न्यादिस्वरूपमेव शक्तिरित्याह 'न चेति' । अभिदा अभेदोऽपि नच नैव । तत्रापि हेतुमाह—'प्रतिबन्धस्येति' । मणिमन्त्रादिभिः शक्तिकार्यस्य स्फोटादेः प्रतिबन्धदर्शनात्स्वरूपातिरिक्ता शक्तिर्द्रष्टव्येत्यभिप्रायः । भवतु प्रतिबन्धदर्शनं शक्तेर्भेदोऽपि मा भूत् को दोषस्तत्राह—'शक्त्यभाव इति' । प्रत्यक्षसिद्धस्याग्न्यादिस्वरूपस्य प्रतिबन्धासंभवात्तद्व्यतिरिक्तशक्त्यनभ्युपगमे सति प्रतिबन्धोऽपि निर्विषयः स्यादित्यभिप्रायः ।।११।।

शंका—आनन्द रूप आत्मा से भिन्न माया को मानोगे तो द्वैत (द्वैतापत्ति) हो जावेगा यह शंका करके उस माया को अनिर्वचनीयत्व रूप होने से अत्यन्त (मिथ्या) कहने के लिए आगे कही जाने वाली लौकिक अग्नि आदि की शक्ति से भेद अथवा अभेद पूर्वक निर्वचन करने की अशक्यता दिखाते हैं—

शक्ति शक्तिमान से भिन्न (पृथक्) नहीं है क्योंकि भिन्न देखने से नहीं आती है और अभिन्न भाव भी नहीं है क्योंकि प्रतिबन्धक के रूप में शक्ति भिन्नतया देखी जाती है शक्ति के न रहने पर तो फिर यह प्रतिबन्ध किसका हुआ है ।।११।।

अग्नि आदि में रहने वाली स्फोटादिजनिका शक्तिमान अग्नि आदि के स्वरूप से भिन्न नहीं है । इसी प्रकार अग्नि आदि स्वरूप से व्यतिरिक्त शक्ति का असत्त्व देखा गया है, इसलिए शक्ति-शक्तिमान से भिन्न नहीं है और शक्तिमान से शक्ति की अभिन्नता भी नहीं है, इसमें कारण दिखाते हैं—शक्ति के स्फोटादि के मणिमन्त्रादियों से प्रतिबन्ध होता है । इसलिए अग्नि आदि के स्वरूप से पृथक् की हुई देखनी चाहिए । यदि कहो प्रतिबन्ध भी दीखे और शक्ति भिन्न भी न हो तो क्या दोष है उत्तर देते हैं—शक्ति के अभाव में प्रतिबन्ध किसका होगा अर्थात् प्रत्यक्ष दीखते हुए अग्नि आदि के स्वरूप तो प्रतिबन्ध असम्भव है । उस स्वरूप से भिन्न शक्ति न मानोगे तो प्रतिबन्ध किसका होगा, इसलिए प्रतिबन्धक शक्ति मानना चाहिए ।।११।।

नन्वतीन्द्रियायाः शक्तेः कथं प्रतिबन्धोऽवगन्तुं शक्यत इत्याशङ्क्याह—

शक्तेः कार्यानुमेयत्वादकार्ये प्रतिबन्धनम् ।
ज्वलतोऽग्नेरदाहे स्यान्मन्त्रादिप्रतिबन्धता ॥१२॥

अन्वय :- शक्तेः कार्यानुमेयत्वात् अकार्ये प्रतिबन्धनम् ज्वलतः अग्नेः अदाहे मन्त्रादिप्रतिबन्धता स्यात् ।

'शक्तेरिति' । अतीन्द्रियापि शक्तिर्यतः कार्यलिङ्गगम्या अतः अकार्ये सत्यपि कार्यानुत्पत्तौ सत्यां प्रतिबन्धः अवगम्यत इति शेषः । उक्तमर्थं दृष्टान्तप्रदर्शनेन स्पष्टयति—'ज्वलत इति' । लोके स्वरूपेण ज्वलतोऽग्नेः सकाशाद्दाहादिलक्षणे कार्ये अनुत्पद्यमाने सति मन्त्रादिप्रतिबन्धता मन्त्रादीनां शक्तिप्रतिबन्धकत्वं स्यादित्यर्थः ॥१२॥

अतीन्द्रिय शक्ति का प्रतिबन्ध कैसे जाना जा सकता है इसका उत्तर देते हैं—

शक्ति अतीन्द्रिय होने से उसके कार्य से अनुमेय हैं इसलिए कारण के होते हुए भी कार्य की उत्पत्ति न होने पर प्रतिबन्ध अवगत हो जाता है। जैसे प्रज्वलित अग्नि से दाह न होने पर मन्त्रादि से शक्ति का प्रतिबन्ध मानना होगा।

जबकि शक्ति अतीन्द्रिय है किन्तु वह उसके कार्य रूप लिङ्ग से अनुमान द्वारा जानने योग्य है इसलिए अकार्य कारण के होते हुए भी कार्य की उत्पत्ति न होने पर प्रतिबन्ध का ज्ञान हो जाता है, उक्त अर्थ को दृष्टान्त प्रदर्शन द्वारा स्पष्ट करते हैं। लोक में स्वरूप से प्रज्वलित हुई अग्नि से दाहादि लक्षण कार्य उत्पन्न न करने पर मन्त्रादिकों की दाहिका शक्ति का प्रतिबन्ध मानना पड़ता है ॥१२॥

इत्थं लौकिकशक्तिं स्वरूपतः प्रमाणतश्चोपन्यस्य, इदानीं मायाशक्तिसद्भावे 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वे० १।३) इति 'श्वेताश्वतरोपनिषद्वाक्यमर्थतः पठति —

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां मुनयोऽविदन् ।
पराऽस्य शक्तिर्विविधा क्रियाज्ञानबलात्मिका ॥१३॥

अन्वयः—मुनयः देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां अविदन् अस्य परा शक्तिः क्रियाज्ञानबलात्मिका विविधा।

'देवात्मेति'। मुनयः कालस्वभावादिकारणवादेषु दोषदर्शनवन्तः जगत्कारणजिज्ञासया ध्यानयोगमास्थिता अधिकारिणः देवात्मशक्तिं देवस्य द्योतमानस्य स्वप्रकाशचिदात्मनः प्रत्यगभिन्नस्य ब्रह्मणः शक्तिं मायारूपां स्वगुणैः स्वकार्यं भूतैः स्थूलसूक्ष्मशरीरैर्निगूढां नितरां गूढामावृतामविन्दन्, साक्षात्कृतवन्त इत्यर्थः। तस्यामेवोपनिषदि स्थितं 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैवश्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वे० ६।८) इति वाक्यान्तरमर्थतः पठति—'पराऽस्येति'। अस्य ब्रह्मणः परा उत्कृष्टा जगत्कारणभूता शक्ति विविधा, श्रूयत इति वाक्यशेषः। 'विविधत्वमेवाह—क्रियेति'। क्रियाज्ञाने प्रसिद्धे, बलमिच्छाशक्तिः, ज्ञानक्रियाशक्तिसाहचर्यात् क्रियादिशक्तय आत्मा स्वरूपं यस्याः सा क्रियाज्ञानबलात्मिका ॥१३॥

इस प्रकार लौकिक शक्ति का स्वरूपतः और प्रमाणतः दिखाकर अब माया शक्ति के सद्भाव (होने में) 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इस श्वेताश्वतर श्रुति का अर्थतः पाठ करते हैं—

मुनियों ने परमात्मा की माया शक्ति को अपने गुणों के द्वारा आवृत (छिपी) हुई जाना, इस प्रकार परमोत्कृष्ट माया शक्ति को क्रिया, ज्ञान और इच्छा के रूप में श्रुतियों ने अनेक प्रकार से कही है ॥१३॥

काल[1], स्वभाव, नियति यह इच्छाभूत और पुरुष ये कारणवादों में दोष दृष्टि करने वाले मुनि जनों ने जगत् के कारण को जानने की इच्छा से ध्यान योग में स्थिति अधिकारी लोग देव की द्योतमान शक्ति स्वप्रकाश चैतन्य स्वरूप प्रत्यग् अभिन्न परम ब्रह्म की माया शक्ति को ही अपने कार्य स्थल-सूक्ष्म शरीरों के द्वारा अत्यन्त छिपी हुई जानी साक्षात्कार किया। पराऽस्य शक्ति विविधैव श्रूयते० इस श्रुति के अनुसार परम ब्रह्म की उत्कृष्ट जगत् कारण भूत माया शक्ति अनेक प्रकार की है। वह क्रिया[2] ज्ञान और बल अर्थात् इच्छा शक्तिरूप कहीं वह शक्ति क्रियारूप में कहीं वह ज्ञानरूप में तो कहीं वह इच्छा रूप में रहती है ॥१३॥

विशेष १—काल सम्पूर्ण भूतों की रूपान्तर प्राप्ति जो हेतु उसको कालस्वभाव = पदार्थों का नियत शक्ति का नाम स्वभाव जैसे अग्नि का स्वभाव ऊष्णता है। नियत पुण्य पाप रूप जो अविषम कार्य जिसका फल कभी विपरीत नहीं होता। यदृच्छया = आकस्मिक घटना, भूत आकाशादि ५ भूत। पुरुष विज्ञानात्मक कोशचिदाभास।

२—क्रिया शक्ति प्रयत्न कृतितमोगुणमहाकाली ज्ञानशक्तिसत्त्वगुणमहासरस्वती जानाति—इच्छा शक्ति शक्ति रजोगुण महालक्ष्मी इच्छति धनम्। ये तीनों लिंग शरीर में है। प्राणमय कोश में क्रिया शक्तिमान कार्य रूप मनोमय कोश में इच्छाशक्ति न कारण रूप विज्ञानमय कोश में ज्ञान शक्तिमान् कर्तृ रूप ये तीन कोश लिंग के अन्तर्गत है।

इदं वाक्यद्वयं कुत्रत्यमित्यत आह—

इति वेदवचः प्राह वसिष्ठश्च तथाऽब्रवीत् ।
सर्वशक्ति परं ब्रह्म नित्यमापूर्णमद्वयम् ॥१४॥

अन्वयः—इति वेदवचः प्राह तथा वसिष्ठश्च अब्रवीत् सर्वशक्ति परं ब्रह्म नित्यं अद्वयम् अपूर्णम् ।

'इतीति' । केवलं मायाशक्तिः श्रुतिप्रसिद्धा, किंतु स्मृतिप्रसिद्धाऽपीत्याह—'वसिष्ठ इति' । यथा श्रुतिर्विचित्रां मायाशक्तिमुक्तवती, वसिष्ठोऽपि तां तथोक्तवान् । वासिष्ठाभिधे ग्रन्थ इति शेष । माया प्रतिपादकान् वासिष्ठश्लोकानेव पठति—'सर्वेति' । 'नित्यमापूर्णमद्वयम्' इति ब्रह्मणः पारमार्थिकं रूपमुक्तं, 'सर्वशक्ति' इति तस्यैव सोपाधिकं रूपम् ॥१४॥

ययोल्लसति शक्त्याऽसौ प्रकाशमधिगच्छति ।
चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम ! शरीरेषूपलभ्यते ॥१५॥

अन्वयः—यया शक्त्या असौ उल्लसति असौ प्रकाशमधिगच्छति हे राम ब्रह्मणः चिच्छक्तिः शरीरेषु उपलभ्यते ।

तत्परं ब्रह्म यदा यया मायाशक्त्योल्लसति विकसति, विवर्तत इत्यर्थः तदा तदाऽसावसौ शक्तिः प्रकाशमधिगच्छति अभिव्यक्ति प्राप्नोति । इदानीं तामेवाभिव्यक्तिं प्रपञ्चयति—चिच्छक्तिरिति' द्वाभ्याम् शरीरेषु देवतिर्यङ् मनुष्यादिलक्षणेषु चिच्छक्तिश्चेतनत्वव्यवहारहेतुभूतोपलभ्यते दृश्यते ॥१५॥

उक्त दोनों वाक्य कहाँ से उद्धृत किए गए हैं ? इस पर कहते हैं ?

इस प्रकार भेद के वचन से भी कहा है तथा वसिष्ठ मुनि ने स्वनिर्मित योग वासिष्ठ" में भी उस माया शक्ति का विवेचन किया है वह परमब्रह्म माया शक्ति से युक्त नित्य परिपूर्ण अद्वितीयरूप है ॥१४॥

वेद ने ही केवल माया-शक्ति का प्रतिपादन नहीं किया है, अपितु स्मृति ने भी माया शक्ति का विवेचन किया है, जैसे श्रुति ने विचित्र मायाशक्ति के विषय में कहा है वैसे ही योगवसिष्ठ नामक ग्रन्थ में भी माया-शक्ति का प्रतिपादन किया गया है । 'परं ब्रह्म नित्यमापूर्णमद्वयं सर्वशक्तिः' अर्थात् जो परम ब्रह्म नित्य परिपूर्ण और अद्वितीय स्वरूप है वह ब्रह्म का पारमार्थिक रूप है और सर्वशक्ति युक्त ब्रह्म का सोपाधिक स्वरूप है ॥१४॥

हे राम, जिस माया शक्ति के द्वारा वह परमब्रह्म उल्लसित होताहै और अभिव्यक्तरूप को प्राप्त होता है, देव मनुष्य तथा तिर्यगादि शरीरों में ब्रह्म की चिति शक्ति ही दृष्टिगोचर होती है ॥१५॥

वह परमब्रह्म जब माया शक्ति के द्वारा उल्लसित विकास रूप से विवर्त दशा को प्राप्त होता है तब वह माया शक्ति अभिव्यक्ति को प्राप्त होती है, प्रकाश को प्राप्त होती है । अब उसी माया शक्ति की अभिव्यक्ति का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं देव तिर्यग् और मनुष्य शरीरों में परमब्रह्म की चिति शक्ति चेतनत्व व्यवहार का हेतु वह शक्ति ज्ञान शक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति रूप में सर्वत्र देखी जाती है ॥१५॥

स्पन्दशक्तिश्च वातेषु दार्ढ्यंशक्तिस्तथोपले ।
द्रवशक्तिस्तथाम्भस्सु दाहशक्तिस्तथाऽनले ।।१६।।

अन्वय:—स्पन्दशक्तिश्च वातेषु तथा उपले दार्ढ्यशक्ति: तथा अम्भ:सु द्रवशक्ति: तथा अनले दाहशक्ति: ।

स्पन्दशक्तिश्चलनहेतुभूता प्रकाशमधिगच्छतीत्युक्त्याऽनभिव्यक्तदशायामपि ब्रह्मणि जगत्सत्ता दर्शिता ।।१६।।

अनभिव्यक्तस्यापि सत्त्वे दृष्टान्तमाह—

शून्यशक्तिस्तथाकाशे नाशशक्तिर्विनाशिनि ।
यथाण्डेऽन्तर्महासर्पो जगदस्ति तथात्मनि ।।१७।।

अन्वय:—तथा आकाशे शून्यशक्ति: विनाशिनि नाशशक्ति: यथा अण्डे अन्त: महासर्प: तथा आत्मनि जगत् अस्ति ।

'यथाण्ड इति' ।।१७।।

विचित्रस्यापि तस्य सत्त्वे दृष्टान्तमाह—

फलपत्रलतापुष्पशाखाविटपमूलवान् ।
ननु बीजे यथा वृक्षस्तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् ।।१८।।

अन्वय:—फलपत्रलतापुष्पशाखाविटपमूलवान् बीजे यथा वृक्ष: ननु तथा इदं ब्रह्मणि स्थितम् ।

'फलेति' ।।१८।।

वायुओं (पवन) में स्पन्दन शक्ति पत्थरों में दार्ढ्य-शक्ति, जलों में द्रव शक्ति और अग्नि में दाह शक्ति रहती है ।।१६।।

स्पन्द शक्ति वायु में बहन-चलन की हेतु शक्ति अभिव्यक्त होती है । इस कथन से अनभिव्यक्त दशा रहने पर भी ब्रह्म में जगत् की सत्ता विद्यमान रहती है, यह दिखाया है ।।१६।।

अनभिव्यक्तरूप में भी सत्ता रहती है, इस विषय में दृष्टान्त देते हैं—

आकाश में शून्य शक्ति और विनाशशील वस्तु में नाश शक्ति रहती है । जैसे अण्डे के भीतर महासर्प अनभिव्यक्त रहता है तथा आत्मा में नामरूपात्मक जगत् रहता है ।।१७।।

विचित्र पदार्थ शक्ति भी उस सत्ता में रहते हैं इस विषय में दृष्टान्त देते हैं—

जिस प्रकार फल, पत्र, लता, पुष्प शाखा मूल ये सबसे युक्त है जिसमें यह वृक्षबीज (माण) में है । उसी प्रकार यह चित्र विचित्र जगत् भी परब्रह्म में अनभिव्यक्त रूप से अवस्थित रहता है ।।१८।।

ननु सर्वासामपि शक्तीनां युगपदेवाभिव्यक्तिः कुतो न स्यादित्याशङ्क्याह—

क्वचित् काश्चित् कदाचिच्च तस्मादुद्यन्ति शक्तयः ।
देशकालविचित्रत्वात् क्ष्मातलादिव शालयः ॥१९॥

अन्वयः—तस्मात्शक्तयः क्वचित् काश्चित् कदाचिच्च उद्यन्ति देशकालविचित्रत्वात् क्ष्मातलात् शालयः इव ।

'क्वचिदिति' । क्वचिद्देशविशेषे कदाचित् कालविशेषे काश्चिच्छक्त्यादयस्तासामयुगपदभिव्यक्तौ दृष्टान्तमाह—'क्ष्मातलादिति' । यथा भूमिगतानां सर्वेषां बीजानां मध्ये देशविशेषे कालविशेषे च केषांचिदेव बीजानामङ्कुरोत्पत्तिः न सर्वेषां तद्वदित्यर्थः ॥१९॥

इदानीं जगतः कल्पनामात्ररूपतां दर्शयितुं तत्कल्पकस्य मनसो रूपं तावद्दर्शयति—

स आत्मा सर्वगो राम ! नित्योदितमहावपुः ।
यन्मनाङ्मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते ॥२०॥

अन्वयः—हे राम नित्योदितमहावपुः स सर्वगः आत्मा यत् मनाक् मननीं शक्तिं धत्ते तन्मनः उच्यते ।

'स इति' । नित्योदितमहावपुः नित्यं सदा उदितं प्रकाशमानं महद्देशकालादिपरिच्छेदरहितं वपुः स्वरूपं यस्य स तथा यद्यस्मिन्काले मनाक् ईषन्मननीं स्वपरावबोधनरूपां शक्तिं मायापरिणामरूपां धत्ते धारयति तत्तदा मन इत्युच्यते ॥२०॥

यदि शंका हो कि सम्पूर्ण शक्तियों की युगपत् अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती है ? इस पर कहते हैं—

देश और काल की विचित्रता के कारण किसी देश विशेष में और काल विशेष में शक्तियाँ उस परमात्मा से उत्पन्न होती है । जैसे भूमितल से बीजादि अनुकूल जलवायु को प्राप्त होकर धान्यादि के रूप में उत्पन्न होते रहते हैं ॥१९॥

किसी देश विशेष में तथा कालविशेष में शक्तियाँ एक साथ उत्पन्न नहीं होने में दृष्टान्त देते हैं—जैसे देश एवं काल के विचित्रता के कारण किसी देश विशेष में तथा किसी काल विशेष में कुछ शक्तियाँ ऐसी अभिव्यक्त हो जाया करती है, जैसे भूमिगत बीजों की कहीं पर किसी काल विशेष में ही धान्यादि के रूप में अंकुरोत्पत्ति हो जाती है एक साथ सभी की नहीं होती है । वैसे ही सभी शक्तियाँ युगपत् नहीं होती है ॥१९॥

अब जगत् की कल्पनामात्र रूपता को दिखाने के लिए उनकी कल्पना करने वाले मन का स्वरूप सर्वप्रथम दिखाते हैं—

हे राम ! सर्वत्र गतिशील एवं नित्य प्रकाशवत् वह आत्मा है जो थोड़ी सी भी स्वपर अवबोधन रूप माया शक्ति को धारण करता है, वह मन कहलाता है ॥२०॥

विशेष १—प्रत्यग्दृशां विमोक्षाय संसाराय परादृशाम्—अपने परमार्थतत्त्व में दृष्टिमोक्ष वही अनात्मदृष्टि संसार तत्त्वमसि तूं संसारी नहीं है । न इसके पुत्र के त्वादिधर्म वाला है तो कौन है सत् आनन्दरूप तूं है । अविमयमोहरूप वस्त्र के बन्धन से छुड़ाया गया है ।

इदानीं कल्पनाप्रकारमाह—

आदौ मनस्तदनुबन्धविमोक्षदृष्टी
पश्चात् प्रपञ्चरचना भुवनाभिधाना ।
इत्यादिका स्थितिरियं हि गता प्रतिष्ठा-
माख्यायिका सुभग ! बालजनोदितेव ॥२१॥

अन्वय :—आदौ मनः तदनुबन्धं विमोक्षदृष्टी पश्चात् भुवनाभिधाना प्रपञ्चरचना इत्यादिका इयं हि स्थितिः प्रतिष्ठां गता हे सुभग बालजनोदिता आख्यायिका इव (इदं जगत्) ।

'आदाविति'। आदौ प्रथमं मननशक्त्युल्लासेन मनो भवति, तदनु तदनन्तरं बन्धविमोक्षदृष्टी बन्धविमोक्षकल्पने भवतः, पश्चादनन्तरं बन्धदृष्टावेव भुवनाभिधानं भुवनमित्यभिधानं यस्याः सा भुवनाभिधाना प्रपञ्चरचना प्रपञ्चस्य गिरिनगरीसरित्समुद्रादे रचना कल्पनं भवति इत्यादिका एवंप्रकारा इयं जगतः स्थितिः प्रतिष्ठां स्थैर्यंगता प्राप्ता । कल्पितस्यापि वास्तवत्वप्रतीतौ दृष्टान्तमाह—'आख्यायिकेति' । बालजनायोदिता उक्ता आख्यायिका कथा यथा वास्तवत्वबुद्धि गता तथेदं जगदित्यर्थः ॥२१॥

सदा उचित महावपु सदा सर्वदा प्रकाशमान् देश कालवस्तु से परिच्छेद रहित स्वरूप जिसका है, ऐसा वह सर्व व्यापक आत्मा जिस काल में किञ्चित् मात्र में भी अपना स्वरूप दूसरे अनात्म स्वरूप अवबोधनरूप माया, परिणाम रूप शक्ति को धारण करता है उस काल में वह मन के नाम से पुकारा जाता है ॥२१॥

अब कल्पना के प्रकार को दिखाते हैं—

हे सुभग ! आरम्भ में मनन शक्ति के उल्लास से मन उत्पन्न होता है । फिर बन्ध और मोक्ष की कल्पना दृष्टि बनती है इसके पश्चात् भुवन नाम आदि की रचना होती है ऐसी यह स्थिति प्रतिष्ठित होती है जैसे बालकों के प्रति कही हुई कथा हो ॥२१॥

सर्व प्रथम शक्ति के उल्लास से मन होता है इसके पश्चात् बन्ध और मोक्ष की कल्पना होती है, अनन्तर बन्ध दृष्टि में ही भुवननाम की कल्पना कर ली जाती है, गिरि गुहा, सरिता, सागर, नगर की विविध प्रपञ्च से युक्त कल्पना कर ली जाती है । इस प्रकार से यह जगत् की स्थिति प्राप्त हुई है कल्पित वस्तुओं में वास्तविकता की प्रतीति होने लगती है इस विषय में दृष्टान्त देते हैं । जैसे बालकों के प्रति कही हुई कथा कहानी उनकी बुद्धि मे वास्तविकता को प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार यह जगत् भी अज्ञजनों की बुद्धि में सत्यरूप से बैठ जाती है ॥२१॥

तामेव 'वासिष्ठस्थां' कथां कथयति —

बालस्य हि विनोदाय धात्री वक्ति शुभां कथाम् ।
क्वचित्सन्ति महाबाहो ! राजपुत्रास्त्रयः शुभाः ॥२२॥

द्वौ न जातौ तथैकस्तु गर्भं एव न च स्थितः ।
वसन्ति ते धर्मयुक्ता अत्यन्तासति पत्तने ॥२३॥

स्वकीयाच्छून्यनगरान्निर्गत्य विमलाशयाः ।
गच्छन्तो गगने वृक्षान्ददृशुः फलशालिनः ॥२४॥

भविष्यन्नगरे तत्र राजपुत्रास्त्रयोऽपि ते ।
सुखमद्य स्थिताः पुत्र ! मृगयाव्यवहारिणः ॥२५॥

धात्र्येति कथिता राम ! बालकाख्यायिका शुभा ।
निश्चयं स ययौ बालो निर्विचारणया धिया ॥२६॥

अन्वयः—बालस्य विनोदाय हि धात्री शुभां कथां वक्ति हे महाबाहो क्वचित् शुभाः त्रयः राजपुत्राः सन्ति ।

द्वौ न जातौ तथा एकस्तु गर्भे एव च न स्थितः, धर्मयुक्ता ते अत्यन्तासति पत्तने वसन्ति ।
स्वकीयात् शून्यनगरात् विमलाशयाः निर्गत्य गगने गच्छन्तो फलशालिनः वृक्षान्ददृशुः ।
तत्र भविष्यत् नगरे त्रयः अपि ते राजपुत्राः, हे पुत्र ! अद्य सुखं मृगया व्यवहारिणः स्थिताः ।
हे राम धात्र्या इति कथिता शुभा बालकाख्यायिका स बालः निर्विचारणया धिया निश्चयं ययौ ।
'बालस्येत्यादिना' ॥२२-२६॥

अब उसी योगवासिष्ठ की कथा को कहते हैं —

हे महाबाहो ! धाय कोई बालक के मनोरञ्जन के लिए कथा कहती है, किसी देश में तीन सुन्दर राजकुमार रहते हैं ॥२२॥

उनमें से दो राजकुमारों का जन्म भी नहीं हुआ है और एक गर्भ में भी अभी नहीं आया है, वे तीनों राजकुमार तीनों कालों में भी नहीं है, ऐसे राजकुमार नगर में धर्मयुक्त होकर रहने लगे ॥२३॥

उन विमल चित्त वाले राजकुमारों ने अपने उस मिथ्या नगर में से निकलकर मार्ग में चलते हुए आकाश में फलों से लदे हुए वृक्षों को देखा ॥२४॥

हे पुत्र ! वे तीनों राजकुमार उस भविष्य नगर में आखेट करते हुए सुखपूर्वक रहने लगे ॥२५॥

हे राम ! इस प्रकार धात्री (माता) ने बालकों के लिए बड़ी अच्छी कथा कही । वह बालक विचार शून्य बुद्धि से सच मान लिया ॥२६॥

दृष्टान्तसिद्धमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—

इयं संसाररचना विचारोज्झितचेतसाम् ।
बालकाख्यायिकेवेत्थमवस्थितिमुपागता ॥२७॥

अन्वयः— इयं संसाररचना विचारोज्झितचेतसाम् बालकाख्यायिका इव इत्थं अवस्थिति उपागता ।

'इयमिति' ॥२७॥

वसिष्ठोक्तमुपसंहरति—

इत्यादिभिरुपाख्यानैर्मायाशक्तेश्च विस्तरम् ।
वसिष्ठः कथयामास सैव शक्तिर्निरूप्यते ॥२८॥

अन्वय :– इत्यादिभिः उपाख्यानैः मायाशक्तेश्च विस्तरम् वसिष्ठः कथयामास सैव शक्तिः निरूप्यते ।

'इत्यादिभिरिति' । एवं मायासद्भावे प्रमाणमुपन्यस्य, तस्या अनिर्वचनीयत्वं वक्तुं प्रतिजानीते—'सैव शक्तिरिति' ॥२८॥

अब दृष्टान्त के अर्थ को दार्ष्टान्तिक में घटाते हैं—

यह संसार की सृष्टि प्रक्रिया भी विचारशून्य चित्त वालों के प्रति बालकों की कथा की भांति स्थिति को प्राप्त हुई ॥२७॥

वशिष्ठ मुनि ने इस प्रकार के आख्यानों द्वारा माया शक्ति का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है । वही माया शक्ति का निरूपण किया जाता है ॥२८॥

इस प्रकार माया शक्ति के सद्भाव होने में प्रमाण कह करके, अब उस माया-शक्ति के अनिर्वचनीयत्व की प्रतिज्ञा करते हैं कि वही माया-शक्ति है जिसका आगे निरूपण किया जायेगा ॥२८॥

कार्यादाश्रयतश्चैषा भवेच्छक्तिर्विलक्षणा ।
स्फोटाङ्गारौ दृश्यमानौ शक्तिस्तत्रानुमीयते ॥२९॥

अन्वय :—एषा कार्यात् आश्रयतश्च विलक्षणा शक्तिः भवेत् स्फोटाङ्गारौ दृश्यमानौ शक्तिः तत्र अनुमीयते ।

'कार्यादिति' । एषा मायाशक्तिः कार्यात्स्वकार्यभूताज्जगत आश्रयतः स्वाश्रयाद्ब्रह्मणश्च विलक्षणा विपरीतस्वभावा भवेत् । मायाशक्तेः कार्याश्रयतो वैलक्षण्यं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—'स्फोटाङ्गाराविति' । वह्निगतशक्तेः कार्यरूपः स्फोटः आश्रयरूपोऽङ्गारश्च प्रत्यक्षगम्यौ, शक्तिस्तु कार्यानुमेया, अतस्ताभ्यां सा विलक्षणेत्यर्थः ॥२९॥

उक्तन्यायं मृच्छक्तावपि योजयति—

पृथुबुध्नोदराकारो घटः कार्योऽत्र मृत्तिका ।
शब्दादिभिः पञ्चगुणैर्युक्ता शक्तिस्त्वतद्विधा ॥३०॥

अन्वय —पृथुबुध्नोदराकारः अत्र मृत्तिका कार्यः घटः शब्दादिभिः पञ्चगुणैः युक्ता अतद्विधा तु शक्तिः ।

'पृथुबुध्नेति' । यः पृथुबुध्नोदराकारः पृथु स्थूलं बुध्नं वर्तुलमुदरं यस्य स पृथुबुध्नोदरः, तथाविध आकारो यस्य स पृथुबुध्नोदराकारः, तादृक् घटः कार्यः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यपञ्चगुणोपेता मृत्तिका आश्रयः शक्तिस्त्वतद्विधा उभयविलक्षणेत्यर्थः ॥३०॥

यह माया शक्ति अपने कार्यरूप जगत् से अपने आश्रय से विलक्षण है, जैसे स्फोट और अङ्गारों में प्रत्यक्ष दिखाई पडती है, इसमें विद्यमान शक्ति का अनुमान से ही ज्ञान होता है ॥२९॥

यह माया शक्ति अपने कार्य रूप जगत् से और अपने आश्रय परमब्रह्म से विलक्षण—विपरीत स्वभाव वाली है । माया शक्ति के अपने कार्य से तथा अपने आश्रय से विलक्षणता दृष्टान्त प्रदर्शन पूर्वक दिखाते हैं जसे वह्निगत शक्ति का कार्य स्फोट और आश्रय रूप अङ्गारों ये दोनों प्रत्यक्ष रूप से अवगत हो जाते हैं । शक्ति तो कार्य से अनुमित होती है । इसलिए वह कार्य और आश्रय से विलक्षण शक्ति है ॥२९॥

उक्त शक्ति को मृत्तिका शक्ति में भी घटाते हैं —

कुछ स्थूल आकार-प्रकार लिए हुए बीच में से मोटा घट कार्य है और इसमें शब्दादि पञ्चगुणों से युक्त मृत्तिका आश्रय है, किन्तु घटगत शक्ति तो उन दोनों से भिन्न ही है ॥३०॥

जो स्थूल वर्तुल आकार-प्रकार लिए हुए कुछ बड़ा सा पेट जिसका है ऐसा वह घट कार्य है और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक पांच गुणों से युक्त मृत्तिका आश्रय है । किन्तु घट में पृथिवी आश्रय कारण रूप है और शक्ति और कार्य और आश्रय दोनो से विलक्षण है ॥३०॥

वैलक्षण्यमेवाह—

न पृथ्व्यादिर्न शब्दादिः शक्तावस्तु यथा तथा ।
अत एव ह्यचिन्त्येषा न निर्वचनमर्हति ॥३१॥

अन्वयः—यथा न पृथ्वादि न शब्दादिः शक्तौ अस्तु तथा अत एव एषा अचिन्त्या हि निर्वचनं न अर्हति ।

'न पृथ्वादिरिति' । शक्तौ पृथुत्वादिकार्यधर्मो नास्ति, शब्दादिकः आश्रयधर्मोऽपि न विद्यते, अतो विलक्षणेत्यर्थः तर्हि सा कीदृशीत्यत आह–'अस्त्विति' । यथा तथेत्युक्तमेवार्थं स्पष्टयति–'अत एवेति' । अतः कार्याश्रयतश्च विलक्षणा अत एवैषा अचिन्त्या चिन्तितुमशक्या । ननु तर्हि अचिन्त्यत्वमेव तस्याः स्वरूपं स्यादित्याशङ्क्याह—'न निर्वचनमिति' । भेदेनाभेदेनाचिन्त्यत्वादिना वा येन केनापि रूपेण निर्वचनं नार्हतीत्यर्थः ॥३१॥

अब विलक्षणता को दिखाते हैं —

शक्ति में पृथुत्वादिक कार्य धर्म नहीं है तथा शब्दादिक आश्रय धर्म भी नहीं है । इसलिए यह शक्ति अचिन्त्य और अनिर्वचनीय है ॥३१॥

शक्ति में पृथुत्वादिक कार्य धर्म नहीं रहता है तथा शब्दादिक आश्रय धर्म नहीं है । इसी कारण शक्ति विलक्षण है तो भी फिर वह शक्ति कैसी है । जैसी है वैसी ही स्पष्ट करते हैं । जब कि कार्य और आश्रय से है । मन से भी चिन्तन करने योग्य नहीं है । अच्छा तो वह शक्ति का स्वरूप अचिन्त्य ही सिद्ध हुआ ? उत्तर यह है कि भेद एवं अभेद से भी अचिन्त्य है अथवा अन्य किसी भी उपाय से निर्वचन नहीं हो सकता है ॥३१॥

ननु कारणस्वरूपातिरिक्ता शक्तिर्यद्यस्ति तर्हि कारणस्वरूपमिव सा कुतो नावभासत इत्याशङ्कयाह—

> कार्योत्पत्तेः पुरा शक्तिर्निगूढा मृद्यवस्थिता ।
> कुलालादिसहायेन विकाराकारतां व्रजेत् ।।३२।।

अन्वयः—कार्योत्पत्तेः पुरा मृदि अवस्थिता निगूढा शक्तिः कुलालादिसहायेन विकाराकारतां व्रजेत् ।

'कार्योत्पत्तेरिति' । मृच्छक्तिर्घटादिकार्योत्पत्तेः पूर्वं मृदि निगूढाऽवतिष्ठते, अतो नावभासत इत्यर्थः । निगूढत्वे उपरिष्टादपि न तस्या अभिव्यक्तिः स्यादित्याशङ्कय, अनभिव्यक्तस्यापि नवनीतादे-र्मन्थनादिनेव कुलालादिव्यापारेण तस्या अभिव्यक्तिः स्यादित्याह—'कुलालादीति' । 'आदि' शब्देन दण्डचक्रादयो गृह्यन्ते ।।३२।।

यदि कहो कारण स्वरूप से भिन्न शक्ति है तो कारण स्वरूप के समान वह क्यों नहीं अवभासित होती है, इस पर कहते हैं—

शक्ति घटादि कार्य उत्पत्ति से पूर्व मृत्तिका में छिपी हुई रहती है । कुम्भकार एवं घट के निर्माण आदि में सहायक दण्ड चक्रादि के उपकरण से विकार के आकार को प्राप्त करती है ।।३२।।

मृत्तिका में अवस्थित घटोत्पत्ति की अनुकूल शक्ति घटादिरूप कार्य के उत्पन्न होने से पूर्व मृत्तिका में अवस्थित रही है । इसलिए वह शक्ति दृष्टिगोचर नहीं होती है । यदि छिपी रहती है तो तब तो बाद में भी उसकी अभिव्यक्ति नहीं होनी चाहिए ऐसी शंका कर सकते हैं कि वह शक्ति मन्मथ द्वारा नवनीत आदि की भांति कुम्भकारादि व्यापार से अभिव्यक्त हो जाती है श्लोक में उद्धृत आदि शब्द से दण्ड, चक्र, चीवरादि संग्रहीत है । कुम्भकार दण्ड, चक्र, चीवर आदि उपकरणों के द्वारा घटरूप कार्य के आकार को वह शक्ति प्राप्त कर लेती है ।।३२।।

ननु कारणातिरिक्तस्य शक्तिकार्यस्य सत्त्वे कार्यकारणयोर्भेदो न कुतोऽवभासत इत्याशङ्क्य, भेदप्रतीतिहेतोर्विचारस्याभावादित्याह —

पृथुत्वादिविकारान्तं स्पर्शादिं चापि मृत्तिकाम् ।
एकीकृत्य घटं प्राहुर्विचारविकला जनाः ।।३३।।

अन्वयः—पृथुत्वादिविकारान्तं स्पर्शादिं मृत्तिकाम् चापि एकीकृत्य विचार विकला जनाः घटं प्राहुः ।

'पृथुत्वादीति' । अविवेकिनो जनाः पृथुबुध्नत्वादिरूपं कार्यं शब्दस्पर्शादिगुणरूपं कारणभूतां मृत्तिकां चाविचारत एकीकृत्य घट इत्याचक्षते ।।३३।।

उक्तस्य घटव्यवहारस्याविचारमूलत्वं कुत इत्याशङ्क्याह —

कुलालव्यापृतेः पूर्वो यावानंशः स नो घटः ।
पश्चात्तु पृथुबुध्नादिमत्त्वे युक्ता हि कुम्भता ।।३४।।

अन्वयः- कुलाल व्यापृतेः पूर्वः यावान् अंश· नः सः घटः पश्चात्तु पृथुबुध्नादिमत्त्वे कुम्भता हि युक्ता ।

'कुलालेति' । कुलालव्यापारात्पूर्वभाविनो मृदंशस्याघटस्य घटत्वेन व्यवहाराविचारमूलत्वं तस्येति भावः । कस्य तर्हि घटत्वमित्यत आह —'पश्चात्त्विति' । कुलालव्यापारानन्तरं भाविनः पृथुबुध्नोदराकारस्यैव घटशब्दवाच्यत्वमुचितं, तदुत्पत्त्यनन्तरमेव घट' शब्दप्रयोगदर्शनादिति भावः ।।३४।

यदि कहो कि कारण से भिन्न शक्ति का कार्य मानोगे तो कार्य कारण का भेद क्यों प्रतीत नहीं होता ऐसी शंका पर कहते हैं कि भेद प्रतीति के हेतु विचार के अभाव होने से ही भेद नहीं भासता—

विचार शून्य व्यक्ति स्थूलत्वादिरूपकार्य को और स्पर्शादिगुणवाली कारणभूत मृत्तिका को एक पिण्डाकार कर घट समझ लेते हैं ।।३३।।

अविवेकी लोग पृथुत्व स्थूल आकार प्रकार वाले कार्य को और शब्द स्पर्शादिगुण वाली कारणभूत मृत्तिका को अविचार से एक जान करके यह घट है ऐसा कहते हैं ।।३३।।

उक्त घट सम्बन्धी व्यवहार अविचार का जनक है, यह कैसे हो सकता है इसका उत्तर देते हैं—

कुम्भकार के व्यापार से पहले जितना अंश मिट्टी का है वह घट नहीं है । किन्तु कुम्भकार के व्यापार के अनन्तर स्थूल वर्तुल उदर के आकार की घटरूपता कहना ठीक भी है ।।३४।।

कुम्भकार के व्यापार से पहले होने वाले मृत्तिका के अंश अघट के घटरूप व्यवहार होने से अविचार मूलक है । तब फिर घट किसका नाम है ? कुलाल के व्यापार के अनन्तर स्थूल वर्तुल उदराकार वाली वस्तु को ही घट शब्द से कहना उचित है । क्योंकि उस आकार प्रकार की उत्पत्ति के पश्चात् ही घट शब्द का प्रयोग करता हुआ देखा जाता है ।।३४।।

ननु पारमार्थिकस्य घटस्यानिर्वचनीयशक्तिकार्यत्वमयुक्तमित्याशङ्क्य, घटस्यापि पारमार्थिकत्वमसिद्धमित्याह —

स घटो न मृदोभिन्नो वियोगे सत्यनीक्षणात् ।

नाप्यभिन्नः पुरा पिण्डदशायामनवेक्षणात् ॥३५॥

अन्वयः—स घटः मृदः भिन्नो न वियोगे सति अनीक्षणात् नापि अभिन्नः पुरा पिण्डदशायां अनवेक्षणात् ।

'स घट इति' । घटो मृदः पृथक्कृत्य द्रष्टुमशक्यत्वान्न मृदो भिद्यते, नापि मृदेव, पिण्डावस्थायामनुपलभ्यमानत्वात् ॥३५॥

अतः शक्तिवद निर्वचनीय एव घटः फलितार्थमाह—

अतोऽनिर्वचनीयोऽयं शक्तिवत्तेन शक्तिजः ।

अव्यक्तत्वे शक्तिरुक्ता व्यक्तत्वे घटनामभृत् ॥३६॥

अन्वयः—अतः अयं अनिर्वचनीयः शक्तिवत् तेन शक्तिजः अव्यक्तत्वे शक्तिः उक्ता व्यक्तत्वे घटनामभृत् ।

'तेनेति' ननु शक्ति-कार्ययोरुभयोरप्यनिर्वचनीयत्वे शक्तिः कार्यं चेति भेदव्यवहारः कुत इत्यत आह—'अव्यक्तत्व इति ॥३६॥

कदाचित कहो कि पारमार्थिक जो घट है वह अनिर्वचनीय शक्ति का कार्यत्व है । यह कथन अयुक्त है । ऐसी शंका करके घट की भी पारमार्थिकता नहीं हो सकती इस प्रकार कहते हैं—

वह घट मिट्टी से भिन्न नहीं है, क्योंकि उसको मृत्तिका से भिन्न करके कभी भी नहीं देखा जाता है और वह घट मृत्तिका से अभिन्न रूप भी नहीं है । क्योंकि वह घट पिण्डाकार अवस्था में उपलब्ध (प्राप्त नहीं) हो सकता है ॥३५॥

घट मृत्तिका से पृथक् करके देखना असम्भव है । इसलिए वह घट मृत्तिका से भिन्न भी नहीं है । क्योंकि वह मृत्तिका रूप भी नहीं है, मृत्तिका से अभिन्न भी नहीं है, क्योंकि वह घट पिण्डाकार अवस्था में दीखता भी नहीं ॥३५॥

इससे यह घट शक्ति के समान अनिर्वचनीयरूप है इस प्रकार फलितार्थ को कहते हैं—

शक्ति के समान अनिर्वचनीय यह घट है इसलिए घटशक्ति से उत्पन्न हुआ कार्य है । जब घट अव्यक्त रूप में रहता है तब वह शक्ति रूप कहा है और व्यक्त रूप में घट संज्ञासे पुकारा जाता है ॥३६॥

शक्ति के समान यह घट अनिर्वचनीय है । पारमार्थिक नहीं है । इसी कारण शक्ति का कार्य घट हो सकता है । अतः अनिर्वचनीय होने से अनिर्वचनीय शक्ति से पैदा हुआ होने पर यह शक्ति है यह कार्य है इस प्रकार का भेद व्यवहार क्यों होता है ? उत्तर यह है कि अव्यक्तरूप में शक्ति कहलाता है और व्यक्तरूप में घटरूप कार्य कहलाता है यही इन दोनों में भेद है ॥३६॥

पूर्वमनभिव्यक्ता मायाशक्तिः पश्चादभिव्यज्यत इत्येतन्न प्रसिद्धं मायास्वरूपं लभ्यत इत्याशङ्क्याह—

ऐन्द्रजालिकनिष्ठापि माया न व्यज्यते पुरा ।
पश्चाद्गन्धर्वसेनादिरूपेण व्यक्तिमाप्नुयात् ॥३७॥

अन्वयः—पुरा ऐन्द्रजालिकनिष्ठापि माया न व्यज्यते पश्चात् गन्धर्वसेनादिरूपेण व्यक्तिं आप्नुयात् ।

'ऐन्द्रजालिकेति' । पुरा मणिमन्त्रादिप्रयोगात् पूर्वम् ॥३७॥

शक्तिकार्यस्य घटादेरनृतत्वं शक्त्याधारस्य मृदादेः सत्यत्वमित्येतत 'छान्दोग्य' श्रुतावप्यभिहितमित्याह—

एवं मायामयत्वेन विकारस्यानृतात्मताम् ।
विकाराधारमृद्वस्तुसत्यत्वं चाब्रवीच्छ्रुति ॥३८॥

अन्वयः—एवं मायामयत्वेन विकारस्य अनृतात्मतां विकाराधारमृद्वस्तुसत्यत्वं श्रुतिः च अब्रवीत् ।

'एवमिति' । मायामयत्वेन मायाकार्यत्वेन विकारस्य कार्यरूपस्य घटादेरनृतात्मतां मिथ्यात्वं विकाराणां घटादीनामाधारभूताया मृदः सत्यत्वं 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० ६।१।४) इत्यादिश्रुतिरुक्तवतीत्यर्थः ३८॥

यदि शंका करो कि पूर्व में अप्रकट शक्तिमाया पीछे से अभिव्यक्त होती है। इस कथन से लोक प्रसिद्ध माया का स्वरूप कहीं भी प्रकट नहीं होता। ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—

ऐन्द्रजालिक में रहने वाली माया मणिमन्त्रादि के पूर्व जो अनभिव्यक्त रूप ही रहती है, कार्य से पूर्व अप्रकट रहती है बाद में गन्धर्व नगर सेना आदि कार्य के रूप में व्यक्त (प्रकट) हो जाती है ॥३७॥

शक्ति का घटरूप कार्य अनित्य है और शक्ति का आधार मृत्तिकादि सत्य है। इस विषय में छान्दोग्य श्रुति प्रमाणित है——

इस प्रकार माया शक्ति का कार्य होने से घटादि कार्यों को मिथ्या और घटादि कार्यों की आधार भूति मृत्तिका को सत्य, श्रुति ने कहा है ॥३८॥

मायामय यह सम्पूर्ण कार्य होने से घटादि कार्य विकार युक्त है इसलिए मिथ्या है तथा विकार वाले घटादि कार्यों की आधारभूत मृत्तिका कारण होने से सत्य है। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' छान्दोग्य श्रुति में कहा है कि वाणी से कहे जाने योग्य विकार युक्त ही सब घटादि कार्य है। इसलिए उसका कारण मिट्टी ही केवल सत्य है ॥३८॥

इदानीं 'वाचारम्भणम्' (छा० ६।१।४) इत्याद्युदाहृतं वाक्यमर्थतः पठति—

वाङ्निष्पाद्यं नाममात्रं विकारो नास्य सत्यता ।
स्पर्शादिगुणयुक्ता तु सत्या केवलमृत्तिका ॥३९॥

अन्वयः—वाङ्निष्पाद्यं नाममात्रं विकारः अस्य सत्यता न स्पर्शादिगुणयुक्ता तु केवल मृत्तिका सत्या ।

'वाङ्निष्पाद्यमिति' । वागिन्द्रियेणोच्चार्यं नाममात्रं नामैवास्य घटादेर्न सत्यता न नामातिरेकेण पारमार्थिकं रूपमस्ति, किं तु तदाधारभूता मृदेव सत्येत्यर्थः ॥३९॥

शक्तितत्कार्ययोरनृतत्वे तदाधारस्य सत्यत्वे च कारणमाह—

व्यक्ताव्यक्ते तदाधार इति त्रिष्वाद्ययोर्द्वयोः ।
पर्यायः कालभेदेन तृतीयस्त्वनुगच्छति ॥४०॥

अन्वयः - व्यक्ताव्यक्ते तदाधारः इति त्रिषु द्वयोः आद्ययोः कालभेदेन पर्यायः तृतीयस्तु अनुगच्छति ।

'व्यक्तेति' । व्यक्तो घटादिलक्षणः कार्यः अव्यक्ता तत्कारणभूता शक्तिः, ते व्यक्ताव्यक्ते, तदाधारस्तयोराधारभूता मृत्तिका, इत्येतेषु त्रिषु मध्ये आद्ययोः प्रथमोद्दिष्टयोर्द्वयोः कार्यशक्त्योः सम्बन्धिनौ यौ कालौ तयोर्भेदेन भेदस्य विद्यमानत्वात्पर्यायः क्रमेण भवनम्, तृतीयस्तदुभयाधारस्तु मृदादिरनुगच्छति, उभयत्रानुवर्तते । अयंभावः शक्तिकार्ययोः कादाचित्कत्वादनृतत्वम्, आधारस्य तु कालत्रयानुगामित्वात्सत्यत्वमिति ॥४०॥

अब 'वाचारम्भणम्' इत्यादि उदाहृत श्रुति वाक्य का अर्थतः पाठ करते हैं—

वाणी से उच्चारण करने योग्य शब्द मात्र ही घटादि कार्य का स्वरूप माना जाता है। इसकी सत्यता पारमार्थिक सत्य नहीं है. किन्तु स्पर्शादि गुणों से युक्त मात्र घटादि कार्य की आधाररूप मृत्तिका ही सत्य पारमार्थिक मानी जाती है ॥३९॥

वागिन्द्रिय से बोले जानने योग्य घटरूप विकार मात्र शब्दरूप ही है। इसका घटादि नाम ही नाम है परमार्थ में घटादि कार्य सत्य नहीं है। क्योंकि नाम से भिन्न इसका कोई पारमार्थिक रूप नहीं है। किन्तु उस घटादि का आधारभूत मृत्तिका ही सत्य है ॥३९॥

शक्ति और उसके कार्य मिथ्यात्व होने में उसके आधार के सत्यत्व में हेतु देते हैं—

व्यक्त अव्यक्त और इन दोनों का आधार इन तीनों के मध्य में आद्य दो काल के भेद से पर्याय—क्रमिक है, तृतीय मृत्तिका तीनों काल में अनुगत रहने से सत्य कहलाती है ॥४०॥

इदानीं विकारस्यैवासत्यत्वे हेतुत्रयमाह—

निस्तत्त्वं भासमानं च व्यक्तमुत्पत्तिनाशभाक् ।
तदुत्पत्तौ तस्य नाम वाचा निष्पाद्यते नृभिः ॥४१॥

अन्वयः—निस्तत्त्वं भासामानं च व्यक्तं उत्पत्तिनाशभाक् तदुत्पत्तौ नृभिः वाचा तस्य नाम निष्पाद्यते ।

'निस्तत्त्वमिति' । व्यक्तं 'व्यक्त' शब्दवाच्यं घटादिकार्यं स्वरूपेणासदेवावभासते, तथोत्पत्ति-विनाशवदुपलभ्यते, उत्पत्त्यनन्तरं वागिन्द्रियजन्यनामात्मकत्वेन व्यवह्रियते च ॥४१॥

व्यक्त घटादि लक्षण कार्य है, अव्यक्त उसकी कारणभूत शक्ति है । व्यक्त और अव्यक्त इन दोनों का आधारभूत मृत्तिका है । इस प्रकार इन तीनों के बीच में प्रथम दोनों का कार्य और शक्ति का सम्बन्धी जो अतीत काल एवं वर्तमान काल है । उन कालों के भेद से शक्ति और कार्य के भेद उपस्थित होने के कारण क्रम रहता है । शक्ति और कार्य के आधारभूत तृतीयपदार्थ मृत्तिका शक्ति और कार्य इन दोनों में अनुस्यूत रहती है । इसलिए मृत्तिका ही सत्य है । आशय यह है कि शक्ति और कार्य दोनों कादाचित्क होने के कारण अनित्य है जो उन दोनो का आधारभूत मृत्तिका तीनों कालों में अनुगत रहने से सत्य है ॥४०

अब विकार के मिथ्या होने में तीन हेतु देते हैं —

व्यक्त वस्तु निस्तत्त्व होने पर भी भासती है उत्पत्ति एवं विनाशशील देखने में आती है । उसकी उत्पत्ति के पश्चात् मनुष्यों के द्वारा वाणी से व्यवहार किया जाता है ॥४१॥

व्यक्तं - व्यक्त शब्द का वाच्य घटादि कार्य स्वरूप से मिथ्या होता हुआ भी प्रतीत होता है तथा उत्पत्ति और विनाशशील भासता है । उत्पत्ति के अनन्तर लोग वागिन्द्रिय जन्य घट इत्यादि नाम से पुकारते हैं ॥४१॥

किं च

व्यक्ते नष्टेऽपि नामैतन्नृवक्त्रेष्वनुवर्तते ।
तेन नाम्ना निरूप्यत्वाद्व्यक्तं तद्रूपमुच्यते ॥४२॥

अन्वयः—व्यक्ते नष्टेऽपि एतत् नृवक्त्रेषु नाम अनुवर्तते तेन नाम्ना निरूप्यत्वात् व्यक्तं तद्रूपं उच्यते ।

'व्यक्त इति' । व्यक्ते कार्यस्वरूपे नष्टेऽपि एतत्कार्यादभिन्नं नाम नृवक्त्रेषु नृणां शब्दप्रयोक्तॄणां मनुष्याणां वदनेष्वनुवर्तते । ततः किं तत्राह—'तेनेति' । व्यक्तं कार्यं तेन वाचा व्यवह्रियमाणेन नाम्ना शब्देन निरुप्यत्वाद्व्यवह्रियमाणत्वात्तद्रूपं तस्य नाम्नो रूपमेव रूपं यस्य तत्तथा नामात्मकमुच्यत इत्यर्थः । अयं भावः विमतो घटः घटशब्दात्मको भवितुमर्हति, 'घट'शब्देन व्यवह्रियमाणत्वात् घटशब्दवदिति ॥४२॥

तथा—

व्यक्त वस्तु के विनष्ट हो जाने पर उसका यह कार्य से भिन्न नाम=शब्द, लोगों के मुख में रह जाता है वह व्यक्त वस्तु उसी नाम से निरुप्यमाण होने के कारण नामात्मक कहलाती है ॥४२॥

कार्यरूप व्यक्त पदार्थ के विनष्ट हो जाने पर भी यह कार्य से अभिन्न नाम शब्दों के प्रयोग करने वाले मनुष्यों के मुख में यह घटशब्द वर्तता रहता है । इससे क्या होने वाला है ।

उत्तर—यह है कि व्यक्त 'कार्य उसी नाम से वाणी द्वारा व्यवहार करने योग्य नाम से शब्द से निरूपण करने योग्य होने के कारण नाम के ही रूप वाला नामात्म कहा जाता है आशय यह है कि विवाद का विषय घट पद घट शब्दात्मक हो सकता है । घट शब्द व्यवह्रियमाण होने के कारण घट-शब्द की भाँति ॥४२॥

एवं हेतुत्रयं प्रसाध्य, इदानीमनुमानरचनाप्रकारं सूचयति —

निस्तत्त्वत्वाद्विनाशित्वाद्वाचारम्भणनामतः ।

व्यक्तस्य न तु तद्रूपं सत्यं किंचिन्मृदादिवत् ।।४३।।

अन्वय :—निस्तत्त्वात् विनाशित्वात् वाचारम्भणनामतः व्यक्तस्य तु किंचित् मृदादिवत् सत्यं तद्रूपं न ।

'निस्तत्त्वत्वादिति' । व्यक्तस्य घटादिरूपस्य कार्यस्य यत्पृथुबुध्नोदराकारं रूपमस्ति, तत्किंचित्किमपि सत्यं न भवति, निस्तत्त्वत्वान्निर्गतं तत्त्वं वास्तवरूपं यस्मात्तन्निस्तत्त्वं, तस्य भावो निस्तत्त्वत्वं, तस्मात्तथा विनाशित्वान्मृदि सत्यामेव विनाशप्रतियोगित्वात् वाचारम्भणनामतः वागिन्द्रियजन्यशब्दमात्रात्मकत्वात्त्रिष्वपि हेतुषु मृद्वदिति वैधर्म्यदृष्टान्तः । अत्रैवं प्रयोगः—घटादिरूपः कार्यः असत्यो भवितुमर्हति, निस्तत्त्वत्वात् यदसत्यं न भवति न तन्निस्तत्त्वं, यथा घटाद्युपादानं मृदिति केवलव्यतिरेकी एवमितरहेतुद्वयेऽपि योजनीयम् ।।४३।।

इस प्रकार तीनों हेतुओं को दिखाकर अब अनुमान रचना के प्रकार से सूचित करते हैं—

व्यक्त रूप कार्य घट के पृथुत्वादि आकार रूप है, वह मृत्तिका की भाँति सत्य नहीं है। क्योंकि वह निस्तत्व है और विनाशशील है तथा कथन मात्र है।।४३।।

व्यक्त घटादिरूप कार्य का जो प्रथुबुध्नोदर आकार रूप है, वह थोड़ा सा भी सत्य नहीं होता है। जिस तत्त्व का पारमार्थिक रूप निकल गया है, वह निस्तत्व रूप है। यदि वह रूप मिथ्या न होता तो जैसे मृत्तिका आदि निस्तत्व नहीं है, विनाशशील नहीं है और केवल शब्द मात्र नहीं, ठीक इसी प्रकार यह भी होता। अनुमान का प्रकार यह है कि घटादि कार्य मिथ्या हो सकता है। क्योंकि निस्तत्त्व है जो असत्य नहीं होता है। वह निस्तत्व भी नहीं होता है, जैसे घटादि कार्य की उपादान कारण मृत्तिका यह केवल व्यतिरेकी अनुमान है घटादि कार्य मिथ्या हो सकता है। विनाशशील होने के कारण जो मिथ्या नहीं होता वह विनाशी भी नहीं होता है। जैसा कि मृत्तिका घटादि कार्य मिथ्या हो सकता है, वाणी से उत्पन्न हुए शब्द मात्र स्वभाव से युक्त होने के कारण वह मिथ्या नहीं होता, वह वाणी से उत्पन्न हुए शब्द मात्र स्वभाव वाला भी नहीं होता है जैसे आकाश ।।४३।।

एवं विकारस्यासत्यत्वमुपपाद्य, इदानीं तदधिष्ठानरूपाया मृदः सत्यत्वमुपपादयति—

व्यक्तकाले ततः पूर्वमूर्ध्वमप्येकरूपभाक् ।
सतत्त्वमविनाशं च सत्यं मृद्वस्तु कथ्यते ॥४४॥

अन्वयः—व्यक्तकाले ततः पूर्वं ऊर्ध्वं अपि एकरूपभाक् सतत्त्वमविनाशं च मृद्वस्तु सत्यं कथ्यते ।

'व्यक्तेति' । व्यक्तकाले स्थितिकाले ततः पूर्वं व्यक्तोत्पत्तेः, ऊर्ध्वमपि व्यक्तविनाशोत्तरकालेऽपि एकरूपभाक् एकाकारं सतत्त्वं तत्त्वेन वास्तवरूपेण सह वर्तत इति सतत्त्वम् अविनाशं विकारेण सह नाश रहितं यन्मृद्वस्तु तत्सत्यमिति कथ्यते । अत्रेदमनुमानम् विमतं मृद्वस्तु सत्यं भवितुमर्हति सतत्त्वत्वात्, आत्म वदित्यादि योज्यम् ॥४४॥

ननु घटादेः कार्यजातस्यासत्यत्वे तस्यारोपितरजतादेरिवाधिष्ठानज्ञानेन निवर्त्यता स्यादिति शङ्कते—

व्यक्तं घटो विकारश्चेत्येतैर्नामभिरीरितः ।
अर्थश्चेदनृतः कस्मान्न मृद्बोधे निवर्तते ॥४५॥

अन्वय :—व्यक्तं घटः विकारश्च इति एतैः नामभिः ईरितः अर्थश्चेत् अनृतः मृद्बोधे कस्मात् न निवर्तते ।

'व्यक्तमिति' । व्यक्तमित्यादिभिस्त्रिभिः शब्दैरभिधीयमानो योऽर्थः कार्यरूपस्तस्य कारणातिरेकेणासत्त्वेऽङ्गीक्रियमाणे मृल्लक्षणकारणस्य ज्ञाने किं न तन्निवृत्तिः स्यादित्यर्थः ॥४५॥

इस प्रकार विकार के मिथ्यात्व का उपपादन (कहकर) करके अब अधिष्ठान रूप मृत्तिका की सत्यता का प्रतिपादन करते हैं—

घट रूप कार्य के व्यक्त काल में और उत्पत्ति के पूर्व अवस्था में तथा कार्य के विनष्ट हो जाने पर भी एक सी पारमार्थिक तथा सत्य रूप से मृत्तिका ही रहती है यह कहा जाता है ॥४४॥

व्यक्त काल में घटरूप कार्य के स्थितिकाल में और कार्योत्पत्ति की पूर्वावस्था में व्यक्त पदार्थ के विनाश के पश्चात् उत्तरकाल में भी एकाकार वास्तविक स्वभाव से युक्त तथा अविनाश विकार के साथ नष्ट न होने वाली विनाश रहित जो मृत्तिका वस्तु वह सत्य है यह कहा जाता है । इस विषय में अनुमान प्रकार यह है कि विवाद का विषय मृत्तिका पदार्थ सत्य है । क्योंकि वह सतत्वरूप है आत्म वस्तु की भाँति ॥४४॥

घटादि कार्य वर्ग (समूह) को असत् रूप होने पर उसमें आरोपित रजतादि की भाँति अधिष्ठान के ज्ञान से निवृत्ति होगी इस प्रकार शंका करके—

व्यक्त (प्रकट) और विकार इन तीनों शब्दों द्वारा कहा हुआ यदि कार्यरूप अर्थ मिथ्या है तो मृत्तिकारूपी कारण के ज्ञान हो जाने पर उनकी निवृत्ति क्यों नहीं होती ॥४५॥

व्यक्त इत्यादि शब्दों से कहा जाने वाला जो कार्यरूप अर्थ है वह यदि कारण से भिन्न मिथ्यात्व रूप अङ्गीकार किया जाय तो मृत्तिकारूप कारण के ज्ञान हो जाने पर यह अर्थ क्यों नहीं निवृत्ति हो जाता है ॥४५॥

इष्टापत्तिरिति परिहरति—

निवृत्त एव यस्मात्ते तत्सत्यत्वमतिर्गता ।
ईदृङ्निवृत्तिरेवात्र बोधजा न त्वभासनम् ।।४६।।

अन्वय :—यस्मात् ते निवृत्त एव तत् सत्यत्वमतिः गता ईदृङ् निवृत्तिरेव अत्र बोधजा न तु आभासनम् ।

'निवृत्त इति' । तत्रोपपत्तिमाह—'यस्मादिति' । यस्मात्कारणात्तव घटादिविषयसत्यत्वबुद्धिर्नष्टा; अतः स निवृत्त एवेत्यर्थः । नन्वारोपितरजतादिरूपस्यैवाप्रतीतिरुपलभ्यते, न सत्यत्वबुद्ध्यपगम इत्याशङ्क्य तस्यनिरुपाधिकभ्रमत्वाद स्तु तथात्वमिह तु सोपाधिभ्रमे—एव निवृत्तिः स्यादित्यभिप्रायेणाह –'ईदृगिति' । अत्र सोपाधिकभ्रमस्थले ईदृगेव सत्यत्वबुद्ध्यपगमरूपैव बोधजा अधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानजन्या निवृत्तिरभ्युपेया, न त्वभासनं नस्वरूपाप्रतीतिरूपेत्यर्थः ।।४६।।

इष्टापत्ति से परिहार करते हैं—उक्त शंका का परिहार—

जबकि तुम्हारी घटादि कार्य के प्रति उदित हुई सत्यत्वबुद्धि विनष्ट हो चुकी है । यहाँ पर ऐसी अधिष्ठानरूप मृत्तिका के यथार्थज्ञान से उत्पन्न हुई सत्यत्वबुद्धि की निवृत्तिरूप निवृत्ति ही समझना, घटकी अप्रतीति होना यह नहीं ।।४६।।

इस विषय में उपपत्ति देकर कहते हैं जिस कारण से आपकी घटादिविषयक सत्यत्वबुद्धि विनष्ट हो गयी है घटादि पदार्थ मिथ्या है और अधिष्ठान रूप कारण मृत्तिका ही सत्य है । यह निश्चय होना ही एक प्रकार से निवृत्ति कही जाती है ।

अब शंका करते हैं कि आरोपित रजतादि की अप्रतीति रूप निवृत्ति भी तो उपलब्ध होती है सत्यत्वबुद्धि की निवृत्ति नहीं होती है रजतादिभ्रम निरूपाधिक भ्रम है प्रकृत में तो सोपाधिक भ्रम है सत्यत्वबुद्धि का नाश ही निवृत्ति है ।

उत्तर देते हैं कि यहां पर सोपाधिकभ्रम स्थल में सत्यबुद्धि का नाश ही अधिष्ठान के सत्यत्व ज्ञान से उत्पन्न विनाश को स्वीकार करना होगा वास्तविकता के बोध होने से केवल स्वरूप की अप्रतीति निवृत्ति नहीं हो जाती है ।।४६।।

एवं क्व दृष्टमित्यत आह—

> पुमानधोमुखो नीरे भातोऽप्यस्ति न वस्तुतः ।
> तटस्थमर्त्यवत्तस्मिन्नैवास्था कस्यचित्क्वचित् ॥४७॥

अन्वय :—नीरे अधोमुखो पुमान् भातः अपि वस्तुतः न अस्ति तटस्थमर्त्यवत् तस्मिन् कस्यचित् क्वचित् आस्था नैव ।

'पुमानिति' । जलेऽधोमुखत्वेन प्रतिभासमानोऽपि पुमान् परमार्थतो नास्ति । तत्रोपपत्तिमाह—तटस्थेति' । कस्यचिद्विवेकिनोऽविवेकिनो वा तस्मिन्नधोमुखे पुरुषे तीरस्थपुरुष इव सत्यत्वाभिमानः क्वचिद्देशे काले वा नैवास्तीति ॥४७॥

नन्वारोपितस्यासत्यत्वज्ञानमात्रान्न पुरुषार्थसिद्धिरित्याशङ्क्याह—

> ईदृग्बोधे पुमर्थत्वं मतमद्वैतवादिनाम् ।
> मृद्रूपस्यापरित्यागाद्विवर्तत्वं घटे स्थितम् ॥४८॥

अन्वय:—अद्वैतवादिनां ईदृग्बोधे पुमर्थत्वं मतं मृद्रूपस्य अपरित्यागात् घटे विवर्तत्वं स्थितम् ।

'ईदृगिति' । अद्वैतवादे आत्मानन्दातिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वनिश्चये सत्यद्वितीयानन्दाभिव्यक्तिलक्षणः पुरुषार्थः सिध्यतीत्यभिप्रायः । ननु घटस्य मृद्विवर्तत्वे सिद्धे तज्ज्ञानाद्घटसत्यत्वबुद्धिर्निवर्तते, न चैतदिदानीं सिद्धमित्याशङ्क्याह - 'मृद्रूपस्येति' ॥४८॥

पूर्वोक्त निवृत्ति स्थल को दिखाते हैं—

वस्तुतः जल में अधोमुख दिखाई देने वाला व्यक्ति होता नहीं है । किसी भी व्यक्ति को उस अधोमुख पुरुष में तटस्थ मनुष्य की सी सत्य होने की आस्था किसी भी देशकाल में नहीं होती है ॥४७॥

परमार्थतः जल में अधोमुख रूप से प्रतीयमान भी पुरुष नहीं है इस विषय में उपपत्ति दिखाते हैं । किसी भी विवेकी या अविवेकी व्यक्ति को उस नीचे मुख किया हुआ पुरुष में किनारे पर खड़े पुरुष में सत्यत्व के अभिमान की भाँति सत्यत्व का अभिमान किसी भी देश में या काल में किसी को भी नहीं होता है ॥४७॥

शंका आरोपित घट वस्तु है इस प्रकार असत्यत्व के ज्ञान करने मात्र से अद्वैतवादी की मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो जाती है ऐसी शंका पर कहते हैं —

अद्वैत वादियों को आत्मा से भिन्न सबको मिथ्या जान लेने पर ही पुरुषार्थ सिद्धि अभिमत है । घटका निर्माण हो जाने पर भी मृत्तिका अपने मृद्रूप का परित्याग नहीं करती है । अतः घट मिट्टी का विवर्त है ॥४८॥

घटे मृद्रूपपरित्यागाभावेऽपि मृत्परिणामता घटस्य किं न स्यादित्याशङ्क्याह—

परिणामे पूर्वरूपं त्यजेत्तत्क्षीररूपवत् ।
मृत्सुवर्णे निवर्तेते घटकुण्डलयोर्न हि ॥४९॥

अन्वय :—परिणामे पूर्वरूपं क्षीररूपवत् तत् त्यजेत् घटकुण्डलयोः मृत्सुवर्णे न हि निवर्तेते ।

'परिणाम इति' । अत्र क्षीरादौ परिणामोऽभ्युपगम्यते तत्र क्षीरादिभावस्य पूर्वरूपस्य त्याग उपलभ्यत इत्यर्थः । ननु विवर्ते पूर्वरूपापरित्यागः क्व दृष्ट इत्याशङ्क्य, मृत्-सुवर्णयोर्दृश्यत इत्याह — 'मृत्सुवर्णे' इति, । मृतसुवर्णे—विवर्तयोर्घट-कुण्डलयोर्निष्पन्नयोरपि तत्कारणभूतमृत-सुवर्णरूपे न निवर्तेते इति हि प्रसिद्धमित्यर्थः ॥४९॥

अद्वैतवाद के सिद्धान्त में आत्मानन्द से अतिरिक्त सबका मिथ्यात्वभाव निश्चय होने पर अद्वितीय परमानन्द की अभिव्यक्तिरूप (प्रकटता) पुरुषार्थ मोक्ष सिद्ध होता है । माना है –

अब शंका यह है कि घट मृत्तिका का विवर्त कार्य है । यह सिद्ध होने पर भी मृत्तिका के ज्ञान से घटके विषय में उत्पन्न सत्यत्व बुद्धि निवृत्त हो जाती है । परन्तु अभी भी घट विवर्त है यह सिद्ध नहीं हो रहा है ।

उत्तर— घट रूप कार्य का कारण मृत्तिका अपने स्वरूप का त्याग किये बिना ही अतत्वतोऽन्यथा भावरूप विवर्त कार्यरूप घट में अवस्थित रहता है । इसलिए मृत्तिका के ज्ञान हो जाने पर घट को सत्य मानने वाली बुद्धि निवृत्त हो जाती है । इस प्रकार घट विषयक बनी हुई सत्यत्व बुद्धि को दूरकर देना ही पुरुषार्थ है अप्रतीति नहीं, आशय यह है कि जब तक भौतिक पदार्थों की सत्य होने की वासना नहीं मिटती है तब तक अद्वितीय ब्रह्मानन्द की अभिव्यक्ति (प्रकटता) नहीं होती ॥४८॥

शंका - घट में मृत्तिका का परित्याग मत हो घट मृत्तिका का परिणाम क्यों नहीं होता है । इस पर कहते हैं—

परिणामवाद में दुग्ध का दही को परिणाम माना गया है । पूर्व रूप छोड़कर दूसरा रूप धारण करता है किन्तु घट और कुण्डलगत मृत्तिका और सुवर्ण दोनों ही अविकृत रहते हैं । उन दोनों की पूर्व अवस्था निवृत्त नहीं होती है ॥४९॥

जहाँ क्षीरादि में परिणाम माना जाता है । वहाँ क्षीरादिभाव अपने पूर्वरूप का परित्याग किया हुआ माना जाता है । अच्छा तो विवर्तवाद में पूर्वरूप का अपरित्याग कहाँ पर देखा गया है ?

उत्तर—मृत्तिका तथा सुवर्ण में देखा गया है —जैसा कि मृत्तिका का विवर्त कार्य घट और सुवर्ण का विवर्त कार्य कुण्डल इन दोनों के कार्यरूप में ढल (बदल) जाने पर भी उन दोनों के कारण मृत्तिका और सुवर्ण अपने स्वरूप को छोड़े बिना ही बने रहते है । क्योंकि यह बात सर्वजन विदित है इसलिए मृत्तिका और सुवर्ण विवर्त कार्य के कारण का दृष्टान्त सिद्ध हो सकता है ॥४९॥

ननु घटस्य मृद्विवर्तत्वमनुपपन्नं, घटनाशे पुनर्मृद्भावादर्शनादिति शङ्कते—

घटे भग्ने न मृद्भावः कपालानामवेक्षणात् ।
मैवं चूर्णेऽस्ति मृद्रूपं स्वर्णरूपं त्वतिस्फुटम् ॥५०॥

अन्वयः - घटे भग्ने मृद्भावः न, कपालानां अवेक्षणात्, मैवं चूर्णे मृद्रूपं अस्ति सुवर्णरूपं तु अतिस्फुटम् ।

'घट इति' । मृद्भावाभावे कारणमाह—'कपालानामिति' । कपालानामपि नाशे मृद्भावोपलब्धिः स्यादिति परिहरति — मैवमिति' । सुवर्णे त्वेतच्चोद्यमेवानवकाशमित्याह—'स्वर्णेति' ॥५०॥

ननु परिणामे दृष्टान्तत्वेनाभिहितानां क्षीर-मृत्-सुवर्णादीनां मध्ये यदि मृत्-सुवर्णयोर्विवर्त दृष्टान्तत्वमङ्गीक्रियते तर्हि तद्वदेव क्षीरस्यापि तथात्वं स्यादित्याशङ्क्याह—

क्षीरादौ परिणामोऽस्तु पुनस्तद्भाववर्जनात् ।
एतावता मृदादीनां दृष्टान्तत्वं न हीयते ॥५१॥

अन्वयः— एतावता क्षीरादौ परिणामः अस्तु पुनः तद्भाववर्जनात् मृदादीनां दृष्टान्तत्वं न हीयते ।

'क्षीरादाविति' । तर्हि क्षीरवदेवावस्थान्तरमापद्यमानयोस्तयोर्विवर्त दृष्टान्तता न भवेदित्याशङ्क्याह—'एतावतेति' एतावता क्षीरादेः परिणामित्वेन मृदादीनां सुवर्णादीनां दृष्टान्तत्वं विवर्त दृष्टान्तभावो न हीयते न नश्यति । अयमभिप्रायः - क्षीरस्य पूर्वरूपपरित्यागपुरःसरमवस्थान्तरप्राप्तिसद्भावात्परिणामित्वमेव मृत्सुवर्णयोस्तु अवस्थान्तरोत्पत्तिसद्भावेऽपि पूर्वरूपपरित्यागाभावाद्विवर्ततापीति ॥५१॥

जब घट मृतिका का विवर्त है यह युक्तियुक्त नहीं बैठता है क्योंकि घट के ध्वस्त होने पर पुनः मृद्भाव नहीं देखा जाता है इस प्रकार शंका करते हैं

घट के ध्वस्त होने पर भी तो मृद्भाव नहीं होता क्योंकि घटनाश होने पर जो कि कपालों को ही देखते हैं ऐसी शका मत करो, क्योंकि कपालों को चूर्ण कर देने पर मृत्तिका ही पायी जाती है और कुण्डलादि को गला देने पर तो सुवर्ण ही शुद्ध झलकता है ॥५०॥

मृद्भाव न होने में कारण कहते हैं घट के ध्वस्त हो जाने पर भी कपालो को ही देखा जाता है। मृत्तिका को नहीं, यह बात नहीं है। किन्तु कपालों को अच्छी तरह ध्वस्त कर देने पर शुद्ध रूप से मृत्तिका को ही पाया जाता है। कपालो के चूर्ण में मृत्तिका का ही स्वरूप रहता है। इसलिए उक्त आक्षेप का सुवर्ण दृष्टान्त में अवकाश नहीं है ॥५०॥

शंका - परिणाम में दृष्टान्त रूप से कथित दुग्ध मृत्तिका और सुवर्ण आदि के बीच में यदि मृत्तिका और सुवर्ण इन दोनो को विवर्त का दृष्टान्त स्वीकार करते हो तो दुग्ध को भी वैसे ही विवर्त का दृष्टान्त मान लो ऐसी शंका कर कहते हैं —क्षीरादि में परिणाम ही मान लो क्योंकि दधि को विनष्ट कर देने पर भी पुनः दुग्ध रूप से नहीं रह जाता है। एतावता मृदादिको का विवर्त रूप दृष्टान्त विनष्ट नहीं होता है ॥५१॥

ननु मृत्सुवर्णयोः परिणामविवर्ताविवारम्भकत्वमपि किं नाङ्गीक्रियत इत्याशङ्क्याह—

आरम्भवादिनः कार्ये मृदो द्वैगुण्यमापतेत् ।
रूपस्पर्शादयः प्रोक्ताः कार्यकारणयोः पृथक् ॥५२॥

अन्वय :—आरम्भवादिनः कार्ये मृदः द्वैगुण्यमापतेत् रूपस्पर्शादयः कार्यकारणयोः पृथक् प्रोक्ता ।

'आरम्भवादिन इति' । आरम्भवादिनो मते च कार्ये घटादिरूपे मृत्तिकादेर्द्रव्यस्य द्वैगुण्यं कार्याकारेण कारणाकारेण च द्विगुणत्वमापद्येत मृदः, तथा च सति गुरुत्वादि द्वैगुण्यमप्यापद्येतेति भावः । कुत एतदित्याशङ्क्याह—'रूपेति' । रूपादीनां गुणानां कार्यकारणयोर्भेदस्य तैरेवाङ्गीकृतत्वादिति भावः ॥५२॥

दुग्ध आदि दृष्टान्त में परिणामवाद ही है यह मान लेना होगा, क्योंकि दधि का विनाश होने पर फिर उसमें दुग्धता नहीं रह जाती है । इसलिए दुग्धादि को परिणामवाद माना जाता है और दुग्धादि विवर्त का दृष्टान्त नहीं हो सकता है । तब तो दुग्धादि की भाँति मृत्तिकादि भी विवर्त का दृष्टान्त नहीं बन सकेगा है । ऐसी शंका कर कहते हैं कि मृत्तिका एवं सुवर्ण आदि विवर्त का दृष्टान्त बन सकता है और होने में कोई बाधा नहीं है । आशय यह है कि दुग्ध तो पूर्व रूप को परित्याग कर दूसरी अवस्था की प्राप्ति कर लेता है । इसलिए दुग्ध को परिणामी कारण माना जाता है और मृत्तिका एवं सुवर्ण आदि अवस्थान्तर से उत्पन्न हो जाने पर भी पूर्व रूप के अपरित्याग पूर्वक विवर्त रूप से बने रहते हैं ॥५१॥

शंका करो तो मृत्तिका और सुवर्ण इन दोनों को परिणाम एवं विवर्त की तरह आरम्भवाद का कारण क्यों नहीं अङ्गीकार कर लेते हैं इस पर कहते हैं—

आरम्भवादी[1] वैशेषिक एवं नैयायिक माध्व के मत में घाटादि रूप कार्य में मृत्तिकादि द्रव्य का द्विगुणरूप प्राप्त होगा, क्योंकि रूप-स्पर्शादि गुणों को कार्य और कारण दोनों से पृथक् ही माना है ॥५२॥

आरम्भवादी के सिद्धान्त में घटादि रूप कार्य में मृत्तिकादि उपादान द्रव्य कार्याकार से और कारणाकार से द्विगुण भाव प्राप्त करता है, तथा गुरुत्वादि में भी द्विगुणभाव आ पड़ेगा ऐसा क्यों होगा ? उत्तर आरम्भवादी ने कार्य और कारण के स्वरूप को पृथक्-पृथक् माना है इसलिए घट उत्पन्न होनेपर द्विगुणभाव को प्राप्त करता है । एक तो कारण मृत्तिका का स्वरूप और दूसरा कार्य घट का स्वरूप मानना पड़ता है और इन दोनों के गुरुत्व भारीपन भी भिन्न-भिन्न होने से द्विगुण है । रूप आदि गुणों को कार्य एवं कारण इन दोनों से भिन्न ही आरम्भवाद ने अङ्गीकार किया है ॥५२॥

विशेष—1 आरम्भवाद को असत् कार्यवाद भी कहते हैं—घट कुण्डल आदि विवर्तपना कहा है ।— स्थूल दृष्टि से है परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करे तो मृत्तिका आदि को घटादिक की अधिष्ठानपना बनता नहीं, किससे सिद्धान्त में कोई भी कल्पित वस्तु अन्य कल्पित का अधिष्ठानसंभवता नहीं, सब का अधिष्ठान चेतन ही है मृत्तिका आदिक आप ही कल्पित है । घटादि के अधिष्ठान सम्भव नहीं रज्जु उपहित चैतन्य कल्पित सर्प का अधिष्ठान है । घट कुण्डल अपने उपादान मृतसुवर्ण अपने उपादान उपहित चेतन का है ।

श्री पञ्चदशी मीमांसा

(षष्ठ)

ननु मृत्सुवर्णयोः द्वयोरेव विवर्ते दृष्टान्तत्वम् ? नेत्याह—

मृत्सुवर्णमयश्चेति दृष्टान्तत्रयमारुणिः ।
प्राहातो वासयेत्कार्यानृतत्वं सर्ववस्तुषु ॥५३॥

अन्वय :—आरुणिः मृत्सुवर्णमयश्च इति दृष्टान्तत्रयं प्राह अतः सर्ववस्तुषु कार्यानृतत्वं वासयेत् ।

'मृदिति' । अरुणस्य पुत्र उद्दालकाख्यः कश्चिदृषिः । 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन' (छा० ६।१।४) इत्यारभ्य 'कार्ष्णायसमित्येव सत्यम्' (छ० ६।१।६) इत्यन्तेन वाक्यसंदर्भेण कार्यस्यानृतत्वे मृत्-सुवर्णयोः रूपं दृष्टान्तत्रयमुक्तवानित्यर्थः । किमर्थमेवं दृष्टान्तत्रयमुक्तवानित्याशङ्क्याह—'अतइति' । यत एवं बहुषु मृदादिषु कार्यानृतत्वमुपलब्धम्, अतो भूतभौतिकरूपेषु वस्तुषु कार्यानृतत्वं वासितं कुर्यादित्यर्थः ॥५३॥

शंका—क्या मिट्टी और सुवर्ण दोनों ही विवर्त का दृष्टान्त है यह बात नहीं है इस प्रकार कहते हैं—

आरुणि के प्रति कार्य के मिथ्या होने में मिट्टी, सुवर्ण और लोह धातु का दृष्टान्त दिया है इसलिए सम्पूर्ण पदार्थों में कार्य को मिथ्या समझ लें ।।५३॥

छान्दोग्य उपनिषद में अरुण पुत्र उद्दालक नामक किसी ऋषि ने 'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन' यहाँ से लेकर 'कार्ष्णायसमित्येव सत्यम्' पर्यन्त मृत्तिका सुवर्ण एवं लोहा इस प्रकार तीन दृष्टान्त दिया है । तीन दृष्टान्त क्यों दिया गया है । मृदादि अनेक दृष्टान्तों में कार्य का मिथ्यात्व भाव प्राप्त होता है । इसलिए भूत भौतिक रूप सभी वस्तुओं में कार्य के मिथ्यात्व का विचार करें ॥५३॥

ननु कार्यानृतत्वानुसंधानमपि किमर्थमुक्तमित्याशङ्क्य, कारणज्ञानात्कार्यज्ञानसिद्धय इत्यभिप्रायेणाह—

कारणज्ञानतः कार्यविज्ञानं चापि सोऽवदत् ।
सत्यज्ञानेऽनृतज्ञानं कथमत्रोपपद्यते ? ॥५४॥

अन्वय :—कारणज्ञानतः कार्यविज्ञानं चापि स (आरुणिः) अवदत् सत्यज्ञानेअनृतज्ञानं अत्र कथं उपपद्यते ।

'कारणेति'। कारणस्य मृदादेर्ज्ञानात्कार्यजातस्य घटादेर्ज्ञानमपि 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्' (छा० ६।१।४) इत्यादिवाक्यजातेनोक्तवानित्यर्थः। ननु मृत्सुवर्णादिरूपस्य पारमार्थिकस्य कारणस्य विज्ञानात्तद्विलक्षणस्य घटरूपकार्यादिविज्ञानमनुपपन्नमिति शङ्कते— 'सत्येति' ॥५४॥

यदि शंका करो कि कार्य को मिथ्या समझना आरुणि से क्यों कहा गया है। कारण के ज्ञान से कार्य की सिद्धि हो जाती है। इस अभिप्राय से कहा—

कारण के ज्ञान से कार्य का ज्ञान भी आरुणि ने कहा है कदाचित् कहो कि सत्य के ज्ञान से मिथ्या का ज्ञान कैसे हो सकता है ॥५४॥

'यथा सोम्येकेन०' छान्दोग्य इत्यादि श्रुति वाक्य से कहा गया है कि कारण मृदादि के ज्ञानमात्र से घटादि कार्य समूह का ज्ञान हो जाता है।

अब शंका करते हैं कि मृत्तिका एव सुवर्ण आदि पारमार्थिक कारण का ज्ञान हो जाने पर उनसे सर्वथा भिन्न स्वभाव वाले मिथ्याभूत घटादिरूप कार्यों का ज्ञान कैसे सम्भव हो सकता है ॥५४॥

कार्यस्य सत्यानृतांशद्वयरूपत्वात्कारणज्ञानात् कार्यंगत सत्यांशज्ञानं भवतीत्यभिप्रायेणाह—

समृत्कस्य विकारस्य कार्यता लोकदृष्टितः ।
वास्तवोऽत्र मृदंशोऽस्य बोधःकारणबोधतः ।।५५।।

अन्वय :—समृत्कस्य विकारस्य लोकदृष्टितः कार्यता अत्र मृतदंश वास्तवः अस्यकारण बोधतः बोधः ।

'समृत्कस्येति' । समृत्कस्याधिष्ठानभूतमृत्सहितस्य विकारस्य आरोपितस्य घटादिरूपस्य कार्यता कार्यशब्दार्थत्वं लोकप्रसिद्धमित्यर्थः । भवत्वेवम्, एतावता कारणज्ञानात्कार्यज्ञानं न संभवतीति चोद्यस्य कः परिहारो जात इत्याशङ्क्य, कार्यगतानृतांशज्ञानाभावेऽपि तद्गतसत्यांशज्ञानं भवत्येवेति परिहरति —'वास्तव इति' । अत्र कार्ये यो वास्तवमृदंशोऽस्ति अस्य वास्तवांशस्य बोधो ज्ञानं कारणज्ञानाद्भवतीत्यर्थः ।।५५।।

ननु कार्यगतसत्यांशवदनृतांशोऽपि बोधव्य इत्याशङ्क्य, प्रयोजनाभावान्नैवमित्याह —

अनृतांशो न बोद्धव्यस्तद्बोधानुपयोगतः ।
तत्त्वज्ञानं पुमर्थं स्यान्नानृतांशावबोधनम् ।।५६।।

अन्वय :—अनृतांशः तद्बोधानुपयोगतः स बोद्धव्यः तत्त्वज्ञानं पुमर्थं स्यात् अनृतांशाव-बोधनम् न ।

'अनृतांश इति' । प्रयोजनाभावमेव दर्शयति —'तत्त्वज्ञानमिति' । तत्त्वस्याबाध्यस्य वस्तुनो ज्ञानं पुमर्थं पुंसो ज्ञातु पुरुषस्यार्थः प्रयोजनं यस्मिन् तत्पुमर्थमिति बहुव्रीहिः । अनृतांशस्य विकारस्यावबोधनं प्रयोजनवन्न भवतीत्यर्थः ।।५६।।

कार्य के सत्य एवं मिथ्या अंशद्वय रूप होने से कारण के ज्ञान से कार्यगत सत्यांश का भी ज्ञान हो जाता है इस आशय से कहते हैं —

मृत्तिका सहित विकार को लोकदृष्टि से कार्य कहा जाता है । वस्तुतः (सत्य) मिट्टीरूप अंश है कार्य में है । उस अंश का ज्ञान कारण के ज्ञान से ही हो जाता है ।।५५।।

अधिष्ठानभूत मृत्तिका सहित विकार आरोपित घटादिरूप वस्तु की कार्यता कार्य शब्दार्थता ही लोक दृष्टि से प्रसिद्ध है । ठीक है यह मानना, किन्तु कारण के ज्ञान से कार्य का ज्ञान नहीं हो सकता, इस शंका का समाधान करते हैं । यद्यपि कार्यगत अनृतांश का ज्ञान नहीं होता तो भी कार्यगत सत्यांश का तो ज्ञान हो ही जाता है । कार्य में जो वास्तविक (सत्य) मृदंश है । उस अंश का बोध कारण के ज्ञान से हो जाता है ।।५५।।

शंका कार्य के सत्य अंश के समान मिथ्या अंश भी जानना चाहिए ऐसी शंकाकर मिथ्यांश का कोई प्रयोजन नहीं है, मिथ्यांश जानने योग्य नहीं है । इस प्रकार कहते हैं—

ननु कारणज्ञानात्कार्यज्ञानं भवतीत्येतच्छ्रोतृबुद्धौ चमत्कारहेतुर्भविष्यतीत्यभिप्रायेणोक्तं तदेतन्न संभवतीति शङ्कते –

तर्हि कारणविज्ञानात् कार्यज्ञानमितीरिते ।
मृद्बोधान्मृत्तिका बुद्धेत्युक्तं स्यात्कोऽत्र विस्मयः ॥५७॥

अन्वय :—तर्हि कारणविज्ञानात् कार्यज्ञानं इति ईरिते मृद्बोधात् मृत्तिका बुद्धा इति उक्तं स्यात् अत्र विस्मयः कः ।

'तर्हीति' । कारणस्य मृदादेर्ज्ञानात्कार्यगतं मृदादिसत्यांशज्ञानं भवतीत्युक्ते मृज्ज्ञानात् मृदो ज्ञानमित्युक्तं भवति, एवं च सति शब्दत एव चमत्कारो नार्थतः इत्यर्थः ॥५७॥

कार्य में जो अनृतांश है वह जानने योग्य नहीं है । उसकी कुछ भी उपयोगिता नहीं है क्योंकि पुरुषार्थ तो तत्वज्ञान से ही प्राप्त होता है अनृतांश के बोध से नहीं होता ॥५६॥

जो कार्यगत मिथ्यांश है उसको न जानने में प्रयोजन का अभाव दिखाते हैं। तत्त्व का बाध शून्य पदार्थ का बोध ही पुरुषार्थ रूप प्रयोजन वाला है अनृतांश कार्यरूप विकार का अवबोधन पुरुषार्थ रूप प्रयोजन से युक्त नहीं होता है ॥५६॥

अच्छा तो कारण के ज्ञान से कार्य का ज्ञान हो जाता है, यह श्रोतृजनों के बुद्धि में चमत्कार का हेतु हो जायेगा इस आशय से कहा गया है । परन्तु ऐसा होना असम्भव है । इस प्रकार शंका करते हैं—

तब तो कारण के ज्ञान से कार्यगत सत्यांश अर्थात् कार्यगत विज्ञान का ज्ञान होता है यह कहने पर मृत्तिका के ज्ञान से मिट्टी ही ज्ञात हुई ऐसा कहा गया है । घट जाना यह नहीं कहा जाता इसमें कौन सा आश्चर्य है ॥५७॥

कारण मृदादि के ज्ञान से कार्यगत मृदादि सत्यांश का ज्ञान हो जाता है ऐसा कहने पर मिट्टी के ज्ञान से मिट्टी का ही बोध होता है । यही कहा गया है इस प्रकार शब्द में ही चमत्कार हुआ अर्थ में कुछ भी तो उपलब्ध नहीं हुआ ॥५७॥

ईदृग्विवेकवतां विस्मयाभ वेऽपि तद्रहितानां विस्मयः स्यादेवेति परिहरति

सत्यं कार्येषु वस्त्वंशः कारणात्मेति जानतः ।
विस्मयो माऽस्त्विहाज्ञस्य विस्मयः केन वार्यते ? ॥५८॥

अन्वय :—कार्येषु सत्यं वस्त्वंशः कारणात्मा इति जानतः विस्मयः मास्तु इह अज्ञस्य विस्मयः केन वार्यते ।

'सत्यमिति' । कार्येषु घटादिषु विद्यमानो वास्तवोंऽशः कारणस्वरूपमेवेति ये जानन्ति तेषामाश्चर्यं मा भूत्, इतरेषां तत्त्वज्ञानशून्यानां जायमानो विस्मयो न निवारयितुं शक्यत इत्यर्थः ॥५८॥

अज्ञस्य विस्मयो भवेदित्युक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति—

आरम्भी परिणामी च लौकिकश्चैककारणे ।
ज्ञाते सर्वमति श्रुत्वा प्राप्नुवन्त्येव विस्मयम् ॥५९॥

अन्वयः—आरम्भी परिणामी च लौकिकः च एककारणे ज्ञाते सर्वमति श्रुत्वा विस्मयं प्राप्नुवन्ति एव ।

'आरम्भीति' । आरम्भो नाम समवाय्यसमवायिनिमित्ताख्यकारणेभ्यो भिन्नस्य कार्यस्योत्पत्तिः तां यो वक्ति सोऽयं 'आरम्भी' इत्युच्यते, पूर्वरूपपरित्यागेन रूपान्तरप्राप्तिलक्षणं परिणामं यो वक्ति स 'परिणामी' इत्युच्यते, प्रक्रियाद्वयमजानानो लोकव्यवहारमात्रपरो 'लौकिक' इत्युच्यते एषां त्रयाणामपि कारणस्यैकस्य ज्ञानादनेकेषां कार्याणां विज्ञानं भवतीति वाक्यश्रवणाद्विस्मयो भवेदेवेत्यर्थः ॥५९॥

उक्त शंका का इस अभिप्राय से परिहार करते हैं कि विवेक सम्पन्न पुरुषों को विस्मय का अभाव होने पर भी विवेक शून्य लोगों को तो आश्चर्य बिना ही रहता है । इस प्रकार परिहार करते हैं—

यह कथन उचित मान लिया जाता है क्योंकि घटादिरूप कार्यों में वास्तविक अंश कारणरूप से स्थित है ऐसा जानने वाले पुरुषों को आश्चर्य भले ही न हो, परन्तु अज्ञानियों को तो आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता ॥५८॥

ठीक है घटादि कार्यों में विद्यमान परमार्थ अंश, कारण स्वरूप है, ऐसा समझने वाले पुरुषों को भले ही कुछ नया सा प्रतीत न हो, परन्तु अन्य तत्त्वज्ञानरहित अज्ञजनों को उत्पन्न होने वाला विस्मय को कौन निवारण करने में समर्थ है ॥५८॥

अज्ञानी को विस्मय होता है इस उक्त विषय का विस्तार पूर्वक प्रतिपादन करते हैं—

आरम्भवादी, परिणामवादी और लौकिक सामान्यजन ये तीनों एक कारण के ज्ञान से जान लेने पर सबका ज्ञान हो जाता है, यह सुनकर आश्चर्य चकित हो उठते हैं ॥५९॥

आरम्भ उसी वस्तु का नाम हैं जिसमें समवायी, असमवायी और निमित्त कारणों से भिन्न घटादि कार्य की उत्पत्ति होती है उसे मानने वाला आरम्भवादी कहलाता है । पूर्वरूप को छोड़कर रूपान्तर की प्राप्ति परिणाम है उसे कहने वाला व्यक्ति परिणामवादी कहलाता है और इन दोनों प्रक्रियाओं से अनभिज्ञ जन जो कि लोकव्यवहारमात्रपरायण सामान्य जनों को एक कारण के ज्ञान से सम्पूर्ण कार्यों का ज्ञान होता है—इस वचन से बड़ा भारी विस्मय होता है ॥५९॥

ननु यथाश्रुतमर्थं परित्यज्येत्थं व्याख्याने किं कारणमित्याशङ्क्य, श्रुतेस्तत्र तात्पर्याभावादित्याह—

अद्वैतेऽभिमुखीकर्तुमेवात्रैकस्य बोधतः ।
सर्वबोधः श्रुतौ नेव नानात्वस्य विवक्षया ॥६०॥

अन्वय :—अद्वैते अभिमुखीकर्तुं एव अत्र एकस्य बोधतः सर्वबोध ! श्रुतौ नानात्वस्य विवक्षया न एव ।

'अद्वैत इति' । अद्वैतविज्ञाने शिष्यमभिमुखीकर्तुमेव छान्दोग्यश्रुतावेकस्य कारणस्य विज्ञानात् सर्वेषां कार्याणां विज्ञानमुक्तं, न तु कार्याणामनेकेषां विज्ञानसिद्धयर्थमित्यभिप्रायः ॥६०॥

कदाचित कहो—यथा श्रुत सीधे अर्थ को छोड़कर इस प्रकार के अर्थ करने में क्या कारण है ऐसी शंकाकर श्रुति का अक्षरार्थ में तात्पर्य नहीं है इस प्रकार उत्तर देते हैं—

अद्वैत तत्त्व में शिष्य को अभिमुख करने के लिए ही यहाँ पर श्रुति में एक एक ज्ञान से सब का ज्ञान होता है इस निमित्त को लेकर कहा है, न तु 'नानात्व'[1] की विवक्षा से उक्त वचन कहा गया है ॥६०॥

अद्वितीय ब्रह्म ज्ञान में शिष्य की बुद्धि को प्रवेश कराने के लिए ही छान्दोग्य उपनिषद् में एक कारण को जान लेने से सम्पूर्ण कार्यों को जान लिया जाता है, यह कहा गया है न कि अनेक विध कार्यों की विज्ञान सिद्धि के निमित्त से कहा है ॥६०॥

विशेष १—नानात्व=अनेक कार्यों के विज्ञान की सिद्धि के लिए नहीं कहा है। नाना असत्, जड़, दुःख, द्वैत रूप अनेक अनात्म पदार्थों के ज्ञान से परम पुरुषार्थ मोक्ष सिद्धि के अभाव से अनेक कार्यों के ज्ञान अर्थ श्रुति ने एक के ज्ञान से अनेक ज्ञान नहीं कहा है—किन्तु ब्रह्म तत्त्व रूप कारण के ज्ञान में प्रवृत्ति अर्थ ब्रह्म तत्त्व के ज्ञान की स्तुति की है, इससे यह वाक्य अर्थवाद माना है ।

इदानीमेकविज्ञानसर्वविज्ञानदृष्टान्तप्रदर्शनपरस्य 'यथा सोम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्' (छा० ६।१।४) इति वाक्यस्यार्थनिरूपणपुरः सरं दार्ष्टान्तिकप्रदर्शनपरस्य 'उततमादेशमप्राक्षो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमन्तं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६।१।३) इति वाक्यस्यार्थं प्रदर्शयन् प्रकृते फलित माह—

एकमृत्पिण्डविज्ञानात्सर्वमृन्मयधीर्यथा ।
तथैकब्रह्मबोधेन जगद्बुद्धिर्विभाव्यताम् ॥६१॥

अन्वय :—एकमृत्पिण्डविज्ञानात् यथा सर्वमृन्मयधीः तथा एकब्रह्मबोधेन जगद्बुद्धिः विभाव्यताम् ।

'एकमृत्पिण्डेति' । यथा घटशरावाद्युपादानस्यैकस्य मृत्पिण्डस्यावबोधात्तद्विकाराणां सर्वेषां घटादीनां बोधो भवति, एवं सर्वोपादानस्यैकस्य ब्रह्मणो बोधात्तत्कार्यस्य कृत्स्नस्य जगतो बोधो भवतीत्यवगन्तव्यमित्यर्थः ॥६१॥

जैसे एक मृत्पिण्ड के ज्ञान से सम्पूर्ण मृण्मय कार्यों का ज्ञान हो जाता है वैसे ही एक परमब्रह्म के ज्ञान से सम्पूर्ण कार्य रूप जगत् का बोध हो जाता है यह जान लेना चाहिए ॥६१॥

अब एक विज्ञान से सम्पूर्ण विज्ञान का दृष्टान्त प्रदर्शक 'यथा सोम्येकेन मृत्पिण्डेन'० इत्यादि श्रुति कथन के अर्थ का प्रतिपादन पूर्वक दार्ष्टान्तिक का प्रदर्शक 'उत' तमादेशमप्राक्षो येनाश्रुतं'० इत्यादि श्रुति वाक्यार्थ को दिखाते हुए प्रकृत में फलितार्थ निरूपण करते हैं।

जैसे घट, शरावादि के उपादान भूत एक मृत्पिण्ड का ज्ञान प्राप्त करलेने पर उस मृत्तिका के विकार भूत सम्पूर्ण घटादि कार्यों का बोध हो जाता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपञ्च रूप जगत् के उपादान कारण एवं परमब्रह्म के ज्ञान से सम्पूर्ण कार्यगत जगत् का ज्ञान प्राप्त कर लिया जाता है। ऐसा जानना चाहिए ॥६१॥

विशेष १—श्वेतकेतु ने उद्दालक से पूँछा उपदेश पूँछा कि ब्रह्मतत्त्व केवल शास्त्र गुरु के उपदेश से ज्ञेय है, जिस उपदेश के द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है और अविज्ञात विशेष रूप से ज्ञात हो जाता है। श्वेतकेतु ने पूँछा वह आदेश कैसा है इस आख्यायिका से यह जाना जाता है कि समस्त वेदों का अध्ययन और सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने पर भी जब तक पुरुष आत्मतत्त्व को नहीं जानता तब तक अकृतार्थ ही रहता है।

ननुब्रह्म जगतोः स्वरूपापरिज्ञाने ब्रह्मज्ञानाज्जगतो ज्ञानं भवतीत्येवं नावगन्तुं शक्यत इत्याशङ्क्य, तदवगमाय तदुभयस्वरूपं दर्शयति—

सच्चित्सुखात्मकं ब्रह्म नामरूपात्मकं जगत् ।
तापनीये श्रुतं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥६२॥

अन्वयः—ब्रह्म सत्चित्सुखात्मकं जगत् नामरूपात्मकं तापनीये सच्चिदानन्दलक्षणम् ब्रह्म श्रुतं ।

'सच्चिदिति' । ब्रह्मणः सच्चिदानन्दरूपत्वे किं प्रमाणमित्याशङ्क्य, तापनीयादिश्रुतयः प्रमाणमित्यभिप्रायेणाह—'तापनीय इति' । उत्तरस्मिन् तापनीये आथर्वणिकैस्तावत् 'ब्रह्मैवेदं सर्वं सच्चिदानन्दमात्रम्' (नृ० उ० ता०) इत्यादिप्रदेशेषु ब्रह्मणः सच्चिदानन्दरूपत्वमुक्तमित्यर्थः ॥६२॥

'आदि'शब्देन विवक्षितानि श्रुत्यन्तराणि दर्शयति—

सद्रूपमारुणिः प्राह प्रज्ञानं ब्रह्मबह्वृचः ।
सनत्कुमार आनन्दमेवमन्यत्र गम्यताम् ॥६२॥

अन्वय :—सद्रूपं आरुणिः प्राह बह्वृचः प्रज्ञानं ब्रह्म सनत्कुमारः आनन्दं एवं अन्यत्र गम्यताम् ।

'सद्रूपमिति' । अरुणपुत्रेणोद्दालकेन 'छान्दोग्यश्रुतौ' 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२ १) इत्यादिना सद्रूपं ब्रह्म निरूपितं, तथा बह्वृच ऋक्शाखाध्यायिनः 'ऐतरेयोपनिषदि'प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐ० ३।३ इति प्रज्ञानरूपत्वं ब्रह्मणो दर्शयन्ति एवं पूर्वोदाहृतायां छान्दोग्यश्रुतावेव सनत्कुमाराख्यो गुरु, नारदाख्यशिष्याय भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः' (छा० ७।२।३) इत्युपक्रम्य योवै भूमा तत्सुखम्' इति 'भूम' शब्दाभिधेयस्य ब्रह्मण आनन्दरूपत्वमुक्तवानित्यर्थः। उक्तन्यायमप्यत्राप्यतिदिशति 'एवमिति' । अन्यत्र तैत्तिरीयका' दिश्रुतिषु आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ३।६) इत्यादिवाक्यैरानन्दरूपत्वादिकमुक्तमिति द्रष्टव्यमिति भावः ॥६३॥

शंका हो कि जब तक ब्रह्म और जगत् के स्वरूप का ज्ञान न होने पर ब्रह्मतत्त्व के ज्ञान से जगत् का ज्ञान हो जाता है यह जानना तो अत्यन्त कठिन है ऐसी शंका कर ब्रह्म और जगत् के इन दोनों का स्वरूप दिखाते हैं—

सत्, चित् और आनन्दलक्षण वाला ब्रह्म का स्वरूप है तथा नाम एवं रूपात्मक जगत् है। तापनीय उपनिषद् में ब्रह्म सच्चिदानन्दरूप माना गया है ॥६२॥

परम ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप है, इसमें क्या प्रमाण है इस विषय में तापनीय उपनिषद् का वाक्य प्रमाण है। 'ब्रह्मेवेदं सर्वं सच्चिदानन्दमात्रम्, अर्थात् उत्तर तापनीय उपनिषद् में आथर्वणिक के द्वारा ब्रह्म को सच्चिदानन्दरूप कहा गया है ॥६२॥

सच्चिदानन्देष्विव नामरूपयोरपि श्रुतिं दर्शयति—

विचिन्त्य सर्वरूपाणि कृत्वा नामानि तिष्ठति ।
अहं व्याकरवाणीमे नामरूपे इति श्रुतेः ॥६४॥

अन्वय :—सर्वरूपाणि विचिन्त्य नामानि कृत्वा तिष्ठति अहं व्याकरवाणीमे नामरूपे इति श्रुतेः ।

'विचिन्त्येति' । सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते' (तै० ३।१२।७) इति 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) इति च स्रष्टव्ये जगन्निष्ठे नामरूपे श्रुत्या दर्शिते इत्यर्थः ॥६४॥

आदि शब्द से विवक्षित अन्य श्रुति वाक्यों को भी दिखाते हैं—

अरुण पुत्र ने ब्रह्म को सद्रूप कहा है तथा बह्वृच शाखा के अध्येताओं ने ब्रह्म को प्रज्ञान रूप दिखाया है और सनत्कुमार ने ब्रह्म को आनन्द स्वरूप कहा है एवं अन्यत्र भी आनन्दरूप जानना ॥६३॥

अरुण पुत्र उद्दालक ने छान्दोग्य उपनिषद् में 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' सृष्टि से पूर्व यह जगत् सद्रूप ब्रह्म ही था, इस प्रकार ब्रह्म को सद्रूप से दिखाया है तथा ऋक् शाखा के अध्ययन करने वालों ने ऐतरेय उपनिषद् में 'प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म' प्रज्ञानरूप ही ब्रह्म को दिखाया है । इस प्रकार पूर्व उदाहृत छान्दोग्य श्रुति में ही सनत्कुमार नामक गुरु ने अपने शिष्य नारद के प्रति 'भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः' यहाँ से लेकर 'यो वै भूमा तत्सुखम्' पर्यन्त भूमा शब्द के वाच्य ब्रह्म को आनन्दरूप कहा है । उक्त न्याय अन्यत्र भी लगाना पड़ता है तैत्तिरीयश्रुति में 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म को आनन्दरूप कहा गया है, यह जानना चाहिए ॥६३॥

सत्, चित्, आनन्द ब्रह्म की तरह नाम रूपात्मक जगत् के विषय में भी श्रुति का प्रमाण देते हैं—

जगत् के सम्पूर्णनामरूपों का विचार करके जो स्थित है, मैं इन नाम एवं रूपों को अभिव्यक्त करूँ । इस प्रकार श्रुति से स्रष्टव्य जगत् के नामरूपों को दिखाये गये हैं ॥६४॥

'सर्वाणि रूपाणि'० तथा 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य'० अर्थात् जब ईश्वर इस जगत् को सम्पूर्ण रूप का विचार करके और रूपों के भिन्न भिन्न नामों की कल्पना करके स्थित होता है तब जीव रूप से मैं उन नाम और रूपों को व्यक्त करूँ । इस प्रकार श्रुतिद्वय के प्रमाण से इस स्रष्टव्य जगत् के नाम दिखाए गए हैं ॥६४॥

तत्रैव श्रुत्यन्तरमुदाहरति—

अव्याकृतं पुरा सृष्टेरूर्ध्वं व्याक्रियते द्विधा ।
अचिन्त्यशक्तिर्मायैषा ब्रह्मण्यव्याकृताभिधा ॥६५॥

अन्वय :—सृष्टेः पुरा अव्याकृतं ऊर्ध्वं द्विधाः व्याक्रियते यैषा माया अचिन्त्यशक्तिः ब्रह्मणि अव्याकृताभिधा ।

'अव्याकृतमिति' । बृहदारण्यक' श्रुतौ तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौ नामायमिदंरूप' (बृ० १।४।७) इति सृष्टस्य जगतो नामरूपात्मकत्वं दर्शितमित्यर्थः । सृष्टेः पूर्वमिदं जगदव्याकृतमव्यक्तनामरूपात्मकमभूत्, ऊर्ध्वं सृष्टयवसरे द्विधा वाच्यवाचकभावेन व्याक्रियते व्यक्तीकृतमित्यर्थः । इदानीं 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (बृ० १।४।७) इत्यत्र 'अव्याकृत' शब्दस्यार्थमाह—'अचिन्त्येति । येयं ब्रह्मणि अचिन्त्यशक्तिर्मायाऽस्ति एषाऽव्याकृताभिधाऽस्मिन्वाक्ये 'अव्याकृत' शब्देनाभिधीयत इत्यर्थः ॥६५॥

इन्हीं नाम एवं रूप के विषय में अन्य श्रुति का प्रमाण दिखाते हैं—

सृष्टि से पूर्व यह नाम रूपात्मक जगत् अव्यक्त दशा में था । अनन्तर दो भागों में अभिव्यक्त हो गया । ब्रह्म में जो यह अचिन्त्य शक्ति रूप माया है । वही अव्याकृत पद से यहाँ प्रसिद्ध है ॥६५॥

बृहदारण्यक उपनिषद में 'तद्धेदं····नामायमिदं रूप' सृष्टि से पूर्व यह जगत् नाम एवं रूप से रहित अव्याकृत = अव्याकृत दशा में था । सृष्टि रचना के पश्चात् यह जगत् दो रूपों से वाच्य और वाचक से अभिव्यक्त हो गया । अब तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' इस श्रुतिगत वाक्य में अव्याकृत शब्द से अर्थ को कहते हैं—जो यह परम ब्रह्म में अचिन्त्य रचना शक्ति रूप माया है वही इस वाक्य में अव्याकृत शब्द से कही गयी है ॥६५॥

'तन्नाम-रूपाभ्यामेव व्याक्रियते' इत्यस्यार्थमाह—

अविक्रियब्रह्मनिष्ठा विकारं यात्यनेकधा ।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥६६॥

अन्वय :—अविक्रियब्रह्मनिष्ठा विकारं अनेकधा याति मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम् ।

'अविक्रियेति' । अविकारिणि ब्रह्मणि वर्तमाना सा अनेकधा,भूतभौतिकप्रपञ्चरूपेण बहुधा विकारं परिणामं प्राप्नोति । माया ब्रह्मणि वर्तत इत्यत्र प्रमाणमाह— 'मायांत्विति' । मायां पूर्वोक्तां, प्रकृतिं प्रक्रियते अनयेति प्रकृतिः उपादानकारणं विद्याज्जानीयात् । मायिनं तस्या आश्रयत्वेन तद्वन्तं महेश्वरं मायानियामकं 'विद्यात्' इत्यनुवर्तते उभयत्र । 'तु' शब्दः परस्परवैलक्षण्यद्योतनार्थः ॥६६॥

इदानीं मायोपहितस्य ब्रह्मणः प्रथमकार्यमाह—

आद्यो विकार आकाशः सोऽस्ति भात्यपि च प्रियः ।

अवकाशस्तस्य रूपं तन्मिथ्या न तु तत्त्रयम् ॥६७॥

अन्वय :—आद्यः विकारः आकाशः स भाति अपि च प्रियः अस्ति आकाशः तस्य रूपं तन्मिथ्या तत्त्रयम् तु न ।

'आद्य इति' । तस्य कारणादागतं रूपत्रयमाह —'सोऽस्तीति' । सच्चिदानन्दरूप इत्यर्थः । तस्य प्रातिस्विकं रूपमाह—'अवकाश इति' । तस्य पूर्वस्माद्रूपत्रयाद्वैलक्षण्यमाह—'तन्मिथ्येति' । सदादिरूपत्रयं वास्तवमित्यर्थः ॥६७॥

तन्नामरूपाभ्यां इस श्रुतिगत वाक्य के अर्थ को कहते हैं—

अविकारी परमब्रह्म में रहने वाली यह मायाशक्ति अनेक रूपों में विकृत हो जाती है । माया को तो प्रकृति और मायाधीश को महेश्वर जानो ॥६६॥

विकार शून्य परमब्रह्म में अवस्थित वह मायाशक्ति विविध रूपों में भूत भौतिक प्रपञ्च रूप से परिणाम को प्राप्त होती है । माया शक्ति ब्रह्म में रहती है इस विषय में प्रमाण देते हैं—'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इत्यादि श्रुति में पूर्वोक्त माया ही प्रकृति है जिससे यह सारा जगत् विकार को प्राप्त करता है और यही माया सबका उपादान कारण जानना तथा उस माया के आश्रय होने से मायावी कहाने वाले को तो महेश्वर माया का नियामक ईश्वर समझो 'विद्यात्' यह क्रिया पद उभयत्र अनुगत है श्लोक में उद्धृत 'तु' शब्द माया और मायाधीश इन दोनों में परस्पर वैलक्षण द्योतित करता है ॥६६॥

तस्य चतुर्थरूपस्य मिथ्यात्वे हेतुमाह—

न व्यक्तेः पूर्वमस्त्येव न पश्चाच्चापि नाशतः ।
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ॥६८॥

अन्वय :—व्यक्तेः पूर्वं न अस्ति एव नाशतः पश्चाच्चापि न, आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।

'न व्यक्तेरिति'। ननु उत्पत्तिविनाशयोर्मध्ये प्रतीयमानस्यावकाशस्य कथमसत्त्वमित्याशङ्क्याह— 'आदाविति' ॥६८॥

अब माया उपहित ब्रह्म के प्रथम कार्य को दिखाते हैं—

माया युक्त ब्रह्म का आद्य विकार आकाश है वह विद्यमान है और भासता भी है, तथा प्रियरूप है। उस आकाश का स्वकीयरूप जो अवकाश वह मिथ्या है। पूर्वोक्त तीनों मिथ्या नहीं है ॥६७॥

माया से उपहित निर्लिप्त परमब्रह्म का प्रथम कार्य आकाश है। उस पूर्ण परमब्रह्म से प्रथम कार्य आकाश की उत्पत्ति हुई है, वह अस्ति भाति और प्रियरूप है। सत्तारूप से है भासता भी है, आनन्द रूप है—ये तीनों मायोपहित ब्रह्म से आये हुए हैं, आकाश का अपना निजी स्वरूप अवकाश रूप कार्य भोग्य मिथ्या है, किन्तु यह सत्-चित् आनन्दस्वरूप पारमार्थिक होने के कारण उससे विलक्षण है ॥६७॥

चतुर्थ अवकाशरूप मिथ्या होने में हेतु कहते हैं—

आकाश के व्यक्त (प्रकट होना) होने से पूर्व अवकाश नाम वाला रूप नहीं था और विनष्ट होने के अनन्तर भी नहीं रहेगा, जो पदार्थ आदि और अन्त में नहीं रहता वह वर्तमान में भी नहीं रहता है ॥६८॥

अब शंका करते हैं—उत्पत्ति और विनाश के बीच में प्रतीत होने वाला यह अवकाश रूप पदार्थ असत् रूप क्यों है।

उत्तर यह है कि जो वस्तु प्रतीति से पूर्व और विनाश के पश्चात् विद्यमान नहीं रहती है, वह वस्तु वर्तमानकाल में भी वस्तुतः नहीं रहती ॥६८॥

उक्तार्थे श्रीकृष्णवाक्यं (गी० २।२८) प्रमाणयति—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्येवेत्याह कृष्णोऽर्जुनं प्रति ॥६८॥

अन्वय :—अव्यक्तादीनि भूतानि हे भारत व्यक्तमध्यानि अव्यक्तनिधनानि एव इति कृष्णः अर्जुनं प्रति आह—

'अव्यक्तादीनीति' ॥६६॥

सदादिरूपत्रयस्यावकाशे किं प्रमाणमित्याशङ्क्यानुभूतिरेव प्रमाणमित्याह—

मृद्वत्ते सच्चिदानन्दा अनुगच्छन्ति सर्वदा ।

निराकाशे सदादीनामनुभूतिर्निजात्मनि ॥७०॥

अन्वय :—मृदवत् ते सच्चिदानन्दाः सर्वदा अनुगच्छन्ति निराकाशे सदादीनां निजात्मनि अनुभूतिः ।

मृद्वदिति' । मृद्वदिति दृष्टान्तः प्रदर्शनार्थः । घटादिषु यथा कालत्रयेऽपि मृदनुवर्तते, तथा सदादिरूपत्रयं सर्वदानुगतमित्यर्थः । नन्वाकाशं विहाय सदादिरूपत्रयं कथमनुभूतमित्याशङ्क्याह—'निराकाश इति' ॥७०॥

अब उक्त अर्थ को श्रीकृष्ण का वाक्य भी प्रमाणित करता है—

हे भारत ये सब उत्पत्ति से पहले अव्यक्तदशा में थे, बीच में प्रतीत हो रहे हैं और विनाश के पश्चात् पुनः अव्यक्तरूप हो जायेंगे, इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति कहा है ॥६६॥

सत्. चित् आनन्दादिरूपत्रय आकाश में रहता है, इसमें क्या प्रमाण है ।

ऐसी शंका के उत्तर में अपनी अनुभूति ही प्रमाण में मानी जाती है—

जैसे घट में मिट्टी तीनों काल में अनुस्यूत रहती है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दस्वरूप सब काल में आकाश में रहते हैं । आकाश रहित स्वरूप आत्मा में सत्-चित् आनन्द का निरन्तर अनुभव भी होता है ॥७०॥

घटादिकों में जैसे मृत्तिका तीनों कालों में अनुगत रहती है, वैसे ही ये सत्-चित् और आनन्दरूप सर्वदा अनुगत रहते हैं ।

शंका होती है— कि आकाश को छोड़कर सत् चित् आनन्दरूपत्रय कैसे अनुगत होंगे—

उत्तर—आकाश से रहित अपने स्वरूपभूत आत्मा में सत्-चित् आनन्द का सदा तीनों का सर्वदा अनुभव (ज्ञान) होता है ॥७०॥

तदेवोपपादयति—

अवकाशे विस्मृतेऽथ तत्र किं भाति ते वद ।
शून्यमेवेति चेदस्तु नाम तादृग्विभाति हि ॥७१॥

अन्वय :—अथ अवकाशे विस्मृते तत्र ते किं भाति इति वद शून्यं एवेति चेत् अस्तु तादृक् हि विभाति नाम ।

'अवकाश इति' । पूर्ववादिनश्चोद्यमनुवदति—'शून्यमिति' । अङ्गीकृत्य परिहारमाह—'अस्त्विति' । शब्दतः शून्यमस्तु, अर्थतस्त्ववकाशाभावविशेषणस्य विशेष्यत्वेन प्रतीयमानं किंचिदस्तीत्यभ्युपगन्तव्यमित्याह—'तादृगिति' । 'हि' शब्दो लोकप्रसिद्धिद्योतनार्थः ॥७१॥

भवत्वेवम्, प्रकृते किमायातमित्याशङ्क्य, विशेष्यत्वेन प्रतीयमानस्य स्वरूपमभ्युपेयमित्याह—

तादृक्त्वादेव तत्सत्त्वमौदासीन्येन तत्सुखम् ।
आनुकूल्यप्रातिकूल्यहीनं यत्तन्निजं सुखम् ॥७२॥

अन्वय :—तादृक्त्वादेव तत् सत्वं औदासीन्येन तत्सुखम् आनुकूल्यप्रातिकूल्यहीनं यत् तत् निजं सुखम् ।

'तादक्त्वादिति । तस्य सुखस्वरूपत्वमाह—'औदासीन्येनेति' । औदासीन्यविषयत्वात्तस्य सुखस्वरूपत्वमित्यर्थः । नन्वनुकूलत्वरहितस्य कथं सुखस्वरूपत्वमित्याशङ्क्याह आनुकूल्येति' ॥७२॥

उसी अर्थ का प्रतिपादन करते हैं—

अवकाशरूप आकाश के स्मरण नहीं रहने पर वहाँ तुम्हें क्या भासता है ? यह कहो कि यदि शून्य ही भासता है तो ठीक ही है, क्योंकि आकाश रहित कुछ न कुछ तो भासता ही है ॥७१॥

अवकाश को भूल जाने पर तुम्हें क्या बोध होता है ? इस प्रकार पूर्वपक्षी के प्रश्न का अनुवाद करते हैं यदि शून्य रूप से ही आकाश का भान होता है तब तो यही अच्छा है कि उसका नाम तुम कुछ भी रख सकते हो । शब्द मात्र से शून्य भले ही होवे और शून्य मानो, परन्तु अवकाशाभावरूप से विशेषण का विशेष्य के रूप प्रतीत होने वाले सत्-चित् आनन्दरूप ब्रह्म को तो मानना पड़ता है । हि शब्द जगत् की प्रसिद्धि बताने के लिए है ॥७१॥

तदेवोपपादयति --

आनुकूल्ये हर्षधीः स्यात् प्रातिकूल्ये तु दुःखधीः ।
द्वयाभावे निजानन्दो निजदुःखं न तु क्वचित् ॥७३॥

अन्वय :— आनुकूल्ये हर्षधीः स्यात् प्रातिकूल्ये तु दुःखधीः द्वयाभावे निजानन्दः क्वचित् निजदुःखं तु न ।

'आनुकूल्य इति' । ननुनिजानन्दवन्निजदुःखमपि किं न स्यादित्याशङ्क्य, दुःखे निजरूपसिद्ध्य-भावान्नैवमित्याह—'निजदुःखमिति' ॥७३॥

ठीक है, परन्तु प्रकृत में क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? विशेष्यरूप से प्रतीयमान स्वरूप को तो मानना ही होगा, इस प्रकार कहते हैं—

नामरूप के विस्मृत होने से उसकी सत्ता (स्वरूप) है, और उदासीन दशा में प्रत्येक व्यक्ति को उस सुख का अनुभव होता है इसलिए सुख आनन्द स्वरूप है जो कि प्रतिकूलता और अनुकूलता रहित है वही स्वरूप का सुख है ॥७२॥

उक्त प्रकार से प्रतीयमान होने के कारण ही सबका अस्तित्व सिद्ध होता है, उदासीन अवस्था में सभी को उस सद्रूप की सुखरूपता का अनुभव होता है । क्योंकि औदासीन्य का विषय होने से वह सुखरूप है । अच्छा तो अनुकूलता रहित वह सुख कैसे हो सकता है ? जो वस्तु अनुकूल भी न हो और प्रतिकूल भी न हो वही तो निजसुख स्वस्वस्वरूप के आनन्द का हेतु होता है ॥७२॥

उक्त अर्थ का उपपादन (वर्णन) करते हैं—

अनुकूलता से हर्षवृत्ति और प्रतिकूलता से दुःखवृत्ति होती है किन्तु जिसमें हर्ष और शोक नहीं है उसमें ही निजानन्द है, क्योंकि स्वरूप का दुःख कहीं भी नहीं है अतः दुःख का अभाव ही सुख माना जाता है ॥७३॥

अनुकूलवस्तु की उपलब्धि होने से सुख और प्रतिकूल की उपलब्धि होने पर दुःख होता है किन्तु जिस अवस्था में उन दोनों का अभाव है । वही अवस्था निजानन्द की है ।

अब शंका उठती है कि निजानन्द की भाँति निज सुख क्यों नहीं होता है ।

उत्तर — दुःख में स्वरूपता की सिद्धि नहीं देखी जाती है क्योंकि निजानन्द कभी भी दुःखरूप नहीं होता और स्वरूप का दुःख तो कहीं पर भी सिद्ध नहीं होता है । क्योंकि स्वरूप में किसी की भी प्रतिकूलता की बुद्धि नहीं होती, इसलिए शंका मत करो ॥७३॥

ननु निजानन्दस्य सदानन्दत्वात्सर्वदा हर्ष एव स्यात्, न तु शोक इत्याशङ्क्य, तस्य नित्यत्वेऽपि तद्ग्राहिणो मनसः क्षणिकत्वेन मानसयोरपि क्षणिकत्वमित्याह—

निजानन्दे स्थिरे हर्षशोकयोर्व्यत्ययः क्षणात् ।
मनसः क्षणिकत्वेन तयोर्मानसतेष्यताम् ॥७४॥

अन्वय :—निजानन्दे स्थिरे हर्षशोकयोः क्षणात् व्यत्ययः मनसः क्षणिकत्वेन तयोः मानसता ईष्यताम् ।

'निजानन्द इति' ॥७४॥

दृष्टान्ते सिद्धमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—

आकाशेऽप्येवमानन्दः सत्ताभाने तु संमते ।
वाय्वादिदेहपर्यन्तं वस्तुष्वेवं विभाव्यताम् ॥७५॥

अन्वयः—आकाशेऽपि एवं आनन्दः सत्ताभाने तु संमते वाय्वादिदेहपर्यन्तं वस्तु एवं विभाव्यताम् ।

'आकाशेऽपीति' । एवं निजात्मन्युक्तप्रकारेणेत्यर्थः । सत्ताभाने तु भवताप्यभ्युपगम्येते अतो नोपपादनीये इत्यर्थः । आकाशे प्रतिपादितोऽर्थो वाय्वादिशरीरान्तेष्वभ्युपगन्तव्य इत्याह 'वाय्वादीति' ॥७५॥

शंका हो—निजानन्द सदा आनन्द होने से निरन्तर हर्ष बना रहना चाहिए शोक नहीं ऐसी शंका करके निजानन्द नित्य होने पर भी उसको ग्रहण करने वाले मन की क्षणिक वृत्ति होने के कारण हर्ष एवं शोक ये दोनों मानस जन्य होने पर भी क्षणिक है इस पर कहते हैं—

निजानन्द स्थिर होने पर भी हर्ष और शोक दोनों का व्यत्यय होता रहता है वह उस निजानन्द का ग्राहक मन क्षणिक होने से ऐसा होता है, इसलिए उन दोनों को मन का परिणाम मानो ॥७४॥

दृष्टान्त में सिद्ध हुए कार्य को दार्ष्टान्तिक में घटाते हैं -

जैसा आनन्द निजात्मा में है इसके समान आकाश में भी आनन्द है, और सत्ता और भान दोनों को तो आप भी मानते हो, उस वायु आदि लेकर देह पर्यन्त वस्तुओं में उसके रहने की कल्पना करनी चाहिए ॥७५॥

जिस प्रकार आत्मा में आनन्द रहता है वैसे ही आकाश में भी आनन्द रहता है सत्ता और भान अस्ति भाति, ये दोनों तो आपके द्वारा भी अङ्गीकृत हैं । इसी प्रकार उसका प्रतिपादन करना यहाँ पर आवश्यक नहीं है । वायु आदि से लेकर देह पर्यन्त सभी पदार्थों में भी आकाश की भाँति सत्-चित् आनन्द धर्म रहता है, यह समझना चाहिए ॥७५॥

तत्र वाय्वादीनामसाधारणधर्मान् दर्शयति —

गतिस्पर्शौ वायुरूपं वह्नेर्दाहप्रकाशने ।
जलस्य द्रवता भूमेः काठिन्यं चेति निर्णयः ।।७६।।

अन्वय :—गतिस्पर्शौ वायुरूपं वह्नेः दाहप्रकाशने जलस्य द्रवता भूमेः काठिन्यं च इति निर्णयः ।

'गतिस्पर्शाविति' द्वाभ्याम् ।।

असाधारण आकार औषध्यन्नवपुष्वपि ।
एवं विभाव्यं मनसा तत्तद्रूपं यथोचितम् ।।७७।।

अन्वय : असाधारण आकारः औषध्यन्नवपुषि अपि एवं मनसा तद्रूपं यथोचितम् विभाव्यं ।
'असाधारण इति' स्पष्टम् ।।७७।।

फलितमाह—

अनेकधा विभिन्नेषु नामरूपेषु चैकधा ।
तिष्ठन्ति सच्चिदानन्दा विसंवादी न कस्यचित् ।।७८।।

अन्वय :—विभिन्नेषु नामरूपेषु एकधा अनेकधा सच्चिदानन्दा तिष्ठन्ति कस्यचिद् विसंवादः ।
'अनेकधेति' ।।७८।।

अब वायु आदि के असाधारण धर्मों को दिखाते हैं--

गति और स्पर्श ये दोनों वायु के धर्म हैं. दाह एवं प्रकाश करना ये दोनों वह्नि के असाधारण धर्म हैं । जल का द्रवत्व और भूमि कठिनता रूप असाधारण धर्म है ।।७६।।

इसी प्रकार औषधि अन्न और देह इनमें भी असाधारण आकार धर्म होता है, इसी प्रकार उस-उस का यथोचित धर्म को पदार्थों में मन से विचारने योग्य है ।।७७।।

अब फलितार्थ कहते हैं—

अनेक प्रकार के विभिन्न नाम और रूपों में सत्-चित् आनन्दरूप सभी वस्तुओं में एक रूप में ही अवस्थित है, इस विषय में किसी को भी विवाद नहीं है ।।७८।।

तर्हि प्रातीयमानयोर्नामरूपयोः का गतिरित्याशङ्क्य कल्पितत्वमेव गतिरित्याह—

निस्तत्त्वे नामरूपे द्वे जन्मनाशयुते च ते ।
बुद्ध्या ब्रह्मणि वीक्षस्व समुद्रे बुद्बुदादिवत् ॥७९॥

अन्वय :—निस्तत्त्वे नामरूपे जन्मनाशयुते च ते द्वेबुद्ध्या ब्रह्मणि समद्रे बुदबुदादिवत् वीक्षस्व ।

'निस्तत्त्व इति' । कल्पितत्वे हेतुः—'जन्मेति' ॥७९॥

ततः किमित्यत आह—

सच्चिदानन्दरूपेऽस्मिन्पूर्णे ब्रह्मणि वीक्षिते ।
स्वयमेवावजानाति नामरूपे शनैः शनैः ॥८०॥

अन्वय : - सच्चिदानन्दरूपेऽस्मिन् पूर्णे ब्रह्मणि वीक्षिते शनैः शनैः नामरूपे स्वयं एव अव जानाति ।

'सच्चिदानन्देति' ॥८०॥

शंका—अब प्रतीयमान नाम और रूप की क्या स्थिति होगी ऐसी शंकाकर नाम रूप को कल्पित कहते हैं नामरूप दोनों कल्पित है इस प्रकार कहते हैं—

नाम एवं रूप ये दोनों तत्त्व रहित (कल्पित) है क्योंकि उत्पत्ति और विनाशशील है. जैसे समुद्र में बुलबुले, फेन, तरङ्ग आदि कल्पित है । इसी प्रकार नाम एवं रूप का विचार करके ब्रह्मतत्त्व में कल्पित (मिथ्या) समझो ॥७९॥

इससे भी क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? इसका उत्तर देते हैं—

सत्-चित्-आनन्दस्वरूप पूर्ण परमात्मा के साक्षात्कार कर लेने पर साधक धीरे-धीरे स्वयं नाम और रूप की अवज्ञा करने लगता है ॥८०॥

ब्रह्म ज्ञानदार्ढ्यस्य द्वैतावज्ञापूर्वकत्वाच्छ्रवणादिवत् द्वैतावज्ञापि कर्तव्येत्याह—

यावद्यावदवज्ञास्यात्तावत्तावत्तदीक्षणम् ।
यावद्यावद्वीक्ष्यते तत्तावत्तावदुभे त्यजेत् ॥८१॥

अन्वय :—यावत्यावत् (द्वैतस्य) अवज्ञा स्यात् तावत् तावत् तदीक्षणम् यावत् यावत् ईक्षते तत् तावत् तावत् उभे त्यजेत् ।

'यावदिति' ॥८१॥

उभयाभ्यासस्य फलमाह—

तदभ्यासेन विद्यायां सुस्थितायामयं पुमान् ।
जीवन्नेव भवेन्मुक्तो वपुरस्तु यथा तथा ॥८२॥

अन्वय :- तदभ्यासेन विद्यायां सुस्थितायां अयं पुमान् जीवन्नेव मुक्तः भवेत् यथा तथा वपुः अस्तु ।

'तदभ्यासेनेति' ॥८२॥

इदानीं ब्रह्माभ्यासस्वरूपमाह—

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥८३॥

अन्वय :—तच्चिन्तनं तत्कथनं अन्योन्यं तत्प्रबोधनम् तत् एकपरत्वं च बुधाः ब्रह्माभ्यासं विदुः ।

'तच्चिन्तनमिति' ॥८३॥

परमब्रह्म का दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान करने के लिए द्वैत से अवज्ञा करना आवश्यक है इसलिए श्रवणादि साधन की तरह द्वैत की अवज्ञा भी अपेक्षित हैं -

जितना-जितना द्वैत भाव का तिरस्कार होगा, उतना उतना ही परमब्रह्म विषयक ज्ञान सुदृढ़ होगा और जितना-जितना उसे परमब्रह्म दीखने लगेगा उतना-उतना उन नामरूपों को त्यागने लगेगा ॥८१॥

परमब्रह्म के साक्षात्कार और द्वैत की अवज्ञा करनी इसका फल बताते हैं—

उन नामरूप दोनों के निरन्तर अभ्यास के बल से विद्या (ज्ञान) सुदृढ़ हो जाने पर यह तत्त्वदर्शी जीता हुआ मुक्त हो जाता है। शरीर प्रारब्ध के अनुसार चलता रहता है ॥८२॥

अब परम ब्रह्म के अभ्यास का स्वरूप कहते हैं—

उस परम ब्रह्म स्वरूप का चिन्तन उसी का कथन और परस्पर एक दूसरे को परम तत्त्व का बोध (समझना) करावे, उसी में ही स्थिर हो जाना ही विद्वान् लोग अभ्यास कहते हैं ॥८३॥

नन्वनादिकालमारभ्य प्रतिभासमानस्य द्वैतस्य कादाचित्केन ज्ञानाभ्यासेन कथं निवृत्तिरित्याशङ्क्य, दीर्घकालनैरन्तर्येण सत्कारसेवितेनाभ्यासेन निवर्तत एवेत्याह—

वासनानेककालीना दीर्घकालं निरन्तरम् ।
सादरं चाभ्यस्यमाने सर्वथैव निवर्तते ॥८४॥

अन्वयः—अनेककालीना वासना निरन्तरम् दीर्घकालं सादरं च अभ्यस्यमाने सर्वथा एव निवर्तते ।

'वासनेति'[१] ॥८४॥

ननु ब्रह्मण एकस्यानेकाकारजगद्धेतुत्वमनुपपन्नमित्याशङ्क्य, मायासहितस्योपपद्यत इत्याह –

मृच्छक्तिवद्ब्रह्मशक्तिरनेकाननृतान् सृजेत् ।
यद्वा जीवगता निद्रा स्वप्नश्चात्र निदर्शनम् ॥८५॥

अन्वय :—मृत् शक्तिवत् ब्रह्मशक्तिः अनेकान् अनृतान् न सृजेत् यद्वा जीवगता निद्रा स्वप्नश्च अत्र निदर्शनम् ।

'मृच्छक्तिवदिति' । अनृतान्, कार्याणीत्यर्थः । ननु मृच्छक्तेः सत्यत्वादनेकहेतुत्वाद्विषमो दृष्टान्त इत्याशङ्क्य, पक्षान्तरमाह—'यद्वेति' ॥८५॥

अनादि काल से भासते हुए यह द्वैत भाव है उसकी कदाचित् होने वाले ज्ञानाभ्यास से निवृत्ति कैसे होगी ऐसी शंका करके कहते हैं कि चिरकाल पर्यन्त सदा सत्कार सेवित अभ्यास क्रम से निवृत्ति हो जाती है—

अनादि काल से वासनाएँ चिरकाल पर्यन्त श्रद्धा विश्वास पूर्वक ज्ञानाभ्यास करने पर सब तरह से हट जाती हैं ॥८४॥

शंका—ब्रह्म तो एक है फिर वह विविध प्रकार के जगत् का कारण कैसे हो सकता है, माया उपाधि से युक्त होने से—

मृत्तिका के शक्ति के समान ब्रह्म शक्ति माया अनेक अनृत (मिथ्या) पदार्थों को बना देती अथवा जीवगत निद्रा और स्वप्न इस विषय में योग्य दृष्टान्त है ॥८५॥

मृत्तिका में रहने वाली शक्ति की तरह परम ब्रह्म में स्थित माया शक्ति के द्वारा अनेक प्रकार नाम रूपात्मक मिथ्या पदार्थों का सर्जन होता है । अच्छा तो मृत्तिका में अवस्थित शक्ति सत्य है और अनेक घट शरावादि रूप कार्यों के प्रति कारण है इसलिए यह दृष्टान्त विषम लगता है, उत्तर देते हैं कि जीव में अवस्थित निद्रा और स्वप्न इस प्रसंग में जगत् के सर्जन करने में समर्थ माया शक्ति ज्वलन्त दृष्टान्त है ॥८५॥

विशेष १—अनादि काल का पर्वत की गुफा में स्थित अन्धकार कदाचित् किये दीपक के प्रकाश से निवृत्त होता है वैसे ही अनादिकाल द्वैत भ्रम सो दीर्घकाल पर्यन्त निरन्तर ज्ञानाभ्यास से निवृत्त हो जाता है ।

दृष्टान्तं विशदयति—

निद्राशक्तिर्यथा जीवे दुर्घटस्वप्नकारिणी ।

ब्रह्मण्येषा स्थिता माया सृष्टि–स्थित्यन्तकारिणी ॥८६॥

अन्वय :—यथा जीवे निद्राशक्तिः दुर्घटस्वप्नकारिणी (तथा) एषा माया ब्रह्मणि स्थिता (सति) सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी ।

'निद्रेति' । दार्ष्टान्तिकमाह—'ब्रह्मणीति' ॥८६॥

दुर्घटकारित्वमेव दर्शयति—

स्वप्ने वियद्‌गतिं पश्येत् स्वमूर्धच्छेदनं यथा ।

मुहूर्ते वत्सरौघं च मृतपुत्रादिकं पुनः ॥८७॥

अन्वय :—स्वप्ने वियद्‌गतिं स्वमूर्धच्छेदनं यथा मुहूर्ते वत्सरौघं च पुनः मृतपुत्रादिकं पश्येत् ।

'स्वप्न इति' ॥८७॥

स्वप्नस्य दुर्घटत्वे हेतुमाह—

इदं युक्तमिदं नेति व्यवस्था तत्र दुर्लभा ।

यथा यथेक्ष्यते यद्यत्तत्तद्युक्तं तथा तथा ॥८८॥

अन्वय : इदं युक्तं इदं न यदि तत्र दुर्लभा व्यवस्था यथा यथा यत यत् ईक्षते तत् तत् तथा तथा युक्तं ।

'इदमिति' ॥८८॥

उक्त दृष्टान्त का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं और दार्ष्टान्तिक में घटाते हैं—

जिस प्रकार जीवगत निद्रारूपिणी शक्ति अति दुर्घट स्वप्नों को बना देती है । उसी प्रकार ब्रह्मनिष्ठ यह रचनात्मक माया शक्ति सृष्टि स्थिति और प्रलय करने में समर्थ है ॥८६॥

अब निद्रागत स्वप्न की अति दुर्घटकारिता दिखाते हैं—

स्वप्न में आकाश में गमन देखता है अपने आपका शिरच्छेदन देखता है और एक मुहूर्त में वर्षों के समूह को देखता है । तथा पुनः पुत्र पुत्रादिकों को भी देखता है ॥८७॥

स्वप्न अति दुघटकारी होने में हेतु दिखाते हैं—

स्वप्न में यह ठीक है, यह ठीक नहीं है, ऐसी व्यवस्था दुर्लभ है । जो-जो दृश्य जैसा-जैसा दिखायी देता है, वह-वह दृश्य वैसा ही वैसा दिखायी दे, यही ठीक है ॥८८॥

उक्तमर्थं कैमुतिकन्यायेन स्पष्टयति—

ईदृशो महिमा दृष्टो निद्राशक्तेर्यदा तदा ।
माया शक्तेरचिन्त्योऽयं महिमेति किमद्भुतम् ॥८९॥

अन्वय :—निद्राशक्तेः यदाईदृशः महिमा दृष्टः तदा मायाशक्तेः अचिन्त्यः अयं महिमा इति अद्भुतः किम् ।

'ईदृश इति' ॥८९॥

अप्रयतमानब्रह्मनिष्ठाया मायाया जगद्धेतुत्वे दृष्टान्तमाह—

शयाने पुरुषे निद्रा स्वप्नं बहुविधं सृजेत् ।
ब्रह्मण्येवं निर्विकारे विकारान् कल्पयत्यसौ ॥९०॥

अन्वय :—शयाने पुरुषे निद्रा बहुविधं स्वप्नं सृजेत् एवं निर्विकारे ब्रह्मणि असौ विकारान् कल्पयति ।

'शयान इति' ॥९०॥

उक्त अर्थ को कैमुतिक न्याय से दिखाते हैं--

जब जीवगत निद्रा-शक्ति की इतनी महिमा देखी जाती है तब फिर ब्रह्म की माया शक्ति अचिन्त्य महिमा संयुक्त होने में कौन सी आश्चर्य की बात है ॥८९॥

अब प्रयत्न से रहित जो परमब्रह्म में रहने वाली माया शक्ति जगत् का हेतु है, इस विषय में दृष्टान्त देते हैं—

सोये हुए पुरुष में रहने वाली निद्रा बहुत प्रकार के स्वप्नों को सृजन करती है । इस प्रकार निर्विकार परमब्रह्म में रहने वाली वह माया अनेक विकारों की कल्पना कर डालती है ॥९०॥

मायया सृष्टान्पदार्थान् दर्शयति—

खानिलाग्निजलोर्व्यण्डलोक प्राणिशिलादिकाः ।
विकाराः प्राणिधीष्वन्तश्चिच्छाया प्रतिविम्बिता ॥९१॥

अन्वय :—खानिलाग्नि जलोर्व्यण्ड लोक प्राणिशिलादिकाः विकाराः प्राणिधीषु चिच्छाया प्रतिबिम्बिता ।

'खानित्येति' । ननु पाञ्चभौतिकत्वेन साम्येऽपि केषांचिच्चेतनत्वं केषांचिज्जडत्वं कुत इत्याशङ्क्याह—'प्राणीति' । प्राणिशरीरेष्वन्तः करणेषु चैतन्यप्रतिबिम्बनाच्चेतनत्वम्, इतरत्र तदभावाज्जडत्वमित्यर्थः ॥९१॥

ननु चेतना चेतनविभागश्चिद्रूपब्रह्मकृत एव किं न स्यादित्याशङ्क्य, ब्रह्मणः सर्वोपादानत्वेन सर्वत्र समत्वान्मैवमित्याह—

चेतनाचेतनेष्वेषु सच्चिदानन्द लक्षणम् ।
समानं ब्रह्म भिद्येते नामरूपे पृथक् पृथक् ॥९२॥

अन्वय : - चेतना चेतनेषु एषु सच्चिदानन्द लक्षणं ब्रह्म समानं पृथक्-पृथक् नामरूपे (तेन) भिद्येते ॥

'चेतनेति' ॥९२॥

अब माया के द्वारा सृष्टस्य रचे पदार्थों को दिखाते हैं—

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, ब्रह्माण्ड, चतुर्दश भुवन तथा पत्थरादि अनेक विकार माया द्वारा उत्पन्न हुआ है और प्राणियों के अन्तःकरणों में चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है इसलिए जड़ और अजड़ का भेद है ।९१॥

आकाश आदि विकार युक्त कार्य प्रपञ्च माया द्वारा उत्पन्न हुआ है अब शंका उठती है कि सम्पूर्ण पञ्चभूत के विकार होने पर भी कुछ तो चेतन एवं कुछ अचेतन यह भेद क्यों है ? प्राणियों की बुद्धियों में (लिंगशरीर में) तो चैतन्य की छाया प्रतिबिम्बित होता है चेतन जिसमें प्रतिबिम्ब न उभरा चित् रूप प्रकाश का अभाव है, वे सभी तो जड़ कहलाते हैं ॥९१॥

शंका— चेतन और जड़ के विभाग चित् रूप ब्रह्म द्वारा किया हुआ क्यों नहीं होता ऐसी शंका कर कहते हैं, ब्रह्म तो सबका अभिन्न निमित्तोपादान कारण है इसलिए सर्वत्र समभाव रखता है—

इन जड़ एवं चेतन पदार्थों में सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म समभाव से रहता है केवल नाम और रूप ही पृथक् पृथक् है इसलिए जड़ और चेतन परम ब्रह्म का किया नहीं है ॥९२॥

ब्रह्मणश्चिज्जडसाधारणत्वे हेतुमाह—

ब्रह्मण्येते नामरूपे पटे चित्रमिव स्थिते ।

उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दधीर्भवेत् ॥६३॥

अन्वय :—एते नामरूपे पटे चित्रं इव ब्रह्मणि स्थिते नामरूपे द्वे उपेक्ष्य सच्चिदानन्दधीर्भवेत् ।

'ब्रह्मणीति' । ब्रह्मणः सर्वकल्पनाधारत्वात्सर्वगतत्वमित्यर्थः । तत्कथमवगम्यत इत्याशङ्क्यां कल्पितनामरूपत्यागेऽधिष्ठानं ब्रह्मावगम्यत इत्याह – 'उपेक्ष्येति' ॥६३॥

उक्तार्थे दृष्टान्तमाह—

जलस्थेऽधोमुखे स्वस्य देहे दृष्टेऽप्युपेक्ष्य तम् ।

तीरस्थ एव देहे स्वे तात्पर्यं स्याद्यथा तथा ॥६४॥

अन्वय :—जलस्थे अधोमुखे स्वस्य देहे दृष्टेपि तं उपेक्ष्य तीरस्थः एव यथा स्वे देहे तात्पर्यं स्यात् तथा ।

'जलस्थ इति' । नीरेऽधोमुखे देहे परिदृश्यमानेऽपि तत्रादरं परित्यज्य तीरस्थे स्वदेहे तद्विपरीते ममत्वबुद्धिर्यथा तथेत्यर्थः ॥६४॥

अब ब्रह्म तत्त्व जड़ और चेतन में समान है इस विषय में हेतु दिखाते हैं—

जैसे पटगत चित्र की भाँति परमब्रह्म में ये नाम और रूप आरोपित हैं । नाम और रूप दोनों की उपेक्षा कर लेने पर सच्चिदानन्द स्वरूप का ज्ञान होता है ॥६३॥

पट में चित्र के समान ब्रह्म में नाम एवं रूप से सर्वत्र कल्पित है । समस्त कल्पना का आश्रय होने से परम ब्रह्म सर्वगत कहलाता है उक्त परम ब्रह्म को कैसे जाना जा सकता है, ऐसी शंका होने पर कहते हैं । सब पदार्थों में आरोपित नाम एवं रूप को छोड़ देने पर सबका अधिष्ठान भूत परमब्रह्म अवगत हो जाता है ॥६३॥

पूर्वोक्त अर्थ में दृष्टान्त देते हैं—

जलस्थ अधोमुख अपने शरीर की छाया को देखने पर भी उसकी उपेक्षा कर किनारे पर अवस्थित ऊर्ध्वमुख देह में पुरुष को ममता बुद्धि होती है उसी प्रकार परिदृश्यमान नाम रूपात्मक पदार्थों में भी उपेक्षा करके सत्-चित् आनन्दरूप ब्रह्म में बुद्धि स्थिर होती है ॥६४॥

इदानीं सर्वजनप्रसिद्धं दृष्टान्तरमाह—

सहस्रशो मनोराज्ये वर्तमाने सदैव तत् ।।

सर्वैरुपेक्ष्यते यद्वदुपेक्षा नामरूपयोः ।।९५।।

अन्वय : सहस्रशः मनोराज्ये वर्तमाने तत् सदैव सर्वैः उपेक्ष्यते यद्वत् नामरूपयोः उपेक्षा ।

'सहस्रश इति' । उपेक्षा कर्तव्येतिशेषः ।।९५।।

प्रपञ्चवैचित्र्ये दृष्टान्तमाह—

क्षणे क्षणे मनोराज्यं भवत्येवान्यथाऽन्यथा ।

गतं गतं पुनर्नास्ति व्यवहारो बहिस्तथा ।।९६।।

अन्वय :—मनोराज्यं क्षणे क्षणे अन्यथा अन्यथा भवति एव तथा गतं गतं पुनः बहिः व्यवहारः नास्ति ।

'क्षण इति' । दार्ष्टान्तिकमाह—'व्यवहार इति' ।।९६।।

तदेव विवृणोति—

न बाल्यं यौवने लभ्यं यौवनं स्थाविरे तथा ।

मृतः पिता पुनर्नास्ति नायात्येव गतं दिनम् ।।९७।।

अन्वय :—बाल्यं यौवने लभ्यं न, तथा यौवनं स्थाविरे (लभ्यं न) मृतः पिता पुनः नास्ति, गतं दिनं नायाति एव ।

'न बाल्यमिति' ।।९७।।

अब सर्वजन विदित लोक प्रसिद्ध दृष्टान्त से सिद्ध करते हैं—

जैसे सहस्र प्रकार के मनोराज्य निरन्तर उठने पर भी सभी लोग उन सबका तिरस्कार कर देते हैं। वैसे ही नामरूप दोनों की भी उपेक्षा बुद्धि कर देनी चाहिए ।।९५।।

प्रपञ्च के विभिन्न होने में दृष्टान्त कहते हैं और दार्ष्टान्तिक में घटाते हैं—

जिस प्रकार प्रत्येक क्षण में मन की विचार कल्पना विभिन्न प्रकार की होती रहती है और जो कल्पना चली गयी वह पुनः लौटकर नहीं आती है, इसी प्रकार यह बाहर का व्यवहार भी प्रतिक्षण परिवर्तनशील है ।।९६।।

उक्त अर्थ का विवरण करते हैं—

युवावस्था में बाल्यावस्था नहीं जुड़ती है और वृद्धावस्था में युवावस्था नहीं मिल सकती। मरे हुए पिता पुनः लौटकर नहीं आते और बीते हुए दिन भी पुनः नहीं मिलते हैं ।।९७।।

द्वैतक्षणिकत्वमुपसंहरति—

मनोराज्याद्विशेषः कः क्षणध्वंसिनि लौकिके ।
अतोऽस्मिन्भासमानेऽपि तत्सत्यत्वधियं त्यजेत् ॥९८॥

अन्वय :—मनोराज्यात् क्षणध्वंसिनि लौकिके कः विशेषः अतः अस्मिन् भासमानेऽपि तत्सत्यत्वधियं त्यजेत् ।

'मनोराज्यादिति' । क्षणिकत्वसाधने प्रयोजनमाह—'अत इति' ॥९८॥

ननु लौकिकोपेक्षायां को लाभ इत्याशङ्क्य, ब्रह्मणि धीः स्थिरा भवतीत्याह—

उपेक्षिते लौकिके धीर्निर्विघ्ना ब्रह्मचिन्तने ।
नटवत्कृत्रिमास्थायां निर्वहत्येव लौकिकम् ॥९९॥

अन्वय :—लौकिके उपेक्षिते ब्रह्मचिन्तने निर्विघ्ना धीः (भवति) नटवत् कृत्रिमास्थायां लौकिकं निर्वहति एव ।

'उपेक्षित इति' । तर्हि ज्ञानिनो व्यवहारः कथमित्याशङ्क्याह - 'नटवदिति' ॥९९॥

द्वैत भाव की क्षणिकता का उपसंहार करते हैं—

क्षण मात्र में विध्वंस होने वाला लौकिक पदार्थ मनोराज्य में अन्तर है । इसलिए यह क्षणिक द्वैतभाव प्रतीयमान होने पर भी इसे सत्-रूप से ग्रहण करना छोड़ देना चाहिए ॥९८॥

शंका—लौकिक पदार्थों की उपेक्षा कर देने में क्या लाभ है ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं कि ब्रह्म में बुद्धि स्थिर होती हैं—

लौकिक वस्तुओं की उपेक्षा कर देने पर परम ब्रह्म के विषय में चिन्तन को बुद्धि निर्विघ्न हो जाती है । जैसे तत्त्वज्ञानी नट की भाँति कृत्रिम आस्था से लोक व्यवहार को करता रहता है ॥९९॥

सांसारिक वस्तु पदार्थों के विषय में लाने से ब्रह्म चिन्तन में बुद्धि निर्विघ्न बन जाती है और ब्रह्म चिन्तन की गति सतत प्रवाहित रहती है । तब फिर ज्ञानी का व्यवहार कैसे सम्पन्न होगा । नट[1] की तरह वह ज्ञानी विषय पदार्थों को कृत्रिम मानता हुआ व्यवहार सम्पादन करता है ॥९९॥

विशेष १—जैसे नट अपने उदर के भरणार्थं व्याघ्र के वेष को धारण करके बालकों को डराता है । किसी को खाने की इच्छा नहीं करता और स्त्री के वेश को धारण करके मैं स्त्री हूँ ऐसा कथन करता हुआ भी अपने को स्त्री मानकर भर्ता की इच्छा करता नहीं । किन्तु यह ऊपर से दिखावा मात्र है । वैसे तत्त्व ज्ञानी देह, इन्द्रिय और मन को धारण कर मैं मनुष्य हूँ, ब्राह्मण हूँ, देवता हूँ, सुनता हूँ, कर्ता, भोक्ता हूँ, सुखी-दुःखी हूँ, जानता हूँ, नहीं जानता हूँ इत्यादि आध्यासिक व्यवहार ऊपर से करता हुआ भी अन्दर से असंग निर्विकार कर्तृत्वादि धर्मरहित प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म रूप अपने को मानता है । इससे व्यवहार करता हुआ भी ज्ञानी निर्विकार है ।

ननु ज्ञानिनो व्यवहाराभ्युपगमे विकारित्वं प्रसज्येतेत्याशङ्क्य, बुद्धौ व्यवहारवत्यामपि तत्साक्ष्यात्मा निर्विकार इति सदृष्टान्तमाह—

प्रवहत्यपि नीरेऽधः स्थिरा प्रौढशिला यथा ।

नामरूपान्यथात्वेऽपि कूटस्थं ब्रह्म नान्यथा ।।१००।।

अन्वय :—यथा नीरे प्रवहति अपि प्रौढशिला अधःस्थिरा नाम,रूपान्यथात्वेऽपि कूटस्थं ब्रह्म नान्यथा ।

'प्रवहतीति'। उदके उपरि प्रवहत्यपि अधःस्थिता प्रौढाशिला यथा न चलति, एवं बुद्धौ संसरन्त्यामपि न ज्ञानी संसरतीत्यर्थः ।।१००।।

नन्वखण्डे ब्रह्मणि तद्विलक्षणस्य जगतः कथमवभासनमित्याशङ्क्य, निश्छिद्रे दर्पणे सावकाश-वस्तुनो यथा भानं तद्वदित्याह—

निश्छिद्रे दर्पणे भाति वस्तुगर्भं बृहद्वियत् ।

सच्चिद्घने तथा नाना जगद्गर्भमिदं वियत् ।।१०१।।

अन्वय :—निश्छिद्रे दर्पणे बृहद् वियद् वस्तुगर्भं भाति सच्चिद्घने तथा नानाजगत्गर्भं इदं वियत् ।

'निश्छिद्रं इति' १०१।।

शंका—ज्ञानी का व्यवहार मान लेने पर तो उसमें विकार की प्राप्ति होगी ऐसी शंका कर बुद्धि व्यवहार युक्त होने पर भी उसका साक्षी आत्मा निर्विकार रहता है—इस पर सदृष्टान्त कहते हैं—

जैसे जल प्रवाहित होने पर भी उसके नीचे बड़ी भारी शिला निस्तब्ध अचल होकर पड़ी रहती है। वैसे ही नाम रूप में परिवर्तन होने पर भी कूटस्थ ब्रह्म कभी भी विकार वाला नहीं होता ।।१००।।

जल ऊपर से बहने पर भी नीचे स्थित भारी मजबूत शिला जैसे चलायमान नहीं होती है। उसी प्रकार नाम और रूप से अभिन्न बुद्धि विकारता को प्राप्त होने पर भी ज्ञानी का पारमार्थिक स्वरूप साक्षी कूटस्थ चिद्रूप कभी भी विकार युक्त नहीं होता है ।।१००।।

अखण्ड एक रस परम ब्रह्म में उससे विलक्षण जगत् का अवभास कैसे होता है। ऐसी शंका कर छिद्र रहित दर्पण में सावकाश वस्तु का कैसे बोध हो जाता है । इस पर कहते हैं—

दर्पण में कोई छिद्र नहीं है तो भी उसके भीतर बड़ा भारी आकाश प्रतीत होता है। उसी प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्म में अनेक प्रकार के जगत् के पदार्थ से युक्त यह आकाश भासता है ।।१०१।।

नन्वदृश्ये ब्रह्मणि कथं जगत्प्रतीतिरित्याशङ्क्य, सच्चिदानन्दप्रतीतिपुरःसरमेव जगत् प्रतीति-रिति सदृष्टान्तमाह—

अदृष्ट्वा दर्पणं नैव तदन्तःस्थेक्षणं तथा ।
अमत्वा सच्चिदानन्दं नामरूपमतिः कुतः ? ॥१०२॥

अन्वय :—तथा दर्पणं अदृष्ट्वा तदन्तःस्थेक्षणं नैव सच्चिदानन्दं अमत्वा नामरूपमतिः कुतः ।

'अदृष्ट्वेति' ।१०२॥

ननु नामरूपयोरपि भासमानत्वात्कथं निर्विषयब्रह्मप्रतीतिरित्याशङ्क्य, तदनुबुद्ध्युपायमाह—

प्रथमं सच्चिदानन्दे भासमानेऽथ तावता ।
बुद्धिं नियम्य नैवोर्ध्वं धारयेन्नामरूपयोः ॥१०३॥

अन्वय :—सच्चिदानन्दे प्रथमं भासमाने अथ तावता बुद्धिं नियम्य नामरूपयोः ऊर्ध्वं नैव धारयेत् ।

'प्रथममिति' । सच्चिदानन्दे ब्रह्मणि कल्पित नामरूपात्मके प्रपञ्चे सच्चिदानन्दमात्रं बुद्ध्या गृहीत्वा नामरूपयोर्बुद्धिं न धारयेत् ॥१०३॥

शंका अदृश्य ब्रह्म में जगत् की प्रतीति कैसे होगी, इस शंका पर सच्चिदानन्द पूर्वक ही जगत् की प्रतीति होती है । इसे सदृष्टान्त दिखाते हैं—

दर्पण में देखे बिना देखे जैसे उसके भीतर की वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती है उसी प्रकार सच्चिदानन्द रूप परम ब्रह्म को जाने बिना नाम और रूप का बोध नहीं हो सकता है ॥१०२॥

शंका—नाम और रूप ये दोनों भासमान होने से निर्विषय ब्रह्म की प्रतीति कैसे हो सकती है ऐसी शंका कर उसको जानने का उपाय बताते हैं—

सर्व प्रथम सभी को सच्चिदानन्दरूप का बोध होता है । उसके पश्चात् ब्रह्म में कल्पित नाम रूपात्मक प्रपञ्च में सच्चिदानन्दमात्र में बुद्धि का नियमन (रोकना) करके उसके अनन्तर नाम रूप में बुद्धि को न धारण करे ॥१०३॥

फलितमाह—

एवं च निर्जगद्ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
अद्वैतानन्द एतस्मिन्विश्राम्यन्तु जनाश्चिरम् ॥१०४॥

अन्वय :—एवं च निर्जगत् ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् (भवति) एतस्मिन् अद्वैतानन्दे जनाः चिरं विश्राम्यन्तु ।

'एवमिति' । एवं च सति निर्जगद् ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणं भवतीत्यर्थः ॥१०४॥

इदानीमध्यायार्थमुपसंहरति—

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे तृतीयोऽध्याय ईरितः ।
अद्वैतानन्द एव स्याज्जगन्मिथ्यात्वचिन्तया ॥१०५॥

श्री श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीवर्यकृतपञ्चदश्यां ब्रह्मानन्दे अद्वैतानन्दो नाम त्रयोदशं प्रकरणं समाप्तम् ॥१३॥

ब्रह्मानन्दे अद्वैतानन्दो नाम तृतीयोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥३॥

अन्वय :—ब्रह्मानन्दभिधेग्रन्थे तृतीयः अध्यायः ईरितः जगन्मिथ्यात्व चिन्तया अद्वैतानन्दे एव स्यात् ।

'ब्रह्मानन्देति' ॥१०५॥

अब फलितार्थ को कहते हैं—

उक्त प्रकार से निर्विषयक ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है। ऐसे निर्विषयक ब्रह्म में मुमुक्षु जन दीर्घकाल पर्यन्त विश्राम करें ॥१०४॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकिङ्करेण श्रीरामकृष्णाख्य-विदुषा विरचिता ब्रह्मानन्दे अद्वैतानन्दव्याख्या समाप्ता ॥१३॥

अब अध्याय के अर्थ का उपसंहार करते हैं—

ब्रह्मानन्द नामक ग्रन्थ में अद्वैतानन्द नाम वाला तृतीय अध्याय कह दिया। जगत् के मिथ्यात्व के विचार से अद्वैतानन्द स्वरूप परमब्रह्म का बोध होता है ॥१०५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यस्वामिश्रीकरपात्रशिष्य
श्री श्री डॉ० लक्ष्मणचैतन्यब्रह्मचारिविरचितलक्ष्मणचन्द्रिकाख्ये पञ्चदशीहिन्दीव्याख्याने
ब्रह्मानन्दे अद्वैतानन्द त्रयोदश प्रकरणं समाप्तम् ।

ब्रह्मानन्दे विद्यानन्दप्रकरणम्

इदानीं वृत्तवर्तिष्यमाणयोर्ग्रन्थयोः संबन्धमाह—

योगेनात्मविवेकेन द्वैतमिथ्यात्वचिन्तया ।
ब्रह्मानन्दं पश्यतोऽथ विद्यानन्दो निरूप्यते ॥१॥

अन्वय :—आत्मविवेकेन योगेन द्वैतमिथ्यात्वचिन्तया ब्रह्मानन्दं पश्यतः अथ विद्यानन्दः निरूप्यते ।

'योगेनेति' ॥१॥

विद्यानन्दस्वरूपमाह—

विषयानन्दवद्विद्यानन्दो धीवृत्तिरूपकः ।
दुःखाभावादिरूपेण प्रोक्त एष चतुर्विधः ॥२॥

अन्वय :—विषयानन्दवत् धीवृत्तिरूपकः विद्यानन्दः दुःखाभावादिरूपेण एष चतुर्विधः प्रोक्तः ।
'विषयेति' । तस्यावान्तरभेदमाह—'दुःखाभावेति' ।।२॥

अब पूर्वापर ग्रन्थ के सम्बन्ध को कहते हैं—

योग से आत्मा के विवेक से और द्वैत की मिथ्यात्व चिन्ता से (विचार) ब्रह्मानन्द को जानता है, व्यक्ति के प्रति विद्यानन्द प्रकरण का निरूपण किया जाता है ॥१॥

अब विद्यानन्द[1] के स्वरूप को दिखाते हैं—

विषयानन्द के समान विद्यानन्द भी बुद्धि की वृत्तिरूप हैं और यह दुःखाभाव आदि रूप से चार प्रकार का कहा गया है ।।२॥

विशेष १—विद्यानन्द जो आत्मतत्त्व ज्ञान उसका आविर्भाव करने वाला चतुर्विध आनन्द का प्रतिपादक प्रकरणम् । विद्या = वि = उपसर्ग पूर्वकादो अवखण्डने-दद = दाने, द्युत् = दीप्तौ तीन अर्थों में विद्या शब्द बना । वि = विविध वासनाजाल रूप का मूल अज्ञान को द्यति नष्ट कर । दद = दान विद्या ज्ञान का दानकर द्युत = दीप्ती में प्रत्यगात्मा रूप साक्षी रूप परम ब्रह्म से अभिन्न स्वरूप हूँ, से अन्तःकरण को ब्रह्मस्वरूप बनाकर जीवात्मा और परमात्मा का अभेदरूप करना विद्या का काम है—विद्या हि का ब्रह्मगति प्रज्ञाया ।

चातुर्विध्यमेव दर्शयति—

दुःखाभावश्च कामाप्तिः कृतकृत्योऽहमित्यसौ ।
प्राप्तप्राप्योऽहमित्येव चातुर्विध्यमुदाहृतम् ॥३॥

अन्वय :—दुःखाभावः कामाप्तिः कृतकृत्योऽहं प्राप्तप्राप्योऽहं इति च चातुर्विध्यं उदाहृतम् ।

'दुःखाभावश्चेति' ॥३॥

निवर्तनीयं दुःखं विभजते—

ऐहिकं चामुष्मिकं चेत्येवं दुःखं द्विधेरितम् ।
निवृत्तिमैहिकस्याह बृहदारण्यकं वचः ॥४॥

अन्वय :—ऐहिकं च आमुष्मिकं च इत्येवं दुःखं द्विधा ईरितम् निवृत्ति ऐहिकस्य बृहदारण्यकं वचः आह —

'ऐहिकमिति' । ऐहिकस्य निवृत्ति 'बृहदारण्यक' वाक्ये नोच्यत इत्याह—

'निवृत्तिमिति' ॥४॥

तच्छ्रुतिवाक्यं (बृ० ४।४।१२) पठति —

आत्मानं चेद्विजानीयादहमस्मीति पुरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥

अन्वय :—आत्मानन्दं चेद् विजानीयात् अहं अस्मि इति पुरुषः किं इच्छन् कस्यकामाय शरीरं अनुसंज्वरैत् ।

'आत्मानमिति' ॥५॥

दुःखाभाव आदि चार प्रकार के भेदों को दिखाते हैं—

दुःख का अभाव कामना की प्राप्ति मैं कृतकृत्य हूँ और मुझे जिसको प्राप्त करना था उसको प्राप्त कर लिया है । इस प्रकार विद्यानन्द के चार प्रकार के भेद सिद्ध हो जाते हैं ॥३॥

अब निवृत्ति के योग्य दुःख का विभाग करते हैं—

ऐहिक (जगत् का) और आमुष्मिक (परलोक का) के भेद से दुःख दो प्रकार के कहे जाते हैं इन दोनों में से ऐहिक दुःख की निवृत्ति बृहदारण्यक उपनिषद् के वाक्य ने कही है ॥४॥

अब बृहदारण्यक उपनिषद के वाक्य का पाठ करते हैं —

यदि कोई मनुष्य अपने स्वरूपभूत आत्मतत्त्व को समझ ले कि मैं प्रत्यग् आत्मस्वरूप हूँ । फिर वह व्यक्ति किसी भोग्य पदार्थ की कामना से किस भोक्ता के लिए शरीर को कष्ट देगा, नहीं दे सकता है ॥५॥

आत्मनि शोकसंबन्धं दर्शयितुं तद्भेदमाह—

जीवात्मा परमात्मा चेत्यात्मा द्विविध ईरितः ।
चित्तादात्म्यात्त्रिभिर्देहै र्जीवः सन्भोक्तृतां व्रजेत् ॥६॥

अन्वय : –जीवात्मा परमात्मा च इति आत्मा द्विविधः ईरितः चिद् तादात्म्यात् त्रिभिः देहैः जीवः सन् भोक्तृतां व्रजेत् ।

'जीवात्मेति' । आत्मनो जीवत्वे निमित्तमाह—'चित्तादात्म्यादिति' । चैतन्यस्य स्थूलसूक्ष्मकारणरूपैस्त्रिभिः शरीरैस्तादाम्यभ्रमे सति चितो भोक्तृत्वं भवति, स भोक्ता 'जीव' इत्युच्यते ॥६॥

इदानीं परमात्मनः स्वरूपमाह—

परमात्मा सच्चिदानन्दस्तादात्म्यं नामरूपयोः ।
गत्वा भोग्यत्वमापन्नस्तद्विवेके तु नोभयम् ॥७॥

अन्वय :–सच्चिदानन्दः परमात्मा नामरूपयोः तादात्म्यं (प्राप्य) गत्वा भोग्यत्वं आपन्नः तद्-विवेके तु उभयं (भोक्तृभोग्यरूपं) न ।

'परात्मेति' । तस्य भोग्यरूपत्वापत्तिप्रकारमाह—'तादात्म्यमिति' । नामरूपकल्पनाधिष्ठानत्वेन तत्तादात्म्यं प्राप्य भोग्यत्वमश्नुत इत्यर्थः भोक्तृत्वाद्यभावे कारणमाह—'तद्विवेक इति' । ताभ्यां शरीरत्रय-जगद्भ्यां विवेके भेदज्ञाने जाते सति नोभयम् । भोक्तृभोग्यरूपं नास्तीत्यर्थः ॥७॥

आत्मा में शोक सम्बन्ध दिखाने के लिए उसके भेद का विस्तार करते हैं—

जीवात्मा और परमात्मा के भेद से आत्मा को दो प्रकार का कहा गया है । स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण तीन शरीरों के साथ चिदात्मा का तादात्म्य भाव हो जाने के कारण वह जीव बनकर भोक्तृत्व भाव को प्राप्त हो जाता है ॥६॥

जीव और ईश्वर के भेद से यह आत्मा दो प्रकार का माना है । आत्मा में जीवभाव होने में कारण दिखाते हैं स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप इन तीन शरीरों से चित्‌रूप आत्मा का अभेद भ्रम के कारण अर्थात् उक्त तीनों शरीरों में चिद्‌रूप रूपता का तादात्म्य भ्रम हो जाने पर ही जीवभाव को प्राप्त होकर, वह आत्मा भोक्ता 'जीव' कहलाने लगता है ॥६॥

अब परमात्मा के स्वरूप को दिखाते हैं—

वह सच्चिदानन्दरूप परमात्मा नाम और रूप दोनों के साथ तादात्म्य को प्राप्त होकर भोग्यरूप हो जाता है, किन्तु उन सबसे भेदज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भोक्ता और भोग्य दोनों विनष्ट हो जाते हैं ॥७॥

उस परमात्मा के साथ भोग्यत्व की प्राप्ति का प्रकार दिखाते हैं—यद्यपि परमात्मा सच्चिदानन्द रूप है तो भी वह नाम और रूप की कल्पना के आधारभूत होने से नामरूपात्मक जगत् के साथ तादात्म्यभाव प्राप्त कर लेने के कारण भोग्यरूप बन जाता है । भोक्तृत्वादि होने में हेतु दिखाते हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीन शरीरों के साथ तथा नामरूप से आत्मा का भेदभाव हो जाने पर वह भोक्ता भोग्य दोनों नहीं रह पाते हैं ॥७ ।

उक्तमर्थं विवृणोति—

भोग्यमिच्छन् भोक्तुरर्थे शरीरमनुसंज्वरेत् ।
ज्वरास्त्रिषु शरीरेषु स्थिता न त्वात्मनो ज्वराः ॥८॥

अन्वय :—भोक्तुः भोग्यं इच्छन् अर्थे शरीरमनुसंज्वरेत् ज्वराः त्रिषुशरीरेषु स्थिताः आत्मनः तु ज्वराः न ।

'भोग्यमिति' ॥८॥

कस्मिन् शरीरे को ज्वर इत्याशङ्क्य, स्थूलदेहे विद्यमानाञ्ज्वरान्दर्शयति—

व्याधयो धातुवैषम्ये स्थूलदेहे स्थिता ज्वराः ।
कामक्रोधादयः सूक्ष्मे द्वयोर्बीजं तु कारणे ॥६॥

अन्वय : धातुवैषम्ये व्याधयः स्थूलदेहे ज्वराः स्थिताः कामक्रोधादयः सूक्ष्मे द्वयोः बीजं तु कारणें (स्थितम्) ।

'व्याधय इति' । लिङ्ग देह कारण देह गताञ्ज्वरानाह—'कामेति' ॥६॥

उक्त अर्थ का विवरण करते हैं—

भोक्तृरूप जीवात्मा भोग्यवस्तु के लिए शरीर के पीछे अपने आप को दुःखी बना लेता है । ज्वर तीनों शरीरों में रहता है । परन्तु यह दुःखादि आत्मा में किञ्चित् भी नहीं रहता है ॥८॥

किस शरीर में कौन सा ज्वर रहता है—ऐसी शंका कर स्थूल शरीर में रहने वाले ज्वर को दिखाते हैं—

स्थूल शरीर में धातु दोष की विषमता के कारण अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और सूक्ष्म देह में काम क्रोध रहते हैं, तथा इन दोनों शरीरों के बीज कारण शरीर में रहते हैं ॥६॥

इदानीमुदाहृतश्रुतितात्पर्यकथनव्याजेन पूर्वोक्तमेवार्थं विशदयति—

अद्वैतानन्दमार्गेण परात्मनि विवेचिते ।
अपश्यन्वास्तवं भोग्यं किं नामेच्छेत्परात्मवित् ॥१०॥

अन्वय :—अद्वैतानन्दमार्गेण विवेचिते परात्मनि वास्तवं भोग्यं अपश्यन् परात्मवित् किं नाम इच्छेत् ।

'अद्वैतेति' । तृतीयाध्यायोक्तप्रकारेण मायाकार्यनामरूपाभ्यां सच्चिदानन्दे परमात्मनि विवेचिते भेदेन ज्ञाते सति सर्वं प्रपञ्चं मिथ्येति जानन् किं नाम भोग्यमिच्छति ? ॥१०॥

ततः पूर्वाध्यायोक्तरीत्या जीवात्मस्वरूपे असङ्गकूटस्थचैतन्यरूपे निश्चिते सति कामयितुरभावाज्ज्वरादिसंबन्धो नास्तीत्याह—

आत्मानन्दोक्तरीत्यास्मिन् जीवात्मन्यवधारिते ।
भोक्ता नैवास्ति कोऽप्यत्र शरीरे तु ज्वरः कुतः ॥११॥

अन्वय :—आत्मानन्दोक्तरीत्या अस्मिन् जीवात्मनि अवधारिते अत्र शरीरे कोपि भोक्ता नैव अस्ति ज्वरः तु कुतः ।

'आत्मानन्देति' ॥११॥

अब उदाहृत श्रुति वाक्य कथन से व्याज से (मिस) पूर्वोक्त अर्थ का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—

अद्वैतानन्द के मार्ग से कथित परमात्मा के रूप को भलीभाँति जान लेने पर किसी पारमार्थिक भोग्य वस्तु को न देखता हुआ यह तत्त्वज्ञानी किस भोग्य वस्तु की इच्छा करता फिरेगा ॥१०॥

ब्रह्मानन्द के अन्तर्गत अद्वैतानन्द नामक तृतीय अध्याय में कहे हुए प्रकार से माया के कार्यरूप नाम और रूप से सच्चिदानन्द परमात्मा को भेद पूर्वक जान लेने पर, समस्त प्रपञ्च को मिथ्या जानता हुआ यह तत्त्ववेत्ता पुरुष किस भोग्य पदार्थ की कामना करेगा ॥१०॥

पूर्वाध्याय में कहे हुए मार्ग से जीवात्मा का स्वरूप असंग कूटस्थ एवं चैतन्य रूप माना जाता है. इस प्रकार जीवात्मा के स्वरूप को जान लेने पर कामना करने के लिए भोग्य वस्तु के प्रति अनासक्त भाव आ जाता है । अतः आत्मा में ज्वरादि का सम्बन्ध किञ्चित् मात्र भी नहीं रह जाता इस विषय में कहते हैं—

आत्मानन्द प्रकरण में प्रतिपादित प्रकार से जीवात्मा के विषय में असंग भाव निश्चित हो जाने पर इस शरीर में कोई भी भोक्ता नहीं रह जाता है । फिर सन्ताप ज्वरादि कैसे पीड़ा दे सकेगा ॥११॥

इदानीमामुष्मिकं ज्वरं दर्शयति—

पुण्यपापद्वये चिन्ता दुःखमामुष्मिकं भवेत् ।

प्रथमाध्याय एवोक्तं चिन्ता नैनं तपेदिति ॥१२॥

अन्वय :—पुण्यपापद्वये चिन्ता दुःखं आमुष्मिकं भवेत् प्रथमाध्याय एवोक्तं, एवं चिन्ता न तपेद् इति ।

'पुण्येति' । तस्याभावः प्रथमाध्याये निरूपित इत्याह—'प्रथमेति' ॥१२॥

ननु ज्ञानिन आरब्धकर्मविषया, चिन्ता मा भूत्, आगामिककर्मविषया चिन्ता भवत्येवेत्याशङ्क्य, 'तद्यथा पुष्करपर्णे' (छ० ४।१४।३) इत्यादिश्रुत्या ज्ञानिने आगामिककर्मसंबन्धनिराकरणात्तद्विषयापि चिन्ता नास्तीत्याह—

यथा पुष्करपर्णेऽस्मिन्नपामश्लेषणं तथा ।

वेदनादूर्ध्वमागामिकर्मणोऽश्लेषणं बुधे ॥१३॥

अन्वय :—यथा पुष्करपर्णेऽस्मिन् अपां अश्लेषणं तथा वेदनात् ऊर्ध्वं आगामिकर्मणः अश्लेषणं बुधे ।

'यथेति' ॥१३॥

अब पारलौकिक ज्वर को दिखाते हैं—

पुण्य और पाप इन दोनों के विषय में चिन्ता करना ही पारलौकिक ज्वर दुःख कहलाता है। ब्रह्मानन्दान्तर्गत प्रथम योगानन्द प्रकरण में इस ज्वर के विषय में बता दिया है कि तत्त्ववेत्ता पुरुष को पाप पुण्य से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है ॥१२॥

ब्रह्मानन्द के अन्तर्गत प्रथम योगानन्द नामक प्रकरण में यह दिखा दिया है कि ब्रह्मवेत्ता पुरुष में पाप और पुण्य इन दोनों का अभाव मिलता है। इसलिए श्लोक में 'प्रथम' यह पद उद्धृत किया गया है ॥१२॥

शंका—तत्त्ववेत्ता पुरुष को प्रारब्ध कर्म की चिन्ता मत हो, किन्तु आगामी कर्म-विषयक चिन्ता तो निश्चित रहती होगी, ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं वैसे ही ब्रह्मवेत्ता पुरुष को भी आगामी कर्म का सम्बन्ध नहीं होता है। कि जैसे पद्मपत्र को जल का संस्पर्श नहीं होता है। इस प्रकार निराकरण कर दिया गया है। इसलिए भावी कर्म-विषयक चिन्ता भी नहीं होती है—

जैसे पद्मपत्र जल से अलिप्त रहता है उसी प्रकार तत्त्व ज्ञान हो जाने पर ज्ञानी में भावी कर्मों का सम्बन्ध नहीं होता है ॥१३॥

'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा० ५।२४।३) इति श्रुत्य-वष्टम्भेन संचितकर्मविषयापि चिन्ता ज्ञानिनो नास्तीत्याह—

इषीकातृणतूलस्य वह्निदाहः क्षणाद्यथा ।
तथा संचितकर्मास्य दग्धं भवति वेदनात् ॥१४॥

अन्वय :—इषीकातृणतूलस्य यथा क्षणात् वह्निदाहः तथा अस्य वेदनात् संचितकर्म दग्धं भवति ।

'इषीकेति' ॥१४॥

उक्तार्थे (गी० ४।३।७।८) भगवद्वाक्यमपि प्रमाणयति—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥१५॥

अन्वय :—हे अर्जुन समिद्धः अग्निः यथा एधांसि भस्मसात् कुरुते तथा ज्ञानाग्निः सर्वं कर्माणि भस्मसात् कुरुते ।

'यथैधांसीति' ॥१५॥

जैसे इषीका नामक तृण की रुई वह्नि में पड़ने पर तत्काल जलकर भस्मीभूत हो जाती है । वैसे ही प्रारब्ध कर्मों को छोड़कर संचित कर्मों का भी ज्ञानी के लिए चिन्ता नहीं रहती है । संचित एवं क्रियमाण कर्मों को अपरोक्षरूप तत्त्व ज्ञान के द्वारा जलाकर विनष्ट कर देता है । इस प्रकार कहते हैं—

जैसे इषीका नामक तृण की रुई अग्नि में पड़ जाने से उसी काल जलकर भस्म हो जाती है । वैसे ही इस तत्त्व ज्ञानी के लिए तत्त्व ज्ञान हो जाने पर संचित कर्म क्षण मात्र में विनष्ट हो जाते हैं ॥१४॥

उक्त अर्थ में श्री कृष्ण के वाक्य का भी प्रमाण प्राप्त होता है—

हे अर्जुन जैसे प्रज्वलित अग्नि इन्धन को जलाकर भस्मीभूत कर डालती है वैसे ही ज्ञानाग्नि भी ज्ञानी के समस्त कर्मों को जलाकर भस्म कर देती है ॥१५॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।

हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१६॥

अन्वय :—यस्य अहं कृतः भावः न, यस्य बुद्धिः न लिप्यते स इमाँल्लोकान् हत्वापि न हन्ति न निबध्यते ।

'यस्य नाहमिति' ॥१६॥

मातापित्रोर्वधः स्तेयं भ्रूणहत्यान्यदीदृशम् ।

न मुक्तिं नाशयेत्पापं मुखकान्तिर्न नश्यति ॥१७॥

अन्वय :—मातापित्रोः बधः स्तेयं भ्रूणहत्या ईदृशं अन्यत्मुक्तिं न पापं नाशयेत् मुखकान्तिः न नश्यति ।

'मातापित्रोरिति' । चनेत्येकं पदम् । नीलमिति कान्तिरित्यर्थः ॥१७॥

हे अर्जुन ! जिस पुरुष के हृदय में कर्ता भोक्ता के अभिमान का अभाव हो जाता है । तथा जिसकी बुद्धि भौतिक पदार्थों में अनासक्त रहती है वह पुरुष इन लोगों को मारकर भी वस्तुतः नहीं मारता है और पाप से लिप्त भी नहीं होता है ॥१६॥

अस्मिनेवार्थे 'न' मातृबधेन न पितृबधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया नास्य पापं चन चक्रुषो मुखान्नीलंवेति' (कौषी० ३।१) इति कौषीतकी श्रुतिवाक्यमर्थतः पठति —

माता का बध पिता की हत्या चोरी और भ्रूणहत्या इसके समान अन्य पाप कर्म भी तत्वज्ञानी की मुक्ति में बाधक नहीं हो सकता है एवं इन पाप कर्मों के दोष से मुख की आभा प्रसन्नता भी विनष्ट नहीं होती है ॥१७॥

विशेष १ —यद्यपि लौकिक व्यवहार दृष्टि से हननकर्ता दीखता है । तथापि परमार्थ दृष्टि से तो अकर्ता आत्मदर्शी हननकर्ता नहीं, उस हनन क्रिया करके बन्धन को पाता नहीं है । इसी पर हिंसा की प्राप्ति अर्जुनादि राजकर्ताओं को प्राप्त है इसकी अपेक्षा करके यह हिंसा के निषेध का उपदेश है । अन्यों की अपेक्षा करके नहीं—यह मुमुक्षु श्रवण मनन करता है तब जगत् की माँ - माया अपनी-अपनी अविद्या माँ को तत्वज्ञान से मिथ्यात्व निश्चय कर तथा माया उपहित ईश्वर महेश्वर को उसकी उपाधि माया को मिथ्यात्व निश्चय कर तथा भ्रूण सभी अज्ञानी जीवों को मिथ्या निश्चयकर यहीं महामातृ, पितृ भ्रूण बध है ।

उक्तचातुर्विध्यमध्ये द्वितीयप्रकारमाह—

दुःखाभाववदेवास्य सर्वकामाप्तिरीरिता ।
सर्वान्कामानसावाप्त्वा ह्यमृतोऽभवदित्यतः ॥१८॥

अन्वय :—दुःखाभाववत् एव अस्य सर्वकामाप्तिः ईरिता सर्वान् कामान् असौ आप्त्वा अमृतः हि इत्यतः अभवत् ।

'दुःखेति' । ईरिता श्रुत्येति शेषः । अस्मिनर्थे 'ऐतरेय' श्रुतिवाक्यमर्थतः पठति—'सर्वानिति' ॥१८॥

'जक्षत्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वाऽज्ञातिभिर्वा वयस्यैर्वानोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्' (छा० ८।१२।३) इति 'छान्दोग्य' श्रुतिवाक्यमर्थतः पठति—

जक्षन्क्रीडन्रतिं प्राप्तः स्त्रीभिर्यानैस्तथेतरैः ।
शरीरं न स्मरेत्प्राणः कर्मणा जीवयेदमुम् ॥१९॥

अन्वय :—जक्षन् क्रीडन् स्त्रीभिः यानैः तथेतरैः रतिं प्राप्तः अमुम् शरीरं न स्मरेत् प्राणः कर्मणा जीवयेत् ।

'जक्षन्निति' ॥१९॥

उक्त चार प्रकार के दुःखाभाव आदि के बीच में अब दूसरे प्रकार को दिखःते हैं—

दुःख का अभाव आदि की भाँति कामना की प्राप्ति से ज्ञानी को आनन्द भी मिल जाता है । इस विषय में ऐतरेय श्रुति वाक्य का प्रमाण मिलता है कि सभी कामनाओं को प्राप्त कर ज्ञानी अमरण धर्म हो जाता है ॥१८॥

छान्दोग्य श्रुति का अर्थतः पाठ करते हैं—

हँसता हुआ, खाता हुआ, खेलता हुआ, स्त्रियों से रमण करता हुआ, वाहन आदि पर बैठता हुआ दूसरे भोगों को भोगता हुआ भी ज्ञानी शरीर को सर्वथा विस्मरण कर जीता है । प्राण इस शरीरादि संघात को प्रारब्ध कर्म से धारण कर रखता है ॥१९॥

तत्रैव 'तैत्तिरीय' श्रुतिवाक्यमर्थतः पठति –

सर्वान्कामान्सहाप्नोति नान्यवज्जन्मकर्मभिः ।

वर्तन्ते श्रोत्रिये भोगा युगपत्क्रमवर्जिताः ॥२०॥

अन्वय :—सर्वान् कामान् सह आप्नोति अन्यवत् जन्म कर्मभिः न, श्रोत्रिये भोगाः क्रमवर्जिताः युगपत् वर्तन्ते ।

'सर्वानिति' । ननु कर्मफलभोगाङ्गीकारे जन्मापि प्रसज्येतेत्याशङ्क्याह—'नान्यवदिति' । ज्ञानेन संचितकर्मणां दग्धत्वादज्ञवज्जन्म नास्तीत्यर्थः ॥२०॥

इदानीं 'तैत्तिरीय—बृहदारण्यक' वाक्यं संक्षिप्यार्थतः पठति—

युवा रूपी च विद्यावान्नीरोगो दृढचित्तवान् ।

सैन्योपेतः सर्वपृथ्वीं वित्तपूर्णां प्रपालयन् ॥२१॥

अन्वय :—युवा रूपी च विद्यावान् नीरोगः दृढचित्तवान् सैन्योपेतः सर्वपृथ्वीं वित्तपूर्णां प्रपालयन् ।

'युवेति' ॥२१॥

इस प्रसंग में तैत्तिरीय श्रुति वाक्य का अर्थतः पाठ करते हैं—

ज्ञानी पुरुष समस्त कामनाओं को युगपत् पा लेता है । अज्ञानी मनुष्यों की तरह जन्म एवं कर्मों के द्वारा उसका भोग नहीं होता है । क्योंकि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पुरुष को तो भोग पदार्थ युगपत् क्रमरहित प्राप्त होते हैं ॥२०॥

ज्ञानी पुरुष को समस्त भोग्य वस्तुएँ एक साथ प्राप्त होती हैं । अब शंका उठती है कि कर्म जन्य फल भोग को स्वीकार करने पर तो जन्म को भी मानना पड़ेगा । यह बात नहीं है । क्योंकि तत्त्वज्ञान से संचित कर्मों के विनष्ट हो जाने पर अज्ञजनों की भाँति ज्ञानी पुरुष का जन्म मरण नहीं होता ॥२० ।

अब तैत्तिरीय बृहदारण्यक दोनों उपनिषदों के वाक्यों का अर्थतः पाठ करते हैं—युवावस्था से युक्त, रूप सम्पन्न, विद्या से विभूषित, रोग रहित दृढ़चित्त सेना सहित रत्नों से परिपूर्ण पृथिवी का पालन करता हुआ चक्रवर्ती सम्राट् राजा सुख को प्राप्त करता है ॥२१॥

ननु सार्वभौमादिहिरण्यगर्भान्तानां जीवनिष्ठानामानन्दानां कथं ज्ञानिनि सम्भव इत्याशङ्क्य, सर्वेषामानन्दानां ज्ञानिनावगतब्रह्मांशत्वात्संभव इत्याह—

सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नस्तृप्तभूमिपः ।
यमानन्दमवाप्नोति ब्रह्मविच्च तमश्नुते ॥२२॥

अन्वय :—सर्वैः मानुष्यकैः भोगैः संपन्नः तृप्तभूमिपः यं आनन्दं अवाप्नोति ब्रह्मवित् च तं अश्नुते ।

'सर्वैरिति' ॥२२॥

ननु सार्वभौम श्रोत्रिययोर्विषयप्राप्तिसाम्याभावात् कथमानन्दसाम्यमित्याशङ्क्य, नैरपेक्ष्यसाम्या-तृप्तिसाम्यमित्याह -

मर्त्यभोगे द्वयोर्नास्ति कामस्तृप्तिरतः समा ।
भोगान्निष्कामतैकस्य परस्यापि विवेकतः ॥२३॥

अन्वय :—मर्त्यभोगे द्वयोः कामतृप्तिः नास्ति अतः समा एकस्य भोगात् निष्कामता विवेकतः परस्यापि (भवति) ।

'मर्त्येति' । तृप्तिसाम्ये हेतुमाह—'भोगादिति' ॥२३॥

शंका -सार्वभौम सम्राट् आदि पद से लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त जीवनिष्ठ आनन्दों का ज्ञानी में कैसे होना सम्भव हो सकता है ?

समाधान यह है कि ज्ञानी पुरुष ने समस्त आनन्दों को ब्रह्मानन्द का ही अंशमान कर ये प्राप्त किया है । इसलिए ज्ञानी पुरुष में समस्त आनन्दों का होना घट जाता है—

मनुष्य शरीर सम्बन्धी सभी सुखों से युक्त होने के कारण परितृप्त हुआ यह पुरुष जिस आनन्द को पा लेता है वही आनन्द श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पुरुष भी अपने में अनुभूत कर लेता हैं ॥२२॥

शंका—चक्रवर्ती सम्राट और श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पुरुष इन दोनों में विषयगत प्राप्ति समान न रहने के कारण आनन्द की अनुभूति समान कैसे मानी जायेगी, ऐसी शंका कर कहते हैं कि निरपेक्ष भाव दोनों पुरुषों में समान होने से तृप्ति की समानता बन जाती है—

मृत्युलोक के भोग में चक्रवर्ती सम्राट और तत्त्वदर्शी दोनों पुरुषों को कामना नहीं है । एक को सभी अभीष्ट वस्तुएँ मिल जाने से सभी इच्छाओं का अभाव हो जाता है । दूसरे को विवेक ज्ञान के प्रसाद से इच्छाओं का अभाव हो जाता है । अतः दोनों पुरुषों में तृप्ति समान है ॥२३॥

'विवेकतः' इत्युक्तमर्थं विवृणोति—

श्रोत्रियत्वाद्वेदशास्त्रैर्भोगदोषानवेक्षते ।

राजा बृहद्रथो दोषांस्तान्गाथाभिरुदाहरत् ॥२४॥

अन्वय : श्रोत्रियत्वात् वेदशास्त्रैः भोगदोषान् अवेक्षते बृहद्रथः राजा तान् दोषान् गाथाभिः उदाहरत् ।

'श्रोत्रियत्वादिति' । विषयदोषाः कस्यां शाखायां केन निरूपिता इत्याशङ्क्य, बृहद्रथे मैत्रायणीयाख्यशाखायां गाथाभिरुक्ता इत्याह—'राजेति' ॥२४॥

विवेकिनः कामानुदये दृष्टान्तमाह—

देहदोषांश्चित्तदोषान् भोग्यदोषाननेकशः ।

शुना वान्ते पायसे नो कामस्तद्वद्विवेकिनः ॥२५॥

अन्वय :—देहदोषान् चित्तदोषान् अनेकशः भोग्यदोषान् शुना वान्ते पायसे विवेकिनः तद्वत् कामः न ।

'शुनेति' ॥२५॥

बिवेकतः इस उक्त पदार्थं का स्पष्टीकरण करते हैं—

ज्ञानी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ होने से विषय जनित दोषों को वेदशास्त्रों के द्वारा जान लेता है। जिन दोषों को बृहद्रथ राजा ने मैत्रायणीय नामक शाखा के माध्यम से वर्णन किया है ॥२४॥

विषयजन्य दोषों का किस शाखा में किसके द्वारा निरूपण हुआ है।

समाधान—बृहद्रथ राजा ने उन विषयजन्य दोषों का मैत्रायणीय नामक शाखा में गाथाओं के नाम से विवेचन किया है ।२४॥

विवेक सम्पन्न पुरुष में इच्छाओं का उदय नहीं होता है इस विषय में दृष्टान्त देते हैं—

देह चित्त और भोग्य पदार्थों के दोषों को अनेक प्रकार से दिखलाये हैं। विवेकी पुरुष की वैसी कुछ भी कामना नहीं रहती है, जिस प्रकार कुत्ते द्वारा वमन की हुई खीर कोई भी व्यक्ति खाने की इच्छा नहीं करता ॥२५॥

सार्वभौमाच्छ्रोत्रियस्याधिक्यमाह—

निष्कामत्वे समेऽप्यत्र राज्ञः साधनसंचये ।

दुःखमासीद्भाविनाशादतिभीरनुवर्तते ॥२६॥

अन्वय :—अत्र निष्कामत्वे समेति राज्ञः साधनसंचये दुःखमासीत् भाविनाशात् अतिभीः अनुवर्तते ।

'निष्कामत्व इति' ॥२६॥

सार्वभौमत्वं साधनसाध्यं पश्चाच्च तन्नाशभीतिश्चेति दोषद्वयत्वाच्छ्रोत्रियेतु तदुभयाभावादाधिक्यमित्यर्थः । श्रोत्रियस्याधिक्यान्तरमाह—

नोभयं श्रोत्रियस्यातस्तदानन्दोऽधिकोऽन्यतः ।

गन्धर्वानन्द आशास्ति राज्ञो नास्ति विवेकिनः ॥२७॥

अन्वय :—अतः श्रोत्रियस्य उभयं न अन्यतः तदानन्दः अधिकः गन्धर्वानन्दे राज्ञः आशास्ति विवेकिनः नास्ति ।

'गन्धर्वेति' ॥२७॥

चक्रवर्ती सार्वभौम सम्राट् और श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पुरुष में सुख की अधिकता रहती है इस विषय में कहते हैं—

सार्वभौम सम्राट चक्रवर्ती और श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ दोनों में निष्काम भाव तो समान ही है तो भी राजा को भोग के उपकरणोंको एकत्रित करने मेंदुःख हुआ था और भावी विनाश का अत्यन्त भय भी विद्यमान रहता है ॥२६॥

सार्वभौम सम्राट् को तो सुख के साधन प्राप्त करने में दुःख होता है और साधन के विनष्ट हो जाने से दूसरा दुःख उपस्थित हो जाता है । किन्तु ज्ञानी में इन दोनों के अभाव रहने के कारण सम्राट् से अधिक सुख रहता है—

उक्त दोनों प्रकार के दुःख श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पुरुष में नहीं रहते हैं । इसलिए ज्ञानी पुरुष का आनन्द दूसरे लोगों से कहीं अधिक है । सम्राट् के सुख से गन्धर्व का सुख अधिक होता है । अतः सम्राट् गन्धर्व के सुख की आशा रखता है । किन्तु ज्ञानी पुरुष में गन्धर्व के सुख की किञ्चित् मात्र भी स्पृहा नहीं रहती है ॥

इदानीं गन्धर्वानन्दे द्वैविध्यं दर्शयितुं श्लोकद्वयेन गन्धर्वभेदमाह—

अस्मिन्कल्पे मनुष्य: सन्पुण्यपाकविशेषत: ।
गन्धर्वत्वं समापन्नो मर्त्यगन्धर्व उच्यते ॥२८॥

अन्वय :—अस्मिन्कल्पे मनुष्य: सन् पुण्यपाकविशेषत: गन्धर्वत्वं समापन्न: मर्त्यगन्धर्व: उच्यते ।

'अस्मिन्निति' ॥२८॥

पूर्वकल्पे कृतात्पुण्यात्कल्पादावेव चेद् भवेत् ।
गन्धर्वत्वं तादृशोऽत्र देवगन्धर्व उच्यते ॥२९॥

अन्वय :—पूर्वकल्पे कृतात् पुण्यात् कल्पादौ एव भवेत् चेत् तादृश: अत्र गन्धर्वत्वं देवगन्धर्व: उच्यते ।

'पूर्वेति' ॥२९॥

चिरलोकपित्रानन्दप्रदर्शनाय चिरलोकपितॄनाह—

अग्निष्वात्तादयो लोके पितरश्चिरवासिन: ।
कल्पादादेव देवत्वं गता आजानदेवता: ॥३०॥

अन्वय :—अग्निष्वात्तादय: पितर: लोके चिरवासिन: कल्पादौ एव आजानदेवता: देवत्वं गता: ।

'अग्निष्वात्तादय इति' । देवानन्दत्रैविध्यज्ञानाय देवभेदमाह—'कल्पादाविति' ॥३०॥

चिरलोकस्थ पितृलोक के आनन्द को दिखाने के लिए चिरलोक निवासी पितरों को दिखाते हैं और त्रिविध देवानन्द के ज्ञान के लिए दोनों के भेद को दिखाते हैं—

अब गन्धर्व के आनन्द में दो प्रकार के सुख को दिखाने के लिए दो श्लोकों से गन्धर्व के भेद दिखाते हैं—

इस कल्प में मनुष्य बनकर विशेष पुण्य के प्रभाव से गन्धर्व शरीर को प्राप्त हुआ यह मर्त्य गन्धर्व शब्द से पुकारा जाता है ॥२८॥

पूर्व कल्प में सम्पादित पुण्य से यदि कल्प के आदि में ही गन्धर्व हो जाता है तो वह देव-गन्धर्व कहलाता है ॥२९॥

लोक में चिरकाल पर्यन्त निवास करने वाले 'अग्निष्वात्त' आदि पितरलोक होते हैं वे कल्प के आदि में ही देवत्व को प्राप्त हुए आजानदेवता कहे जाते हैं ॥३०॥

अस्मिन्कल्पेऽश्वमेधादि कर्म कृत्वा महत्पदम् ।

अवाप्याजानदेवैर्याः पूज्यास्ताः कर्मदेवताः ॥३१॥

अन्वय :—अस्मिन् कल्पे अश्वमेधादि कर्म कृत्वा महत्पदं अवाप्य आजानदेवैः अस्मिन् कल्पे याः कर्मदेवताः ताः पूज्याः ।

'अस्मिन्कल्प इति' ॥३१॥

यमाग्निमुख्या देवाः स्युर्ज्ञाताविन्द्रबृहस्पती ।

प्रजापतिर्विराट् प्रोक्तो ब्रह्मा सूत्रात्मनामकः ॥३२॥

अन्वय :—यमाग्निमुख्या देवाः इन्द्रबृहस्पती ज्ञातौ स्युः प्रजापतिः विराट् प्रोक्तः सूत्रात्म नामकः ब्रह्मा ।

'यामाग्नीवि' । इन्द्रबृहस्पती प्रसिद्धावित्यर्थः ॥३२॥

सार्वभौमादिसूत्रान्तानां श्रोत्रियान्न्यूनत्वद्योतनायाह—

सार्वभौमादिसूत्रान्ता उत्तरोत्तरकामिनः ।

अवाङ्मनसगम्योऽयमात्मानन्दस्ततः परः ॥३३॥

अन्वय :—सार्वभौमादिसूत्रान्ता उत्तरोत्तरकामिनः अवाङ्मनसगम्यः ततः परः अयं आत्मानन्दः ।

'सार्वभौमादीति' । एभ्यः सर्वेभ्योऽधिकमानन्दमाह—'अवाङ्मनसेति' । यतोऽयमात्मानन्दः आवाङ्मनसगम्यः अत एभ्यः सर्वेभ्योऽधिक इत्यर्थः ॥३३॥

इस कल्प में अश्वमेध यज्ञादि रूप कर्म का अनुष्ठान करके उच्च पदवी को प्राप्त करते हैं । वे आजान देवों से भी अर्चनीय हो जाते हैं, उन्हें कर्म देवों के नाम से पुकारते हैं ॥३१॥

यम, अग्नि, वरुण, कुवेरादि प्रधान देवता हैं इन्द्र और बृहस्पति तो प्रसिद्ध ही हैं, समष्टि स्थूल प्रपञ्च का अभिमानी वैश्वानर प्रजापति कहा गया है और सूक्ष्म समष्टि पपञ्च के अभिमानी सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ है वह ब्रह्मा है ॥३२॥

अब चक्रवर्ती से सूत्रात्मा पर्यन्तों के तत्त्वज्ञानी से न्यूनता दिखाते हैं—

सार्वभौम सम्राट् आदि से लेकर सूत्रात्मा पर्यन्त सब के सब उत्तरोत्तर पद के अभिलाषी होते हैं और यह आत्मा आनन्द स्वरूप होने से मन, वाणी का अविषय है निरतिशय आनन्द-स्वरूप है ॥३३॥

इदानीं सर्वेषाम नन्दाः श्रोत्रिये विद्यन्ते, तस्य तेषु निःस्पृहत्वादित्याह—

तैस्तैः काम्येषु सर्वेषु सुखेषु श्रोत्रियो यतः ।
निःस्पृहस्तेन सर्वेषामानन्दाः सन्ति तस्य ते ॥३४॥

अन्वय :—तैः तैः काम्येषु सर्वेषु सुखेषु यतः श्रोत्रियः निःस्पृहस्तेन सर्वेषामानन्दाः ते तस्य सन्ति ।

'तैस्तैरिति' ॥३४॥

उपपादितमर्थमुपसंहरति —

अन्वय :—सर्वकामाप्तिः एषा उक्ता यद्वा साक्षिचिदात्मना स्वदेहवत् सर्वदेहेष्वपि भोगान् अवेक्षते ।

सर्वकामाप्तिरेषोक्ता यद्वा साक्षिचिदात्मना ।
स्वदेहवत्सर्वदेहेष्वपि भोगानवेक्षते ॥ ३५ ॥

'सर्वेति' । इदानीं पक्षान्तरमाह—'यद्वेति' । यथा स्वदेहे आनन्दाकारबुद्धिसाक्षित्वेनानन्दित्वम्, इतरेष्वपि देहेषु तद्वदित्यर्थः ॥३५॥

अब श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पुरुष में सब आनन्द की उपलब्धि होती है, क्योंकि वह स्पृहारहित है । इस विषय में कहते हैं—

ज्ञानी उस-उस कारण से कामना के योग्य सम्पूर्ण सुखों में निःस्पृह है । अतः सभी के आनन्दों को पा लेता है ॥३४॥

अब कहे हुए अर्थ को समाप्त करते हैं—

उसी को सर्व कामाप्ति बतायी गयी है, अथवा अपने देह की भाँति सुखाकार बुद्धि वृत्ति का साक्षी चिद्रूप में अवस्थित होकर वह श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पुरुष सार्वभौमादिकों के शरीरों में भी भोगों का सेवन कर लेता है ॥३५॥

इस विषय को पक्षान्तर से दिखाते हैं—जैसे मनुष्य अपने शरीर की तरह अपने से भिन्न अन्य लोगों के शरीरों में भी साक्षिरूप चिदात्मा के द्वारा सम्पूर्ण बुद्धि का साक्षी मैं स्वयमेव हूँ, इस ज्ञानाकार से सम्पूर्ण भोगों को भोगता है ॥३५॥

ननूक्तप्रकारेणाज्ञस्यापि सर्वानन्दप्राप्तिरस्तीत्याशङ्क्य, सर्वेषु सर्वबुद्धिसाक्ष्यहमिति ज्ञाना-भावान्नैवमित्याह —

अज्ञस्याप्येतदस्त्येव न तु तृप्तिरबोधतः ।

यो वेद सोऽश्नुते सर्वान्कामानित्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥३६॥

अन्वय :—अज्ञस्यापि एतत् अस्त्येव अबोधतः तृप्तिः तु न, सर्वान् कामान् यः अश्नुते सः वेद इति श्रुतिः अब्रवीत् ।

'अज्ञस्येति' । उक्तार्थे 'तैत्तिरीयश्रुतिं' प्रमाणयति—'योवेदेति' । गुहायां निहितं ब्रह्म यो वेद सोऽश्नुत इति योजना ॥३६॥

इदानीं तृतीयप्रकारमाह—

यद्वा सर्वात्मतां स्वस्य साम्ना गायति सर्वदा ।

अहमन्नं तथाऽन्नादश्चेति साम ह्यधीयते ॥३७॥

अन्वय :— यद्वा स्वस्य सर्वात्मतां सर्वदा साम्ना गायति अहं अन्नं तथा अन्नदश्च इति हि साम अधीयते ।

'यद्वेति' । इमाँल्लोकान्कामान्निकामरूप्यनुचरन्नित्यादिनेत्यर्थः ॥३७॥

शंका—उक्त रीति से तो अज्ञानी को भी सर्वानन्द की प्राप्ति हो जायेगी, ऐसी शंका कर कहते हैं—कि सभी में सर्वात्मक बुद्धि का साक्षी मैं हूँ, यह ज्ञान अज्ञानी को न होने से आनन्द की प्राप्ति नहीं होती है—

अज्ञानी को भी सभी का साक्षी होने से सर्वकामाप्ति होती है । किन्तु बोध न होने के कारण परितृप्ति का उसमें अभाव रहता है । जो पुरुष सर्वबुद्धिरूप गुहा में अवस्थित परम ब्रह्म को जानता है । वह समस्त भोगों को भोगता है, ऐसा तैत्तिरीय वाक्य का कथन है ॥३६॥

अब तृतीय प्रकार को दिखाते हैं—

अथवा स्वयं मैं ही सबका अन्तरात्मा हूँ, इस बात को सदा सर्वदा सामवेद के मन्त्रों के द्वारा महर्षियों ने गाया है । क्योंकि मैं अन्नरूप हूँ तथा अन्न को खाने वाला भी मैं ही हूँ, ऐसा सामवेद का कहना है ज्ञानी लोग सभी भोगों का सेवन करते हैं ॥३७॥

सर्वकामाप्ति का तृतीय प्रकार यह है कि तत्त्ववेत्ता सर्व अन्तरात्मभाव को सामवेद के मन्त्रों द्वारा इस तरह गाते हैं, मैं स्वयमेव अन्नरूप हूँ, इस प्रकार अन्न का भोक्ता भी मैं ही हूँ, 'इमाँल्लोकान्कामा'० इस श्रुति वाक्य के तात्पर्य से उपर्युक्त प्रकार निश्चित होता है ॥३७॥

अतीत ग्रन्थेन सिद्धमर्थं संक्षिप्याह—

दुःखाभावश्च कामाप्तिरुभे ह्येवं निरूपिते ।

कृतकृत्यत्वमन्यच्च प्राप्तप्राप्यत्वमीक्षताम् ॥३८॥

अन्वय :—दुःखाभावश्च कामाप्तिः उभे हि एवं निरूपिते कृतकृत्यत्वं प्राप्तप्राप्यत्वं अन्यच्च ईक्षताम् ।

'दुःखेति' ॥३८॥

अत्रशिष्टं कृतकृत्यत्वं प्राप्तप्राप्यत्वमित्युभयं तृप्तिदीपे द्रष्टव्यमित्याह—

उभयं तृप्तिदीपे हि सम्यगस्माभिरीरितम् ।

त एवात्रानुसंधेयाः श्लोका बुद्धिविशुद्धये ॥३९॥

उभयं तृप्तिदीपे हि अस्माभिः सम्यक् ईरितं त एव बुद्धिविशुद्धये अत्र श्लोकाः अनुसंधेयाः ।

'त एवेति' ॥३९॥

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये ।

बहुकृत्यं पुराऽस्याभूत्तत्सर्वमधुना कृतम् ॥४०॥

अन्वय :—ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये अस्य पुरा बहुकृत्यं अभूत् तत् सर्वं अधुना कृतम् ।

अब उपपादित ग्रन्थ के सिद्ध अर्थ को संक्षेप से दिखाते हैं—

इस प्रकार दुःख के अभाव और कामना की प्राप्ति का निरूपण कर दिया गया है । इसके अतिरिक्त कृतकृत्यता और प्राप्त-प्राप्यता भी ज्ञानी में देख लेना चाहिए ॥३८॥

कृत्य कृत्यता और प्राप्त-प्राप्यता इन दोनों की तृप्तिदीप प्रकरण में देख लेना चाहिए । इस विषय में कहते हैं—

हमने कृतकृत्यता और प्राप्त-प्राप्यता दोनों का तृप्तिदीप प्रकरण में भलीभांति विवेचन कर दिया है । उन्हीं श्लोकों के द्वारा बुद्धि की विशुद्धि के लिए यहाँ पर अनुसंधान (स्मरण) करना चाहिए ॥३९॥

अब उन श्लोकों का ही वर्णन करते हैं—

कि इस लोक और परलोक के अनेक पदार्थों की सिद्धि और मुक्ति की सिद्धि के लिए ज्ञान से पूर्व इस ज्ञानी को अनेक प्रकार का कृत्य रहा, वह सब अब ज्ञान की अवस्था में ज्ञानी ने कर लिया ॥४०॥

तदेतत्कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् ।
अनुसंदधदेवायमेवं तृप्यति नित्यशः ॥४१॥

अन्वय :—तदेतत् प्रतियोगिपुरःसरम् कृतकृत्यत्वं अयं एवं नित्यशः अनुसंदधत् एव तृप्यति ।

दुःखिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया ।
परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया ॥४२॥

अन्वय : पुत्राद्यपेक्षया दुःखिनः अज्ञाः कामं संसरन्तु परमानन्दपूर्णः संसरामि इच्छया किं ।

अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः ।
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ? ॥४३॥

अन्वय :—परलोकयियासवः कर्माणि अनुतिष्ठन्तु सर्वलोकात्मकः कस्मात् अनुतिष्ठामि किं कथम् (केन प्रकारेण) ।

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा ।
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥४४॥

अन्वय :—ते शास्त्राणि व्याचक्षतां वा वेदान् अध्यापयन्तु ते अत्र अधिकारिणः अक्रियत्वतः मे अधिकारः तु न ।

इससे प्रतियोगी के ज्ञान पूर्वक इस कृतकृत्यता का स्मरण करता हुआ यह ज्ञानी इस प्रकार नित्य तृप्त होता है ॥४१॥

दुःखी अज्ञानी पुरुष पुत्र आदि की अपेक्षा से यथेच्छ संसार में प्राप्त हो जन्में और मरें परन्तु परमानन्द से पूर्ण मैं किसकी इच्छा से संसार गति को प्राप्त होऊँ ॥४२॥

परलोक के इच्छुक लोग अग्नि होत्रादि कर्मों का अनुष्ठान भले ही करें, परन्तु मैं सर्वलोकात्मक किस हेतु से इस अनर्थ प्रपञ्च में प्रवृत्त होऊँ ? ॥४३॥

जो लोग इस लोक के अधिकारी हैं, वे शास्त्रों का व्याख्यान करते रहें अथवा वेदों का अध्यापन करावें । मैं तो निष्क्रिय हूँ, अतः एव मेरा अधिकार नहीं ॥४४॥

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च ।
द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्ति किं मे स्यादन्यकल्पनात् ॥४५॥

अन्वय :—निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि करोमि च न द्रष्टारश्चेत् कल्पयन्ति अन्यकल्पनात् मे किं स्यात् ।

गुञ्जापुञ्जादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना ।
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥४६॥

अन्वय :—अन्यारोपितवह्निना गुञ्जापुञ्जादि न दह्येत, न अन्यारोपितसंसारधर्मान् एवं अहं भजे ।

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम् ।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ॥४७॥

अन्वय :—अज्ञाततत्त्वाः तेशृण्वन्तु कस्मात् जानन् अहं शृणोमि संशयापन्ना मन्यन्तां असंशयः अहं न मन्ये ।

विपर्यस्तो निदिध्यासेत्किं ध्यानमविपर्यये ।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ॥४८॥

अन्वय :—विपर्यस्तः निदिध्यासेत् अविपर्यये ध्यानं किं देहात्मत्वविपर्यासं अहं कदाचित् न भजामि ।

निद्रा और भिक्षा स्नान और शौच की न इच्छा रखता हूँ और न करता हूँ। हूँ, यदि द्रष्टा लोग इन सबकी मुझमें कल्पना करते हैं तो भले ही करते रहें, दूसरों की कल्पना से मेरा क्या बिगड़ता है ॥४५॥

दूसरे लोगों के द्वारा आरोपित वह्नि से गुञ्जापुञ्ज आदि से दग्ध नहीं होता है, इस प्रकार अज्ञानी जनों की मिथ्या कल्पना से मैं संसारी नहीं हो सकता ॥४६॥

जिनको तत्त्वज्ञान नहीं हुआ, वे लोग श्रवणादि साधन करते रहें। मैं तत्त्व को जानता हुआ श्रवण क्यों करूँ संशय विपर्यय से रहित हो गया हूँ इसलिए मनन नहीं करता ॥४७॥

विपर्यस्त स्वभाव वाला निदिध्यासन करें, विपर्यय के अभाव में ध्यान करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, मैं देहादि में आत्मत्व बुद्धि का कभी नहीं मानता हूँ ॥४८॥

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम् ।
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ॥४९॥

अन्वय :—अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारः अमुं विनापि चिराभ्यस्तवासनातः विपर्यासं अव कल्पते ।

आरब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते ।
कर्मक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ॥५०॥

अन्वय :—आरब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारः निवर्तते असौ कर्मक्षये तु ध्यानसहस्रतः नैव शाम्येत् ।

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्ध्यानमस्तु ते ।
अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन्ध्यायाम्यहं कुतः ॥५१॥

अन्वय :—व्यवहृतेः विरलत्वं इष्टं चेत् ते ध्यानं अस्तु अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन् अहं कुतः ध्यायामि ।

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥५२॥

अन्वय : विक्षेपः नास्ति यस्मात् मे समाधिः न ततः मम विक्षेपः वा समाधिः वा विकारिणः मनसः स्यात् ।

मैं मनुष्य हूँ इत्यादि व्यवहार तो इस विपरीत ज्ञान के बिना भी चिरकाल के अभ्यास की वासना से हो जावेगा ॥४९॥

प्रारब्ध कर्मों के क्षीण हो जाने पर उपर्युक्त व्यवहार स्वतः निवृत्त हो जाता है, किन्तु कर्म के क्षय न होने पर यह व्यवहार सहस्र प्रकार के ध्यान योग से भी उपशान्त होने वाला नहीं है ॥५०॥

यदि आपको व्यवहार की विरलता (कम) करना अभीष्ट है तो ध्यान करते रहो, परन्तु मैं व्यवहार को ज्ञान का प्रतिबन्ध नहीं मानता हूँ, फिर मैं ध्यान क्यों करूँ ॥५१॥

जबकि मुझे विक्षेप नही । इस हेतु से भी मुझे समाधि की अपेक्षा नहीं है । विक्षेप और समाधि तो विकारी मन की अवस्था होती है ॥५२॥

नित्यानुभवरूपस्य को मेऽत्रानुभवः पृथक् ।।

कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः ।।५३।।

अन्वय :—नित्यानुभवरूपस्य मे अत्र कः पृथक् अनुभवः कृत्यं कृतं प्रापणीयं प्राप्तं इत्येव निश्चयः ।

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वान्यथापि वा ।

ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ।।५४।।

अन्वय :—व्यवहारः लौकिकः वा शास्त्रीयः वा अन्यथापि वा अलेपस्य अकर्तुः मम यथारब्धं प्रवर्ततां ।

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया ।

शास्त्रीयेणैव मार्गेणवर्तेऽहं का मम क्षतिः? ।।५५।।

अन्यवय :—अथवा लोकानुग्रहकाम्यया कृतकृत्योऽपि शास्त्रीयेणैव मार्गेण अहं वर्ते मम क्षतिः का ।

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ।

तारं जपतु वाक् तद्वत् पठत्वाम्नायमस्तकम् ।।५६।।

अन्वय :—देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वपुः वर्ततां वाक् तारं जपतु तद्वत् आम्नायमस्तकं पठतु ।

नित्यानुभव रूप मुझसे भिन्न अनुभव कौन है अर्थात् कोई नहीं यह मेरा दृढ़ निश्चय है । कि मैंने करने योग्य कार्य कर लिया है और प्राप्त करने योग्य वस्तु को भी प्राप्त कर ली है ।.५३।।

लौकिक अथवा शास्त्रीय या हिंसा आदि रूप निषिद्ध व्यवहार अकर्तृत्व का अभिमान करने वाले मेरे में निर्लेप भाव से प्रारब्ध कर्मानुसार होता है ।।५४।।

मैं कृतकृत्य हो गया हूँ. इसलिए भी परोपकार की इच्छा से शास्त्रीय मार्ग में स्थिर होकर कर्म करता हूँ, इससे मेरी क्या क्षति होगी ।।५५।।

यह देह देवार्चन, स्नान, शौच एवं भिक्षादि व्यवहार में प्रवृत्त होता रहे, वाक्, इन्द्रिय प्रणवमन्त्र का जाप करे अथवा वेद-शास्त्रों का पाठ करे ।।५६।।

विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम् ।
साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥५७॥

अन्वय :—धीः विष्णुं ध्यायतु यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम् अहं साक्षी किंचिदपि अत्र न कुर्वे नापि कारये ।

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः ।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥५८॥

अन्वय :—कृतकृत्यतया तृप्तः पुनः प्राप्तप्राप्यतया एवं तृप्यन् असौ स्वमनसा निरन्तरं मन्यते ।

धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसावेद्मि ।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ॥५९॥

अन्वय :—अहं धन्यः अहं धन्यः नित्यं स्वात्मानं अञ्जसावेद्मि अहं धन्यः, अहं धन्यः स्पष्टं ब्रह्मानन्दः विभाति ।

धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य ।
धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ॥६०॥

अन्वय :—अहं धन्यः अहं धन्यः अद्य सांसारिकं दुःखं न वीक्षे अहं धन्यः अहं धन्यः स्वस्य अज्ञानं क्वापि पलायितम् ।

विष्णु का, बुद्धि ध्यान करे अथवा ब्रह्मानन्द में समाहित हो जाय, किन्तु मैं कुछ न करता हूँ और न किसी से कुछ करवाता हूँ ॥५७॥

वह तत्त्वज्ञानी कृतकृत्यता से तृप्त हो गया है और प्राप्त-प्राप्यता से अत्यधिक परितृप्त होकर निरन्तर अपने मन में निम्न प्रकार से मानता है ॥५८॥

मैं धन्य हूँ मैं धन्य हूँ । नित्य अपने आत्मा को जानता हूँ । मैं धन्य हूँ क्योंकि मुझे ब्रह्मानन्द स्फुट रूप से भासता है ॥५९॥

मैं कृतार्थ हो गया हूँ । अब मुझे सांसारिक दुःख दृष्टिगोचर नहीं होता है । मैं धन्य हूँ, क्योंकि मेरे स्वरूप का अज्ञान भग हो गया, नष्ट हो गया है ॥६०॥

धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किंचित् ।
धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य संपन्नम् ॥६१॥

अन्वय :—अहं धन्यः अहं धन्यः मे किंचित् कर्तव्यं न विद्यते अहं धन्यः अहं धन्यः अद्य सर्वं प्राप्तव्यं संपन्नम् ।

धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके ।
धन्योऽहं धन्योऽ हं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥६२॥

अन्वय :—धन्यः अहं धन्यः अहं मे तृप्तेः, लोके का उपमा भवेत् धन्यः अहं धन्यः अहं धन्यः धन्यः पुनः पुनः धन्यः ।

अहो पुण्यं महोपुण्यं फलितं फलितं दृढम् ।
अस्य पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम् ॥६३॥

अहो पुण्यं अहो पुण्यं फलितं दृढम् फलितं अस्य पुण्यस्य संपत्तेः, अहो वयं अहो वयं ।

अहोशास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः ।
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ॥६४॥

अन्वय :—अहोशास्त्रं अहो शास्त्रं अहो गुरुः अहो गुरुः अहो ज्ञानं अहो ज्ञानं अहो सुखं अहो सुखं ।

॥४०-६४॥

मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ । मेरे लिए कुछ कर्तव्य नहीं रह गया है । मैं धन्य हूँ, सब कुछ प्राप्तव्य प्राप्त हो चुका है ॥६१॥

मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ । मेरी तृप्ति की उपमा इस लोक में अन्य कोई भी नहीं हो सकती है ॥६२॥

पूर्वार्जित पुण्य के प्रभाव से फलीभूत होकर इस आनन्द का दृढ़ फल मुझे हुआ । अतः इस पुण्य से हम परितृप्त हैं ॥६३॥

इस आत्मानन्द को देने वाला शास्त्र भी धन्य है, ऐसे स्मरण से मैं तृप्त हो गया हूँ इस शास्त्र के उपदेष्टा गुरु भी धन्य हैं और इसका ज्ञान भी अलौकिक है एवं सुख भी निरतिशय है ॥६४॥

इदमध्यायार्थमुपसंहरति—

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे चतुर्थोऽध्याय ईरितः ।
विद्यानन्दस्तदुत्पत्तिपर्यन्तोऽभ्यास इष्यताम् ॥६५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकृतपञ्चदश्यां ब्रह्मानन्दे विद्यानन्दो नाम चतुर्दशं प्रकरणं समाप्तम् ॥१४॥

ब्रह्मानन्दे विद्यानन्दो नाम चतुर्थोऽध्यायः संपूर्णः ॥१४॥

अन्वय : ब्रह्मानन्दाभिधेग्रन्थे चतुर्थः अध्यायः ईरितः विद्यानन्दः तदुत्पत्तिपर्यन्तं अभ्यासः ईष्यताम् ।

'ब्रह्मानन्दाभिध इति' ।६५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकिङ्करेण श्रीरामकृष्णाख्य-विदुषा विरचिता ब्रह्मानन्दे विद्यानन्दव्याख्या समाप्ता ॥१४॥

अब इस अध्याय के अर्थ का उपसंहार करते हैं—

ब्रह्मानन्द नामक ग्रन्थ में विद्यानन्द नाम के चतुर्थ अध्याय का व्याख्यान कर दिया । विद्यानन्द-रूप ब्रह्मानन्द की उत्पत्ति पर्यन्त मुमुक्षु जनों को निरन्तर अभ्यास करना चाहिए ॥६५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यस्वामिश्रीकरपात्रशिष्य
श्री डॉ० लक्ष्मणचैतन्यब्रह्मचारिविरचितलक्ष्मणचन्द्रिकाख्ये पञ्चदशीहिन्दीव्याख्याने
ब्रह्मानन्दे विद्यानन्दो नाम चतुर्दशं प्रकरणं समाप्तम् ।

ब्रह्मानन्दे विषयानन्दप्रकरणम्

पञ्चमाध्यायस्य प्रतिपाद्यमर्थमाह—

अथात्र विषयानन्दो ब्रह्मानन्दांशरूपभाक् ।
निरूप्यते द्वारभूतस्तदंशत्वं श्रुतिर्जगौ ॥१॥

अन्वय :—ब्रह्मानन्दांशरूपभाक् अथ अत्र विषयानन्दः निरूप्यते तदंशत्वं द्वारभूतः श्रुतिः जगौ ।

'अथेति' । ननु विषयानन्दस्य लौकिकत्वात् मोक्षशास्त्रे निरूपणमनुपपन्नमित्याशङ्क्य, तस्य लौकिकप्रसिद्धत्वेऽपि ब्रह्मानन्दैकदेशत्वेन ब्रह्मज्ञानोपयोगित्वाद्युक्तमित्याह—'द्वारेति' । ब्रह्मानन्दैकदेशत्वे किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह—'तदंशत्वमिति' ॥१॥

तामेव श्रुतिमर्थतः पठति—

एषोऽस्य परमानन्दो योऽखण्डैकरसात्मकः ।
अन्यानि भूतान्येतस्य मात्रामेवोपभुञ्जते ॥२॥

अन्वय :—एषः अस्य यः अखण्डैकरसात्मकः परमानन्दः अन्यानि भूतानि एतस्य मात्रामेव उपभुञ्जते ।

'एष इति' ॥२॥

अब पञ्चम अध्याय में विषयानन्द के प्रतिपाद्य विषय को कहते हैं—

अब प्रस्तुत प्रकरण में ब्रह्मानन्द के अंशभूत विषयानन्द का निरूपण किया जाता है । वह ब्रह्मानन्द के ज्ञान का द्वार अर्थात् साधन है और ब्रह्मानन्द का एकदेश है, ऐसा श्रुति ने कहा है ॥१॥

यदि शंका हो कि वह विषयानन्द यद्यपि लौकिक है । इसलिए उसका मोक्षशास्त्र में निरूपण करना युक्तियुक्त नहीं है । तथापि वह लोक प्रसिद्ध विषयानन्द, ब्रह्मानन्द का एकदेश होने से ब्रह्मज्ञान में उपयोगी समझा जाता है । विषयानन्द ब्रह्मानन्द का एकदेश होने में श्रुति का भी प्रमाण प्राप्त होता है ॥१॥

अब उसी प्रमाणरूप श्रुति का अर्थतः पाठ करते हैं—

जो अखण्ड एकरस आत्मा है, वही इस ब्रह्म का स्वरूपभूत परमानन्द है । अन्य प्राणी इसके ही अंशमात्र को विषयानन्द से उपभोग करते हैं ॥२॥

इदानीं विषयानन्दस्य ब्रह्मानन्दलेशत्वप्रदर्शनाय तदुपाधिभूतान्तःकरणवृत्तीर्विभजते—

शान्ता घोरास्तथा मूढा मनसो वृत्तयस्त्रिधा ।
वैराग्यं क्षान्तिरौदार्यमित्याद्याः शान्तवृत्तयः ॥३॥

तृष्णा स्नेहो रागलोभावित्याद्या घोरवृत्तयः ।
संमोहो भयमित्याद्याः कथिता मूढवृत्तयः ॥४॥

अन्वय : - शान्ताः घोराः तथा मूढाः मनसः त्रिधा वृत्तयः, वैराग्यं क्षान्तिः औदार्यं इत्याद्याः शान्तवृत्तयः (सन्ति) ।

'तृष्णा रागलोभौ इत्याद्याः घोरवृत्तयः संमोहः भयं इत्याद्याः मूढवृत्तयः कथिताः ।

'शान्ता इति' । शान्ताः सात्त्विक्यो वृत्तयः घोराः राजस्यो मूढास्तामस्यः ता एव शान्तादिवृत्ती-र्दर्शयति – 'वैराग्यमित्यादिना' ॥३-४॥

अब विषयानन्द तो ब्रह्मानन्द का ही अंश[1] है इसको दिखाने के लिए उसकी उपाधिभूत अन्तःकरण की वृत्तियों का विभाग करते हैं—

शान्त, घोर और मूढ़ ये मन की ही तीन वृत्तियाँ हैं । इनमें वैराग्य क्षमा एवं उदारता आदि वृत्तियाँ तो शान्त कहलाती हैं । तृष्णा स्नेह, राग और लोभ आदि घोर वृत्तियाँ हैं और मोह, भय आदि मूढ वृत्तियाँ हैं ॥३-४॥

सत्त्वगुण की शान्त, रजोगुण की घोर और तमोगुण की मूढ वृत्तियाँ हैं । इनमें वैराग्य क्षमा और उदारता आदि सत्त्वगुण से होती है । तृष्णा, स्नेह, राग, लोभ आदि घोर वृत्तियाँ रजोगुण से और संमोह, भय आदि मूढ वृत्तियाँ तमोगुण से होती हैं ॥३-४॥

विशेष १—बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा ४।३।३२ उसी ब्रह्मानन्द की अविद्या द्वारा प्रस्तुत तथा विषय इन्द्रियों के सम्बन्ध के समय होने वाली मात्रा कला के आश्रित दूसरे जीव जीवन धारण करते हैं । उस आनन्द से ही अविद्या विभक्तस्वरूप है ।

उदाहृतासु विविधास्वपि वृत्तिषु ब्रह्मणश्चिद्रूपत्वं भातीत्याह--

वृत्तिष्वेतासु सर्वासु ब्रह्मणश्चित्स्वभावता ।
प्रतिबिम्बति शान्तासु सुखं च प्रतिबिम्बति ।।५।।

अन्वय :—एतासु सर्वासु वृत्तिषु ब्रह्मणः चित्स्वभावता प्रतिबिम्बति शान्तासु च सुखं प्रतिबिम्बति ।

'वृत्तिष्विति' । शान्तासु विशेषमाह 'शान्तास्विति' । 'च' शब्दोऽनुक्तद्वयसमुच्चयार्थः ।।५।।

उक्तार्थे श्रुतिवाक्यमर्थतः पठति—

रूपं रूपं बभूवासौ प्रतिरूप इति श्रुतिः ।
उपमा सूर्यकेत्यादि सूत्रयामास सूत्रकृत् ।।६।।

अन्वय :—असौ रूपं रूपं प्रतिरूपः बभूव इति श्रुतिः उपमा सूर्यका इत्यादि सूत्रकृत् सूत्रयामास ।

'रूपमिति' । तत्रैव 'व्यास' सूत्रैकदेशं पठति—'उपमेति' । 'अत एव च' इति सूत्रस्य पूर्वभागः ।।६।।

उदाहृत अनेकविध वृत्तियों में परमात्मा की चित्रूप ब्रह्म के ही भान का वर्णन करते हैं—

सभी वृत्तियों में ब्रह्म की चित् स्वभाव का प्रतिबिम्ब पड़ता है और शान्त वृत्तियों में आनन्द का भी ज्ञान होता है । सुख भी प्रतिबिम्बित होता है ।।५।।

उक्त अर्थ में श्रुति वाक्य का अर्थतः पाठ करते हैं—

वह आत्मा प्रत्येक रूप के अनुरूप हो गया है । यह श्रुतिवाक्य उक्त विषय में प्रमाण है । सूत्रकार व्यास मुनि ने भी जल में सूर्य प्रतिबिम्ब की भाँति इस प्रकार दृष्टान्त दिया है ।।६।।

'अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्' (ब्रसू० ३।२।१८) जिस कारण से यह आत्मा चैतन्य एकरस जलगत सूर्य प्रतिबिम्ब के समान यह जीव है यह उपमा दी गयी है । जैसे यह ज्योतिः स्वरूप सूर्य स्वतः एक होने पर भी भिन्न-भिन्न जलों में भिन्न भिन्न प्रतिबिम्ब होने से अनेक प्रकार का किया जाता है । वैसे ही यह जन्म रहित स्वप्रकाश आत्मा उपाधि से भिन्न क्षेत्रों में प्रतिबिम्ब होने से अनेक प्रकार का प्रतीत होता है ।।६।।

स्वरूपेणैकस्योपाधिसंपर्कान्नानात्वे श्रुतिं पठति—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥७॥

अन्वय :—एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः एकधाबहुधा चैव जलचन्द्रवत् दृश्यते ।
'एकएवेति' ॥७॥

ननु निरवयवस्य ब्रह्मणःक्वचिच्चिन्मात्रभानम्, इतरत्र चिदानन्दभानमित्येवं विभागकरणमनुपपन्नमित्यशाङ्क्य, चन्द्रदृष्टान्तेन परिहरति—

जले प्रविष्टश्चन्द्रोऽयमस्पष्टः कलुषे जले ।
विस्पष्टो निर्मले तद्वद्द्वेधा ब्रह्मापि वृत्तिषु ॥८॥

अन्वय :—जले प्रविष्टः अयं चन्द्रः कलुषे जले अस्पष्टः तद्वत् निर्मले (जले) विस्पष्टः वृत्तिषु ब्रह्मापि द्वेधा ।

'जले प्रविष्ट इति' । उक्तमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—'तद्वदिति' ॥८॥

तदेवोपपादयति —

घोरमूढासु मालिन्यात् सुखांशश्च तिरोहितः ।
ईषन्नैर्मल्यतस्तत्र चिदंशप्रतिबिम्बनम् ॥९॥

अन्वय :—घोरमूढासु मालिन्यात् सुखांशः च तिरोहितः तत् ईषत् नैर्मल्यतः चिदंश प्रतिबिम्बनम् ।

'घोरेति' ॥९॥

स्वरूप से एक रूप आत्मा उपाधि के सम्बन्धसे अनेक विध होने में श्रुति वाक्य का प्रमाणदेते हैं—

यह एक ही अद्वितीय ब्रह्म सभी प्राणियों में रहता है । वह एक रूप से जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा की तरह अनेक रूप से देखने में आता है ॥७॥

शंका — अच्छा तो कहीं निरवयव ब्रह्म का चिन्मात्र रूप से तो अन्यत्र स्थल में चिदानन्दरूप से विभागकरण करना ठीक नहीं है । इसका चन्द्र दृष्टान्त से परिहार करते हैं —

जल में प्रविष्ट यह चन्द्रमा जैसे मलिन जल में स्वच्छ नहीं भासता है और स्वच्छ जल में भले प्रकार से स्पष्ट दीखता है । वैसे ही ब्रह्म भी अन्तःकरण की वृत्तियों में भी स्पष्ट और अस्पष्ट प्रतीत होता है ॥८ ।

इस विषय का ही प्रतिपादन करते हैं—

घोर और मूढ़ वृत्तियों में मलिनता के कारण ब्रह्म का सुख अंश तिरोहित हो जाता है । जब कि इनमें किञ्चित् मात्र निर्मलता रहती है । इसलिए चिदंश का प्रतिबिम्ब पड़ता है ॥९॥

ननु चन्द्रोपाधेरुदकस्य द्वैविध्यादंशभानमुपपन्नं, प्रकृते तूपाधिभूतस्यान्तःकरणस्यैकरूपत्वादेकांशभानमनुपपन्नमित्याशङ्क्य, दृष्टान्तान्तरमाह –

यद्वापि निर्मले नीरे वह्नेरौष्ण्यस्य संक्रमः ।
न प्रकाशस्य तद्वत्स्याच्चिन्मात्रोद्भूतिरेव च ॥१०॥

अन्वय :—यद्वा निर्मले अपि नीरे वह्नेः औष्ण्यस्य संक्रमः प्रकाशस्य न तद्वत् चिन्मात्रोद्भूतिः एव च स्यात् ।

'यद्वापीति' ॥१०॥

इदानीं शान्तासु वृत्तिषु चिदानन्दयोः प्रतीतौ दृष्टान्तान्तरमाह—

काष्ठे त्वौष्ण्यप्रकाशौ द्वावुद्भवं गच्छतो यथा ।
शान्तासु सुखचैतन्ये तथैवोद्भूतिमाप्नुतः ॥११॥

अन्वय : - यथा उद्भवं गच्छतः काष्ठे तु द्वौ औष्ण्यप्रकाशौ शान्तासु तथैव सुखचैतन्ये उद्भूतिं आप्नुतः ।

'काष्ठेत्विति' ॥११॥

शंका— चन्द्रमा की उपाधि जो जल वह दो प्रकार का है । इससे दो प्रकार के अंश का भान युक्त है. यहाँ तो अन्तःकरणरूप एकरूप होने से एक अंश का भान नहीं हो सकता है । इस बात को दृष्टान्त से समझाते हैं—

अथवा निर्मल जल में भी अग्नि की उष्णता का संक्रमण (गमन) हो जाता है । किन्तु प्रकाश का संक्रमण नहीं होता है । इसी प्रकार घोर एवं मूढ़ वृत्तियों में चिन्मात्र की अभिव्यक्ति होती है । किन्तु सुखांश की अभिव्यक्ति नहीं होती है ॥१०॥

अब शान्त वृत्तियों में चैतन्य और आनन्द दोनों की प्रतीति में दूसरा दृष्टान्त देकर कहते हैं—

जैसे काष्ठ में तो उष्णता और प्रकाश दोनों ही प्रकटता को प्राप्त होते हैं । वैसे ही शान्त वृत्तियों में सुख और चैतन्य दोनों की अभिव्यक्ति हो जाती है ॥ १॥

नन्वेवं व्यवस्था कुतः कृतेत्याशङ्क्याह—

वस्तुस्वभावमाश्रित्य व्यवस्था तूभयोः समा ।
अनुभूत्यनुसारेण कल्प्यते हि नियामकम् ॥१२॥

अन्वय : उभयोः तु वस्तुस्वभावं आश्रित्य व्यवस्था समा अनुभूत्यनुसारेण नियामकं हि कल्प्यते ।

'वस्त्विति' । तत्र किं नियामकमित्याशङ्क्याह—'अनुभूतीति' ॥१२॥

अनुभूतिमेव दर्शयति—

न घोरासु न मूढासु सुखानुभव ईक्ष्यते ।
शान्तास्वपि क्वचित्कश्चित्सुखातिशय ईक्ष्यताम् ॥१३॥

अन्वय :—घोरासु न मूढासु न सुखानुभवः ईक्ष्यते शान्तासु अपि क्वचित् कश्चित् सुखातिशयः ईक्ष्यताम् ।

'न घोरास्विति' । शान्तास्वप्यानन्दप्रकाशोऽस्ति, सोऽपि क्वचित्कश्चित् सुखातिशयो भवतीत्याह—'शान्तास्विति' ॥१३॥

अच्छा तो इस प्रकार की व्यवस्था क्यों की गयी है ? इस पर कहते हैं—

वस्तु के स्वभाव अनुसार व्यवस्था दृष्टान्त और दार्ष्टान्त दोनों में समान ही है। अनुभव के अनुसार ही नियामक की कल्पना होती है ॥१२॥

जैसा वस्तु का स्वभाव है उसके अनुरूप ही व्यवस्था मानना तो दोनों पक्षों में समान है। उसमें नियामक कौन है। समाधान यह है कि अनुभव के अनुसार ही नियामक की कल्पना कर ली जाती है ॥१२॥

अब उसी अनुभव को दिखाते हैं—

घोर या मूढ वृत्तियों में सुख अनुभव देखने में नहीं आता है, किन्तु शान्त वृत्तियों में तो कहीं पर किसी सुख की अतिशयता अनुभव पूर्वक देख लो ॥१३॥

घोर वृत्तियों में न सुख का अनुभव देखने में आता है और न तो मूढ वृत्तियों में ही सुख का अनुभव देखने में आता है, किन्तु शान्त वृत्तियों में आनन्द का प्रकाश होता है। वह भी कहीं सुख की अतिशयता को लेकर अनुभव से देख सकते हो ॥१३॥

पूर्वोक्तघोरमूढवृत्तिषु सुखाभावमेवाभिनीय दर्शयति --

गृहक्षेत्रादिविषये यदा कामो भवेत्तदा ।
राजसस्यास्य कामस्य घोरत्वात्तत्र नो सुखम् ॥१४॥

अन्वय : यदा गृहक्षेत्रादिविषये कामः भवेत् तदा अस्य राजसस्य कामस्य घोरत्वात् तत्र सुखं न ।

'गृहक्षेत्रेति' ॥१४॥

सिध्येन्न वेत्यस्ति दुःखमसिद्धौ तद्विवर्धते ।
प्रतिबन्धे भवेत्क्रोधो द्वेषो वा प्रातिकूलतः ॥१५॥

अन्वय :—सिध्येत् न वा' इति अस्ति दुःखं असिद्धौ तत् विवर्धते प्रतिबन्धे क्रोधः प्रातिकूल्यतः वा द्वेषः भवेत् ।

सुखासिद्धौ दुखं वर्धते, सुखस्य प्रतिबन्धे तु क्रोधो भवति । सुखाभावे कारणान्तरमाह—'द्वेषो वेति' । तत्र प्रतिकूलदुःखस्य सत्त्वादित्यर्थः ॥१५॥

पूर्वोक्त घोर मूढ वृत्तियों में सुख के अभाव के कथन पर कहते हैं—

जब गृह, क्षेत्र आदि विषय में कामना होती है तब इसकी कामना राजस हो जाती है, क्योंकि वह इच्छा घोर वृत्तिरूप है । इसलिए उसमें सुख नहीं होता ॥१४॥

कार्य सिद्ध होगा या न होगा यह दुःख ही है । सुख की सिद्धि न होने पर दुःख बढ़ता है सुख का प्रतिबन्ध होने पर क्रोध होता है या प्रतिकूल दुःख के होने से द्वेष होता है ॥१५॥

परिहारस्याशक्यत्वे विषादो भवति, तस्यापि तामसत्वान्न तत्र सुखमित्याह —

अशक्यश्चेत्प्रतीकारो विषादः स्यात्स तामसः ।

क्रोधादिषु महद्दुःखं सुखशङ्कापि दूरतः ॥१६॥

अन्वय :—प्रतीकारः अशक्यः चेत् स तामसः विषादः स्यात् क्रोधादिषु महद् दुःखं सुखशङ्कापि दूरतः ।

काम्यलाभे हर्षवृत्तिः शान्ता तत्र महत्सुखम् ।

भोगे महत्तरं लाभप्रसक्तावीषदेव हि ॥१७॥

अन्वय :—काम्यलाभे हर्षवृत्तिः शान्ता तत्र महत् सुखम् भोगे महत्तरं लाभप्रसक्तौ इषत् एव हि ।

महत्तमं विरक्तौ तु विद्यानन्दे तदीरितम् ।

एवं क्षान्तौ तथौदार्ये क्रोधलोभनिवारणात् ॥१८॥

अन्वय :—विरक्तौ तु महत्तमं तत् विद्यानन्दे ईरितं एवं क्षान्तौ तथा औदार्ये क्रोध लोभ निवारणात् ।

'अशक्य इति' । क्रोधादिष्वित्यादयः स्पष्टार्थाः ॥१६-१८॥

यदि प्रतीकार (दुःख निवृत्ति) न कर सके तो तमोगुणी विषाद होता है, और क्रोध आदि में महान दुःख होता है—

यदि प्रतिबन्ध को दूर करने का उपाय न मिला तब तो विषाद होता है और वही विषाद तमोगुण का कार्य है । क्रोध आदिकों में बड़ा ही कष्ट होता है, ऐसी स्थिति में सुख की सम्भावना भी नहीं होती ॥१६॥

काम्य इष्ट विषय की सिद्धि हो जाने पर हर्ष होता है और वे शान्त वृत्तियाँ हैं । जिसमें कि महान् आनन्द आता है । भोग काल में तो कुछ अधिकतर सुख मिलता है, एवं लाभ (अभीष्ट) की प्राप्ति से किंचित् सुख ही मिलता है ॥१७॥

विरक्त अवस्था में तो उत्तम सुख मिलता है । इसका विवेचन विद्यानन्द प्रकरण में वर्णन कर आये । इसी प्रकार क्षमा और उदारता में भी समझना क्यों कि उनमें क्रोध और लोभ दोनों की निवृत्ति हो जाती है ॥१८॥

एवं क्षान्त्यादीनां सिद्धमित्याह—

यद्यत्सुखं भवेत्तत्तद्ब्रह्मैव प्रतिबिम्बनात् ।

वृत्तिष्वन्तर्मुखास्वस्य निर्विघ्नं प्रतिबिम्बनम् ॥१९॥

अन्वय :—यद्यत्सुखं भवेत् प्रतिबिम्बनात् तत् तत् ब्रह्मैव अन्तर्मुखासु वृत्तिषु अस्य निर्विघ्नं प्रतिबिम्बनम् ।

'वृत्तिष्विति' ॥१९॥

इदानीं सर्वत्र ब्रह्मस्वरूपानुभूतिप्रदर्शनाय तत्स्वरूपं स्मारयति—

सत्ता चितिः सुखं चेति स्वभावा ब्रह्मणस्त्रयः ।

मृच्छिलादिषु सत्तैव व्यज्यते नेतरद्द्वयम् ॥२०॥

अन्वय : सत्ता चितिः सुखं चेति तयः त्रयः ब्रह्मणः स्वभावः मृच्छिलादिषु सत्तैव व्यज्यते इतरत् द्वयम् न ।

'सत्तेति' । मृच्छिलादिषु सन्मात्रमित्यर्थः ॥२०॥

घोरमूढयोर्द्वयोः सत्ताचिती द्वौ शान्तवृत्तौ सच्चिदानन्दाः त्रयोऽपि व्यक्ताः । एवं स प्रपञ्चं ब्रह्माभिहितमित्याह—

सत्ता चितिर्द्वयं व्यक्तं धीवृत्त्योर्घोरमूढयोः ।

शान्तवृत्तौ त्रयं व्यक्तं मिश्रं ब्रह्मेत्थमीरितम् ॥२१॥

अन्वय :—सत्ता चितिः द्वयं घोरमूढयोः धीवृत्योः व्यक्तं शान्तवृत्तौ त्रयं व्यक्तं मिश्रं ब्रह्म इत्थं ईरितं ।

'मिश्रमिति' ॥२१॥

इस प्रकार क्षमा आदि वृत्तियों में भी उसकी सिद्धि को दिखाते हैं—

जो-जो सुख है वह-वह ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब है वृत्तियों के अन्तर्मुख हो जाने पर ब्रह्म का प्रतिबिम्ब निर्विघ्न रूप से पड़ता है ॥१९॥

अब सर्वत्र ब्रह्म के स्वरूप का अनुभव प्रदर्शनार्थ उसके स्वरूप का स्मरण कराया जाता है—

सत्ता, चैतन्य और आनन्द ये तीन ब्रह्म के स्वभाव हैं मृत्तिका और शिला में तो सत्ता ही मात्र व्यक्त होती है । चिति और आनन्द इन दोनों की अभिव्यक्ति नहीं होती ॥२०॥

घोर और मूढ दोनों में सत्ता और चिति दो ही रहते हैं, किन्तु शान्त वृत्ति में सत्ता-चिति और आनन्द ये तीन स्वभाव व्यक्त होते हैं । इस प्रकार सप्रपञ्च ब्रह्म के स्वरूप का विस्तार करते हैं—

घोर और मूढ बुद्धि की वृत्तियों में सत्ता-चिति (चैतन्य) इन दोनों की अभिव्यक्ति देखी जाती है और शान्त वृत्ति में तो सत्-चित् आनन्द ये तीनों ही स्वभाव व्यक्त होते हैं । इस प्रकार मिश्र प्रपञ्च सहित ब्रह्म का विवेचन किया है ॥२१॥

अमिश्रं कुतो ज्ञायत इत्याशङ्क्याह ।

अमिश्रं ज्ञानयोगाभ्यां तौ च पूर्वमुदीरितौ ।

आद्येऽध्याये योगचिन्ता ज्ञानमध्याययोर्द्वयोः ॥२२॥

अन्वय :—तौ च ज्ञानयोगाभ्यां अमिश्रं पूर्वं उदीरितौ आद्ये अध्याये योगचिन्ता द्वयोः अध्याययोः ज्ञानं ।

'अमिश्रमिति' । तौ च ज्ञानयोगौ पूर्वमेवोक्तावित्यर्थः । कुत्रोक्तावित्याशङ्क्य, योगः प्रथमाध्याये उक्त इत्याह—'आद्य इति' । समनन्तराध्याययोर्ज्ञानमुक्तमित्याह—'ज्ञानमिति' ॥२२॥

ननु सच्चिदानन्दानां ब्रह्मरूपत्वे मायायाः किं रूपमित्याशङ्क्याह—

असत्ता जाड्यदुःखे द्वे मायारूपं त्रयं त्विदम् ।

असत्ता नरशृङ्गादौ जाड्यं काष्ठशिलादिषु ॥२३॥

अन्वय :—असत्ता जाड्यदुःखे द्वे इदं तु मायारूपं त्रयं नरशृङ्गादौ असत्ता काष्ठशिलादिषु जाड्यं ।

'असत्तेति' । नृशृङ्गादावसत्त्वं मृच्छिलादिषु जाड्यमिति विवेकः ॥२३॥

अब निष्प्रपञ्च ब्रह्म कैसे ज्ञात होता है, इस पर कहते हैं—

ज्ञान और योग के द्वारा जाना जाता है, उन ज्ञान एवं योग का पहले विवेचन कर दिया है, उनमें योगानन्द प्रथम योगविषयक और उसके बाद के दो अध्यायों में ज्ञानविषयक विचार किया गया है ॥२२॥

अमिश्र ब्रह्म को ज्ञान और योग के द्वारा जाना जाता है । उन ज्ञान और योग का पहले विवेचन कर दिया है उनमें योगानन्द नामक प्रथम अध्याय में तो योग का विचार हुआ और उसके पश्चात् आत्मानन्द एवं अद्वैतानन्द नामक अध्याय में ज्ञान का विचार किया है ॥२२॥

शंका—तो सत्ता, चिति और आनन्दरूप के स्वरूप होने में माया का क्या स्वरूप होगा ? इसका समाधान करते हैं—

असत्ता, जड़ता और दुःख ये तीन माया के स्वरूप हैं । नरशृङ्ग आदि में असत्ता है और काष्ठ शिला आदि में जड़ता है ॥२३॥

दुःखं कुत्रेत्याशङ्क्याह—

घोरमूढधियोर्दुःखमेवं माया विजृम्भिता ।
शान्तादिबुद्धिवृत्त्यैक्यान्मिश्रं ब्रह्मेति कीर्तितम् ॥२४॥

अन्वय :—घोरमूढधियोः दुःखं एवं माया विजृम्भिता शान्तादिबुद्धिवृत्त्यैक्यात् मिश्रं ब्रह्म इति कीर्तितम् ।

'घोरमूढेति' । एवं सर्वत्र माया प्रतिभासत इत्याह—'एवमिति' शान्तादिषु वृत्तिषु ब्रह्मणो मिश्रत्वे किं कारणमित्यत आह 'शान्तादीति' ॥२४॥

एतदभिधानं किमर्थमित्याशङ्क्य ब्रह्मध्यानार्थमित्याह—

एवं स्थितेऽत्र यो ब्रह्म ध्यातुमिच्छेत् पुमानसौ ।
नृश्रृङ्गादिमुपेक्षेत शिष्टं ध्यायेद्यथायथम् ॥२५॥

अन्वय : एवं स्थिते अत्र यः पुमान् असौ ब्रह्म ध्यातुं इच्छेत् नृश्रृङ्गादि उपेक्षेत् शिष्टं यथायथं ध्यायेत् ।

'एवमिति' । नृश्रृङ्गादिमुपेक्ष्यान्यत्र ब्रह्मध्यानं कर्तव्यमित्याह—'नृश्रृङ्गादिमिति' ॥२५॥

दुःख की प्रतीति कहाँ होती है, इस पर कहते हैं—

घोर और मूढ़ बुद्धि वृत्तियों में दुःख की ही अनुभूति इस प्रकार माया विलसित होती है । बुद्धि की शान्त वृत्तियों के साथ एकता हो जाने के कारण वह ब्रह्म सप्रपञ्च कहलाने लगता है ॥२४॥

घोर और मूढ़ वृत्तियों में दुःख की ही अनुभूति सदा हुआ करती है । इस प्रकार सर्वत्र परमात्मा की माया शक्ति फैली हुई प्रतीत होती है । शान्त वृत्तियों में ब्रह्म का मिश्र होने के कारण यह है कि बुद्धि की सात्त्विक वृत्तियों के साथ तादात्म्यभाव होने से ब्रह्म को मिश्र ब्रह्म नाम से कहा जाता है ॥२४॥

यह कथन किसलिए है ? समाधान में कहते हैं कि ब्रह्म के स्वरूप का ध्यानार्थ किया गया है—

ऐसी स्थिति आने पर जो पुरुष ब्रह्म विषयक ध्यान करना चाहता है वह नरश्रृङ्ग आदि मिथ्या वस्तुओं की उपेक्षा कर दे और अवशिष्ट परम तत्त्व का समुचित ध्यान करता रहे ॥२५॥

अन्यत्रेत्युक्तं कुत्र कथं ध्येयमित्यत आह—

शिलादौ नामरूपे द्वे त्यक्त्वासन्मात्रचिन्तनम् ।
त्यक्त्वा दुःखं घोरमूढधियोः सच्चिद्विचिन्तनम् ॥२६॥

अन्वय :—शिलादौ नामरूपे द्वे त्यक्त्वा सन्मात्रचिन्तनम् घोरमूढधियोः दुःखं त्यक्त्वा सच्चित् विचिन्तनम् ।

'शिलादाविति' । घोरमूढबुद्धिषु दुःखं परित्यज्य सच्चिद्रूपयोश्चिरन्तनं कर्तव्यमित्याह— 'त्यक्त्वेति' ॥२६॥

सात्त्विकवृत्तिषु सच्चिदानन्दास्त्रयोऽपि ध्येया इत्याह—

शान्तासु सच्चिदानन्दास्त्रीनप्येवं विचिन्तयेत् ।
कनिष्ठमध्यमोत्कृष्टास्तिस्रश्चिन्ता: क्रमादिमा: ॥२७॥

अन्वय :—शान्तासु सच्चिदानन्दान् त्रीन अपि एवं विचिन्तयेत् कनिष्ठमध्यमोत्कृष्टाः क्रमात् इमाः तिस्रः चिन्ता ।

'शान्तास्विति' । एषां ध्यानानां किं साम्यं ? नेत्याह—'कनिष्ठेति' ॥२७॥

अब कहाँ अन्यत्र ध्यान कहा उसका प्रकार कहते हैं —

शिला आदि में नाम और रूप दोनों को छोड़ करके सन्मात्र का चिन्तन करें और घोर एवं मूढ़ वृत्तियों में तो दुःख भाग को छोड़ करके सत् एवं चित् रूप का चिन्तन करें ॥२६॥

नाम और रूप को छोड करके शिला आदि में सन्मात्र का ध्यान करे । दुःख को छोड़कर घोर और मूढ़ बुद्धिवृत्तियों में सत्-चित् रूप का चिन्तन करना चाहिए ॥२६॥

सत्गुणी वृत्तियों में सत्, चित् और आनन्द इन तीनों का भी ध्यान करना चाहिए इस पर कहते हैं —

शान्त वृत्तियों में सत्, चित् और आनन्द इन तीनों का ध्यान करना चाहिए, ये तीनों ध्यान क्रमशः उत्तम मध्यम एवं कनिष्ठ प्रकार के हैं ॥२७॥

सात्त्विक शान्त वृत्तियों में तो सत्, चित् और आनन्द इन तीनों का भी ध्यान करना चाहिए । इन तीनों का साम्य नहीं है, क्योंकि सत्, चित् और आनन्द ये तीन चिन्ताएँ क्रम से कनिष्ठ, मध्यम और उत्कृष्ट कहलाती हैं । अतः इनमें समानता नहीं है ॥२७॥

इदानीं निर्गुणब्रह्मध्यानेऽनधिकारिणोऽनुग्रहाय मिश्रब्रह्मध्यानेऽधिकार इत्यभिप्रायेणाह—

मन्दस्य व्यवहारेऽपि मिश्रब्रह्मणि चिन्तनम् ।
उत्कृष्टं वक्तुमेवात्र विषयानन्द ईरितः ॥२८॥

अन्वयः—मन्दस्य व्यवहारेऽपि मिश्रब्रह्मणि चिन्तनं उत्कृष्टं वक्तुं एव अत्र विषयानन्दः ईरितः ।

'मन्दस्येति' ॥२८॥

एवं सवृत्तिकं ध्यानत्रयमुक्त्वाऽवृत्तिकं ध्यानमाह—

औदासीन्ये तु धीवृत्तेः शैथिल्यादुत्तमोत्तमम् ।
चिन्तनं वासनानन्दे ध्यानमुक्तं चतुर्विधम् ॥२९॥

अन्वयः—औदासीन्ये तु धीवृत्तेः शैथिल्यात् उत्तमोत्तमं चिन्तनं वासनानन्दे ध्यानं चतुर्विधं उक्तं ।

'औदासीन्येरिविति' । एभ्यो ध्यानेभ्योऽधिकमित्यर्थः । उक्तं निगमयति—'ध्यानमिति' ॥२९॥

अब जिनका निर्गुण ब्रह्म के ध्यान में अधिकार नहीं है, ऐसे अनधिकारियों के ऊपर अनुग्रहार्थ मिश्र ब्रह्म ध्यान करने में उन लोगों का अधिकार होता है । इस आशय को लेकर कहते हैं—

मन्द व्यक्ति का व्यवहार काल में भी मिश्र ब्रह्म के ध्यान को उत्तम कहने के लिए इसमें विषयानन्द का प्रतिपादन किया गया है ॥२८॥

इस प्रकार वृत्तिपूर्वक तीन प्रकार के ध्यान के विषय में कह करके अब वृत्ति शून्य ब्रह्म विषयक ध्यान की प्रक्रिया कहते हैं—

उदासीन दशा में बुद्धि की वृत्ति शिथिल हो जाती है, इसलिए वासनानन्द में ध्यान सर्वोत्कृष्ट माना जाता है । इस प्रकार ध्यान का चार प्रकार कहा गया है ॥२९॥

उदासीन अवस्था में बुद्धि वृत्तियों की शिथिलता हो जाने के कारण वासनानन्द में जो निर्वृत्तिक ध्यान का विचार किया है । वह पूर्वोक्त तीनों ध्यानों में सर्वोत्कृष्ट है क्योंकि यह बिना वृत्ति का ध्यान उन ध्यानों से अधिक श्रेष्ठ और इसमें किसी प्रकार की भी वृत्ति अवशिष्ट नहीं रह पाती है ॥२९॥

अयं ध्यानावान्तरभेदः किं ? नेत्याह—

न ध्यानं ज्ञानयोगाभ्यां ब्रह्मविद्यैव सा खलु ।
ध्यानेनैकाग्रचमापन्ने चित्ते विद्या स्थिरीभवेत् ॥३०॥

अन्वय :—ज्ञानयोगाभ्यां ध्यानं न सा खलु ब्रह्मविद्यैव ध्यानेन ऐकाग्रचमापन्ने चित्ते विद्या स्थिरी भवेत् ।

'न ध्यानमिति' । तर्हि किमेतदित्याशङ्कयाह—'ब्रह्मविद्येति' । इयं ब्रह्म विद्या कथमुत्पन्नेत्याशङ्कयाह—'ध्यानेनेति' ॥३०॥

अस्या विद्यात्वे हेतुमाह—

विद्यायां सच्चिदानन्दा अखण्डैकरसात्मताम् ।
प्राप्य भान्ति न भेदेन भेदकोपाधिवर्जनात् ॥३१॥

अन्वय :—विद्यायां सच्चिदानन्दाः अखण्डैकरसात्मतां प्राप्य भान्ति भेदकोपाधिवर्जनात् भेदेन न ।

'विद्यायामिति' ॥३१॥

यह निर्वृत्तिक ध्यान का क्या अवान्तर भेद है । (मध्य का) भेद क्यों न हो इस पर कहते हैं—

ज्ञान और योग के द्वारा ध्यान कहा गया है, वह ध्यान नहीं है । अपितु ब्रह्म विद्या ही है । ध्यान से चित्त की एकाग्रता की प्राप्ति हो जाने पर ब्रह्मविद्या स्थिर हो जाती है ॥३०॥

ज्ञान और योग से उत्पन्न हुई बुद्धिवृत्ति ध्यान का अवान्तर (मध्य का) भेद नहीं है । वह तो ज्ञान और ध्यान से उत्पन्न हुई बुद्धिवृत्ति निश्चय करके ब्रह्मविद्या ही है ध्यान द्वारा चित्त की एकाग्रता सम्पन्न हो जाने पर प्राप्त हो जाती है ॥३०॥

इसके ब्रह्म विद्या होने में हेतु दिखाते हैं—

ब्रह्म विद्या में तो सत्, चित् और आनन्द अखण्ड एकरस को प्राप्त होकर भेद से (भिन्न-भिन्न) नहीं भासते हैं, जब कि भेद भाव को उत्पन्न करने वाली उपाधियों का उसमें त्याग होता है ॥३१॥

'भेद कोपाधिवर्जनात्' इत्युक्तं, तानेव भेदकोपाधीनाह्—

शान्ता घोराः शिलाद्याश्च भेदकोपाधयो मताः ।
योगाद्विवेकतो वैषामुपाधीनामपाकृतिः ॥३२॥

अन्वय :—शान्ताः घोराः शिलाद्याः च भेदकोपाधयः मताः, योगात् विवेकतो वा एषां उपाधीनां अपाकृतिः (भवति) ।

'शान्ता इति' । एतेषां परिहारः केनोपायेनेत्याशङ्कयाह्—'योगादिति' ॥३२॥

फलितमाह्—

निरुपाधिब्रह्मतत्त्वे भासमाने स्वयंप्रभे ।
अद्वैते त्रिपुटी नास्ति भूमानन्दोऽत उच्यते ॥३३॥

अन्वय :—निरुपाधिब्रह्मतत्त्वे स्वयंप्रभे भासमाने अद्वैते त्रिपुटी नास्ति अतः भूमानन्दः उच्यते ।

'निरुपाधीति' । त्रिपुटीभानाभावात् भूमानन्द इत्युच्यत इत्यर्थः ॥३३॥

भेदकोपाधि वर्जनात् = इस पूर्वोक्त वाक्य का विचार करते हुए उन्हीं भेदभाव को उत्पन्न करने वाली उपाधियों के विषय में कहते हैं—

शान्त और घोर वृत्तियाँ तथा शिलादि पदार्थ तो भेद को उत्पन्न करने वाली उपाधियाँ मानी गयी हैं। इनकी निवृत्ति का उपाय योग से अथवा ज्ञान से हो सकता है ॥३२॥

अब ग्रन्थ के फलितार्थ को कहते हैं—

स्वयं प्रकाशरूप अद्वैत उपाधि शून्य परमतत्त्व भासमान होने पर त्रिपुटी नहीं रहती है । अतएव भूमानन्द कहा जाता है ॥३३॥

हृदय कमल में उपाधि रहित स्वयं प्रकाश अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व स्फुरित होने पर ध्याता, ध्यान और ध्येयरूप त्रिपुटी का अभाव हो जाता है। इससे वह निष्प्रपञ्च परमतत्त्व भूमानन्द कहलाने लगता है ॥३३॥

ग्रन्थमुपसंहरति—

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे पञ्चमोऽध्याय ईरितः ।
विषयानन्द एतेन द्वारेणान्तः प्रविश्यताम् ॥३४॥

अन्वयः—ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे पञ्चमोऽध्यायः विषयानन्दः ईरितः एतेन द्वारेण अन्तः प्रविश्यताम् ।

'ब्रह्मानन्देति' । स्पष्टत्वान्न व्याख्यायते ॥३४॥

प्रीयाद्धरिर्हरोऽनेन ब्रह्मानन्देन सर्वदा ।
पायाच्च प्राणिनः सर्वान्स्वाश्रिताञ्छुद्धमानसान् ॥३५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकृतपञ्चदश्यां ब्रह्मानन्दे

विषयानन्दो नाम पञ्चदशं प्रकरणं समाप्तम् ॥१५॥

ब्रह्मानन्दे विषयानन्दो नाम पञ्चमोध्यायः सम्पूर्णः ॥५॥

अन्वय :—अनेन ब्रह्मानन्देन सर्वदा हरिः हरः प्रीयात् सर्वान् प्राणिनः च स्वाश्रितान् शुद्धमानसान् पायात् ।

'प्रीयादिति' । स्पष्टम् ॥३५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमद्भारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकिंकरेण रामकृष्णाख्यविदुषा विरचिता ब्रह्मानन्दे विषयानन्दे व्याख्या समाप्ता ॥१५॥

अब ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं—

ब्रह्मानन्द संज्ञक ग्रन्थ में विषयानन्द नाम का पञ्चम अध्याय समाप्त हो गया । इसको द्वार बना करके ब्रह्मानन्द के भीतर प्रवेश करना चाहिए ॥३४॥

इस ब्रह्मानन्द नामक प्रकरण से हरि एवं हर सदा प्रसन्न रहें और अपने आश्रित विशुद्ध भावस वाले सभी भक्तजनों की रक्षा करें ।।३५।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यस्वामिश्रीकरपात्रशिष्य
श्री डॉ० लक्ष्मणचैतन्यब्रह्मचारिविरचितलक्ष्मणचन्द्रिकाख्ये पञ्चदशीहिन्दीव्याख्याने
ब्रह्मानन्दे विषयानन्दो दीपप्रकरणविवेकाख्यं पञ्चदशं प्रकरणं ससाप्तम् ।